पाणिनिकालीन भारतवर्ष

[अष्टाध्यायी का सांस्कृतिक अध्ययन]

लेखक

वासुदेवशरण अग्रवाल

प्राध्यापक, काशी विश्वविद्यालय

मोतीलाल बनारसीदास

नेपाली खपरा—बनारस

MUNSHI RAM MANOHAR LAL
SANSKRIT & HINDI BOOKSELLERS
NAI SARAK DELHI-6

प्रथम संस्करण] [२०१२ वि०

मूल्य १०)

महताबराय द्वारा नागरी मुद्रण, काशी में मुद्रित ।

2377

अष्टपुष्पिका

१. पाणिनीयं महत् सुविहितम् ।

२. महती सूक्ष्मेक्षिका वर्तते सूत्रकारस्य ।

३. शोभना खलु पाणिनेः सूत्रस्य कृतिः ।

४. यच्छब्द आह तदस्माकं प्रमाणम् ।

५. सर्ववेद पारिषदं हीदं शास्त्रम् ।

६. पाणिनिशब्दो लोके प्रकाशते ।

७. आकुमारं यशः पाणिनेः ।

८. पाणिनेराचार्यस्य सिद्धम् ।

१–भाष्य ४।३।६६ २–काशिका ४।२।७४ ३–भाष्य २।३।६६ ४–भाष्य २।१।१
५–भाष्य २।१।६८ ६–काशिका २।१।६ ७–भाष्य १।४।८९ ८–कात्यायन ८।४।६८

तस्मै पाणिनये नमः

भूमिका

"पाणिनिकालीन भारतवर्ष" पाणिनिकृत अष्टाध्यायी का सांस्कृतिक अध्ययन है। अष्टाध्यायी में लगभग चार सहस्र सूत्र हैं जिनका मुख्य उद्देश्य व्याकरण के नियमों का परिचय देना था। किन्तु इन सूत्रों में पाणिनिकालीन भाषा के अनेक ऐसे शब्द आ गए हैं जिनसे उस युग के सांस्कृतिक जीवन का प्रत्यक्ष चित्र प्राप्त होता है। पाणिनि ने अपने समय की संस्कृत भाषा की सूक्ष्म छानबीन की थी। इसके लिये उन्हें मनुष्य जीवन के प्रायः सम्पूर्ण व्यवहारों की जाँच-पड़ताल करनी पड़ी। अतएव पाणिनि का शास्त्र तत्कालीन भारतीय जीवन और संस्कृति का कोष ही बन गया है। भूगोल, सामाजिक जीवन, आर्थिक जीवन, शिक्षा और विद्या सम्बन्धी जीवन, राजनैतिक जीवन, धार्मिक जीवन और दार्शनिक विमर्श—सबके विषय में राई-राई करके पाणिनि ने सामग्री का सुमेरु ही खड़ा कर दिया था। उस सामग्री का इस ग्रन्थ में ऐतिहासिक और सांस्कृतिक अध्ययन किया गया है। इसके द्वारा पाणिनि के कई सौ सूत्रों पर नया प्रकाश पड़ा है। संस्कृत भाषा के अष्टाध्यायी में आए हुए कितने ही भूले हुए शब्दों को यहाँ नए अर्थों के साथ समझने का प्रयत्न किया गया है। इन अर्थों में पाठकों को एक नए संसार का ही दर्शन मिलेगा, जो पाणिनिकालीन भाषा की सच्ची पृष्ठभूमि थी। वैदिक संहिताएँ, ब्राह्मण ग्रन्थ, श्रौतसूत्र, धर्मसूत्र, गृह्यसूत्र, प्रातिशाख्य, चरणव्यूह, महाभारत, पाली साहित्य, जातक, अर्धमागधी आगम साहित्य, इत्यादि अनेक स्रोतों से पाणिनीय सामग्री पर प्रकाश डाला गया है। भारतीय संस्कृति की पूरी जानकारी के लिये पाणिनीय सामग्री का अध्ययन आवश्यक है। पाणिनीय सूत्रों की सामग्री उसी तरह प्रामाणिक समझनी चाहिए जिस तरह शिलालेखों और मुद्राओं की साक्षी प्रामाणिक मानी जाती है।

इस देश में व्याकरण का अध्ययन परमकोटि को पहुँच गया था। इस क्षेत्र में गुरु-शिष्य पारम्पर्य से पूर्व समय में जितना कार्य हुआ था और अर्वाचीन विद्वानों ने उसमें जो कुछ जोड़ा है, उसके अध्ययन की बृहत् योजना कुछ इस प्रकार हो सकती है—

१—पाणिनि के सूत्रों का विस्तृत भाष्य—इसमें काशिका, न्यास, पदमञ्जरी आदि सब उपलब्ध वृत्तियों से और पतंजलि के महाभाष्य एवं उसके व्याख्यान स्वरूप भर्तृहरि, कैयट, नागेश आदि के ग्रन्थों से जो सामग्री उपलब्ध होती है उसके विवेचन द्वारा सूत्रों के अर्थों का निरूपण होना चाहिए।

२—अष्टाध्यायी का अन्तरंग अनुशीलन—इसमें उस स्थिति के अध्ययन की कल्पना की जाती है जिसके अनुसार शब्दों का संकलन करके पाणिनि ने स्वयं अपनी प्रयोगशाला में यत्नपूर्वक एक-एक सूत्र की रचना की। अष्टाध्यायी का प्रकरण-विभाग किस दृष्टि से किया गया? प्रत्यय और अनुबन्ध किस हेतु से इन्हीं रूपों में निश्चित किए गए? भाषा में कितने प्रकार की वृत्तियाँ थीं जिनका संग्रह करके पाणिनि ने कृदन्त और तद्धित के महाप्रकरणों का निर्माण किया? महासंज्ञा और कृत्रिम संज्ञाओं के मूल में क्या हेतु था? गणपाठ की क्या स्थिति थी? पाणिनीय शब्दविद्या में और रूपसाधनिका में स्वरों का क्या स्थान था? किस प्रकार स्वरों के महत्त्व को आचार्य ने प्रक्रिया में अभिव्यक्त किया है? प्रकृति और प्रत्यय के सम्मिलन से एक दूसरे में क्या परिवर्तन होते हैं? इत्यादि अनेक प्रश्नों की ऊहापोह और मीमांसा हमें उस स्रोत तक ले जाती है जहाँ पाणिनि अपनी अध्ययनशाला में एकाग्र मन से अभिनव व्याकरण की रचना कर रहे थे जिसे उन्होंने 'आद्य आचिख्यासा' कहा है।

३—वैदिक व्याकरण—पाणिनीय सामग्री का वैदिक साहित्य के आधार पर अध्ययन, एवं जो सामग्री बची रह गई हो उसका समावेश करके समग्र वैदिक-व्याकरण की रचना करना।

४—उपलब्ध प्रातिशाख्य और शिक्षा-ग्रन्थों का सर्वाङ्गीण अध्ययन।

५—नव्य व्याकरण विमर्श-अर्थात् पाणिनीय सूत्रों पर कालान्तर में जो प्रक्रिया का विस्तार हुआ है, उसका तुलनात्मक अध्ययन।

६—व्याकरण दर्शन—पतञ्जलि से भर्तृहरि तक एवं उत्तर काल में भी व्याकरण के मूलतत्त्वों पर दार्शनिक विचार का काल क्रम से तुलनात्मक विवेचन।

७—संस्कृत के अन्य व्याकरणों के साथ पाणिनि व्याकरण का तुलनात्मक अध्ययन—चन्द्र, जैनेन्द्र शाकटायन, कातन्त्र, भोज, हेमचन्द्र आदि के व्याकरणों में पाणिनीय परम्परा लगभग दो सहस्र वर्षों तक किस प्रकार सुरक्षित और उपबृंहित हुई है, इसका विवेचन।

८—भारत-योरोपीय भाषा विज्ञान की पृष्ठभूमि में पाणिनीय व्याकरण का तुलनात्मक अध्ययन।

९—पाणिनीय व्याकरण एवं शास्त्रकर्ताओं का इतिहास और उसके साथ आनुषङ्गिक रूप से अन्य व्याकरणों का इतिहास।

१०—पाणिनीय सूत्रों की ऐतिहासिक और सांस्कृतिक सामग्री का अध्ययन।

अन्तिम दो अध्ययन पाणिनीय शास्त्र के बहिरंग अध्ययन कहे जा सकते हैं। इनमें से एक की पूर्ति का यत्न इस ग्रन्थ में किया गया है।

प्रथम बार सन् १९२९ में अपने गुरु श्री राधाकुमुद मुकर्जी की प्रेरणा से इस विषय के अध्ययन की ओर मेरी प्रवृत्ति हुई थी। १९४१ और १९४५ में लखनऊ विश्वविद्यालय में यह शोध निबन्ध के रूप में दो भागों में प्रस्तुत किया गया था। मुझे खेद रहा कि परिस्थिति वशात् अंग्रेजी में ग्रन्थ पहले प्रकाशित हुआ। मेरी अभिलाषा थी कि इसे हिन्दी में भी योग्य रूप में प्रकाशित कर सकूँ। अब इस से संतोष है कि ग्रंथ की सामग्री हिन्दी संस्करण में अंग्रेजी की अपेक्षा कहीं अधिक विशद बन सकी है और चरण, गोत्र, जनपद आदि कई संस्थाओं पर नया प्रकाश डाला जा सका है।

इस ग्रन्थ में आठ अध्याय हैं और प्रत्येक अध्याय आवश्यकतानुसार परिच्छेदों में विभक्त किया गया है। ग्रन्थ के अन्त में लगभग तीन सहस्र विशिष्ट शब्दों की अकारादि क्रम से सूची दी गई है।

'पाणिनि और उनका शास्त्र' नामक प्रथम अध्याय में पाणिनि के जीवन से सम्बन्धित सामग्री पर विचार किया गया है। इसमें चीनी यात्री श्यूआन् चुआङ् ने पाणिनि के जन्मस्थान शलातुर में जो जानकारी प्राप्त की थी उसका पतंजलि की सामग्री के साथ तुलनात्मक अध्ययन है। इस अध्ययन से पाणिनि का जो चित्र प्राप्त होता है वह एक ऐसे अत्यन्त मेधावी और प्रतिभा सम्पन्न आचार्य का चित्र है जिसने शब्दशास्त्र के प्रति अपने कर्त्तव्य को पहचाना था और उसकी पूर्ति के लिये समुचित प्रयत्न किया था। इस अध्याय में पाणिनि और कात्यायन के सच्चे सम्बन्ध की ओर भी ध्यान दिलाया गया है। कात्यायन ने वार्तिकों की रचना में लगभग पाणिनि के सूत्रों जैसा ही व्यापक प्रयत्न किया। वह प्रयत्न दोष दर्शन के लिये न था, किन्तु भगवान् पाणिनि के शब्दशास्त्र को और भी ऊँचे धरातल पर ले जाकर पूर्ण करने और सजाने के लिये था।

दूसरे अध्याय में पाणिनिकालीन भूगोल का विवेचन किया गया है। यह सामग्री भारतीय इतिहास के लिये मूल्यवान् है। मध्य एशिया के कम्बोज जनपद से लेकर असम के सूरमस जनपद तक फैले हुए अनेक जनपदों का परिचय पुराणों के प्राचीन भुवन-कोशों की भाँति यहाँ मिलता है। वस्तुतः संस्कृत साहित्य में कोई भी प्राचीन ग्रन्थ ऐसा नहीं है जिसमें भूगोल की सामग्री इतनी अधिक सुरक्षित हो जितनी अष्टाध्यायी में है। इस अध्याय के साथ ही परिशिष्ट में दिए हुए भौगोलिक गणों की स्थान नामसूचियाँ भी देखने योग्य हैं। यूनानी भौगोलिकों ने उत्तर-पश्चिमी भारत के प्रमुख नगरों की संख्या पाँच सौ लिखी है। यह बात कम आश्चर्यजनक नहीं है कि उन पाँच सौ ग्राम-नगरों के वास्तविक नाम पाणिनि के व्याकरण में सुरक्षित मिल गए हैं। इन गणों का संशोधित पाठ काशिका, चन्द्र, जैनेन्द्र, शाकटायन, कातन्त्र, वर्धमान, भोज, और हेमचन्द्र के गणपाठों के आधार पर पहली ही बार तैयार करके यहाँ दिया गया है। पाणिनि के अवशिष्ट गणों के लिये भी इसी प्रकार के तुलनात्मक संशोधित संस्करण की आवश्यकता बनी है।

तीसरे अध्याय में सामाजिक जीवन की सामग्री पर विचार किया गया है जिसमें अन्नपान, वेशभूषा, वासगृह, नगर-मापन, रथशकट, भारवाही पशु, नौ-संतरण, क्रीड़ाएँ और मनुष्य नाम सम्बन्धी परिच्छेदों में अनेक प्रकार की सामग्री का सन्निवेश है। निम्नलिखित शब्दों की जो व्याख्या यहाँ की गई है वह नूतन सांस्कृतिक पृष्ठभूमि की परिचायक है—

महाब्राह्मा, महाकुलीन, गोत्रावयव, कुरुगार्हपत (११२), साप्तपदीन (११४), भ्राष्ट्र-कालश-कौम्भ अपूप, दाधिक, महाव्रीहि, यवागू, मन्थ (१२३), कुल्माष (१२४), सक्तुसिन्धु, पानसिंधु (१२६), नियुक्तभोजन, (१२८), शाराव-माल्लक-कार्पर ओदन (१२९), मैरेय (१३०), कापिशायन (१३१), शारदिक (१३३), महाहैलहिल (१३४), पण्यकम्बल (१३६), राङ्कव (१३७), निषद्या (१४०), एकशालिक (१४०), पारिखेयी भूमि (१४२), प्राकारीय देश (१४३), प्राकारीय इष्टका (१४३), देवपथ (१४४), नगर द्वार (१४५), उत्तरपथ (१४६), गौष्ठीन (१४७), आशितङ्गवीन (१४७), शयनासन (१४७), पर्पिक (१४८), दार्त्तेय (१४६), हतिहरि (१४९), गोणी (१४९), शालाबिल (१५१), काक्ष, कद्रथ (१५३), पाण्डुकम्बली रथ (१५४), द्वैप वैयाघ्र रथ (१५४), परिस्कन्द, प्राध्वंकृत्य, एकधुरीण (१५६), आश्वीन (१५७), भस्त्रा (१५८), उत्संग (१५९), पिटक (१५९), समज्या (१६०), सामाजिक, सामवायिक (१६०), सान्निवेशिक (१६१), सामूहिक (१६२), प्राचांक्रीडा (१६३), निष्पत्रा (१६५), श्वागणिक (१६५), अक्षपरि, शलाकापरि (१६७), कृतयति, कलयति (१६७), अयानयीन (१६९), परिणाय (१६९), सम्मद (१७१), दार्दुरिक (१७१), अकालक-व्याकरण (१७२), अर्धमासतम (१७४), व्युष्ट (१७९), संवत्सरतम (१७९), महापराह्ण (१८०), अनुकम्पार्थ नाम (१८४), नक्षत्र नाम (१७५), यक्षनामों के अनुसार मनुष्य नाम (१९२)।

चौथे अध्याय में आर्थिकदशा का विवेचन है। इसमें वृक्ष-वनस्पति, पशु-पक्षी, शिल्प, वेतन-भृति, वाणिज्य-व्यवसाय, नाप तोल, मुद्राएँ, ऋणादान, इन विषयों की सामग्री पर विचार किया गया है। इनमें पाणिनि कालीन सिक्कों की जानकारी भारतवर्ष की प्राचीन आहत मुद्राओं पर नया प्रकाश डालती है। पुरातत्व के क्षेत्र में जो सबसे पुराने सिक्के मिले हैं उनमें से अनेकों के नामों की पहचान पहली ही बार अष्टध्यायी की सामग्री से हो सकी है। सूत्र और उनकी टीकाओं में विंशतिक, त्रिंशत्क, अर्धभाग, शाण, शतमान आदि सिक्के और उनकी रेज़गी के वाचक लगभग चालीस नामों का उल्लेख है। भारत के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की धमनी उत्तरपथ नामक महामार्ग का उल्लेख भी पाणिनि ने किया है जिसकी सविशेष व्याख्या यहाँ की गई है। गोधन के स्वामित्व की सूचना के लिये गौओं के कानों पर अंकित किए जानेवाले लक्षणों का विवेचन भी तुलनात्मक सामग्री के आधार पर किया

गया है। इस देश में कृषि सम्बन्धी शब्दावली की जो परम्परा ऋग्वेद से चली आती है उसमें अरबी फारसी के शब्दों की मिलावट लगभग नहीं के बराबर हुई है। इस विषय में खेतों के नामकरण, बुवाई, जुताई, लवनी, मणनी आदि के सम्बन्ध की पाणिनीय सामग्री अति रोचक है और कृषि शब्दावली के अध्ययन की महत्वपूर्ण कड़ी है। जौ की खेती से लिए गए दस शब्द (पृ० २०३) बताते हैं कि किसानों के जीवन की भाषा कितनी समृद्ध थी। कृषि जीवन को संभालने के लिये अनेक प्रकार के छोटे-मोटे ऋण लिए-दिए जाते थे। इनपर भी अष्टाध्यायी से अच्छा प्रकाश पड़ता पड़ता है। गाय और बैलों के आधार पर बने हुए शब्दों की आर्य भाषाओं में सदा से भरमार रही है। अष्टाध्यायी में भी उन शब्दों का चोखा गुच्छा मिला है, जिनपर विचार करते हुए मालूम होता है मानों हम प्राचीन गाँवों के ठेठ देहाती जीवन में पहुँचकर गोधन से निकट का परिचय पा रहे हों।

शिक्षा और साहित्य नामक पाँचवें अध्याय में चरण नामक प्राचीन वैदिक शिक्षा संस्थाओंपर पहली ही बार पाणिनि से पर्याप्त प्रकाश मिला है। उनके नाम, उदय-प्रतिष्ठा, सदस्यता, छात्रों के प्रवेश, स्त्रीछात्राएँ, जीवन, अध्ययन, अध्यापन, गुरु शिष्यों के प्रकार, ग्रन्थ रचना आदि विषयों की अति रोचक सामग्री प्राप्त हुई है। ग्रन्थों और शिक्षा संस्थाओं के नामकरण के विषय में सबसे महत्त्वपूर्ण एक नियम था जिसे अष्टाध्यायी में तद्विषयता का नियम कहा है, अर्थात् आचार्य के नाम से संस्था, शिष्य और साहित्य के नामकरण की सर्वसम्मत प्रथा जिसने यहाँ के समग्र साहित्य को प्रभावित किया। इसी नियम के कारण समस्त पुराण साहित्य जो मूल चार सहस्र श्लोकों से सौ गुना बढ़कर चार लाख श्लोकों के बराबर हो गया है, आजतक वेदव्यास की रचना माना जाता है (पृ० २९३)। चरण और तद्विषयता, इन दो संस्थाओं का स्पष्ट परिचय प्राचीन भारतीय शिक्षा और साहित्य के निर्माण को समझने की कुंजी है। चरण या विद्यालय भी संघों के आदर्श पर अपने संगठन का विधान करते थे। शिक्षा के क्षेत्र में और भी कितनी ही संस्थाओं पर पाणिनि से प्रकाश प्राप्त होता है, जैसे आचार्य-प्रवक्ता-आख्याता-श्रोत्रिय-उपाध्याय कोटि के अध्यापक, माणव-अन्तेवासी-चरक संज्ञक छात्र, चरणों की परिषदें, विवाद-व्याख्यान-शास्त्रार्थ आदि विषयानुसंधान के विविध प्रकार, ज्ञानसाधन का 'भूयोविद्य' आदर्श (पृ० २९८), तदधीते तद्वेद या पढ़ने-पढ़ानेवाले विद्वानों के माध्यम से प्रत्येक शास्त्र या ग्रन्थ का प्रसार एवं दीर्घकाल के लिये परम्परा का निर्माण आदि। पाणिनि के युग तक जितने प्रकार का साहित्य बन चुका था, उसका वर्गीकरण– दृष्ट, प्रोक्त, उपज्ञात, कृत, व्याख्यान, और अनेक ग्रन्थों का नामोल्लेख पाणिनि की निजी विशेषता है। स्वाभाविक है कि इस क्षेत्र के जीवन से आचार्य का सबसे अधिक अन्तरंग परिचय हो। व्याकरण शास्त्र के इतिहास पर भी अष्टाध्यायी से प्रकाश पड़ता है। उसकी सामग्री का पृथक् विचार किया

गया है। फिर उन पूर्वाचार्य-संज्ञाओं का उल्लेख किया गया है जो प्राक् पाणिनीय व्याकरणों में मान्य थीं।

छठे अध्याय में धर्म के अन्तर्गत यज्ञीय कर्मकाण्ड एवं देवपूजा सम्बन्धी सामग्री की व्याख्या की गई है। स्पष्ट है कि उस संक्रान्तिकाल में प्राचीन यज्ञविधि और नए प्रकार की भक्ति प्रधान पूजा का जनता में एक साथ प्रचार था। सप्तदश अक्षरोंवाले होमात्मक प्रजापति का रूप मंत्रकरण द्वारा संपन्न किया जाता था। उस मंत्र पाठ के सम्बन्ध में पाणिनीय सूत्रों की सामग्री की व्याख्या यहाँ की गई है (पृ० ३६७-७१)। अष्टाध्यायी से ज्ञात होता है कि लोक में शब्दों के सस्वर उच्चारण की तब तक प्रथा थी, अतएव पाणिनि ने उसके विवेचन को पर्याप्त स्थान दिया था। किन्तु यह भी विदित होता है कि यज्ञों में स्वरों का नियम शिथिल हो रहा था और लोग एकश्रुति पाठ के पक्षपाती बन रहे थे। कात्यायन श्रौतसूत्र के कर्ता ने भी पाणिनि के समान इस नई प्रवृत्ति पर ध्यान दिया था। दार्शनिक क्षेत्र में वह बहुत उथल पुथल का युग था। पाणिनि ने अति संक्षेप से विभिन्न दृष्टिकोणों का उल्लेख किया है। जिसे बौद्ध साहित्य में 'दिट्ठि' कहा गया उसे पाणिनि ने 'मति' कहा है। 'अस्ति नास्ति दिष्टं मतिः' सूत्र की दार्शनिक पृष्ठभूमि पर इस ग्रन्थ में कुछ विस्तार से विचार किया गया है।

राजतंत्र और शासन संज्ञक सातवें अध्याय में एकराज जनपद और संघों के संबन्ध में सामग्री का विवेचन है। श्री काशीप्रसाद जायसवाल जी ने अपने 'हिन्दू राजतंत्र' नामक ग्रन्थ में सर्वप्रथम इस सामग्री के महत्त्व पर ध्यान दिलाया था। उसपर और अधिक उपबृंहण और व्याख्या द्वारा यहां प्रकाश डाला गया है। पाणिनि के युग में संघों का बाहुल्य था। लोक में संघ आदर्श का सर्वोपरि प्रचार था; यहाँ तक कि गोत्र, चरण, श्रेणि, निगम आदि सामूहिक संस्थाओं के संगठन और कार्य विधि की प्रेरणा संघ आदर्श से ही प्राप्त की जाती थी जैसी आजकल है। पाणिनि में पचास से अधिक संघों के नाम हैं। उनकी पहचान का प्रयत्न किया गया है। संघों का क्षेत्र वाहीक या पंचनद प्रदेश से लगाकर पर्शु या ईरान तक फैला हुआ था। इन संघों के जो अनेक प्रकार थे उनके राजनैतिक संविधानों पर भी आचार्य ने ध्यान दिया था। उनका वर्गीकरण करके गण, आयुधजीवी संघ, पर्वताश्रयी संघ, श्रेणि, पूग, व्रात, ग्रामणीय आदि विविध भाँति के संघों का उल्लेख उस काल के राजनैतिक जीवन का जैसा ज्वलन्त चित्र उपस्थित करता है वैसा अन्य किसी स्रोत से प्राप्त नहीं होता।

ऐतिहासिक दृष्टि से पाणिनि की सबसे महत्वपूर्ण सामग्री जनपद संस्था पर नया प्रकाश है। भारतीय संस्कृति की विकासधारा में जनपदों का महत्व अभीतक ठीक प्रकार समझा नहीं जा सका है। यूनान देश के इतिहास में जो महत्त्व पुरराष्ट्रों का था वही भारतीय इतिहास में जनपदों का था। सच

तो यह है कि भारत में जनपद राज्यों का प्रयोग देश काल में उससे भी कहीं अधिक व्यापक और गंभीर परिणामवाला हुआ। एकराज और संघ दो प्रकार के जनपदों में भारतीय संस्कृति की मूल प्रतिष्ठा और राष्ट्रीय एकरूपता का विकास जनपदों में हुआ। हमारे जीवन के जो विविध स्तर हैं उनमें जीवन की दृढ़ शैली जनपद युग में ही व्यवस्थित की गई। धर्म के क्षेत्र में एक ओर वैदिक तत्त्वज्ञान और यज्ञपरक कर्मकाण्ड एवं दूसरी ओर लोकधर्म के यक्ष, नाग, स्कंद, गण, भूत, पिशाच, वृक्ष, नदी पर्वत आदि देवताओं की पूजामान्यता, इन दो धाराओं का समन्वय और पारस्परिक संतुलन जनपद युग में ही हुआ। एक ओर वैदिक भाषा तथा दूसरी ओर जनसमूह की अनेक बोलियाँ, इन दोनों का समन्वय होकर पाणिनीय संस्कृत भाषा का नया सर्वमान्य विकास भी जनपद युग में ही हुआ जिससे उस समय के व्यावहारिक जीवन की पूर्ति हुई और कालान्तर में जिसकी दृढ़ छाया के रूप में ही प्राकृत भाषाएँ और लोक भाषाएँ ऊपर उभर आईं। धर्म और भाषा के स्तरों की भाँति आर्थिक क्षेत्र में भी जनपद युग में जीवन का जो व्यापक ढाँचा तैयार हुआ वही कृषि और शिल्प प्रधान ठाठ अभीतक फैला हुआ है। जनपदों का जीवन नई-नई शिल्प वृत्तियों से भर रहा था। यास्क और पाणिनि दोनों ने उन्हें 'जानपदी' शब्द से व्यवहृत किया है। जनपदों में शिल्प का जीवन कितना बहुमुखी था यह जातकों से जाना जाता है। शिक्षा के क्षेत्र में चरण नामक अनेक विद्या संस्थाओं का ताना बाना ही जनपदों में पूर दिया गया था। एक-एक आचार्य के अन्तेवासियों ने गाँव-गाँव में शिष्य-प्रशिष्यों के रूप में फैलकर शिक्षा और ज्ञान की धारा बहा दी थी—ग्रामे ग्रामे काठकं कालापकं च प्रोच्यते। फलस्वरूप उस युग में साहित्य का अभूतपूर्व विस्तार हुआ। ब्राह्मण ग्रन्थ, आरण्यक, उपनिषद्, श्रौत सूत्र, धर्म सूत्र, गृह्यसूत्र, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, प्रातिशाख्य, महाभारत, रामायण, दर्शन आदि महान् साहित्य जनपद युग की ही देन है। उस समय साहित्य के क्षेत्र में अद्‌भुत भास्वर प्रकाश फैल गया था। यूनान के पुरराज्यों में भी ज्ञान का कुछ ऐसा ही विस्फोट हुआ था। इसी युग में प्रज्ञा, मेधा, श्रद्धा, तप, अध्ययन, दीक्षा, सत्य, धर्म, आचार, आदि के आदर्श लोक के धरातल पर अवतरित हुए, जैसा अश्वपति कैकेय के एक वाक्य से सुविदित है (न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपः। नानाहिताग्निर्ना विद्वान् न स्वैरी स्वैरिणी कुतः ॥)।

तभी जनपदों की भौगोलिक सीमाएँ निश्चित हुईं। उनके शासन कर्ता 'जनपदिन्' क्षत्रियों के संगठन सुव्यवस्थित हुए। परिवारों के या 'गोत्र' प्रधान संगठित जीवन का क्रम सूत्रबद्ध हुआ। स्त्री पुरुषों के नामों में जनपदीय नामों की छाप पड़ गई। जातियों के संगठन उभर आए। सामूहिक जीवन की अपनी-अपनी इकाइयों को प्रश्रय मिला। गोत्र, चरण, संघ, शिल्पियों की श्रेणियाँ, ये सब अपने-अपने विकास की धारा पर आगे बढ़ीं और जातियों के रूप में इस प्रकार दृढ़ता से संगठित हो गईं कि वे संगठन अधिकांश में आज भी प्रवर्तमान हैं। एककृताः,

श्रेणिकृताः, पूगकृताः, क्षत्रियकृताः, ब्राह्मणकृताः, आदि पाणिनि के प्रयोग सामाजिक जीवन के बिखरे हुए सूत्रों के एकीकरण की सूचना देते हैं। दूसरी ओर वे यह भी सूचित करते हैं कि प्रत्येक समूह जाति के रूप में संगठित हो कर देश की राष्ट्रजननी पद्धति के साथ संयुक्त हो रहा था। इसका ऐसा ढंग बना कि प्रत्येक का अपना स्वरूप बना रहा और संघ आदर्श के अनुसार निजी जातीय संगठन भी चलता रहा, तथा दूसरी ओर प्राणवन्त प्रभावों के आदान प्रदान के लिये समाज की बड़ी इकाई के साथ भी जीवन के सूत्र मिलकर एक हो गए। सामाजिक क्षेत्र में यह चमत्कारपूर्ण प्रयोग जनपद युग में ही सम्पन्न हुआ था।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि भारतवर्ष के जनपद राष्ट्र मानवीय जीवन की सक्रिय प्रयोगशालाएं थीं संघों से उन्हें संगठन की प्रेरणा मिली। जनता के सांस्कृतिक और सामाजिक जीवन का दृढ़ संस्थान जनपद युग (१०००-५०० ई० पू०) में सदा के लिये स्थिरता को प्राप्त हुआ। कालान्तर में उसका संस्कार तो होता रहा, आमूलचूल परिवर्तन या विघटन कभी नहीं हुआ। यूनानी पुरराज्यों का जो प्रभाव और महत्त्व उस देश के इतिहास में हुआ था, वह भारतीय जनपदों के प्रभाव की तुलना में नितान्त परिमित प्रतीत होता है। यह सौभाग्य की बात है कि गोत्र और चरणों की भाँति जनपद संस्था के विषय में एवं ऊपर लिखी हुई जीवन-प्रवृत्तियों के विषय में भी अष्टाध्यायी से ऐसी सच्ची और बारीक जानकारी प्राप्त हो सकी है जिसका विस्तृत विवेचन यहां किया गया है (पृ० ४१७–४४८)।

आठवें अध्याय में पाणिनि के समय पर विचार किया गया है। प्रस्तुत अध्ययन के फलस्वरूप जो सामग्री और तर्क कोटियाँ ऊपर उभर आईं उनके आधार पर इस प्रश्न का विवेचन करना आवश्यक था। सामग्री की एकसूत्रात्मक संगति से ज्ञात होता है कि पाणिनि की तिथि के विषय में भारतीय अनुश्रुति प्रामाणिक है जिसके अनुसार पाणिनि किसी नन्दराज के समसामयिक माने जाते हैं। वह समय पाँचवी शती ई० पूर्व के मध्यभाग के लगभग था।

लोक ही व्याकरण का सबसे महान् आवपन या थैला है जो शब्दों के अपरिमित भंडार से भरा रहता है। उस लोक के प्रति पाणिनि की बढ़ी हुई निष्ठा और श्रद्धा थी। लोक प्रमाण (जिसे संज्ञाप्रमाण कहा गया है) के आधार पर ही आचार्य ने अपने महान् शास्त्र की रचना की। लोक के विषय में पाणिनि की गाढ़ी श्रद्धा ही अष्टाध्यायी की बहुमुखी सांस्कृतिक सामग्री का हेतु है। इस दृष्टि को लेकर आचार्य के नेत्रों में अभूतपूर्व तेज भर गया था। गुप्त प्रकट जो शब्द सामग्री जहाँ थी वह सब उन्हें ऐसे प्रतिभासित हो गई जैसे पुराकाल के अन्य किसी आचार्य को न हुई थी। शब्दों की खोज में लोक का तिल-तिल परिचय जिसे व्याख्याताओं ने सूक्ष्मेक्षिका कहा है, पाणिनीय कार्यशैली की विशेषता थी जिससे ऐसे सर्वाङ्ग पूर्ण शास्त्र का जन्म हुआ। वैयाकरण के लिये महाभारत में लिखा है—

सर्वार्थानां व्याकरणाद् वैयाकरण उच्यते।
प्रत्यक्षदर्शी लोकानां सर्वदर्शी भवेन्नरः॥

(उद्योग ४३।३६)

सब अर्थों का व्याकरण, विवेचन, निर्वचन, प्रकृति और प्रत्यय का पृथक् स्पष्टीकरण, इसका प्रयत्न करना ही वैयाकरण का कार्य है। 'सर्वार्थ' शब्द की व्यंजना दूर तक है ; इसमें जो जितनी सामग्री भर सके वही उसकी सफलता है। पाणिनि ने लोक की भाषा में प्रचलित अनेक अर्थों के 'व्याकरण' का जो समन्तात् प्रयत्न किया, वह अष्टाध्यायी के सूत्रों में शाश्वत काल के लिये निहित है। भगवान् पाणिनि द्वारा उपज्ञात यह महत् और सुविहित शास्त्र पर्वतघटित कैलास मंदिर के समान विश्व का आश्चर्य है। पाणिनि के सूत्रों की शोभना कृति और अर्थ गौरव उसी स्वयम्भू शिवधाम के समान अनन्त कृति है। शताब्दियों के विस्तृत अन्तराल ने उसकी महिमा का संवर्धन ही किया है। जबतक व्योम में चन्द्र और सूर्य प्रकाशित हैं तबतक पाणिनि का यह शब्दशास्त्र लोक में प्रवर्धमान रहेगा।

न्यूनतम समय में मुद्रण कार्य सम्पन्न करने के लिये नागरी मुद्रण काशी के प्रबन्धक श्री महताब रायजी का मैं आभार मानता हूँ। श्री राजबली जी पाण्डेय, मंत्री नागरीप्रचारिणी सभा, काशी ने कागज की व्यवस्था कराने में जो सहायता की उसके लिये मैं उनका उपकृत हूँ। श्री रामशंकर भट्टाचार्य, श्री रेवाप्रसाद, श्री जगन्नाथ पाठक और श्री अजय मित्र ने पाण्डुलिपि और शब्दानुक्रमणी तैयार करने में जो परिश्रम किया उसके लिये उन्हें धन्यवाद है।

काशी विश्वविद्यालय
मार्गशीर्ष शुक्ल २, सं० २०१२

वासुदेवशरण

विषय सूची

अध्याय एक—पाणिनि और उनका शास्त्र (पृ० १–३६)

अध्याय दो—पाणिनि कालीन भूगोल (पृ० ३७–८८)

अध्याय तीन—सामाजिक जीवन (पृ० ८९-१९६)

अध्याय चार—आर्थिक दशा (पृ० १६७–२७४)

अध्याय पाँच—शिक्षा और साहित्य

(पृ० २७५-३४८)

अध्याय सात—राज्यतन्त्र और शासन (पृ० ३८९–४६६)

अध्याय आठ—पाणिनि के समय पर विचार (पृ० ४६७–४६८)

परिशिष्ट १—भौगोलिक गण (पृ० ४८६–४६३)

अध्याय १

पाणिनि और उनका शास्त्र

येनाक्षर - समाम्नायमधिगम्य महेश्वरात् ।
कृत्स्नं व्याकरणं प्रोक्तं तस्मै पाणिनये नमः ॥
येन धौता गिरः पुंसां विमलैः शब्दवारिभिः ।
तमश्चाज्ञानजं भिन्नं तस्मै पाणिनये नमः ॥

व्याकरण

भारतवर्ष में व्याकरण को उत्तरा विद्या एवं छहों वेदांगों में प्रधान माना गया है (व्याकरणं नामेयं उत्तरा विद्या, भाष्य १।२।३२; प्रधानं च षट्सु अंगेषु व्याकरणम्)। भाषा के वर्गीकरण और प्रकृति प्रत्यय रूप विश्लेषण में जैसी उन्नति इस देश में हुई वैसी अन्यत्र नहीं। संस्कृत के वैयाकरणों ने सर्वप्रथम मूल शब्द के रूपों को अलग किया, धातु और प्रत्यय के भेद को पहिचाना, प्रत्ययों के अर्थों का निश्चय किया और शब्दविद्या का इतना निश्चित और पूर्ण शास्त्र तैयार किया जिसकी उपमा किसी अन्य देश में नहीं मिलती। भारतीयों के शब्दविद्या-विषयक ज्ञान से पश्चिमी विद्वानों ने अपने भाषाशास्त्र में भी लाभ उठाया है।

पाणिनि का व्याकरणशास्त्र भारतीय शब्दविद्या का सबसे प्राचीन ग्रंथ है, जो इस समय उपलब्ध होता है। आचार्य पाणिनि ने महान् अष्टाध्यायी शास्त्र की रचना की, जो अपनी विशालता, क्रमबद्धता एवं विराट् कल्पना के कारण भारतीय मस्तिष्क की उसी प्रकार की सविशेष कृति है जिस प्रकार पर्वत में उत्कीर्ण वेरूल क्षेत्र का विशाल कैलास-मंदिर। पाणिनि ने संस्कृत भाषा को अमरता प्रदान की। व्याकरण की जो रीति उन्होंने अपनाई उसके द्वारा संस्कृत भाषा के सब अंग प्रकाश से आलोकित हो गए। पाणिनि की सहायता से उनमें अपना मार्ग ढूँढ़ निकालने में किसी को कठिनाई का अनुभव नहीं होता। संसार की कितनी ही प्राचीन भाषाएँ नियमित व्याकरण के अभाव में दुरूह बन गईं; किंतु संस्कृत भाषा के गद्य और पद्य दोनों एक समान पाणिनि-शास्त्र से नियमित होने के कारण सब काल में सुबोध बने रहे हैं। संस्कृत भाषा का जहाँ तक विस्तार है वहीं तक पाणिनीय शास्त्र का प्रमाण है। पाणिनि का प्रभाव सदा के लिये संस्कृत भाषा पर अक्षुण्ण है; आज भी उसकी मान्यता है। पाणिनि के कारण ही मानो यह भाषा कालग्रस्त नहीं हो सकी।

पाणिनि का यश और अष्टाध्यायी का महत्त्व

पश्चिमी जगत् के विद्वान् जब पाणिनि से परिचित हुए तो उनपर उस शास्त्र के महत्त्व की छाप पड़ी। वेबर ने अपने संस्कृत भाषा के इतिहास में अष्टाध्यायी को इस कारण सभी देशों के व्याकरण-ग्रंथों में सर्वश्रेष्ठ माना कि उसमें बहुत बारीकी से धातुओं और शब्द-रूपों की छानबीन की गई है। गोल्डस्टूकर के मत में पाणिनि-शास्त्र संस्कृत भाषा का स्वाभाविक विकास हमारे सामने उपस्थित करता है। इस शास्त्र के चारों ओर अति प्राचीनकाल से अन्य महत्त्वपूर्ण ग्रंथों की रचना होती रही है। भारतीय शास्त्रीय परंपरा की भूमि में पाणिनि की जड़ें सबसे अधिक गहराई तक फैली हैं। पाणिनि के सूत्र अत्यंत संक्षिप्त हैं। उन्हें छोटा बनाने में जिन विविध उपायों से काम लिया गया वे उनकी मौलिक सूझ प्रकट करते हैं। किंतु यह संक्षिप्त शैली सर्वथा स्पष्ट है, कहीं भी दुरूह नहीं होने पाई है। जबसे सूत्रों का पठन-पाठन आरंभ हुआ तब से आज तक उनके शब्दों के अर्थ स्पष्ट रहे हैं।

अष्टाध्यायी की रचना से पहले शब्दविद्या का दीर्घकालीन विकास हो चुका था; किंतु अष्टाध्यायी जैसे बृहत् और सर्वांगपरिपूर्ण शास्त्र के सामने पुराने ग्रंथ लुप्त हो गए। लोक में उसी का सर्वोपरि प्रमाण माना जाने लगा। पूर्ववर्ती आचार्यों में केवल यास्क का निरुक्त बचा है और वह भी केवल इस कारण कि उसका ध्येय वैदिक अर्थों को विवृत करना था। यास्क और पाणिनि के समय में जो 'चरण' संज्ञक वैदिक शिक्षा-संस्थाएँ थीं उनकी परिषदों में अनेक प्रकार से शब्द और ध्वनि के नियमों का ऊहापोह किया गया था। चरण-परिषदों के अतिरिक्त भी कितने ही आचार्यों ने शब्दविद्या के विषय में ग्रंथ रचे थे; उनमें से कुछ का प्रमाण स्वयं पाणिनि ने दिया है। उस विस्तृत सामग्री की पृष्ठभूमि लेकर पाणिनि ने अपना शास्त्र बनाया।

पाणिनि ने अपने समय की बोलचाल की शिष्ट भाषा की जाँच-पड़ताल करके अपनी सामग्री का संकलन किया। एक प्रकार से अधिकांश सामग्री उन्होंने स्वयं अपने लिये प्राप्त की। पाणिनि के सामने संस्कृत वाङ्मय और लोकजीवन का बृहत् भंडार फैला हुआ था; वह नित्यप्रति प्रयोग में आनेवाले शब्दों से भरा हुआ था। इस भंडार का जो शब्द अर्थ और रचना की दृष्टि से कुछ भी निजी विशेषता लिए हुए था उसका उल्लेख सूत्रों में या गणपाठ में आ गया है। तत्कालीन जीवन का कोई भी अंग ऐसा नहीं बचा जिसके शब्द अष्टाध्यायी में न आए हों। भूगोल, शिक्षा, साहित्य, सामाजिक जीवन, कृषि, वाणिज्य व्यवसाय, सिक्के, नापतोल, सेना, शासन, राजा, मंत्रिपरिषद्, यज्ञ-याग, पूजा, देवी-देवता, साधु-संन्यासी, रंगरेज, बढ़ई, लुहार, जुलाहा, महाजन, किसान, जुआरी, बहेलिया आदि से संबंधित जहाँ तक जीवन का विस्तार है वहाँ तक शब्दों को समेटने के लिये पाणिनि का जाल पूरा हुआ था। विशेषतः भौगोलिक जनपदों और स्थानों, वैदिक शाखाओं और चरणों तथा

गोत्रों और वंशों के नामों से संबंधित बहुत अधिक सामग्री अष्टाध्यायी में संगृहीत हो गई है। इन नामों से बननेवाले जो शब्द भाषा में रात दिन काम में आते थे उनकी रूप-सिद्धि और अर्थों का निश्चय पाणिनि का लक्ष्य था। इन शब्दों और अन्य सूत्रों पर विचार करने से स्पष्ट ज्ञात होता है कि संस्कृत उस समय बोलचाल की भाषा थी। दूर से पुकारने (दूराद्धूते च, ८।२।८४), अभिवादन का उत्तर देने (प्रत्यभिवादेऽशूद्रे, ८।२।८३), प्रश्नोत्तर (पृष्टप्रतिवचने, ८।२।९३), अथवा डांट-फटकार (भर्त्सने ८।२।९५) आदि के लिये जिस प्रकार वाक्यों और शब्दों में स्वरों का प्रयोग होता था उनके नियम सूत्रों में दिए गए हैं, जो उनकी व्यावहारिक उपयोगिता बताते हैं।

पाणिनीय शैली की बड़ी विशेषता इस बात में है कि उन्होंने धातुओं से शब्द-निर्वचन की पद्धति को स्वीकार किया। इसके लिये उन्होंने लोक में प्रचलित धातुओं का बड़ा संग्रह धातुपाठ में किया। आज भी इस देश की आर्य-भाषाओं और बोलियों के तुलनात्मक अध्ययन के लिये पाणिनि द्वारा संगृहीत धातुपाठ धातुओं और अर्थों की दृष्टि से अति मूल्यवान् है। दूसरी ओर पाणिनि ने, जिस प्रकार धातुओं से संज्ञा शब्द सिद्ध होते हैं उस प्रक्रिया की, सामान्य और विशेष रीति से पूरी छानबीन करके कृदंत प्रत्ययों की लंबी सूची दी है, और जिन अर्थों में वे प्रत्यय शब्दों में जुड़ते हैं उनका ज्ञान भी कराया है। यह सीधी शैली शब्द-ज्ञान के लिये नितान्त सरल और सुबोध हुई। पाणिनि से पहले आचार्य शाकटायन ने भी यह मत स्वीकार किया था कि शब्द धातुओं से बनते हैं; किंतु वैयाकरण शाकटायन ने अपने इस मत को एक आग्रह का रूप दे डाला था और व्युत्पन्न एवं अव्युत्पन्न सभी प्रकार के शब्दों को धातु-प्रत्ययों से सिद्ध करने का क्लिष्ट प्रयत्न किया था। शाकटायन के मत की झलक और उसके उदाहरण यास्क ने निरुक्त में दिये हैं। सभी शब्दों को धातु मानने की शाकटायन-प्रदर्शित पगडंडी पर चलते हुए ही उणादि सूत्रों की रचना की जा सकती थी। उनके ठीक कर्ता का पता नहीं; हो सकता है शाकटायन के व्याकरण के ही वे अवशेष हों जिनमें पीछे भी कुछ जोड़-तोड़ होता रहा। दूसरी ओर पाणिनि को मत विशेष का आग्रह न था। वे दो विरोधी मतों में बीच का रास्ता स्वीकार करना अच्छा समझते थे। जहाँ दो मतों का झगड़ा हो, वहाँ पाणिनि मध्यम पथ या समन्वय को पसंद करते हैं। उन्होंने देखा कि भाषा में कुछ शब्द तो ऐसे हैं जिनकी सिद्धि धातुओं में प्रत्यय लगाकर सामान्य या विशेष नियम के अंतर्गत आती है। किंतु लोक में शब्दों का भंडार बहुत बड़ा है; उसमें कितने शब्द ऐसे भी हैं जिनमें धातु-प्रत्यय की दाल नहीं गलती। हठात् प्रत्यय की थेकली लगाकर उन्हें सिद्ध करना न केवल क्लिष्ट कल्पना है, बल्कि कभी कभी व्याकरण-शास्त्र की भी हँसी कराना है। ऐसे शब्द लोक में स्वयं उत्पन्न होते हैं, अर्थों के साथ उनका संबंध जुड़ जाता है, एवं वे लोगों के कंठ में रहकर व्यवहार में आते हैं। उनके लिये लोक ही प्रमाण है। ऐसे शब्दों को पाणिनि ने संज्ञाप्रमाण (१।२।५३) कहा है।

कुछ ऐसे भी शब्द हैं जिनमें व्याकरण के नियमों की बाँस-बल्ली नहीं लगती, वे जैसे हैं लोक के कंठ में ढल गए हैं। ऐसे शब्दों को यथोपदिष्ट मानकर उनकी भी प्रामाणिकता उन्होंने स्वीकार की है। (पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्, ६।३।१०९)। उणादि प्रत्ययों को पाणिनि ने अपने शास्त्र में प्रमाण तो मान लिया, किंतु ब्यौरेवार उनके पचड़े में पड़ने की आवश्यकता नहीं समझी। 'उणादयो बहुलम्' (३।३।१) सूत्र लिखकर उन्होंने उणादि शैली से शब्द सिद्ध करने की प्रक्रिया पर अपनी स्वीकृति की मोहर तो लगा दी, किंतु 'बहुलम्' कहकर लंबी छूट भी दे दी कि जो आचार्य जितनी चाहे उतनी चौकड़ी भरे। और भी जहाँ-जहाँ मतों का द्वंद्व था, आचार्य पाणिनि ने समन्वय का दृष्टिकोण स्वीकार किया, जैसा हम आगे देखेंगे।

शब्द का अर्थ व्यक्ति है या जाति, यह एक पुराना विवाद था। महाभाष्य में इसका लंबा शास्त्रार्थ दिया हुआ है। आचार्य वाजप्यायन का मत था कि 'गौ' शब्द का अर्थ गौ-जाति-मात्र है (आकृत्यभिधानाद्वैकं विभक्तौ वाजप्यायनः, १।२।६४।३५)। आचार्य व्याडि का मत था कि 'गौ' शब्द व्यक्ति-रूप केवल एक गौ का वाचक है (द्रव्याभिधानं व्याडिः, १।२।६४।४५)। पाणिनि ने देखा कि दोनों ही मतों में सत्य का अंश है, अतएव अपने दो सूत्रों में उन्होंने दोनों को मान्यता दी। 'जात्याख्यायां एकस्मिन्बहुवचनमन्यतरस्याम्' (१।२।५८) सूत्र में यह माना कि जाति मात्र शब्द का अर्थ है, एवं 'सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ' (१।२।६४) सूत्र में शब्द का अर्थ द्रव्य या एक व्यक्ति लिया गया। पतंजलि ने महाभाष्य के आरंभ के पस्पशाह्निक में इस संबंध में पाणिनि की स्थिति को संक्षेप में स्पष्ट कर दिया है।

पाणिनि का महान् शास्त्र अष्टाध्यायी इस दृष्टि से भी हमारे लिये महत्त्व-पूर्ण है कि यास्क के निरुक्त की तरह उसपर एक ही आचार्य के कर्तृत्व की छाप है। वह इस प्रकार का ग्रंथ नहीं है जिसका संकलन चरण-साहित्य के ढंग पर गुरु-शिष्य-परंपरा में पल्लवित होनेवाले शास्त्रीय ज्ञान को इकट्ठा करके किया गया हो। शब्द-सामग्री का संग्रह करने के बाद पूर्वाभिमुख आसन पर बैठकर महान् यत्न से एक ही बार में आचार्य पाणिनि ने अपने शास्त्र की रचना की। सूत्रों की अन्तः-साक्षी इसी पक्ष में है। रचना के बाद भी पाणिनि के ग्रंथ में बहुत ही कम फेर-फार हुआ है। बर्नेल ने लिखा है कि ढाई सहस्र वर्षों की दीर्घ परंपरा के बाद अष्टाध्यायी का पाठ जितना शुद्ध और प्रामाणिक हमें मिलता है, उतना किसी अन्य संस्कृत ग्रंथ का नहीं (ऐंद्र व्याकरण पर विचार, पृष्ठ ३१)।

अष्टाध्यायी के सूत्रों में भूगोल, इतिहास, सामाजिक स्थिति एवं संस्कृति संबंधी जो सामग्री पाई जाती है, उसकी प्रामाणिकता उतनी ही बढ़ी-चढ़ी है जितनी प्राचीन शिलालेखों या सिक्कों की मानी जाती है।

अष्टाध्यायी की प्राचीनता को आजकल के सभी विद्वान् स्वीकार करते हैं; इस प्राचीनता से भी इस ग्रंथ की सामग्री का मूल्य बहुत बढ़ जाता है।

हमारे प्रस्तुत अध्ययन का उद्देश्य अष्टाध्यायी की सांस्कृतिक सामग्री पर प्रकाश डालना है। एक प्रकार से यह पाणिनि-शास्त्र की बहिरंग परीक्षा ही है, जो इस शास्त्र की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि का परिचय देकर सूत्रों में प्रतिपादित शब्दों को नया मूल्य प्रदान करेगी और उनमें नई रुचि का संचार करेगी। इस अध्ययन से पाणिनि-शास्त्र की गंभीरता का भी कुछ अनुमान हो सकेगा। प्रायः व्याकरण-शास्त्र को रूखा विषय समझा जाता है, किंतु इस अध्ययन से यह विदित होगा कि पाणिनि-शास्त्र कोरी दाँत-किटाकिट नहीं है। उनकी अष्टाध्यायी में संस्कृति की जो अमूल्य सामग्री है, उससे प्राचीन लोक-जीवन का जीता जागता परिचय मिलता है। इसकी सहायता से यदि हम आचार्य पाणिनि के ग्रंथ के समीप एक बार नए उत्साह से अपने मन को ला सकें तो यह परिश्रम सफल होगा।

संस्कृत भाषा का जो पुराना इतिहास था उसके एक गाढ़े समय में पाणिनि का प्रादुर्भाव हुआ। यास्क के समय में ही वैदिक भाषा का युग लगभग समाप्त हो चुका था। नए-नए ग्रन्थ, अध्ययन के विषय, एवं शब्द सत्र और जन्म ले रहे थे। गद्य और पद्य की एक नवीन भाषा-शैली प्रभावशालिनी शक्ति के रूप में सामने आ रही थी। उस भाषा के विस्तार का क्षेत्र उत्तर में कंबोज—प्रकण्व (पामीर फरगना) से लेकर पश्चिम में कच्छ काठियावाड़, दक्षिण में अश्मक (गोदावरी-तट का प्रदेश) और पूर्व में कलिंग एवं सूरमस (असम की सूरमा नदी का पहाड़ी प्रदेश) तक फैला हुआ था, जैसा कि अष्टाध्यायी के भौगोलिक उल्लेखों से विदित होता है। संभव है इस विशाल प्रदेश में स्थानीय बोलियाँ भी रही हों, किंतु एकछत्र साम्राज्य का पट्टबंध संस्कृत के ही माथे था। संस्कृत भाषा एवं साहित्य की इस प्रकार तपती हुई चारखूँट जागीरी के एकत्र तेज से पाणिनि के महान् शास्त्र का जन्म हुआ। पाणिनि से पूर्व शब्दविद्या के दूसरे आचार्यों ने इस विस्तृत भाषा को नियमबद्ध करने के प्रयत्न किए थे, किंतु वे एकांगी थे; संभवतः एक दूसरे से टकराते भी थे और शब्दों के रूप और नियम भी उनमें पूरी तरह घिरकर न आ सके थे। किंतु पाणिनि का शास्त्र विस्तार और गांभीर्य की दृष्टि से इन सबमें सिरमौर हुआ। वह उस स्थिर सरोवर के समान है, जिसमें निर्मल जल भरा हो और जिसमें उतरने के लिए पक्के घाट बँधे हों। पाणिनि ने अपने एकाग्र मन, सारग्राहिणी बुद्धि, समन्वयात्मक दृष्टिकोण, दृढ़ परिश्रम, सूत्र रचने की कुशलता एवं विपुल सामग्री की सहायता से जिस अनोखे व्याकरण शास्त्र की रचना की उसने सचमुच ही तत्कालीन संस्कृत भाषा की समस्या का एक बड़ा समाधान प्रस्तुत किया। तभी तो लोक में एक स्वर से पाणिनि-शास्त्र का स्वागत करते हुए यह किलकारी उठी—

पाणिनीयं महत्सुविहितम्। (भा० ३।२।३)

'पाणिनि का शास्त्र महान् और सुविरचित है।'

काशिका के अनुसार सारे लोक में पाणिनि का नाम छा गया (पाणिनि शब्दो लोके प्रकाशते, २।१।६); सर्वत्र 'इति पाणिनि' की धूम हो गई। पाणिनि की इस सफलता का स्रोत लोक की दृष्टि में ईश्वरीय शक्ति के अतिरिक्त और क्या हो सकता था? इसी कारण यह अनुश्रुति प्रचलित हुई कि शब्द के आदि आचार्य भगवान् शिव की कृपा से पाणिनि को नया व्याकरण-शास्त्र प्राप्त हुआ।

पाणिनि की अष्टाध्यायी में लगभग चार सहस्र सूत्र हैं; अथवा ठीक गिनती के अनुसार ३९९५ हैं, जिनमें 'अ इ उ ण्' ऋ लृ क्' आदि अक्षर-समाम्नाय के चौदह प्रत्याहार सूत्र भी सम्मिलित हैं। पाणिनि ने सूत्रों की शैली में अत्यंत ही संक्षिप्त अक्षरों द्वारा अपने ग्रंथ की रचना की। सूत्र-शैली पाणिनि से पूर्व ही आरंभ हो चुकी थी। ब्राह्मण-ग्रंथों के बृहत्काय पोथों की प्रतिक्रिया-रूप सूत्रों की सुंदर हृदयग्राही शैली का जन्म हुआ था। संसार की साहित्यिक शैलियों में भारतवर्ष की सूत्र-शैली की अन्यत्र उपमा नहीं है। यों तो श्रौत, धर्म और गृह्यसूत्रों एवं प्रातिशाख्य आदि वैदिक परिषदों के ग्रंथों में सफलतापूर्वक सूत्रशैली का प्रयोग हो चुका था, किंतु उसी को अच्छी तरह से माँजकर इस शैली की पूर्ण शक्ति और संभावना के साथ उसे काम में लाने का श्रेय पाणिनि को ही है। सूत्रशैली को माँजने की कल्पना पाणिनि के मन में थी। प्रयत्नपूर्वक माँजे और निखारे हुए सूत्र को उन्होंने 'प्रतिष्णात कहा है (सूत्र प्रतिष्णातम्, ८।३।९०)। अतएव 'सूत्रकार' संज्ञा पाणिनि के लिये प्रचलित हुई। महाभाष्य में पतंजलि ने एक प्राचीन उदाहरण देते हुए सूत्रकार पद पाणिनि के लिये ही प्रयुक्त किया है (पाणिनेः सूत्रकारस्य, २।२।११)।

पाणिनि से पूर्व भी व्याकरणशास्त्र की रचना हुई, परंतु उस समय लक्ष्य और लक्षण अर्थात् शब्द और उनकी सिद्धि के नियम, इन दोनों को मिलाकर व्याकरण समझा जाता था। पतंजलि ने लिखा है कि प्रत्येक शब्द की अलग-अलग साधनिका में न जाकर, अथवा उसके शुद्धरूप का पृथक् पृथक् उपदेश न करके, पाणिनि ने सामान्य और विशेष नियमों को स्थिर करते हुए सूत्र बनाए (न हि पाणिनिना शब्दाः प्रोक्ताः, किन्तर्हि, सूत्रम्, पस्पशाह्निक वा० १३)। व्याकरणशास्त्र को सूत्रों में ढालने के लिये 'व्याकरणं सूत्रयति' यह प्रयोग ही चल पड़ा(३।१।२६)। उसके बाद कात्यायन ने अपने वार्तिक भी सूत्र-शैली में ही लिखे, एवं व्याकरण लिखने के लिये सूत्रों की परिपाटी लगभग दो सहस्र वर्ष बाद तक भी चलती रही; परंतु 'सूत्रकार' संज्ञा पाणिनि को ही प्राप्त हुई।

सूत्रकार और शब्दकार, ये दोनों संज्ञाएँ पाणिनि के ही एक सूत्र 'न शब्द श्लोक कलह गाथा वैर चाटु सूत्र मन्त्र पदेषु' (३ । २ ।२३) में साहित्यिक शैलियों का परिगणन करते हुए आई हैं। वैयाकरणों के लिये 'शब्दकार' और 'शाब्दिक' संज्ञाओं का भी प्राचीन काल में प्रयोग होता था। व्याकरण को पाणिनि ने

'शब्दसंज्ञा' भी कहा है (स्वं रूपं शब्दस्याऽशब्द संज्ञा, १।१।६८; अभिनिसस्तनः शब्दसंज्ञायाम्, ८।३।८६)। सूत्र ४।४।३४ में 'शब्दं करोति शाब्दिकः' पद भी पाणिनि ने सिद्ध किया है। पाणिनि के समय में वैयाकरण शब्द चल चुका था, जैसा कि 'वैयाकरणाख्यायां' (६।३।७) प्रयोग से ज्ञात होता है; लेकिन अधिकतर व्याकरण उस समय शब्दशास्त्र ही कहलाता था। पीछे चलकर इसका प्रयोग कम और व्याकरण शब्द का अधिक हो गया।

पाणिनि के विषय में कात्यायन का दृष्टि-कोण

कात्यायन पाणिनि के सबसे योग्य, प्रतिभाशाली और वैज्ञानिक पारखी एवं एक प्रकार से व्याख्याता हुए हैं। उनका व्याकरण विषयक निजी ज्ञान उच्च कोटि का था। पाणिनि के सूत्रों पर वार्तिक रचकर उन्होंने सूत्रों की पृष्ठभूमि का परिचय दिया एवं उस संबंध में होनेवाले अनेक विचार-विमर्शों की तुलनात्मक ढंग से समीक्षा की। उन्होंने सूत्रों पर नए विचारों की उद्भावना की, कालांतर में जहाँ नए प्रयोग उत्पन्न हो गए थे वहाँ पाणिनि सूत्रों के साथ उन्हें मिलाने का सुझाव दिया और व्याकरण संबंधी सिद्धांतों के जो मत-मतांतर थे उनपर शास्त्रार्थ चलाया, जो कहीं कहीं ५९ वार्तिकों तक लंबा खिंच गया है (सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ, सूत्र १।२।६४)। कहीं उन्होंने पाणिनि के सूत्रों में पढ़े हुए शब्दों का मंडन किया है, कहीं दूसरों से उठाई हुई शंकाओं का उत्तर दिया है, कहीं दूसरों की शंकाओं की निस्सारता दिखाकर नई दृष्टि से पाणिनि के सूत्रों में शंका-स्थलों का संकेत किया है, कहीं अपनी पराई सभी शंकाओं का निराकरण करके सूत्र की शुद्धता का मंडन किया है, एवं जहाँ उन्हें जँचा वहाँ सूत्र अथवा उसके एक भाग की आवश्यकता भी दिखाई है। उनके वार्तिकों की संख्या लगभाग ४२६३ हैं, जो उनके अपरिमित पाणिनि-विषयक श्रम का परिचय देते हैं। इस प्रकार की बहुमुखी समीक्षा से पाणिनि का शास्त्र एकदम तप गया।

व्याकरणशास्त्र के इतिहास में वह घड़ी बड़े दुर्भाग्य की थी जब यह ऊल-जलूल कहानी गढ़ी गई कि पाणिनि और कात्यायन में लागडाँट थी और पाणिनि के यश से कुढ़कर उन्हें नीचा दिखाने के लिये कात्यायन ने वार्तिकों का घटाटोप खड़ा किया। पीछे यह बात इतनी घर कर गई कि शबरस्वामी जैसे महाविद्वान् की लेखनी से लिखा गया—'सद्वादित्वाच्च पाणिनेर्वचनं प्रमाणं, असद्वादित्वान्न कात्यायनस्य' (मीमांसा भाष्य, १०।८।१), अर्थात् ठीक कहनेवाले पाणिनि का वचन प्रमाण, बे-ठीक कहनेवाले कात्यायन का नहीं। आज भी शेखचिल्ली की इस कहानी को कहते-सुनते यह अनुभव नहीं किया जाता कि इसके द्वारा एक महान् वैयाकरण के प्रति अन्याय करते हुए हम अपने ही शास्त्र के पैरों में आप कुल्हाड़ी मार रहे हैं। कहाँ कात्यायन का पाणिनि-विषयक गहरा परिश्रम एवं सूक्ष्म विचार, और कहाँ उसके प्रति यह उदासीनता! सच बात तो यह है कि कात्यायन ने वार्तिक-

सूत्रों की रचना करके पाणिनीय शास्त्र को जीवनदान दिया। कात्यायन और पतंजलि का पाणिनि-विषयक दृष्टिकोण बहुत कुछ एक जैसा है। किन्हीं-किन्हीं सूत्रों में तो पतंजलि त्रुटियों की उद्भावना करने में कात्यायन से आगे निकल गए हैं। शंकाओं की उद्भावना, उनपर यथार्थ विचार और उनका समाधान—यही व्याकरणशास्त्र के विचार की प्राचीनतम परिपाटी थी। इसी का अनुसरण कात्यायन और पतंजलि ने किया एवं इसी शैली से दो सहस्र वर्षों तक संस्कृत के विद्वान् विचार करते रहे हैं।

कात्यायन के वार्तिक पतंजलि के महाभाष्य की कुंजी हैं। किसी सूत्र के वार्तिकों को अलग छाँटकर उनपर विचार करें तो पूर्वपक्ष और उत्तरपक्ष की एक स्पष्ट लड़ी सरल शब्दों में गुँथी हुई मिल जाती है। पतंजलि के भाष्य में दो प्रकार की शैलियाँ पाई जाती हैं। जहाँ तक वार्तिकों का संबंध है, उन्होंने एक एक शब्द अलग करके उसका अर्थ समझाया है। इस सरल शैली का नाम चूर्णिका है। इसके अतिरिक्त जहाँ व्याकरण के सिद्धांतों का ऊहापोह-विषयक विचार चलता है, वहाँ की शैली दूसरे प्रकार की हो जाती है—भारी-भरकम, ओजस्वी और सिंहमुखी। जिस प्रकार हाथी सारे शरीर को घुमाकर पीछे देखता है उस प्रकार की नागावलोकन दृष्टि से वह विषय से आमने-सामने जूझती है। पहली चूर्णक है, दूसरी तंडक। भाष्य की इन दो शैलियों के बीच में अंतर्यामी धागे की तरह विषय को पिरोने वाले कात्यायन के वार्तिक हैं। भाष्य मुख्यतः कात्यायन के वार्तिकों पर आश्रित है।

इस प्रकार वार्तिकों का सर्वातिशायी महत्त्व प्राचीन आचार्यों की दृष्टि में था। वार्तिकों की रचना करने के बाद स्वयं कात्यायन पाणिनि के प्रति अत्यंत श्रद्धावान् हो उठे और उन्होंने अपना अंतिम वार्तिक इस प्रकार भक्ति-भरे शब्दों में समाप्त किया—'भगवतः पाणिनेः सिद्धम्।'

पतंजलि का दृष्टिकोण

पतंजलि का महाभाष्य पाणिनि-शास्त्र के इतिहास में सबसे बड़ी घटना हुई। अनेक जलधाराओं के वर्षण से जैसे बहिया आ जाय और उस जलौघ को एकत्र करके किसी नदी में प्रवाहित कर दिया जाय, उसी प्रकार व्याकरण के विशाल क्षेत्र पर जो विचार-मेघ बरसे थे उन सब जलों का संग्रह करके पतंजलि ने महाभाष्य द्वारा उन्हें सदा के लिये व्याकरणशास्त्र के अध्ययन अध्यापन की महानदी में मिला दिया। पाणिनि और कात्यायन के शास्त्रों का सुचिंतित अध्ययन करते हुए पतंजलि के अपने पांडित्य और विलक्षण व्यक्तित्व की भी अमिट छाप महाभाष्य में लगी हुई है। जिस क्षेत्र को उन्होंने अपना बनाया था, जिसके वे एक प्रकार से चक्रवर्ती थे, उसी क्षेत्र में पाणिनि की महिमा और प्रामाणिकता को स्वीकार करते हुए उन्होंने भी कात्यायन की भाँति पाणिनि के लिये 'भगवान' पद का प्रयोग किया। उन्होंने कात्यायन को भी एक बार इस विरुद से अलंकृत किया

(भाष्य ३।२।३), और उन्हीं की भाँति महाभाष्य के अंत में पाणिनि को अपनी श्रद्धांजलि अर्पित की—

भगवतः पाणिनेराचार्यस्य सिद्धम् । (भा० ८।४।६८)

पतंजलि ने पाणिनि को मांगलिक आचार्य (अर्थात् जिन्होंने अपने ग्रंथ का आरंभ मांगलिक शब्द और भावना से किया, जिससे उसकी परंपरा देश और काल में चिरजीवी हो, १।१।१, १।३।१) लिखा है। कहा है कि आदि में मंगल, मध्य में मंगल और अंत में मंगल करनेवाले शास्त्र लोकमंगल के साथ विस्तार को प्राप्त होते हैं। निस्संदेह 'वृद्धि' शब्द से प्रारंभ होनेवाला पाणिनि का ग्रंथ, जिसे पतंजलि ने महान्‌शास्त्रौघ अर्थात् शास्त्र का विस्तृत महार्णव (भा० १।३।१) कहा है, लोक में अपूर्व सफलता को प्राप्त हुआ और उसके द्वारा राष्ट्र की भाषा, विचारशैली एवं संस्कृति का महान् कल्याण हुआ।

पतंजलि के समय में पाणिनि व्याकरण का अध्ययन आरंभिक कक्षाओं तक फैल गया था। उन्होंने लिखा है—

आकुमारं यशः पाणिनेः (भा० १।४।८९) एषास्य यशसो मर्यादा।

काशिका के अनुसार पाणिनि का व्याकरण जब लोक में फैला तो चारों ओर उसका प्रमाण मानते हुए 'इतिपाणिनि' 'तत्पाणिनि' ध्वनि सुनाई पड़ने लगी (का० २।१।६)।

पतंजलि ने स्पष्ट ही पाणिनि को 'प्रमाणभूत आचार्य' की सम्मानित उपाधि दी है। (भा० १।१।३९)। किस प्रकार अपने गंभीर उत्तरदायित्व का अनुभव करते हुए पाणिनि शास्त्र-रचना में प्रवृत्त हुए, इसका चित्र खींचते हुए उन्होंने लिखा है—

प्रमाणभूत आचार्यो दर्भपवित्रपाणिः शुचाववकाशे प्राङ्मुख उपविश्य महता यत्नेन सूत्रं प्रणयति स्म।

अर्थात् प्रमाणकोटि में पहुँचे हुए आचार्य ने कुशा से हाथ पवित्र करके पूर्वाभिमुख बैठकर मस्तिष्क के बड़े प्रयत्न से सूत्रों की रचना की। उसमें एक अक्षर के भी निष्प्रयोजन होने की गुंजाइश नहीं, सारे सूत्र की तो बात ही क्या (भा० १।१।१, वा० ७)।

इस प्रकार की रगड़ करके जो निखरा हुआ शास्त्र रचा गया उसके प्रति विद्वानों में पूज्य बुद्धि होना स्वाभाविक था। इससे ही उस रोचक परिभाषा का जन्म हुआ जिसमें कहा गया है कि सूत्र में आधी मात्रा कम हो जाने से वैयाकरण को इतनी प्रसन्नता होती है जितनी पुत्र-जन्म से—अर्धमात्रा लाघवेन पुत्रोत्सवं मन्यन्ते वैयाकरणाः (परिभाषेंदुशेखर, परिभाषा १२२)। लाघव पर इतना ध्यान देते हुए भी पहिले के वैयाकरण सूत्रों को प्रसन्न

और सरल रखते थे। पाणिनि के सूत्रों की प्रसन्न भाषा कहीं कहीं बहुत हृदयग्राहिणी हो गई है। जैसे सोममर्हति यः (४।४।१३७; मनु के 'सोमं पातुमर्हति', ११।८ से तुलना कीजिए); धान्यानां भवने क्षेत्रे खञ् (५।२।१); क्षेत्रियच् परक्षेत्रे चिकित्स्यः (५।२।९२); साक्षाद् द्रष्टरि संज्ञायाम् (५।२।९१, दो स्वरों के छोटे से 'साक्षी' शब्द की सिद्धि के लिये आठ स्वरों वाला बड़ा सूत्र आचार्य ने बनाया है)। किन्हीं किन्हीं सूत्रों में पाणिनि के शब्दों का प्रवाह असाधारण रूप से बह निकला है। जैसे इन्द्रियम् इन्द्रलिंगम् इन्द्रसृष्टम् इन्द्रजुष्टम् इन्द्रदत्तम् इति वा' (५।२।९३)। केवल 'इन्द्रियं' इतना सूत्र रखकर भी 'इन्द्रिय' शब्द की सिद्धि हो सकती थी, परंतु पाणिनि से पूर्व के ब्राह्मण ग्रंथों और निरुक्तादि ग्रंथों में 'इन्द्र' और 'इन्द्रिय' के पारस्परिक अर्थों के संबंध को लेकर बहुत कुछ ऊहापोह हो चुका था, उसमें से पाँच उदाहरण उन्होंने सूत्र में रख लिए और शेष के लिये 'इति वा' कहकर गुंजाइश कर दी। इस सूत्र में इंद्र का अर्थ आत्मा है। आत्मा का इंद्रियों के साथ जो महत्त्वपूर्ण संबंध है, उपनिषद् और सूत्रकाल के दार्शनिक क्षेत्रों में उसकी चर्चा थी। उसके प्रति मान्य बुद्धि रखकर पाणिनि ने शब्दों के बढ़ने की परवाह न करते हुए भिन्न-भिन्न मतों को अपने व्याकरण में भी स्थान देना उपयुक्त समझा। यह सूचित करता है कि आचार्य का हृदय सार-वस्तु को लेने में कितना उदार था और उनकी शैली कितनी हृदयग्राहिणी थी। पतंजलि ने आचार्य की इस सरल प्रवृत्ति से प्रभावित होकर उन्हे 'सुहृद्भूत' कहा है। (तदाचार्यः सुहृद्भूत्वा अन्वाचष्टे, भा० १।२।३२)। पाणिनि की सूत्रशैली को क्लिष्ट कहना उसके प्रति अपने हृदय के सरस भावों को कुंठित कर लेना है।

पाणिनि के लिये पतंजलि ने 'अनल्पमति आचार्य' (१।४।५१) विशेषण का प्रयोग किया है। पाणिनि के मस्तिष्क की विशालता इससे प्रकट है कि वे शब्दों की लगभग अपरिमित सामग्री को संचित, व्यवस्थित और सूत्र संनिविष्ट कर सके। उनकी तर्कबुद्धि और निश्चित शैली का विद्वानों ने लोहा माना है; शताब्दियों तक पीढ़ी दर-पीढ़ी विद्वानों को उसने प्रभावित किया है।

पतंजलि ने एक स्थान पर पाणिनि को 'वृत्तज्ञ आचार्य' (भा० १।३।३।९, वा० १५) कहा है। अर्थात् शब्दों का अर्थों के साथ जो संबंध है, अर्थों को प्रकट करने के लिये जो प्रत्यय शब्दों में जुड़ते हैं, तथा शब्दों के रूपों में जो परिवर्तन होते हैं या उनके अनुसार प्रत्ययों में गुण-वृद्धि करानेवाले जैसे जैसे अनुबंध रखे जाते हैं—इन तीनों बातों को पाणिनि पूरी तरह जानते थे। शब्द अपने सीधे-सादे रूप में जो अर्थ रखता है उससे अधिक किसी विशेष अर्थ को जब हम उससे प्रकट करना चाहते हैं, तब उसमें प्रत्यय जोड़ते हैं। प्रत्यय शब्द के साथ मिलकर नया अर्थ देने लगता है। उदाहरण के लिये 'वर्ष' का अपना अर्थ है 'साल'। 'साल भर में होनेवाला'—इस विशेष अर्थ के लिये नया शब्द बनाया जाता है 'वार्षिक'।

'वर्ष' शब्द में 'इक्' प्रत्यय जुड़कर 'वर्ष में होनेवाला', इस नए अर्थ को प्रकट करने की सामर्थ्य उत्पन्न करता है। सब भाषाओं का लगभग यही नियम है। प्रत्यय द्वारा विशेष अर्थ को प्रकट करने की जो शब्द की क्षमता है उसे व्याकरण में 'वृत्ति' कहा गया है (परार्थाभिधानं वृत्तिः)। प्रत्येक भाषा में मनुष्यों के व्यवहारों के अनुसार हजारों तरह के अर्थ शब्दों से प्रकट होते हैं। संस्कृत में भी ऐसा ही था, और आज हिंदी में भी यही नियम है। जैसे, 'चवन्नी' का सीधा अर्थ चार आने मूल्य का एक विशेष सिक्का है। लेकिन जब हम 'चवन्नी चरितावली' कहते हैं तब चवन्नी शब्द में विशेष अर्थ भर जाता है। 'चवन्नी मूल्य में मिलने वाली' यह विशेष अर्थ मूल चवन्नी शब्द में जोड़ते हैं। व्याकरण-शास्त्र चाहता है कि इस विशेष अर्थ के लिये एक प्रत्यय लगाना चाहिए, फिर चाहे वह प्रत्यय शब्द में दिखाई पड़े या भाषा के महावरे के साथ उसका लोप हो गया हो। 'कश्मीरी दुशाला' प्रयोग में 'कश्मीरी' शब्द का 'ई' प्रत्यय कश्मीर में काढ़ा जानेवाला, कश्मीर से आनेवाला, इन कई अर्थों को प्रकट करता है। कश्मीर के निवासी (कश्मीरी), कश्मीर में होनेवाला (कश्मीरी चावल), कश्मीर में बोली जानेवाली (कश्मीरी बोली) आदि और भी इस प्रकार के कई अर्थ 'ई' प्रत्यय से प्रकट होते हैं। यह लोक-जीवन और भाषा का सत्य है। व्याकरण का विद्यार्थी अपनी ओर से न प्रत्यय बनाता है और न अर्थ, वह तो उनका अलग अलग विश्लेषण करके उन्हें समझने का प्रयत्न करता है, और जो लोक में चालू शब्द हैं उनके अनुसार प्रत्ययों को अलग करके देखता है।

पाणिनि ने अपने समय की भाषा के लिये भी यही काम किया। उन्होंने शब्द और अर्थ के संबंधों और रूपों को परखा, छाना और अलग किया। लोक में जितनी भी प्रकार की शब्दों के द्वारा अर्थविशेष प्रकट करने की वृत्तियाँ थीं उनकी सूची बनाकर अष्टाध्यायी में उन्हें स्थान दिया। इसके लिये प्रायः मनुष्य-जीवन के संपूर्ण व्यवहारों की जाँच-पड़ताल उन्हें करनी पड़ी होगी। व्याकरण के क्षेत्र में यही पाणिनि ने बड़ा साका किया। न उनसे पहिले और न उनसे पीछे, भाषा में इस प्रकार शब्दों और अर्थों के पारस्परिक संबंधों की छानबीन की गई थी। उनकी पैनी आँख से जीवन का कोई भी क्षेत्र बचा न रहा। अष्टाध्यायी के चौथे और पाँचवें अध्यायों में तद्धित का जो महाप्रकरण है वह अर्थविशेषों को कहनेवाली वृत्तियों का अखूट भंडार है। उदाहरण के लिये, पढ़ना-पढ़ाना, ग्रंथ लिखना, कंठ करना, दोहराना, पाठ सुनाने में एक दो-चार भूलें करना, ग्रंथ घोखते समय कड़े चबूतरे पर सोना, चुप रहना, गुरुकुल-विशेष का विद्यार्थी होने के कारण हेंकड़ी मारना या दूसरों पर अधिकार जताना, विद्यालय में भरती होना, समान आचार्य से पढ़ना, छोटे छात्रों का डंडा लेकर चलना, बड़े छात्रों का एक साथ मिलकर पारायण करना, वसंत, ग्रीष्म, वर्षा आदि छः ऋतुओं के अनुसार पठन-पाठन की व्यवस्था करना, जिस ऋतु में जो विषय पढ़ा जाय

उसके अनुसार उसका नाम पड़ना, 'चरण' नामक जो वैदिक शाखाओं के विद्यालय थे उनका सदस्य होना, उनमें रचे गए ग्रंथों का नाम रखना, श्लोक गाथा सूत्र-मंत्र-पद आदि भिन्न-भिन्न साहित्यिक शैलियों के अनुयायी साहित्यसेवियों के नाम रखना, मूल ग्रंथ और उनके व्याख्यान, अनुव्याख्यान आदि के रचनेवाले ग्रंथकर्ताओं अथवा उनके पढ़नेवाले छात्रों का नाम रखना, छुट्टियाँ मनाना, विद्यालय के नियमों का उल्लंघन करना, अवधि से पहिले संस्था से हट जाना, विशेष ग्रंथ या विषयों के अध्ययन के लिये एक पाख, महीना, छः मास, वर्ष, दो वर्ष या दस-बीस वर्ष के लिये ब्रह्मचर्य का व्रत लेकर विद्यालय में भरती होना, विषय पढ़कर दूसरे विद्वानों के साथ शास्त्रार्थ करना, उसके सिद्धांतों की व्याख्या करना, दूसरे का मत काटकर अपना मत स्थापित करना—इस प्रकार केवल पठन-पाठन के क्षेत्र में ही भिन्न-भिन्न अर्थ थे, जिनपर पाणिनि का ध्यान गया (तत्संबंधित सूत्रों का विवेचन यथास्थान किया जायगा)। उन्होंने लोक-जीवन में भरी हुई इस सामग्री का उमँगकर स्वागत किया। फलस्वरूप आज अष्टाध्यायी के पृष्ठों में जीवन की ऐसी सरसता है जैसी संस्कृत भाषा के किसी अन्य ग्रंथ में नहीं पाई जाती। यहाँ पदे-पदे शब्द पुराकालीन संस्थाओं का रूप भरे बैठे हैं। पाणिनि-शास्त्र निस्संदेह तत्कालीन भारतीय जीवन और संस्कृति का विश्वकोष ही बन गया है। भूगोल, सामाजिक जीवन, आर्थिक जीवन, विद्या संबंधी जीवन, राजनैतिक जीवन, धार्मिक और दार्शनिक जीवन—सबके विषय में राई-राई करके पाणिनि ने सामग्री की महा-हिमवंत-शृंखला ही खड़ी कर दी है। उसी का नाम अष्टाध्यायी है।

व्यास नदी के उत्तरी किनारे पर बाँगर में जो कुएँ थे वे पक्के होते थे। उनके नामों में स्वर का उच्चारण एक विशेष ढंग का था। उसके बाएँ किनारे के खादर के कछार में पानी की बहिया के कारण पक्के कुएँ न बन सकते थे, इसलिये हरसाल कच्चे कुएँ खोदे जाते थे और इन कच्चे कुओं के नाम भी टिकाऊ न होते थे। यह विशेषता उन नामों के स्वर या बोली में अक्षरों पर गौरव देकर प्रकट की जाती थी। यह बारीक भेद भी आचार्य की दृष्टि से बचा न रहा और 'उदक्च विपाशः' (४।२।७४) सूत्र में उन्होंने इसे प्रकट किया। उनकी इस महीन छानबीन से प्रभावित होकर प्राचीन आचार्यों ने कहा—

महती सूक्ष्मेक्षिका वर्तते सूत्रकारस्य। (का० ४।२।७४)

'सूत्रकार की निगाह बहुत ही पैनी थी।'

चीनी यात्री श्यूआन् चुआङ् ने उनके जन्मस्थान शलातुर में जाकर उनका जो जीवनवृत्त संगृहीत किया उसमें कहा है कि ऋषि पाणिनि आरंभ से ही मनुष्य और जीवन की वस्तुओं के संबंध में विस्तृत जानकारी रखते थे। पाणिनि ने स्वसंचित सामग्री के आधार पर गोत्र, चरण, शाखा, जनपद, नगर, ग्राम आदि की बहुत अच्छी सूचियाँ अपने गणपाठ में दी हैं। गणपाठ की सूझ उनकी अपनी थी।

व्हिटनी और बर्नेल, पाणिनि-शास्त्र के इन दोनों विद्वानों ने स्वीकार किया है कि पाणिनि से पूर्व गणपाठ की प्रथा न थी। पतंजलि ने स्पष्ट कहा है कि आचार्य ने पहिले गणपाठ बनाया, पीछे सूत्रपाठ, (सः पूर्वः पाठोऽयं पुनः पाठः; भा० १ । १ । ३४)।

शास्त्रकार का नाम

अष्टाध्यायी के रचयिता का नाम पाणिनि है। कात्यायन और पतंजलि ने यही नाम प्रयुक्त किया है। बौधायन श्रौतसूत्र के महाप्रवर कांड के अनुसार पाणिनि वत्स भृगुओं के अंतर्गत एक अवांतर गोत्र का नाम था जिसके पाँच प्रवर थे--भार्गव, च्यावन, आप्नवान, और्व और जामदग्न्य। पाणिनि ने स्वयं भी अष्टाध्यायी के एक सूत्र में (६ । ४ । १६५) 'पणिन् के अपत्य' अर्थ में 'पाणिन' शब्द सिद्ध किया है। कैय्यट के मत से 'पाणिन' के युवा अपत्य की संज्ञा 'पाणिनि' होगी (प्रदीप १ । १ । ७३ वा० ६, पणिनोऽपत्यमिति अण् पाणिनः, पाणिनस्यापत्यं युवेति इञ् पाणिनिः)।

त्रिकांडशेष और केशव कोषों के अनुसार आहिक, शालंकि, दाक्षीपुत्र और शालातुरीय नाम भी पाणिनि के लिये परंपरा से चले आते थे। आहिक और शालंकि नामों के समर्थन या व्याख्या में विशेष प्रमाण इस समय उपलब्ध नहीं है। महाभाष्य में शालंकी के युवा छात्रों का उल्लेख है, जो शालंक कहलाते थे। किंतु इतने से पाणिनि के साथ उनका संबंध ज्ञात नहीं होता।

वेबर की सम्मति में शालंकियों का संबंध वाहीक देश से था (संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० २१८)। वाहीक उदीच्य के क्षेत्र में गिना जाता था और पाणिनि भी उदीच्य देश के ही थे। श्यूआन् चुआङ् ने पाणिनि को निश्चित रूप से गंधार देश का कहा है। पाणिनि की जन्मभूमि शलातुर गंधार में ही थी, जिसके कारण पाणिनि शालातुरीय कहलाए।

पतंजलि ने एक कारिका में पाणिनि को दाक्षीपुत्र कहा है (दाक्षीपुत्रस्य पाणिनेः, भा० १।१।२०, वा० ५)। दक्षों का संबंध निश्चित रूप से पश्चिमोत्तर भारत या उदीच्य देश से था। काशिका में प्राप्त उदाहरणों से ज्ञात होता है कि दक्ष लोगों का अपना एक संघ-राज्य था, जिसकी अपनी बस्ती और अपने ही अंक और लक्षण (राज्य-चिन्ह) भी थे, जैसा कि उस समय के संघों की प्रथा थी (दाक्षः संघः, दाक्षः अंकः, दाक्षं लक्षणं, दाक्षो घोषः, ४ । ३ । ११७)।[1] अन्यत्र

१—इसके अतिरिक्त और भी दाक्षिग्रामः (६।२।८४, दाक्ष्यादयो वसन्ति यस्मिन्ग्रामे सः), दाक्षिकटः, दाक्षिपल्वलः, दाक्षिह्रदः, दाक्षि बदरी, दाक्षिपिंगलः, दाक्षिपिशंगः, दाक्षिशालः, दाक्षिरक्षः, दाक्षिशिल्पी, दाक्ष्यश्वत्थः दाक्षिशाल्मलिः, दाक्षिपुंसा, दाक्षिकूटः (६.२।८५)।

दाक्षिकूल और दाक्षिकर्षू इन दो गाँवों के नाम काशिका में आए हैं (६।२।१२९)। दाक्षिकर्षू अवश्य ही प्राचीन नाम था, क्योंकि पतंजलि ने दाक्षिकर्षू नामक गाँव का उल्लेख किया है, जहाँ का रहनेवाला दाक्षिकर्षुक कहलाता था (भा० ४।२।१०४ वा० ७)। कर्षू श्रौतसूत्रों में गढैया के अर्थ में आया है। पाणिनि के एक सूत्र में उशीनर देश के गाँवों (कंथा) के नाम हैं (संज्ञायां कंथोशीनरेषु, २।४।२०)। 'दाक्षिकंथा' इसी सूत्र का प्रत्युदाहरण है। इससे ज्ञात हुआ कि यह स्थान उशीनर देश से बाहर था। उशीनर की सीमा में होता तो यह स्थान 'दाक्षिकंथं' कहलाता। स्वयं पाणिनि उशीनर को वाहीक देश का एक अंश कहते हैं (४।२।११७-११८)। दक्षों का संबंध प्राच्य देश से भी न था, ऐसा काशिका ने लिखा है (प्राच्यभरतेष्विति किं, दाक्षाः, ४।२।११३)। पूर्व से पश्चिम की ओर चलते हुए देशों का क्रम इस प्रकार था--प्राच्य, भरत (कुरुक्षेत्र का प्रदेश, जिसे प्राच्य भरत भी कहते थे), उशीनर, मद्र, उदीच्य। (गोपथ-ब्राह्मण में मद्रों के बाद उदीच्यों का उल्लेख है, गोपथ, १।२।१०)। उशीनर और मद्र इन दोनों की संयुक्त संज्ञा वाहीक थी। निष्कर्ष यह कि दाक्षि लोग प्राच्य देश से, भरत जनपद से और उशीनर से बाहर और भी पश्चिम की ओर बसे थे। पंजाब में शेरकोट का इलाका प्राचीन उशीनर था। चनाब और जेहलम से उत्तर-पश्चिम गंधार कहलाता था। वहीं कहीं दाक्षियों का स्थान होना चाहिए।

शलातुर

शलातुर से जिसके पुरखों का निकास हो वह शालातुरीय कहलाता था। ये दोनों शब्द पाणिनि के सूत्र में आए हैं (४।३।९४)। अतएव इस स्थान की प्राचीनता निश्चित है। गणरत्न महोदधि के लेखक वर्धमान और भामह पाणिनि को शालातुरीय लिखते हैं। वलभी के एक शिलालेख में पाणिनि-शास्त्र को शालातुरीय तंत्र कहा गया है (शीलादित्य सप्तम का लेख, फ्लीट, गुप्त शिलालेख, पृष्ठ १७५)।

चीनी यात्री श्यूआन् चुआङ् सप्तम शताब्दी के आरंभ में मध्य एशिया के स्थल-मार्ग से भारत आते हुए शलातुर में ठहरा था। उसने लिखा है कि उद्भांड से लगभग बीस लि (लगभग ४ मील) पर शलातुर स्थान था। यह वही जगह है जहाँ ऋषि पाणिनि का जन्म हुआ, जिन्होंने शब्दविद्या की रचना की थी (बील, सियुकि १।११४)। शलातुर की पहचान लहुर नामक गाँव[1] के साथ की गई है,

---

१—काबुल और सिंधु के संगम पर ओहिंद (प्राचीन उद्भांडपुर) है, वहाँ से ठीक ४ मील उत्तर-पश्चिम की ओर लहुर गाँव है। मरदान से ओहिंद जानेवाली बसें लहुर होकर जाती हैं। इस समय नार्थ-वेस्टर्न रेलवे जहाँ अटक के पुल से सिंधु पार जाती है वहाँ जहाँगीरा

जहाँ बहुत से पुराने टीले हैं। उनमें खुदाई भी हुई है और वहाँ से कुछ पुरानी मूर्तियाँ भी मिली हैं (कनिंघम, पुरातत्त्व रिपोर्ट, २।९५; प्राचीन भारतीय भूगोल, पृष्ठ ६६-६७)।

पाणिनि के जीवनवृत्त से संबंधित अनुश्रुति

सोमदेव के कथासरित्सागर (ग्यारहवीं शती) और क्षेमेंद्र की बृहत्कथा-मंजरी (ग्यारहवीं शती) में जो गुणाढ्य की बृहत्कथा पर आश्रित है, पाणिनि के संबंध में इतिवृत्त कहानी के रूप में मिलता है। इसके अनुसार पाणिनि आचार्य वर्ष के मंदबुद्धि शिष्य थे। फिसड्डीपन से दुःखित होकर पाणिनि तप करने हिमालय पर चले गए और वहाँ शिव को प्रसन्न करके नया व्याकरण प्राप्त किया (प्राप्तं व्याकरणं नवम्)। कात्यायन छात्रावस्था में और उसके बाद भी पाणिनि के प्रतिद्वंद्वी थे। पाणिनि के व्याकरण ने प्राचीन ऐंद्र व्याकरण की जगह ले ली। नंदवंश के सम्राट् से पाणिनि की मित्रता हो गई और सम्राट् ने उनके शास्त्र को सम्मानित किया।

मंजुश्री-मूलकल्प

अभी हाल में मिले बौद्ध संस्कृत साहित्य के इस संग्रह-ग्रंथ (लगभग आठवीं शती) में नंद और पाणिनि के विषय में लिखा है—

'पुष्पपुर में शूरसेन के अनंतर नंद राजा होगा। वहाँ मगध की राजधानी में अनेक विचारशील (तार्किक) विद्वान् राजा की सभा में होंगे। राजा उनका धन से सम्मान करेगा। बौद्ध ब्राह्मण वररुचि उसका मंत्री होगा। राजा का परम मित्र पाणिनि नामक एक ब्राह्मण होगा।'

राजशेखर ने काव्यमीमांसा (नवीं शती) में इस अनुश्रुति की अनुपरंपरा में ही यह उल्लेख किया है कि पाटलिपुत्र में शास्त्रकार-परीक्षा हुआ करती थी।[1] उस परीक्षा में वर्ष, उपवर्ष, पाणिनि, पिंगल और व्याडि ने उत्तीर्ण होकर यश प्राप्त किया। ये सब आचार्य शास्त्रों के प्रणेता हुए हैं। राजशेखर ने संभवतः

स्टेशन पर उतरने से १२ मील चलकर लहुर पहुँच सकते हैं। य्यूआन् चुआङ् ने लिखा है कि शलातुर के लोग, जो पाणिनि शास्त्र के अध्येता हैं, उनके उदात्त गुणों की प्रशंसा करते हैं और एक मूर्ति जो उनकी स्मृति में बनाई गई थी, अभी तक विद्यमान है (सियुकि, १।११६)। शलातुर के पास सिंधु नदी के दाहिने किनारे पर नाव लगती थी। सिंधु के पूर्वी किनारे पर शकर-दर्रा (शक्रद्वार) नामक गाँव है, वहाँ से प्राप्त एक खरोष्ठी लेख में नावों के इस घाट को शलातुर के नाम पर शल-नो-क्रम (शलानौक्रम) कहा गया है।

१—श्रूयते च पाटलिपुत्रे शास्त्रकारपरीक्षा। अत्रोपवर्षवर्षाविह पाणिनिपिंगलाविह व्याडिः। वररुचिपतंजली इह परीक्षिताः ख्यातिमुपजग्मुः॥

इन नामों का परिगणन तिथिक्रम के अनुसार किया है। उपवर्ष मीमांसा और वेदांत-सूत्रों के भाष्यकार थे (शांकर भाष्य ३।३।५३, जेकोबी, अमरीकी प्राच्य-परिषद पत्रिका, १९१२, पृष्ठ १५)। शंकराचार्य ने शब्द के विषय में भगवान् उपवर्ष के मत का प्रमाण दिया है (शारीरक भाष्य ३ । ३ । ५३, १ । ३ । २०)। उपवर्ष के भ्राता आचार्य वर्ष पाणिनि के गुरु कहे गए हैं। पाणिनि प्रसिद्ध शास्त्रकार हैं ही, उन्होंने अपना नया व्याकरण पाटलिपुत्र की शास्त्रकार परीक्षा के सामने प्रस्तुत किया होगा। छन्दोविचिति (सूत्र ४ । ३ । ७३, गण पाठ) के कर्ता पिंगल को षड्गुरु-शिष्य ने वेदार्थ-दीपिका टीका में पाणिनि का अनुज कहा है। व्याडि भी पाणिनि के समकालीन दक्ष गोत्र में ही उत्पन्न उनके संबंधी कहे जाते हैं। व्याडि ने सूत्र-शैली में व्याकरणशास्त्र पर अपना संग्रह नामक ग्रंथ रचा था, जो पतंजलि के सामने था। पतंजलि ने इस ग्रंथ की शैली और मार्मिक विवेचन की प्रशंसा की है (शोभना खलु दाक्षायणस्य संग्रहस्य कृतिः, भा० २।३।६६)। संग्रह-सूत्रों का अध्ययन करनेवाले विद्यार्थी पतंजलि के समय 'सांग्रह सूत्रिक' कहलाते थे (भा० ४।२।६०)। उक्त सूची में कात्यायन और पतंजलि पुष्यमित्र शुंग के समय में (दूसरी शताब्दी ई० पू०) हुए। इस प्रकार लगभग तीन शताब्दियों का शास्त्रकार परीक्षा संबंधी इतिहास राजशेखर में पाया जाता है।

चीनी यात्री श्यूआन् चुआङ् का वर्णन

पाणिनि के जीवन के संबंध में सामग्री थोड़ी है, फिर भी चीनी यात्री श्यूआन् चुआङ् (६२९, ६४५ ई०) ने शलातुर में स्वयं जाकर जो सूचनाएँ एकत्रित कीं उन्हें विश्वसनीय माना जा सकता है, विशेषतः जहाँ सोमदेव, राजशेखर मंजुश्री-मूलकल्प और चीनी वर्णन एकमत हों। श्यूआन् चुआङ् ने पाणिनि के व्यक्तित्व पर जो प्रकाश डाला है उसका समर्थन पतंजलि के महाभाष्य से भी होता है। शब्दविद्या के निर्माता पाणिनि का जन्म शलातुर में हुआ, यह बताते हुए श्यूआन् चुआङ् लिखता है —

अति प्राचीन समय में साहित्य का बहुत विस्तार था। कालक्रम से संसार का ह्रास हुआ और एक प्रकार से सब शून्य हो गया। तब देवों ने ज्ञान की रक्षा के लिये पृथ्वी पर अवतार लिया। इस प्रकार प्राचीन व्याकरण और साहित्य का जन्म हुआ। इसके बाद भाषा (व्याकरण) का विस्तार होने लगा और पहली सीमाओं से बहुत बढ़ गया। ब्रह्मदेव और देवेंद्र शक ने आवश्यकता के अनुसार शब्दों के रूप स्थिर किए (नियम बनाए)। ऋषियों ने अपने-अपने मत के अनुसार अलग-अलग व्याकरण लिखे। मनुष्य इनका अध्ययन करते रहे, किंतु जो मंदबुद्धि थे वे इनसे काम चलाने में असमर्थ थे। फिर मनुष्यों की आयु भी घटकर केवल सौ वर्ष रह गई थी। ऐसे समय में ऋषि पाणिनि का जन्म हुआ। जन्म से ही सब विषयों में उनकी जानकारी बढ़ी चढ़ी थी। समय की मंदता और अव्यवस्था को

देखकर पाणिनि ने साहित्य और बोलचाल की भाषा के अनिश्चित और अशुद्ध प्रयोगों एवं नियमों में सुधार करना चाहा। उनकी इच्छा थी कि नियम निश्चित करें और अशुद्ध प्रयोगों को ठीक करें। उन्होंने शुद्ध सामग्री के संग्रह के लिये यात्रा की। उस समय ईश्वर-देव से उनकी भेंट हुई जिनसे उन्होंने अपनी योजना बताई। ईश्वरदेव ने कहा—यह अद्भुत है, मैं इसमें तुम्हारी सहायता करूँगा। ऋषि पाणिनि उनसे उपदेश प्राप्त करके एकांत स्थान में चले गए। वहाँ उन्होंने निरंतर परिश्रम किया और अपने मन की सारी शक्ति लगाई। इस प्रकार अनेक शब्दों का संग्रह करके उन्होंने व्याकरण का एक ग्रंथ बनाया जो एक सहस्र श्लोक परिमाण का था। आरंभ से लेकर उस समय तक अक्षरों और शब्दों के विषय में जितना ज्ञान था उसमें से कुछ भी न छोड़ते हुए संपूर्ण सामग्री उस ग्रंथ में सन्निविष्ट कर दी गई। समाप्त करने के बाद उन्होंने इस ग्रंथ को राजा के पास भेजा जिसने उसका बहुत सम्मान किया और आज्ञा दी कि राज्य भर में इसका प्रचार किया जाय और शिक्षा दी जाय। और यह भी कहा कि जो आदि से अंत तक इसे कंठ करेगा उसे एक सहस्र सुवर्णमुद्रा का पुरस्कार मिलेगा। तब से इस ग्रंथ को आचार्यों ने स्वीकार किया और अविकल रूप में सबके हित के लिये इसे वे पीढ़ी-दर-पीढ़ी सुरक्षित रखते रहे। यही कारण है कि इस नगर के विद्वान् ब्राह्मण व्याकरण-शास्त्र के अच्छे ज्ञाता हैं और उनकी प्रतिभा बहुत अच्छी है (सियुकि, पृष्ठ ११४-११५)।

हम देखेंगे कि किस प्रकार वैदिक साहित्य के विस्तार, व्याकरण के मूल आरंभ, ऐंद्र व्याकरण की उत्पत्ति, भिन्न-भिन्न व्याकरणों के कारण उत्पन्न हुई अव्यवस्था, उस संकट-काल में पाणिनि के नए व्याकरण का प्रादुर्भाव, तथा पाणिनि की योग्यता एवं ग्रंथ-निर्माण-विधि के विषय में श्यूआन् चुआङ् ने आठ सौ वर्षों का अंतर होने पर भी लगभग उन्हीं बातों का उल्लेख किया है जिनका संकेत पतंजलि के महाभाष्य में पाया जाता है जो इस प्रकार है—

(१) **प्राचीन शास्त्रों की उत्पत्ति**—श्यूआन् चुआङ् के इस वर्णन में कुछ कल्पना का अंश मिला है। भारतीय परंपरा में प्रायः शास्त्रों की उत्पत्ति में दैवी प्रेरणा स्वीकार की गई है। पतंजलि ने भी लिखा है कि बृहस्पति ने दिव्य वर्ष-सहस्र काल तक अपने शिष्य इंद्र के लिये एक-एक शब्द का शुद्ध रूप बताते हुए शब्द-पारायण का व्याख्यान किया (बृहस्पतिरिन्द्राय दिव्यं वर्षसहस्रं प्रतिपदोक्तानां शब्दानां शब्दपारायणं प्रोवाच, भा० पस्पशाह्निक)।

(२) **साहित्य का विस्तार**—इस विषय में श्यूआन् चुआङ् का कथन पतंजलि के इस वर्णन से मिलता है—'सप्तद्वीपा वसुमती त्रयोलोकाश्चत्वारो वेदाः साङ्गाः सरहस्या बहुधा विभिन्ना एकशतमध्वर्युशाखाः सहस्रवर्त्मा सामवेद एकविंशतिधा बाह्वृच्यं नवधाथर्वणो वेदो वाकोवाक्यमितिहासः पुराणं वैद्यक-मित्येतावाञ्शब्दस्य प्रयोगविषयः (भाष्य, पस्पशाह्निक)। पृथ्वी के सात द्वीपों और तीन लोकों में शब्द का विस्तार है, चार वेद, उनके छः अंग और उप-

निघंटु, भिन्न-भिन्न शाखाएँ, १०० यजुर्वेद की शाखाएँ, १००० सामवेद की शाखाएँ, २१ शाखाओंवाला ऋग्वेद, ९ शाखाओं वाला अथर्ववेद, वाकोवाक्य, (प्रश्नोत्तरी संवाद), इतिहास, पुराण, वैद्यक—इतना बड़ा शब्द का प्रयोग-क्षेत्र है। साहित्य-विस्तार का यह चित्र पाणिनि से पहिले ही अस्तित्व में आ चुका था। उस समय संस्कृत साहित्य का जितना अधिक विस्तार हो चुका था उसका परिचय अष्टाध्यायी से भी प्राप्त होता है, जैसा कि हम आगे देखेंगे।

(३) ऐंद्र व्याकरण—श्यूआन् चुआङ् ने लिखा है कि ब्रह्मदेव और देवेंद्र शक्र ने व्याकरण संबंधी नियम स्थिर किए थे। यह पाणिनिशास्त्र से पूर्व की बात है। संस्कृत साहित्य में भी ऐंद्र व्याकरण की अनुश्रुति पाई जाती है। तैत्तिरीय संहिता के अनुसार देवताओं ने इंद्र से प्रार्थना की 'वाचं व्याकुरु' (वाक् का व्याकरण करो)। जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है, पतंजलि ने भी बृहस्पति और इंद्र के गुरु-शिष्य रूप में एक-एक पद का उच्चारण करते हुए शब्दों के पारायण की अनुश्रुति का उल्लेख किया है।

सामवेद के ऋक्तंत्र नामक प्रातिशाख्य ग्रंथ में लिखा है कि ब्रह्मा ने बृहस्पति को, बृहस्पति ने इंद्र को, इंद्र ने भारद्वाज को व्याकरण की शिक्षा दी, और भारद्वाज से वह व्याकरण अन्य ऋषियों को प्राप्त हुआ।[1]

इस परंपरा में प्रजापति रूप में ब्रह्मा सर्व विद्याओं के आदिस्रोत हैं। इंद्र दैवी प्रतीक है। बृहस्पति का व्याकरण मानवीय स्तर पर भारद्वाज ऋषि के द्वारा प्रचारित हुआ। पाणिनि ने आचार्य भारद्वाज के मत का उल्लेख किया है (७।२।६३)। पतंजलि ने कई स्थलों पर भारद्वाजीय (भारद्वाज व्याकरण से संबंधित) वार्तिकों का उल्लेख किया है (भा० ३।१।३८; ३।१।८९)।

ऋक्प्रातिशाख्य में भी, जो पाणिनि से पूर्व काल का माना जाता है, भारद्वाज के मत का उल्लेख है, जिसका संबंध ऐंद्र व्याकरण से ही ज्ञात होता है। कथासरित्सागर और बृहत्कथामंजरी के अनुसार ऐंद्र व्याकरण के स्थान में पाणिनि-व्याकरण की जड़ जमी। ऐंद्र व्याकरण की अनेक पारिभाषिक संज्ञाएँ पाणिनि-व्याकरण में, और कात्यायन, पतंजलि आदि के ग्रंथों में अपना ली गईं, जैसा कि ऐंद्र व्याकरण के इतिहास में बर्नेल ने सिद्ध किया है।

(४) पाणिनि के पूर्व के अन्य आचार्य—श्यूआन् चुआङ् ने ठीक ही लिखा है कि पाणिनि से पहिले भिन्न-भिन्न मत रखनेवाले ऋषियों ने व्याकरण

१—इदमक्षरं छंदसां वर्णशः समनुक्रांतम्। यथाचार्या ऊचुर्ब्रह्मा बृहस्पतये प्रोवाच, बृहस्पतिरिंद्रायेंद्रो भारद्वाजाय, भारद्वाज ऋषिभ्यः, ऋषयो ब्राह्मणेभ्यस्तं खल्विममक्षरसमाम्नायमित्याचक्षते।

(ऋक्तंत्र १।४, डा० सूर्यकांत का संस्करण)

बनाए। उपलब्ध प्रातिशाख्य, निरुक्त और अष्टाध्यायी में लगभग ६५ आचार्यों के नाम आए हैं।[1] इनके द्वारा उस समय व्याकरण, शिक्षा और निरुक्त-इन शास्त्रों का अत्यधिक विस्तार हुआ। पाणिनि के आविर्भाव पर विचार करते हुए यह पृष्ठभूमि ध्यान में रखनी चाहिए। पाणिनि का व्याकरण इन सब प्रयत्नों के ऊपर सिरमौर हुआ।

(५) शब्दविद्या की तत्कालीन व्यवस्था—इस विषय में श्यूआन् चुआङ ने जो लिखा है उसकी पुष्टि भाष्य से होती है। पूर्व समय में ऐसा था कि उपनयन संस्कार के बाद विद्यार्थी पहिले व्याकरण पढ़ते थे और फिर उन्हें वैदिक शब्दों का बोध कराया जाता था। पीछे ऐसा न रहा, झट विद्यार्थी वेद तक जाने लगे और इस प्रकार की धारणा चल गई कि सीधे वेद से वैदिक शब्द और लोक से बोल-चाल (लौकिक) के शब्द आ ही जाते हैं, इसलिये व्याकरण का पचड़ा व्यर्थ है (अनर्थकं व्याकरणम्)। इस प्रकार की डावाँडोल मति के लोगों के लिये आचार्य ने इस व्याकरणशास्त्र का उपदेश किया (विप्रतिपन्नबुद्धिभ्योऽध्येतृभ्य आचार्य इदं

१—[संकेत—ऋ० = ऋक् प्रातिशाख्य। य० = यजुः प्रातिशाख्य। तै०=तैत्तिरीय प्रातिशाख्य। च० = चतुरध्यायिका नामक अथर्व प्रातिशाख्य। नि० = निरुक्त। पा० = पाणिनि।]

आग्निवेश्य (तै०), आग्निवेश्यायन (तै०), आग्रायण (नि०), आत्रेय (तै०), आन्यतरेय (ऋ० च०), आपिशलि (पा०), आह्वरकाः (तै०), उख्य (तै०), उत्तमोत्तरीयाः (तै०), उदीच्याः (पा०), औदुम्बरायण (नि०), औदव्रजि (ऋक्तंत्र साम प्रातिशाख्य), औपमन्यव (नि०), औपशिवि (य०), और्णनाभ (नि०), कांडमायन (तै०), काण्व (य०), कात्थक्य (नि०), काश्यप (य०, पा०), कौण्डिन्य (तै०), कौत्स (नि०), कौहली पुत्र (तै०), क्रौष्टुकि (नि०), गार्ग्य (ऋ०, य०, नि०, पा०), गालव (नि०, पा०), गौतम (तै०), चर्मशिरस् (नि०), चाक्रवर्मण (पा०), जातुकर्ण्य (य०), तैटीकि (नि०), तैत्तिरीयकाः (तै०), दाल्भ्य (य०), नैगि (ऋक्तंत्र), पंचालाः (ऋ०), पौष्करसादि (पा०, तै०), प्राच्याः (ऋ०, पा०), प्लाक्षि (तै०), प्लाक्षायण (तै०), बाभ्रव्य (क्रमकृत्, ऋ०), भारद्वाज (तै० पा०), मांडूकेय (ऋ०) माशकीय (तै०), मीमांसकाः (तै०), यास्क (ऋ०), वाडभीकार (तै०) वात्स (तै०), वात्स्य (च०), वार्ष्यायणि (नि०), वाल्मीकि (तै०) वेदमित्र (ऋ०), व्याडि (ऋ०), शतबलाक्ष मौद्गल्य (नि०,) शाकटायन (ऋ०, य०, च०, नि०, पा०), शाकपूणि (नि०), शाकलाः (ऋ०), शाकल्य (ऋ, य०, पा०), शाकल्य पितृ (स्थविर) (ऋ०), शांखायन (तै०), शैत्यायन (तै०), शौनक (ऋ०, य०, पा०), सांकृत्य (तै०), सेनक (पा०), स्थौलष्ठीवि (नि०), स्फोटायन (पा०), हारीत (तै),

(मैक्समूलर कृत संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० १४२)

शास्त्रमन्वाचष्टे, पस्पशाह्निक)। मनुष्यों का आयुष्य (अवकाश और शक्ति) कम होने के विषय में श्यूआन् चुआङ् ने पतंजलि के शब्दों का मानो अनुवाद ही किया है—'किं पुनरद्यत्वे यः सर्वथा चिरं जीवति स वर्षशतं जीवति'। 'आज का क्या कहना, जो बहुत जीता है, सौ वर्ष जीता है।' यह बात कि पाणिनि का उद्देश्य व्याकरण के नियमों को निश्चित करना और अशुद्ध प्रयोगों को हटाना था, कात्यायन से समर्थित होती है। उन्होंने अष्टाध्यायी को साध्वनुशासन-शास्त्र (वह शास्त्र जिसमें साधु शब्दों का उपदेश किया गया हो, भा० १।१।४४ वा० १४) कहा है।

(६) **आचार्य की शैली**—श्यूआन् चुआङ के अनुसार पाणिनि ने सामग्री के संचय के लिये विस्तृत यात्रा की और अनेक स्थानों में पूछताछ करके शब्दों का संग्रह किया। भाषा-विषयक यात्रा और पूछताछ की अमिट छाप अष्टाध्यायी में संकलित विस्तृत शब्द-समूह पर स्पष्ट पाई जाती है। बोलियों, जन-विश्वासों और स्थानीय प्रथाओं से भी शब्दों का चुनाव किया गया है। भारत के पूर्वी भाग में उद्दालक-पुष्पभंजिका, वीरण-पुष्प-प्रचायिका, शालभंजिका आदि जो उद्यान-क्रीड़ाएँ उस समय प्रचलित थीं, उनके नामकरण की प्रथा पर कई सूत्रों में प्रकाश डाला गया है (नित्यं क्रीडा जीविकयोः २।२।१७; संज्ञयाम्, ३।३।१०९; प्राचां क्रीडायाम्, ६।२।७४)। लोग जिस प्रकार से अपने बच्चों के नाम रखते थे और उन नामों को छोटा करके दुलार से पुकारते थे, उसकी भी पाणिनि ने छानबीन की। यहाँ तक कि कुछ यक्षों के नामों का भी उल्लेख किया है, जिनमें लोगों का विश्वास था और जिनकी कृपा से पुत्र-जन्म की मान्यता होने के कारण बच्चों का नाम उसके नाम के अनुसार रखते थे। इस प्रकार के यक्षों में विशाल भी एक यक्ष था (५।३।८४)। पीलु वृक्ष के पक्के फलों के लिये 'पीलुकुण' शब्द पाणिनि को ठेठ पंजाब की बोलियों से मिला होगा, जहाँ पीलु और शमी के घने जंगल थे और आज भी पक्के पीलुफलों को 'पिलकना' कहते हैं। इसी प्रकार नापतोल, सिक्के, धान्य, भोजन आदि के संबंध में भी अनेक प्रकार की शब्द-सामग्री इस ग्रंथ में पाई जाती है। साल्व जनपद में जो लप्सी या राबड़ी बनती थी उसके नामकरण का भी सूत्र में उल्लेख है (साल्विका यवागूः, ४।२।१३६)। व्यास नदी के दाहिने और बाएँ किनारों के कुओं के नामों की विशेषताओं का उल्लेख ऊपर हो चुका है। इस प्रकार की महती सूक्ष्मेक्षिका से सूत्रकार ने शास्त्र का निर्माण किया।

विषय के साथ इस प्रकार का साक्षात् संबंध करना या उसे गुनना तक्षशिला विश्वविद्यालय की विशेष पद्धति थी। शलातुर में जन्म पाकर पाणिनि भी अपने क्षेत्र के इस प्रसिद्ध शिक्षास्थान में शिक्षा के लिये गए हों और वहाँ के वातावरण में पले हों, यही संभव है। महावग्ग में लिखा है (८।१।६) कि पाटलिपुत्र के राजवैद्य जीवक तक्षशिला में आयुर्वेद का विशेष अध्ययन करने के लिये गए और अध्ययन समाप्त करके जब उन्होंने

आचार्य से लौटने की अनुमति माँगी, तो आचार्य ने उन्हें परखना चाहा और कहा कि तक्षशिला के चारों ओर ढूँढ़कर कोई ऐसी वनस्पति लाओ जो ओषधि के काम न आती हो। जीवक ने एक मास तक ढूँढ़ने पर निवेदन किया कि महाराज, मैंने बहुत यत्न किया किंतु ऐसा कोई तृण नहीं मिल सका जो किसी न किसी रोग की औषध में काम न आता हो। यह उत्तर सुनकर आचार्य ने समझा कि अब शिष्य की पढ़ाई पक्की हुई और उसे जाने की अनुमति दे दी।

जातकों से यह भी पता चलता है कि अध्ययन समाप्त कर लेने पर तक्षशिला के छात्र अनेक बातों की जानकारी के लिये देशभ्रमण (चारिका) पर निकलते थे और उस यात्रा में अनेक प्रकार के कौशल की बातों (शिल्प) और रीति रिवाजों (समय और रहन सहन के रंग-ढंग (देश-चरित्र) का अध्ययन करते थे।[1] शब्द विद्या संबंधी छानबीन के विशेष उद्देश्य को लेकर पाणिनि की यात्रा भी इसी प्रकार की रही होगी। यह आश्चर्य है कि पाणिनि के १२०० वर्ष बाद तक उनके विषय की यह जानकारी श्यूआन् चुआङ् को सच्ची अनुश्रुति के रूप में प्राप्त हो सकी।

(७) **पाणिनि और महेश्वर**—'पाणिनि के पास अपने कार्य की एक सुनिश्चित योजना थी जिसे ईश्वरदेव ने बहुत पसंद किया।' श्यूआन् चुआङ् के इस वर्णन से इतना अवश्य ज्ञात होता है कि अष्टाध्यायी के निर्माण में पाणिनि के मौलिक चिंतन और अध्यवसाय को ही श्रेय मिलना चाहिए। 'ईश्वरदेव' की कथा, पाणिनि के कार्य में ईश्वर की सहायता अर्थात् देव-प्रसाद प्राप्त होने की सूचक है।

(८) **पाणिनि कृत यत्न**—'ऋषि पाणिनि उपदेश प्राप्त करके एकांत में चले गए और वहाँ निरंतर यत्न किया और अपने मन और बुद्धि की सारी शक्ति उस कार्य में लगाई।'—श्यूआन् चुआङ् का यह सत्य कथन पतंजलि के शब्दों का प्रायः अनुवाद ही है (प्रमाणभूत आचार्यो दर्भपवित्रपाणिः शुचाववकाशे प्राङ्मुख उपविश्य महता यत्नेन सूत्रं प्रणयति स्म।—भा० १।१।१, वा० ७)। कहाँ एक ओर पाणिनि का सूत्र-रचना में यह महान् यत्न और कहाँ वह गपोड़ा जिसमें पाणिनि को मंदबुद्धि बताया गया! पाणिनि ने अपना उत्साह, विशाल बुद्धि और दृढ़ संकल्प शब्दविद्या का अनुसंधान करने और उसे व्यवस्थित करने में लगाया। पतंजलि के अनुसार वे अनल्पमति आचार्य थे। उन्हें अत्यंत मेधावी होने के कारण कवि भी कहा गया है।

(९) **अष्टाध्यायी का ग्रंथ-परिमाण**—श्यूआन् चुआङ् ने बत्तीस अक्षरों वाले श्लोक की गिनती की नाप से अष्टाध्यायी को एक सहस्र श्लोकों के बराबर

१—तक्कसिलं गन्त्वा उग्गहित सिप्पा ततो निक्खमित्वा सब्ब समय सिप्पञ् च देस चारित्तञ् च जानिस्सामा ति अनुपुब्बेन चारिकं चरंता (जातक, भा० ५ पृ० २४७)।

लिखा है। अष्टाध्यायी में ३९८१ सूत्र और १४ प्रत्याहार सूत्र हैं, इनकी गणना करने से अष्टाध्यायी आज भी एक सहस्र-श्लोकात्मक है।

(१०) सर्ववेद पारिषद शास्त्र—'आरंभ से लेकर अपने समय तक शब्दों और अक्षरों के बारे में जितना कुछ ज्ञात था उस सबको ही बिना कुछ छोड़े हुए पाणिनि ने अष्टाध्यायी में स्थान दिया।' यह मूल्यवान् सूचना अष्टाध्यायी का मनन करने से सत्य ज्ञात होती है। पतंजलि ने भी पाणिनि ग्रंथ को 'महत्शास्त्रौघ' बताया है (भा० १। १। १, वा० ७)। प्रातिशाख्य ग्रंथों का संबंध एक-एक वैदिक शाखा से था। अतएव उनमें शब्द संबंधी जो थोड़ी-बहुत सामग्री है वह भी उसी शाखा तक परिमित है। जैसे ऋक्-प्रातिशाख्य ऋग्वेद की शाकल शाखा की वैदिक परिषद् में जो ऊहापोह या विचार हुए थे उनका परिचय देता है। वैदिक शाखाओं के अध्ययन के लिये स्थापित आचार्य कुल 'चरण' कहलाते थे। प्रत्येक चरण में अपनी परिषद् होती थी। उस परिषद् में शिक्षा, व्याकरण, छंद, निरुक्त आदि शब्द-संबंधी विषयों का विचार किया जाता था। अष्टाध्यायी की स्थिति इससे कुछ और विकसित अवस्था को सूचित करती है। इस ग्रंथ का क्षेत्र किसी विशेष वैदिक परिषद् तक सीमित न था। सभी चरण-परिषदों की जो उपादेय सामग्री थी उसे पाणिनि ने अपने शास्त्र में ग्रहण किया। पतंजलि ने अष्टाध्यायी की इस स्थिति का निरूपण करते हुए बड़े पते की बात कही है—सर्ववेद पारिषदं हीदं शास्त्रम् (भा० २। १। ५८), अर्थात् पाणिनि का अष्टाध्यायी शास्त्र सभी वेद-परिषदों से संबंध रखता था। इसीलिये पाणिनि के सूत्रों में साहित्यिक शैली की विभिन्नता भी पाई जाती है। बहुलम् अन्यतरस्याम्, उभयथा, वा, एकेषाम्—ये सब शब्द सूत्रों में नियम का विकल्प बताने के लिये प्रयुक्त किए गए हैं। शब्दों की इस अनेकरूपता को उलझन कहकर पाणिनि की शैली पर एक आपत्ति उठाई गई तो पतंजलि ने समाधान किया कि अष्टाध्यायी का संबंध सब परिषदों से था, इसलिये यहाँ एक सा रास्ता नियत करना संभव नहीं (तत्र नैकः पन्थाः शक्य आस्थातुम्, २। १। ५८)। बर्नेल के मत से अष्टाध्यायी अपने पूर्ववर्ती समस्त व्याकरणों से अतिशायिनी थी; तभी उसे इतना प्रतिष्ठित पद प्राप्त हुआ (ऐंद्र व्याकरण पर विचार, पृष्ठ ३८)। पाणिनि ने पूर्वाचार्यों से कितनी सामग्री ग्रहण की, यह प्रश्न अत्यंत रोचक होता, किंतु इसके समाधान का साधन अब उपलब्ध नहीं, क्योंकि पाणिनि से पूर्व-कालीन आपिशलि, भारद्वाज, गार्ग्य, शाकटायन आदि के व्याकरण-ग्रंथों में से एक भी सुरक्षित नहीं रहा। ऋक्तंत्र नामक साम-प्रातिशाख्य में सुट् और दीर्घ प्रकरण के अंतर्गत २७ सूत्र (१९५ से २१८ तक) पाणिनि के सूत्रों से बहुत ही मिलते हैं। उनसे यह आभास मिलता है कि अन्य व्याकरणों में सूत्रों का रूप किस प्रकार अष्टाध्यायी से कुछ कुछ भिन्न रहा होगा—

ऋक् तंत्र	पाणिनि
१. मस्करो वेणुः (४। ७। २६)।	मस्करमस्करिणौ वेणुपरिव्राजकयोः (६।१।१५०)।

२. प्रस्कण्व ऋषिः	(४ । ६ । ८) ।	प्रस्कण्व हरिश्चन्द्रावृषी	(६ । १ । १५३) ।
३. गोष्पदमुदक माने अगोष्पदमनाचरिते	(४ । ६ । ६) । (४ । ६ । १०) ।	गोष्पदं सेवितासेवित प्रमाणेषु	(६।१।१४५)।
४. अपस्परं सातत्ये	(४ । ६ । ७) ।	अपस्पराः क्रिया सातत्ये	(६ । १ । १४४) ।
५. अप रथे	(४ । ६ । १) ।	अपस्करो रथांगम्	(६ । १ । १४६) ।
६. पार पर्वते	(४ । ५ । १०) ।	पारस्कर प्रभृतीनि च संज्ञायाम्	(६।१।१४५)।
७. आस्पदं आस्थायाम्	(४ । ६ । ५) ।	आस्पदं प्रतिष्ठायाम्	(६ । १ । १४७) ।
८. कुस्तुंबुरु जातिः	(४ । ६ । ५) ।	कुस्तुम्बुरूणि जातिः	(६ । १ । १४३) ।
९. आश्चर्यमनित्ये	(४ । ७ । १) ।	आश्चर्यमनित्ये	(६ । १ । १४७) ।
११. कास्तीराजस्तुन्दे नगरे	(४ । ७ । ४) ।	कास्तीराजस्तुन्दे नगरे	(६ । १ । १६५) ।
११. नदी रथस्या १२. तस्करः स्तेनः	(४ । ७ । ५) । (४ । ७ । ७) ।	रथस्या नदी एवं तद्बृहतोः करपत्योश्चोरदेवतयोः सुट् तलोपश्च, ये दो गणसूत्र पारस्कर प्रभृतीनि के अंतर्गत पढ़े गए हैं	(६।१।१५७)।
१३. किरतावध्यात्मम्	(४ । ६ । २) ।	अपाच्चतुष्पाच्छकुनिष्वालेखने	(६।१।१४२)।

इन उदाहरणों से ऐसा प्रतीत होता है कि पूर्ववर्ती आचार्यों की अधिकांश सामग्री पाणिनि ने अपने महान् शास्त्र-समुद्र में भर ली थी। तुलनात्मक दृष्टि से ज्ञात होता है कि पाणिनि ने अपने सूत्रों को अर्थ, भाषा, और विस्तार तीनों दृष्टियों से माँजा एवं पल्लवित किया।

ऋक्तंत्र का 'किरतावध्यात्मम्' (४ । ६ । २) सूत्र इस विषय का नौसिखिया या आरंभिक प्रयत्न जान पड़ता है। 'अध्यात्मम्' पद सजीव वस्तु के लिये आया है और अर्थ की दृष्टि से उलझा हुआ है। सूत्र का तात्पर्य यह था कि कोई सजीव प्राणी जब अपने पंजों से खुरचे तब 'अपस्किरते' (अप + स् + कृ धातु) रूप सिद्ध होता है। ऋक् तंत्र के सूत्र से प्रयोग तो बन जाता है, परंतु अर्थ को साफ-साफ कहने की दृष्टि से सूत्र असमर्थ है। वस्तुतः बात इतनी थी कि जब कोई पशु या तो मस्ती में आकर, या चुग्गा ढूँढ़ने के लिये, या रहने अथवा बैठने के स्थान के लिये धरती को खरोंचता है तब 'अपस्किरते' रूप बनता है, जैसे 'अपस्किरते वृषभो हृष्टः' (बैल मस्ती में खरोंच रहा है)। इसके लिये पाणिनि ने अपना सूत्र अर्थ और प्रयोग की दृष्टि से निश्चित और स्पष्ट कर दिया है। खरोंचने के लिये 'आलेखन' पद 'अपस्किरते' का अर्थ बताता है। 'चतुष्पाद्' और 'शकुनि' पदों से यह निश्चित होता है कि अपस्किरते का प्रयोग केवल पशु-पक्षियों के लिये होता था। ये दोनों बातें 'किरतावध्यात्मम्' में अनुक्त और अस्फुट हैं।

पाणिनि ने किस शैली से और किन नियमों के अनुसार अपने शास्त्र में पूर्व सामग्री का संकलन किया और क्या अब भी उसकी पहिचान की जा सकती है,

यह प्रश्न श्री आई० एस० पवते महोदय ने 'अष्टाध्यायी की रचना' (स्ट्रक्चर आव् दि अष्टाध्यायी) नामक ग्रंथ में उठाकर उसका समाधान भी दिखाया है। किंतु रोचक होते हुए भी यह स्वतंत्र अनुसंधान का विषय है। व्हिटनी ने लिखा था कि क्या और कितना पाणिनि का अपना है और कितना पूर्वाचार्यों का, इसके स्पष्टीकरण में, यदि वह कभी संभव हो सका, तो बहुत समय की अपेक्षा होगी।

(११) **पाटलिपुत्र की शास्त्रकार परीक्षा**—'पाणिनि ने अपना ग्रंथ समाप्त करने के बाद उसे सम्राट् के पास भेजा जिसने उसको बहुत सम्मान दिया।' श्यूआन् चुआङ् की यह उक्ति मंजुश्रीमूलकल्प, राजशेखर, सोमदेव और तारानाथ के द्वारा दी हुई अनुश्रुति के अनुकूल है। पालटिपुत्र की शास्त्रकार परीक्षा के लिये पाणिनि संभवतः स्वयं अपना नया व्याकरण लेकर उपस्थित हुए और यहीं नंदराज से उनकी मित्रता हुई होगी। नंद और मौर्य-युग में पाटलिपुत्र देश का विद्याकेंद्र भी था। सिंहली महावंश की 'अत्थपकासनी' टीका में चाणक्य का आरंभिक जीवन बताते हुए लिखा है कि वे भी शास्त्र परीक्षा के ही उद्देश्य से पाटलिपुत्र गए (वादं परियेसन्तो पुप्फपुरं गन्त्वा)।†

पाटलिपुत्र की यह संस्था मौर्यकाल में भी जीवित थी, ऐसा यवन राजदूत मेगस्थने एवं अन्य यवन इतिहास-लेखकों के वर्णन से ज्ञात होता है। 'संवत्सर के आरंभ में सम्राट् एक महती विद्वत्सभा करके सब विद्वानों और दार्शनिकों को बुलाते हैं। जिस विद्वान् ने किसी नए विषय पर शास्त्र-रचना की हो या कृषि और पशुओं के सुधार के लिये कोई नया उपाय ढूँढ़ निकाला हो, या जनता के हित की वृद्धि के लिये कोई नई खोज की हो, वह विद्वान् अपनी उस कृति या खोज को सबके सामने रखता है। देश के सम्राट् इस सभा के संरक्षक बनते हैं' (स्त्राबो १५।१; मैक् किंडिल 'मेगस्थने', उद्धरण ३३; दियोदोर का उल्लेख)।

इस सभा का कार्य लगभग वही ज्ञात होता है, जिसे राजशेखर ने पाटलिपुत्र की शास्त्रकार-परीक्षा कहा है। देश की इसी सुप्रसिद्ध सभा में पाणिनि और चाणक्य उपस्थित हुए थे। पाटलिपुत्र की इस राजसभा से ही संबंधित दो उदाहरण पतंजलि के भाष्य में सुरक्षित रह गए हैं। पाणिनि ने भी 'सभा राजामनुष्यपूर्वा' (२।४।२३) इस सूत्र में 'राजसभा' का उल्लेख किया है और इसी का उदाहरण देने के लिये पतंजलि ने मौर्यकालीन 'चंद्रगुप्त-सभा' एवं शुंगकालीन 'पुष्यमित्र-सभा का उल्लेख किया है (भा० १।१।६८ वा० ७)। यह मानना युक्तिसंगत होगा कि चंद्रगुप्त से पहिले इसी प्रकार की राजसभा नंदराज के समय में भी पाटलिपुत्र में थी। इन सभाओं का विशेष कार्य विद्या का समारोह और विद्वानों का एकत्र संमिलन और सम्मान करना था। नंदों से भी पूर्व मिथिला में जनक के यहाँ इस प्रकार की सभा थी, जिसमें कुरु-पंचाल के विद्वान् एक समय आमंत्रित किए गए थे।

---

† इस सूचना के लिये मैं अपने अध्यापक श्री चरणदासजी चैटर्जी का ऋणी हूँ।—ले०।

उसी प्राचीन परंपरा में यह उपयोगी संस्था कार्य करती रही, जिसका प्रभाव यूनानी राजदूत और यात्रियों के मन पर भी पड़ा। राजसभाओं की यह परंपरा बाद तक जारी रही, जैसा कि चंद्रगुप्त विक्रमादित्य और राजा भोज की अत्यंत प्रसिद्ध सभाओं के वर्णन और कार्यों से ज्ञात होता है।

विद्वानों का सम्मान

यह स्वाभाविक है कि जो विद्वान् अपनी विद्या और खोज के कारण इन सभाओं में यशस्वी होते थे वे सार्वजनिक रीति से सम्मानित किए जाते थे। दियोदोर ने लिखा है कि विद्वान् अपनी सेवाओं के लिये बहुमूल्य पुरस्कार और प्रतिष्ठा प्राप्त करते हैं। मेगस्थने का उल्लेख और भी निश्चित है—'जो इन सभाओं में किसी ठोस सत्य का प्रतिपादन करता है उसे पुरस्कृत करने के लिये सब प्रकार के करों से मुक्त कर दिया जाता है।'

इसी संबंध में पतंजलि के एक शब्द की ओर ध्यान दिलाना आवश्यक है। १।१।७३ सूत्र के भाष्य में उदाहरण आया है—'सभा सन्नयने भवः साभासन्नयनः'। पाणिनि के अनुसार सन्नयन का अर्थ है सम्मानन या सम्मान करना (सम्माननोत्संजनाचार्य करणज्ञानभृति विगणनव्ययेषु नियः, १।३।३६)। सभा में शास्त्र के सफल प्रतिपादन को 'सन्नयन' कहा जाता था और वही उस शास्त्र एवं शास्त्र का प्रतिपादन करनेवाले विद्वान् का सम्मानन भी था। इस प्रकार यह अनुमान किया जा सकता है कि 'साभासन्नयन' शब्द पाणिनिकालीन था, जो राजसभा में प्राप्त सफलता से उत्पन्न सम्मानित पुरस्कार के लिये प्रयुक्त होता था।

इस सम्मान के आर्थिक स्वरूप का कुछ उल्लेख श्युआन्-चुआङ् ने किया है। अष्टाध्यायी शास्त्र में सांगोपांग व्युत्पन्न होनेवाले विद्वानों को एक सहस्र सुवर्णमुद्रा दिए जाने की आज्ञा राजा की ओर से हुई थी। पाणिनि ने इस प्रकार के आचार-नियत द्रव्य के लिये 'धर्म्य' शब्द का प्रयोग किया है और जो इस प्रकार के आचार-नियत (धर्म्य) देय को स्वीकार करते थे वे 'हारी' (सम्मान या पुरस्कार द्रव्य ले जानेवाले) कहलाते थे (सप्तमी हारिणौ धर्म्येऽहरणे, ६।२।६५)।[1] इस सूत्र के मूर्द्धाभिषिक्त उदाहरणों में भाष्यकार ने एक स्थान पर 'वैयाकरण हस्ती' शब्द का उल्लेख किया है, जिससे ज्ञात होता है कि वैयाकरणों को इस प्रकार के रिवाज या आचार से नियत देय के द्रव्य रूप में हाथी मिलता था। भाषा में साभासन्नयन शब्द की चरितार्थता 'वैयाकरण-हस्ती' जैसे प्रयोगों के लिये थी। व्याकरण के पांडित्य के लिये हाथी के पुरस्कार की कल्पना प्राच्य देश में ही संभव थी, जहाँ कौटिल्य के अनुसार सबसे अच्छे हाथी पाए जाते थे। कौटिल्य ने

१—हारीति देयं यः स्वीकरोति सोऽभिधीयते। धर्म्यमित्याचारनियतं देयमुच्यते। धर्मो ह्यनुवृत्त आचारः, तस्मादनपेतं, तेन वा प्राप्यमिति (काशिका)।
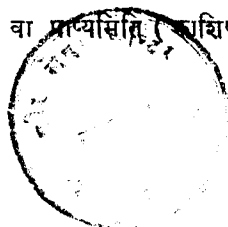
स्वयं भी विद्यावंतों के लिये एक सहस्र कार्षापण पूजा-वेतन का उल्लेख किया है (अर्थशास्त्र ५।३)।

ऊपर लिखे विवेचन से स्पष्ट है कि पाणिनि के जीवनचरित्र के विषय में उपलब्ध परंपरा बहुत कुछ सत्य पर आश्रित थी और यद्यपि यह सामग्री अति संक्षिप्त है, फिर भी उससे आचार्य के जीवन की मोटी रूपरेखा का परिज्ञान मिल जाता है।

कवि पाणिनि

भाष्य की एक कारिका में सूत्रकार के लिये 'कवि' विशेषण आया है (तद्-कीर्तितमाचरितं कविना, १।४।५०)। कैयट और नागेश ने कवि का अर्थ मेधावी किया है और वही ठीक जान पड़ता है। पाणिनि को 'जाम्बवती विजय' नामक काव्य का रचयिता मानना प्रमाणित नहीं है, क्योंकि न तो उस नाम का कोई काव्य ही उपलब्ध है और न पाणिनि के नाम से सूक्ति-संग्रहों में उद्धृत श्लोक ही उनके जान पड़ते हैं, अन्यत्र वे दूसरे के नाम से मिलते हैं। श्लोकों की शैली बहुत बाद की है। यह देखकर श्री भंडारकर ने पाणिनि के कवि होने की बातका खंडन किया। श्री क्षितीशचंद्र चट्टोपाध्याय ने इस प्रश्न के विस्तार में जाकर अंत में यही मान्य निष्कर्ष निकाला है कि पाणिनि के कवि होने की बात कल्पनामात्र है। जांबवती विजय या पाताल-विजय काव्य आठवीं-नवीं शती के किसी कवि की रचना रही होगी।

शास्त्र का नाम

अष्टाध्यायी के तीन नाम महाभाष्य में मिलते हैं—

(१) अष्टक (अष्टौ अध्यायाः परिमाणमस्य सूत्रस्य, ५।१।५८), (२) पाणिनीय (पाणिनिना प्रोक्तम्, ४।३।१०१), (३) वृत्तिसूत्र (न ब्रूमो वृत्तिसूत्रवचनप्रामाण्यादिति। किं तर्हि? वार्तिकवचनप्रामाण्यादिति, भा० २।१।१, वा० २३)। कई सूत्रों के उदाहरणों में काशिका में पाणिनि-व्याकरण को 'अकालक व्याकरण' कहा गया है—पाणिन्युपज्ञ मकालकं व्याकरणम् (२।४।२१; ४।३।११५, ६।२।१४)।

इससे ज्ञात होता है कि पाणिनि ने जिस नए व्याकरण की रचना की उसमें काल-संबंधी विवेचन को जान-बूझकर स्थान नहीं दिया गया। पतंजलि ने इस बात का कुछ संकेत दिया है कि किस प्रकार काल-संबंधी परिभाषाओं के विषय में वैयाकरणों में मतभेद था। परोक्ष भूत क्या है? कोई कहते हैं सौ वर्ष पहिले का काल परोक्ष है; दूसरे कहते हैं कि जो परदे की ओट में या आँख से ओझल है वह परोक्ष है; कोई कहते हैं, दो दिन या तीन दिन पहिले जो हुआ हो वह परोक्ष है।[1] इसी प्रकार भूत, भविष्य, वर्तमान के ठीक ठीक काल-विभागों के

१—कथं जातीयकं पुनः परोक्षं नाम। के चित्तावदाहुर्वर्षशतवृत्तं परोक्षमिति, अपर आहु कटान्तरितं परोक्षमिति, अपर आहुर्द्व्यहवृत्तं त्र्यहवृत्तं चेति (भा० ३।२।११५)

बारे में भी वैयाकरणों का अपनी-अपनी डफली और अपना-अपना राग था। महाभाष्य में बड़े रोचक ढंग से दो मतों का उल्लेख किया गया है, जिनमें एक आचार्य कहते थे 'नास्ति वर्तमानः कालः'; दूसरे कहते थे 'अस्ति वर्तमानः कालः' (वर्तमाने लट्, ३।२।१२३, वा० ५)।

अन्य वैयाकरण काल-संबंधी परिभाषाएँ स्थिर करने में रुचि रखते थे। अद्यतन काल या आज का समय कितना है, इस विषय में एक का मत था कि ठीक समय पर उठने से लेकर ठीक समय पर सोने तक 'आज' समझा जाय। दूसरे कहते थे—अर्धरात्रि से अर्धरात्रि तक अद्यतन काल होता है। पाणिनि ने मध्यम पथ का अनुयायी होने के कारण दूर की कौड़ी लाने वाले इस प्रकार के मतवादों को व्याकरण का बोझ समझकर छोड़ दिया और इस विषय में अपने स्पष्ट मत का उल्लेख भी किया—

कालोपसर्जने च तुल्यम्। (१।२।५७)

अर्थात् काल, उपसर्जन (मुख्य और गौण का भेद) और इसी तरह की अन्य बातों की व्याकरण में शिक्षा देना व्यर्थ है, क्योंकि इस प्रकार के ज्ञान का स्रोत लोक है, लोगों के व्यवहार से उन्हें जानना चाहिए। सूत्रोपदिष्ट इस अभिमत के कारण पाणिनि-व्याकरण के लिए 'अकालक' विशेषण प्रयुक्त हुआ।

मूलपाठ

गुरु-शिष्य परंपरा से अष्टाध्यायी के मूल पाठ को लोगों ने कंठस्थ रखा है। जैसा श्यूआन् चुआङ् ने भी लिखा है—'मूल को कंठस्थ करने की वह परंपरा पाणिनि के समय से आरंभ होकर बराबर चली आती रही।' आज भी वेदपाठी श्रोत्रिय लोग छः वेदांगों में अष्टाध्यायी कंठस्थ करते हैं। स्वर-सिद्धांत-चंद्रिका के अनुसार अष्टाध्यायी की सूत्र-संख्या ३९९५ है, जिसमें १४ प्रत्याहार सूत्र हैं।[1]

काशिकावृत्ति में लगभग बीस सूत्र अधिक हो गए हैं—कहीं तो योग-विभाग के द्वारा पाणिनि के एक सूत्र के दो टुकड़े करके और कहीं कुछ वार्तिकों को सूत्र मान लेने से। कई सूत्रों में वार्तिक के पद लेकर थोड़ा परिवर्तन पीछे हुआ है, किंतु ऐसे सब स्थल भाष्य और अन्य टीकाओं की सहायता से सहज ही पहिचाने जा सकते हैं।[2]

१—चतुःसहस्री सूत्राणां पंचसूत्रविवर्जिता।
अष्टाध्यायी पाणिनीया सूत्रैर्माहेश्वरैः सह॥ (स्व० सि० च०, श्लोक १५)

२—अष्टाध्यायी के मूल पाठ की समस्या पर महाभाष्य के अपूर्व विद्वान् और संपादक श्री कीलहार्न ने अपने लेखों में पूरी छानबीन की है (इंडियन ऐंटीक्वेरी भाग १६, पृष्ठ १८४)।

पतंजलि से पहिले ही सूत्रों के पाठ पर ध्यान दिया जाने लगा था, जैसा कि उनके 'इह केचिद् आक्वेरिति सूत्रं पठन्ति, केचित्प्राक्क्वेरिति' (भा० ३ । २ । १३४), इस वाक्य से ज्ञात होता है। सूत्रों में पाठभेद के अन्य उदाहरण भी पाए जाते हैं।[1]

अष्टाध्यायी के मूलपाठ की तीन विशेषताएँ कही जाती हैं–

(१) उन स्वरों का अनुनासिक पाठ, जिनकी इत् संज्ञा करके लोप करना इष्ट था (उपदेशेऽनुनासिक इत्, १ । ३ । २)।

(२) सूत्रों के जिन शब्दों का अधिकार बाद वाले सूत्रों में ले जाना इष्ट था, उनपर स्वरित चिह्न ।

(३) संहितापाठ, अर्थात् पहिले सूत्र के अंतिम अक्षर और उसके बाद के अक्षर को मिलाकर संधि करके सूत्रों का पाठ (वृद्धिरादैजदेङ्गुण इको गुणवृद्धीः) ।

कुछ ऐसा मानते हैं कि अन्य वैदिक ग्रंथों की भाँति अष्टाध्यायी का पाठ सस्वर था। इसे त्रैस्वर्य पाठ कहा जाता है। किंतु इस समय उपलब्ध सूत्र-पाठ में ऊपर लिखी विशेषताएँ नहीं पाई जातीं। इत् संज्ञा को बतानेवाले अनुनासिक और अधिकार को बतालनेवाले स्वरित संकेत इतने आवश्यक हैं कि उनके विषय में आरंभ से ही स्पष्टीकरण कर लिया गया था, और वही बँधी हुई परंपरा आज तक चली आती है। इसे पाणिनि-शास्त्र के पढ़ाते समय यों कहा जाता है—प्रतिज्ञानुनासिक्याः पाणिनीयाः, प्रतिज्ञास्वरिताः पाणिनीयाः ।

वस्तुस्थिति यह ज्ञात होती है कि सूत्रों का पाठ जैसा अब है वैसा ही था। पाणिनि ने उपदेश के समय अर्थात् शिष्यों को सूत्रों का शिक्षण करते हुए यह बताया था कि इत् संज्ञावाला अनुनासिक स्वर कौन सा है और अधिकारवाला स्वरित कहाँ तक है। यही उपदेश गुरु शिष्य-परंपरा से आज तक चला आ रहा है और एक बार उसका परिचय हो जाने पर अधिकार और इत्-संज्ञा का पहिचानना प्रायः सरल हो जाता है। सूत्रों में अन्य वैदिक ग्रंथों की भाँति उदात्त और अनुदात्त स्वरों के रहने का प्रमाण भी नहीं मिलता। कैयट का मत है कि आरंभ से ही मूल सूत्र-पाठ में एकश्रुति थी, अर्थात् स्वर नहीं लगे थे। संहिता-पाठ अर्थात् एक पाद में आए हुए सब सूत्रों को एक साथ मिलाकर पारायण करने की बात संभव जान पड़ती है। पतंजलि से पूर्व यह स्थिति अवश्य थी, ऐसा

१—काशिका ३।३।७८ (अंतर्घन अंतर्घण); ६।१।११७ (यजुष्युरः और यजुष्युरो); ६।१।१५६ केचिदिमं सूत्रं नाधीयते, पारस्कर प्रभृतिष्वेव कारस्करो वृक्ष इति पठन्ति); ६।२।१३४ (चूर्णादीन्यप्राण्युपग्रहादिति सूत्रस्य पाठान्तरम्)। पदमंजरी, ४।३।११९ और ४।४।८८ । सिद्धान्त कौमुदी, ५।२।६४, ५।२।६८ ।

'प्राग् रीश्वरान्निपाताः' (१ । ४ । ५६) सूत्र के श्लोक-वार्तिक[1] के भाष्य से ज्ञात होता है। आज भी छहों वेदांगों में अष्टाध्यायी का पारायण करनेवाले वैदिक लोग संहितापाठ मानकर ही प्रत्येक पाद के सूत्रों का पारायण करते हैं।

गणपाठ

गणपाठ अष्टाध्यायी का महत्त्वपूर्ण और आवश्यक अंग है। गणपाठ की सामग्री पाणिनि की मौलिक देन है। बर्नेल के अनुसार ऐंद्र व्याकरण में गणों की शैली न थी। पतंजलि ने स्पष्ट लिखा है कि पाणिनि ने अपनी सामग्री को सुव्यवस्थित करते हुए पहले गणपाठ और पीछे सूत्र बनाए—

एवं तर्हि आचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति सः पूर्वः पाठः, अयं पुनः पाठः ।
(भा० १ । १ । ३४)

श्यू आन् चुआङ् ने भी यही कहा है कि आचार्य ने पहिले अनेक शब्दों का संग्रह किया और उन्हें ग्रंथ रूप में सजाया।

गणपाठ का उद्देश्य है कि अनेक शब्दों को जो परस्पर भिन्न होते हुए भी किसी एक बात में मिलते हैं, व्याकरण के एक नियम के अंतर्गत लाया जाय। इस शैली के द्वारा शब्दों की बिखरी हुई सामग्री एक सरल व्यवस्था और नियम में बंध जाती है। एक एक शब्द को अलग अलग मानकर उसके लिये नियम बनाने की प्रतिपदोक्त शैली बहुत लंबी और दुरूह पड़ती है। अतएव गणपाठ बहुसंख्यक शब्दों को व्याकरण के संक्षिप्त नियमों के अंतर्गत लाकर परिचय कराने का रोचक एवं मौलिक ढंग है। यदि पाणिनि ने गणपाठ की युक्ति न अपनाई होती तो ग्राम, जनपद, संघ, गोत्र, चरण आदि से संबंधित भौगोलिक, राजनैतिक और सांस्कृतिक सामग्री का जैसा उपयोग अष्टाध्यायी में उसके संक्षिप्त रूप की रक्षा करते हुए भी हो सका है, कदापि न हो पाता। व्याकरण-नियमों की रचना में सहायक गणपाठ की शैली पाणिनि के हाथों में सांस्कृतिक सामग्री का भंडार बन गई। कुछ गण तो ऐसे थे जिनका पाणिनि के द्वारा ही पूरा पाठ एक बार दे दिया गया था। गोत्र और स्थान-नामों की गणसूचियाँ इसी प्रकार की हैं। दूसरे गण आकृतिगण कहलाते हैं जिनमें जानबूझकर भाषा में उत्पन्न होनेवाले नए नए शब्दों की भरती के लिये द्वार खुला रखा गया। जैसे अर्धर्चादि (२।४।३१), गौरादि (४। १।४१), तारकादि (५।२।३६)।

१—रीश्वराद् वीश्वरान्माभूत्, अर्थात् पाणिनि ने १।४।५६ सूत्र में रीश्वर इसलिये पढ़ा कि अधिरीश्वरे (१।४।९७) सूत्र तक ही निपात का अधिकार चले, उससे आगे ३।४।१२ और ३।४।१३ सूत्रों के 'वीश्वर' शब्द तक नहीं। इन दो सूत्रों के संहितापाठ में ही 'वीश्वर' पद बन सकता है (णमुल् कमुलौ + ईश्वरे तो सुन् कसुनो)।

कृतादिगण पर लिखते हुए पंतजलि ने भी पठितगण और आकृतिगण, इन दो भेदों को स्वीकार किया है। आचार्य पाणिनि की प्रवृत्ति यह थी कि एक ही नियम के माननेवाले जो शब्द इस समय ज्ञात हैं वे तो गण में पढ़ दिए गए हैं, किंतु इसके बाद भी इनसे मिलते-जुलते जो शब्द मिलें वे भी गण-निर्दिष्ट कार्य के भागी हों। इस विशेषता के कारण नए शब्द पाणिनिशास्त्र के अनुशासन में आते रहे और अष्टाध्यायी एक जीता-जागता शास्त्र बना रहा।

गणपाठ के संशोधित संस्करण की अत्यंत आवश्यकता है। काशिका वृत्ति में प्रत्येक गण के शब्दों की सूची मिलती है। उससे पूर्वकालीन चंद्र-व्याकरण की वृत्ति में भी लगभग इन्हीं गणों का पाठ और शब्दसूची है। तुलनात्मक दृष्टि से यह ज्ञात होता है कि काशिकाकार के सामने गणों की एक पूर्व से प्राप्त परंपरा थी। पंतजलि ने महाभाष्य में गणपाठ के संशोधन का अच्छा प्रयत्न किया था और उनसे भी पूर्व के कात्यायन के वार्तिकों में इस विषय का विवाद पाया जाता है कि शब्द-विशेष को पाणिनि के द्वारा गणपाठ में पढ़ा हुआ माना जाय या नहीं। उदाहरण के लिये शिवादि गण में 'तक्षन्' शब्द का पाठ है या नहीं, इस संबंध में कात्यायन के तीन वार्तिकों में विचार किया गया है (भा० ४।१।१५३) पंतजलि ने खंडिकादि गण में 'उलूक' और 'क्षुद्रक-मालव' शब्दों के पाठ पर यह विचार किया है। इसी प्रकार 'नृनमन' शब्द का क्षुभ्नादि गण में (८।४।३९), शाकल्य' का लोहितादि में (४।१।१८), 'गर्ग भार्गविका' का गोपवनादि में (२।४।६७), और 'अथर्वन्' एवं 'आथर्वण' शब्दों का वसन्तादि गण में (भा० ४।३।१३१)। भाष्यकार ने इस विषय की कितनी गहरी छानबीन की थी, यह बात उनके यह लिखने से ज्ञात होती है कि 'अथर्वन्', 'आथर्वण' शब्दों का अष्टाध्यायी में चार बार पाठ किया गया है—

इदमाथर्वणार्थमाथर्वणिकार्थं च चतुर्ग्रहणं क्रियते।
(भा० ४।३।३१)

इससे विदित होता है कि पाणिनि-परंपरा में गणों का महत्त्व सूत्रों के तुल्य ही है। टीकाकारों की धारणा यही रही है कि गणपाठ का मूल भी प्रामाणिक है। डा० रामकृष्ण गोपाल भंडारकर का मत था कि गणपाठ के अधिकांश शब्द पाणिनि के समय के ही हैं, जिनमें बहुतों की चर्चा पंतजलि ने की है (इंडियन एंटीक्वेरी, १।२१)।[1]

१—उदाहरण के लिये काशिकाकार ने यस्कादिगण (२।४।६३) पर विचार करते हुए दिखाया है कि इस गण के छत्तीस शब्दों में से सोलह पाणिनि के दूसरे गणों में पढ़े गए हैं. जैसे यरक, लभ्य, द्रुह्य, अयःस्थूण और तृणकर्ण ये पाँच शिवादिगण (४।१।११२) में; पुस्करसत् बाह्वादिगण (४।१।९६) में; खरप, नडादिगण (४।१।९९) में; भलंदन पुनः

पाणिनि ने जो लंबी गोत्र-सूचियाँ दी हैं, इतिहास की दृष्टि से उनका महत्त्व है। बौधायन श्रौतसूत्र के महाप्रवरकांड की गोत्रसूची से अधिकांश पाणिनीय गोत्र-नामों का समर्थन होता है। इसके अतिरिक्त जैमिनीय ब्राह्मण में आए हुए नामों एवं शतपथ की वंश-सूचियों में बहुत से पाणिनीय गोत्र-नाम मिल जाते हैं, जिससे ज्ञात होता है कि सूत्रकार ने इन सूचियों का संकलन वास्तविक अनुश्रुति और जीवन के आधार पर किया था।

भौगोलिक नाम तो सर्वथा पाणिनि की ही देन हैं। अकेले 'वुञ्छण्कठजिल' आदि (८।२।८०) सूत्र में पढ़े हुए १७ गण लगभग सवा दो सौ स्थान-नामों का परिचय देते हैं। पाणिनि द्वारा संकलित सामग्री का इस सूत्र में अत्यंत मौलिक, अद्भुत और समृद्ध उदाहरण पाया जाता है। पाणिनीय भौगोलिक नामों का समर्थन किसी अंश में महाभारत एवं यूनानी इतिहास लेखकों में आई हुई भौगोलिक सामग्री से होता है। दामन्यादि (५।३।११६) गण में पठित सावित्री-पुत्रकों का नाम केवल महाभारत के कर्ण-पर्व (५।५९) में मिलता है।

क्रौड्यादि गण (४।१।८०) से संबंधित एक वार्तिक में रौढ्यादि गण का उल्लेख किया गया है। पतंजलि के अनुसार क्रौड्यादि रौढ्यादि एक ही गण के नाम हैं (के पुनः रौढ्यादयः, ये क्रौड्यादयः, भा० ४।१।७९)। ज्ञात होता है कि किसी दूसरे व्याकरण में क्रौड्यादि को रौढ्यादि के रूप में पढ़ा गया था। महाभाष्य के टीकाकार भर्तृहरि ने लिखा है कि सर्वादि गण के शब्दों का क्रम आपिशलि के व्याकरण में इससे भिन्न था। गणपाठ का सब प्रकार से विशेष महत्त्व होते हुए भी उसके शब्दों की प्रामाणिकता सूत्रगत शब्दों और नामों की अपेक्षा दूसरी कोटि में मानी जायगी।

काशिका में पाणिनि-परंपरा की रक्षा

पाणिनि-सूत्रों पर इस समय काशिका ही एकमात्र प्राचीन वृत्ति उपलब्ध है। काशिका पर जिनेंद्रबुद्धि कृत न्यास और हरदत्त कृत पदमंजरी बाद की टीकाएँ हैं, जिनमें सूत्रों के अर्थ को पल्लवित किया गया है। हरदत्त के अनुसार काशी में

शिवादगण (४।१।११२) में; भंडिल, भंडिल, भडित अश्वादिगण (५।१।११०) में। कहीं कहीं सूत्रों में अंतःसाक्षी भी शब्दविशेष के गण में पढ़े जाने का समर्थन करती है। जैसे 'प्रवाहणस्य ढे' (७।३।२८) सूत्र बताता है कि प्रवाहण शब्द शुभ्रादिगण (४।१।१२३) में अवश्य पढ़ा गया था। सर्वादिगण के शब्दों की पुष्टि पाणिनि के चार सूत्रों से होती है, यथा पूर्वादि (७।१।१६), द्व्यादि (५।३।२), डतरादि (७।१।२५), और त्यदादि (७।१।१०२)। लोहितादि कतंत गण (४।१।१८) के बीस शब्द गर्गादि गण (५।१।१०५) में पढ़े हैं और वहीं से जाने जाते हैं। बिदादिगण (४।१।१०४) में भी गोपवनादि (२।४।६७) और हरितादि (४।१।१००) गणों के शब्दों का अंतर्भाव है। गर्गादि और बिदादि दोनों ही गणों का पाठ प्रामाणिक है।

निर्मित (काशिषु भवा) होने के कारण इसका नाम काशिका पड़ा। काशिका अत्यंत प्रामाणिक वृत्ति है, इसमें परंपरा से प्राप्त पाणिनि-सामग्री की खूब रक्षा की गई है।

काशिकाकार ने आरंभ में ही लिखा है कि वृत्ति, भाष्य, धातुपाठ और नामपारायण (नामिक) आदि में जो व्याकरण की सामग्री फैली हुई थी उसके सार का संग्रह काशिका में किया गया है। काशिकाकार ने न केवल सूत्रों के गूढ़ अर्थों पर प्रकाश डाला, अपितु गण-पाठ को भी शुद्ध किया और प्राचीन श्लोकात्मक इष्टियों का संग्रह किया।[१] काशिका के बिना पाणिनि-सूत्रों के अर्थ, उदाहरण और प्रत्युदाहरणों का जानना असंभव हो जाता। पाणिनिशास्त्र की परंपरा में काशिका अत्यंत भरा पूरा भंडार है, जिसमें पुष्कल प्राचीन सामग्री सुरक्षित रह गई है। सच तो यह है कि काशिका पाणिनि के दुग्धामृत की प्राप्ति के हेतु कामधेनु है। काशिका में पाणिनि के विराट् भवन की महिमा अक्षुण्ण दिखाई पड़ती है। सूत्रकार ने जिस प्रकार अपने शास्त्र का ठाठ बाँधा था, उसे जिन प्रकरणों में बाँटकर प्रत्यय और प्रकृति संबंधी विविध कार्यों को सजाया था, उनके प्रासाद का वह सूत्र-मापन काशिका की कृपा से ज्यों का त्यों हमारे पास तक पहुँचा है। पाणिनिशास्त्र का अपना स्वरूप कितना आकर्षक और सुबोध था यह काशिका वृत्ति से जाना जाता है।

काशिका से पूर्व भी सूत्रों पर अनेक वृत्तियाँ बनी होंगी। भर्तृहरि ने महाभाष्य पर रचित अपनी त्रिपादी टीका में वृत्तिकार कुणि का उल्लेख किया है, एवं कैयट ने कहा है कि पतंजलि ने कुणि के ग्रंथ को प्रमाण माना था (भाष्यकारस्तु कुणिदर्शनमशिश्रियत्)। इससे ज्ञात होता है कि वृत्तिकार कुणि पतंजलि से भी पहले हुए थे। पतंजलि ने भाष्य में 'माथुरी वृत्ति' नामक ग्रंथ का भी उल्लेख किया है। पुरुषोत्तमदेव की भाषावृत्ति से ज्ञात होता है कि माथुरीवृत्ति अष्टाध्यायी की टीका थी। इस प्रकार पाणिनि-सूत्रों पर कुणिवृत्ति, माथुरीवृत्ति, महाभाष्य, भर्तृहरिकृत त्रिपादी, भागवृत्ति, काशिका, न्यास और पदमंजरी इन टीकाओं की परंपरा रही है। जो सामग्री उपलब्ध है उसका तुलनात्मक अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि पाणिनि के सूत्र, अर्थ, उदाहरण, और प्रत्युदाहरणों की सामग्री किस प्रकार एक टीका से दूसरी टीका में सुरक्षित होती रही। महाभाष्य में जो उदाहरण-संबंधी सामग्री है वह अधिकांश काशिका में सुरक्षित है। क्रतूक्थादि सूत्रान्ताट्ठक् (४।२।६०) सूत्र पर भाष्य में दिए हुए अनेक प्राचीन ग्रंथों के नाम काशिका में और पल्लवित होकर आए हैं। आवश्यकतानुसार काशिकाकार

१—इष्ट्युपसंख्यानवतीशुद्धगणा विवृतगूढ़ सूत्रार्था।
व्युत्पन्नरूप सिद्धि वृत्तिरियं काशिका नाम ॥

ने नए उदाहरणों का भी स्वागत किया; जैसे प्राच्य भरत (२ । ४ । ६६) की व्याख्या करते हुए पतंजलि ने अपने से पूर्वकालीन औद्दालकि और औद्दालकायन नाम दिए हैं, किंतु काशिकार ने उसके स्थान पर अपने समकालीन आर्जुनि और आर्जुनायन उदाहरण रखे। आर्जुनायन का उल्लेख समुद्रगुप्त की प्रयाग-प्रशस्ति में आया है।

यह भी उल्लेखनीय है कि काशिका के कुछ उदाहरणों में पतंजलि, कात्यायन और संभवतः पाणिनि से भी पूर्वकालीन सामग्री का आभास मिलता है। इसके सर्वोत्तम उदाहरण 'हीने' (१।४।८६) सूत्र पर अनुशाकटायनं वैयाकरणाः' और 'उपोऽधिके च' सूत्र पर 'उपशाकटायनं वैयाकरणाः' हैं। पाणिनि से भी पहले जब शाकटायन-व्याकरण का बोल बाला था, उस समय और सब वैयाकरण शाकटायन से घटे हुए माने जाते थे। उसी स्थिति का इस उदाहरण में संकेत है। ये उदाहरण शाकटायन व्याकरण से छटककर पाणिनि-व्याकरण के पढ़नेवालों में घुलमिल गए। पीछे कुछ चेत होनेपर पाणिनीयों ने 'अनुपाणिनि वैयाकरणाः', 'उपपाणिनि वैयाकरणाः' उदाहरण बनाए। इसी प्रकार का दूसरा उदाहरण अधिरीश्वरे (१।४।९७) सूत्रपर 'ब्रह्मदत्ते पंचालाः' था, जब पंचाल देश की काम्पिल्य राजधानी में ब्रह्मदत्त नामक राजा राज्य करते थे, और उनका नाम लेकर कहानियाँ शुरू की जाती थीं, जैसा स्वप्न वासवदत्ता नाटक के पाँचवें अंक में बच्चे को कहानी सुनाते समय उसके प्रारंभिक बोल में आया है।

मूर्द्धाभिषिक्त उदाहरण

पंतजलि ने लिखा है कि सूत्रों के साथ कुछ ऐसे उदाहरण थे जो एक प्रकार से उनके अनिवार्य अंग थे। ऐसे उदाहरण मूर्द्धाभिषिक्त कहलाते थे (भा० १।१।५७)। कैयट के अनुसार सभी वृत्तिकार इस प्रकार के उदाहरणों को स्वीकार करते थे (सर्ववृत्त्युदाहृतत्त्वात्)। संभवतः दूसरे व्याकरणों में भी उन उदाहरणों को प्रमाण मानकर सूत्ररचना की जाती थी। कभी कभी वे उदाहरण इतने महत्त्वपूर्ण होते थे कि उनपर सूत्रों और वार्तिकों की रचना और विचार किया जाता था। उपमानानि सामान्य वचनैः' (२।१।५५) सूत्र पर पतंजलि पूछते हैं 'किं पुन-रिहोदाहरणम्। शस्त्री श्यामा।' और इसी 'शस्त्री श्यामा' को आधार मानकर कात्यायन ने सूत्र पर दो वार्तिक रचे थे। ज्ञात होता है कि उदाहरणों को ध्यान में रखकर वैयाकरण विचार में प्रवृत्त होते थे। वस्तुतः लक्ष्य-लक्षण का ही नाम व्याकरण था, अर्थात् शब्दों के विद्यमान होने पर उनके नियम या सूत्र (लक्षण) बनाए जाते थे। व्याकरण का मूल आरंभ तो शब्द, लक्ष्य या उदाहरणों से ही हुआ होगा।

सूत्रों के शिक्षक पाणिनि

पतंजलि ने अष्टाध्यायी को वृत्तिसूत्र' (भा० २।१।१) कहा है, जिससे ज्ञात होता है कि सूत्रों पर बहुत पूर्व में ही वृत्ति की रचना हो चुकी थी। संस्कृत के सभी विद्वानों की भाँति पाणिनि भी शिष्यों को पढ़ाते रहे होंगे। उनके पढ़ाने से जो व्याख्या बनी वही सूत्रों की पहिली वृत्ति हुई। पतंजलि ने स्वयं लिखा है कि कौत्स पाणिनि के शिष्य थे—उपसेदिवान् कौत्सः पाणिनिम् (भा० ३।२।१०८)।

काशिकाकार ने इतना और कहा है कि कौत्स पाणिनि के अंतेवासी रूप में उनसे अध्ययन भी करते थे—

अनूषिवान् कौत्सः पाणिनिम्
उपशुश्रुवान् कौत्सः पाणिनिम् (का० ३।२।१०८)

पतंजलि ने निश्चित रूप से लिखा है कि पाणिनि ने अपने शिष्यों को सूत्रों का अर्थ पढ़ाया था। 'आकडारादेका संज्ञा' (१।४।१) सूत्र पर विचार करते हुए भाष्य में कहा गया है कि 'प्राक्कडारादेका संज्ञा' भी इसका पाठ था। दोनों पाठ पाणिनि के ही बनाए हुए थे –

उभयथा ह्याचार्येण शिष्याः सूत्रं प्रतिपादिताः।

कात्यायन ने भी इस सूत्र पर अपने वार्तिकों में दोनों पाठों को स्वीकार किया है, (भा० १।४।१, वा० १ तथा ९), जिसका आधार पाणिनि की अपनी व्याख्या ही हो सकती है। काशिकाकार ने किसी अन्य टीका (अपरा वृत्ति) के आधार पर 'तद्धरति वहत्यावहति भाराद् वंशादिभ्यः' (५।१।५०) सूत्र के दो अर्थ दिए हैं और उस प्रसंग में कहा है कि दोनों अर्थ स्वयं पाणिनि ने शिष्यों को पढ़ाए थे (सूत्रार्थद्वयमपि चैतदाचार्येण शिष्याः प्रतिपादिताः)। इसी प्रकार 'तदस्य ब्रह्मचर्यम् (५।१।९४) सूत्र पर उसी टीका का प्रमाण देते हुए काशिकाकार ने दो अर्थ करते हुए लिखा है—

उभयं प्रमाणमुभयथा सूत्रप्रणयनात्।

अर्थात् दोनों ही अर्थ मान्य हैं, क्योंकि दोनों को दृष्टि में रखकर ही सूत्र रचा गया। तत्प्रकृतवचने मयट् (५।४।२१) की टीका में भी काशिका ने ठीक यही बात कही है। इन उदाहरणों से यही ज्ञात होता है कि पाणिनि ने स्वयं सूत्रों की व्याख्या की थी जो पाणिनीय शास्त्र के अध्येता गुरु-शिष्यों की परंपरा से बराबर चली आई। तदधीते तद्वेद (४।२।५९) के अनुसार पाणिनि-व्याकरण के पढ़नेवाले और जाननेवाले आचार्य इस देश में बराबर चले आते रहे हैं और आज भी हैं। कोई समय ऐसा नहीं हुआ जब यह परंपरा टूटी हो। इस के आधार पर अनुनासिक स्वर (उपदेशेऽजनुनासिक इत्, १।३।२) और अधिकारवाची स्वरित (स्वरितेनाधिकारः, १।३।११) के विषय में पाणिनीयों की

मौखिक प्रतिज्ञा ही आज तक प्रमाण मानी जाती है। वार्तिककार, पतंजलि और कैयट सभी पाणिनिशास्त्र की मौखिक परंपरा के समर्थक हैं। भाष्य में सूत्र १।४।४ पर श्लोक-वार्तिक का एक अंश इस प्रकार है—

तदनल्पमतेर्वचनं स्मरत

अर्थात् मेधावी आचार्य पाणिनि के उस वचन का स्मरण करो। कैयट ने इसकी व्याख्या में लिखा है कि 'स्मरत' पद पाणिनीय शास्त्र के अविच्छिन्न रहने की सूचना देता है (आगमस्याविच्छेदम्)। प्रदीप की भूमिका में उन्होंने अपने ग्रंथ को पाणिनि-आगम के अनुकूल रचा हुआ कहा है (यथागमं विधास्येऽहम्)।

सूत्रों की आरंभिक वृत्ति का रूप

कात्यायन और पतंजलि दोनों ही सूत्रार्थ के लिये व्याख्यान की आवश्यकथा का अनुभव करते हैं। पतंजलि के अनुसार सूत्रों पर आरंभिक व्याख्याओं का स्वरूप इस प्रकार था—

(१) चर्चा—सूत्र के एक-एक पद को अलग करना। जैसे वृद्धि + आत् + ऐच् = वृद्धिरादैच्।

(२) वाक्याध्याहार—सूत्र के अर्थों को पूरा करने के लिये पिछले सूत्र या सूत्रों से शब्दों की अनुवृत्ति।

(३) उदाहरण।

(४) प्रत्युदाहरण।

सूत्रकार के समय से लेकर वृत्तियों का ढाँचा इसी प्रकार का रहा होगा। काशिकावृत्ति का ठाठ भी यही है और लगभग आज भी सूत्रों को समझाने का यही ढंग चालू है। आरंभ से ही हरएक सूत्र के साथ उसके उदाहरण अवश्य पढ़ाए जाते थे। अनुशाकटायनं वैयाकरणाः (१।४।८६), शाकटायनपुत्रः (६।२।१३३), नंदपुत्रः (६।२।१३३), नंदोपक्रमाणि मानानि (२।४।२१), अधिब्रह्मदत्ते पंचालाः (१।४।९७), शाकल्यस्य संहितामनु प्रावर्षत् (१।४।८४), अनडुद् यज्ञमन्वसिंचत् (१।४।८४), अगस्त्यमन्वसिंचम् प्रजाः (१।४।८४), इत्यादि उदाहरण व्याख्याओं के आरंभिक स्तर को सूचित करते हैं।

पाणिनीय परंपरा की रक्षा में प्रत्येक उपलब्ध टीका का अपना मूल्य है। वह व्याकरण की लंबी शृंखला में एक कड़ी है। इस दृष्टि से वार्तिक, महाभाष्य, काशिका, त्रिपादी, न्यास, पदमंजरी आदि टीकाओं ने व्याकरण की प्राचीन सामग्री को रक्षा में महत्त्वपूर्ण योग दिया है। कात्यायन के वार्तिक बताते हैं कि उनसे पहिले भी अन्य आचार्यों ने सूत्रों के शब्दों और अर्थों पर बारीकी से छानबीन की थी। कात्यायन और पतंजलि के बीच में भी कितने ही विद्वान् वैयाकरण हुए जिन्होंने श्लोक वार्तिकों में अथवा वार्तिक-सूत्रों में पाणिनि

और कात्यायन दोनों के ही ग्रंथों पर विचार किया। भारद्वाजीय, सौनाग, क्रोष्ट्रीय और कुणरवाड्व, इन वार्तिककारों का उल्लेख पतंजलि ने किया है। कहीं बिना नाम के ही 'एके', 'केचित्' 'अपरे', इन संकेतों से अन्य आचार्यों के मत दिए गए हैं। सूत्रों पर विचार करते हुए कात्यायन और पतंजलि अपने इन पूर्ववर्ती आचार्यों के ऋणी थे और पाणिनि की ही भाँति उन्होंने भी अपने ग्रंथों में अपने से पूर्वकालीन लेखकों की सामग्री की रक्षा की।

इस प्रकार यह पाणिनीय शास्त्र उत्तरोत्तर पुष्पित, फलित और प्रतिमंडित होता हुआ लोक में भरा हुआ है। भारतवर्ष की यह ब्रह्मराशि है। जो इसे यथावत् जानता है वह शब्दविद्या में पारगामी बन जाता है।

अध्याय २

पाणिनिकालीन भूगोल

परिच्छेद—१ विषय प्रवेश

अष्टाध्यायी की भौगोलिक सामग्री प्राचीन भारतीय इतिहास के लिये अत्यंत उपयोगी है। पाणिनि ने जिस शब्द-सामग्री का संचय किया उसमें देश, पर्वत, समुद्र, वन, नदी, प्रदेश, जनपद, नगर, ग्राम—इनसे संबंधित अनेक नाम और शब्द थे। इस विस्तृत सामग्री का संग्रह सूत्रकार की मौलिक सूझ थी। मध्य एशिया से लेकर कलिंग तक एवं सौवीर (आजकल का सिंध) से लेकर पूर्व में असम (आसाम) प्रांत के सूरमस (वर्तमान सूरमा नदी) प्रदेश तक विस्तृत भौगोलिक क्षेत्रों के स्थान-नाम अष्टाध्यायी में पाए जाते हैं। इस प्रकार की सामग्री का संकलन निश्चित उद्देश्य और व्यवस्था के आधार पर किया गया है। जहाँ एक ओर उससे पाणिनि के व्यापाक ज्ञान और परिश्रम की सूचना मिलती है, वहाँ दूसरी ओर यह भी प्रकट होता है कि जिस भाषा का व्याकरण पाणिनि लिख रहे थे उसके प्रचार का क्षेत्र कितना विस्तृत था। इससे सिद्ध होता है कि जीवन के व्यवहार में देश के चारों कोनों का आपस में घना संबंध था। सिंधु नद के समीप शलातुर ग्राम में जन्म लेनेवाले सूत्रकार को सूरमस, कलिंग, अश्मक, कच्छ, सौवीर - पूर्व से पश्चिम तक बिखरे हुए इन प्रदेशों के विषय में अच्छी जानकारी थी। कहाँ का शासन एक-राज अथवा संघ पद्धति पर था, कहाँ के नागरिक स्त्री-पुरुषों का देश के अनुसार क्या नाम पड़ता था, इस प्रकार की सूचना आवागमन का घनिष्ठ संबंध हुए बिना संभव नहीं। भारतवर्ष के दूरस्थित भाग व्यापार, राज्य और विद्या संबंध के द्वारा महाजनपद युग में (दशमी शती विक्रम पूर्व से पाँचवीं शती विक्रम पूर्व तक) एक दूसरे के साथ घनिष्ठ संबंध में बँध चुके थे; इसका सुप्रमाणित परिचय महाभारत एवं बौद्ध जातक कथाओं से मिलता है। अष्टाध्यायी भी यही सिद्ध करती है। पाणिनि-सूत्रों का अध्ययन इस समय प्रायः सारे देश में किया जाता है। भौगोलिक नाम भी उसी के साथ आते हैं। पाणिनीय छात्रों के लिये किसी समय यह सामग्री मूल्यवान् थी जब वे उन नामों का परिचय जानते थे। पुनः उन अर्थों पर ध्यान देने की आवश्यकता है जिससे अष्टाध्यायी की सामग्री द्वारा भारत के भौगोलिक परिचय का फल हमें प्राप्त हो सके।

विचार करना चाहिए कि स्थान-नामों के व्याकरण में गृहीत होने का क्या कारण है? इस प्रश्न का उत्तर इस प्रकार है—

व्याकरण का संबंध भाषा से है और भाषा का संबंध स्थान-नामों से। प्रत्येक भाषा में शब्दों के मुख्यतः दो भाग होते हैं, नाम और आख्यात। आख्यात का संबंध धातुओं से है जिनका संग्रह पाणिनि ने धातुपाठ की १९४४ धातुओं के रूप में किया है। नाम अर्थात् संज्ञाएँ तीन प्रकार की होती हैं—(१) वस्तुओं के नाम, (२) मनुष्य-नाम, (३) स्थाननाम। मनुष्य-नाम और स्थान-नाम भी भाषा के अभिन्न अंग ही हैं। मनुष्य जो भाषा बोलते हैं उसी भाषा के शब्दों से अपने बच्चों के नाम रखते हैं और देश के भिन्न भिन्न स्थानों का नामकरण करते हैं। स्थान-नामों का अध्ययन भाषाशास्त्र का अभिन्न अंग है। स्थान-नामों की उत्पत्ति में अनेक राजनैतिक, सामाजिक और वैयक्तिक कारण होते हैं। उदाहरण के लिये पंचाल क्षत्रिय जिस भूप्रदेश में पहिले पहिल बसे उस प्रदेश का नाम पंचाल पड़ गया। पंचाल जन का पद अर्थात् निवास-स्थान होने के कारण वह प्रदेश पंचाल जनपद कहलाया। पंचाल जन के कारण भूमि का भी पंचाल नाम हुआ। इस प्रकार जन और भूमि को सूचित करनेवाला शब्द मनुष्यों की भाषा का अंग बन गया। व्याकरणशास्त्र को बस इसमें रुचि है कि 'पंचाल जन का निवास स्थान', इस नए अर्थ को किस प्रत्यय की शक्ति से स्थानवाची पंचाल शब्द प्रकट करता है। आजकल की भाषा में बिहारी, बंगाली, मद्रासी, गुजराती, सिंधी, मरहटा आदि शब्द भौगोलिक कारणों से बने हैं। 'बिहार का रहनेवाला', इस विशेष अर्थ को बिहारी शब्द का 'ई' प्रत्यय प्रकट करता है। इस छोटे से ई प्रत्यय का उस व्यक्ति के जीवन के लिये विशेष महत्त्व है, क्योंकि इससे उसकी भूमि, भाषा, रहन सहन, अथवा एक शब्द में कहें तो उसकी नागरिकता पर प्रकाश पड़ता है। व्याकरण की दृष्टि से भाषागत शब्दों का अर्थ सुलझाने के लिये इस प्रकार के स्थान-नाम संबंधी प्रत्ययों का अध्ययन आवश्यक हो जाता है। पाणिनि ने अपने समय की भाषा के लिये यह काम बड़ी बारीकी के साथ किया। उनसे पूर्व और उनके पश्चात् मनुष्य-नाम और स्थान-नामों के पारस्परिक संबंध का इतना ब्यौरेवार अध्ययन नहीं हुआ। इस दृष्टि से पाणिनीय सामग्री भारतीय इतिहास के लिये अतीव उपयोगी है।

अष्टाध्यायी की भौगोलिक सामग्री का वर्गीकरण कुछ निश्चित नियमों के अनुसार किया गया था, जो इस प्रकार है—

१—स्थान-नामों के अंत में जुड़नेवाले शब्द, जैसे पुर, नगर, ग्राम आदि।

२—नगर और ग्रामों के अनेक नाम, जो निम्नलिखित चार कारणों से बनते हैं और जिनका निर्देश ४।२।६७ से ४।२।७० तक के सूत्रों में किया गया है—

[अ] 'तदस्मिन्नस्तीति देशे तन्नाम्नि' (४।२।६७), अर्थात् अमुक वस्तु जिस स्थान में होती है उस वस्तु के नाम से उस स्थान का नाम पड़ जाता है, जैसे 'उदुंबराः सन्ति अस्मिन्देशे औदुम्बरः', अर्थात् उदुंबर के वृक्ष जहाँ हों वह स्थान औदुंबर कहलाया।

[आ] 'तेन निर्वृत्तम्' (४।२।६८), अर्थात् उसने यह स्थान बसाया। बसानेवाले के नाम से शहर या गाँव का नाम रखना एक स्वाभाविक और पुरानी प्रथा है। कुशांब की बसाई हुई नगरी कौशांबी कहलाई।

[इ] 'तस्य निवासः' (४।२।६९), अर्थात् रहनेवालों से स्थान का नाम; शिबि जाति के क्षत्रिय जहाँ रहें वह प्रदेश शैब हुआ।

[ई] 'अदूरभवश्च' (४।२।७०), अर्थात् जो स्थान किसी दूसरे स्थान के निकट बसा हुआ होता है, वह भी उसके नाम से पुकारा जाता है; जैसे वरणा वृक्ष के समीप जो ग्राम बसा हो उसका नाम भी वरणा होगा। अथवा विदिशा नदी के समीप बसा हुआ नगर वैदिश हुआ। आम, पीपल, बरगद आदि वृक्षों के समीप बसे हुए हजारों स्थान नाम इसी नियम के अनुसार बने हैं।

ये चारों अर्थ चातुरर्थिक कहलाते हैं और अगले २१ सूत्रों में (४।२।७१ से ९१ तक) इन अर्थों की अनुवृत्ति जाती है। तदनुसार बहुत से स्थान-नामों के उदाहरण अष्टाध्यायी में आ गए हैं। अकेले ४।२।८० सूत्र के १७ गणों में दो सौ अट्ठाइस स्थानों के नाम हैं।

३—स्थान-नामों के आधार पर दो प्रकार के ऐसे शब्द बनते हैं जो मनुष्य-नामों के आगे जुड़ते हैं। जो व्यक्ति जहाँ रहता है, अथवा उसके पुरखा जहाँ रहते थे, उस स्थान के नाम से उस व्यक्ति के नाम की अल्ल या ख्यात पड़ जाती है। जैसे जयपुर से जिसके पुरखों का निकास हो, अथवा जो स्वयं जयपुर का रहनेवाला हो उसे हिंदी में जयपुरिया कहा जाता है, जो विशेषण के रूप में नाम के आगे जुड़ जाता है। संस्कृत में भी यही प्रथा थी। अपने रहने के स्थान को निवास (४।३।८९) और पुरखों के निकास को अभिजन (४।३।९०) कहते थे। उदाहरण के लिये जो मथुरा का रहनेवाला था, अथवा जिसके पुरखा वहाँ रहे थे, वे दोनों माथुर कहलाए। स्थान-नामों से उत्पन्न अनेक विशेषण उस समय भाषा में प्रचलित थे, जिनकी रूप-सिद्धि के लिये आचार्य ने नियमों की व्यवस्था की।

४—स्थानवाची संज्ञाओं और वस्तुओं के नामों में और भी अनेक प्रकार के संबंध हो सकते हैं। उदाहरणार्थ जो वस्तु जहाँ से लाई जाती है, उस स्थान से उस वस्तु का नाम पड़ जाता है, जैसे इस समय जापान से आनेवाला माल जापानी कहा जाता है। इसी प्रकार पाणिनि के समय में भी नाम पड़ते थे। काबुल से साठ मील उत्तर-पूर्व में स्थित कपिशा नगरी से आनेवाली दाख 'कापिशायिनी द्राक्षा' और वहाँ का मद्य 'कापिशायनं मधु' कहा जाता था जिनका नाम पाणिनीय अष्टाध्यायी (४।२।९९) और कौटिलीय अर्थशास्त्र में आया है। रंकु जनपद में उत्पन्न और वहाँ से लाए जानेवाले प्रसिद्ध बैल 'रांकव' या 'रांकवायन' (४।२।१००) कहलाते थे। इस प्रकार के अनेक संबंध जो चातुरर्थिक से भिन्न थे, उन्हें पाणिनि ने 'शेषे' (४।२।९२), इस अधिकार-सूत्र के अंतर्गत एकत्र कर दिया है। यह शैषिक अधि-

कार ५३ सूत्रों में ४।२।१४५ तक चला गया है और इसमें बहुत अधिक भौगोलिक सामग्री आई है।

५—एक प्रकार के भौगोलिक नाम उन प्रदेशों के होते हैं जो किसी जन या कबीले के अधिकार-क्षेत्र में हों और जन के नाम से उनका नाम पड़े। इस प्रकार के भूभाग को विषय' कहा जाता था (विषयो देशे ४।२।५२)। काशिका के अनुसार ग्राम-समुदाय की संज्ञा 'विषय' थी। उदाहरण के लिये आप्रीत या आफ्रीदी नामक कबाइली लोग जिस इलाके में रहते थे उस ग्राम-समुदाय या क्षेत्र को आप्रीतक कहा जाता था। राजन्यादि गण (४।२।५३), भौरिकि आदि गण, और ऐषुकारि आदि (४।२।५४) गणों में लगभग पचास से ऊपर इस प्रकार के शब्दों का संग्रह पाणिनि ने किया है जिनमें से थोड़े ही नाम अब तक पहिचाने जा सके हैं।

पाणिनि ने एकराज जनपद (४।१।१६८-१७६) और संघों के (५।३।११४-११७) नामों का भी विवेचन किया है। एक राजा के अधीन जनपद प्रायः पूर्वी भारत में कुरुक्षेत्र से लेकर कलिंग और अश्मक तक फैले हुए थे। इनमें कुरु, कोसल मगध, कलिंग, प्रत्यग्रथ (पंचाल), अश्मक (गोदावरी के किनारे, जिसकी राजधानी प्रतिष्ठान थी) मुख्य थे। संघ या गण राज्य विशेष कर वाहीक या पंजाब में फैले हुए थे। पाणिनि ने एकराज और संघ इन दोनों प्रकार के भूगोलवाची नामों में जुड़नेवाले प्रत्ययों को 'तद्राज संज्ञा दी थी (ते तद्राजाः, ४।१।१७४; ञ्यादयस्तद्राजाः, ५।३।११९)

कुछ वन, पर्वत और नदियों के नामों में स्वर को दीर्घ किया जाता था। इनकी गिनती ६।३।११७-१२० सूत्रों में की गई है। वनों के कुछ नामों में नकार को णकार होता था। उनका परिगणन ८।४।४-५ सूत्रों में किया गया है। कात्यायन और पतंजलि ने इस सामग्री में और वृद्धि की; विशेषतः महाभाष्य में भूगोल संबंधी जानकारी को बहुत आगे बढ़ाया गया है। राजन्यादि गण के वसाति, देवयात, बैल्ववन, अंबरीषपुत्र और आत्मकामेय इन पाँच नामों का उल्लेख महाभाष्य (४।२।५२) में ही किया गया है। पाणिनि की इस बहुमूल्य सामग्री का विशेष परिचय यहाँ दिया जा रहा है। पश्चिमोत्तर भारत में फैले हुए आयुधजीवी संघों के संबंध में जो पाणिनीय भौगोलिक जानकारी अष्टाध्यायी में है उसका विशेष परिचय सातवें अध्याय के परिच्छेद ७-८ में दिया जायगा।

अध्याय २, परिच्छेद २—देश

भौगोलिक सीमा विस्तार

सूत्रों में पठित निश्चित स्थान-नामों की सहायता से पाणिनि-कालीन भौगोलिक दिग्विस्तार का परिचय मिलता है। उत्तर-पश्चिम में कापिशी (४।२।९९) का उल्लेख है, यह नगरी प्राचीन काल में अति प्रसिद्ध राजधानी थी। काबुल से लग-

भग ५० मील उत्तर इसके प्राचीन अवशेष मिले हैं। यहाँ से प्राप्त एक शिलालेख में इसे कपिशा कहा गया है। आजकल इसका नाम बेग्राम है। कापिशी से भी और उत्तर में कंबोज (४।१।१७५) जनपद था जहाँ इस समय मध्य एशिया का पामीर पठार है। कंबोज के पूर्व में तारिम नदी के समीप 'कूचा' प्रदेश था, जो संभवतः वही है जिसे पाणिनि ने 'कूच-वार' (४।३।९४) कहा है।

तक्षशिला के दक्षिण-पूर्व में मद्र जनपद (४।२।१३१) था जिसकी राजधानी शाकल (वर्तमान स्यालकोट) थी। मद्र के दक्षिण में उशीनर (४।२।११८) और शिबि जनपद थे। वर्तमान पंजाब का उत्तर-पूर्वी भाग जो चंबा से काँगड़ा तक फैला हुआ है, प्राचीन त्रिगर्त देश था। सतलुज, व्यास और रावी इन तीन नदियों की घाटियों के कारण इसका नाम त्रिगर्त (५।३।११६) पड़ा। दक्षिण पूर्वी पंजाब में थानेश्वर-कैथल-करनाल-पानीपत का भूभाग भरत जनपद था। इसी का दूसरा नाम प्राच्य भरत (४।२।११३) भी था, क्योंकि यहीं से देश के उदीच्य और प्राच्य इन दो खंडों की सीमाएँ बँट जाती थीं। दिल्ली-मेरठ का प्रदेश कुरु जनपद (४।१।१७२) कहलाता था। उसकी राजधानी हस्तिनापुर थी। अष्टाध्यायी में उसका रूप हास्तिनपुर (४।२।१०१) है। गंगा और रामगंगा के बीच में प्रत्यग्रथ नामक जनपद (४।१।१७१) था, जिसे पंचाल भी कहते थे। मध्यदेश में कोसल (४।१।१७१) और काशि (४।२।११६) जनपदों का नामोल्लेख किया गया है। इससे पूर्व में मगध (४।१।१७०) जनपद था। पूर्वी समुद्र तट पर कलिंग देश था जहाँ इस समय महानदी बहती है। सूत्र ४।१।१७० में पाणिनि ने सूरमस जनपद का नामोल्लेख किया है। इसकी पहिचान असम प्रांत की सूरमा नदी की घाटी और गिरि-प्रदेश से की जा सकती है। इस प्रकार पच्छिम में कंबोज (पामीर) से लेकर पूरब में कामरूप असम के छोर तक के फैले हुए जनपदों का ताँता अष्टाध्यायी में पाया जाता है। पश्चिम में समुद्र-तटवर्ती कच्छ जनपद (४।२।१३३) और दक्षिण में गोदावरी-तटवर्ती अश्मक जनपद (४।१।१७३) का नामोल्लेख भी है। अश्मक की राजधानी प्रतिष्ठान थी जो गोदावरी के बाएँ किनारे बंबई और हैदराबाद की सीमा पर वर्तमान पैठण है। कलिंग और अश्मक एक ही अक्षांश रेखा पर थे।

उत्तर के पहाड़ों में हिमालय का नाम हिमवत् (४।४।११२) आया है। पाणिनि को भारतीय समुद्रों का भी परिचय था। किनारे के पास के द्वीपों को पाणिनि ने अनुसमुद्र द्वीप (द्वीपादनुसमुद्रंयञ् ४।३।१०) कहा है। जो वस्तुएँ इन द्वीपों में होती थीं उनके लिये द्वैप्य विशेषण था। बीच समुद्र में स्थित द्वीपों में उत्पन्न वस्तुएँ द्वैप कहलाती थीं। अयनांशों के बीच के देशों के लिये पाणिनि ने अंतरयन (८।४।२५) शब्द का प्रयोग किया है। कर्क की अयनांश रेखा कच्छ-भुज से आनर्त अवंती जनपदों को पार करती हुई सूरमस तक चली गई है। इसके दक्षिण में भारतवर्ष का भूभाग 'अंतरयन' कहलाता था।

उदीच्य और प्राच्य

पाणिनि ने देश के उदीच्य और प्राच्य इन दो भागों का उल्लेख किया है। इन दोनों के बीच में भरत जनपद था जहाँ इस समय कुरुक्षेत्र है। सूत्र २।४।६६ (बह्वचइञः प्राच्यभरतेषु) के प्राच्य-भरत पद पर पतंजलि ने लिखा है कि वस्तुतः प्राच्य देश भरत जनपद के पूरब में प्रारंभ होता था (अन्यत्र प्राग्ग्रहणे भरतग्रहणं न भवति)। पाणिनि ने 'शरावती' नदी का नामोल्लेख (शरादीनां च ६।३।१२०) किया है। नागेश ने एक प्राचीन श्लोक[1] का प्रमाण देते हुए लिखा है कि शरावती नदी प्राच्य और उदीच्य देशों के बीच की सीमा थी। अमरकोष से ज्ञात होता है कि गुप्त-काल में भी शरावती प्राच्य और उदीच्य के बीच की विभाजक रेखा मानी जाती थी। शरावती के दक्षिण-पूर्व का देश प्राच्य और पश्चिमोत्तर का उदीच्य कहलाता था।[2] शरावती नदी की निश्चित पहिचान नहीं हुई। संभवतः अंबाला जिले में बहनेवाली घग्घर नदी शरावती कही जाती थी और वही प्राची और उदीची की सीमाओं को अलग करती थी।

पाणिनि की दृष्टि में प्राच्य और उदीच्य दोनों प्रदेशों में बोली जानेवाली भाषा शिष्टसम्मत थी। उसके शब्द व्याकरण का विषय थे। शब्दों के शुद्ध रूप जानने के लिये जिस लोक का प्रमाण दिया जाता था, वह यही था। गंधार और वाहीक दोनों मिलकर उदीच्य कहलाते थे। सिंधु से शतद्रु तक का प्रदेश वाहीक था जिसके अंतर्गत मद्र, उशीनर और त्रिगर्त ये तीन मुख्य भाग थे। तक्षशिला से काबुल तक का प्रदेश गंधार कहलाता था। पाणिनि की समकालीन संस्कृत भाषा का क्षेत्र गंधार से प्राच्य तक फैला हुआ था। पाणिनि लगभग पाँचवीं शताब्दी विक्रम पूर्व में हुए। उनके बाद लगभग दो शती पीछे यवनों का और फिर शकों का आगमन इस देश में हुआ। शक-यवनों के कारण बाल्हीक और गंधार के प्रदेश भारतवर्ष की राजनैतिक सीमा से कुछ काल के लिये अलग जा पड़े थे और उनके साथ के सांस्कृतिक संबंध भी ढीले पड़ने लगे थे। अतएव पतंजलि ने महाभाष्य में शक यवनों के प्रदेश को आर्यावर्त की सीमा से बाहर कहा और भाषा-भेद के कारण उन्हें शिष्ट संस्कृत के क्षेत्र से अलग समझा। पतंजलि की दृष्टि में आर्या-

---

१—प्रागुदंची विभजते हंसः क्षीरोदके यथा।
विदुषां शब्दसिद्ध्यर्थं सा नः पातु शरावती॥

अर्थात्—व्याकरण शास्त्र में शब्दों के रूपों का भेद बताने के लिये प्राच्य और उदीच्य का विचार शरावती नदी से किया जाता था।

१—लोकोऽयं भारतं वर्षं शरावत्यास्तु योऽवधेः।
देशः प्राग्दक्षिणः प्राच्यः उदीच्यः पश्चिमोत्तरः॥

(अमरकोष २।१।६-७)

वर्त के शिष्ट विद्वानों की भाषा प्रतिमानित संस्कृत थी और तत्कालीन संकुचित आर्यावर्त हिमालय के दक्षिण, पारियात्र पर्वत के उत्तर, आदर्श के पूर्व और कालक वन के पश्चिम अवस्थित था। आदर्श प्रायः अदर्शन या सरस्वती के बालू में खो जाने (विनशन) का प्रदेश समझा जाता है। किंतु काशिका में उसे एक जनपद का नाम कहा गया है (४।२।१२४) और नागेश ने उसे कुरुक्षेत्र की एक पहाड़ी कहा है। कालक वन पाली साहित्य के अनुसार साकेत का एक भाग था। इस प्रकार हम देखते हैं कि राजनैतिक कारणों से पतंजलि के समय में आर्यावर्त की सीमाएँ काफी सिकुड़ गई थीं। पतंजलि ने शक-यवन, किष्किंध-गब्दिक और शौर्य-कौंच को आर्यावर्त की सीमा के बाहर कहा है। एक किष्किंधा गोरखपुर जिले में था, जिसे पाली साहित्य में खुखुंदो[1] कहा है। चंबा रियासत के गद्दी प्रदेश का प्राचीन नाम गब्दिक था और वह पतंजलि के समय में आर्यावर्त से बाहर समझा जाता था। किंतु पाणिनि के समय में गंधार से मगध तक भाषा का अखंड क्षेत्र फैला हुआ था। उस समय उसी के प्राच्य और उदीच्य दो स्वाभाविक भाग माने जाते थे।

अध्याय २, परिच्छेद ३—पर्वत, वन और नदियाँ

पर्वत

अष्टाध्यायी में पहाड़ी प्रदेशों से संबंधित कुछ विशेष शब्द आए हैं; जैसे, हिमानी (४।१।४९, बर्फ का भारी ढेर, ग्लेशियर); हिमश्रथ (६।४।२९, बरफ का पिघलना या हिमगल); उपत्यका (५।२।३४, पर्वत के नीचे की भूमि, नदी की द्रोणी या दून, घाटी); अधित्यका (५।२।३४, पर्वत के ऊपर की ऊँची भूमि, या पठार)। हिमवत् का नाम ४।४।११२ सूत्र में है (विशेषण हैमवती)।

हिमालय के भूगोल से ही संबंधित दो महत्त्वपूर्ण नाम अंतर्गिरि और उपगिरि थे। आचार्य सेनक के मत में इनका रूप अंतर्गिरम्, उपगिरम् (५।४।११२) भी चालू था। हिमालय की पच्छिम से पूर्व की ओर फैली हुई तीन शृंखलाएँ हैं। मैदानों की तरफ से सबसे पहले तराई की भूमि आती है। इस मैदान को नैपाल में तराई, नैनीताल जिले में भाभर (वहाँ उत्पन्न होनेवाली घास के नाम से) और देहरादून में दून (संस्कृत द्रोणी) कहते हैं। इसकी ऊँचाई लगभग १००० फुट से २००० फुट तक है। हरद्वार से देहरादून की चढ़ाई और छोटे टीले इसी के अंग हैं। हिमालय की इस उपत्यका या बहिःशृंखला का नाम उपगिरि था। देहरादून से केवल सात मील पर स्थित राजपुर से एकदम चढ़ाई आरंभ हो जाती है और सात मील के भीतर हम मंसूरी की ६५०० फुट की ऊँचाई पर

१—अवध तिरहुत रेलवे के नोनखार स्टेशन से डेढ़ मील पर गोरखपुर जिले में खुखुंदों नामक स्थान है।

पहुँच जाते हैं। हिमालय की इस बीच की श्रृंखला में मंसूरी, नैनीताल, शिमला, धर्मशाला, श्रीनगर आदि स्थानों की चोटियाँ हैं। इसे पाली साहित्य में चुल्ल हिमवंत (अंग्रेजी मे 'लेसर हिमालय') कहा गया है। इसका प्राचीन नाम बहिर्गिरि था। इससे ऊपर उठकर हिमालय की तीसरी शृंखला है जिसमें अठारह-बीस हजार से लेकर तीस हजार फुट तक की आकाश को छूनेवाली चोटियाँ हैं। कांचनजंघा, गौरीशंकर, धवलगिरि, नंदादेवी, नंगापर्वत आदि हिमालय के उत्तुंग गिरिशृंग इस शृंखला में है। इसे पाली साहित्य के भूगोल में महाहिमवंत (अंग्रेजी में ग्रेट सेंट्रल हिमालय) कहा गया है। इसी का प्राचीन संस्कृत नाम अंतर्गिरि था। महाभारत से ज्ञात होता है कि हिमालय की इन तीन शृंखलाओं के ये भौगोलिक भेद हमारे पूर्वजों के दृष्टिपथ में आ चुके थे और उन्होंने इनका नामकरण भी कर लिया था। अर्जुन की दिग्विजय-यात्रा का वर्णन करते हुए कहा गया है कि उसने अंतर्गिरि, बहिर्गिरि और उपगिरि को जीता था (सभा पर्व २७।३)। पाणिनि ने बीच की शृंखला बहिर्गिरि का नाम न देकर केवल अंतर्गिरि और उपगिरि का ही नाम दिया है। ज्ञात होता है कि तराई की उपत्यका के लिये उपगिरि नाम था, और शेष हिमालय जिसमें उसकी नीची और ऊँची दोनों चोटियाँ सम्मिलित थीं, अंतर्गिरि (हिमालय का भीतरी प्रदेश) कहलाता था। इस प्रकार अंतर्गिरि का ही अवांतरभेद बहिर्गिरि समझा जाता था। अथवा यह भी संभव है कि आचार्य सेनक और पाणिनि दोनों के मत में बहिर्गिरि के नाम का लोक में एक ही रूप था, अतएव व्याकरण में उसके अलग उल्लेख की आवश्यकता नहीं समझी गई।

अष्टाध्यायी में अन्य पर्वतों के नाम

(१) त्रिककुत् (त्रिककुत् पर्वते ५.४।१४७—तीन चोटियोंवाले इस पहाड़ का नाम अथर्ववेद में आता है जहाँ एक प्रकार का सुरमा (त्रैककुद अंजन) उत्पन्न होता था। यह भी हिमालय की किसी चोटी का ही नाम था। कीथ ने इसकी पहिचान त्रिकोट से की है (वैदिक इंडेक्स १।३२९) जो उत्तरी पंजाब और कश्मीर के बीच की कोई चोटी थी। किंतु अधिक संभावना है कि यह नाम सुलेमान पर्वत का था जो अंजन या सुरमे का उत्पत्ति-स्थान था और आज तक है। सुलेमान के समानांतर शीनगर की पर्वत शृंखला है जो झोब (वैदिक यह्वती) नदी के पूर्व है, एवं दोनों के पीछे टोबा और काकड़ की शृंखलाएँ हैं। पर्वतों की यह तिहरी दीवार ठीक ही त्रिककुद् कहलाती थी (जयचंद्र विद्यालंकार, भारतभूमि पृ० १२९)। यहाँ से त्रैककुद अंजन प्राप्त होता था। महाभारत के अनुसार वाहीक (पंजाब) की गोरी स्त्रियाँ मनसिल के समान चमकीले अपांगयुक्त नेत्रों में त्रिककुद् का अंजन डालती थीं (कर्ण पर्व ४४।१८)। आज भी सुलेमानी सुरमा एक ओर पंजाब में और दूसरी ओर सिंध में दूर-दूर तक जाता है। सिंध के लोगों में यही सौवीर अर्थात् उत्तरी सिंध की ओर से आने के कारण सौवीरांजन भी कहलाता था।

(२) विदूर (विदूराञ्ञ्यः, ४।३।८४)—यह वैदूर्य मणि का उत्पत्ति-स्थान था। मार्कंडेय पुराण की व्याख्या में पारजिटर ने वैदूर्य की पहिचान सातपुड़ा से की है। पतंजलि के मत में वैदूर्य मणि की खानें वालवाय पर्वत में थीं। वहाँ से लाकर विदूर के वेगड़ी (संस्कृत वैकटिक, रत्नतराश) उसे घाट पहलों पर काटते और बींधते थे, इससे उसका नाम वैदूर्य पड़ा। संभव है कि दक्षिण का बीदर विदूर हो।

(३) 'वनगिर्योः संज्ञायां कोटर किंशुलकादीनाम्' (६।३।११७) सूत्र के किंशुलकादि गण में छः पहाड़ों के नाम दिए गए हैं जो इस प्रकार हैं—

(१) किंशुलकागिरि (२) शाल्वकागिरि (३) अंजनागिरि (४) भंजनागिरि, (५) लोहितागिरि और (६) कुक्कुटागिरि।

ये नाम अत्यंत अपरिचित हैं, पर जान पड़ता है कि यह पुरानी भौगोलिक सामग्री किसी समय एक क्रम से सूचीबद्ध की गई थी। पाणिनि ने उसे उसी क्रम से अपना लिया। भारत के उत्तर-पश्चिमी छोर पर अफगानिस्तान से बलूचिस्तान तक उत्तर-दक्खिन दौड़ती हुई पहाड़ों की जो ऊँची दीवार है उसी की बड़ी चोटियों के ये नाम जान पड़ते हैं।

सिंध-बलोचिस्तान की सीमा पर उत्तर-दक्षिण गया हुआ हाला पहाड़ भाषा शास्त्र की दृष्टि से शाल्वका गिरि ज्ञात होता है (शाल्वका—हाल्लआ—हाला है। उसके पच्छिम में बलोचिस्तान की मकरान पर्वत-शृंखला संभवतः किंशुलकागिरि थी, जिसका नाम अभी तक हिंगुलाज देश और हिंगुला नदी के नामों के रूप में बचा रह गया है। हिंगुला किंशुल का प्राकृत रूप है। इस देश का प्राचीन नाम पारद था। यूनानियों ने इसे पारदीनी (Pardene) लिखा है; जो व्याकरण-साहित्य के पार्दायन और पार्दायनी से संबंधित है। कापिश्याः ष्फक् (४।२।९९) सूत्र पर पतंजलि ने इसका उल्लेख किया है। पारद के अर्थ में हिंगुल शब्द का प्रयोग मध्यकाल में पाया जाता है। संभवतः लाल हिंगुल का उत्पत्ति स्थान होने के कारण यह स्थान किंशुलक कहलाया। किंशुल और किंशुलक एक ही शब्द ज्ञात होते हैं। हिंगुला अभी तक लाल देवी मानी जाती है। वस्तुतः हिंगुलाज में शकों की नना देवी का प्रसिद्ध मंदिर था, जिसकी मान्यता ('जियारत') मुसलमान भी 'नानी' के नाम से करते हैं।

इससे आगे दूसरी बड़ी शृंखला सुलेमान पर्वत की है। टोबा काकड़ और शीनगर के साथ उसकी तीन बाहियों का नाम, जैसा ऊपर कहा गया है, त्रिककुत् पर्वत था जहाँ का प्रसिद्ध अंजन वैदिक काल से ही सारे पंजाब में जाता था। यही पाणिनि की इस सूची का अंजनागिरि है।

इसके ऊपर अफगानिस्तान के नकशे में ऊँचे पहाड़ों की दो गाँठें हैं—एक मध्य अफगानिस्तान में काबुल के दक्षिण-पश्चिम कोहेबाबा का पहाड़ और दूसरा

उत्तर-पूरब के रुख उससे आगे पड़ा हुआ हिंदुकुश का पहाड़। इनमें से हिंदुकुश का पुराना नाम लोहितागिरि ज्ञात होता। अर्जुन की दिग्विजय के मार्ग में काश्मीर के बाद लोहित को जीतने का उल्लेख है (सभा पर्व २७।१७) है। लोहित का ही दूसरा नाम रोहितगिरि था जिसका उल्लेख काशिका (४।३।६१) ने रोहितगिरि की पर्वताश्रयी आयुधजीवी जातियों के संबंध में किया है। वहाँ के निवासी रोहित-गिरीय कहलाते थे। महाभारत में भी लोहित के दस मंडलों का वर्णन आया है, जो कपिश-गंधार प्रदेश के लड़ाकू कबीले ही ज्ञात होते हैं (व्यजयल्लोहितां चैव मंडलैर्दशभिः सह, सभा पर्व २७।१७)। इस प्रकार लोहितागिरि की पहिचान रोह या अफगानिस्तान के हिंदुकुश से ही संभव ज्ञात होती है। लोहितागिरि या रोहित-गिरि के कारण ही अफगानिस्तान का मध्यकालीन नाम 'रोह' चरितार्थ हो जाता है। इसी से अफगानों के लिये रुहेला नाम प्रचलित हुआ। रुहेलखंड शब्द में अब तक वह बचा है।

सुलेमान और हिंदूकुश के बीच में बड़ा पहाड़ अफगानिस्तान का केंद्रीय जल विभाजक कोहेबाबा है। यहीं से अफगानिस्तान के पूरब, पच्छिम, उत्तर और दक्खिन की जलधाराएँ बिखर कर चारों दिशाओं में बह जाती हैं। संभवतः यही प्राचीन भंजनागिरि था।

कुक्कुटागिरि भी यदि इसी प्रदेश की कोई पर्वत-शृङ्खला हो, जैसा कि संभव प्रतीत होता है, तो उसकी पहिचान कोहेबाबा या भंजनागिरि के पच्छिम की ओर बढ़ी हुई अपेक्षाकृत नीची उन बाहियों से की जा सकती है जो हेरात और हरिरूद (सरयू) नदी के उत्तर समानांतर चली गई हैं। प्राचीन ईरानी उनकी निचाई के कारण उन्हें उपरिशएन (संस्कृत उपरिश्येन, श्येन या बाज के बैठने का अड्डा) कहते थे। उसी का अपभ्रंश नाम यूनानियों ने परोपमिसस लिखा है। यह बाह्लि या बलख के दक्षिण की पर्वतमाला थी। इस उपरिश्येन का ही भारतीय नाम कुक्कुटा-गिरि जान पड़ता है, जो पाणिनि की इस सूची की अंतिम कड़ी है।

'आयुधजीविभ्यश्छः पर्वते' (४।३।९१) सूत्र में पाणिनि ने विशेष रूप से पहाड़ी इलाके में रहनेवाले आयुधजीवी या लड़ाकू कबीलों का उल्लेख किया है। ये लोग पर्वतीय भी कहलाते थे (४।२।१४३)। महाभारत से ज्ञात होता है कि ये लोग गंधार के रहनेवाले थे जो दुर्योधन की ओर से लड़ने आए थे।[1] मार्कंडेय

१—तथा प्रतीच्याः पार्वतीयाश्च सर्वे। (उद्योग० ३०।२४)
गांधारराजः शकुनिः पार्वतीयः। (उद्योग० ३०।२७)

इन पहाड़ी कबीलों का नेता गंधार देश का राजा शकुनि था। और भी देखिए, द्रोण पर्व १२१।१३,४२

यूनानी लेखक अरियन के अनुसार 'पर्वताश्रयी' सैनिक दारा तृतीय की सेना में सम्मिलित होकर सिकंदर से लड़े थे।

पुराण (५७।५६) में नगरहार (आधुनिक जलालाबाद) के निवासी जनों को पर्वताश्रयी कहा गया है।[१] इस नाम से गंधार-कपिशा की लड़ाकू जातियाँ अभिप्रेत थीं। भारतीय भुवन कोषों में दो जगह के लोग पर्वताश्रयी नाम से प्रसिद्ध थे, एक त्रिगर्त या कुल्लू कांगड़ा के और दूसरे गंधार या अफगानिस्तान में हिंदुकुश के पहाड़ी छत्तों में भरे हुए। पाणिनि को इन दोनों का पता था। इसी कारण से दोनों प्रदेशों के पर्वताश्रयी लोगों का अष्टाध्यायी में उल्लेख आ गया है। पर्वत-प्रदेश का अनुवाद आधुनिक कोहिस्तान है, जो सिंधु-सुवास्तु-गौरी (आधुनिक सिंधु स्वात-पंजकोरा) एवं अलीशंग-घोरबंद की उपरली घाटियों का नाम है। यहाँ पर लड़ाकू जातियों के ठट्ठ भरे हैं। प्राचीन काल में भी यही स्थिति थी। संभवतः प्राचीन समय में यह इलाका सिंधु से हिंदुकुश तक फैला हुआ था। हिंदुकुश का पुराना नाम जैसा हम देख चुके हैं रोहितगिरि या लोहितागिरि था और यहाँ के आयुधजीवी या लड़ाकू बाशिन्दे रोहितगिरीय कहे जाते थे। मोटे तौर पर इस प्रदेश के आज दो हिस्से हैं, अर्थात् कोहिस्तान-काफिरिस्तान और स्वात—वे ही प्राचीन समय में थे। कुनड़ नदी (उसी का नाम काश्कर या चित्राल नदी है) इन दोनों के बीच की सीमा है। कुनड़ के पच्छिम में पंजशीर नदी और हिंदूकुश पर्वत तक फैला हुआ पच्छिमी भाग (इस समय का काफिरिस्तान-कोहिस्तान) पाणिनि के समय में कापिशी (४।२।९९) का प्रदेश कहलाता था। चीनी यात्री श्यूआन् चुआङ् ने कापिशी के विस्तृत राज्य का घेरा छः सौ मील लिखा है। सिंधु के पच्छिम में अपर गंधार की राजधानी पुष्कलावती (आधुनिक चारसद्दा) स्वात और काबुल (सुवास्तु—कुभा) के संगम पर थी। इसमें भी खास स्वात नदी की घाटी बौद्ध साहित्य में उड्डियान नाम से प्रसिद्ध थी जिसका संस्कृत नाम पतंजलि के महाभाष्य में औदायनी (कापिश्याः ष्फक्, ४।२।९९ सूत्र पर भाष्य वार्तिक बाल्हि-उर्दि-पर्दिभ्यश्च) मिलता है। यहीं पर वे कंबल बनते थे जिन्हें पाणिनि ने पांडु कंबल (४।२।११) कहा है और जो सैनिक उपयोग के लिये मध्यदेश में लाए जाते थे। बल्ख-कोहिस्तान-काफिरिस्तान-स्वात, इनका प्राचीन भौगोलिक सूत्र बाल्हि-कापिशी-उर्दि-गंधार था जिनसे बाल्हायनी, कापिशायनी और औदायनी, ये तीन विशेषण बनते थे। अफगानिस्तान की इस भौगोलिक स्थिति में काफिरिस्तान-कोहिस्तान-स्वात

१—अतो देशान् प्रवक्ष्यामि पर्वताश्रयिणश्च ये।
नीहाराः हंसमार्गाश्च कुरवो गुर्गणाः खशाः॥
कुन्तप्रावरणाश्चैव ऊर्णा दार्वाः सकृद्ग्रहाः।
त्रिगर्ताः गालवाश्चैव किरातास्तामसैः सह॥ मार्कण्डेय ५७।५६-५७

इसमें त्रिगर्त, डुग्गर, हुंजा (हंस मार्ग), जलालाबाद (नीहार) के अर्थात् काँगड़ा से अफगानिस्तान के पहाड़ी लोगों को पर्वताश्रयी कहा गया है।

का इलाका प्राचीन नामों के अनुसार कपिश-गंधार था। इसी का इकट्ठा नाम पर्वत प्रदेश ज्ञात होता है जो आयुधजीवी या लड़ाकू कबीलों से भरा हुआ था। आज भी बाजौर, स्वात और बुनेर का प्रदेश (सिंधु, स्वात और कुनड़ नदी की दूनें) यागिस्तान कहलाती हैं जिसका अर्थ है अराजक देश (जयचंद विद्यालंकार, भारत भूमि और उसके निवासी, पृष्ठ २२६)। यह पाणिनि के व्रात (५।३।११३) से मिलता है। इस प्रकार काफिरिस्तान-कोहिस्तान के पहाड़ी प्रदेश में जिस तरह के आयुधजीवी थे वे पाणिनि के शब्दों में राजनीतिक दृष्टि से व्रात संज्ञक थे (५।३।११३) वे लोग उत्सेध-जीवी (लूट मार करनेवाले) थे। यहाँ की पर्वतीय जातियाँ आयुधजीवी होते हुए भी उस प्रकार के उन्नत संघ शासन में संगठित नहीं हुई थीं जैसे कि त्रिगर्त देश (काँगड़ा-जालंधर प्रदेश) की पर्वताश्रयी और आयुध-जीवी जातियाँ (दामन्यादि त्रिगर्तषष्ठाच्छः, ५।३।११६) हो गई थीं।

वन

पुरगावण, मिश्रकावण, सिध्रकावण, शारिकावण, कोटरावण, अग्रेवण, इन छः वनों के नाम सूत्र ८।४।४ में पढ़े गए हैं। इनमें से पहले पाँच वनों के नाम पाणिनि ने ६।३।११७ सूत्र के कोटरादिगण में दोहराए हैं। स्पष्ट ज्ञात होता है कि सूत्र ८।४।४ पूर्वाचार्य-व्याकरण से पाणिनि ने अविकल ग्रहण कर लिया था, किंतु सूत्र ६।३।१७ में कोटरादिगण की कल्पना उनकी निजी है। गणरत्नमहोदधि (पृष्ठ ७६) के अनुसार पुरगा पाटलिपुत्र नगर की एक यक्षिणी थी। इससे अनुमान होता है कि पुरगावण पाटलिपुत्र के समीप था जो उस यक्षिणी के नाम से प्रसिद्ध हुआ होगा। मिश्रकावण नैमिषारण्य के पास वर्तमान मिसरिख ज्ञात होता है जो अब नीमखार मिसरिख (सीतापुर से १३ मील दक्षिण) कहलाता है। विधुर पंडित जातक के अनुसार स्वर्ग में नंदनवन के समान पृथ्वी पर मिस्सक या मिश्रकावन प्रसिद्ध था (मिस्सकं नंदनं वनम्, जातक ६।२७८)। सिध्रकावण सिध्रका नाम की लकड़ियों का वन था। सामविधान ब्राह्मण में सैध्रिकमयी समिधाओं को घी में डुबाकर सहस्र आहुतियों से हवन करने का उल्लेख है।[1] अग्रेवण संभवतः प्राचीन अग्र जनपद (जिसकी राजधानी अग्रोदक, आधुनिक अगरोहा, थी) में स्थित वन का नाम था। कोटरावण लखीमपुर जिले का कोई जंगल ज्ञात होता है जहाँ कोटरा नामक रियासत है। यहाँ अधिकतर साखू और शीशम के वृक्ष हैं। शारिकावण अर्वाचीन सारन (बिहार) का पुराना नाम जान पड़ता है।

अगले सूत्र (८।४।५) में पाणिनि ने सात ऐसे नाम गिनाए हैं जो विशेष वनों की संज्ञाएँ थे और साधारण शब्दों के रूप में भी भाषा में प्रयुक्त होते थे, यथा—

१—सैध्रिकमयीनां समिधां घृताक्तानां सहस्रं जुहुयात् (सामविधान ३।६।९)। सैध्रकं सारवृक्षविशेषः (सायण)।

शरवण, इक्षुवण, प्लक्षवण, आम्रवण, कार्ष्यवण, खदिरवण और पीयूक्षावण। व्याकरण की दृष्टि से बात इतनी ही थी कि इन नामों में वन के नकार को णकार होता था, जिसके कारण पाणिनि को इनका लेखा-जोखा करना पड़ा। शरवण नाम का एक संनिवेश श्रावस्ती नगरी से सटा हुआ था, जहाँ आजीवक आचार्य गोशाल मंखलि पुत्त का जन्म हुआ था (उवासग दसाओ)।[1] मंखलि या मस्करी का नाम पाणिनि को ज्ञात ही था (६।१।१५४)।

इक्षुवण फरुखाबाद जिले में बहनेवाली इक्षुमती नदी (जिसे आजकल 'ईखन' कहते हैं) के तट पर होना चाहिए।[2] इक्षुमती गंगा में मिलती है।

आम्रवण राजगृह के समीप एक वन का नाम था। कहा जाता है कि इसे जीवक ने बुद्ध को दान में दिया था। पाली साहित्य में हजार-हजार वृक्षों वाले आम के वनों का उल्लेख है। ऐसे घने और अँधेरिया बागों को सहस्संब वन कहते थे। प्राचीन कंपिल्लपुर (आधुनिक कम्पिल, जिला फर्रुखाबाद) में इस तरह का एक सहस्संब वन था। इससे भी बड़े आम के बागों के लिये हिंदी में 'लखपेड़ा' शब्द अभी तक प्रसिद्ध है। अवश्य ही ऐसे बड़े बागों के नाम लोक में प्रसिद्ध हो जाते थे।

खदिरवण साधारणतया कोई भी कत्थे का जंगल हुआ। जैसे 'खदिरवनिय रुक्ख कोट्ठ सकुनो', अर्थात् खदिरवन में पेड़ के खखोडल का पंछी (पाली साहित्य)। जातकों में हिमवंत प्रदेश में खदिरवन का उल्लेख है (खदिरवने हिमवंत पदेसे, जातक २।१६२, १६३)। आज भी तराई के पहाड़ी इलाके में कत्थे के भारी जंगल हैं। संज्ञावाची खदिरवण में आरण्यक मुनियों के प्रधान आचार्य रेवत का जन्मस्थान था, जिसके कारण वे रेवत खदिरवनीय कहलाते थे (अंगुत्तर निकाय, १।१४।१)।[3]

पाणिनि ने ओषधियों तथा वनस्पतियों के जंगल (८।४।६) और पशुओं के चराई के जंगलों (आशितंगवीन अरण्य, ५।४।७) का भी उल्लेख किया है।

नदी

अष्टाध्यायी में निम्नलिखित नदियों के नाम सूत्रों में आए हैं—

सुवास्तु (४।२।७७), सिंधु (४।३।९३), विपाश् (४।२।७४), उद्ध्य (३।१।११५) भिद्य (३।१।११५), देविका (७।३।१), सरयू (६।४।१७४), अजिरवती (६।३।११९), शरावती (६।३।१२०), चर्मण्वती (८।२।१२)। इनकी पहचान इस प्रकार है।

१—और भी देखिए श्री विमलाचरण लाहा कृत, 'श्रावस्ती इन इंडियन लिट्रेचर', पृष्ठ १०, ११

२—यूनानी लेखकों ने इसे आक्सीमगी (Oxymagis) कहा है।

३—बाद के बौद्ध धर्म में खदिरवन की एक देवी खदिरवनी तारा कहलाती है (साधनमाला)। ज्ञात होता है खदिरवन नाम मध्यकाल तक प्रसिद्ध रहा।

सुवास्तु—सुवास्तु वैदिक काल की नदी थी, यह आजकल की स्वात है। इसकी पच्छिमी शाखा गौरी नदी (पंजकोरा) है। इन दोनों के बीच में उड्डियान था जो गंधार देश का एक भाग माना जाता था। यहीं स्वात की घाटी में प्राचीन काल से आज तक एक विशेष प्रकार के कंबल बुने जाते आए हैं। पाणिनि ने पांडु कंबल (४।२।११) नाम से उनका उल्लेख किया है। सुवास्तु और गौरी की दूनों में एक वीर जाति के लोग बसते थे जिन्हें यूनानियों ने अस्सकेनोई (Assakenoi) और पाणिनि ने आश्वकायन (४।१।९९, नडादिगण) कहा है। इनकी राजधानी मस्सग थी जो व्याकरण साहित्य की मशकावती है। स्वात का ही निचला भाग मशकावती नदी कहलाता था जिसके तट पर मशकावती नगरी थी। भाष्य ४।२।७१ में मशकावती नदी का उल्लेख है। सुवास्तु नदी के दक्षिण का प्रदेश जहाँ वह कुभा में मिलती है, किसी समय पुष्कल जनपद कहलाता था। इसकी राजधानी पुष्कलावती थी जिसे यूनानी भूगोल-लेखकों ने पिउकेलाउती कहा है। मशकावती की भाँति पुष्कलावती भी व्याकरण में नदी का नाम प्रसिद्ध था। काशिका में तीन सूत्रों के उदाहरणों में (४।२।८५; ६।१।२१९; ६।३।११९) पुष्कलावती का नाम प्राचीन नदी-सूची में आया है। स्वात नदी के ही निचले टुकड़े का नाम पुष्कलावती होना चाहिए। यूनानी लेखकों के अनुसार इस प्रदेश में अस्तेनेनोई नामक लड़ाकू कबीला रहता था। पाणिनि के एक सूत्र में उसी का नाम हास्तिनानयन (६।४।१७४) मिलता है। वस्तुतः सुवास्तु-गौरी-कुभा-सिंधु के बीच का प्रदेश पाणिनि की जन्मभूमि शलातुर का पिछवाड़ा था। अपने घर के आँगन की तिल-तिल भूमि से उनका परिचित होना स्वाभाविक था।

सिंधु—प्राचीन सिंधु नद आजकल की सिंध है। सिंधु के नाम से उसके पूर्वी किनारे की तरफ पंजाब में फैला हुआ प्राचीन सिंधु जनपद (सिंधु-सागर दुआब) था, जिसका पाणिनि ने अपने सूत्र में उल्लेख किया है (सिंधुतक्षशिलादिभ्योऽणञौ ४।३।९३)। इस समय जो सिंध प्रांत है उसका पुराना नाम सौवीर था। उसका भी उल्लेख पाणिनि ने सौवीर के गोत्रों का परिचय देते हुए (४।१।१४८) किया है। सिंधु नदी कैलास के पश्चिमी तटांत से निकलकर काश्मीर को दो भागों में बाँटती हुई गिलगिट-चिलास (प्राचीन दरद् देश) में घुसकर दक्षिणवाहिनी होती हुई दरद् के चरणों से पहिली बार मैदान में उतरती है। इस भौगोलिक सचाई को जान कर प्राचीन भारतवासी सिंधु को 'दारदी सिंधुः' कहते थे। 'प्रभवति' (४।३।८३) सूत्र पर काशिका में 'दारदी सिंधुः' उदाहरण आया है। दरद् से नीचे उतर कर सिंधु पूर्वी और पच्छिमी गंधार की सीमा बनाती थी। पूर्वी गंधार की राजधानी तक्षशिला थी (४।३।९७)। यहाँ सिंधु के पच्छिम में उर्दि (उड्डियान) और पूरब में उरशा जनपद (वर्तमान हजारा) था। यहीं पर पच्छिम से आनेवाली कुभा (काबुल) नदी मिलती है। कुभा और सिंधु के कोण में पाणिनि का जन्मस्थान

शलातुर था। इस प्रदेश से पाणिनि का अति सूक्ष्म परिचय था। शलातुर ओहिंद से केवल चार मील है। ओहिंद मध्यकाल का उद्भांडपुर था, जहाँ सिंधु नदी को पार करने के लिये नौक्रम या घाट लगता था। यहीं पर उत्तरपथ (५।१।७७) नाम का राजमार्ग उत्तरी भारत और बाल्हीक-कपिशा को मिलाता हुआ सिंधु नदी पार करता था। पूर्वी गंधार की राजधानी तक्षशिला उद्भांड से लगभग साठ मील पूरब थी और लगभग इतनी ही दूर पश्चिम में पश्चिमी गंधार की राजधानी पुष्कलावती (चारसद्दा) थी। सिंधु के उस पार के इलाके का पुराना नाम सभापर्व में 'पारे सिंधु' (सभापर्व ५१।११) दिया है जो 'पारेमध्ये षष्ठ्यावा' (२।१।१८) सूत्र से सिद्ध होता है (पारे सिंधोः पारेसिंधु)। यह प्रदेश अच्छे घोड़ों के लिये सदा से प्रसिद्ध रहा है। पाणिनि ने सिंधु-पार की चंचल घोड़ियों के लिये 'पारे-बड़वा' नाम दिया (६।२।४२) है। सिंधु के पूरबी ओर के घोड़े जो सिंधु जनपद (सिंधु-सागर दुआब) के लंबे मैदानों में बिचरते थे, सैंधव नाम से भारतीय साहित्य में विख्यात रहे हैं। सिंधु नद के पच्छिम और काबुल नदी के दक्षिण में प्राचीन आप्रीत (वर्तमान अफ्रीदी) रहते थे जिनका पाणिनि ने राजन्यादि गण (४।२।५३) में उल्लेख किया है। इनके प्रदेश का नाम आजकल अफ्रीदी-तीरा है। आप्रीतों के साथी मधुमंत (वर्तमान मोहमंद) अप्रीदी इलाके के उत्तर काबुल नदी के उस पार स्वात और कुनड़ (चितराल) नदियों के दुआबे में बसे थे। यह आजकल का बाजौर—दीर प्रदेश है। पाणिनि ने मधुमंतों का सिंध्वादि (४।३।९३), कच्छादि (४।२।१३३) गणों में उल्लेख किया है (मधुमंतों के लिये और भी द्रष्टव्य भीष्म पर्व ९।५३) पतंजलि ने द्वीरावतीक देश और त्रीरावतीक देश (१।४।१ वा० १९), इन दो भौगोलिक नामों के जोड़े का उल्लेख किया है। गौरी (पंजकोरा) और काश्कर (कुनड़) इन दो नदियों के बीच का दीर प्राचीन द्वीरावतीक जान पड़ता है जो मधुमंतों (मोहमंदों) का प्रदेश था। इसी प्रकार कुभा (काबुल), वरा (बारा नदी जिसपर पेशावर है) और सिंधु, इन तीनों नदियों के बीच का तीरा प्राचीन त्रीरावतीक था जहाँ आप्रीत या अप्रीदी रहते थे। वरा नदी का उल्लेख भीष्म पर्व की नदी सूची में आया है (वरां वीरकरां चैव, नीलकंठी संस्करण ९।२६)।

सिंधु की पच्छिमी सहायक नदी कुर्रम के किनारे निचले हिस्से में बन्नू की दून है। इसका वैदिक नाम क्रुमु था। इसका ऊपरी पहाड़ी प्रदेश आज भी कुर्रम कहलाता है और निचला मैदानी भाग बन्नू। पाणिनि ने इसी को वर्णुनद के नाम से प्रसिद्ध वर्णुदेश कहा है (वर्णौ वुक्, ४।२।१०३; काशिका, वर्णुनाम नदस्त-त्समीपो देशो वर्णुः)। सुवास्त्वादि (४।२।७७) गण के अनुसार वर्णु के पास का प्रदेश 'वार्णव' कहलाता था। इसी की सीध में सिंधु के पूरब की ओर केकय जनपद (७।३।२) था जिसमें सैंधव (सेंधा नमक) का पहाड़ था, जो आधुनिक झेहलम, गुजरात और शाहपुर जिलों का केंद्रीय भाग है। अपने अंतिम भाग में

सिंधु नदी सौवीर देश (४।१।१४८) में प्रवेश करती है और फिर समुद्र में मिल जाती है। यह प्रदेश सिंधुकूल और सिंधुवक्त्र कहलाता था। इस प्रकार सिंधु नदी से संबंधित भूगोल का अष्टाध्यायी और उसके प्राचीन टीका-ग्रंथों में विस्तृत उल्लेख आ गया है।

पंजाब की नदियाँ—पंजाब की नदियों में विपाश् (व्यास) सूत्र में ही उल्लेख है। उसके किनारे के कुओं से पाणिनि का परिचय था। व्यास के दाहिने किनारे या बाँगर के कुएँ पक्के होते हैं और बाएँ किनारे या खादर के कुएँ हर साल पानी भर जाने के बाद फसल के समय कच्चे खोद लिए जाते हैं। उनका यह भेद कुओं के नामों में प्रकट होता था। काशिका के अनुसार दत्त का बनवाया कुआँ दात्त और गुप्त का गौप्त कहलाता था। जो टिकाऊ नाम थे उनके आदि स्वर का उच्चारण उदात्त होता था। पर व्यास के दक्खिनी किनारे के कच्चे कुओं के नामों में यह उदात्त उच्चारण अंतिम स्वर पर पड़ता था।

पंजाब का नाम पाणिनि के समय में वाहीक था जिसकी व्याख्या महाभारत के अनुसार 'सिंधु और उसकी सहायक पाँच नदियों के बीच का प्रदेश' थी।[१] इनमें से चंद्रभागा (आधुनिक चिनाब) का नाम बह्वादि गण में (४।१।४५) अंतर्गण सूत्र के रूप में आया है। पाणिनि के अनुसार भिद्य और उद्ध्य दो नदों के नाम थे (भिद्योद्ध्यौ नदे ३।१।११५)। साहित्य में अन्यत्र इनका उल्लेख नहीं मिलता, केवल कालिदास ने रघुवंश में राम-लक्ष्मण के जोड़े की उपमा देने के लिये इनका उल्लेख किया है।[२] बढ़िया से अपने किनारों को तोड़-फोड़ डालनेवाली ये दो बरसाती नदियाँ थीं जिन्हें आचार्य ने प्रसन्नतावश नद कहा है। काशिका के 'उद्ध्येरावति' उदाहरण से स्पष्ट है कि उद्ध्य इरावती (वर्तमान रावी) की सहायक नदी थी। विशिष्टलिंगो नदी देशोऽग्रामाः' (२।४।७) सूत्र के अन्य उदाहरण गंगाशोणम् और प्रत्युदाहरण गंगायमुने में प्रधान और सहायक नदियों के नामों को मिलाकर बननेवाले समास बताए गए हैं। जो नदी जिसमें मिलती है उन दोनों के आधार पर भाषा में नदी नामों के जोड़े बनते हैं। उद्ध्य का वर्तमान नाम 'उझ' है। यह जम्मू इलाके के जसरौटा जिले में होती हुई कुछ दूर पंजाब में बहकर गुरदासपुर जिले में रावी के दाहिने किनारे पर मिल गई है। उझ के लगभग १५ मील पच्छिम जम्मू प्रदेश से ही बई नाम की दूसरी नदी गुरदासपुर

१—पंचानां सिन्धुषष्ठानां नदीनां येऽन्तराश्रिताः।
वाहीका नाम ते देशाः..................॥ (कर्ण पर्व ४४।७)

२—वीचिलोलभुजयोस्तयोर्गतं शैशवाच्चपलमप्यशोभत।
तोयदागम इवोद्ध्यभिद्ययोर्नामधेयसदृशं विचेष्टितम्॥ (रघुवंश ११।८)

जिले में ही रावी में मिली है, यही प्राचीन भिद्य ज्ञात होती है। इस प्रकार भिद्ये-रावति, उद्ध्येरावति शब्दों का भाषा में प्रयोग हुआ होगा।

देविका—इस नदी का उल्लेख ७।३।१ सूत्र में हुआ है। भाष्य में देविका के किनारे उगनेवाले चावल 'दाविकाकूलाः शालयः' कहे गए हैं। देविका मद्रदेश में बहनेवाली एक प्रसिद्ध नदी थी (विष्णुधर्मोत्तर पुराण, खंड १, १६७।१५)।[१] वामन पुराण अध्याय ८४ के अनुसार यह रावी की सहायक नदी थी, इससे इसकी निश्चित पहचान देग नदी के साथ होती है जो जम्मू की पहाड़ियों से निकलकर स्यालकोट, शेखूपुरा जिलों में होती हुई रावी में मिल जाती है। देग नदी हर बरसाती बढ़िया में अपने किनारों पर रौसली (रजस्वला या बरसाती) मिट्टी की एक उपजाऊ तह छोड़ती है। आज भी उसके किनारे कई प्रकार के बढ़िया सुगंधित बासमती चावल होते हैं जो देविका के पास में ही स्थित मंडी मुरीदके और कामोकी से बाहर भेजे जाते हैं। आज तक पंजाब में स्यालकोटी चावल प्रसिद्ध हैं जो प्राचीन मद्र के दाविकाकूल शालि ही हैं।

अजिरवती—गंगा के काँठे की नदियों में अजिरवती का नाम अष्टाध्यायी में आया है (६।३।११९)। यही अचिरवती (वर्तमान राप्ती) नदी थी, जिसके किनारे प्राचीन श्रावस्ती स्थित थी।

सरयू—इसका नाम अष्टाध्यायी में आता है, जिससे 'सारव (सरय्वां भवं, ६।४।१७४) विशेषण बनता था। सरयू नाम की प्रसिद्ध नदी तो कोसल जनपद में है किंतु पच्छिमी अफगानिस्तान की हरिरूद नदी भी, जिसके किनारे हेरात बसा है, प्राचीन ईरानी भाषा में हरयू कहलाती थी जो संस्कृत सरयू का रूप है। ईरानी सम्राट् दारा के लेखों में यहाँ के निवासी को 'हरइव' कहा गया है जो संस्कृत 'सारव' का रूप है।

चर्मण्वती—विंध्याचल की नदियों में चर्मण्वती (चंबल) का नाम सूत्र में आया है (८।२।१२)।

शरावती—कुरुक्षेत्र की घग्घर नदी के साथ इसकी पहचान ऊपर कही गई है। यह प्राच्य और उदीच्य देशों की बीच के सीमा थी।

रुमण्वत्—सूत्र ८।२।१२ में रुमण्वत् शब्द का उल्लेख है। काशिका के अनुसार लवण के स्थान में रुमण् आदेश होने से यह शब्द बना है (लवण शब्दस्य रुमण्भावो निपात्यते)। इसका संबंध रुमा (लूणी नदी) नदी से जान पड़ता है जो साँभर झील से निकलती है।

रथस्या—पारस्कर प्रभृति गण में 'रथस्या' नाम की नदी का उल्लेख है (६।१।१५७)। भाष्य में इसका रूप रथस्पा है। जैमिनीय ब्राह्मण में रथस्या है (डा० कलां,

---

१—उमादेवीति मद्रेषु देविका या सरिद्वरा।

जैमिनीय ब्राह्मण, अवतरण २०४)। ऋक्तंत्र प्रातिशाख्य (४।७५) में भी रथस्या आया है। महाभारत के आदि पर्व में सरस्वती और गंडकी के बीच की सात पावन नदियों में इसका नाम रथस्था है।[1] रथस्था पंचाल देश की रामगंगा नदी (अपर नाम रथवाहिनी) थी जो ऊपरले भाग में अब भी रुहुत कहलाती है।[2] यूनानी लेखकों के अनुसार गंगा से ११९ मील पूर्व में 'रहद्फ' (Rhodopha) था जो रथस्पा का ही बिगड़ा हुआ रूप है। मध्यकालीन कोशों में पंचाल (बरेली जिले) का पुराना नाम प्रत्यग्रथ दिया है। यहीं रामगंगा नदी बहती है। रथस्था और प्रत्यग्रथ का अर्थ एक सा है—'जहाँ पहुँचकर रथ ठहर जायँ या पीछे मुड़ जायँ'। पंचाल जनपद के लिये यह संज्ञा बढ़ते हुए आर्यों के अभियान के समय दी हुई जान पड़ती है, जब उनका रथ पंचाल भूमि में आकर रुका। पाणिनि ने भी ४।१।१७३ सूत्र में प्रत्यग्रथ जनपद का उल्लेख किया है।

नद्यां मतुप् (४।२।८५) सूत्र पर स्थान-नाम से रखे हुए नदी-नामों के उदाहरणों में काशिका ने निम्नलिखित छः नाम दिए हैं—(१) उदुंबरावती (२) मशकावती (३) वीरणावती, (४) पुष्करावती, (५) इक्षुमती, (६) द्रुमती। ये सब प्राचीन नदियों के नाम थे। इनमें से उदुंबरावती, मशकावती, इक्षुमती, द्रुमती का उल्लेख भाष्य में भी हुआ है (भा० ४।२।७१; काशिका ६।१।२१९ एवं ६।३।११९)।

उदुंबरावती—व्यास और रावी के बीच में त्रिगर्त (काँगड़ा) को जहाँ से रास्ता गया है वहाँ गुरुदासपुर, पठानकोट और नूरपुर इलाके में औदुंबरों के सिक्के मिले हैं। राजन्यादि गण (४।२।५२) में उदुंबर देश के क्षत्रियों को औदुंबरक कहा गया है। महाभारत सभापर्व में भी औदुंबरों का उल्लेख है। औदुंबरों के देश की ही किसी नदी का नाम उदुंबरावती होना चाहिए।

मशकावती—जैसा ऊपर कहा गया है, मशकावती नाम मस्सग या मस्सक से संबंधित है जो गंधार में आश्वकायनों (यूनानी अस्सकेनोइ) की राजधानी थी। यूनानियों के अनुसार मस्सग का किला पहाड़ी था जिसके नीचे नदी बहती थी। अश्वक लोग स्वात नदी के काँठे में रहते थे। उन्होंने चारों ओर से दुरासद मशकावती (मस्सक) के दुर्ग में युद्ध का साज सजाकर अभियान करते हुए सिकंदर का मार्ग छेक दिया था। वे जन्मजात लड़ाके थे। उनका जन-जन बच्चा कट गया, पर उन्होंने अंत तक युद्ध से मुँह न मोड़ा और न विदेशी के सामने घुटने ही टेके। प्राचीन अश्वकों की कुछ मुद्राएँ तक्षशिला के पास मिली हैं। मशकावती, पुष्कलावती और वरणावती—ये तीनों राजधानियाँ पश्चिमी गंधार प्रदेश के त्रिकोण में ही थीं।

१—गंगा, यमुना, सरस्वती, रथस्था, सरयू, गोमती, गंडकी (आदिपर्व १७२।२०)। पूना संस्करण में यह श्लोक क्षेपक है, किंतु पाठ रथस्था ही है (पूना, आदि०, पृ० ६६६)।

२—द्रष्टव्य० इंपीरियल गजेटियर, उत्तर प्रदेश, भा० १ पृ० १६६

पुष्करावती—पुष्करावती या पुष्कलावती, जैसा कि ऊपर कहा चुका है सुवास्तु और कुभा के संगम पर स्थित पच्छिमी गंधार की राजधानी थी जिसके प्राचीन अवशेष आधुनिक चारसद्दा और प्राङ् में पाए गए हैं। इस दृष्टि से संभव है, गौरी-सुवास्तु संगम तक की सम्मिलित धारा पुष्कलावती कही जाती हो। पाणिनि का 'नद्यां मतुप्' (४।२।८५) सूत्र में कहना है कि देश या स्थान के नाम से ये नदियों के नाम पड़े थे (तन्नाम्नो देशस्य विशेषणं नदी, काशिका)। यूनानी लेखकों के अनुसार सिकंदर के समय पुष्कलावती में अस्तनेनोइ लोगों का अधिकार था। ये ही पाणिनि के हास्तिनायन हैं जिनका सूत्र (६।४।१७४) और गणपाठ दोनों में उल्लेख किया गया है (नडादिगण, ४।१।९९)।

वीरणावती—वीरणावती नदी ही प्राचीन वरणावती ज्ञात होती है। संभवतः अथर्ववेद (४।१।७) की वरणावती भी यही हो। स्वयं पाणिनि ने वरणा वृक्षों के पास स्थित वरणा नाम की एक प्रसिद्ध नगरी का 'वरणादिभ्यश्च' (४।२।८२) सूत्र में उल्लेख किया है (वरणानामदूरभवं नगरं वरणाः, काशिका)। यूनानी लेखकों ने जिस किले का नाम अओरनोस (Aornos) दिया है वह प्राचीन वरणा ही ज्ञात होता है। इस प्रसिद्ध पहाड़ी दुर्ग में आश्वकायनों के और सिकंदर के बीच कसकर लड़ाई हुई थी। आश्वकायनों की शांति-काल की राजधानी मशकावती थी, किंतु संकटकाल के लिये सुदृढ़ पहाड़ी दुर्ग वरणा (Aornos) था। उसकी ठीक पहचान श्री आरल स्टाइन ने ऊण (पश्तो ऊणरा) से की है जो इसी प्रदेश में पर्वतवेष्टित स्थान है। इसी के पास वरणावती नदी होनी चाहिए।

इक्षुमती—इसकी पहचान गंगा की सहायक नदी फर्रुखाबाद जिले की ईखन (रामायण अयोध्याकांड अ० ६८, इक्षुमती) से की जाती है।

द्रुमती—इसकी पहचान निश्चित नहीं। संभव है यह काश्मीर की द्रास नदी है।

४।२।८५ सूत्र के प्रत्युदाहरण में भागीरथी और भैमरथी भी नदियों के नाम हैं। भैमरथी दक्षिण की भीमरथी या भीमा नदी है। सूत्र ६।३।११९ पर भी अमरावती आदि छः नदियों के नाम हैं।[1]

धन्व

पाणिनीय धन्व शब्द का अर्थ मरुभूमि या रेगिस्तान है (धन्व शब्दो मरुदेश वचनः काशिका, ४।२।२१)। पतंजलि ने 'धन्वयोपधाद् वुञ्' (४।२।१२१) सूत्र के प्रसंग में 'पारेधन्व' और 'आष्टक धन्व' इन दो रेगिस्तानों का नाम दिया है। काशिका में 'ऐरावत धन्व' का नाम और है। पारेधन्व का सीधा अर्थ है

१—चक्रवाकवती, अमरावती, अजिरवती खदिरवती, पुलिनवती, हंसकारंडववती (काशिका)।

धन्वनः पारम् पारेधन्व (पारेमध्ये षष्ठ्या वा, २।१।१८), अर्थात् मरुभूमि के उस पार का देश। राजस्थान की मरुभूमि या मारवाड़ का प्राचीन नाम धन्व ज्ञात होता है। इस धन्व प्रदेश के पार पच्छिम में आज तक सिंध प्रांत का पूर्वी भाग 'पारकर' कहलाता है। राजस्थान की मरुस्थली या धन्वस्थली में स्थली शब्द पाणिनि के अनुसार प्राकृतिक मैदान का वाचक है। (४।१।४२, स्थली भवति अकृत्रिमा चेत्)। थर पारकर, राजस्थान का थर, और पंजाब में सिंध-सागर दुआब का रेगिस्तानी थल, इन तीनों में एक ही थल या स्थली शब्द है। मरुस्थली के उस पार प्राचीन सौवीर (आधुनिक सिंध) से आनेवाले व्यापारी सामान को 'पारे धन्वक' कहते रहे होंगे। आष्टक धन्व उत्तर-पश्चिमी पंजाब में अटक जिले का पुराना नाम ज्ञात होता है जिसे आज तक धन्नी कहते हैं। धन्नी-पोठोवार भौगोलिक नामों का प्रसिद्ध जोड़ा है, जिसमें रावलपिंडी और अटक जिले शामिल हैं। रावलपिंडी पहाड़ी और अटक रेगिस्तानी प्रदेश हैं। ये दोनों ही पूर्वी गंधार के अंग थे। जैसे अटक का पुराना नाम आष्टक धन्व था वैसे ही रावलपिंडी प्रदेश की प्राचीन संज्ञा पृथ् जनपद थी (भाष्य ४।१।१२०) जिसकी स्मृति पोठवार नाम में है। पतंजलि ने अन्यत्र यहाँ की स्त्रियों को 'पार्थवृन्दारिका' और 'पृदुवृन्दारिका' कहा है (६।३।३४)। महाभारत में 'वृन्दाटक' समस्त पद के रूप में एक भौगोलिक नामों का जोड़ा नकुल की पच्छिमी दिग्विजय के प्रसंग में आया है। (सभापर्व २९।१०)। इनमें सिंध के दक्षिण-पूर्व अटक और उत्तर पश्चिम में बुनेर का इलाका था। बुनेर का ही पुराना नाम वृंद ज्ञात होता है। इस प्रकार वृंद और अटक दोनों ही प्राचीन गंधार जनपद के अंग थे। वृंद पच्छिमी गंधार में था और अटक पूर्वी गंधार में।

काशिका में आष्टक धन्व और पारेधन्व के अतिरिक्त तीसरा ऐरावत धन्व है। यह भारतवर्ष की सीमा के उस पार मध्य एशिया का गोबी रेगिस्तान जान पड़ता है। महाभारत में लिखा है कि पांडवों ने महागिरि हिमवंत को पार करके बालुकार्णव—बालू के समुद्र—के दर्शन किए (महाप्रस्थानिक पर्व २।१,२) और उसी के पास महापर्वत मेरु को देखा। मेरु निश्चयपूर्वक पामीर का पठार है जहाँ से पूर्व में सीता (यारकंद) और पश्चिम में चक्षु (आमू दरिया) निकलती थी। मेरु के ही उत्तर में उत्तर कुरु था।[2] भीष्म पर्व के अनुसार यहीं ऐरावत वर्ष था

१—वर्णुपथ जातक से ज्ञात होता है कि वर्णुपथ एक रास्ते का नाम था जो बहुत बारीक जलते हुए बालू के रेगिस्तान को पार करता था। पंजाब के थल के उस पार वर्णु या बन्नू के देश को जानेवाला मार्ग वर्णुपथ था।

२—मेरोः पार्श्वे तथोत्तरे। उत्तराः कुरवो राजन् पुण्याः सिद्धनिषेविताः॥
(भीष्म पर्व ७।२)

(भीष्म० ६।७) । अतएव ऐरावत वर्ष के बालुकार्णव या बड़े रेगिस्तान और ऐरावत धन्व दोनों का स्थान मध्यएशिया का बड़ा रेगिस्तानी प्रदेश ही ज्ञात होता है।

अध्याय २, परिच्छेद ४–जनपद

सूत्रकाल में जनपद भारतीय भूगोल का सबसे महत्त्वपूर्ण शब्द था। वस्तुतः भारतीय इतिहास में युग-विभाग की दृष्टि से सूत्रकाल का ठीक नामकरण महा-जनपद युग है। इस समय सारा देश जनपदों में बँटा हुआ था। उनकी विस्तृत सूचियाँ भुवनकोश के नाम से लिपिबद्ध कर ली गई थीं, जो महाभारत आदि[1] प्राचीन ग्रंथों में सुरक्षित हैं। पाणिनीय भूगोल का प्रधान अंग जनपद विभाग है। सांस्कृतिक, राजनैतिक, भौगोलिक और भाषा की दृष्टि से प्रत्येक जनपद स्वाभाविक इकाई होता था। यूनानी पुरराज्यों के समान ही और लगभग उसी काल में इस देश में जनपद राज्यों का तांता सारे देश में फैला हुआ था। इसका विस्तृत विचार आगे किया जायगा। काशिकाकार ने गाँवों के समुदाय को जनपद कहा है—'ग्रामसमुदायो जनपदः' (४।२।१)। यहाँ ग्राम शब्द में नगर का भी अंतर्भाव समझना चाहिए। वस्तुतः जनपद में नगर और गाँव दोनों शामिल थे। जनपदों की राजनीतिक सीमाएँ बदलती रहती थीं, किंतु उनके सांस्कृतिक जीवन का प्रवाह न टूटता था। भाषाओं की इकाई के रूप में कितने ही पुराने जनपद अभी तक बचे रह गए हैं, जैसे पैशाची भाषा का क्षेत्र दरद् जनपद, व्रजबोली का शूरसेन जनपद, अवधी या कोसली भाषा का कोसल जनपद, मगधी का मगध जनपद।

जनपदों का जो विस्तार फैला हुआ था उसमें एक जनपद को दूसरे जनपद से अलग करनेवाली नदी-पर्वत आदि की प्राकृतिक सीमाएँ थीं, एवं दो बड़े जनपदों के बीच में छोटे छोटे जनपद भी सीमाएँ बनाते थे। काशिकाकार ने लिखा है कि एक जनपद की सीमा दूसरा जनपद ही हो सकता है, गाँव नहीं (जनपदतद-वध्योश्च, ४।१।१२४ तदवधिरपि जनपद एव गृह्यते न ग्रामः)। जैसे बड़े जनपदों के नामों में प्रत्यय लगाकर विशेषणवाचक शब्द बनते थे, वैसे ही उनकी सीमा के छोटे जनपदों से भी। दो पड़ोसी जनपदों के नामों के जोड़े भाषा में एक साथ प्रसिद्ध हो जाते थे। प्राचीन साहित्य में उनके उदाहरण प्रायः मिलते हैं, जैसे सिंधु-सौवीर, मद्र-केकय, गंधार-केकय, कपिश-कंबोज, शिबि-उशीनर, मद्र-गंधार, वसाति-मौलेय, शाल्व-मत्स्य, कुरु-पंचाल, काशि-कोसल, अंग-मगध, अवन्त्यश्मक, चेदि-

---

१—जनपद-सूचियाँ—महाभारत, भीष्म पर्व, अध्याय ६; मार्कंडेय पुराण, अध्याय ५७; वायुपुराण, अध्याय ४५; ब्रह्माण्ड पुराण अ० ४६; मत्स्य पुराण अ० ११४; वामन पुराण अ० १३; ब्रह्मपुराण, अ० २७। भीष्म पर्व की जनपद-सूची में लगभग २५० जनपदों के नाम हैं। एक बार प्रारंभ हुई यह परंपरा बाद तक चलती रही।

वत्स, मत्स्य-शूरसेन, वृजि-मल्ल, दार्व-अभिसार आदि। पाणिनि में कार्तकौजपादि गण (६।२।३७) के 'अवन्त्यश्मक' आदि शब्दों में भाषा के इस नियम के उदाहरण पाए जाते हैं। दो पड़ोसियों के नाम साथ बोलने की आकांक्षा प्रत्येक भाषा में रहती है।

जो जनपद विस्तार में बड़े थे उनके कई हिस्सों के अलग-अलग नाम भी पड़ते थे। ऐसे कई जनपदों के नाम व्याकरण साहित्य के उदाहरणों में बच गए हैं, जैसे पूर्वमद्र, अपरमद्र (४।२।१०८); पूर्व पंचाल, अपर पंचाल (६।२।१०३)। इस प्रकार दिशावाची शब्द जोड़कर जनपद के विभागों का नामकरण करने के लिये पाणिनि ने विशेष नियम बताया है (दिक्शब्दा ग्रामजनपदाख्यानचानराटेषु, ६।२।१०३)। मद्र जनपद बहुत बड़ा था। रावी से झेलम तक उसका विस्तार था। बीच की चनाब नदी उसे दो हिस्सों में बाँटती थी। स्वभावतः झेलम और चनाब के बीच का पच्छिमी भाग अपरमद्र (आजकल का गुजरात जिला) और चनाब एवं रावी के बीच का भाग पूर्वमद्र (आधुनिक स्यालकोट और गुजरांवाला जिले) कहलाता था। मद्र जनपद की राजधानी शाकल (वर्तमान स्यालकोट) थी। वस्तुतः मद्र ही ठेठ पंजाब था। यहीं के राजा शल्य और अंग देश के राजा कर्ण की तू-तू मैं-मैं का सजीव वर्णन महाभारत के कर्णपर्व में आया है जिसमें ठेठ पंजाब के रहन-सहन का चित्रण है। पूर्वी मद्र का निवासी पौर्वमद्र और पच्छिमी मद्र का आपरमद्र कहलाता था। ये नाम लोक में बिना कारण प्रयुक्त नहीं हो सकते। स्यालकोट और गुजरात की बोली, आचार, वेश और लोगों के रहन-सहन और स्वास्थ्य में जो भेद और विशेषताएँ आज भी हैं उनको सूचित करने के लिये पौर्व-मद्र, आपरमद्र नामों की आवश्यकता पड़ी होगी।

इसी तरह पंचाल जनपद के तीन हिस्से थे—(१) पूर्व पंचाल (२) अपर पंचाल और (३) दक्षिण पंचाल (७।३।१३)। महाभारत के अनुसार दक्षिण और उत्तर पंचाल के बीच गंगा नदी सीमा थी। एटा-फर्रुखाबाद के जिले दक्षिण पंचाल थे। ज्ञात होता है कि उत्तर पंचाल के भी पूर्व और अपर दो भाग थे, दोनों को रामगंगा नदी बाँटती थी। ये ही भाग व्याकरण के पूर्व-पंचाल अपर पंचाल हैं। इसी प्रकार समस्त जनपद अथवा उसके आधे भाग के वाचक नाम भाषा में चालू हो जाते थे जिनके लिये विशेष सूत्र में विधान किया गया है (सुसर्वार्धाज्जनपदस्य, ७।३।१२); जैसे सर्वपंचाल, अर्धपंचाल।

संस्कृत भाषा का यह नियम है कि जनपदवाची नाम सदा बहुवचन में आते हैं, जैसे पंचालाः, कुरवः, मत्स्याः, अंगाः, बंगाः, मगधाः, काशयः, अवंतयः, गंधाराः, आदि। जनपद या जातीय भूमियों के इतिहास में तीन अवस्थाएँ देखी जाती हैं। सबसे पहिले घुमंतू कबीलों का युग था, वे जन कहलाते थे। फिरंदर अवस्था में जन का संबंध भूमि से निश्चित नहीं हुआ था। एक जनपद के सदस्य

आपस में रक्त-संबंध से बँधे थे। घुमंतू या उठाऊ-चूल्हा जन समय पाकर स्थान-विशेष पर बस गया। उसका वह पद या ठिकाना जनपद कहलाया। जन के जो क्षत्रिय थे, उन्हीं में जनपद की मिलकियत या ठकुराई कायम हुई और इस लिये जनपद का नाम भी वही हुआ जो जन के क्षत्रियों का था। जैसे कुरवः क्षत्रियाः और कुरवः जनपदः। यही कारण है कि संस्कृत में जनपदों के नाम बहुवचनांत ही मिलते हैं। कुरवः = (१) कुरु क्षत्रिय लोग, (२) कुरुओं का प्रदेश या भूमियाँ (कुरूणां निवासः)। स्पष्ट है कि यहाँ एक ही कुरवः शब्द के दो अलग-अलग अर्थ हैं। व्याकरण की माँग है कि 'कुरुओं का निवास', इस विशेष अर्थ को प्रकट करने के लिये मूल कुरु शब्द में एक प्रत्यय लगना चाहिए। पाणिनि का मत है कि प्रत्यय तो अवश्य लगता है किंतु उसका लोप हो जाता है। 'जनपदे लुप्' (४।२।८१) सूत्र का यही प्रयोजन है। वस्तुतः पाणिनि को यह सूत्र बनाने की आवश्यकता न थी। क्षत्रिय-नाम और जनपद-नाम, इन दोनों की एकता लोक से सिद्ध थी। कुरु क्षत्रिय यहाँ बसे हुए हैं, अतएव यह प्रदेश कुरु कहलाता है, इस तरह का अन्वर्थ ज्ञान जनपदवाची 'कुरवः' शब्द का व्यवहार करनेवालों के मन में नहीं आता था, बल्कि वे उस नाम को स्वयंसिद्ध समझकर उसका व्यवहार करते थे। सिद्धांत रूप से इस स्थिति को पाणिनि ने भी स्वीकार किया है। उनका कहना है कि यौगिक अर्थ की प्रतीति न होने के कारण 'कुरवः', 'पंचालाः', इन शब्दों में निवासवाची प्रत्यय लगाकर फिर उसका लोप करने के झंझट में न पड़ना चाहिए। लुब् [अशिष्यः] योगाप्रख्यानात् (१।२।५४) इस महत्त्वपूर्ण सूत्र का यही प्रयोजन है।

इस प्रकार जन और जनपद विकास की दो अवस्थाएँ हुईं। जब देश का नाम 'कुरवः' हुआ तब उस जनपद में कुरुक्षत्रियों के अलावा और भी लोगों का आकर बस जाना स्वाभाविक था। अलग-अलग पेशों के और अलग-अलग वर्ण और जातियों के लोग वहाँ आकर बस गए और इस प्रकार सम्मिलित जनपदीय जीवन का विकास हुआ। जातकों में पेशेवर लोगों के द्वारा जनपदीय आर्थिक जीवन को समृद्ध करने का अच्छा चित्र मिलता है। पाणिनि ने भी जनपदों में बढ़ती हुई इस हुनरमंदी या पेशों का 'जानपदी वृत्ति' के नाम से उल्लेख किया है (४।१।४२)। जनपदीय जीवन में इतर लोगों के भर जाने पर भी राजनैतिक जीवन प्राचीन जन के उत्तराधिकारी क्षत्रियों के हाथ में ही रहा। औरों से इनकी पृथक्ता सूचित करने के लिये ये क्षत्रिय लोग 'जनपदिन्' कहलाए, अर्थात् प्राचीन 'जन' के स्थान में 'जनपदिन्' नई संज्ञा व्यवहार में आई (जनपदिनः = जनपद-स्वामिनः क्षत्रियाः, ४।३।१०० सूत्र पर काशिका)। जहाँ तक भौगोलिक नामों का संबंध है, जन और जनपद की पूर्ववर्ती स्थिति में जन से जनपद का नाम पड़ा था (जैसे कुरुओं से 'कुरवः' जनपद)। किंतु जनपद और जनपदिन् वाली उत्तरकालीन स्थिति में जनपद के नाम से जनपद-स्वामी क्षत्रियों का नाम पड़ा हुआ समझा गया, जैसे 'कुरवः' जनपद जिनका निवासस्थान था वे क्षत्रिय 'कुरवःजनपदिनः' कहलाए।

देश और वहाँ के क्षत्रिय दोनों के नाम भी बहुवचन में समान होते थे, इस लौकिक सचाई का पाणिनि ने शब्दों की उदारता के साथ स्पष्ट उल्लेख किया है—

जनपदिनां जनपदवत्सर्वं जनपदेन समानशब्दानां बहुवचने (४।३।१००)।

जनपद राजनैतिक दृष्टि से दो प्रकार के हो गए थे—एक संघ और दूसरे एकराज। संघ-शासनवाले जनपदों में क्षत्रियगणों का राज्य था। वे क्षत्रिय और जनपद एक नाम से पुकारे जाते थे, जैसा कि हम देख चुके हैं। इधर एकराज जनपदों में, जहाँ एक व्यक्ति राजा होता था, स्थिति यह थी कि जनपद के राजा का नाम और जनपद के प्रत्येक नागरिक क्षत्रिय के पुत्र का नाम एक-सा होता था।[1] जैसे पंचाल क्षत्रिय का लड़का पांचाल और पंचाल जनपद का राजा भी पांचाल कहलाता था। प्राचीन साहित्य में माद्री, पांचाली, गांधारी आदि जो नाम मिलते हैं वे जनपद-स्वामी क्षत्रियों की लड़कियों के थे। ज्ञात होता है कि व्यवहार में इन नामों का बहुत अधिक महत्त्व रहा होगा और लोग अपने नामों के आगे जनपदवाची विशेषण नियमपूर्वक लगाते रहे होंगे, तभी पाणिनि ने विस्तार से इस प्रकार के नामों की व्युत्पत्ति पर विशेष ध्यान दिया है (४।१।१६८–१७३)।

एक जनपद में बसनेवाले सब लोग आपस में 'सजनपद' कहलाते थे (समानः जनपदः सजनपदः, ६।३।८५)। समान संबंध की यह भावना एक जनपद में रहनेवाले ऊँच-नीच सभी लोगों में आजतक चली आई है। जैसे, सब व्रजवासी इतर जनों की अपेक्षा सजनपद संबंध के कारण आपस में अधिक सांनिध्य का अनुभव करते हैं। यही बात मद्र, मगध, सुराष्ट्र आदि जनपदों के विषय में भी चरितार्थ होती है।

महाजनपद-युग के सोलह जनपदों के नाम बौद्ध साहित्य में प्रायः आते हैं। उनमें से ये नौ नाम पाणिनि ने भी अष्टाध्यायी में दिए हैं—मगध, काशि, कोसल, वृजि, कुरु, अश्मक, अवंति, गंधार और कंबोज। इस सूची में कंबोज से मगध तक और दक्षिण में अमश्क-अवंति तक का प्रदेश आ जाता है। राजनैतिक दृष्टि से पाणिनि के समय में निम्नलिखित जनपद एकराज शासन के अधीन थे—मगध, कलिंग, सूरमस (असम प्रांत), कोसल, कुरु, प्रत्यग्रथ (पंचाल), अश्मक, साल्वेय, गांधारि, साल्व, कंबोज, अवंति, कुंति। देश में यह राजनैतिक स्थिति किस समय थी?-इस प्रश्न का घनिष्ठ संबंध पाणिनि के काल-निर्धारण से है और वहीं उसपर विचार किया जायगा।

१—जनपदसमानशब्दात् क्षत्रियादञ् (४।१।१६८) जनपद का नाम और क्षत्रिय का नाम एक हो तो उस क्षत्रिय से अपत्य अर्थ में अञ् प्रत्यय होता है। इसपर कात्यायन का वार्तिक है—क्षत्रियसमानशब्दाज्जनपदात्तस्य राजनि अपत्यवत्, अर्थात् जनपद और क्षत्रिय का एक सा नाम हो तो राजा के लिये भी वही प्रत्यय होना चाहिए जो अपत्य के लिये होता है।

अष्टाध्यायी में जिन जनपदों के नाम आए हैं उनका ब्यौरा इस प्रकार है—

कंबोज (४।१।१७५)—पाणिनि के समय में यह एकराज जनपद था। यहाँ का राजा और क्षत्रियकुमार दोनों कंबोज कहलाते थे (अपत्यवाची और राजावाची प्रत्ययों का 'कम्बोजाल्लुक्' सूत्र से लोप होता है)। कच्छादि (४।२।१३३), सिंध्वादि (४।३।९३) गणों में सिंधु, वर्णु, गंधार, मधुमत्, कंबोज, कश्मीर, साल्व और कुलुन, इन आठ जनपदों के नाम सामान्य हैं जो पाणिनिकृत प्रतीत होते हैं। कंबोज की ठीक पहिचान भारत के उत्तर पच्छिमी भूगोल के लिये महत्त्वपूर्ण है। गंधार, कपिश, बाल्हीक और कंबोज—इन चार महाजनपदों का एक चौगड्डा था। मध्य एशिया और अफगानिस्तान के नकशे में इनकी भौगोलिक स्थिति स्पष्ट हो जाती है। जैसा कि हम देखेंगे, हिंदुकुश के उत्तर-पूर्व में कंबोज, उत्तर-पच्छिम में बाल्हीक, दक्षिण-पूर्व में गंधार और दक्षिण-पश्चिम में कपिश था। आधुनिक 'पामीर' और 'बदख्शाँ' का सम्मिलित प्राचीन नाम कंबोज जनपद था और उसी से सटा हुआ 'दरवाज्' का इलाका था जिसकी पहचान डा० मोतीचंद्र ने द्वारका से की है। इसे पेतवत्थु (परमत्थदीपनी टीका, पाली टेक्स्ट सोसाइटी भाग ३, पृ० ११३) के आधार पर डा० राइस डेविडस ने कंबोज की राजधानी मान लिया था, जो सप्रमाण नहीं है। कंबोज के दक्षिण में पूर्व-पश्चिम फैली हुई हिंदुकुश की ऊँची पर्वत-शृंखला कंबोज को भारतवर्ष से अलग करती थी। बदख्शाँ का प्राचीन नाम मोतीचंद जी की पहचान के अनुसार द्व्यक्ष था। पाणिनि ने द्व्यक्षायण और त्र्यक्षायण देशवाची नाम साथ-साथ पढ़े हैं (ऐषुकारिगण ४।२।५४)। महाभारत में द्व्यक्ष, त्र्यक्ष और ललाटाक्ष,[1] तीन जनपदों के नाम आते हैं। इनमें द्व्याक्षायण की पहचान बदख्शाँ से और ललाटाक्ष की लद्दाख (कश्मीर का उत्तर पूर्वी भाग) से की गई है। प्रोफेसर लासें ने कंबोज की पहिचान काशगर के दक्षिणी प्रदेश से ठीक ही की थी[2] किंतु उस पर अधिक ध्यान नहीं दिया गया।

१—सभापर्व, ५१।१७

२—कंबोज की ठीक पहिचान के लिये मैं श्री जयचंद्र विद्यालंकार और श्री डा० मोतीचंद्र का आभारी हूँ (जयचंद्र, भारतभूमि और उसके निवासी, पृ० २९७, ३०३; मोतीचंद्र, उपायन पर्व, पृष्ठ ४३)। कुछ विद्वान् कश्मीर के रजौरी और हजारा प्रदेश के साथ कंबोज की पहिचान किया करते हैं, जो भ्रांत है। उस प्रदेश का प्राचीन नाम अभिसार जनपद था। प्राचीन जनपदीय भूगोल की दृष्टि से सिंध और झेलम के बीच में उरशा, (हजारा), झेलम और चनाब के बीच में अभिसार (पुंछ-राजौरी), एवं चनाब और रावी (जम्मू) के बीच में दार्व जनपद था। इसी कारण दार्वाभिसार नाम चरितार्थ होता है। इस प्रदेश में कंबोज के लिये किसी भी प्रकार गुञ्जायश नहीं है। यदि कंबोज यहाँ मान लें तो पड़ोसी जनपदों के अर्थ में 'कपिशकंबोज' समास नहीं बन सकता था।

कंबोज के पश्चिम, वंक्षु के दक्षिण और हिंदूकुश के उत्तर-पश्चिम का प्रदेश बाल्हीक महाजनपद था। हिंदूकुश के दक्षिण-पूर्व में काबुल और सिंध नदी के कोने में, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, पश्चिमी गंधार का जनपद था। बाल्हीक और गंधार के बीच में गंधार से मिला हुआ उसके पच्छिम में कपिश जनपद था। पामीर के ठीक दक्षिण हुंजा और गिलगित का प्रदेश प्राचीन दरद् जनपद था।

यास्क ने लिखा है कि गत्यर्थक शवति धातु कंबोज देश में ही बोली जाती है (शवतिर्गतिकर्मा कंबोजेष्वेव भाष्यते)। कंबोज या वक्षु के उद्गम-प्रदेश की गल्चा नामक बोलियों में यह विशेषता अभी तक पाई जाती है, जैसा श्री ग्रियर्सन ने स्पष्ट उल्लेख किया है (भारतीय भाषाओं का पर्यवेक्षण, भाग १०, पृ० ४६८,४७३, ४७४, ४७६, ५००; जयचंद्र, भारत भूमि और उसके निवासी, पृ० २९७-३०३)।

प्रकण्व—पाणिनीय सूत्र ६।१।१५३ में प्रस्कण्व एक ऋषि का नाम है। इसी का प्रत्युदाहरण प्रकण्व है जो एक देश का नाम था (प्रकण्वो देशः, काशिका)। यूनानी इतिहास लेखक हीरोदोतस ने 'परिकनिओई' (Parikanioi) नामक जाति का उल्लेख किया है जिसकी पहिचान स्टेनकोनो ने फरगना के लोगों से की है (खरोष्ठी शिलालेख, भूमिका, पृष्ठ १८)। ज्ञात होता है कि प्रकण्व ही 'परिकनिओई' या फरगना का प्राचीन नाम था। इस प्रकार प्रकण्व देश भी मध्य एशिया के भूगोल का अंग था।[1]

गंधार—पाणिनि ने इस जनपद का अधिक पुराना नाम गांधारि एक सूत्र में (४।१।६९) दिया है। वहाँ के राजा और उनके पुत्र दोनों गांधार कहलाते थे। बाद का नाम गंधार गणपाठ में मिलता है। यूनानी नाम 'गंदराइ' और 'गंदराइति' गांधारि के निकट हैं। ज्ञात होता है कि गांधारि मूल में जन की संज्ञा थी जिससे जनपद का नाम 'गांधारि' हुआ। जैसा ऊपर कहा जा चुका है, गंधार महाजनपद कुनड़ या काश्कर नदी से तक्षशिला तक फैला हुआ था। पश्चिमी गंधार की राजधानी पुष्कलावती (यूनानी पिउकलाउती) थी जहाँ स्वात और काबुल नदी के संगम पर वर्तमान चारसद्दा है। मार्कंडेय पुराण में 'पुष्कलाः' जनपद का नाम आया है (५७।३९), जिसका स्थान पुष्कलावती होना चाहिए। सुवास्तु और गौरी नदियों के बीच में उड्डियान (प्राचीन उर्दि देश) था, जो गंधार का ही एक भाग था। यहाँ के बने हुए कंबल पांडुकंबल कहलाते थे जो पाणिनि के अनुसार (४।२।११) रथ मढ़ने के काम में आते थे।

१—अंतगडदसाओ में विदेशी दासियों की एक सूची है—बर्बरी, यवनी, पल्हवी, इसिणी (ऋषिक या यूची), सिंहली, आरबी (अरब), पकणी, बहली (बाल्हीक देश की), मुरुंडी, पारसीकी (मोतीचंद्र, भारतीय वेशभूषा, पृ० १४१)। इनमें पकणी स्त्री प्रकण्व या फरगने की थी।

सिंधु—सिंधु नद के पूर्व में सिंध सागर दुआब का पुराना नाम सिंधु था। सिंधु में उत्पन्न मनुष्य सिंधुक कहलाता था। (सिन्ध्वपकाराभ्यां कन्, ४।३।३२)। सिंधु में जिसके पूर्वज रहते थे अर्थात् जिसका निकास सिंधु जनपद से था, उसकी संज्ञा सैंधव होती थी (सिंधुतक्षशिलादिभ्योऽणञौ, ४।३।९३)। पाणिनि ने कुछ सिंध्वंत नामों का संकेत किया है (७।३।१९), जिसके उदाहरण में काशिका में सक्तु-सिंधु और पानसिंधु, इन दो भागों का उल्लेख है। ये दोनों नाम भोजन की स्थानीय आदतों को लेकर लोक में चालू हुए थे। जहाँ के लोग सत्तू खाने के अभ्यासी थे वह भाग सक्तु सिंधु और जहाँ के लोग पान के शौकीन थे वह पान-सिंधु कहलाने लगा (सक्तुप्रधानाः सिंधवः सक्तुसिंधवः, पानप्रधानाः सिंधवः पानसिंधवः)। मालूम होता है ये नाम उत्तरी और दक्षिणी सिंधु जनपद के लिये प्रयुक्त होते थे। उत्तरी सिंध दुआब में जिला डेरा इस्माईल खाँ की तरफ आज भी सत्तू वहाँ का जातीय भोजन हैं। स्त्रियाँ सत्तू की सौगात भेजती हैं और यात्रा में यात्री सत्तू साथ बाँधकर चलते हैं। दूसरी ओर महाभारत मे सिंधु के राजा जयद्रथ को क्षीरान्नभोजी कहा गया है (द्रोण पर्व ७६।१८)। जयद्रथ सौवीर (आधुनिक सिंध का उत्तरी भाग) और उसके ऊपर दक्षिण सिंधु जनपद का राजा था। क्षीर-भोजन दक्षिण सिंधु की विशेषता समझा जाता था। 'पानं देशे' सूत्र अष्टाध्यायी (८।४।९) और चंद्र व्याकरण (६।४।१०९) दोनों में है। इसका उदाहरण देते हुए चांद्रवृत्ति में कहा है कि उशीनर के लोगों में दूध पीने का आम रिवाज था। चनाब के पश्चिम में सिंधु जनपद और पूरब में उशीनर जनपद (झंग मघियाना) था। वर्तमान मिंटगुमरी से लैया देराजत तक का कुल प्रदेश गायों के लिये प्रसिद्ध था। मिंटगुमरी की साहिवाल गाएँ आज भी प्रसिद्ध हैं। क्षीरपान यहाँ के भोजन की विशेषता है और पहले भी थी। चरक से भी इसका समर्थन होता है, जहाँ सैंधव लोगों को दूध पीने का शौकीन कहा गया है (चिकित्सा स्थान, ३०।३१७)। पान-सिंधु प्रदेश का व्यक्ति जब कहीं जाता, वह सैंधव कहलाता था और सक्तुसिंधु का साक्तुसैंधव।

'सिध्वकराभ्यां कन्' (४।३।३२) सूत्र के अनुसार देशवाची 'अपकर' शब्द से वहाँ का निवासी अपकरक कहलाता था। अपकर, बहुत संभव है, मियाँवाली जिले का भक्खर हो। सिंधु जनपद में यह दक्खिनी रास्ते का नाका था जहाँ सिंधु नदी पार करके प्राचीन गोमती (आधुनिक गोमल) के किनारे गोमल दर्रे से गजनी को रास्ता जाता था। व्यापारिक और सामरिक दृष्टि से भक्खर या भक्खर महत्त्वपूर्ण घाटा था।[1]

१—महमूद गजनवी गजनी से सीधे गोमल लाँघकर डेराइस्माइल खाँ के जरा नीचे भक्खर पर सिंध पार करता और इसी रास्ते भारत में आया करता था।

भारतीय साहित्य में सिंधु-सौवीर, यह दो जनपद-नामों का जोड़ा प्रसिद्ध हो गया था। भौगोलिक दृष्टि से इन दोनों की सीमाएँ एक दूसरे से सटी हुई थीं, जैसा कि सौवीर की पहिचान से ज्ञात होगा।

सौवीर (४।१।१४८)—वर्तमान काल के सिंधु प्रांत या सिंध नद के निचले काँठे का पुराना नाम सौवीर जनपद था। इसकी राजधानी रोरुव (संस्कृत रौरुक)[1] वर्तमान रोड़ी है। यहाँ पुराने शहर के भग्नावशेष हैं। रोड़ी के उस पार सिंधु के दाहिने किनारे का प्रसिद्ध स्थान सक्खर है जिसका पुराना नाम 'शार्कर' था जो पाणिनि के 'शर्करायाः वा' (४।२।८३) सूत्र में आया है। शर्करा से चातुर्थिक प्रत्यय लगाकर छः शब्दरूप बनते थे—(१) शर्करा, (२ शार्कर, (३) शर्करिक,(४) शार्करक, (५) शार्करिक और (६) शर्करीय। पाणिनि ने सौवीर देश के गोत्रों का सामान्य रूप से उल्लेख किया है। वहीं के फांटाहृति और मिमत गोत्रों का विशेष नामोल्लेख भी एक सूत्र में किया गया है (४।१।१५०) फांटाहृति गोत्र में उत्पन्न व्यक्ति फांटाहृत या फांटाहृतायनि और मिमत में उत्पन्न मैमत या मैमतायनि कहलाता था। मैमतायनि आचार्य का उल्लेख चरक-संहिता के आरंभ में आयुर्वेद में रुचि रखनेवाले ऋषियों की नामावली में आया है (सूत्रस्थान, १।१३) अकशाप, यमुंद, भागवित्ति और तार्णबिंदव—इन सौवीर गोत्रों का भी काशिका ने पाणिनि-सूत्रों का उदाहरण देते हुए उल्लेख किया है (४।१।१४८-१४९)। इस समय सिंधी नामों के अंत में जो आनी प्रत्यय (जैसे वस्वानी, कृपलानी) देखा जाता है उसका मूल अष्टध्यायी में 'आयनि' के रूप में है। भागवित्तियों की पहिचान बुगतियों से की जा सकती है जो सिंध के उत्तरी प्रांत में आबाद हैं।

अन्यत्र पाणिनि ने सौवीर जनपदों के नगरों के नाम बनाने का भी उल्लेख किया है (स्त्रीषु सौवीर साल्वप्राक्षु, ४।२।७६)। इसका उदाहरण काशिका में दत्तामित्र की बसाई हुई 'दात्तामित्री' (दत्तामित्रेण निर्वृत्ता) नगरी है। यह उदाहरण पाणिनि से बाद का है। भारत के यूनानी राजा दिमीत्रियस का संस्कृत नाम दत्तामित्र कहा जाता है।[2] उसने एक ओर सिंधु तक का देश जीत लिया था और दूसरी ओर पुष्यमित्र शुंग से भी उसका युद्ध हुआ था। महाभारत आदि-पर्व का यवनाधिप दत्तमित्र यही है जिसने तीन वर्ष में गंधर्व (वर्तमान गंधार) देश जीतकर फिर सौवीर देश जीत लिया था (आदिपर्व १४१।२१-२३)। महाभारत

१—दंतपुरं कलिंगानां अस्सकानांच पोतनम्।
माहिस्सती अवतीनां सोवीरानां च रोरुवम्॥

२—इसी का नाम प्राकृत में दिमित्र या दिमित था। दात्तामित्री नगरी के निवासी दानदाता का उल्लेख नासिक गुफा के लेखों में 'दातामितीयक' नाम से हुआ है। (ल्यूडर्स कृत ब्राह्मी लेख-सूची, सं० ११४४)

में यह प्रकरण लगभग शुंगकाल के बाद जोड़ा गया होगा। पूना के संशोधित संस्करण के अनुसार यह श्लोक क्षेपक ठहरा है।

धूमादि गण में सौवीर जनपद के कूल या समुद्री तट का उल्लेख है (कूलात्सौवीरेषु ४।१।१२७) यह कोटरी से लेकर समुद्र-तट तक फैले हुए सिंध के मुहाने या नदीमुख का पुराना नाम था। श्युआन् चुआङ् (सातवीं शती) ने सौवीर जनपद के चार भाग कहे हैं—उपरला, बिचला, निचला और कच्छ। उपरले भाग में पाणिनि के समय में शौद्रायण, मसूरवर्ण और मुचुकर्णि जनपद थे। उपरले सौवीर की राजधानी रोरुक (वर्तमान अलोर = अरबी अल् + रोर अर्थात् रोर नगर) थी। जब अलोर उजड़ा तब उसी के नाम से पास में रोड़ी आबाद हुई। आज भी अलोर की जड़ में अभिजन नामक छोटा गाँव आबाद है जो बताता है कि रोड़ी से पहिले अलोर में पूर्वजों की बस्ती थी (यत्र पूर्वैरुषितं सोऽभिजनः, काशिका ४।३।९०)। बिचला सौवीर ब्राह्मण जनपद था और निचला भाग सौवीरकूल था। चौथा भाग कच्छ स्वतंत्र जनपद था (४।२।१३३)

ब्राह्मणक – अष्टाध्यायी में ब्राह्मणक एक देश का नाम है (ब्राह्मणकोष्णिके संज्ञायाम्, ५।२।७१)। पतंजलि के अनुसार यह एक जनपद था (ब्राह्मणको नाम जनपदः, ४।२।१०४, वा० ३०) इसकी पहचान यूनानी लेखकों के ब्राखमनोई (Brachmanoi, अरियन ६।१६, वर्तमान ब्राह्मणाबाद, सिंध प्रांत के मध्य में मीरपुर खास से लगभग २५ मील उत्तर) से ही की जा सकती है। यहाँ प्राचीन काल के विस्तृत ध्वंसावशेष हैं। राजशेखर ने काव्यमीमांसा में पश्चिमी जनपदों की सूची में इसे ब्राह्मणवह[1] कहा है। यूनानी लेखक प्लूटार्क के अनुसार यहाँ के निवासी दार्शनिक विद्वान् थे और अपनी स्वतंत्रता की रक्षा के लिये मर मिटने को तैयार रहते थे। उन्होंने आयुधजीवी संघों की तरह डटकर सिकंदर से भिड़न्त की और अपने पड़ोसी राज्यों को भी स्वतंत्रता की रक्षा में युद्ध के लिये उभाड़ा (जायसवाल, हिंदू राज्यतंत्र)।

इसी जनपद से मिला हुआ दूसरा जनपद शूद्रों का था। पाणिनि ने ऐषुकारिगण (४।२।५४) में शौद्रायणों का उल्लेख किया है। इस सूची में उन देशों की गिनती है जिनका नाम वहाँ के निवासी जनों के अनुसार पड़ता था। पतंजलि ने अब्राह्मणक देश और अवृषलकदेश—इन दो भौगोलिक नामों के जोड़े का उल्लेख किया है (१।४।१०-१९) यह स्पष्ट है कि अब्राह्मणक शौद्रायण जनपद की और अवृषलक ब्राह्मणक जनपद की संज्ञा होनी चाहिए। ब्राह्मणक जनपद की तरह शौद्रायण लोग (यूनानी रूप 'सोडराई') भी सिकंदर से लड़े थे। दिआदोरस ने

१— अरब भूगोलकार अबूरिहां ने इसका हिंदू नाम बमनहवा दिया है जो ब्राह्मणवह का ठीक देशी रूप है।

लिखा है कि सोद्राई सिंध नद के पूर्वी तट के प्रदेश में और मस्सनई पच्छिमी तट पर थे। मस्सनई का शुद्ध रूप तोलेमी ने मुसरनई (Musarnai) दिया है जो पाणिनि का मसुरकर्ण या मसूरकर्ण (४।१।११२, २।४।६९) है। मिठनकोट से नीचे सिंध नदी के पच्छिम मुजरक का जिला प्राचीन मसूरकर्ण का इलाका था।

यूनानी लेखकों के अनुसार सिकंदर ने शौद्रायण और मसूरकर्ण जातियों से संधि करने के बाद सिंधु देश के मौसिकनस् नामक जनपद में प्रवेश कया जो भारतवर्ष भर में सबसे समृद्ध कहा जाता था। इसकी पहिचान पाणिनि के मुचुकर्ण से की गई है (कुमुदादिगण ४।२।८०) जहाँ के निवासी मौचुकर्णिक कहलाते थे। इनका स्थान उपरले सौवीर में शौद्रायणों के दक्षिण में था। कनिंघम के अनुसार इनकी राजधानी अलोर अर्थात् प्राचीन रोरुक नगर थी।

पारस्कर (६।१।१४७)—ऋकतंत्र में पारस्कर पर्वत का नाम है (४।५।१०)। किंतु पतंजलि ने पारस्कर को एक देश का नाम कहा है (पारस्करो देशः, ६।१।१५७) यह सिंध का पूर्वी जिला थर-पारकर जान पड़ता है। थर रेगिस्तानवाची थल का सिंधी रूप है। कच्छ के इरिण या रन्न प्रदेश के उत्तर का समस्त भूभाग पारकर देश था।

कच्छ (४।२।१३३)—सिंध के ठीक दक्षिण में कच्छ जनपद है। पाणिनि ने कच्छी मनुष्यों को काच्छक कहा है और वहाँ के लोगों की कुछ विशेषताओं का भी सूत्र में संकेत किया है (मनुष्यतत्स्थयोर्वुञ् ४।२।१३४)। काशिका में इसके तीन उदाहरण हैं—(१) काच्छकं हसितम् (कच्छवालों के हँसने का ढंग): (२) काच्छकं जल्पितम् (कच्छवालों के बोलने का ढंग) (३) काच्छिका चूड़ा (कच्छवालों के सिर की झुटैया का ढंग)।

कच्छी बोली में वाक्य के अंतिम भाग को कुछ तरल या प्रवाहित करके बोलते हैं। कच्छ देश में लोहाने क्षत्रिय प्रसिद्ध हैं। पाणिनि ने नडादिगण में नाडायन चारायण की भाँति लोह से लौहायन अपत्य अर्थ में सिद्ध किया है। ज्ञात होता है कि ये लौहायन लोहाने ही हैं। इसी गणपाठ में सौवीर के मिमत गोत्र और उनके अपत्य मैमतायन का भी उल्लेख है। लोहाने लोग अभी तक अपने सिर के बालों का अगला आधा भाग मुँडा हुआ रखते हैं, यही काच्छिका चूड़ा की विशेषता हो सकती है। काशिका ने इसी सूत्र के प्रत्युदाहरण में कच्छी बैलों (काच्छः गौः) का भी उल्लेख किया है। इस नस्ल के पतले सींगों वाले नाटे चंचल बैल अभी तक प्रसिद्ध हैं।

एक दूसरे सूत्र में पाणिनि ने कच्छांत देशवाची नामों का उल्लेख किया है (कच्छाग्निवक्त्रगर्तोत्तरपदात् ४।२।१२६)। इसके उदाहरण में काशिका ने पुराने भौगोलिक नामों का एक जोड़ा दारुकच्छ और पिप्पलीकच्छ दिया है। दारुकच्छ काठियावाड़ (दारु = काष्ठ) के समुद्र-तट का प्रदेश और पिप्पलीकच्छ रेवा काँठे

का सूरत से बड़ोदा तक का किनारा था जिसमें पीपला रियासत है, और ठीक समुद्र तट पर भृगुकच्छ (वर्तमान भड़ोंच) है। खंभात की खाड़ी के मस्तक पर साबरमती (श्वभ्रमती) की धारा समुद्र में मिली है, उसकी दाहिनी ओर का समुद्रतट दारुकच्छ और बाईं ओर का पिप्पलीकच्छ कहलाता था।

सूत्र ४।२।१२६ पर अग्नि उत्तरपद वाले दो नाम कांडाग्नि और विभुजाग्नि काशिका में आए हैं। विभुजाग्नि कच्छ प्रदेश का भुज ज्ञात होता है और कांडाग्नि कंडाला बंदरगाह के उत्तर-पूरब में तपता हुआ रेगिस्तान। ये दो नाम क्रमशः कच्छ के छोटे रन्न और बड़े रन्न (इरिण) ही हो सकते हैं।

केकय (७।३।२)—केकय जनपद वर्तमान झेलम, शाहपुर और गुजरात प्रदेश का पुराना नाम था, जिसमें इस समय खिउड़ा की नमक की पहाड़ी है। केकय जनपद राजाधीन था। वहाँ के निवासी (क्षत्रिय गोत्रापत्य) कैकेय कहलाते थे। भर्गादि गण में भी केकय का पाठ है।

मद्र (४।२।१३१)—मद्र जनपद प्राचीन वाहीक का उत्तरी भाग था। इसकी राजधानी शाकल (वर्तमान स्यालकोट) थी जो आपगा (वर्तमान अयक) नदी पर स्थित है। यह छोटी नदी जम्मू की पहाड़ियों से निकलकर स्यालकोट के पास से होती हुई वर्षा ऋतु में चनाब से मिलती है (कनिंघम, प्राचीन भारतीय भूगोल, पृष्ठ २१२)। पतंजलि ने वाहीक ग्रामों में शाकल का नाम लिया है (४।२।१०४, वा० ३ पर भाष्य, शाकलं नाम वाहीक ग्रामः; काशिका ४।२।११७)। पाणिनि ने वाहीक को स्थान-नाम माना है, पर उसकी व्युत्पत्ति नहीं दी। कात्यायन ने बहिर् शब्द से ईकक् प्रत्यय जोड़कर बाहीक की सिद्धि की है। महाभारत द्रोण-पर्व में बहि और हीक नाम के पिशाचों (यक्षों) को यहाँ का स्थानीय देवता मानकर इस नाम की जो व्युत्पत्ति सुझाई गई है वह कभी लोक में प्रसिद्ध रही होगी। पाणिनि के समय में मद्र जनपद के दो भाग थे—पूर्वमद्र और अपरमद्र (दिशोऽमद्राणाम्, ७।३।१३, ४।२।१०८)। मानचित्र देखने से पूर्वमद्र रावी से चनाब तक और पच्छिमी मद्र चनाब से झेलम तक का प्रदेश होना चाहिए। शाकल या स्यालकोट पूर्वी मद्र में ही पड़ता है।

उशीनर (४।२।११७-११८)—पाणिनि के अनुसार उशीनर वाहीक का जनपद था (विभाषोशीनरेषु—उशीनरेषु ये वाहीक ग्रामाः, काशिका)। काशिका ने उशीनर के सुदर्शन और आह्वजाल नामक शहरों के नाम दिए हैं। पाणिनि ने उशीनर जनपद में उन स्थानों का उल्लेख किया है जिनके अंत में कंथा शब्द आता था, जैसे सौशमिकंथ और आह्वरकंथ। कंथा शक भाषा का शब्द था, जिसका अर्थ था नगर। महाभारत में शिवि को उशीनर का राजा कहा गया है (राजानमौशीनरं शिबिम्, वन० १९४।२; द्रोण २८।१)। शिबि की राजधानी शिबिपुर थी जिसकी पहिचान वर्तमान शोरकोट (झंग जिले की एक तहसील) से की जाती है। वहाँ

विस्तृत प्राचीन अवशेष हैं। ऐसा ज्ञात होता है कि रावी और चनाब के बीच का निचला भूभाग जो मद्र के दक्षिण में था उशीनर प्रदेश कहलाता था। वह भी दो भागों में बटा था, आजकल के झंग मघियाना वाला उत्तरी हिस्सा उशीनर जनपद था और दक्षिण में शोरकोट के चारों ओर के इलाके का नाम शिबि जनपद होना चाहिए। 'शिबीनां विषयो देश शैबः' यही था (४।२।५२)। राजनैति दृष्टि से कभी उशीनर तगड़े होते और कभी शिबि। दोनों का निकट का संबंध रहता था। आईन-अकबरी में इस सारे इलाके को शोर कहा गया है जो शिबिपुर के अधिक निकट है।

'पानं देशे' (८।४।९) के उदाहरण में उशीनर जनपद के भोजन में दूध-दही का विशेष प्रयोग कहा गया है। उशीनर जनपद गायों से भरा-पुरा देश था। उशीनर की अद्भुत गो-समृद्धि का परिचय द्रोणपर्व के इस वर्णन से मिलता है—'मेह की जितनी धाराएँ हैं, आकाश में जितने तारे हैं, गंगा में जितने बालू के कण हैं, मेरु पर जितने ढोके हैं, समुद्र में जितने रत्न और जीव हैं, औशीनर शिबि ने यज्ञ में उतनी गायों का दान किया।'[1]

पाणिनि ने शिबि का नामोल्लेख नहीं किया। ज्ञात होता है पीछे उशीनर के बदले शिबि जनपद का नाम प्रसिद्ध हो गया। भाष्य में शिबि, गांधारि और वसाति के समान ही एक जनपद की संज्ञा है (४।२।५२ गांधार्यादिभ्यो वा, वा० २)।

अंबष्ठ—पाणिनि ने ८।२।९७ सूत्र में अंबष्ठ और आंबष्ठ इन दो नामों की अलग अलग सिद्धि की है। पतंजलि के अनुसार अंबष्ठ एक नाम था जो ४।१।१७१ सूत्र में अभिप्रेत है (भाष्य ४।१।१७०)। यह जनपद राजाधीन था और इसके निवासी आंबष्ठ्य कहलाते थे। महाभारत के अनुसार अंबष्ठ कौरवों की ओर से लड़े थे। उनकी गिनती औदीच्यों में की गई है। अंबष्ठों की पहिचान यूनानी लेखकों के 'संबस्तइ' (Sambastai) या 'अबस्तनोइ' से की जाती है। ये अत्यंत वीर थे और चनाब नदी के निचले भाग में बसे हुए थे।

त्रिगर्त—पाणिनि ने त्रिगर्त देश के आयुधजीवी संघों का उल्लेख किया है। रावी, व्यास और सतलज, इन तीन नदी-दूनों के बीच का प्रदेश त्रिगर्त कहलाता था। इसी का पुराना नाम जालंधरायण भी था जिसका राजन्यादिगण (४।२।५३)

१—यावत्यो वर्षतो धारा यावत्यो दिवि तारकाः।
यावत्यः सिकता गाङ्ग्यो यावन्मेरोर्महीथलाः॥
उदन्वति च यावन्ति रत्नानि प्राणिनोऽपि च।
तावतीरददद् गावो शिबिरौशीनरोऽध्वरे॥
(द्रोण० ५७।३-७)

में उल्लेख हुआ है। अब भी त्रिगर्त काँगड़ा का प्रदेश जालंधर कहलाता है। रावी और व्यास के सँकरे नाके में होकर त्रिगर्त का रास्ता था और आज भी है। गुरु-दासपुर-पठानकोट यहीं है, जहाँ से औदुंबर गणराज्य के सिक्के मिले हैं। इस प्रदेश का चालू नाम काँगड़ा हो गया है। यहाँ सदा से छोटी-छोटी रियासतें रही हैं। महाभारत में त्रिगर्त के संसप्तक योद्धा दुर्योधन की ओर से अपनी जान पर खेल-कर लड़े थे। पाणिनि ने त्रिगर्त के छः संघ राज्यों का उल्लेख किया है जो सब आयुध-जीवी थे (५।३।११६)। काशिका में इनके नाम ये हैं—कौंडोपरथ, दांडकि, क्रौष्टकि, जालमानि, ब्राह्मगुप्त और जानकि।

अर्जुन की उत्तर-पश्चिमी दिग्विजय के सिलसिले में महाभारतकार ने भी त्रिगर्त और कुलूत (मूल पाठ उलूक) पहाड़ियों में बसे हुए गणों और रजवाड़ों का उल्लेख किया है (सभापर्व २७।५–१६)। कुलूत (कुल्लू) की राजधानी नगर थी। संभव है कच्छादिगण (४।२।९) में पढ़ा हुआ नगर यही हो। कुलूत के उत्तर में चंद्रभागा की दून का प्रदेश प्राचीन चंपा (आधुनिक चंबा) है। गणपाठ में चंपा का नाम मिलता है (४।२।८२) किंतु उसकी प्राचीनता संदिग्ध है। कुलूत के दक्षिण मंडी और सुकेत की रियासतें हैं। यवादिगण (८।२।९) में मंडमती नामक देशवाची शब्द आया है। संभव है उसका संबंध मंडी से हो। सुकेत प्राचीन सुकुट्ट ज्ञात होता है जिसका उल्लेख सभापर्व में कुलिंदों के साथ किया गया है।

सतलज के दक्षिण टोंस नदी तक का प्रदेश प्राचीन समय में कुलिंद कह-लाता था। पाणिनि ने दो गणों में कुलुन का उल्लेख किया है (सिंध्वादि ४।३।९३; कच्छादि ४।२।११३)। कुलिंद, कुलुन और कुणिंद एक ही नाम के रूपांतर हैं, जिन्हें तोलेमी ने कुलिंद्रीन (Kulindrine) कहा है।

कलकूट (४।१।१७३)—सभापर्व के अनुसार कालकूट (पाणिनीय कलकूट) कुलिंद प्रदेश में था (२६।३।४)। जब अर्जुन, भीम और कृष्ण जरासंध को जीतने के लिये गुप्त रूप से निकले तो यद्यपि उन्हें कुरु जनपद से पूरब जाना था, तथापि वे पहले पच्छिम कुरुजांगल (वर्तमान रोहतक हिसार) की ओर गए। वहाँ से उत्तर की ओर कुरुक्षेत्र में पद्मसर[1] की तरफ मुड़े, और आगे कालकूट जनपद पार करके तराई के साथ सटे हुए मार्ग से सरयू और गंडक नदियाँ पार करते हुए मिथिला में जा पहुँचे; फिर वहाँ से नीचे गंगा पार कर एकदम गोरथगिरि और राजगृह पर जा धमके (सभा० २०।२४-३०)। इस मार्ग में कालकूट ठीक टोंस (तमसा) और यमुना के प्रदेश (देहरादून, कालसी) में पड़ता है। यह यमुना

१—कुरुक्षेत्र से ११२ मील और कौलग्राम से २ मील पच्छिम में अभी तक पद्मसर नामक सरोवर प्रसिद्ध तीर्थ है।

की ऊपरली धारा का यामुन प्रदेश था। अथर्ववेद में हिमालय पर उत्पन्न होनेवाले यामुन अंजन का उल्लेख है (अथर्व ४।९।१०)। अंजन के कारण यामुन पर्वत का नाम कालकूट या काला पहाड़ होना स्वाभाविक था।

भारद्वाज (कृकणपर्णाद्भारद्वाजे ४।२।१४५)—काशिका ने निश्चित रूप से इस सूत्र में भारद्वाज को देशवाची माना है, गोत्रवाची नहीं। पाणिनि ने भारद्वाजों की शाखा आत्रेय कही है (अश्वादिगण, आत्रेय भारद्वाजे, ४।१।११०)। मार्कंडेय पुराण की जनपद-सूची में भी आत्रेय और भारद्वाज साथ-साथ पढ़े गए हैं (अध्याय ५७)। पारजीटर ने भारद्वाज देश की पहचान गढ़वाल प्रदेश से की है (मार्कंडेय पुराण का अंग्रेजी अनुवाद, पृष्ठ ३२०)।

रंकु (४।२।१००)—पाणिनि के अनुसार रंकु देश का मनुष्य रांकवक और वहाँ की अन्य वस्तुएँ रांकव या रांकवायण कही जाती थीं। काशिका ने रंकु जनपद के रांकव कंबल और रांकवायण बैल का उल्लेख किया है। रंकु जनपद की पहचान निश्चित नहीं। संभवतः यह अलकनंदा और पिंडर के पूर्व का प्रदेश था जहाँ मल्ला-जुहार और मल्लादानपुर की भाषा रंका कहलाती है, (ग्रियर्सन, भारतीय भाषा पर्यवेक्षण, खंड ३, भाग १, पृष्ठ ४७९; मोतीचंद्र, भारतीय वेषभूषा, भारतीय विद्या, भाग १, पृष्ठ ४६)।

कुरु जनपद (४।१।१७२)—जैसा ऊपर कहा जा चुका है, कुरु राष्ट्र, कुरुक्षेत्र और कुरुजांगल—ये तीन इलाके एक दूसरे से सटे हुए थे। थानेश्वर-हस्तिनापुर-हिसार अथवा सरस्वती-यमुना-गंगा के बीच का प्रदेश इन तीन भौगोलिक भागों में बँटा हुआ था। गंगा-यमुना के बीच में लगभग मेरठ कमिश्नरी का इलाका असली कुरुराष्ट्र था। इसकी राजधानी हस्तिनापुर थी। पाणिनि ने इसे हास्तिनपुर कहा है (६।२।१०१), जैसा कि महाभारत में भी मिलता है—('नगरात् हास्तिनपुरात्' पूना संस्करण, पर्वसंग्रह पर्व श्लोक १४९)। पाणिनि ने विशेष रूप से 'कुरु गार्हपतम्' रूप की सिद्धि की है (६।२।४२)। इस विशेष शब्द का अर्थ कुरु जनपद का वह धार्मिक और नैतिक दृष्टिकोण था जिसके अनुसार गृहस्थ-जीवन में रहते हुए लोग सदाचार और धर्म का पूरा पालन करते थे। इस दार्शनिक दृष्टिकोण का परिचय कुरुधम्म जातक (जा० ३।२७६) के शीलधर्म में और गीता के कर्मप्रधान नीति-धर्म में प्राप्त होता है, जो दोनों कुरु जनपद के साथ संबंधित हैं। जातक में इसे ही कुरुवत्त धम्म कहा गया है।

साल्व (४।१।१७३)—पाणिनि ने अष्टाध्यायी में साल्व (४।२।१३५), साल्वेय (४।१।१६९) और साल्वावयव (४।१।१७३)—इन तीनों को अलग-अलग जनपद कहा है, जो राजाधीन थे। इनमें साल्व मूल राज्य था। साल्वेय साल्वों की कोई शाखा थी। साल्वेय का ही दूसरा नाम साल्वपुत्र था। साल्वावयव इधर-उधर छिटके हुए उन छोटे-मोटे रजवाड़ों का समूह था जिनकी स्थापना साल्वों में से ही कुछ

लोगों ने छिटपुट रूप से कर ली थी। ये राज्य पंजाब के मध्य भाग और उत्तर-पूर्व में बिखरे हुए थे और भौगोलिक दृष्टि से एक दूसरे के साथ सटे हुए न थे।

साल्व जनपद कहाँ था, इसकी ठीक पहचान प्राचीन भारतीय भूगोल का अनिश्चित पर महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। गोपथ ब्राह्मण (१।२।९) में साल्व और मत्स्य—इन दो जनपदों का जुड़वाँ उल्लेख है जिससे इन्हें पड़ोसी मानना होगा। महाभारत में भी साल्व, माद्रेय और जांगल—इनका एक साथ नाम लिया गया है (भीष्मपर्व १०।३) जिससे इतना संकेत अवश्य मिलता है कि साल्वों की स्थिति उत्तरी राजस्थान और दक्षिणी पंजाब में कहीं थी। ऊपर के पाँच नामों में मत्स्य का ठिकाना एकदम पक्का है। उसकी राजधानी विराट थी जो जयपुर में वर्तमान बैराट स्थान है। जांगल से तात्पर्य कुरुजांगल से था जिसके अंतर्गत दक्षिण पूर्वी पंजाब में हाँसी-हिसार-सिरसा का बड़ा इलाका था। मत्स्य और जांगल इन दो जनपदों की भूमि को यदि छोड़ दें तो साल्व की पहचान के लिये अलवर से उत्तरी बीकानेर तक का फैला हुआ प्रदेश बच रहता है। वस्तुतः यही प्रदेश प्राचीन साल्व ज्ञात होता है। इसी का वह भाग जो साल्वेय या साल्वपुत्र कहलाता था, अलवर के आसपास होना चाहिए। संभवतः अलवर में उस नाम का कुछ अंश सुरक्षित रह गया है। महाभारत से भी ज्ञात होता है कि साल्वेयक और मत्स्य दोनों पड़ोसी थे, जिनकी सेनाओं ने त्रिगर्त के राजा सुशर्मा से एक साथ मिलकर लोहा लिया था (विराट पर्व, २९।२)। उद्योगपर्व में पांडवों द्वारा जिनके पास दूत भेजना निश्चित किया गया वे साल्वपुत्र (उद्योगपर्व, ४।२४) और साल्वेयक एक ही हैं।

साल्व कोई अत्यंत प्राचीन जाति थी। उसका प्राचीनतम इतिहास अंधकारमय है। महाभारत में साल्वों के राजा शाल्व की राजधानी सौभनगरी के वर्णन में स्थापत्य और वास्तु का अद्भुत उल्लेख मिलता है। सोभनगर का संबंध माया से समझा जाता है। कुछ ऐसा आभास होता है कि इनका मूल संबंध ईरान के असुरों से था। वहाँ से दक्षिणी बलूचिस्तान और सिंध के मार्ग से ये लोग इस देश में आए। वहाँ इनके नाम पर सिंध बलूचिस्तान की सीमा पर स्थित पर्वत का नाम साल्वका गिरि हुआ होगा। उसी का वर्तमान रूप हाला पर्वत है। सिंध प्रदेश में सिंधु नद के तटवर्ती मार्ग से उत्तर की ओर बढ़ते हुए राजस्थान में सरस्वती के किनारे किनारे आगे बढ़कर अंत में उत्तरी बीकानेर में साल्व लोग बस गए। वहाँ से उनके अभियान पूर्व में यमुना तक और पंजाब में पठानकोट-काँगड़ा तक होते रहे। यमुना के अभियान की अनुश्रुति एक प्राचीन गाथा में बची रह गई है—

> यौगन्धरिरेव नो राजा इति साल्वीरवादिषुः।
> विवृत्तचक्रा आसीनास्तीरेण यमुने तव ॥[१]

१—प्रशिलुस्की (Przyluski), 'पंजाब की एक प्राचीन जाति—साल्व', जूर्नल आजियातीक, १९२९, पृ० ३११–३५४ (पृ० ३१४)।

'यमुना के किनारे बैठी साल्वी स्त्रियाँ चर्खा चलाती हुई कहती थीं कि हमारा राजा यौगंधरि है।'

यौगंधरि साल्वावयवों में से एक राज्य था। जिन दूसरे साल्वावयवों का उल्लेख है वे पंजाब में त्रिगर्त तक अपनी टुकड़ियों से भूमि के खंड चाँपते हुए बस गए थे। मूल साल्व जनपद से दूर हो जाने पर भी राजनैतिक दृष्टि से वे अपने आपको साल्वों का ही एक अंश मानते थे। इसी-जैसी व्यवस्था के लिये लोक में साल्वावयव नाम पाणिनि काल में प्रचलित हो गया था।

साल्वावयव—काशिका में उद्धृत एक प्राचीन श्लोक के अनुसार साल्वावयव राजतंत्र के अंतर्गत छः रजवाड़े थे—(१) उदुंबर, (२) तिलखल, (३) मद्रकार, (४) युगंधर, (५) भूलिंग, (६) शरदंड। पतंजलि के महाभाष्य (४।१।१७०) में साल्वावयवों के तीन नाम इस सूची से पृथक् मिलते हैं—अजमीढ, अजक्रंद, बोध। इन नामों की पहचान क्रमशः इस प्रकार है—

उदुंबर—उदुंबरों का उल्लेख पाणिनि के राजन्यादि गण (४।३।५३) में आया है। उदुंबरों के पुराने सिक्के काँगड़ा (प्राचीन त्रिगर्त) देश में व्यास और रावी नदियों के बीच में पाए गए हैं। काँगड़ा के मुहारे पर पठानकोट नगर में भी उदुंबर मुद्राएँ बहुतायत से मिली हैं (ऐलन, प्राचीन भारत की मुद्राएँ, प्रस्तावना, पृ० ८७)। इस पुरातत्त्वगत प्रमाण से उदुंबरों का प्रदेश निश्चित हो जाता है। व्यास के उत्तर और रावी के दक्षिण की सँकरी घाटी में होकर त्रिगर्त के प्रवेश-द्वार (वर्तमान गुरदासपुर) में उदुंबरों का राज्य था। पतंजलि ने उदुंबरावती नदी का उल्लेख किया है (४।२।७१) वह इसी प्रदेश की कोई छोटी नदी होनी चाहिए जिसके तट पर उदुंबरों की राजधानी रही होगी।

तिलखल—उदुंबर भूभाग के मानचित्र पर दृष्टि डालने से व्यास नदी के दक्षिण के प्रदेश (जिला होशियारपुर) में, जहाँ आज भी तिलों की खेती का प्रधान क्षेत्र है, तिलखल राज्य का स्थान ज्ञात होता है। व्याकरण का तिलखल और महाभारत का तिलभार[1] दोनों एक ही प्रतीत होते हैं। तिलखल का अर्थ हुआ तिलों से भरे हुए खलिहानों का देश और तिलभार का अर्थ भी उससे मिलता है, अर्थात् जहाँ तिलों के बोझ खलियान से घर लाए जाँय।

मद्रकार—मद्रकार में 'कार' शब्द प्राचीन ईरानी भाषा का है जिसका अर्थ 'सेना' था (प्रशिलुस्की का मत)। मद्रकार का अर्थ हुआ मद्रों के सैनिकों द्वारा प्रतिष्ठापित राज्य। इसकी पृष्ठभूमि यों समझनी चाहिए। मद्र राजकुमारी सावित्री और साल्व राजकुमार सत्यवान् के विवाह द्वारा मद्रों और साल्वों का घनिष्ठ संबंध

१—महाभारत, साधारण संस्करण, भीष्मपर्व १०।५१; पूना संस्करण में तिलकाः और तिलभाराः, ये दोनों पाठ हैं।

संपन्न हुआ था (वनपर्व २७९।१५)। ज्ञात होता है इस विवाह के फलस्वरूप तीन छोटे छोटे राज्य अस्तित्व में आए –(१) सावित्रीपुत्रकाः, (२) मद्रकाराः, (३) शाल्वसेनयः। सावित्रीपुत्रकों का उल्लेख महाभारत (वनपर्व २८३।१२; कर्णपर्व ४।४७) और अष्टाध्यायी (दामन्यादि सूत्र, गणपाठ ५।३।११६) दोनों में आया है। सावित्री और सत्यवान् के पुत्र-पौत्रों के जो कुटुंब फैले उनका यह नाम पड़ा। 'पुत्र' शब्द यहाँ 'ख्यात' या 'कबीले' का वाचक है, जैसा पंजाब के अरोड़े खत्रियों में केहरपोत्रे, चननपोत्रे आदि जाति नामों में अभी तक देखा जाता है; अथवा प्राचीन शाक्यपुत्र आदि नामों में था। मद्रकार मद्रों की सेना का छोटा राज्य था। वैसे ही शाल्वसेनयः (साल्वों की सेना, भीष्म पर्व १०।५९) साल्वों के सैनिकों का वसाया हुआ राज्य होना चाहिए। विवाह के समय सावित्री और सत्यवान् राज्य से निर्वासित थे। विवाह हो जाने पर मद्र और साल्व दोनों ने अपनी सैनिक टुकड़ियाँ उनकी सहायतार्थ अर्पित कीं। यही मद्रकार और शाल्वसेनि नामक दो छोटे साल्वावयवों का मूलारंभ विदित होता है।

अष्टाध्यायी में मद्र और भद्र दोनों पर्यायवाची शब्द हैं (२।३।७३; ५।४।६७)। मद्रकार का ही दूसरा नाम भद्रकार ज्ञात होता है। संभव है घग्घर के तट पर बीकानेर के उत्तर-पूर्वी कोने में स्थित भद्र नामक स्थाय मद्रकारों की प्राचीन राजधानी रही हो।

युगंधर—यमुना के तट पर चर्खा कातती हुई साल्वी स्त्रियों के कथानुसार उनका राजा यौगंधरि था। इससे सूचित होता है कि युगंधर कहीं यमुना का तटवर्ती था। यह राज्य संभवतः अंबाला जिले में सरस्वती से यमुना तक फैला हुआ था। देहरादून जिले में कालसी के पास जगत ग्राम में प्राप्त लेख से ज्ञात होता है कि वह इलाका युग शैल देश (युग नाम का पहाड़ी प्रदेश) कहलाता था (युगेश्वरस्याश्वमेधे युगशैलमहीपतेः। इष्टका वार्षगण्यस्य नृपतेश्शीलवर्मणः ॥)।

भूलिंग—तोलेमी ने लिखा है कि आरावली के उत्तर-पच्छिम में बोलिंगाई (Bolingae) जाति रहती थी। इनकी पहचान भूलिंगों से हो सकती है।

शरदंड—वाल्मीकि रामायण (अयोध्या कांड ६८।१६) में लिखा है कि अयोध्या से केकय के मार्ग पर जाते हुए कहीं शरदंडा नदी पार करनी पड़ती थी। उसी शरदंडा के तट पर सन्निविष्ट होने के कारण साल्वों के एक अवयव का नाम शरदंड पड़ा होगा। शरदंडा नदी की निश्चित पहचान नहीं हुई। संभव है यह शरावती का ही दूसरा नाम हो, क्योंकि दोनों नामों में शर पूर्वपद आता है, जो सूचित करता है कि इनके किनारे सरपत का घना जंगल था। शरावती नदी प्राच्य और उदीच्य देशों के बीच की सीमा मानी गई थी। इस आधार पर अनुमान होता है कि शरावती वही कुरुक्षेत्र की नदी थी जिसे दृषद्वती भी कहा गया है। आजकल इसका नाम चितांग है।

पतंजलि ने साल्वों के अवयव-राज्यों का उल्लेख करते हुए अजमीढ, अजक्रंद और बोध का नाम लिया है। पहले दो नामों का 'अज' पूर्वपद अज नामक असुर का संकेत करता है। असुर अजक एक स्थानीय देवता था। साल्व लोग अपने राजा साल्व को भी उसी का अवतार मानते थे (आदिपर्व ६१।१७, सामान्य संस्करण)।

बोधों का इलाका भीष्मपर्व के अनुसार (१०।३७-३८) कुलिंग, साल्व और माद्रेयों के सान्निध्य में था। पतंजलि ने एक जगह उदुंबर और बोध का साथ-साथ उल्लेख करते हुए उनके पारस्परिक संबंध का संकेत किया है (२।४।५८)।

पाणिनि के अनुसार साल्व जनपद की तीन विशेषताएँ थीं--एक तो यहाँ के पैदल सैनिक प्रसिद्ध थे जो साल्व पदाति कहलाते थे (अपदातौ साल्वात्, ४।१।१३५)। दूसरे, साल्व जनपद के बैल ऐसे नामी थे कि उनके लिये भाषा में एक विशेष शब्द (साल्वक गौ) ही चल गया था। तीसरे, इस जनपद में लप्सी खाने का रिवाज था जो साल्विका यवागू कहलाती थी। जयपुर-बीकानेर के लोगों में आज भी लप्सी प्रिय भोजन है जो राबड़ी कहलाती है।

प्रत्यग्रथ (४।१।१७३)—महाभारत में यह नाम नहीं मिलता और पाणिनि में पंचाल नाम नहीं है। मध्यकालीन कोशों के अनुसार पंचाल का ही दूसरा नाम प्रत्यग्रथ था, जिसकी राजधानी अहिच्छत्रा थी (वैजयंती, पृष्ठ २१४; हेमचंद्र, अभिधान चिंतामणि ४।२६, प्रत्यग्रथास्त्वहिछत्राः साल्वास्तु कारकुक्षीयाः)। प्रत्यग्रथ जनपद में बहनेवाली नदी रथस्था (वर्तमान रामगंगा) थी (६।१।१५७) जिसका ऊपर उल्लेख हो चुका है।

अजाद (४।१।१७१)—इस जनपद का नाम केवल अष्टाध्यायी में मिलता है। नाम से ज्ञात होता है कि यह प्रदेश बकरियों के लिये प्रसिद्ध रहा होगा। इटावा का प्रदेश आज तक जमनापारी बकरियों की नसल के लिये प्रसिद्ध है। संभव है यही अजाद हो।

कोसल (४।१।१७१) यह राजाधीन जनपद बुद्धकालीन षोडश महाजनपदों में गिना जाता था। पाणिनि ने उससे संबंधित सरयू और इक्ष्वाकु का भी उल्लेख किया है (६।४।१७४)।

काशि (४।१।११६)--पाणिनि ने स्थान-नामों में काशि का उल्लेख किया है। जनपद का नाम काशि था; वाराणसी उसकी राजधानी थी। अष्टाध्यायी से यह नहीं ज्ञात होता कि कोसल की भाँति काशि भी स्वतंत्र जनपद था। मगध और कोसल में से किसी एक के साथ काशि जनपद बिंबिसार और अजातशत्रु के समय में मिला हुआ था। पाणिनि के समय उसका स्वतंत्र राजाधीन अस्तित्व नहीं ज्ञात होता।

वृजि (४।२।१३१)—बिहार प्रांत में गंगा के उत्तर का प्रदेश वृजि कहलाता था, जहाँ विदेह लिच्छवियों का राज्य था।

मगध (४।१।१७०)—गंगा के दक्षिण का प्रदेश मगध जनपद था जहाँ राजतंत्र शासन था।

कलिंग (४।१।१७०)—कलिंग पाणिनि के समय में जनपद राज्य था, किंतु सोलह महाजनपदों की सूची में उसकी गिनती नहीं है।

सूरमस (४।१।१७०)—यह नाम केवल अष्टाध्यायी में आया है। ज्ञात होता है कि असम प्रांत में प्रसिद्ध सूरमा नदी की दून और पर्वत-उपत्यका का प्राचीन नाम सूरमस था।

अवंति (४।१।१७६) - यह मध्यभारत का प्रसिद्ध जनपद था जिसकी राजधानी उज्जयिनी थी (गणपाठ ४।२।८२; ४।२।१२७)।

कुंति (४।१।१७६)—भाष्य के अनुसार सूत्र ४।१।१७१ के इकारांत एकराज जनपदों में कुंति और अवंति की भी गणना थी। महाभारत के अनुसार कुंति अवंति जनपद का पड़ौसी था। उस राज्य में से अश्व नदी बहती थी जो संभवतः चंबल की शाखा कुमारी नदी थी (वनपर्व ३०८।७; बृहत्संहिता १०।१५)। सहदेव ने अपनी दक्षिण की दिग्विजय में कुंति देश को जीता था। यमुना और चंबल के काँठे में प्राचीन कुंति राष्ट्र (वर्तमान ग्वालियर राज्य) था जो अब भी कोंतवार कहलाता है। पाणिनि ने कुंति-सुराष्ट्र, चिंति-सुराष्ट्र और अवंति-अश्मक—इन पाँच जनपदों के नाम लोकप्रसिद्ध भौगोलिक जोड़ों के रूप में लिखे हैं जो मध्यभारत और पच्छिमी भारत में थे (कार्तकौजपादिगण ६।२।३७)। ये पाँचों जनपद विस्तार की दृष्टि से काफी बड़े थे। अभी तक चंबल से टोंस तक का प्रदेश बुंदेलखंड की भौगोलिक इकाई के रूप में प्रसिद्ध रहा है। चंबल के पश्चिम में किसी समय मही काँठे से आगे तक सुराष्ट्र की सीमा लगती थी।

उन जनपदीय नामों के जोड़े जो भौगोलिक दृष्टि से पास-पास न हों, किसी विशेष कारण के बिना भाषा में नहीं बनते। कुंति और सुराष्ट्र जनपद एक दूसरे से दूर होते हुए भी क्यों एक साथ बोले जाने लगे? विचार करने पर कुंति-सुराष्ट्र और चिंति-सुराष्ट्र—इस गठबंधन का कारण राजनैतिक ज्ञात होता है। कुंति या कोंतवार जनपद का अधिपति महाभारत युग में दंतवक्र था और सुराष्ट्र में कृष्ण-प्रमुख यादवों का राज्य था। कृष्ण-दंतवक्र युद्ध के बाद कुंति जनपद भी सुराष्ट्र के राजतंत्र के साथ बँध गया। तभी कृष्ण के अनुगत नारायण गोपाल इस प्रदेश में आ बसे जिससे आज भी यह इलाका ग्वालियर (गोपाल गिरि) कहलाता है। इसी घटना के बाद लोकभाषा में जनपद-नामों का कुंति-सुराष्ट्र जोड़ा प्रसिद्ध हुआ। इसी प्रकार चिंति या चेदि के शिशुपाल की भी कृष्ण से भिड़ंत हुई थी और उसके अनंतर ही चिंति-सुराष्ट्र संज्ञा चालू हुई होगी। पाणिनि के समय तक भाषा में कुंति-सुराष्ट्र और चिंति-सुराष्ट्र, ये दो प्राचीन भौगोलिक सूत्र लोकभाषा के अंग बन चुके थे।

अश्मक (४।१।१७३)—अश्मक जनपद की राजधानी अन्य ग्रंथों के अनुसार प्रतिष्ठान (गोदावरी के किनारे आधुनिक पैठण) थी। इससे गोदावरी के दक्षिण सह्याद्रि पर्वत-शृंखला तक अश्मक जनपद का विस्तार ज्ञात होता है।

भौरिकि—पाणिनि ने सूत्र ४।२।५४ में भौरिकि लोगों के देश भौरिकिभक्त का नामोल्लेख किया है।[1] वैजयंती कोश (पृष्ठ ३७) के अनुसार बंगाल का समतट (दक्षिणी बंगाल) प्रदेश भौरिक कहलाता था। समुद्रगुप्त के प्रयाग के स्तंभलेख में भी समतट नाम आया है। यदि भौरिकि की समतट के साथ पहचान ठीक हो तो मानना पड़ेगा कि ईसा से पाँच सौ वर्ष पूर्व ही गंगा-सागर के पास का यह इलाका भौगोलिक पर्यवेक्षण के अन्तर्गत आ चुका था।

इस प्रकार उत्तर में कंबोज, दक्षिण में अश्मक, पश्चिम में सौवीर और पूर्व में सूरमस—इन चार खूँटों के बीच का भूप्रदेश पाणिनि की भौगोलिक परिधि के अंतर्गत था। इतना स्पष्ट है कि पाणिनि का परिचय प्राच्य की अपेक्षा उदीच्य के भूगोल से अधिक घनिष्ठ था।

सूत्रों के अतिरिक्त कुछ और भी जनपदों के नाम गणपाठ में आए हैं। जैसे—

बर्बर (तक्षशिलादिगण, ४।३।९३)—सिंधु सागर संगम के समीप, जहाँ बर्बरिक नामक समुद्रपत्तन था।

कश्मीर (कच्छादि गण ४।२।१३३; सिंधवादिगण ४।३।९३)।

उरश (सिन्ध्वादिगण ४।३।६३; अर्वाचीन हजारा)—सिंधु और कृष्णगंगा-झेलम के बीच का प्रदेश जो पश्चिमी गंधार और अभिसार (वर्तमान पुंछ रजौरी) के मध्य में है।

दरद् (सिंध्वादिगण ४।३।९३)—उत्तर-पच्छिमी कश्मीर का गिलगित हुंजा प्रदेश।

गब्दिका (सिंध्वादिगण ४।३।६३)—पतंजलि ने गब्दिका को तत्कालीन आर्यावर्त के बाहर रक्खा है। धौलाधार से ऊपर चंबा राज्य में गद्दियों का गद्देरन प्रदेश प्राचीन गब्दिका ज्ञात होता है।

किष्किधा (सिंध्वादिगण ४।३।६३)—यह गोरखपुर के पास का प्राचीन खुखुंदो था। पतंजलि ने 'किष्किंध गब्दिकम्' दोनों को आर्यावर्त से बाहर रक्खा है।

पटच्चर (पलद्यादि गण ४।२।११०)—यह संभवतः सरस्वती के दक्षिण का प्रदेश (वर्तमान पाटोदी) था जहाँ लुटेरे आभीरगणों की बस्ती थी।

यकृल्लोम (पलद्यादिगण ४।२।११०)—शूरसेन जनपद के दक्षिण जालौन, उरई, कौंच और कालपी का प्रदेश। विराट पर्व में लिखा है कि पांडव लोग दशार्ण

१—भौरिकाः प्राग्देशावस्थिते नीवृद् समतटाह्वये।

(नानार्थार्णव संक्षेप भा० २, श्लो० १३१६)

के उत्तर, पंचाल के दक्षिण (यमुनातटस्थ इटावा के नीचे)[1] यकृल्लोम और शूरसेन के बीच में होते हुए मत्स्य जनपद के विराटनगर को गए[2]

सर्वसेन (शंडिकादिगण ४।३।९२)—६।२।३३ और ८।१।५ सूत्रों पर काशिका के उदाहरणों से ज्ञात होता है कि सर्वसेन एक सूखा प्रदेश था (परि परि सर्वसेनेभ्यो वृष्टो देवः)।

अध्याय २, परिच्छेद ५—नगर और ग्राम

जनपद की भौगोलिक इकाई के अंतर्गत मनुष्यों के रहने के स्थान नगर और ग्राम कहलाते थे। इनसे भी छोटे स्थानों को घोष (६।२।८५) और खेड़ों को खेट (२।२।१२६) कहा जाता था।

पाणिनि ने कहीं तो ग्राम और नगर में भेद माना है—जैसे प्रचां ग्राम-नगराणाम् (७।३।१४) सूत्र में, और कहीं ग्राम शब्द से नगर का भी ग्रहण किया है--जैसे वाहीक ग्राम (४।२।११७), उदीच्यग्राम (४।२।१०९) सूत्रों में। पतंजलि ने कहा है कि कितनी जनसंख्या होने से ग्राम और कितनी जनसंख्या से नगर कहलाते हैं, इस विषय में लोक का प्रमाण मानना चाहिए। वैयाकरण के लिये इसमें हुज्जत करना ठीक नहीं (ननु च भो य एव ग्रामस्तन्नगरम्। कथं ज्ञायते ? लोकतः। तत्रातिनिर्बन्धो न लाभः, ७।३।१४)। वस्तुतः स्थिति यह थी कि पूर्वी भारत में गाँव बहुत छोटे और नगर बड़े जन-सन्निवेश होते थे, उनका जनसंख्या कृत भेद सच्चा था, इसी से पाणिनि ने भी पूर्व देश में ग्राम और नगर को पृथक् माना। किंतु वाहीक या पंजाब में ग्राम बहुत समृद्ध जनकेंद्र थे। यूनानी भूगोल-लेखकों ने लिखा है कि उत्तर-पश्चिम प्रदेश और पंजाब में ५०० ऐसे "ग्राम" थे जिनकी आबादी पाँच से दस सहस्र के लगभग थी। स्वयं पाणिनि की गणसूची से इस बड़ी ग्राम-संख्या का समर्थन होता है। अतएव वाहीक देश में ग्राम और नगर का भेद बोलचाल में न रह गया था, वहाँ दस-दस सहस्र के नगर भी "ग्राम" ही कहलाते थे। यही वस्तु-स्थिति वाहीक ग्राम और उदीच्य ग्राम शब्दों से प्रकट होती है जहाँ ग्राम शब्द नगर और गाँव दोनों का बोध कराता है।

अवश्य ही पाणिनि ने इस प्रदेश की भौगोलिक छानबीन बड़े बिस्तार से की थी। इधर-उधर से कुछ मनचाहा बटोर लेने की आकस्मिक शैली से पाणिनीय सामग्री का जन्म नहीं माना जा सकता। उसके पीछे भौगोलिक सामग्री का पुष्कल ब्यौरेवार संग्रह अवश्य रहा होगा। यही स्वाभाविक पद्धति पाणिनीय सामग्री की

१—कालिंदीमभितो ययुः। (विराट ५।१)

२—उत्तरेण दशार्णास्ते पंचालान्दक्षिणेन च।
अन्तरेण यकृल्लोमाञ्शूरसेनांश्च पांडवाः॥ (विराट ५।४)

ठीक-ठीक व्याख्या करती है। इन स्थानों (गाँवों और नगरों) में रहनेवालों के ब्याह-बिरादरी, जात-पाँत और व्यापारिक लेनदेन के संबंध दूर दूर तक फैले हुए थे। वे लोग जीवन के विविध क्षेत्रों में एक दूसरे के साथ खूब गुँथ गए थे। स्थान नामों के आधार पर बने हुए उनके नामों की आवश्यकता भाषा में नित्य पड़ती थी। स्थान-नामों से बने हुए चातुरर्थिक शब्द नित्यप्रति की भाषा के आवश्यक अंग बने हुए थे। पाणिनि ने उसी शब्द-सामग्री का व्यवस्थित सूचीबद्ध संकलन किया था, अन्यथा तद्धित का यह चातुरर्थिक महाप्रकरण बन ही न पाता। उस समय के स्थान नाम वर्तमान लोकभाषा से बिल्कुल तो मिट न गए होंगे, वे परिवर्तित रूपों में आजकल के स्थान-नामों में बचे पड़े होने चाहिएँ। इसी आधार पर पाणिनीय सामग्री की पहचान आगे बढ़ाई जा सकती है। आचार्य के लिये छोटा या बड़ा कोई भी जनपद व्याकरण की दृष्टि से छोड़ने योग्य न था। यही बात जनपदों में बसी हुई जाति और उपजातियों के विषय में भी ठीक थी। वे जातियाँ और उनके अल्ल आज भी लोक में और भाषा में हिले-मिले पाए जायँगे। जातियों, उनके नामों और उनके निकास (अभिजन) और निवास की अनुश्रुति टिकाऊ हुआ करती हैं।

स्थान-नामों के अंत में आनेवाले शब्द या उत्तरपद

भारतीय स्थान-नामों के अंत में जो शब्द आते हैं उनका भी अच्छा परिचय अष्टाध्यायी से प्राप्त होता है—

(१) नगर (४।२।१४२)—प्राचीन स्थान-नामों के अंत में जुड़ने वाला यह महत्त्वपूर्ण उत्तर पद था जो मध्यकाल और वर्तमान समय में भी प्रयुक्त होता रहा है। पाणिनि के अनुसार प्राच्य और उदीच्य दोनों भागों में नगर का प्रयोग होता था अमहन्नवं नगरेऽनुदीचां (६।२।८९) सूत्र में महानगर और नवनगर इन दो प्राच्य भारतीय नगरों का नाम मिलता है। कास्तीर और अजस्तुंद नाम के नगरों का भी सूत्र में उल्लेख है (६।१।१५१)।

(२) पुर (४।२।१२२)—नगर की भाँति यह भी बहुव्यापी उत्तरपद था। पाणिनि ने सूत्र ६।२।१०१ में हास्तिनपुर, फलकपुर और मार्देयपुर, तथा सूत्र ६।२।१०० में अरिष्टपुर और गौड़पुर का उल्लेख किया है। हास्तिनपुर कुरु जनपद की प्रसिद्ध राजधानी था। फलकपुर संभवतः फिल्लौर (जि० जालंधर) और मार्देयपुर मंडावर (जि० बिजनौर) था। अरिष्टपुर शिबि जनपद में शिबि क्षत्रियों की राजधानी थी (अरिट्ठसाह्व नगर, चरियापिटक १।८।१; शिबि जातक ६।४०१ १२)। गौड़पुर गौड़ देश या बंगाल में था जहाँ के महानगर और नवनगर का पाणिनि ने उल्लेख किया है।

(३) ग्राम (४।२।१४२)।

(४) खेट (६।२।१२६)—हिंदी आदि भाषाओं का 'खेड़ा' इसी से निकला है। मध्यदेश से लेकर पश्चिम में गुजरात तक यह उत्तरपद प्रयुक्त होता है। पाणिनि के अनुसार कुत्सित नगर खेट कहे जाते थे।

(५) घोष (६।२।८५)—अहीर ग्वालों का छोटा गाँव घोष कहलाता था।

(६–९) कूल सूद, स्थल, कर्ष (कूलसूदस्थलकर्षाः संज्ञायाम्, ६।२।१२९)—काशिका के अनुसार ये चार उत्तरपद स्थानवाची नामों में आते थे। कपिस्थल (करनाल जिले में कैथल) अभी तक अपने पुराने नाम से प्रसिद्ध हैं। काबुल (कुभाकूल) और गोमल (गोमतीकूल) नामों में कूल उत्तरपद ज्ञात होता है। स्थान-नामवाची शब्दों के अंत में सूद का उल्लेख कल्हण ने किया है जहाँ दामोदर के बसाए स्थान को दामोदर सूद कहा गया है (राजतरंगिणी १।१६७; और भी, सूदे दामोदरीये, १।१५७)।

(१०-११) तीर और रूप्य (४।२।१०६)—काशिका में काकतीर, पल्वलतीर और वृकरूप्य, शिवरूप्य नाम मिलते हैं। पाणिनि ने स्वयं कास्तीर एक नगर का नाम दिया है (६।१।१५५), जो पतंजलि के अनुसार वाहीक ग्राम था (४।२।१०४, वा० ३)। पतंजलि ने कखतीर, वायसतीर, चणाररूप्य और माणिरूप्य नाम दिए हैं (४।२।१०४ वा० २)।

(१२) कच्छ (४।२।१२६)—कच्छांत नामों का व्यवहार समुद्रतट के रेवा काँठे से सिंध के नदीमुख तक प्रचलित था। काशिका में दारुकच्छ और पिप्पलीकच्छ उदाहरण मिलते हैं। जैसा ऊपर कहा जा चुका है, दारुकच्छ काठियावाड़ और पिप्पलीकच्छ महीरेवा का काँठा था। ये खंभात की खाड़ी के क्रमशः दाएँ बाएँ के प्रदेश थे।

(१३) अग्नि (४।२।१२६)—जैसा कि नाम से प्रकट है, जलता हुआ ऊसर (संस्कृत इरिण) प्रदेश अग्नि कहलाता था। काशिका में त्रिभुजाग्नि और कांडाग्नि, ये दो नाम मिलते हैं। त्रिभुजाग्नि कच्छभुज के उत्तर-पश्चिम के बड़े रन का और कांडाग्नि उसके उत्तर-पूर्व के छोटे रन (जहाँ कांडला है) का नाम था।

(१४) वक्त्र (४।२।१२६)—वक्त्रांत नामों के दो उदाहरण काशिका में दिए हैं—सिंधुवक्त्र और इंद्रवक्त्र। भारतवर्ष के मानचित्र पर ये दोनों प्रदेश स्पष्ट दिखाई पड़ते हैं। सिंध प्रांत का प्रदेश सिंधुवक्त्र और बलोचिस्तान का प्रदेश इंद्रवक्त्र कहलाता था। सिंधुवक्त्र प्रदेश में खेती सिंध नदी पर निर्भर थी और इंद्रवक्त्र में वर्षा पर। पहला प्रदेश नदीमातृक था और दूसरा देवमातृक। सभापर्व में इन दोनों प्रदेशों का स्पष्ट वर्णन एक साथ आया है—

इन्द्रकृष्टैर्वर्तयन्ति धान्यैर्ये च नदीमुखैः।
समुद्रनिष्कुटे जाताः पारेसिन्धु च मानवाः ॥
ते वैरामाः पारदाश्च आभीरा कितवैः सह।
विविधं बलिमादाय रत्नानि विविधानि च ॥ (५१।११-१२)

अर्थात् समुद्र की कोख में स्थित उस प्रदेश के लोग जहाँ नदीमुख से खेती होती थी, विविध भेंटें लेकर युधिष्ठिर के यहाँ उपस्थित हुए। यह सिंध का वर्णन है।

उन्हीं के साथ सिंधुपार के लोग भी आए, जहाँ इंद्रकृष्ट अर्थात् मेह से खेती होती थी। सिंधुपार के लोगों में वैराम, पारद, आभीर और कितव थे। पूना संस्करण में आभीर के स्थान पर 'बंग' पाठ है जो मकरान के समीप की लंग जाति ज्ञात होती है।[1] वैरामों को यूनानी लेखकों ने रंबक कहा है।[2] पारद (यूनानी पारदीनी) हिंगुल प्रदेश के लोग थे और कितव मकरान की केज जाति थी। इस प्रकार इंद्रवक्त्र प्रदेश की पहचान बलोचिस्तान के सूखे पथरीले रेगिस्तानी भागों से निश्चित होती है जो आज भी अपनी कृषि के लिये वृष्टि के आसरे रहते हैं।

(१५) गर्त (४।२।१२६)—गर्त उत्तरपद वाले नाम का उदाहरण त्रिगर्त प्रसिद्ध है। काशिका में इस सूत्र पर चक्रगर्त और बहुगर्त, इन भौगोलिक नामों का जोड़ा उदाहरण रूप में दिया है। ये दोनों पुराने नाम जान पड़ते हैं। बहुगर्त संभवतः साबरमती (प्राचीन श्वभ्रमती) के काँठे का नाम था, जिसके नाम का श्वभ्र शब्द गड्ढे का पर्यायवाची है। चक्रगर्त संभवतः प्रभासक्षेत्र में स्थित चक्रतीर्थ की संज्ञा थी। गर्तांत नामों में 'गर्तोत्तर पदाच्छः' (४।२।१३७) सूत्र पर काशिका में वृकगर्त और शृगालगर्त एवं भाष्य में श्वाविद्गर्त नाम भी आए हैं।

(१६) पलद (४।२।१४२) - दाक्षिपलद और माहिकिपलद इसके उदाहरण हैं (काशिका)। अथर्ववेद के अनुसार पलद का अर्थ फूँस या पयार होता था (अथर्व ६।३।५,७१, पलदान्वसाना)। इससे ज्ञात होता है कि सरपत के भूँडों के लिये पलद शब्द लोक में प्रचलित था और जो गाँव उनके पास बसाए जाते थे उनके नाम में पलद उत्तरपद का प्रयोग होता था।

(१७) ह्रद (४।२।१४२)—पानी की नीची दह के पास बसे हुए गाँवों के नामों में ह्रद जुड़ता था, जैसे दाक्षिह्रद।

(१८) वह (४।२।१२२)—वहांत नामों का पाणिनीय उदाहरण 'पीलुवह' है (इको वहेऽपीलोः, ६।३।१२१)। फल्गुनीवह, ऋषीवह, पिंडवह, मुनिवह, दारुवह—ये अन्य नाम काशिका में हैं। फल्गुनीवह आधुनिक फगवाड़े (पंजाब) का नाम प्रतीत होता है।

(१९) प्रस्थ (४।२।१२२; ४।२।११०)—प्रस्थांत नाम कुरुक्षेत्र और कुरुजनपद के प्रदेश की भौगोलिक विशेषता थे। वहाँ प्रस्थ की जगह पत स्थान

१—श्युआंन चुआङ् ने इसका नाम 'लङ् फिअलो' लिखा है, जिसकी पहचान कनिंघम ने आधुनिक लाकोरिया या लकूर नामक स्थान से की है। ज्ञात होता है कि आभीराः और वंगाश्च, इन दोनों की जगह प्राचीन पाठ लांगराः था। (कनिंघम, प्राचीन भूगोल, पृष्ठ, ३५५-५६)

२—अर्रियन, रंबकीआ (Rambakia) कनिंघम (प्राचीन भारतीय भूगोल, पृष्ठ ३५४) ने इसकी पहचान रामबाग से की है।

नामों के अंत में पाया जाता है, जैसे पानीपत, बाघपत, सोनीपत, मारीपत, तिलपत। ज्ञात होता है कि प्रस्थान्त नाम मूल में हिमालय के प्रदेश में थे, जहाँ से आर्यों की किसी शाखा के साथ ये इस प्रदेश में लाए गए। पाणिनि के सूत्रों में कर्कीप्रस्थ और मालाप्रस्थ नाम आए हैं (६।८।८७, ६।२।८८)। कर्क्यादि गण में मघीप्रस्थ, मकरीप्रस्थ, कर्कंधुप्रस्थ, शमीप्रस्थ, करीरप्रस्थ, कटुकप्रस्थ, कुवलप्रस्थ, बदरप्रस्थ, और मालादिगण में शालाप्रस्थ, शोणाप्रस्थ (सोनपत), द्राक्षाप्रस्थ, क्षौमप्रस्थ, कांचीप्रस्थ, एकप्रस्थ, कामप्रस्थ नाम और हैं।

(२०) अर्म (६।२।९०-९१)—विदित होता है किसी समय अर्मांत नामों का विशेष प्रचार था। बौधायन श्रौतसूत्र के अनुसार ऊजड़ गाँव को अर्म कहते थे(शून्य-ग्राम, विनष्ट ग्राम, बौ० श्रौ० ९।१,६।३)। सरस्वती के उत्तर में स्थूलार्म नामक एक ह्रद का वर्णन है जहाँ के जंगल में सौ गायों का वंश बढ़ते-बढ़ते एक सहस्र हो गया था (तांड्य २५।१०।१८)। पाणिनि ने सूत्र में इतने अर्मांत नामों का उल्लेख किया है—भूतार्म, अधिकार्म, संजीवार्म, मद्रार्म, अश्मार्म, कंजलार्म। तैत्तिरीय ब्राह्मण में भी अर्म शब्द आया है (३.४।१।९)। ऋग्वेद में अर्मक (१।१३३।३) और यजुर्वेद (३०।११) में अर्म खंडहर या ऊजड़ स्थानों के लिये प्रयुक्त हुए हैं। इस प्राचीन शब्द का प्रयोग कालांतर में भाषा से लुप्त हो गया। हो सकता है यह मूल शब्द म्लेच्छ भाषा का हो। म्लेच्छ (सेमेटिक) परिवार की अर्माइक भाषा में 'अरम' ऊबड़-खाबड़ पथरीले पहाड़ी प्रदेश को कहते हैं। अर्माइक उन लोगों की भाषा थी जो 'अरम' या पर्वतीय प्रदेशों के निवासी थे।

(२१) कंथा—मूल में यह शक भाषा का शब्द था जिसमें कंथ का अर्थ नगर होता है।[१] शकों का मूल निवास-स्थान शकद्वीप या मध्य एशिया में था, जहाँ उनकी शाखा तुषारों और ऋषिकों के साथ अर्जुन का घोर युद्ध हुआ था (सभापर्व २७, भीष्म० ११)। ये मूल शक कुमुद पर्वत (हिरोदोतसके कोमेदई) के आसपास के निवासी थे। पुराणों के अनुसार कुमुद पर्वत मध्यएशिया में सीता नदी (वर्तमान यारकंद) के समीप था। मध्य एशिया में रहते हुए भी शकों का भारतवासियों से प्रथम परिचय हो चुका था। ईसवी पूर्व दूसरी शताब्दी में शक लोग बाल्हीक से शकस्थान (ईरान का पूर्वीभाग) में आकर आबाद हुए और शकस्थान से चलकर ई० पू० प्रथम शती में तक्षशिला, मथुरा और उज्जयिनी में उन्होंने अपने राज्य स्थापित किए। कात्यायन ने शकंधु और कर्कंधु शब्दों का उल्लेख किया है (शकन्ध्वादिगण ६।१।९३, वा० ४)। निश्चय ही कात्यायनकालीन

१—स्टेनकोनो, खरोष्ठी लेख; पृष्ठ ४३; लंदन की राजकीय एशियाटिक सोसायटी की पत्रिका, १६३४, पृष्ठ ५१६; तथा शक स्टडीज़ (ओस्लो, १९२९) पृ० ४२, १४६; कंथ = नगर।

शक शकस्थान में आ कर बसनेवाले शकों से पूर्वकालीन होने चाहिएँ। जब शक लोग मध्यएशिया के शाकद्वीप में ही बसते थे, तभी ई० पू० चौथी या तीसरी शताब्दी में शकंधु और कर्कंधु[१] ये दोनों नाम प्रचलित हो चुके थे। 'शकदेश का कुआँ' और 'कर्कदेश का कुआँ'— ये दो विशेष शब्द हमारी भाषा में दो विशेष प्रकार के कुओं के लिये व्यवहृत हुए। एक प्रकार का कुआँ बावड़ी है जिसमें सीढ़ी के द्वारा पानी तक पहुँचते हैं। यह शकंधु था जिसका प्रचार पच्छिमी भारत में विशेष हुआ। दूसरी तरह के कुएँ रहटवाले थे जिन्हें आज तक ईरानी ढंग के कुएँ (पर्शियन वैल) कहा जाता है। ये कर्कंधु थे। कर्क पच्छिमी ईरान में शूषा के पास एक प्रदेश था जिसे अब कर्किआ कहते हैं। शकंधु और कर्कंधु, ये दो शब्द कात्यायन के वार्तिक में रहकर साक्षी देते हैं कि पाणिनि-कात्यायन के परिचित शक ई० पू० पहली शती में यहाँ आनेवाले शकों के पूर्ववर्ती थे। शकों के मूल प्रदेश मध्यएशिया में कंथांत नामों का एक ताँता था जो अभी तक रह गया है, जैसे समरकंद, ताशकंद, चिमकंद, पंजकंद, यारकंद, पायकंद आदि। वंक्षु (आमू) और सीर नदी के बीच का प्रदेश सुग्द कहलाता था। सुग्दी भाषा में शक भाषा के कंथ शब्द का रूप कंद हो जाता है।

पाणिनि का परिचय कंथा शब्द से किस प्रकार हुआ होगा यह ध्यान देने योग्य है। अष्टाध्यायी के निम्नलिखित छह सूत्रों में नगरवाची कंथा शब्द का उल्लेख है—

(१) उशीनर देश में कंथांत स्थान-नाम नपुंसकलिंग होता है, जैसे सौशमिकंथम्, आह्वरकंथम् (संज्ञायां कन्थोशीनरेषु, २।४।२०)।

(२) कुछ अर्थों (शैषिक) में कंथा शब्द में इक् प्रत्यय जुड़ता है, जैसे कांथिक (कन्थाया ष्ठक् ४।२।१०२)।

(३) वर्णुदेश में कंथा शब्द में अक् प्रत्यय लगता है, जैसे कांथक (वर्णौ वुक् ४।२।१०३)।

(४) कंथांतवाची स्थान-नामों में शैषिक अर्थ में छ प्रत्यय लगता है, यदि उस नाम का पहला अक्षर दीर्घ हो, जैसे दाक्षिकंथीय (कन्था-पलद-नगर-ग्राम-ह्रदोत्तरपदात् ४।२।१४२)।

(५) कंथांतवाची स्थान-नामों में आदि अक्षर उदात्त होता है, जैसे आह्वर-कंथं, चप्यकंथम् (कन्था च ६।२।१२४)।

(६) कंथांत स्थान-नाम के पूर्वपद में चिहण हो तो चिहण का पहला स्वर उदात्त होता है, जैसे चिहणकंथम् (आदिश्चिहणादीनाम् ६।२।१२५)। चिहण-

---

१—कर्क प्राचीन ईरान की एक जाति थी। शकों के साथ उसका उल्लेख ईरानी सम्राट् दारा (दारयवहु, सं० धारयद्वसु) के बहिस्तून (भगस्थान) के शिलालेख में आया है।

दिगण में अन्य शब्द मडरकंथ, वैतुलकंथ, पटत्कंथ, वैडालिकर्णकंथ, कुक्कुटकंथ और चित्कणकंथ हैं।

इनमें से कुछ नाम संस्कृत भाषा में बाहर से आए हुए शब्दों से बने ज्ञात होते हैं।

ऊपर के नियमों से सूचित होता है कि पाणिनि को निश्चित रूप से उशीनर (आधुनिक झंग मघियाना) और वर्णु (आधुनिक बन्नू और बजीरिस्तान का इलाका, गोमल-तोची आदि नदियों की दूनों का भाग) प्रदेशों में कंथांत स्थान-नाम मिले। इस प्रदेश में कंथांत नामों की संगति के लिये मानना चाहिए कि पाणिनि से भी पूर्व किसी समय शक जाति का प्रसार और संपर्क गजनी-कंधार की अधित्यका से उतरकर तोची-गोमल नदियों के मार्ग से रावी और चनाब के काँठे (उशीनर जनपद) तक पहुँचा था।

नगरों के नाम

पाणिनि ने नगरों को दो भागों में बाँटा है—उदीच्य ग्राम (४।२।१०९) और प्राच्य ग्राम (७।३।१४)। उदीच्यग्रामों के अंतर्गत दो छोटे भेद थे—एक वाहीक ग्राम (४।२।११७) और दूसरे वाहीक के बाहर पच्छिम-उत्तर के अन्य नगर। वाहीक ग्रामों के अंतर्गत फिर एक छोटा समुदाय उशीनर जनपद के नगरों का था (४।२।११८)।

पाणिनि के समय में वाहीक और उत्तरापथ की समृद्धि बहुसंख्यक नगरों और ग्रामों के रूप में प्रकट थी। यमुना से वंक्षु नदी तक के प्रदेश में तत्कालीन नगरों और ग्रामों में लहलहाते जीवन के अनेक प्रमाण पाए जाते हैं। पाणिनि के दो-तीन शताब्दी बाद तक के यूनानी लेखकों के वर्णनों से इसकी पुष्टि होती है। स्त्राबो के कथनानुसार झेलम और ब्यास के नौ बड़े राज्यों में जिनमें मालव और क्षुद्रक भी थे, पाँच सौ बड़े नगर थे। मेगस्थनीज का कहना है कि भारतवर्ष के नगरों की संख्या इतनी अधिक है कि उसका ठीक अनुमान करना कठिन है। ग्लौचुकायनक नामक जाति के प्रदेश में, जहाँ इस समय भिम्भर-पुंछ-राजौरी का इलाका (प्राचीन अभिसार) है, सैंतीस नगर थे जिनमें से अनेक की जनसंख्या दस सहस्र से ऊपर थी और पाँच सहस्र से कम जनसंख्या किसी में न थी।

अष्टाध्यायी की सामग्री को देखते हुए यूनानी लेखकों का यह वर्णन सत्य के निकट जान पड़ता है। पाणिनि ने अपने देशव्यापी परिभ्रमण से स्थान-नामों की जो सामग्री एकत्र की थी उसे लगभग बारह सूत्रों के गणपाठों में सुरक्षित कर दिया है। भारतीय भूगोल की आज भी यह अमोल निधि है। अकेले ४।२।७५ और ४।२।८० सूत्रों के गणों में लगभग तीन सौ स्थान-नाम आए हैं। इनके अतिरिक्त स्थान-नामों वाले अन्य गण ये हैं—सुवास्तु (४।२।७७), वरण (४।२।८२), मधु (४।२।८६), उत्कर (४।२।९०), नड (४।२।९१), कत्रि (४।२।९५), नदी

(४।२।९७), काशि (४।२।११६), धूम (४।२।१२७), कर्कों (६।२।८७), चिहण (६।२।१२५) । इस सूची में लगभग पाँच सौ स्थान-नाम हो जाते हैं। यह संख्या स्त्राबो से मिलती है। इस सूची के अधिकांश नाम अब पहचाने नहीं जाते। आशा है भारतीय पुरातत्त्व और प्राचीन भूगोल के अध्ययन-क्षेत्र का विस्तार होने पर भविष्य में इनका पता लग सकेगा।

इन्हीं के सदृश गोत्रवाची नामों की सूचियों में अनेक जातिवाचक भौगोलिक नाम भी अष्टाध्यायी में सुरक्षित रह गए हैं।

सूत्रों में परिगणित स्थान-नाम

जो नाम सूत्रों में पढ़े हैं, उनकी प्रामाणिकता सर्वोपरि है। ऐसे नामों का उल्लेख आवश्यक है।

कापिशी (४।२।९९)—यह कापिशायन प्रांत की राजधानी थी। काबुल से उत्तर-पूर्व हिंदूकुश के दक्षिण आधुनिक बेग्राम प्राचीन कापिशी है जो घोरबंद और पंजशीर नदियों के संगम पर स्थित थी। बाल्हीक से बामियाँ होकर कपिश प्रांत (कोहिस्तान-काफिरिस्तान) में घुसने वाले मार्ग पर कापिशी नगरी व्यापार और संस्कृति का केंद्र थी। बेग्राम में मिले हुए एक शिलालेख में कपिशा नाम आया है (एपिग्राफिआ इंडिका, भाग २२, १९३३, पृष्ठ ११, स्टेनकोनो, बेग्राम से प्राप्त खरोष्ठी मूर्तिलेख)। यह हरी दाख की उत्पत्ति का स्थान था। यहाँ बनी हुई कापिशायन मधु नामक विशेष प्रकार की सुरा भारतवर्ष में आती थी, जिसका उल्लेख कौटिल्य ने अपने अर्थ शास्त्र में किया है। प्लिनी के अनुसार छठी शताब्दी ई० पूर्व में हखामनि वंश के ईरानी सम्राट् कुरुष् (५५८—३० ई० पू०) ने कापिशी का विध्वंस किया था। कालांतर में वह पुनः समृद्ध हुई और अंत में हूणों द्वारा विध्वस्त हुई। कापिशी नगरी के सिक्कों पर हाथी का चिह्न पाया गया है जो इंद्र का ऐरावत ज्ञात होता है, क्योंकि यहाँ के उत्तरकालीन कुछ सिक्कों पर यूनानी देवता 'ज़ियस' (भारतीय इंद्र) की मूर्ति मिली है।

सौवास्तव (४।२।७७)—यह सुवास्तु या स्वात नदी की घाटी का प्रधान नगर था।

वरणा (४।२।८२)—वरण वृक्ष के समीप बसी होने के कारण इस बस्ती का नाम वरणा पड़ा था। वरणा उस दुर्ग का नाम था जो आश्वकायनों के राज्य में सिंधु और स्वात नदियों के मध्य में सबसे सुदृढ़ रक्षा-स्थान था। यूनानी लेखकों ने इसका नाम 'एओरनस' दिया है जहाँ अस्सकेनोई (= आश्वकायन) और सिकंदर का युद्ध हुआ था।[1] यूनानी भूगोल-लेखकों ने इस प्रदेश में तीन

१—सर आरेल स्टाइन, आर्क्योलॉजिकल सर्वे मेमॉयर, सं० ४२, पृ० ८९-९०

लड़ाकू जातियों के नाम दिए हैं जिनके संस्कृत नाम और स्थान पाणिनीय भूगोल से इस प्रकार जाने जाते हैं—

(१) अस्पेसिओई; स्थान अलीशंग या कुनड़ नदी की दून। संस्कृत नाम आश्वायन (अश्वादिगण ४।२।११०)।

(२) अस्सकेनोई या अस्सकोई; स्थान स्वात नदी की दून। संस्कृत नाम आश्वकायन या अश्वक (नडादिगण ४।१।९९)।

(३) अस्तकेनोई; स्थान स्वात और कुभा के संगम पर पुष्कलावती के समीप। संस्कृत नाम हास्तिनायन (६।४।१७४)।

इस प्रकार कपिश से गंधार की ओर बढ़ते हुए सिकंदर के मार्ग में आश्वायन, हास्तिनायन और आश्वकायन, इन तीन आयुधजीवी संघों ने प्रतिरोध की अर्गला देकर उससे भयंकर युद्ध किया था। इनमें भी सबसे कठिन प्रतिरोध वरणादुर्ग के वीर अश्वकों ने ही किया था जिनके पुरुष क्या, स्त्रियां भी युद्ध में लड़ी थीं।

वार्णव (४।२।७७, ४।२।१०३)—वर्णुनद के समीप स्थित नगर की संज्ञा वार्णव थी। इसकी पहचान आधुनिक बन्नू से होती है।

शलातुर (४।३।९४)—पाणिनि का जन्मस्थान, जो सिंधु-कुभा संगम के कोने में ओहिंद से चार मील पश्चिम में था। यह स्थान इस समय लहुर कहलाता है।

तूदी (४।३।९४)—पहचान अनिश्चित।

वर्मती (४।३।९४)—इसकी ठीक पहचान ज्ञात नहीं। हो सकता है यह बीमरान का, जहाँ से खरोष्ठी लेख प्राप्त हुए हैं, पुराना नाम हो; अथवा यह बामियाँ हो जो बाल्हीक और कपिशा के बीच में बहुत बड़ा केन्द्र था। यहाँ से आनेवाले घोड़ों को वार्मतेय कहा गया है (वर्ण रत्नाकर, पृ० ३५)।

कूचवार—(४।३।९४)—यह चीनी तुर्किस्तान में उत्तरी तरिम उपत्यका का नाम था, जिसका अर्वाचीन नाम कूचा है। चीनी भाषा में आजकल इसे कूची कहते हैं। कूचा से प्राप्त अभिलेखों में कूचा के राजाओं को कूचीश्वर, कूचि महाराज, कौचेय, कौचेय वरेंद्र कहा गया है। कूचा बहुत प्राचीन राज्य था। चीन से पश्चिम जानेवाले रेशम-पथों पर कूचा प्रसिद्ध केंद्र था। चीनी यात्री तुरफान से कूचा होकर काशगर आते थे और वहाँ से कंबोज (पामीर) और बाल्हीक (बल्ख) होते हुए भारतवर्ष में प्रवेश करते थे। कूचा या मध्यएशिया से कौचप या कोजव नामक ऊनी वस्त्र (कालीन या नम्दे) आया करते थे।

तक्षशिला (४।३।९३)—यह पूर्वी गंधार की प्रसिद्ध राजधानी थी और सिंधु और विपाशा के बीच के सब नगरों में बड़ी और समृद्ध थी। पाटलिपुत्र, मथुरा और शाकल को पुष्कलावती, कापिशी और बाल्हीक से मिलानेवाले उत्तरपथ नामक राजमार्ग पर तक्षशिला मुख्य व्यापारिक नगरी थी। पाणिनिकाल से हूणों के समय तक तक्षशिला का प्रधान्य बना रहा।

शर्करा (४।२।८३)—यह सिंधु नद के किनारे प्रसिद्ध सक्खर नामक स्थान है। मार्कंडेय पुराण में जो 'शार्कराः' जनपद का नाम आया है वह यही था (५८।३५)।

संकल (४।२।७५)—यह आधुनिक सांगलावाला टीबा (जिला झंग) है। यहाँ कठ क्षत्रियों का केंद्र था।

कास्तीर और अजस्तुंद (कास्तीराजस्तुंदे नगरे ६।१।१५५)—कास्तीर को पतंजलि ने वाहीक ग्राम कहा है।

चिहणकंथ (६।२।१२५)—यह उशीनर देश में कंथांत नाम का नगर था।

अरिष्टपुर (६।२।१००)—बौद्ध साहित्य के अनुसार यह शिबि जनपद का अरिष्टपुर नाम का नगर था।

गौड़पुर (६।२।२००)—यह पुंड्र बंगाल का प्राचीन गौड स्थान था। काशिका में इसी सूत्र पर दिए हुए गौडभृत्यपुर उदाहरण से यही संकेत मिलता है कि गौडपुर और गौडभृत्युपुर दोनों प्राच्य देश के नगर थे।

कपिस्थल (८।२।९१)—करनाल जिले में वर्तमान कैथल।

कत्रि (४।२।९५)—संभव है यह वह स्थान हो जिसे कालांतर में अलमोड़े का कत्यूर (कत्रिपुर) कहते थे।

हास्तिनपुर (४।२।१०१), वर्तमान हस्तिनापुर (जिला मेरठ)।

फलकपुर (४।२।१०१)—संभवतः वर्तमान फिल्लौर (जिला जालंधर)।

मार्देयपुर (४।२।१०१)—संभवतः मंडावर (जिला बिजनौर) जो अत्यंत प्राचीन स्थान है।

पलदी (४।२।११०)—अज्ञात।

रोणी (४।२।७८)—संभवतः रोड़ी (जिला हिसार) जो शैरीषक (आधुनिक सिरसा) के पास है। अथवा, संभव है यह बीकानेर से ७० मील दूर रीणी नामक प्राचीन स्थान हो। (इस सूचना के लिये मैं श्री अगरचंद नाहटा का आभारी हूँ।)

ऐषुकारिभक्त (४।२।५४)—उत्तराध्ययन सूत्र के अनुसार कुरु जनपद में इसुकार या इषुकार नामक समृद्ध सुंदर और स्फीत नगर था (१४।१)। जिस प्रकार हाँसी का पुराना नाम आसिका था (भंडारकर लेख-सूची, संख्या ३२६) उसी प्रकार हिसार का प्राचीन नाम ऐषुकारि ज्ञात होता है, यद्यपि कुछ लोग उसका संबंध अरबी हिसार (किला) से लगाते हैं।

नड्वल (४।२।८८)—यह मारवाड़ का नाडौल नगर (पृथ्वीराज-विजय, १०।५०) प्रतीत होता है।

सांकाश्य (४।२।८०)—फर्रुखाबाद जिले में इक्षुमती (वर्तमान ईखन) नदी के किनारे वर्तमान संकिसा, जहाँ अशोककालीन स्तंभ के चिह्न मिले हैं। संकाशादि गण (४।२।८०) में कांपिल्य भी है जो फर्रुखाबाद जिले की कायमगंज तहसील में वर्तमान कंपिल है।

आसंदीवत् (८।२।१२, ४।२।८६)—यह जनमेजय पारीक्षित की राजधानी का नाम था, इसी में उन्होंने अश्वमेध यज्ञ किया था (वैदिक इंडेक्स १।७२)। काशिका के अनुसार यह अहिस्थल था, जो कुरुक्षेत्र के पास था (कुरुक्षेत्रे परेणाहिस्थले, कात्या० श्रौ०, २४।२२६)।

शिखावल (४।२।८९)—काशिका के अनुसार यह एक नगर था (शिखावलं नाम नगरम्) जो संभवतः यह सोन नदी पर स्थित सिहावल नगर (रीवा रियासत) हो। 'दन्तशिखात् संज्ञायाम्' (५।२।११३) सूत्र में पाणिनि ने शिखावल को संज्ञा कहा है।

महानगर और नवनगर (६।२।८९)—ये दोनों प्राच्य भारत के स्थान-नाम थे (अमहन्नवं नगरेऽनुदीचाम्)। महानगर महास्थान (जिला बोगरा) का दूसरा नाम जान पड़ता है जो बंगाल में मौर्य काल से भी पुराना नगर था। उसी के साथ का नवनगर नवद्वीप का दूसरा नाम विदित होता है। महानगर उत्तरी बंगाल और नवनगर पश्चिमी बंगाल का प्रधान केंद्र था। महानगर पुरानी राजधानी थी। यह पुंड्र देश का प्रधान नगर था, इसी लिये इसे महास्थान या महानगर कहा गया। इसी के पच्छिम में गंगा के किनारे एक अन्य स्थान की आवश्यकता पड़ी जो पुंड्र देश के यातायात में सहायक हो सके। वह स्थान गौडपुर था जिसका पाणिनि ने उल्लेख किया है (६।२।२००)। पुंड्र या पौंड्रों के देश से गुड़ के चालान का केंद्र होने के कारण वह गौडपुर कहलाया होगा। कुछ काल बाद पश्चिमी बंगाल में भी व्यापार और आबादी के लिये क्षेत्र खुल गया और वहाँ एक नए केंद्र की स्थापना हुई होगी जो उत्तरी बंगाल के मुकाबिले में नवनगर कहा गया।

तौषायण (पक्षादिगण ४।२।८०)—हिसार जिले की फतेहाबाद तहसील में स्थित वर्तमान टोहाणा यह स्थान हो सकता है, जहाँ पर पुराने खंडहर हैं।

सौभूत (संकलादि गण, ४।२।७५)—जिसकी पहचान यूनानी भूगोल-लेखकों के सोफाइटीज से की जाती है। यह स्थान कुत्तों की खूँखार नस्ल के लिये प्रसिद्ध था, इससे इसका केकय देश में खिउड़ा के पास होना सूचित होता है जहाँ इस प्रकार के महाकाय और महादंष्ट्र कुत्ते होते थे (वाल्मीकि रा० ७०।२०)। पाणिनि के समय में भी कुत्तों की यह नस्ल पाई जाती थी। वाल्मीकि ने उसे केकयराज के अंतःपुर में संवर्धित कहा है। संभवतः इसी कारण कुत्ते के लिये

कौलेयक शब्द लोक में प्रचलित हुआ, जिसका पाणिनि ने उल्लेख किया है (कौलेयकः श्वा, ४।२।९६ ।

सरालक (तक्षशिलादिगण ४।३।९३)—वर्तमान सहराला, जिला लुधियाना। सहरालिए वैश्य यहाँ से अपना निकास मानते हैं (सरालकोऽभिजनो यस्य सः सारालकः)।

चक्रवाल (संख्यादिगण ४।२।८०)—वर्तमान चकवाल, जिला झेलम ।

मंडु और खंडु (सुवास्त्वादिगण ४।२।७७)—सिल्वां लेवी ने इनकी पहचान अटक के समीप स्थित उंड और खुंड नामक स्थानों से की है (जूर्नाल आजियातिक, १९१५, पृ० ७३; उत्तरप्रदेश इतिहास परिषद् पत्रिका, दिसंबर १९४२, पृ० ३७) ।

शर्यणावत् (मध्वादिगण ४।२।८६)—यह नाम ऋग्वेद १।८४।१४ में भी आता है। इसकी पहचान थानेश्वर के रामह्रद से की जाती है।

अध्याय ३

सामाजिक जीवन

भाषा और लोक में सदा घनिष्ठ संबंध रहता है। लोक-जीवन के विविध अंगों से संबंधित शब्द भाषा में उत्पन्न और प्रयुक्त होते हैं। शब्द भूतकालीन संस्थाओं के प्रतीक बन कर उनके स्मारक की भाँति भाषा में रह जाते हैं। शब्दों का आयुष्य भी भिन्न-भिन्न होता है, अनेक शब्द जन्म लेते और कुछ काल तक लोक के कंठ में रह कर विलीन हो जाते हैं। ऐसे शब्द पुरातत्त्व के अवशेषों की भाँति प्राचीन अर्थों का स्मरण कराते हुए अतीतकालीन जीवन पर प्रकाश डालते हैं। कितने ही दूसरे शब्द एक बार जन्म लेकर कालांतर में भी प्रचलित रहते हैं। पाणिनि ने अपने समकालीन लोक-जीवन का शब्दों के रूप में सूक्ष्म अध्ययन किया था और अपने शब्द शास्त्र में उन्हें स्थान दिया। इस विविध सामग्री को सुविधा के लिये इस निबंध में निम्न भागों में बाँटा गया है—

१—सामाजिक जीवन।
२—आर्थिक दशा।
३—शिक्षा और साहित्य।
४—धर्म और दर्शन।
५—राजनीतिक सामग्री।

सामाजिक जीवन शीर्षक के अंतर्गत अष्टाध्यायी की सामग्री के आधार पर निम्नलिखित बातों का विचार किया गया है—

१—वर्ण और जातियाँ।
२—आश्रम।
३—विवाह।
४—स्त्रियाँ।
५—सामाजिक इकाइयाँ।
६—अन्न-पान।
७—स्वास्थ्य और रोग।
८—वेश-भूषा।
९—वास-गृह।
१०—नगर-मापन।
११—शयनासन।

१२—रथ-शकट ।
१३—भारवाही पशु ।
१४—नौ-संतरण ।
१५—क्रीडाएँ ।
१६—गीतवादित्र ।
१७—काल-विभाग ।
१८—मनुष्य-नाम ।

अध्याय ३, परिच्छेद १—वर्ण और जातियाँ

पाणिनि कालीन समाज की मूल भित्ति वर्ण और आश्रम की व्यवस्था थी। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चारों वर्णों का उल्लेख अष्टाध्यायी में हुआ है। वैदिक भाषा का वर्ण शब्द अब भी व्यवहार में आता था, यद्यपि 'जाति' यह नया शब्द भी प्रचलित हो चुका था (२।१।६३)। पाणिनि-व्याकरण के अनुसार गोत्रों और चरणों की भी पृथक् जातियाँ होने लगी थीं। भाष्यकार ने जाति की परिभाषा के अंतर्गत गोत्रों और चरणों को भी गिना है (गोत्रञ्च चरणैः सह ४।१।६३)। कतरकतमौ जातिपरिप्रश्ने (२।१।६३) सूत्र में जाति के विषय में पूछ-ताछ करने के लिये नियम बताया गया है। यहाँ जाति शब्द से गोत्र और चरण दोनों अभिप्रेत हैं। कतरकठः (इन दोनों में कौन कठ है ?), कतमकठः (इनमें कौन कठ है ?) ये दोनों प्रश्न चरण-संबंधी पूछताछ विषयक होने पर भी जाति-परिप्रश्न के उदाहरण हैं।

वस्तुतः पाणिनि के काल में गोत्र और चरणों के भेदों के अनुसार अनेकों जातियाँ विकसित हो रही थीं। गोत्रों के प्रकरण में जो लगभग एक सहस्र नाम हैं, उनका सामाजिक स्वरूप अलग-अलग जातियों के रूप में संगठित हो गया था। विशेषतः पंजाब, सिंध और सीमाप्रांत की जाति-उपजातियों के नामों का अध्ययन करने से यह सचाई स्पष्ट हो जाती है। पाणिनि ने जिन्हें गोत्र कहा है बहुत करके हम उन्हें छोटी-छोटी जातियों या उपजातियों के अंतर्गत अल्लों के रूप में पाते हैं। पाणिनि के गोत्र और गोत्रावयव तत्कालीन समाज की सचाई थी। आज भी पीढ़ी-दर-पीढ़ी इनमें से बहुत से नाम चले आते हैं। यह स्वाभाविक है कि उन नामों का हमारे समाज में नितांत लोप न हुआ हो। अरोड़े, खत्री, सहरालिए, अग्रवाले आदि अनेक जातियों के अंतर्गत जो बहुत सी अल्लें या उपजातियाँ हैं, उनके नामों में पाणिनीय नामों की पहिचान मिलती है। जैसे, अरोड़े खत्रियों में कँवर, हंस, चोपे, खेते ये अल्लें या जाति-उपविभागों के नाम हैं जो क्रमशः पाणिनि के कुमार (नडादिगण, ४।१।९९); हंसक (नडादिगण ४।१।९९), चुप (अश्वादि-गण में चौपायन ४।१।११०), क्षैतयत (तिकादिगण ४।१।५४), गोत्र-नामों से संबंधित हैं।

प्रायः प्रत्येक जाति या उपजाति में अपने मूल-निकास की एक अनुश्रुति पाई जाती है। इन मूल स्थान-नामों का यदि संग्रह किया जाय तो यह भी संभव है कि हम अष्टाध्यायी में दिये हुए उन-उन नामवाले गोत्रों के मूल स्थानों की भी पहचान कर सकेंगे। पाणिनि के ४।२।८० सूत्र में इस प्रकार के स्थान-नामों की सत्रह सूचियाँ संगृहीत हैं। उदाहरण के लिये, पक्षादिगण में 'हंसक' स्थान का नाम है जहाँ से नडादिगण के हंसक गोत्र का निकास हुआ होगा। पाणिनि के समय में योनि-संबंध और विद्या-संबंध इन दो प्रकार के संबंधों के आधार पर समाज का अधिकांश संगठन था। योनि-संबंध गोत्रों के रूप में और विद्या-संबंध चरणों के रूप में अपना-अपना जातीय संगठन बना रहे थे। इसी कारण जाति की परिभाषा में गोत्र और चरण इन दोनों को संमिलित किया गया (गोत्रञ्च चरणानि च, भाष्य ४।१।६३, किसी अन्य वार्तिककार के अनुसार)। रक्त-संबंध और विद्या-संबंधों के कारण छोटे छोटे गिरोहों की अलग-अलग जातियाँ बन रही थीं। कुछ ऐसा लगता है कि जहाँ बेटे पोतों से फूलते-फलते पृथक्-पृथक् सौ घर किसी एक ख्यात, गुट्ट, या अल्ल के अंतर्गत बढ़ जाते थे, वहीं उन कुटुंबों के सदस्य समाज में अपने पृथक् अस्तित्व का भान और स्मृति एक छोटी उपजाति या गोत्रावयव के रूप में कर लेते थे। पाणिनि ने सावित्री-पुत्रों का उल्लेख किया है (दामन्यादि ५।३।११६)। महाभारत में कहा है कि सावित्री-पुत्रों के सौ घराने थे (वनपर्व, २९७।५८; कर्णपर्व ५।४९)।[1] इसी प्रकार मद्रों में से सौ घराने अलग फूट कर मालवपुत्र नाम की अल्ल से पृथक् विख्यात हुए (महा. वन. २९७।६०)। मालव-पुत्र ही वर्तमान 'मलोत्रे' हो सकते हैं। उपजातियाँ या अल्लें कुछ तो कौटुम्बिक नामों से, कुछ पैतृक नामों अर्थात् खानदान के बुजुर्गों के नामों से, कुछ व्यापारिक नामों से, कुछ शहरों के नामों से, कुछ पेशों के नामों से और कुछ पदों के अनुसार बनती गईं। हमारी दृष्टि में जाति पाँति संबंधी पाणिनीय सामग्री की पहिचान लगभग स्वतंत्र खोज का विषय है क्योंकि इसका अधिकांश भाग उत्तर-पश्चिमी प्रदेश और वाहीक की स्थानीय समाज-व्यवस्था से संबंध रखता है।

ब्राह्मण—कात्यायन ने चार वर्णों के भाव या कर्म को चातुर्वर्ण्य कहा है (गुणवचन ब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च, ५।१।१२४, सूत्र पर वार्तिक)। अनुपूर्वी क्रम से चारों वर्णों के लिये 'ब्राह्मणक्षत्रियविट्शूद्राः' यह समस्त पद प्रयुक्त होता था (वर्णानामानुपूर्व्येण पूर्वनिपातः, २।२।३४ वा०)। पाणिनि ने 'ब्रह्मन्' और 'ब्राह्मण' दोनों शब्दों को पर्याय रूप में प्रयुक्त किया है। ब्रह्मन् के लिये हितकारी

१—त्वयि पुत्रशतं चैव सत्यवान् जनयिष्यति।
ते चापि सर्वे राजानः क्षत्रियाः पुत्रपौत्रिणः॥
ख्यातास्त्वन्नामधेयाश्च भविष्यन्तीह शाश्वताः। (वन पर्व २९७।५८-५९)

इस अर्थ में ब्रह्मण्य पद बनता था (ब्रह्मणे हितम्, ५।१।७)। पतंजलि ने इसका अर्थ 'ब्राह्मणेभ्यः हितम्' किया है। उनका कहना है कि ब्रह्मन् और ब्राह्मण पर्याय-वाची हैं (समानार्थावेतौ ब्रह्मन् शब्दो ब्राह्मण शब्दश्च), किंतु यत् प्रत्यय ब्रह्मन् शब्द से ही होता है, ब्राह्मण से नहीं। ज्ञात होता है कि पाणिनि काल में ब्रह्मन् शब्द ब्रह्मणोचित अध्यात्मिक गुण-सम्पत्ति के लिये प्रयुक्त होता था और ब्राह्मण जन्म पर आश्रित जाति के लिये। ब्राह्मण के भाव (आदर्श) और कर्म (आचार) के लिये ब्राह्मण्य पद सिद्ध किया गया है (गुण वचन ब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च, ५।१।१२४)। नाम मात्र के आचार हीन ब्राह्मण 'ब्रह्मबन्धु' कहलाते थे। ऐतरेय ब्राह्मण, छान्दोग्य उपनिषद्, श्रौतसूत्र एवं गृह्यसूत्रों में 'ब्रह्मबन्धु' शब्द पाया जाता है। सूत्र ६।३।४४ की काशिका वृत्ति में उदाहृत 'ब्रह्मबन्धुतर' और 'ब्रह्मबन्धु-तम' प्रयोग बताते हैं कि 'ब्रह्मबन्धु' पद के पीछे कुत्सा परक व्यंगय की कई कोटियाँ थीं। पाणिनि के समय में केवल जाति का अभिमान करने वाले कर्म-विहीन ब्राह्मणों के लिये ब्रह्मबन्धु की तरह 'ब्राह्मणजातीय' यह नया विशेषण भी प्रचलित हो गया था। जात्यन्ताच्छ बन्धुनि (५।४।९) सूत्र में 'बन्धुनि' पद ब्रह्म-बन्धु वाले प्राचीन अर्थ का द्योतक है। जिस बाहरी दिखावे से जाति की पहिचान हो वह बन्धु हुआ (येन ब्रह्मणत्वादिजातिर्व्यज्यते तद् बन्धु द्रव्यम्)। नाम मात्र के ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य के लिये ब्राह्मण जातीय, क्षत्रिय जातीय, वैश्य जातीय पद व्यवहार में आते थे। कुमहद्भ्यामन्यतरस्याम् (५।४।१०५) सूत्र के अनुसार स्वधर्म में प्रतीत ब्राह्मण महाब्रह्म या महाब्रह्मा और आचार हीन ब्राह्मण कुब्रह्म या कुब्रह्मा कहलाता था। महाब्रह्मा समाज में अत्यंत प्रतिष्ठा-सूचक पद माना जाता था। मातंग जातक (४।३७७) में महाब्रह्मा के सम्मानित पद का उल्लेख आया है। कुंडककुच्छिजातक में बोधिसत्त्व के लिये महाब्रह्मा संबोधन है (३।२५४)। महानारद कस्सप जातक (६।२४२) में कहा है कि बोधिसत्त्व नारद अपने समय के महाब्रह्मा माने जाते थे। तात्पर्य यह है कि धर्म और शील परायण ब्राह्मण समाज का सर्वोच्च पद महाब्रह्मा था जिसके लिये व्यक्ति विशेष योग्यपात्र समझे जाते थे। संभवतः महाब्रह्मा का पर्याय देवब्रह्मा भी था। नारद को जातक में महाब्रह्मा और काशिका में देवब्रह्मा कहा गया है।

जनपदों के अनुसार ब्राह्मणों के नाम—ब्रह्मणो जानपदाख्यायां (५।४।१०४) सूत्र से ज्ञात होता है कि भिन्न-भिन्न देशों में बस जाने के कारण ब्राह्मणों के अलग-अलग नामों की प्रथा चल पड़ी थी। कंबोज जनपद से लेकर कलिङ्ग-अश्मक-कच्छ-सौवीर जनपदों तक फैले हुए विस्तृत प्रदेश में ब्राह्मण फैल चुके थे। स्वभावतः पृथक् पृथक् भूखंडों के अनुसार उनके अलग नाम भी पड़े होंगे। काशिका में सुराष्ट्र ब्रह्म (=सुराष्ट्रेषु ब्रह्मा) और अवन्ति ब्रह्म (=अवन्तिषु ब्रह्मा) ये दो उदाहरण हैं। अवन्तिब्रह्म मालवब्राह्मणों के पूर्ववर्ती थे, क्योंकि उज्जयिनी के साथ मालव शब्द का संबंध गुप्तकाल के लगभग

आरंभ हुआ। इसी प्रकार गुजराती और कच्छी ब्राह्मणों के पूर्ववर्ती सुराष्ट्र के ब्राह्मण रहे होंगे। जनपदों के अनुसार नाम पड़ने के कारण ब्राह्मणों के पंचगौड़ और पंचद्राविड़ दो मुख्य भेद कालांतर में प्रसिद्ध हुए। मूलतथ्य यह है कि जनपदों के अनुसार ब्राह्मणों के नामों की प्रवृत्ति पाणिनि काल में ही विकसित होने लगी थी।

क्षत्रिय—पाणिनि ने इस स्थिति को स्वीकार किया है कि अनेक जनपदों के नाम वही थे जो उनमें बसनेवाले क्षत्रियों के (जनपद शब्दात् क्षत्रियादञ्, ४।१।१६८)। जैसा कि हम ऊपर दिखा चुके हैं पंचाल क्षत्रियजन के बसने के कारण ही आरंभ में जनपद का भी पंचाल नाम पड़ा था। पीछे जनपद नाम की प्रधानता हुई और जनपद के नाम से वहाँ के प्रशासक क्षत्रियों के नाम जिन्हें अष्टाध्यायी में जनपदिन् कहा गया है लोक प्रसिद्ध हुए। पहली स्थिति के कुछ अवशेष आज तक बच गए हैं, जैसे यौधेयों (वर्तमान जोहिये) का प्रदेश जोहिया बार (बहावलपुर रियासत), मालवों का (वर्तमान मलवई लोगों का) मालवा (फिरोजपुर लुधियाना जिलों का भाग), दरद् क्षत्रियों का दरदिस्तान। यों तो तत्कालीन संघों और जनपदों में क्षत्रियों के अतिरिक्त और वर्णों के लोग भी थे, उदाहरणार्थ मालव जनपद के क्षत्रिय मालव, तथा ब्राह्मण एवं क्षत्रियेतर मालव्य कहलाते थे। 'मालवाः' इस बहुवचनांत रूप में सब का अंतर्भाव समझा जाता था। राजन्य शब्द के दो अर्थ पाणिनि में हैं, एक तो क्षत्रियवाची पुराना अर्थ (५।२।११४) और दूसरा अभिषिक्त वंश क्षत्रियों के लिये। केवल वे क्षत्रिय-कुल राजन्य कहे जाते थे जो संघरूप में शासन में भाग लेने के अधिकारी थे। राजन्य बहुवचनद्वंद्वेऽन्धक-वृष्णिषु (६।२।३४) सूत्र में राजन्य का यही दूसरा अर्थ है। राजन्यक का हिंदी रूप राणा है।

वैश्य—पाणिनि ने वैश्य के लिये 'अर्य' पद का उल्लेख किया है (अर्यः स्वामि वैश्ययोः, ३।१।१०३)। गृहस्थ के लिये गृहपति शब्द है। मौर्य-शुंग युग में गृहपति समृद्ध वैश्य व्यापारियों के लिये प्रयुक्त होने लगा था, जो बौद्ध-प्रभाव को स्वीकार कर रहे थे। उन्हीं से 'गहोई' वैश्य प्रसिद्ध हुए। यह अर्थ अष्टाध्यायी में अविदित है।

शूद्र—पाणिनि ने दो प्रकार के शूद्रों का उल्लेख किया है—एक अनिरवसित जो हिंदू-समाज के अंग थे, और दूसरे निरवसित (शूद्राणामनिरवसितानाम्, २।४।१०)।

इस सूत्र पर पतञ्जलि का विशद भाष्य शूद्रों की शुङ्ग-कालीन स्थिति का परिचायक है। 'अनिरवसित शूद्र वे हैं जो आर्यावर्त की भौगोलिक सीमा के भीतर रहते हैं।' इसके विपरीत पतञ्जलि ने आर्यावर्त की सीमा के बाहर के शूद्रों में कुछ विदेशियों का उल्लेख किया है, जैसे शक और यवन। पतञ्जलि के समय की

ऐतिहासिक स्थिति में शक लोग ईरान और अफ़गानिस्तान की सीमा पर शकस्थान में जमे थे और यवन अर्थात् यूनानी लोग बाल्हीक और गंधार में प्रतिष्ठित थे। इसी सूत्र पर पतञ्जलि का दूसरा उदाहरण 'किष्किन्धगब्दिकं' है। पाणिनि के सिन्ध्वादि-गण (४।३।९३) में किष्किन्धा और गब्दिका दोनों का पाठ है। किष्किन्धा गोरखपुर जिले का खुखुन्दो और गब्दिका चंबा का गद्दी प्रदेश था। ये दोनों उस समय आर्यावर्त की सीमा से बाहर माने जाते थे। मौर्य साम्राज्य को कमर टूटने पर विदेशियों के धक्के से आर्यावर्त की सीमाएँ यहाँ तक सिकुड़ गईं कि घर के दुआरे पर स्थित किष्किधा गब्दिका भी बाहर गिने जाने लगे। पतञ्जलि के अनुसार मृतप, चांडाल आदि निम्न शूद्र जातियाँ प्रायः ग्राम, घोष, नगर आदि आर्य बस्तियों में घर बनाकर रहती थीं। पर जहाँ गाँव और शहर बहुत बड़े थे वहाँ उनके भीतर भी वे अपने मुहल्लों में रहने लगे थे। ये समाज में सबसे नीची कोटि के शूद्र थे। इनसे ऊपर बढ़ई, लोहार, बुनकर, धोबी तक्षा, अयस्कार, तन्तुवाय, रजक आदि जातियों की गणना भी शूद्रों में थी। वे यज्ञ संबंधी कुछ कार्यों में सम्मिलित हो सकते थे, पर उनके साथ खाने के बर्तनों की छुआछूत बरती जाती थी। इनसे भी ऊँची कोटि के शूद्र वे थे जो आर्यों के घर का नेवता होने पर उन्हीं बर्तनों में खा-पी सकते थे जिनमें कि घर के लोग खाते-पीते थे। वस्तुतः आर्य और शूद्र की समस्या आर्य एवं मुंडा निषाद-शबर आदि जातियों को एक सामाजिक तंत्र के अंतर्गत लाने की समस्या थी। दूसरी ओर शक-यवन सदृश विदेशी शूद्रों को भी भारतीय समाज में स्थान देने की समस्या थी। पतंजलि के ऊपर लिखे हुए उदाहरणों से समस्या के दोनों पहलू सामने आते हैं। एक तीसरे प्रकार के वे लोग थे जो लूट मारकर जीविका चलाने वाले लगभग जंगली हालत में आर्यावर्त की सीमाओं पर प्राचीन काल से बसे थे। ऐसे उत्सेधजीवी लोग पाणिनि के समय में व्रात कहलाते थे (५।२।२१) ये विशेष करके भारत के उत्तर-पच्छिम कबाइली इलाकों में थे। ये लोग हिंदू समाज की ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य व्यवस्था से बाहर ही माने जाते थे। ज्ञात होता है कि अथर्ववेद और श्रौत-सूत्रों में व्रात्यों का जो वर्णन है वह इन्हीं में चरितार्थ होता है (लाट्यायन श्रौ० सू० ८।६; कात्यायन श्रौ० सू० २१।१२३-१४९; द्राह्यायण श्रौ० सू०)। चातुर्वर्ण्य संगठन के अनुसार व्रात्यों की स्थिति व्रात्यस्तोम करने तक शूद्रवत् मानी जाती थी। व्रात्यों के संबंध में विचार आगे किया जायगा (अ० ७, परि० ७)।

आर्य और दास—आर्यो ब्राह्मणकुमारयोः (६।२।५८) सूत्र में आर्य-ब्राह्मण और आर्यकुमार शब्द आए हैं। आर्य ब्राह्मण पद मंत्रिपरिषद् के प्रधान मंत्री के लिये एवं आर्यकुमार पद युवराज के लिये प्रयुक्त होता था। ब्राह्मणमिश्रो राजा' पद में राजा और उसके प्रधान सहायक का जो ब्राह्मण मंत्री होता था उल्लेख है (मिश्रो चानुपसर्गमसन्धौ, ६।२ १४५)। यही आर्य-ब्राह्मण कहलाता था।

सूत्र ४।१।३० में आर्यकृत, आर्यकृती शब्दों का उपदेश है जो वैदिक शब्द भी थे एवं एक विशेष अर्थ में लोक में भी प्रयुक्त होते थे। अर्थशास्त्र के दास-कल्प प्रकरण (३।१३, पृष्ठ १८२) में कौटिल्य ने स्वतंत्र नागरिक के लिये आर्य और उसके विपरीत अर्थ में दास का प्रयोग किया है, जैसे दासमनुरूपेण निष्क्रयेण आर्यमकुर्वतो द्वादशपणं दण्डः, अर्थात् छुटकारे का रुपया लेकर भी जो दास को आर्य न करे उस पर १२ पण जुर्माना किया जाय। इस वाक्य में आर्य शब्द के साथ 'कृ' धातु का प्रयोग हुआ है जो आर्यकृत में भी है। पाणिनि का आर्यकृती शब्द उस स्त्री का वाचक रहा होगा जिसने निष्क्रय द्वारा आर्यभाव प्राप्त किया हो, अर्थात् जिसे दासपने से छुटकारा मिल गया हो। पाणिनि में एक दूसरा शब्द आता है 'दासीभार' (६।२।४२), काशिका ने इसका अर्थ किया है 'दास्या भारः' अर्थात् वह भार जो स्वामी को दासी के कारण सहना पड़े। इसकी व्याख्या कौटिल्य के इस आदेश से प्राप्त है कि गर्भवती दासी को उसके प्रसूति काल के लिये अर्थ व्यवस्था किये बिना जो बेंचे या गिरवी रखे उसे दंड दिया जाय (दासीं वा सगर्भामप्रतिविहितगर्भभर्मण्यां विक्रयाधानं नयतः पूर्वः साहसदण्डः, अर्थशास्त्र ३।१३,)। इस प्रकार दासी के लिये अनिवार्य रूप से करने योग्य आर्थिक प्रबंध 'दासीभार' पद से अभिप्रेत था।

मिश्रवर्ण—पाणिनि के समय में अनुलोम प्रतिलोम शब्द प्रचलित हो चुके थे (५।४।७५)। मिश्रित वर्णों में अंबष्ठ (विकल्प आंबष्ठ) (८।३।९७) का नाम आया है। स्मृतियों के अनुसार ब्राह्मण पिता और वैश्य माता की संतान अंबष्ठ कहलाती थी। अंबष्ठ वाहीक में एक गण का नाम भी था।

कात्यायन में 'महाशूद्र' नामक जाति-विशेष का उल्लेख किया है (४।१।४)। काशिका के अनुसार यह आभीर जाति की संज्ञा थी। आभीर महाशूद्र क्यों कहलाए? इसकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि इस प्रकार ज्ञात होती है। शक-यवनों की तरह ही जो पतंजलि के समय में शूद्रों में गिने गए, विदेश से आने वाली आभीर जाति भी उसी प्रकार शूद्रों में परिगणित हुई। किंतु सामाजिक व्यवहार और छुआछूत की दृष्टि से उनका पद ऊँचा समझा गया, अतः वे महाशूद्र (ऊँचे शूद्र) कहलाए। पतंजलि ने शूद्राभीरम् उदाहरण में (त्यदादीनि सर्वैर्नित्यम्, १।२।७२, वा० ६) इस पद में शूद्र पद से सामान्य शूद्र और आभीर पद से विशेष प्रकार के शूद्रों का ग्रहण किया गया है। उत्तरी सिंध के पूर्वी भाग में शूद्र और उसके पास ही आभीरों का बड़ा राज्य था जिसके कारण शूद्राभीरं यह नामों का जोड़ा प्रचलित हुआ होगा।

आश्रम—चारों आश्रमों के लिये कात्यायन ने 'चातुराश्रम्य' पद दिया है। सूत्र में उनके ये नाम हैं—ब्रह्मचारी (५।२।१३४), गृहपति (४।४।९०), भिक्षु (३।२।१६८) और परिव्राजक (६।१।१५४)। पाणिनि के समय में आश्रम

प्रणाली उन्नत दशा में थी, विशेषतः ब्रह्मचर्य-शिक्षा-प्रणाली जिसका कुछ विस्तार से वर्णन हुआ है।

ब्रह्मचारी—ब्रह्मचारी के लिये 'वर्णी' यह नई संज्ञा प्रयोग में आने लगी थी (वर्णाद् ब्रह्मचारिणि, ५।२।१३४) जो संहिता और ब्राह्मण साहित्य में अविदित थी। काशिका के अनुसार तीन उच्च वर्णों के ब्रह्मचारी वर्णी कहलाते थे (ब्राह्मणादयस्त्रयो वर्णा वर्णिन उच्यन्ते)।

एक ही चरण या वैदिक शिक्षण-संस्था में अनेक ब्रह्मचारी अध्ययन करते थे और इस नाते से वे आपस में सब्रह्मचारी कहलाते थे (चरणे ब्रह्मचारिणि, ६।३।८६)। उदाहरण के लिये, कठ चरण में पढ़नेवाले सब छात्र कठ सब्रह्मचारी कहे जाते थे। आज जिस प्रकार एक विश्व-विद्यालय के विद्यार्थी उपाधि के साथ शिक्षासंस्था का नाम लेकर समान संबंध प्रकट करते हैं, कुछ उसी प्रकार की यह प्रथा थी। एक ही गुरु के शिष्य होने के कारण जो विद्या-संबंध बनता था उसका जीवन में वास्तविक उपयोग और महत्त्व था। आचार्य ब्रह्मचारी को आत्म-समीप लाकर उसका उपनयन करते थे जिसके फल स्वरूप एक ओर आचार्य और दूसरी ओर ब्रह्मचारी को संयुक्त करनेवाले एक प्रकार के नये संबंध का जन्म होता था, जिसे पाणिनि ने आचार्यकरण[1] कहा है (१।३।३६)। इस के लिये 'उपनयते' यह विशेष क्रियापद प्रयुक्त होता था। उप पूर्वक नी धातु का इस विशेष अर्थ में प्रयोग अथर्ववेद के समय से ही आरंभ हो गया था (आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणम्, अथर्व ११।५।३)।

छात्र दो प्रकार के थे, माणव और अन्तेवासी (गोत्रान्तेवासि माणव ब्राह्मणेषु क्षेपे, ६।२।६९)। माणवों को पाणिनि ने 'दण्ड माणव' भी कहा है। ४।३।११३०)। छोटी अवस्था के सीखतर ब्रह्मचारी माणव होते थे मातंग जातक में दण्डमाणवों को बाल कहा गया है (४।३७९, ३८७)। ब्रह्मचारी पलाश का दंड या आषाढ़ (५।१।११०) और अजिन रखते थे।

ब्रह्मचर्य की अवधि—तदस्य ब्रह्मचर्यम् (५।१।९४) सूत्र में ब्रह्मचारियों के नामकरण की विधि बताई गई है। जितने दिन के लिये छात्र ब्रह्मचर्य व्रत की दीक्षा लेते थे उस अवधि के अनुसार उनका नाम पड़ता था। सूत्र के उदाहरणों से ज्ञात होता है कि पंद्रह दिन (आर्धमासिकः ब्रह्मचारी), एक महीना (मासिकः), या एक वर्ष (सांवत्सरिकः) ब्रह्मचर्य का समय हो सकता था। वस्तुतः परिमित

---

१ 'आचार्यकरण' की व्याख्या काशिका में इस प्रकार है—

'आचार्यकरणमाचार्यक्रिया। माणवकमीदृशेन विधिनाऽऽत्म समीपं प्रापयति यथा स उपनेता स्वयमाचार्यः सम्पद्यते। माणवकमुपनयते। आत्मानं आचार्यीकुर्वन् माणवकमात्मसमीपं प्रापयतीत्यर्थः।

अवधि के लिये चरणों में प्रविष्ट होकर अध्ययन करने वाले ब्रह्मचारियों की ये संज्ञाएं थीं। आधुनिक विश्वविद्यालयों के अल्पकालिक व्याख्यान प्रबंध या शार्टटर्म कोर्स के ढंग पर वैदिक चरणों में भी अध्ययन की सुविधाएँ मिलने लगी थीं; तभी मासिक और आर्धमासिक ब्रह्मचारी जैसे प्रयोग अस्तित्व में आए होंगे। सब प्रकार के छोटे-बड़े अध्ययन और ग्रंथ-पारायणों में भाग लेने की विद्यार्थियों को छूट थी। किसी यज्ञ विशेष की विधि जानने की इच्छा से, या विशेष साम-गान कण्ठ करने के लिये, या कुछ ऋचाओं का पारायण सीखने के लिये एक पखवाड़े या एक महीने जैसे थोड़े समय के लिये भी छात्र अध्ययन का नियम लेकर आर्ध-मासिक या मासिक ब्रह्मचारी बन सकते थे। अड़तालीस वर्ष तक ब्रह्मचर्य का व्रत लेनेवाले छात्र 'अष्टाचत्वारिंशक' या 'अष्टाचत्वारिंशी' कहलाते थे (कात्यायन)। गृह्य सूत्रों से ज्ञात होता है कि गुरुकुलवास की यह अधिकतम अवधि थी। अड़तालीस वर्ष का ब्रह्मचर्य व्रत 'आदित्य-व्रत' कहलाता था जिसके धारण करने-वाले ब्रह्मचारियों की संज्ञा आदित्यव्रतिक थी। गोभिलगृह्यसूत्र के अनुसार 'आदित्य साम' पर्यन्त अध्ययन का व्रत आदित्यव्रत' था। (३।१२८-३०)।

ब्रह्मचारियों के नाम-करण के प्रसङ्ग में कात्यायन ने कहा है कि व्रत के नाम से या अध्ययन के विषय के अनुसार विद्यार्थी का नाम पड़ता था; जैसे महानाम्नी ऋचाओं के अध्ययन का व्रत लेनेवाला ब्रह्मचारी 'महानाम्निक' कहलाता था। महानाम्नी सामवेद की नौ ऋचाओं की संज्ञा थी जिन्हें शाकरी छन्द में होने के कारण शाकरी भी कहा जाता था। गोभिल गृह्य में सूत्र में रौरुकि ब्राह्मण के आधार पर लिखा है कि किसी समय माताएँ दूध पीते बच्चों के लोरी गान में कहा करती थीं—हे पुत्र! तुम शकरी छन्दोमूलक महानाम्नी व्रत के पारगामी[1] बनो। गोभिल गृह्यसूत्र के अनुसार महानाम्नी पर्यन्त सामवेद की समाप्ति के लिये १२, ९, ६ या ३ वर्ष की अवधि के विकल्प से चार प्रकार महानाम्निक व्रत होता था। इसी सूत्र पर काशिका में गौदानिक ब्रह्मचर्यव्रत का भी उल्लेख है। १६ वर्ष की अवस्था में गोदान-विधि के साथ समाप्त होनेवाले ब्रह्मचर्य काल के लिये यह विशेषण प्रयुक्त होता था (मनु, २।६५; गोभिल गृ० सू० ३।१।२८)।

पूर्व नियत उद्देश्य और परिमित कालके लिये शिक्षा की सुविधा का उल्लेख उपनिषदों में भी आता है, जहाँ जिज्ञासु कुछ समय के लिये आचार्य के पास ब्रह्मचर्य व्रत ग्रहण करते हैं। विशेष उच्च शिक्षण के लिये और बढ़ी हुई ज्ञान-पिपासा की तृप्ति के लिये इस प्रकार की व्यवस्था अत्यन्त उपयोगी थी।

१—अथाहि रौरुकि ब्राह्मणं भवति—कुमारान् ह स्म वै मातरः पाययमाना आहुः शक्करीणां पुत्रका व्रतं पारयिष्णवो भवतेति।

(गोभिल गृह्यसूत्र ३।२।७-६)

स्नातक—अध्ययन समाप्त करने पर ब्रह्मचारी आचार्य की अनुमति से स्नातक बनता था। स्नात वेद समाप्तौ गणसूत्र (५।४।२९) के अनुसार वेदाध्ययन की समाप्ति पर स्नातक बनने का उचित काल समझा जाता था। विद्या विशेष में अतिशय प्रवीण स्नातक 'निष्णात' कहे जाते थे। पीछे चल कर यह शब्द कौशल के लिये प्रयुक्त होने लगा (निनदीभ्यां स्नातेः कौशले, ८।३।८९)। 'स्रग्वी' पद भी (५।२।१२१) संभवतः स्नातक के लिये ही प्रयुक्त होता था (मनु ३।३)। स्रक् ब्रह्मचर्य-व्रत समाप्ति का विशेष चिह्न थी। अकाल में व्रत छोड़ कर गृहस्थ बन जानेवाले छात्रों को व्यङ्ग्य से 'खट्वारूढ़' कहा जाता था (खट्वा क्षेपे २।१।२६)। ब्रह्मचारी के लिये खाट का प्रयोग निषिद्ध होने के कारण 'खट्वारूढ़' पद निंदार्थक माना गया था।

गृहपति—विवाह करके गृहस्थ आश्रम में प्रविष्ट होनेवाले व्यक्ति के लिये प्राचीन संज्ञा 'गृहपति' थी। विवाह के समय प्रज्ज्वलित हुई अग्नि 'गार्हपत्य' कहलाती थी, क्योंकि गृहपति उससे संयुक्त रहता था (गृहपतिना संयुक्ते ञ्यः, ४।४।९०)। अग्नि-साक्षिक विवाह से आरंभ होने वाले गृहस्थ जीवन में गृहपति लोग जिस अग्नि को गृह्ययज्ञों के द्वारा निरंतर प्रज्वलित रखते थे उस अग्नि के लिये ही गृहपतिना संयुक्तः' यह विशेषण चरितार्थ होता है। विवाह के समय का अग्निहोम एक यज्ञ था। उस यज्ञ में पति के साथ विधिपूर्वक संयुक्त होने के कारण विवाहिता स्त्री की संज्ञा 'पत्नी' होती थी (पत्युर्नो यज्ञसंयोगे, ४।१।३३)। पति-पत्नी दोनों मिलकर वैवाहिक अग्नि की परिचर्या करते थे (मनु ३।६७)। गृह्य अग्नि में आहुत होनेवाले अनेक स्थालीपाक उस समय किए जाते थे। पाणिनि ने वास्तोष्पति के अतिरिक्त 'गृहमेध' देवता का भी उल्लेख किया है (४।२।३२)।

पुत्र-पौत्रों से सुखी संपन्न पति-पत्नी सुप्रज (५।४।१२२), बहुप्रज (५।४। २३) और पुत्रपौत्रीण (पुत्र पौत्र मनुभवति, ५।२।१०) कहलाते थे।

घर या कुटुंब का बड़ा-बूढ़ा वृद्ध (१।२।६५) या वंश्य (४।१।१६३) कहलाता था। उसके जीवन-काल मे दूसरे लोग चाहे वे किसी भी आयु के हों 'युवा' (४।१।१६३) कहलाते थे। कुटुंब के वृद्ध और युवा सदस्यों के नामों में भिन्न भिन्न प्रत्ययों का प्रयोग होता था। गर्ग कुल के वृद्ध या वंश्य की संज्ञा 'गार्ग्य' और उसी कुटुंब के युवा सदस्यों की 'गार्ग्यायण' होती थी। गार्ग्य और गार्ग्यायण के भेद का सामाजिक मूल्य था। प्रत्येक कुल को अपनी बिरादरी जाति या समाज की पंचायत में वास्तविक सत्ता प्राप्त थी। कुल का बड़ा बूढ़ा उसका प्रतिनिधित्व करता था। गार्ग्य के जीवन काल में उस कुल की पगड़ी गार्ग्य के सिर ही बाँधी जाती थी और वही उस कुटुंब का प्रतिनिधि माना जाता था। उसकी मृत्यु के उपरांत उसका सगा बड़ा बेटा जो कल तक गार्ग्यायण था कुल के प्रतिनिधित्व की दृष्टि से गार्ग्य बन जाता था। इस परिवर्तन को उस बिरादरी के समस्त कुटुंबों के प्रतिनिधि एकत्र

होकर गार्ग्यायण के सिर पगड़ी बाँध कर स्वीकार करते थे और उस दिन से उस कुटुंब के लिये वह गार्ग्य कहलाने लगता था। पगड़ी बाँध कर पट्टाभिषेक करने की यह प्रथा आज तक प्रचलित है। पाणिनि ने 'वृद्ध' और 'युवा' प्रत्ययों से बननेवाले नामों पर जो इतना ध्यान दिया है, उसका सामाजिक पहलू था और जीवन में उसका वास्तविक उपयोग और महत्व था। पिता के उपरांत पुत्र उसके स्थान पर अपने कुटुंब का प्रतिनिधित्व करने का अधिकारी होता था। किंतु यदि कोई बड़ा-बूढ़ा दादा, ताऊ या चाचा उस कुटुंब में जीवित हो तो अपने पिता की दृष्टि से जिस गार्ग्यायण ने गार्ग्य पद प्राप्त कर लिया था वह बड़े-बूढ़े ताऊ-चाचा की दृष्टि से गार्ग्यायण ही कहलाता रहता था (वा अन्यस्मिन्स्थविरतरे सपिंडे जीवति ४।१।१६५)। बिरादरी की पंचायतों में प्रायः बड़ा-बूढ़ा ताऊ चाचा ही उस कुटुंब का प्रतिनिधित्व करता रहता था। बड़े भाई के जीवित रहते हुए सब छोटे भाई 'युवा' कहलाते थे। बड़ा भाई गार्ग्य और छोटे गार्ग्यायण संज्ञा के अधिकारी थे (भ्रातरि तु ज्यायसि, ४।१।१६४)।

अष्टाध्यायी में प्रयुक्त ऋत्विक्, वाणिज, कृषीवल, शिल्पी, कर्मकर आदि शब्दों से तत्कालीन जीविकोपार्जन के साधनों का संकेत मिलता है। संपन्न गृहस्थों की स्थिति नैष्कशतिक और नैष्कसहस्रिक (शतसहस्रान्ताच्च निष्कात्, ५।२।११९) इन विशेषणों से ज्ञात होती है। महाभारत में भी सौ निष्क और हजार निष्क धन की इन दो कोटियों का लोक में प्रयुक्त मुहावरे के रूप में उल्लेख हुआ है (शतेन निष्कगणितं सहस्रेण च सम्मितम्, अनुशासन १३।४३)।

अध्याय ३, परिच्छेद २–विवाह

स्वकरण—पाणिनि ने विवाह के लिये उपयमन (१।२।१६) शब्द का प्रयोग किया है जिसकी व्याख्या 'स्वकरण' शब्द से सूत्र में की गई है (उपाद्यमः स्वकरणे १।३।५६)। पति के द्वारा पत्नी का पाणिग्रहण किये जाने पर विवाह-संस्कार संपन्न समझा जाता था। इसके लिये पाणिनि ने 'हस्तेकृत्य' 'पाणौकृत्य' इन दो शब्दों का उल्लेख किया है, जो विवाह के पर्यायवाची थे (नित्यं हस्ते पाणावुपयमने, १।४।७७)। पाणि ग्रहण के द्वारा ही पति-पत्नी को 'अपनी' बनाता था जिससे 'स्वकरण' पद का विवाह के अर्थ में प्रयोग हुआ। मनु के अनुसार केवल सवर्णा स्त्रियों के साथ विवाह पाणिग्रहण द्वारा होता था (पाणिग्रहण संस्कारः सवर्णासूपदिश्यते ३।४३)। विवाह के संपन्न होने में वर के द्वारा वधू के पाणि-ग्रहण का महत्व 'पाणिगृहीती' शब्द से प्रकट होता है जो कात्यायन के अनुसार विधिवत् परिणीता पत्नी की संज्ञा थी (पाणि गृहीत्यादीनां विशेषे ४।१।५२, वा० २०) इसके विपरीत 'पाणि गृहीता' शब्द विधि-बाह्य परिणीता स्त्री के लिये प्रयुक्त होता था (यस्याः हि यथा कथञ्चित् पाणिर्गृह्यते)।

विवाह के फल-स्वरूप पति का पत्नी पर स्वामित्व हिंदू-धर्मशास्त्र का सुविदित नियम था। रोमदेश के पुराने कानून में कौमार, यौवन और वार्धक्य किसी भी अवस्था में स्त्री का स्वतन्त्र व्यक्तित्व नहीं माना जाता था और पिता, पति या पुत्र की संरक्षकता अनिवार्यतः अपेक्षित थी। मेन के अनुसार पुत्री के ऊपर पिता की संरक्षकता का यह कृत्रिम अभिवर्धन था[1]। वैसी ही स्थिति मनु के मानवधर्म-शास्त्र में कही गई है—

पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवनने।
रक्षन्ति स्थविरे पुत्राः न स्त्री स्वातन्त्र्य मर्हति ॥ (९३)

कानूनी व्यक्तित्व की दृष्टि से विवाहित स्त्री का पति से पृथक् कोई निजी तन्त्र प्राचीन धर्म शास्त्र में मान्य नहीं था, किन्तु दोनों का अभिन्न या एकीकृत तन्त्र समझा जाता था (यो भर्ता सा स्मृताङ्गना, मनु)। विवाह के समय पिता कन्या के संबंध में अपना स्वामित्व भावी पति को कन्यादान के द्वारा हस्तान्तरित करता है और पति उस दान को त्रिवाचा स्वीकार करता हुआ उस स्त्री का स्वकरण करता है, अर्थात् जो वस्तु अपनी नहीं थी उसे अपनी बनाता था (अस्वं स्वं करोति, भाष्य १।३।५६)। मनु के अनुसार कन्यादान का फल पति का स्वामित्व है (प्रदानं स्वाम्य कारणम् ५।१५२) अर्थात् कन्या के ऊपर पिता का स्वाम्य (संरक्षकत्व) समाप्त होकर पति में संक्रांत हो जाता था। पति के द्वारा इस स्व-करण की मर्यादा का सूक्ष्म विचार मीमांसा-शास्त्र में किया गया है जहाँ सर्वस्वदक्षिण (जिसमें सब कुछ दक्षिणा में देना आवश्यक हो) विश्वजित् नामक यज्ञ में पत्नी के ऊपर पति का अधिकार एक जीवित प्रश्न बनकर सामने आता था।

जिस कन्या से पुरुष विवाह करता था वह 'कुमारी' होती थी (कौमार-पूर्ववचने, ४।२।१३)। पतञ्जलि ने कुमारी को 'अपूर्वपति' कहा है।[2] अनन्यपूर्विका कुमारी कन्या विवाहोपरांत कौमारी भार्या और उसका पति कौमार पति इन प्रशस्त विशेषणों से अभिहित होते थे। विवाहित पति-पत्नी एक साथ यज्ञ आदिक गृह-कर्म में प्रवृत्त होते थे। पति के साथ यज्ञ-संयुक्त होने के अधिकार से ही स्त्री को पत्नी संज्ञा प्राप्त थी (पत्युर्नो यज्ञ-संयोगे ४।१।३३)। विधिबाह्य विवाहिता स्त्री को पति के साथ यज्ञ क्रिया में भाग लेने का अधिकार नहीं मिल सकता था।

स्वाभाविक रीति से पत्नी अपने पति की पद-प्रतिष्ठा की भी अधिकारिणी बनती थी। पुंयोगादाख्यायाम् (४।१।४८) सूत्र के अनुसार पति के पदानुकूल पत्नी

---

१ थ्योरी आफ परपेचुअल गार्जिअनशिप ओवर डाटर्स बाई ऐन आरटिफिशिअल प्रोलौन्गेशन आफ पैट्रिआ पोटेस्टा इन रोमन ला (मेनकृत ऐन्शेण्ट ला)।

२ तुलना कीजिए, याज्ञवल्क्य स्मृति 'अनन्य पूर्विका' (१।५२)।

का नाम भी व्यवहार में आता था, जैसे महामात्र (एक उच्च राजकीय अधिकारी) की स्त्री महामात्री और गणक (अर्थ-विभाग का उच्च अधिकारी) की स्त्री 'गणकी' कही जाती थी। इसी प्रसंग में पाणिनि ने आचार्य की स्त्री के लिये 'आचार्यानी' संज्ञा का उल्लेख किया है। स्वयं अध्यापन कार्य करनेवाली स्त्री आचार्या होती थी (४।१।४९)।

विवाह-संबंध अपने गोत्र से बाहर करने की प्रथा थी जैसी अब भी है। विवाह-संबंध के लिये अष्टाध्यायी में 'मैथुनिका' शब्द का प्रयोग किया गया है (४।३।१२५)। जो दो गोत्र आपस में एक दूसरे के साथ विवाह-संबंध में बँधते थे, स्वभावतः उनके नामों का जोड़ा एक साथ बोला जाता था। इस प्रकार के द्वंद्व समास बनाने का नियम पाणिनि ने दिया है (द्वन्द्वाद् वुन् वैरमैथुनिकयोः ४।१।१२५)। इसके उदाहरण में पतञ्जलि ने प्रसंगवश पाँच नामों का उल्लेख कर दिया है—१ अत्रि-भरद्वाजिका, २ वसिष्ठकश्यपिका, ३ भृग्वङ्गिरसिका, ४ कुत्स-कुशिकिका, ५ गर्गभार्गविका। अत्रि-भरद्वाज, वसिष्ठकश्यप आदि गोत्रों का पारस्परिक विवाह-संबंध यही इस प्रकार के नामों के प्रयोग में हेतु था।

अध्याय ३, परिच्छेद ३—स्त्री

कुमारी—स्त्री के जीवन के अनेक क्षेत्रों का अष्टाध्यायी से परिचय मिलता है। कुमारी, पत्नी, माता, छात्रा, आचार्या आदि दशाओं में उसके जीवन की कुछ झाँकी तत्कालीन भाषा के शब्दों में आ गई है। आयु के प्रथम भाग में (वयसि प्रथमे ४।१।२०) वह कुमारी, किशोरी और कन्या कहलाती थी। कुछ स्त्रियाँ आजीवन अविवाहित रह जाती थीं। वे बड़ी आयु होने पर भी कुमारी ही कहलाती थीं (कुमार्यां वयसि ६।२।९५), जैसे वृद्धकुमारी, जरत्कुमारी। कन्यावस्था में ही अवैध संबंध से जो पुत्र उत्पन्न होता था वह 'कानीन' कहलाता था (कन्यायाः कनीन च ४।१।११६)। मनु ने बारह प्रकार के पुत्रों में कानीन भी कहा है (मनु ९।१७२)। पतंजलि ने आपत्ति उठाई है कि यदि कन्या है तो पुत्र कैसा, और पुत्र हो गया है तो कन्या कैसी ? कन्या और पुत्र ये दोनों आपस में विरुद्ध हैं। उन्होंने यह कह कर उसका समाधान किया है कि विवाह संबंध में बँध जाने के बाद पुरुष के साथ शरीर-संबंध होने पर स्त्री का कन्या कहलाना बंद हो जाता है, किंतु विवाह संबंध से पहिले पुरुष के साथ जो शरीर-संबंध कर लेती है उसके लिये भी लोक में कन्या शब्द चालू रहता ही है। जिसको लोग कन्या कहते या मानते रहें वही कन्या है भाष्य ४।१।११६)।

विवाह योग्य अवस्था प्राप्त होने पर कन्या 'वर्या' कहलाती थी। ज्ञात होता है कि वर्या वह कन्या थी जो बिना रोक-टोक वरी जा सके। सूत्रकार ने अनिरोध अर्थ में यह शब्द सिद्ध किया है। काशिका में इसके दो उदाहरण हैं—'शतेन

वर्या', 'सहस्रेण वर्या'। टीकाकारों ने ऐसा अर्थ किया है कि जो सौ पुरुषों से अथवा सहस्र पुरुषों से वरण के लिये उपलब्ध हो वह 'वर्या' है। पर ज्ञात होता है कि शत और सहस्र शब्द कार्षापण वाची हैं। सौ या हजार चाँदी के कार्षापण पिता को कन्या-शुल्क देने पर जिस कन्या को बिना रोक-टोक कोई भी वर सके उसके लिये 'वर्या' शब्द था। इसके विरुद्ध जिस कन्या के लिये इस प्रकार बेरोक-टोक मंगनी का अवसर न हो और जिसके लिये माता-पिता संबंध नियत करें, उसकी संज्ञा वृत्या थी। वर्या शब्द नित्य स्त्रीलिंग था। पुल्लिंग अर्थों में इसी का उदाहरण 'वार्या ऋत्विजः' काशिका ने दिया है, जिसका अर्थ होगा वे पुरोहित जिन्हें नियत शुल्क (दक्षिणा) देने पर कर्म के लिये चुना जा सके। जो कन्या स्वयं अपना पति चुनती थीं उसके लिये 'पतिंवरा' शब्द था (३।२।४६)।

पत्नी—वधू जनी और उसकी या वर की भी सखियाँ जन्या कहलाती थीं (जनीं वहति जन्या, जामातुर्वयस्या सा हि विहारादिषु जामातृसमीपं प्रापयति। जनी वधूरुच्यते, काशिका, ४।४।८२)। नव-विवाहिता वधू के लिये लोक और वेद दोनों भाषाओं में सुमङ्गली शब्द चलता था (संज्ञा छंदसोः, ४।१।३०)। विवाहिता स्त्री के लिये जाया (३।२।५२), पत्नी (४।१।३३) और जानि शब्द प्रयुक्त होते थे। युवती स्त्री और वृद्धा स्त्री का पति क्रमशः युवजानि और वृद्धजानि' (५।४।१३४) कहलाता था। पतिवत्नी, जिसका पति जीवित हो (जीवत्पति, ४।१।३२), इस विशेष पद से ध्वनित होता है कि पति के जीवन काल में पत्नी गृहस्वामिनी होती थी। 'सपत्नी' शब्द बहुविवाह की प्रथा का सूचक है।

ऐसी बड़ी बहिन का पति जिसका विवाह छोटी बहिन के बाद हो 'दिधिषू पति' कहलाता (६।२।१९) था।

पाणिनि ने एक सूत्र में उन वशीकरण मंत्रों का भी उल्लेख किया है जिनका जप करके पुरुष स्त्री के हृदय को अपने वश में कर लेता था। ये मंत्र वैदिक थे जो अथर्व वेद में संगृहीत हैं। स्त्री-हृदय को बाँधने वाले ये मंत्र पाणिनि-काल में हृद्य कहलाते थे (बंधने चर्षौ, ४।४।९६; परहृदयं येन बध्यते वशीक्रियते स वशीकरण मंत्रो हृद्य इत्युच्यते)।

अच्छे शील वाली माता का पुत्र भद्रमातुर (४।१।११५) और रूपवती माता का कल्याणिनेय (४।१।१२६) कहलाता था। पिता का गोत्र ज्ञात होने पर माता के गोत्र के अनुसार पुत्र का नाम पड़ता था, किंतु इस प्रकार के नाम से कुछ निंदा या हेठी (कुत्सन) सूचित होती थी (गोत्रस्त्रियाः कुत्सने ण च, ४।१। १४७; पितुरसंविज्ञाने मात्राऽव्यपदेशोऽपत्यस्य कुत्सा, काशिका)। उदाहरण के लिये गर्ग गोत्र में उत्पन्न गार्गी के पुत्र का नाम 'गार्गिक' हो सकता था, किंतु वह गौरवास्पद न था।

गोत्र जनपद और वैदिक चरणों के नाम से स्त्रियों के नामकरण की प्रथा का अष्टाध्यायी में पर्याप्त उल्लेख हुआ है। इससे स्त्रियों की सामाजिक प्रतिष्ठा और गौरवात्मक स्थिति का संकेत मिलता है। एक जनपद में उत्पन्न राजकुमारियाँ या स्त्रियाँ विवाह के बाद जब दूसरे जनपद में जाती थीं तब पतिगृह में वे अपने जनपदीय नाम से भी पुकारी जाती थीं। राजस्थान के राजघरानों में प्रायः अभी तक यह प्रथा विद्यमान है, जैसे हाडौती या ढूँढारी रानी। महाभारत-काल में प्रायः सब प्रसिद्ध स्त्रियों के नाम माद्री, कुंती, गांधारी आदि इसी प्रकार के हैं। पाणिनि ने निम्नलिखित नामों का सूत्र में उल्लेख किया है—अवंति जनपद के क्षत्रिय की कन्या अवंती, कुंति जनपद या कोंतवार देश की राजकुमारी कुंती, कुरु राष्ट्र की राजकुमारी कुरू, भर्ग जनपद की राजकुमारी भार्गी (४।१।१७६-१७८) आदि। पाञ्चली, वैदेही, आंगी, वांगी, मागधी, ये नाम प्राच्य देश के जनपदों की स्त्रियों के थे (४।१।१७८)। पाणिनि ने यौधेय नामक गणराज्य की स्त्री के लिये "यौधेयी' शब्द का उल्लेख किया है। भारतवर्ष के पूर्वी भागों में स्त्रियों के नाम में 'आयन' प्रत्यय का बहुधा प्रयोग होता था (प्राचां ष्फ तद्धितः, ४।१।१७), जैसे गर्ग गोत्र की स्त्री पूर्व में 'गार्ग्यायणी' और अन्यत्र 'गार्गी' कहलाती थी।

शिक्षा के क्षेत्र में भी स्त्रियों का सम्मानित स्थान था, यहाँ तक कि चरण संज्ञक वैदिक शिक्षा केंद्रों में भी वे प्रविष्ट होकर अध्ययन करती थीं। सूत्र ४।१।६३ (जातेरस्त्रीविषयादयोपधात्) में जातिवाची स्त्री नामों में गोत्र और चरण वाची नामों का ग्रहण सब आचार्यों ने माना है। काशिका में कठी और बह्वृची ये उदाहरण दिये गए हैं। कृष्ण यजुर्वेद की प्रसिद्ध शाखा का एक चरण कठ था। उसके संस्थापक आचार्य कठ सुप्रसिद्ध आचार्य वैशम्पायन के अंतेवासी थे। कठ के चरण में विद्याध्ययन करने वाली स्त्रियाँ कठी कहलाईं। इसी प्रकार बह्वृच नामक ऋग्वेद के चरण में अध्ययन करने वाली ब्रह्मचारिणी कन्याएं बह्वृची संज्ञा की अधिकारिणी थीं। इससे ज्ञात होता है कि चरणों में जो मान मर्यादा छात्रों को होती थी वही छात्राओं के लिये भी थी। अन्य उदाहरण सूचित करते हैं कि मीमांसा और व्याकरण शास्त्र जैसे जटिल विषयों का अध्ययन भी स्त्रियाँ करती थीं। पाणिनि-व्याकरण का अध्ययन करने वाली स्त्री 'पाणिनीया', आपिशलि आचार्य के व्याकरण को पढ़ने वाली 'आपिशला' (आपिशलमधीते ब्राह्मणी आपिशला, भाष्य ४।१।१४, वा, ३), एवं काशकृत्स्नि आचार्य की मीमांसा का अध्ययन करने वाली स्त्री 'काशकृत्स्ना' कहलाती थी (काशकृत्स्निना प्रोक्ता मीमांसा काशकृत्स्नी, तामधीते काशकृत्स्ना, भाष्य ४।१।१४, वा० ५; ४।१।९३, वा० ९; ४।३।१५५, वा० ५)। शिक्षा में प्रवीण माणविका के साथ विवाह करने वाला पति उसके कारण अपने आपको गौरवान्वित मान कर उसके नाम से अपना नामकरण करता था, जैसे

औपगवी माणविका भार्या अस्य औपगवी भार्यः; ग्लुचुकायनी माणविका भार्या अस्य ग्लुचुकायनीभार्यः (भाष्य ४।१।९३, वा० ९)। स्त्री चरणों के संस्थापक, सांग सरहस्य वेद का अध्ययन कराने वाले, उपनयन कराने के अधिकारी महान् आचार्य शिक्षा के क्षेत्र में सर्वोच्च पद के अधिकारी थे। उन्हीं की कोटि पर पहुँच कर अध्यापन कार्य करने वाली विशिष्ट स्त्रियाँ आचार्या जैसे सम्मानित पद की अधिकारिणी होती थीं (४।१।४९ सूत्र में पठित आचार्यानी का प्रत्युदाहरण)। पुरुषों के समान ही सांग सरहस्य वेद का अध्यापन कराने और माणविकाओं का उपनयन कराने का जिसे अधिकार हो वही आचार्या हो सकती थी। शिक्षा की ऐसी उन्नत दशा में छात्राओं के लिये अलग आवास स्थानों का प्रबंध भी किया जाना आवश्यक था। पाणिनि ने विशेष रूप से छात्रिशालाओं का उल्लेख किया है (छात्र्यादयः शालायाम्, ६।२।८६)। आचार्याओं के निरीक्षण में जो शिक्षा-संस्थाएँ चलती थीं उन्हीं के अंतर्गत ये छात्रिशालाएँ रहती होंगी।

ज्ञानोपार्जन की यह प्रवृत्ति कभी कभी यहाँ तक बढ़ती कि स्त्रियाँ आयु-पर्यन्त अविवाहित रहकर नैष्ठिक भिक्षुणियों का जीवन व्यतीत करती थीं। उनके लिये सूत्र में 'कुमारश्रमणा' पद आया है (कुमार श्रमणादिभिः २।१।७०; कुमारी श्रमणा कुमारश्रमणा)। यास्क ने परिव्राजक नामक आचार्यों का उल्लेख किया है जो सम्भवतः संन्यास धर्म के अनुयायी थे। गणपाठ का 'कुमारप्रव्रजिता' शब्द उस सम्प्रदाय की नैष्ठिक व्रतचारिणी स्त्रियों के लिये प्रयुक्त हुआ जान पड़ता है।

श्रमण शब्द प्रायः ब्राह्मणेतर संन्यासियों के लिये प्रयुक्त होता था। अशोक के लेखों में 'ब्राह्मण-श्रमण यह पद बहुधा आता है। वहाँ श्रमण शब्द अवश्य ही बौद्ध भिक्षुओं के लिये है। कौमार अवस्था में संन्यास लेकर भिक्षुणी बनने की व्यवस्था बुद्ध ने स्त्रियों के लिये की थी। बुद्ध के समय में भिक्षुणी संघ नियमित संस्था बन गई थी। कुमारी श्रमणा या कुमार श्रमणा पद का प्रयोग भाषा में भिक्षुणीसंघ की स्थापना के बाद ही चलने की अधिक सम्भावना थी।

पाणिनि ने प्राच्य देश की क्रीड़ाओं का उल्लेख किया है (६।२।७४), जिसके उदाहरण टीकाओं में ये मिलते हैं—शालभञ्जिका, उद्दालकपुष्पभंजिका, अशोक-पुष्पप्रचायिका, वीरणपुष्पप्रचायिका आदि। ये स्त्रियों की उद्यान क्रीड़ाएँ थीं। जातकों में इन्हें 'उय्यान-कीडा कहा गया है।

अष्टाध्यायी में स्त्रियों के प्रसाधन और अलंकरण की सामग्री का भी उल्लेख पाया जाता है, जैसे माथे पर पहनने की 'ललाटिका', कानों की 'कर्णिका' (४।३।६५) और गले का ग्रैवेयक' (४।२।९६)। केश-संस्कार को 'केशवेश' और विशेष प्रकार के केशविन्यास को कबरी कहा गया है।

अध्याय ३, परिच्छेद ४–सामाजिक संस्थाएँ

इस शीर्षक के अन्तर्गत निम्नलिखित संस्थाओं पर विचार किया गया है—(१) जनपद, (२) वर्ण, (३) जाति, (४) गोत्र, (५) सपिण्ड, (६) सनाभि (७) ज्ञाति, (८) संयुक्त, (९) कुल, (१०) वंश, (११) गृहपति।

जनपद—पाणिनि ने अनेक जनपदों का उल्लेख किया है। भौगोलिक दृष्टि से उनके नाम और पहचान ऊपर दी जा चुकी है। किन्तु जनपद भौगोलिक इकाई मात्र न थी। उसका सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनैतिक स्वरूप अधिक महत्त्वपूर्ण था। लगभग एक सहस्र ईस्वी पूर्व से लेकर पाणिनि के समय तक का काल जनपदों के विकास और अभ्युदय का युग था। इसीलिये भारतीय इतिहास में यह महाजनपद युग कहा जाता है। पाणिनि ने अपने समय में जिन संस्थाओं का दर्शन किया, उनमें जनपद, चरण और गोत्र इन तीनों का बहुत महत्व था। सामाजिक जीवन में गोत्र, शिक्षा के क्षेत्र में चरण और राजनीतिक जीवन में जनपद, इन तीन संस्थाओं की बहुमुखी प्रवृत्तियाँ थीं, और व्यक्ति के जीवन का इनसे घनिष्ठ सम्बन्ध था। अतएव इन तीनों संस्थाओं के विषय में अष्टाध्यायी में पर्याप्त सामग्री आ गई है। वैदिक संहिताओं में और शाखा ग्रन्थों में जनपद शब्द नहीं मिलता। शतपथ ब्राह्मण और ऐतरेय ब्राह्मण के अन्तिम अध्यायों में केवल एक एक बार यह शब्द आता है; किन्तु गृह्यसूत्र, पाणिनि एवं महाभारत में जनपद संस्था का पूर्ण विकास हो गया था।

वैदिक युग में जन की सत्ता प्रधान थी। एक ही पूर्वज की वंश परंपरा में उत्पन्न कुलों का समुदाय जन कहलाता था। शनैः शनैः जन का अनियत वास समाप्त होने लगा और जन एक-एक स्थान में बद्धमूल हो गए। ऐसे प्रदेश या स्थान जनपद कहलाए। मूल जन के अन्तर्गत जो क्षत्रियकुल सम्मिलित थे, जनपद में भी राजसत्ता प्रायः उन्हींके हाथ में रही। राजाधीन और गणाधीन दो प्रकार के जनपद थे। जनपदों के राजनैतिक स्वरूप और महत्त्व का पूर्ण परिचय आगे दिया जायगा। यहाँ केवल इतना पर्याप्त है कि जनपदों में भी अनेक प्रकार के सामाजिक संबंध प्रचलित थे। एक जनपद के निवासी प्रायः एक ही भाषा या बोली बोलते थे। उनमें पारस्परिक भ्रातृभाव का संबंध एवं समान देवताओं की मान्यता थी। एक जनपद के लोग परस्पर सजनपद (६।३।८५=समान जनपद के निवासी) कहे जाते थे। प्रत्येक व्यक्ति का एक अभिधान उसके जनपद के अनुसार ही पड़ता था, जैसे अंग जनपद का निवासी आंगक कहलाता था। इस विषय में पाणिनि ने ब्यौरेवार नियम दिए हैं। प्रायः स्त्रियों के लिये भी ये विशेषण प्रयुक्त होते थे। जैसे आंगी, वांगी, माद्री, यौधेयी आदि स्त्रियाँ जब विवाहित होकर पतिकुल में पहुँचतीं, तो वहाँ उनकी जनपदीय अभिधा बनी रहती थी। कुन्ती, माद्री, गान्धारी, कौशल्या और कैकेयी, ये सुप्रसिद्ध स्त्री नाम जनपद सम्बन्ध से ही थे।

प्रत्येक जनपद में जो उसके क्षत्रिय शासक थे, वे पाणिनि-काल में 'जनपदिन्' कहलाते थे (४।३।१००, जनपदिनः = जनपद स्वामिनः क्षत्रियाः) । इन राजसत्ता के अधिकारी लोगों को अभिषिक्तवंश्य भी कहते थे, क्योंकि केवल इन्हीं कुलों में उत्पन्न किसी व्यक्ति को 'राजा' पद पर अभिषिक्त होने का अधिकार प्राप्त था। विशेषतः गण या संघ राज्य प्रणाली में अभिषिक्तवंश्य कुलों का महत्व अधिक था। संघ की मंगल पुष्करिणी से अभिषेक के लिये जल लेने के वे ही अधिकारी थे। प्रत्येक गण में ऐसे कुलों की संख्या नियत होती थी। अन्धकवृष्णि संघ के अन्तर्गत इस प्रकार के जो अभिषिक्तवंश्य क्षत्रिय थे, उन्हें ही राजन्य कहते थे (६।२।३४, काशिका-राजन्यग्रहणमिहाभिषिक्त वंश्यानां क्षत्रियाणां ग्रहणार्थम्)। किन्तु जनपदों की जनसंख्या में मूल क्षत्रियजन के अतिरिक्त और वर्णों के लोग भी सम्मिलित हो गए थे।

पाणिनिसूत्र ब्रह्मणो जानपदाख्यायाम् (५।४।१०४) से विदित होता है कि भिन्न भिन्न जनपदों में बस जाने के कारण ब्राह्मणों की विशेष संज्ञाएँ प्रचलित हो गई थीं। काशिकाकार ने इसके दो उदाहरण दिये हैं—सुराष्ट्र ब्रह्मः अवन्तिब्रह्मः अर्थात् सुराष्ट्र और अवन्ति जनपद में रहनेवाले ब्राह्मण-विशेष। ये संज्ञाएँ कुछ उस प्रकार की हैं, जैसे कालान्तर में सारस्वत और कान्यकुब्ज आदि भौगोलिक भेद ब्राह्मणों में चल गए थे। अवन्तिब्रह्म का तो सीधा अर्थ मालवीय ब्राह्मण ही है, किन्तु जिस युग का यह मूर्धाभिषिक्त उदाहरण है, उस काल में अवन्ति जनपद का मालव नाम प्रसिद्ध न हुआ था। चौथी शती के लगभग गुप्तकाल में अवन्ति-प्रदेश मालव कहलाने लगा, और तब से 'अवन्तिब्रह्मः' के स्थान में मालवीय यह नया नाम प्रचलित हो गया।

वर्ण और जाति—अष्टाध्यायी में वर्ण, जाति और बन्धु ये तीन, शब्द आए हैं। वर्ण प्राचीन शब्द था। उसके स्थान पर जाति शब्द चलने लगा था, जो इस अर्थ में अपेक्षाकृत नवीन था। कात्यायन श्रौतसूत्र में जाति का अर्थ केवल परिवार है। एक वर्ण में उत्पन्न हुए व्यक्ति परस्पर सवर्ण होते थे (६।३।८५, समान वर्ण)। जाति का एक-एक व्यक्ति बंधु कहलाता था जात्यंताच्छ बंधुनि (५।४।६) सूत्र का अभिप्राय यह है कि जाति वाची शब्द से छ प्रत्यय लगाकर उस जाति के एक व्यक्ति का बोध किया जाता है, जैसे ब्राह्मणजातीयः, क्षत्रियजातीयः, वैश्यजातीयः। काशिका में स्पष्ट लिखा है कि ब्राह्मणत्वादि जाति तो अव्यक्त है। वह जिन व्यक्तियों द्वारा पहिचानी जाती है, वे बंधु कहलाते हैं। बंधु शब्द में यह संकेत है कि एक जाति के सब सदस्य एक पूर्वपुरुष से उत्पन्न होने के कारण एक दूसरे से बँधे हैं। इस कारण सब जाति भाई आपस में समान बंधु या सबंधु कहे जाते थे (६।३।८५)।

सगोत्र—गोत्र अष्टाध्यायी का महत्त्वपूर्ण शब्द है। पाणिनि के अनुसार अपत्यं पौत्र प्रभृति गोत्रम् (४।१।१६२) यह गोत्र की परिभाषा थी। इसका अर्थ

था पौत्र प्रभृति यद् पत्यं तद्गोत्रसंज्ञं भवति, अर्थात् एक पुरखा के पोते पड़पोते आदि जितनी सन्तान होगी वह गोत्र कही जायगी। गोत्र-प्रवर्तक मूल पुरुष को वृद्ध, स्थविर या वंश्य भी कहते थे। उदाहरण के लिये यदि मूल पुरुष का नाम गर्ग होता, तो उसका पुत्र गार्गि, पौत्र गार्ग्य और प्रपौत्र गार्ग्यायण कहलाता था।

१. मूलपुरु या गोत्रकृत्—गर्ग
२. पुत्र या अनंतरापत्य—गार्गि (गर्ग + इ)
३. गोत्रापत्य या पौत्र—गार्ग्य (गर्ग + य)
४. युवा या प्रपौत्र—गार्ग्यायण (गर्ग + आयन)

किसी परिवार में कौन गार्ग्य है और कौन गार्ग्यायण है, इसका समाज में वास्तविक महत्त्व था। गोत्र नाम के अतिरिक्त प्रत्येक व्यक्ति का अपना व्यक्तिगत नाम भी होता था। इसीलिये महाभारत, जातक आदि प्राचीन ग्रन्थों में व्यक्ति का परिचय पूछते समय नाम और गोत्र दोनों के विषय में प्रश्न किया जाता था। वास्तविक बात यह थी कि गोत्रों की परंपरा प्राचीन ऋषियों से चली आती थी। मान्यता है कि मूल पुरुष ब्रह्मा के चार पुत्र हुए—भृगु, अंगिरा, मरीचि और अत्रि। ये चारों गोत्रकर्ता थे। फिर भृगु के कुल में जमदग्नि, अंगिरा के गौतम और भरद्वाज, मरीचि के कश्यप, वसिष्ठ और अगस्त्य, एवं अत्रि के विश्वामित्र हुए। इस प्रकार जमदग्नि, गौतम, भरद्वाज, कश्यप, वसिष्ठ, अगस्त्य और विश्वामित्र ये सात ऋषि आगे चलकर गोत्रकर्ता या वंश चलाने वाले हुए। अत्रि का विश्वामित्र के अलावा भी वंश चला। इन्हीं मूल आठ ऋषियों को गोत्रकृत् माना गया। फिर इनमें से हरेक के वंश में भी ऐसे प्रसिद्ध व्यक्ति हुए, जिनकी विशेष कीर्ति के कारण उनके नाम से भी वंश का नाम प्रसिद्ध हो गया। उनकी गणना अपने मूल गोत्र के अंतर्गत पर स्वतंत्र गोत्र कर्ता के रूप में की जाने लगी। होते-होते एक मूल गोत्र के अंतर्गत आगे चलकर और भी बहुत से कीर्तिमान् गोत्र कर्ता उत्पन्न होते गए। उनकी गणना गोत्रगण के नाम से कर ली गई। इस प्रकार मूल आठ गोत्र और प्रत्येक के अंतर्गत उत्पन्न होने वाले गोत्र-गणों की सूचियाँ प्राचीन समय में संगृहीत की गईं। ऐसी सबसे बृहत् सूची बोधायन श्रौतसूत्र के अंत में पाई जाती है, जिसका नाम महाप्रवरकांड है। इस सूची में लगभग एक सहस्र नाम हैं। आपस्तंब, कात्यायन और आश्वलायन के श्रौत सूत्रों में भी गोत्रों की सूचियाँ हैं, जिनमें बोधायन की अपेक्षा नामों की संख्या कम है।

गोत्र के प्रश्न पर तथ्यात्मक दृष्टि से विचार किया जाय तो ज्ञात होता है कि पुराने ऋषियों ने अथवा पाणिनि ने जो गोत्रों के नामों का संग्रह किया, वह समाज की वास्तविक अवस्था का सूचक था। उन्हें जो प्रसिद्ध गोत्रों के नाम मिले, उनका संग्रह कर लिया गया, और विदित होता है, ये नाम भी ब्राह्मण गोत्र ही थे। इसके अतिरिक्त समाज में तो प्रत्येक परिवार का अपने पूर्व पुरुष की अपेक्षा स्वतन्त्र

वंश-नाम हो सकता है। एवं क्षत्रिय, वैश्य और इतर जातियों में भी सैकड़ों, गोत्रों के नाम प्रचलित रहे होंगे, जैसे आज भी हैं। इस तथ्य को पुराने लोगों ने भी पहचाना था इसीलिए कहा गया—गोत्राणां तु सहस्राणि प्रयुतान्यर्बुदानि च, अर्थात् समाज में जितने कुल हैं उन सबके नामों का संग्रह किया जाय तो परिवारों के नामों की संख्या सहस्रों, लाखों क्या, अरबों तक हो सकती है। पर व्याकरण में अथवा धर्म-शास्त्र में उन सबका संग्रह न तो सम्भव ही है और न अभिमत ही। यहाँ तो कुछ ही प्रसिद्ध गोत्रों के नामों का संग्रह हो सकता है जो वस्तुतः यशस्वी हो जाते या महत्व रखते हैं। कहने के लिये प्रत्येक व्यक्ति अपना-अपना वंश चलाता है, पर सच्चे वंशकर्ता या गोत्रकृत् कुछ वे ही होते हैं जिनके नाम से कुल प्रसिद्धि पाता है। बस इसी स्वाभाविक स्थिति को व्याकरण शास्त्र भी मानता है। ऋषियों के नाम से जो पुराने गोत्र चले आते थे, पाणिनि ने शब्द रूप और प्रत्ययों की दृष्टि से उनका वर्गीकरण करके उन्हें लगभग २० गणों में सूची बद्ध कर दिया। ये सूचियाँ अधिकांश में पुरानी सामग्री पर आश्रित थीं और कालान्तर में उनमें फेरफार भी कम ही हो सका।

पर ऋषि गोत्रों के अतिरिक्त और भी अनेकों परिवारों के नाम समाज में थे। वे भी भाषा का अंग होने के कारण बोल चाल में काम आते थे। उन अल्ल, बौंक या ख्यातों के लिये पाणिनि ने एक नया शब्द गढा 'गोत्रावयव' (४।१।७९), जिसे काशिका ने कुलाख्या कहा है (गोत्रावयवा गोत्राभिमता कुलाख्याः पुणिक-भुणिक-मुखर प्रभृतयः)। ऐसे छोटे कुलों की कोई गिनती पाणिनि ने नहीं दी, केवल एक सूत्र में (क्रौड्यादिभ्यश्च, ४।१।८०) उन नामों की थोड़ी सी बानगी दे दी।

किसी परिवार में कौन सा व्यक्ति गार्ग्य और कौन सा गार्ग्यायण था, इसका समाज में वास्तविक महत्त्व था। समाज के प्राचीन सङ्गठन में प्रत्येक गृहपति अपने घर का प्रतिनिधि माना जाता था। वही उस परिवार की ओर से जाति-बिरादरी की पंचायत में प्रतिनिधि बनकर बैठता था। ऐसा व्यक्ति उस परिवार में मूर्धाभिषिक्त होता था अर्थात् उस परिवार में सब से वृद्ध स्थविर या ज्येष्ठ होने के कारण उसी के सिर पगड़ी बाँधी जाती थी। पगड़ी बाँधने की यह प्रथा आज भी प्रत्येक हिंदू परिवार में प्रचलित है और प्रत्येक पुत्र अपने पिता का उत्तराधिकार मूर्धाभिषिक्त या पग्गड़बन्द होकर ही प्राप्त करता है। यदि किसी व्यक्ति के पाँच पुत्र हों तो उसका ज्येष्ठ पुत्र ही उसके स्थान में मूर्धाभिषिक्त बनकर उसकी गोत्र पदवी प्राप्त करता है। शेष चारों पुत्र बड़े भाई के रहते मूर्धाभिषिक्त नहीं होते। संयुक्त परिवार की यह प्रथा बड़े नपे-तुले ढंग से चलती थी। ज्येष्ठ भाई यदि गार्ग्य पदवी धारण करता तो उसके जीवनकाल में सब छोटे भाई गार्ग्यायण कहे जाते (भ्रातरि च ज्यायसि, ४।१।१६४)। ज्येष्ठ भाई वृद्ध या स्थविर या गोत्र कहलाता था, और उसकी अपेक्षा से छोटे भाई या उसके स्वयं पुत्र पौत्रादिक

युवा कहलाते थे। गार्ग्य के रहते हुए वे सब गार्ग्यायण संज्ञा धारण करते थे, अथवा गार्ग्यसंज्ञक जेठे भाई का कोई बड़ा बूढ़ा चचा आदि यदि परिवार में जीवित होता तो उसके जीते जी गार्ग्य भी युवा समझा जाता और उस गार्ग्य को भी विकल्प से गार्ग्यायण कह देते थे। ज्ञात होता है कि बुड्ढे चचा के रहते हुए वही उस परिवार का प्रतिनिधित्व करता था। अतएव यद्यपि अपने पिता की दृष्टि से भतीजा मूर्धाभिषिक्त होकर गार्ग्य बन जाता था, किंतु चचा की दृष्टि से उसमें गार्ग्यायण जैसा व्यवहार होता था। इस प्रकार की स्थिति अपने ही संयुक्त परिवार के सपिण्ड बड़े बूढ़े के साथ बरती जाती थी। समाज के इसी महत्त्वपूर्ण नियम का परिचायक पाणिनि का यह सूत्र है:—वाऽन्यस्मिन् सपिण्डे स्थविरतरे जीवति (४।१।१६५), अर्थात् सात पीढ़ी तक का कोई बड़ा बूढ़ा जीता हो तो उसके जीते जी अपने परिवार का गार्ग्य भी गार्ग्यायण कहला सकता है। सामाजिक पृष्ठभूमि में इस परिस्थिति को यों समझना चाहिए। गार्ग्य उपाधिधारी चचा और गार्ग्य एवं गार्ग्यायण उपाधिधारी भतीजा, इन दोनों में से एक ही व्यक्ति एक समय में कुल का प्रतिनिधि हो सकता था। यदि जातीय पंचायत में चचा सम्मिलित होता तो भतीजा गार्ग्यायण होने के नाते घर में रहता। यदि किसी कारण से चचा के लिये सभा में जाना सम्भव न होता तो गार्ग्य होने के नाते भतीजा उसके स्थान में सम्मिलित हो सकता था।

इन उपाधियों का राजनीतिक महत्त्व भी था। उदाहरण के लिये संघ शासन प्रणाली में प्रत्येक परिवार एक इकाई मानी जाती थी। प्रत्येक परिवार का केवल एक ही प्रतिनिधि मङ्गल पुष्करिणी के जल से मूर्धाभिषिक्त होता था और वही संघ सभा में बैठता था। इस पद पर उसकी उपाधि राजा होती थी। उदाहरण के लिये, लिच्छवि संघ में ७७०७ कुल और उनके ७७०७ प्रतिनिधि 'राजा' या मूर्धाभिषिक्त क्षत्रिय संघ सभा के सदस्य थे। ऐसे ही मूर्धाभिषिक्त राजा या राजन्यों का अन्धक-वृष्णि संघ में उल्लेख पाणिनि ने किया है (६।२।३४)। एक-राज शासन-प्रणाली में भी परिवार के प्रतिनिधित्व के अवसर आते रहते थे और उस समय गार्ग्य और गार्ग्यायण का भेद वास्तविक महत्त्व का हो जाता था। जैसे कभी कभी राजा लोग विशेष अवसरों पर श्रेणी और निगम के सदस्यों को आमन्त्रित करते थे। ये दोनों आर्थिक संस्थाएँ थीं। बुनकर, तेली, माली आदि शिल्पियों के जातीय और आर्थिक संगठन श्रेणि कहलाते थे। ऐसी अट्ठारह श्रेणियों की सूची प्रसिद्ध हो गई थी। धनी व्यापारियों की आर्थिक सभाएँ निगम कहलाती थीं। श्रेणि सभा और निगम सभा में परिवार की इकाई ही प्रतिनिधित्व का आधार थी और प्रति परिवार का जेठा या बूढ़ा ही उनमें सम्मिलित होता था। इस दृष्टि से पाणिनि ने जो गोत्र प्रत्ययों का इतना बड़ा ठाट खड़ा किया है एवं वृद्ध और युवा, इन दोनों के भेद की ऐसी बारीक छानबीन की है, उससे हमें उस वास्तविक स्थिति की झाँकी मिलती है जो उनके समय में जीवन की सचाई थी।

इसी प्रकरण में आचार्य ने एक अन्य स्थिति की ओर भी इशारा किया है। मान लीजिए कोई गार्ग्य इतना वृद्ध हो जाय कि वह कामकाज से छुट्टी ले ले, अथवा जानबूझकर अपने ज्येष्ठ पुत्र को स्वस्थान में प्रतिष्ठित कर दे, तो उस वृद्ध गार्ग्य की युवा गार्ग्यायण जैसी स्थिति हो जाती थी। इसी के लिये वृद्धस्य च पूजायाम् (४।१।१६६) सूत्र में विधान किया गया है। जैसे तत्रभवान् गार्ग्यायणः, आप महानुभाव तो अब गार्ग्यायण हैं। इसकी ध्वनि यह हुई कि काम काज इनके पुत्र देखते हैं। अथवा इससे उलटी स्थिति भी सम्भव थी। कोई नवयुवक गार्ग्यायण अपने गार्ग्य पिता के जीवनकाल में ही अधिकार दबोच ले और गार्ग्य जैसा दावा करने लगे तो स्वभावतः उसे लोग अच्छा न समझते थे और ऐसे गार्ग्यायण के लिये कहा जाता था, गार्ग्यो जाल्मः, निगोड़ा कैसा उतावला है कि गार्ग्य बन बैठा (यूनश्च कुत्सायाम्, ४।१।१६७)।

सपिण्ड—यह सूत्र युग का विशिष्ट शब्द था जो संहिता, ब्राह्मण, आरण्यकों में नहीं मिलता। धर्मशास्त्रों के अनुसार पिता की सातवीं पीढ़ी और माता की पाँचवीं पीढ़ी तक के संबंधी सपिण्ड कहलाते हैं (मनु, ५।६०)। वाऽन्यस्मिन सपिण्डे स्थविरतरे जीवति (४।१।१६) सूत्र में पाणिनिने सपिण्ड का उल्लेख किया है।

सनाभि—समाननाभि के स्थान में सनाभि आदेश होता है (६।३।८५)। नाभि का यहाँ अर्थ गर्भ की नाल है। ऋग्वेद, १।१३९।६ में ऋषि परुच्छेप का कथन है कि हमारी नाभियां मनु, अत्रि और कण्व आदि पूर्वजों के साथ मिली हुई हैं (अस्माकं तेषु नाभयः)। सनाभि के अंन्तर्गत पहली और पिछली सभी पीढ़ियों के रक्तसंबंधी आ जाते हैं। पर मनु, ५।१८४ पर कुल्लूक ने सनाभ्य का अर्थ सपिण्ड किया है।

ज्ञाति—माता, पिता के द्वारा अपने सभी संबंधित बांधव ज्ञाति कहे गए हैं (६।२।१३३, काशिका, ज्ञातयो मातृ पितृ संबंधिनो बांधवाः)। पाणिनि ने ज्ञातिको स्व का पर्याय कहा है (स्वमज्ञातिधनाख्यायाम्, १।१।३५)। संभवतः यहाँ केवल पितृकुल के संबंधियों का ही ग्रहण है।

संयुक्त—संयुक्त ससुराल के संबंधियों को कहते थे (६।२।१३३, काशिका, संयुक्ताः स्त्री संबंधिनः श्यालादयः)। पाणिनि ने श्वसुर—श्वश्रू (१।२।७१), श्वसुर्य (=श्वसुर पुत्र) को संयुक्त कहा है (४।१।१३७)।

कुल—परिवार की संज्ञा कुल थी (४।१।१३९; ४।२।९६)। कुल की प्रतिष्ठा पर प्राचीन भारतीय बहुत ध्यान देते थे। प्रतिष्ठित और यशस्वी कुल महाकुल कहलाते थे। समाज में उनका स्थान बहुत ऊँचा माना जाता था। कुल में उत्पन्न व्यक्ति कुलीन (४।१।१३९) और महाकुल में उत्पन्न महाकुलीन, माहाकुलीन

अथवा माहाकुल कहलाता था (४।१।१४१)। काशिका के अनुसार श्रोत्रिय कुल में उत्पन्न व्यक्ति की संज्ञा श्रोत्रियकुलीन थी। मनु ने बताया है कि किस प्रकार विवाह, वेदाभ्यास, यज्ञ—इन तीन उपायों से कुलों की प्रतिष्ठा बढ़कर महाकुल जैसी हो जाती थी (मनु ३।६३, ६६, १८४-१८६)[1]। यों तो समाज में चारों ओर कुल ही कुल थे, किंतु उत्कृष्ट कुलों की गणना में स्थान पा लेना कुलसंख्या प्राप्त करने का आदर्श था। महाभारत में भी इस प्रकार के महाकुलों की प्रशंसा की गई है, जिससे यह अनुमान किया जा सकता है कि महाकुल में उत्पन्न व्यक्ति के लिये भाषा में पाणिनि निर्दिष्ट कई शब्दों की आकांक्षा थी। धृतराष्ट्र ने विदुर से पूछा—'महाकुलों को देवता भी चाहते हैं। हे विदुर, महाकुल कौन से होते हैं?' विदुर ने उत्तर दिया—'तप, दम, ब्रह्मज्ञान, यज्ञ, पुण्यविवाह, सदा अन्न दान और सम्यक आचार ये सात गुण जिनमें हों, वे महाकुल कहलाते हैं[2]।'

दूसरी ओर जो परिवार वेदाध्ययन में प्रमाद करते अथवा किसी भी रूप में सदाचार का परित्याग करते वे अकुल या हीनकुल माने जाते थे। ऐसे कुलों में उत्पन्न व्यक्ति के लिये पाणिनि ने दुष्कुलीन या दौष्कुलेय शब्दों के प्रयोग का उल्लेख किया है (४।२।१४२)।

वंश—वंश दो प्रकार का होता था—विद्या और योनि संबंध से (विद्यायोनि संबंधेभ्यो वुञ् ४।३।७७; ऋतो विद्यायोनि संबंधेभ्यः ६।३ २३)। विद्यावंश गुरु शिष्य परम्परा के रूप में चलता था, जो योनि-संबंध के समान ही वास्तविक माना जाता था। योनि संबंध मातृवंश और पितृवंश से दो प्रकार का होता था (अपर आह—द्वावेव वंशौ मातृवंशः पितृवंशश्च, भाष्य ४।१।१४७, वा ७)।

शिष्य लोग अपने-अपने चरण में गुरुशिष्य-परम्परा अथवा विद्यावंश का पारायण वेदाध्ययन की समाप्ति के समय किया करते थे। उपनिषत् में इस प्रकार के कई विद्यावंश सुरक्षित हैं। योनि संबंध से प्रवृत्त होनेवाले पितृवंश की अतीत पीढ़ियों की संख्या यत्न पूर्वक रक्खी जाती थी, जैसा कि संख्या वंश्येन (२।१।१९) सूत्र से ज्ञात होता है। ऐसी प्रथा थी कि वंश के मूल संस्थापक पुरुष के नाम के साथ पीढ़ियों की संख्या जोड़कर उस वंश के दीर्घकालीन अस्तित्व का संकेत दिया

---

१. मंत्रतस्तु समृद्धानि कुलान्यल्पधनान्यपि।
कुलसंख्यां च गच्छन्ति कर्षन्ति च महद् यशः (मनु ३।६६)।

२. महाकुलानां स्पृहयन्ति देवा धर्मार्थवृद्धाश्च बहुश्रुताश्च।
पृच्छामि त्वां विदुर प्रश्नमेतं भवन्ति वै कानि महाकुलानि॥
तपो दमो ब्रह्म वित्त्वं वितानाः पुण्या विवाहाः सततान्नदानम्।
येष्वेवैते सप्तगुणा भवन्ति सम्यग् वृत्तास्तानि महाकुलानि॥
(उद्योगपर्व ३६।२२ २३)

जाता था। उदाहरण के लिये २।४।८४ सूत्र पर पतञ्जलि ने एकविंशति भारद्-वाजम् और त्रिपञ्चाशद् गौतमम् का उल्लेख किया है। पहले का संकेत भारद्वाज के कुल की २१ पीढियों से है। दूसरे का संकेत है कि मूल पुरुष गौतम से उदाहरण की रचना के समय तक ५३ पीढियाँ बीत चुकी थीं। यदि एक पीढ़ी का आयुष्य भोग २५ वर्ष माना जाय तो उदाहरण से १३०० वर्ष पूर्व गौतम वंश प्रवर्तित हुआ होगा। इस काल गणना का कुछ समर्थन बृहदारण्यक उपनिषत् की वंश सूचियों से भी होता है, जिसमें गुरुशिष्य परम्परा की ५७ पीढियों की गिनती है। ब्राह्मण युग के अन्त में जब इस प्रकार की सूचियों का संकलन किया गया, उस समय के लगभग ही 'त्रिपञ्चाशद् गौतमम्' जैसा शब्द प्रयोग अस्तित्व में आया होगा। गौतम वंश के संबंध में यह उल्लेखनीय है कि उपनिषत् काल में अरुण, उसके पुत्र उद्दालक आरुणि और उसके पुत्र श्वेतकेतु आरुणेय जैसे प्रसिद्ध आचार्यों के रूप में इस वंश की पर्याप्त ख्याति थी।

गृहपति—समाज की सबसे महत्त्व पूर्ण इकाई गृह थी। गृह का स्वामी गृह-पति उस गृह की अपेक्षा से सर्वाधिकार संपन्न माना जाता था। सामान्यतः गृहपति का स्थान पिता का था। उसके बाद उत्तराधिकारी ज्येष्ठ पुत्र गृहपति की पदवी धारण करता था। प्रत्येक जनपद में फैले हुए कुलों के इस ताने बाने को गार्हपत संस्था कहते थे। पाणिनि ने कुरु जनपद के गृहपतियों की संस्था को 'कुरु गार्हपत कहा है(६ २।४२)। कात्यायन ने वृजि जनपद अर्थात् उत्तरी बिहार के कुलों के लिये वृजिगार्हपत शब्द का प्रयोग किया है। इन्हीं दो जनपदों के लिये शब्दों की क्यों आवश्यकता पड़ी, इसकी पृष्ठ भूमि कुछ इस प्रकार थी। कुरु जनपद के गार्हपत धर्म की विशेषताओं का वर्णन कुरु-धम्म जातक में (जातक भाग ३, संख्या २७६) आया है। इस जातक में राजा से लेकर रंक तक लोक जीवन के ११ प्रतिनिधि व्यक्ति चुने गए हैं। प्रत्येक अपने अपने केन्द्र में रहता हुआ कठिन और सूक्ष्म शीलधर्म पालने का आदर्श सामने रखता है। उन सब का दृष्टिकोण वही है जो गीता में बताया गया है, अर्थात् बाह्य रूप में शील या गुणों का पालन अधिक महत्त्व का नहीं, मन का भाव शुद्ध होना चाहिए। यदि भाव बिगड़ा है, तो बाहरी शील दिखावा मात्र है[1]

कुरुधर्म के विषय में तीन बातें इस जातक से विशेष ज्ञात होती हैं (१)

---

(१) ये ११ व्यक्ति और उनके धर्म इस प्रकार हैं:—(१) राजा (अहिंसा); (२) राजमाता (समत्व); ३ राजमहिषी (ब्रह्मचर्य); (४) उपराजा स्वाभिभक्ति); (५) पुरोहित (अलोभ); (६) रज्जुग्राहक (परदुःखनिवृत्ति) (७) सारथि (पशुओं पर दयाभाव); (८) श्रेष्ठी (पर द्रव्य के विषय में सूक्ष्म नैतिक सचाई); (९) द्रोणमापक महामात्य (प्रजाओं के प्रति सहानुभूति); (१०) द्वारपाल (निष्ठुर वाणी का परित्याग); (११) गणिका (अपने अङ्गीकृत कर्तव्य से आनृण्यभाव)

कुरुजनपद का गृहपति धर्म ऊँच, नीच, राजा, रंक आदि सारे समस्त जनपद का धर्म था। केवल राजा ऋषि या भिक्षुओं के लिये यह मार्ग न था। (२) कुरुधर्म गृहस्थ जीवन का आदर्श था। घर में रहते हुए शील धर्म का पालन यही छोटे बड़े हर एक मानव की विशेष रीति थी। शील का पालन सबके लिये संभव है और प्रत्येक व्यक्ति का निजी कर्तव्य शील-पालन का ही सच्चा रूप है। (३) कुरुधर्म का का संबंध स्वर्ग, नरक या मोक्ष से नहीं, प्रत्युत सीधे सादे नीति प्रधान जीवन मार्ग से था। ईमानदारी से भरा हुआ जीवन ही उसकी विशेषता थी। इस कुरु धर्म या गृहपतियों के आदर्श के लिये ही लोक में 'कुरुगार्हपत' यह सार्थक शब्द प्रचलित हुआ होगा। जातक में स्पष्ट कहा है कि बुद्ध के जन्म से भी बहुत पहले के प्राचीन कुरु गृहपतियों ने स्त्री सहित घर में रहते हुए अल्पमात्र भी अनुचित कर्मों में अरुचि प्रकट की। यह भी कहा गया है कि कलिंग देश की राजधानी दन्तपुर से ब्राह्मणों का एक दल कुरुधर्म जानने की इच्छा से कुरुजनपद में आया और वहाँ के पण्डितों से उस धर्म को जाना और फिर उसे स्वर्णपट्ट पर उत्कीर्ण कराया और अपने राजा को दिया। ज्ञात होता है कि कर्मयोग-प्रधान कुरुधर्म का आदर्श ही कुरुदेश में कहे जानेवाले गीता शास्त्र के रूप में अवतरित हुआ। मज्झिम-निकाय की पपंच सूदिनी टीका में भी कुरुओं के इस शील प्रधान कुरुवत्त धर्म का उल्लेख है (मज्झिमनिकाय टीका १।१२५)। पतित्थान सूक्त की अट्ठ कथा में कहा गया है कि कुरुदेश में समाधिसंबंधी चर्चा का बहुत प्रचार था। दास, कर्मकर (नौकर चाकर) तक भी स्मृति प्रस्थान अर्थात् शीलवती प्रज्ञा के विषय में चर्चा किया करते थे। पनघट पर एकत्र हुई एवं सूत कातती हुई स्त्रियाँ स्मृति-प्रस्थान की ही भावना करती थीं।

वृजि जनपद या लिच्छविसंघ का जीवन कुछ दूसरा आदर्श लिए हुए था। उनमें जातीय स्वाभिमान, समत्वभाव, वैयक्तिक गरिमा, स्वातन्त्र्य आदि की भावनाओं की प्रधानता थी, ऐसा बौद्ध साहित्य से विदित होता है। विवाह शुद्धि के संबंध में भी उनके कठोर नियम थे।

इस प्रकार वहाँ की गृहपतिपद्धति के आदर्श की समुदित संज्ञा वृजिगार्हपत नाम से प्रसिद्ध हुई जिसका कात्यायन ने उल्लेख किया है (कुरुवृज्योर्गार्हपते, वा०, ६।२।४२)।

पारिवारिक संबंध—सुविदित होते हुए भी पारिवारिक शब्दों की सूची सूत्रों से यहाँ दी जाती है—

माता, पिता, (१।२।७०); पितामह; पितृव्य (४।२।३६); भ्राता, सोदर्य (४।४।१०९); ज्यायान् भ्राता (४।१।१६४), स्वसा (१।२।६८); पुत्र पौत्र (५।१।१०); पितृष्वसा (८।३।८४); उसका पुत्र पैतृष्वसेय (४।१।१३२); मातृष्वसा (८।३।८४), उसका पुत्र मातृष्वसेय (४।१।१३४); स्वस्रीय (४।१।१४३); भ्रातृव्य (४।१।१४४);

मातामह (४।२।३६); मातुल (४।२।३६), मातुलानी (४।१।४९)। माता पिता दोनों के लिये एक शेष वृत्ति द्वारा माता का लोप करके 'पितरौ' शब्द का प्रयोग होता था। पतञ्जलि ने 'अभ्यर्हितम्' (२।२ ३४ वा ४) वार्तिक का दृष्टान्त देते हुए 'माता पितरौ' में माता को पिता से अधिक पूजनीय माना है, जो मनु (२।१४५, सहस्रं तु पितृन् माता गौरवेणातिरिच्यिते) के अनुकूल है। पाणिनि का भी संभवतः यही मत था, जैसा कि उन्होंने सूत्र ४।२।३६ में मातामह शब्द को पितामह शब्द से पहले रखकर व्यक्त किया है। पितरौ भ्रातरौ, पुत्रौ, श्वशुरौ आदि एक शेष शब्दों में पुरुषवाची शब्द ही शेष रहता है, जो पितृकेन्द्रित समाज में पिता की प्रधानता के कारण स्वाभाविक है। पुमान् स्त्रिया (१।२।६७) सूत्र से भी यही संकेत मिलता है। पिता और माता आदि में कौन प्रधान और कौन उपसर्जन या गौण है, इसका विचार आचार्य ने जान बूझकर अपने शास्त्र में नहीं किया और कहा है कि इस विषय में लोक को ही प्रमाण मानना उचित है (तदशिष्यं संज्ञाप्रमाणत्वात्, कालोपसर्जने च तुल्यम्, १।२।५६-५७)।

बेटे-पोते, नाती-पन्ती आदि से फूलते फलते परिवार के लिये लोक में पुत्रपौत्रीण यह सुन्दर प्रयोग चलता था (पुत्र पौत्र मनुभवति ५।२।१०) बहुप्रज शब्द (५।४।१२३) भी ऐसा ही था।

मित्र—परिवार के अतिरिक्त मित्र और सुहृद्वर्ग में भी मानव अपने मन की प्रसन्नता का अनुभव करता है। जातकों में माता पिता, मित्र-सुहृत्, ज्ञाति वर्ग का प्रायः साथ उल्लेख आता है (जातक ५ पृष्ठ १३२)। पाणिनि ने सखि (५।१।१२६), मित्र (५।४।१५०), सुहृत् (५।४।१५०) और उनके सौहार्द भाव के लिये सख्य (५।१।१२६, सख्युर्भावः कर्म वा) और संगत (३।१।१५०) का उल्लेख किया है। आयु पर्यन्त निभने वाली गाढी मैत्री 'अजर्य संगत' कहलाती थी।

साप्तपदीनं सख्यं (५।२।२२) का साप्तपदीन शब्द प्राचीन काल से चला आता था। अथर्ववेद में अथर्वा वरुण को अपना सप्तपदसखा कहता है, और वरुण भी उसके लिये यही भाव प्रकट करता है (५।११.९, १०)। महाभारत में भी साप्तपद सख्य का उल्लेख है (वनपर्व २६०।३५ ; २९७.२३)। गृह्यसूत्रों में विवाह संस्कार के अन्तर्गत सप्तपदी का विधान है। उसीसे साप्तपदीन या साप्तपद सख्य का आदर्श स्थिर हुआ। ऋग्वेद में सप्तपदी के लिये अग्नि द्वारा इष् और ऊर्ज के दोहन का उल्लेख है (ऋ० ८।७२।१६, अधुक्षत् पिप्युषीमिषमूर्जं सप्तपदी मरिः। सूर्यस्य सप्त रश्मिभिःमैत्री), सप्तपदीन मित्रता राम सुग्रीव मैत्री की भांति अग्निसाक्षिक हुआ करती थी (किष्किन्धा, ८।४)।

भृत्य—भृत्य के लिये पाणिनीय भाषा में किंकर शब्द का प्रयोग होने लगा था, जो संहिता और ब्राह्मण की भाषा में अज्ञात था। गणपाठ में कई प्रकार के भृत्यों का उल्लेख है—(१) परिचारक, (२) परिषेचक (स्नान कराने वाला), (३)

उत्सादक (शारीरिक मंडन में सहायक), (४) उद्वर्तक (गन्ध चूर्ण या उबटन मलने वाला), (५) प्रलेपिका, (६) विलेपिका (अगुरु कुंकुम चन्दनादि लगाने वाली परिचारिका), (७) अनुलेपिका (८) अनुचारक, (९) मणिपाली (४।४।४८) (१०) द्वारपाली, (११) दण्डग्राह, (१२) चामरग्राह (४।१।१४६)। ये भृत्य प्रायः राजभवन और धनिक नागरिकों के यहाँ रहते थे, जैसा कि अर्थशास्त्र और कामसूत्र में कहा गया है। सूत्रों में दौवारिक। (४।३।४) वैवधिक (४।४ १७, बहंगी या कांवर ढोने वाले), उदकहार या उद्हार (६।३।६०, कहार) का भी उल्लेख है।

अतिथि—अभ्यागत के लिये अतिथि, उसकी सेवा शुश्रूषा को आतिथ्य (५।४।२६) और आवभगत करने वाले गृहपति को आतिथेय (४।४।१०४) कहा है। अतिथि के आने पर उसकी परिचर्या विधि गृह्यसूत्रों में विस्तार से कही गई थी। पाद्य और अर्घ्य का पाणिनि ने भी उल्लेख किया है (५।४।२५)। अतिथि के लिये वैदिकभाषा के 'गोघ्न' शब्द का भी सूत्र में उल्लेख है (४।४।७३)

अध्याय ३, परिच्छेद ५–अन्नपान

अन्नपान के संबंध में अष्टाध्यायी में महत्त्वपूर्ण सामग्री है। भारतीय अन्न पान का इतिहास लिखा जाय तो पाणिनीय सामग्री उपयोगी होगी। भक्त शब्द के दो अर्थ थे, एक अन्न और दूसरा भात या उबला हुआ चावल। भक्ताख्यास्तदर्थेषु (६।२।७१) सूत्र में पहला अर्थ है जो प्राचीन काल से चला आता था। रोजीना पर काम करने वाले श्रमिकों को मजदूरी में भोजन दिया जाता था उन्हें भाक्त या भाक्तिक कहते थे (४।४।६८)। अर्थशास्त्र के अनुसार शिल्पियों को भक्त अर्थात् भोजन और वेतन या नगद मजूरी दी जाती थी, पर खेतिहर मजदूरों को केवल भोजन या भक्त पर रखने की चाल थी (अर्थ शास्त्र २।२४)। पतञ्जलि ने लिखा है 'कृषि धातु का अर्थ खेत में हल चलाना मात्र नहीं है, बल्कि मजूरों को भक्त या भोजन, बीज और बैल आदि का प्रबन्ध करना भी कृषिधातु के अन्तर्गत आता है। जब हम कहते हैं कि अमुक व्यक्ति खेती करता है, तब उसका तात्पर्य है कि वह इन सब का प्रबन्ध करता है' (यदसौ भक्तबीजबलीवर्दैः प्रतिविधानं करोति स कृष्यर्थः ३।१।२६ वा० ३)। भक्ताणणः (४।४।१००) सूत्र में भक्त का अर्थ भात या चावल है, जैसा काशिका ने लिखा है—भाक्तः शालिः, भाक्तः तण्डुलः (भात के लिये बढ़िया धान या चावल)।

अन्न और भोजन के प्रकरण में भोज्य, भक्ष्य, मिश्रीकरण, व्यञ्जन, उपसिक्त, संस्कृत आदि कुछ पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग हुआ है, जिनका स्पष्टीकरण आवश्यक है।

(अ) भोज्य—भोज्यं भक्ष्ये (७।३।६९) सूत्र में भोज्य को भक्ष्य अर्थ में सिद्ध किया गया है। कात्यायन ने इस पर शंका की कि भोज्य में ठोस और तरल

दोनों प्रकार के खाद्य पदार्थ आते हैं, लेकिन भक्ष्य दाँत से चबाए जानेवाले भोजन के लिये ही है। भोज्य का अर्थ भक्ष्य की अपेक्षा विस्तृत है। अतएव भोज्यं भक्ष्ये सूत्र ठीक नहीं बना। भक्ष्य का अर्थ भोज्य की अपेक्षा कम है। इसलिये कात्यायन ने सुझाव दिया कि 'भोज्यम् अभ्यवहार्ये' ऐसा सूत्र कर दिया जाय। पतंजलि कात्ययन से सहमत नहीं। उन्होंने पाणिनि सूत्र को संगत मानकर कहा है कि अब्भक्ष और वायुभक्ष इन पुराने उदाहरणों से जाना जाता है कि जो पदार्थ दाँत से नहीं चबाए जाते, उनके लिए भी भक्षण क्रिया भाषा में प्रयुक्त थी। इसलिये भोज्य भक्ष्य पर्याय हैं और सूत्र ठीक है। पीछे के टीकाकारों ने भक्ष्य के इस अर्थ को माना। खरविशद (ठोस) और द्रव दोनों भक्ष्य हैं, (काशिका, इह भक्षणमभ्यवहारमात्रम्)। श्री गोल्डस्टूकर ने पतंजलि की युक्ति को चिन्त्य कहा, 'अवश्य ही पाणिनि के समय में भक्ष्य और भोज्य पर्यायवाची थे, पर कात्यायन के समय ऐसा न रह गया था, इसलिये सूत्र में सुधार की आवश्यकता है। विचार से ज्ञात होता है कि गोल्ड स्टूकर का यह कथन युक्त नहीं है। स्वयं सूत्रकार ने अष्टाध्यायी में भक्ष्य शब्द का प्रयोग दो अर्थों में किया है। एक तो दाँत से कूचकर खाए जानेवाले ठोस भोजन के लिये, जैसे 'भक्ष्येण मिश्रीकरणम्' (२।१।३५) और संस्कृतं भक्षाः (४।२।१६) सूत्रों में। 'गुडेन संसृष्टाः गुडसंसृष्टाः, गुडसंसृष्टाः धानाः गुडधानाः' इस उदाहरण के गुड शब्द को भाष्य में मिश्रीकरण द्रव्य और धान को भक्ष्य माना है। काशिका में लिखा है कड़े भोजन को ही भक्ष्य कहते हैं (खर विशदमभ्यवहार्यं भक्ष्यमित्युच्यते)। इन सूत्रों में भक्ष्य का अर्थ सीमित है, पर 'भोज्यं भक्ष्ये' में वह ठोस और द्रव दोनों का वाची है। गोल्डस्टूकर का यह कहना भी ठीक नहीं है कि कात्यायन कालीन शिष्ट भाषा में भक्ष्य केवल ठोस भोजन के लिये प्रयुक्त था। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में पाणिनि के समान ही भक्ष्य शब्द के दोनों अर्थ हैं। 'सूदो भक्ष्यकारो वा भक्ष्यभोजनं याचेत' (अर्थ ५।१) में भक्ष्य और भोजन में भेद किया गया है। किंतु 'भक्ष्येषु स्मरति' (अर्थ० ५।५, 'राजा भोजन के समय अपने मन्त्री का स्मरण करता है') वाक्य में भक्ष्य का अर्थ ठोस और द्रव भोजन मात्र है[१]।

(आ) **मिश्रीकरण**—'भोज्यं भक्ष्ये' सूत्र को छोड़कर और सब सूत्रों में भक्ष्य का अर्थ ठोस खाद्य पदार्थ है। पललसूपशाकं मिश्रे (६।२।१२८) पलल

---

१. पाणिनि—भोज्य = खरविशद और द्रव। भक्ष्य = ७।३।६९ सूत्र में ठोस और द्रव दोनों तथा और सब जगह केवल ठोस भोजन।

कात्यायन—भोज्य = खरविशद और द्रव। भक्ष्य=केवल द्रव भोजन।

पतंजलि—भक्ष्य = खरविशद और द्रव दोनों प्रकार का भोजन।

कौटिल्य—भक्ष्य = खरविशद और द्रव दोनों प्रकार का भोजन।

(मांस) सूप (दाल) और शाक इन्हें भक्ष्य माना गया है। इन ठोस पदार्थों में गुड़ घी, आदि द्रव्य यथारुचि मिलाते हैं पर दोनों द्रव्य समान महत्त्व रखते हैं और उनका मिलाना ऐच्छिक होता है। इसे मिश्रीकरण कहते थे। गुड और धान दोनों को एक साथ पागकर बनाई हुई गुडधानी नामक भोजन सामग्री में गुड़ और धान दोनों का महत्त्व होता है। सूत्र ६।२।१५४ (मिश्रं चानुपसर्गम-सन्धौ) पर काशिका में गुड, घी और तिल को मिश्र या मिश्रण योग्य माना है।

संसृष्ट—४।४।२२-२५ संसृष्टे आदि सूत्रों में भोजन में किसी दूसरी वस्तु को संसृष्ट करने अर्थात् अप्रधान और ऐच्छिक रूप से मिलाने का प्रकरण है। जैसे किसी वस्तु में दही डाल दें तो वह दाधिक कहलाएगी। ऐसे ही मिर्च, अदरक, पीपल आदि का मसाला जिस अचार में मिला दिया जाय तो वह मारिचिक, शार्ङ्गवेरिक, पैप्पलिक कहा जायगा। मिश्रीकरण प्रक्रिया में दोनों पदार्थ समान महत्त्व रखते हैं, पर संसृष्ट में जो पदार्थ मिलाया जाय वह गौण रहता है। दही लगाकर पूरी-पराठा खाने में दही गौण और पराठा प्रधान है। स्वयं पाणिनि ने संसृष्ट प्रक्रिया के तीन उदाहरण दिए हैं, जैसे उन्होंने चून (चूर्णादिनिः ४।४।२३), नमक (लवणाल्लुक् ४।४।२४) और मूँग (मुद्गादण् ४।४।२५)। चूर्ण का अर्थ चून है। भुने हुए गेहूँ के आटे को पश्चिमी बोली में कसार और बनारसी बोली में भी चून कहते हैं। चून भरे हुए गूझे के लिए चूर्णिनः अपूपाः शब्द प्रचलित था (चूर्णैः संसृष्टाः)।

भीतर भरे हुए चून या कसार की अपेक्षा अपूप की प्रधानता है। ऐसे ही चूर्णिनो धानाः, कसार के साथ पागे हुए धान, नमकीन दाल, नमकीन साग, नमकीन लपसी में नमक गौण और दूसरे पदार्थ मुख्य होते हैं। नमक का मिश्रीकरण नहीं केवल संसर्ग किया जाता है। कात्यायन ने कुछ अधिक बारीकी में जाकर लिखा कि नमक रस है, पदार्थ नहीं, उसका संसर्ग नहीं किया जा सकता। किंतु पाणिनि की दृष्टि से अन्य द्रव्यों की भाँति लवण भी एक पण्यद्रव्य है (जैसे लवण बेचने वाला लावणिक कहलाता है (४।४।५२)। लावणिक का अर्थ नमकीन बनिया नहीं, अपितु नमकरूपी पण्य का व्यापारी। अतः मिरच, पीपल, अदरक की भाँति नमक का भी संसर्ग होता है। ४।४।२५ सूत्र में पठित मूँग भी अपेक्षाकृत गौण समझ कर मिलाई जाती है। जैसे मूँग का भात (मौद्ग ओदनः) प्रयोग में भात मुख्य और मूँग इच्छानुसार मिलाने की वस्तु है। मूँग की लपसी में भी यवागू मुख्य है। इच्छानुसार यदि उसमें मूँग की दाल मिलाकर खाई जाय तो वह मौद्गी यवागू कहलाएगी।

व्यञ्जन और उपसिक्त—मिश्रीकरण द्रव्य की मिलावट खानेवाले की इच्छा पर है। धान में गुड़ का मिलाना ऐच्छिक होते हुए भी दोनों का महत्त्व समान माना जाता है। ऐसे ही संसर्ग वाले पदार्थों का मिलाना भी ऐच्छिक है,

किन्तु संसृष्ट पदार्थ की उसमें प्रधानता नहीं होती। पर व्यञ्जन या उपसेचन (व्यञ्जनैरुपसिक्ते ४।४।२६) की मिलावट उस-उस भोज्य पदार्थ के लिए आवश्यक समझी जाती है। अन्नेन व्यञ्जनम् (२।१।३४) सूत्र पर पतञ्जलि ने दधि को व्यञ्जन या उपसेचक द्रव्य कहा है, जैसे दध्ना उपसिक्त ओदनः दध्योदनः। काशिका में क्षीरौदनः उदाहरण भी है। खीर बनाने के लिए ओदन में दूध का मिलाना या दही का नमकीन भात बनाने के लिए दही का मिलाना आवश्यक है। सूत्र २।४।१२ में व्यञ्जनवाची पदार्थों के द्वन्द्व समास का विधान है। काशिका के अनुसार दधि घृत दोनों व्यञ्जन हैं।

संस्कृत—संस्कृतं भक्षाः (४।२।१६) में संस्कृत का अर्थ है उत्कर्ष का आधान (सतः उत्कर्षाधानं संस्कारः, काशिका)। इसका लक्ष्य पाकविधि या बनाने की प्रक्रिया की ओर विशेष है जिससे पदार्थों में विशेष स्वाद की उत्पत्ति हो। संस्कार के बाद फिर उस पदार्थ को तुरन्त उसी दशा में खाया जा सकता है (संस्कृतं हि नाम तद् भवति यत् तत् एवापकृष्याभ्यवह्रियते, भाष्य ४।३।२५ वार्त्तिक-१) जैसे दार्षदाः सक्तवः, अर्थात् चक्की में संस्कृत या पीसे हुए सत्तू। भोजन के इस प्रकार संस्कृत होने का दूसरा उदाहरण शूलोखाद्यत् (५।२।१७) सूत्र में है। सलाख पर भूना हुआ शूल्य मांस (सीख कबाब—शूले संस्कृतम्) और तवे पर भुना हुआ उख्य मांस (तवे पर भुना कबाब), दोनों में संस्कृत का अर्थ बनाने की विशेष विधि ही है जिसके बाद वह पदार्थ वैसा ही खाया जा सकता है।

संस्कृतं भक्षाः सूत्र पर काशिका में तीन उदाहरण हैं (१) भ्राष्ट्रा अपूपाः, (२) कालशा अपूपाः (३) कौम्भा अपूपाः। इनसे अपूप बनाने की विशेष प्रक्रिया ही अभिप्रेत है। भ्राष्ट्र अपूप पूर्वी जिलों में अभी तक बनाए जाते हैं। कड़े गूँदे हुए आटे की बड़ी लोई बनाकर भाड़ पर ले जाते हैं और खोंचे में रखकर भाड़ के भीतर सेक लेते हैं। इन्हें खोरिया कहा जाता है। कुम्भ और कलश में अपूप विधि इस प्रकार है—चने की पिसी हुई दाल में मसाला आदि डालकर बड़े गोझे के भीतर पूरन की भाँति भर लेते हैं। फिर कलसे में थोड़ा पानी डालते हैं और सरकण्डे के टुकड़े तोड़कर उसके भीतर इस प्रकार रखते हैं कि पानी से कुछ ऊपर उठे रहें। घड़े के भीतर उन सरकण्डों पर गोझे रख दिए जाते हैं। फिर घड़े को कंडों की आँच पर रख देते हैं और तब पानी की भाप से गोझे सिंक जाते हैं। इस प्रकार के अपूप जो कुम्भ या कलश में संस्कृत किए जाँय कालश और कौम्भ कहे जाएँगे। बड़े घड़े को कुम्भ और छोटे को कलश कहते हैं। अर्थशास्त्र के अनुसार पाँच मन की तोल कुम्भ है। इतना अन्न जिस बड़े पात्र में भरा जा सके वह भी कुम्भ कहलाता था।

पाणिनि ने दही, मट्ठे और दूध का भी इस प्रकरण में उल्लेख किया है। दही में बनाया हुआ खाद्य पदार्थ दाधिक (दध्नष्ठक् ४।२।१८) मट्ठे में बनाया

हुआ औदश्वित, या औदश्वित्क (उदश्वितोऽन्यतरस्याम्, ४।२।१९) और दूध में बनाई हुई दूधिया लपसी क्षैरेयी यवागू (क्षीराड्ढञ्, ४।२।२०)। काशिका में लिखा है कि इस अर्थ में दही आधारभूत है, जैसे दही की कढ़ी में दही आधारभूत द्रव्य है। पाणिनि ने भोजन की प्रक्रियाओं का बारीकी से विचार करते हुए संस्कृतम् (४।४।३) यह सूत्र 'संस्कृतं भक्षाः' से अलग बनाया है। दध्ना संस्कृतम्, दधनि संस्कृतम्, दोनों अर्थों में एक ही शब्द रूप दाधिकम् बनेगा, किंतु अर्थ में और बनाने की प्रक्रिया में भेद है। जहाँ दही के मिलाने से स्वाद कुछ अच्छा हो जाय (दधिकृतमेवोत्कर्षाधानम्) वहाँ दध्ना संस्कृतम् ठीक है। पर जहाँ दही में ही मुख्य रूप से कोई चीज बनाई जाय जैसे सिखरन, पनीर आदि, उसके लिए दधनि संस्कृतम् कहना ठीक होगा।

दाधिक—भोजन में किस पदार्थ का मिलाना ऐच्छिक है, किसका अनिवार्य; कौन प्रधान है और कौन गौण है, इत्यादि बातें भोजन के प्रकार पर निर्भर हैं। एक दही को कई तरह से मिलाते और खाते हैं। सब में दाधिक प्रयोग एक सा है पर अर्थ भिन्न होंगे—

(१) दाधिकं = दध्ना संसृष्टं (४।४।२२) —दधि अप्रधान और ऐच्छिक, जैसे दही के साथ रोटी या पूरी पराठा।

(२) दाधिकं = दध्ना उपसिक्तं (४।४।२६)—दही व्यंजन, उपसेचन या स्वाद बढ़ाने वाले पदार्थ की तरह अवश्यमेव मिलाया जाय, जैसे दही की पकौड़ी।

(३) दाधिकं = दध्ना संस्कृतं (४।४।३)—दही उत्कर्षाधान या उस भोजन में नफासत के लिये मिलाया जाय, जैसे दही के बालूशाही, दही के आलू।

(४) दाधिकं = दधनि संस्कृतं (४।२।१७)—दही को आधार मानकर उसमें बनाई वस्तु जैसे दही की कढ़ी। कढ़ी दही का संस्कारक द्रव्य नहीं, आधारभूत द्रव्य है। नमकीन कढ़ी के लिये नमक और मीठी के लिये गुड संस्कारक द्रव्य कहा जायगा।

विभिन्न प्रकार के अन्न या भोजन

अष्टाध्यायी में यह सामग्री इस प्रकार है—

(१) धान्य, (२) कृतान्नवर्ग, (३) मधुरपदार्थ, (४) गव्य, (५) फल-शाक।

(१) धान्य—धान्यों में कई प्रकार के चावलों का उल्लेख आया है, जैसे शालि, महाव्रीहि, हायन, यवक, षष्टिका, और नीवार।

शालि (५।२।२) शालि का तात्पर्य जड़हन से है, जो कि अगहनी फसल में होते हैं। इसके विरुद्ध व्रीहि बरसाती चावल हैं जो सावन भादों की फसल में होते हैं। शालि के खेत शालेय और व्रीहि के व्रैहेय कहलाते थे।

महाव्रीहि—सूत्र ६।२।३८ में पाणिनि ने चावल की इस श्रेष्ठ जाति का उल्लेख किया है। चरक ने भी बढ़िया चावलों की सूची में इसे गिनाया है (चरक-संहिता, निदान स्थान ४।६)। सुश्रुत ने उसकी जगह महाशालि का उल्लेख किया है (सूत्र स्थान ४६।७)। हो सकता है महाशालि भी महाव्रीहि से मिलती-जुलती कोई धान की जाति हो। चीनी यात्री य्यूआन् चुआङ् के चरित-लेखक हुई-ली ने लिखा है कि जब चीनी यात्री नालन्दा विश्वविद्यालय में ठहरा था तो उसे महाशालि चावल खाने के लिये दिया गया। स्वयं चीनी यात्री को यह बढ़िया सोंधा चावल भूला नहीं। उसने लिखा है—'यहाँ मगध में एक अद्‌भुत जाति का चावल होता है, जिसके दाने बड़े, सुगंधित और खाने में अति स्वादिष्ट होते हैं। यह बहुत चमकता है। इसे धनिकों का चावल कहते हैं' (सियुकि, बील २।८२) संभवतः यही सुगंधिका या महाशालि चावल था (जुलिएँ)।

हायन (३।१।४८)—चरक के अनुसार यह नौ प्रकार के व्रीहियों में था[१]। काठकसंहिता और शतपथ ब्राह्मण में एक तरह के लाल धान को 'हायन' कहा है (वैदिक इंडेक्स २।५०२)।

यवक (५।२।३)—पाणिनि और चरक दोनों में इस चावल का उल्लेख है। सूत्र ५।४।३ के अंतर्गत गण पाठ में भी यवक आया है (यव व्रीहिषु ५।४।३)। इसी गण में जीर्णक शालि का भी नाम है। (जीर्णशालिषु,) जिसे चरक में जूर्ण कहा गया है (सूत्र स्थान १७।१८)।

षष्टिका (५।१।९०)—साठ रात या दो महीने में इसकी फसल तैयार होने से यह नाम पड़ा (षष्टिकाः षष्टिरात्रेण पच्यन्ते) लोक में इसे साठी कहते हैं। 'साठी पाके साठ दिना, दैव बरीसे रात दिना' उक्ति प्रसिद्ध है। चरक के अनुसार यह गुणकारी धान माना जाता था (सूत्रस्थान १७।१३)।

नीवार (४।३।४८, नौ वृ धान्ये)—जंगल में स्वयं उपजने वाला घटिया किस्म का धान्य था। लोक में इसे ही 'पसही (प्रसातिका) या तिन्नी का चावल कहते हैं।

पाणिनि ने मद्रदेश की देविका नदी का उल्लेख किया है (७।३।१), उसके प्रसंग में इष्टरूप की सिद्धि करते हुए पतंजलि ने 'दाविकाकूल शालि' अर्थात् देविका के किनारे की रौसली मिट्टी में उत्पन्न होने वाले चावल का उल्लेख किया है। अभी तक यह चावल पञ्जाब में प्रसिद्ध है, जैसा कि ऊपर कहा गया है (पृ० ५३)।

---

१ हायनक—यवक—चीनकोद्दालक—नैषधेत्कट—मुकुन्दक—महाव्रीहि—प्रमोदक—सुगन्धिकानां नवानाम् (निदानस्थान ४।६; और भी सूत्रस्थान २७।१२)।

दालें—दालों में मुद्ग (४।४।२५), माष (५।१।७; ५।२।४) कुलत्थ (४।४।४) का उल्लेख है। पाणिनि के अनुसार कुलत्थ एक संस्कारक द्रव्य था। चरक ने उसे शमीधान्य कहा है (सूत्रस्थान २७।२६)।

दूसरे धान्य – यव (५।२।३); यवानी (४।१।४९); अणु (५।२।४, चैना नामक छोटा धान्य जो कि पंजाब और सिंधुसागर दोआब के लोगों का आम भोजन है); गवेधुका[1] (४।३।१३६, गड़हेरुआ नामक निकृष्ट धान्य जिसे कसेई या कौड़िल्ला भी कहते हैं)।

कृतान्न —

(१) ओदन (४।४।६७), जिसे भक्त (=भात, ४।४।१००) भी कहा गया है। यह लोगों का प्रिय भोजन था। जल में उबाल कर बनाए हुए शुद्ध चावल को उदकौदन या उदौदन कहते थे (६।३।७)। मांस के साथ बनाया हुआ पुलाव मांसौदन कहलाता था (४।४।६७)। चरक में घृत, तैल, फल, मांस, तिल के साथ ओदन बनाने का उल्लेख आया है। उसके आधार पर ओदन का वैसा नाम पड़ता था। श्रेष्ठ चावलों का पसाया हुआ भात या ओदन इस देश में संभ्रान्त घरानों का बढ़िया भोजन माना जाता था। पतञ्जलि के एक उल्लेख से ज्ञात होता है कि लोग अपने मित्रों की दावत ओदन से करते थे (देवदत्तस्य समाशं शरावैरोदनेन च यज्ञदत्तः प्रतिविधत्ते, भाष्य १।१।७२)।[2] भाष्यमें कई बार 'विन्ध्यो वर्धितकम्' वाक्य आया है (१।४।२४ इत्यादि)। खानेवाले के सामने पत्तल पर लगे हुए भात के ढेर को वर्धितक कहते थे। हंसी में उसकी ऊंचाई की तुलना विन्ध्याचल से की गई है (और भी वर्धितक का वर्णन—एकश्च तंडुलः क्षुत्प्रतिघाते असमर्थः, तत्समुदायश्च वर्धितकं समर्थम्—१।२।४५, वा० ११)।

यवागू (४।२।१३६)—ओदन की तरह जौ की लपसी भी जनता का प्रिय भोजन थी। सूत्रों के उदाहरणों में कितनी ही बार यवागू का उल्लेख आता है जातकों की कहानियों से 'यागु' (=यवागू) लोगों का आम भोजन ज्ञात होता है। भाष्य के अनुसार यवागू द्रव भोजन था, उसके खाने में दाँतों से चबाने की आवश्यकता न पड़ती थी (७।३।६९)। साल्व जनपद में यवागू लोगों का विशेष प्रिय भोजन था। पाणिनि ने उसे साल्विका यवागू कहा है (गोयवाग्वोश्च, ४।२।१३६)। साल्व जनपद की पहचान देश के उस बड़े भूभाग से की गई है जो अलवर से बीकानेर तक फैला हुआ था

१—कात्यायन के वार्त्तिक के अनुसार गवेधुका का पाठ बिल्वादिगण में प्रामाणिक था (भाष्य – बिल्वादिषु गवेधुकाग्रहणं मयट् प्रतिषेधार्थम्—४।१।१३६, वा० १)।

२—और भी ब्राह्मणों के लिये ओदन का भोजन—आश्चर्यमिदं वृत्तमोदनस्य च नाम पाको ब्राह्मणानां च प्रादुर्भाव इति (भाष्य २।३।६५)।

(पूर्व, पृ० ७१) आज भी वहाँ लपसी खाने का रिवाज है जिसे 'राबड़ी' कहते हैं[1]। वहाँ दो प्रकार की यवागू बनती है। एक पतली जिसे लपसी कहते हैं और जो पी जाती है। धनी लोगो के घरों में यह मीठी बनाई जाती है। दूसरी कुछ गाढ़ी राबड़ी कहलाती है। नमकीन राबड़ी साधारण लोगों का भोजन है। चरक में यवागू के २८ योग कहे हैं (सूत्र स्थान अ० २)। सुश्रुत में मंड, पेया, विलेपी तीन प्रकार की यवागू कही गई है (सुश्रुत सूत्र, अ० ४६)। सबसे पतली यवागू मंड, उससे कम पतली पेया और गाढी विलेपी कहलाती थी। पहली दूसरी को सत्तू की तरह पीते और तीसरी को उँगलियों से चाट कर खाते थे। सूत्रों में दोनों भाँति की यवागू का उल्लेख है। पतली लपसी को 'उष्णिका यवागू' (५।२।७१) और गाढ़ी राबड़ी को 'नखंपचा यवागू' कहा गया है (३।२।३४)। काशिका ने लिखा है कि उष्णिका यवागू में अन्न का भाग अपेक्षाकृत कम होता था (अल्पान्ना यवागू रुष्णिके त्युच्यते)। उष्णिका-पेया-लपसी यह एक प्रकार था और नखम्पचा-विलेपी-राबड़ी यह दूसरा प्रकार था। जिसे गरम गरम चाटने से उँगलियाँ जल जायँ, वह नखंपचा हुई।

यावक—जौ को ओखल मूसल से कूटकर भूसी अलग करके पहले पानी में उबालते थे, फिर दूध शक्कर मिलाकर यावक बनाया जाता था।[2] चरक के अनुसार यावक उसेया हुआ या स्विन्न भोज्य पदार्थ होता था (स्विन्नभक्ष्य, सूत्र स्थान २७।२५९)। यावक रांधने के लिये जितने जौ लिये जाँय, तैयार यावक तौल में उससे दुगुना उतरना चाहिए (अर्थशास्त्र, २।१५)।

पिष्टक—(४।३।१४७)। सत्तू पानी में घोलकर नमक डालकर आग पर पकाते हैं। कड़ा हो जाने पर उतार कर खाते हैं। यह आज भी पीठा कहलाता है (पिष्टक—पिट्ठअ—पिट्ठा—पीठा)। सुश्रुत ने पिष्टक को कृतान्नवर्ग में माना है।

संयावः—(३।३।२३) कुल्लूक (संयावो घृतक्षीर गुड गोधूम चूर्ण सिद्धः, मनु. ५।७) के अनुसार घी, दूध, गुड़ और गेहूँ के आटे से बने हुए भोजन को संयाव कहते थे। यह ठीक आजकल का हलुआ हुआ। सुश्रुत ने भी इसे मधुर भोजन कहा है।

---

(१) अपभ्रंश के संदेशरासक काव्य में इसे 'रब्बड़िया' कहा गया है—'जइ बहुल दुद्ध संमीलिया य उल्लल्ई तंदुला खीरी। ता कणकुक्कससहिआ रब्बडिया मा दडवडउ॥ (प्रथमप्रक्रम पद्य १६), अर्थात् यदि दूध चावल की खीर भोजन के लिये सुलभ है, तो क्या राबड़ी अपनी जगह पर खुदबुद न करे? ध्वनि यह है कि अन्य श्रेष्ठ काव्यों के होते हुए भी मेरी इस निकृष्ट रचना के लिये स्थान है।

(२) इदं तु न सिध्यति, औलूखलो यावक इति। न च यावक उलूखलादेव अपकृष्य अभ्यवहियते, अवश्यं रन्धनादीनि प्रतीक्ष्याणि (४।३।२५)।

अपूप—(५।१।४) आटे में पानी घी मिलाकर या घी फेंटकर मन्दी मन्दी आँच में उतारे हुए मालपुए को ऋग्वेद में अपूप कहा गया है।[1] यह अपने देश का सबसे प्राचीन मिष्ठान्न था। महाउम्मग जातक के अनुसार चावल से तीन प्रकार के खाद्यान्न 'यागु पूप भत्त' (लपसी, पूआ, भात) बनाए जाते थे। चावल के अपूप एक प्रकार से आजकल के अँदरसे हुए। अपूप कई प्रकार से बनते थे। काशिका ने संस्कृतं भक्षाः (४।२।१६) सूत्र के उदाहरण में भ्राष्ट्र अपूप, कौम्भ अपूप और कालश अपूप का उल्लेख किया है। इनकी व्याख्या ऊपर हो चुकी है। पाणिनि ने चूर्णी अपूप या कसार भर कर बनाए हुए गोझों का उल्लेख किया है जो ब्याह-बरात या तीज-तेवहार पर प्रायः बनते थे। मेवा मिले हुए गेहूँ के चूर्ण के अतिरिक्त मूँग और मसूर आदि का चूर्ण या कसार भी बनाया जाता था, जैसा कि सूत्र ६।२।१३४ के उदाहरण में उल्लेख है (चूर्णादीन्य प्राणि षष्ठयाः, ६।२।१३४)।

अपूपादिगण में अभ्यूष का भी पाठ है। जौ गेहूँ की बालों को अग्नि में भूनकर, कूट कर, गुड़ मिला कर हाबुस बनाते हैं। कामसूत्र में अभ्यूषखादिका एक क्रीडा का नाम है, (कामसूत्र, ४।१।१)। सक्तु (६।३।५९)—पानी में घोलकर बनाए हुए सत्तू को उदकसक्तु या उदसक्तु कहा जाता था। भाष्य में दधिसक्तु या दही के सत्तूओं का भी उल्लेख है (सू० ४।१।५७)।

मन्थ—भुने हुए धान या भुजिया का सत्तू मन्थ कहा जाता था (कात्यायन श्रौत, ५।८।१२ मन्थः क्षीर संयुतो धानः सक्तुः)। इसे दूध में मिलाकर या केवल पानी में घोलकर खाते थे। पानी के सत्तू को उदमन्थ या उदकमन्थ कहा जाता था (मन्थौदनसक्तु आदि ६।३।६०)। चरक के अनुसार उदमन्थ शरद् ऋतु के लिये अनुकूल भोजन नहीं है (सूत्रस्थान ६।३५)। ज्ञात होता है कि प्रायः मन्थ शब्द दूधिया सत्तू के लिये ही प्रयुक्त होने लगा था। अथर्ववेद की पारिक्षिती गाथाओं में आया है 'राजा परीक्षित् के राज्य में पत्नी पति से पूछती है, "आप के लिये क्या लाऊँ, दही, दूधियासत्तू (मन्थ) या जौ से चुआया हुआ रस[2] ?' सुश्रुत ने मन्थ का एक तीसरा प्रकार दिया है। सत्तू को थोड़े घी में सानकर ठंडा जल मिलाकर मथानी से मथकर मन्थ बनता है। मन्थ बनाने में जल का प्रमाण इतना लेना चाहिए कि मन्थ न अति पतला बने न अति गाढ़ा।[3] चरक ने मन्थ को तर्पण या

---

(१) य स्तेऽद्य कृणवद् भद्रशोचेऽपूपं देव घृतवन्तमग्ने। (ऋ० १०।४५।६)

(२) कतरत्त आ हराणि दधि मन्थां परिश्रुतम्। जाया पतिंवि—पृच्छति राष्ट्रे राज्ञः परिक्षितः ॥ मन्थ के लिये और भी देखिए शतपथ ब्रा० २।५।२।६। (अथर्व, कुन्ताप सूक्त, २०।१२७।९)।

(३) सक्तवः सर्पिषाऽभ्यक्ताः शीतवारि परिप्लुताः। नात्यच्छा नाति सान्द्रा वा मन्थ इत्यभिधीयते ॥ (सुश्रुत, सूत्र स्थान, ४६।५२)

संतर्पण कहा है और उसके बनाने के कई योग लिखे हैं। सब प्रकार के मन्थ में जौ या लाजा का सत्तू प्रधान द्रव्य होता है। मट्ठे में घोल कर भी सत्तू खाया जाता था जो मद्रदेश का प्रिय भोजन था। (अपूपान्सक्तुपिण्डीश्च खादन्तो मथितान्विताः, कर्ण पर्व ३०।२४)।

कुल्माष—(५।२।८३) पाणिनि ने उस तिथि का नाम पौर्णमासी कहा है जिस दिन वर्ष में एकबार कुल्माष नामक अन्न नियमतः खाने की प्रथा थी (तदस्मिन्नन्नं प्राये संज्ञायाम्, कुल्माषादञ्, ५।२।८२-८३)। पाली साहित्य से ज्ञात होता है कि उस युग के पाँच प्रकार के चालू भोजनों में कुल्माष भी था (ओदन, कुम्मास, सत्तु, मच्छ, मंस, विनय ४।१७६)। कुल्माष क्या था, इस प्रश्न पर प्राचीन साहित्य से कुछ प्रकाश पड़ता है। निरुक्त में कुल्माष को निकृष्ट भोजन कहा है (कुल्माषान् चिदादर इत्यवकुत्सिते, १।४)।[1]

छान्दोग्य उपनिषत् में कथा है कि कुरुक्षेत्र में किसी इभ्य ग्राम (धनिक लोगों की बस्ती) में टिड्डी से कृषि नष्ट हो जाने पर वहाँ के लोग कुल्माष खाकर गुजारा कर रहे थे (छा० १।१०।२)। कुम्मास पिंडजातक (सं० ४१५) में कहा गया है कि कुल्माष दरिद्र लोगों का भोजन था, जिसमें थोड़ा जल, गुड या नमक और चिकनाई डालकर बनाते थे[2] चरक के अनुसार कुल्माष एक स्विन्न भक्ष था, जो गरिष्ठ समझा जाता था[3] (सूत्रस्थान २७।२५९)। ज्ञात होता है कि गेहूँ, जुंधरी या बाजरा आदि मोटे अन्न को इतने पानी में उबाल कर कि पानी उसी में भिद जाय और उसमें तेल या घी की चिकनाई और गुड या राब मिलाकर पिण्डा या लड्डु बनाकर कुल्माष बनाया जाता था, इस प्रकार का अन्न वर्ष में जिस पूर्णिमा को नियम से खाया जाता होगा। उस तिथि का नाम कौल्माषी पौर्णमासी लोक में प्रसिद्ध हुआ। चैत्री पौर्णमासी की यह संज्ञा ज्ञात होती है, जिस दिन

---

(१) अमरकोश के अनुसार कुल्माष का अर्थ यवक और अन्य कोषों में काञ्जीक दिया है। श्री लक्ष्मणस्वरूप ने कुल्माष का अर्थ खट्टी लपसी किया है। वैदिक इंडेक्स में भी यही अर्थ माना है।

(२) सुक्खाय अलोनिकाय च कुम्मास पिण्डिय; वह मजदूर इतना दरिद्र था कि बिना चिकनाई या गुड इत्यादिक के ही उसे कुल्माष का पिण्ड खाना पड़ता था। टीकाकार ने अलोनिका का अर्थ बिना फाणित या शीरे की और सुक्खा का अर्थ बिना चिकनाई की किया है।

(३) चरके के टीकाकार चक्रपाणि ने सूत्र स्थान २७।२६० पर लिखा है 'यव पिष्ट मुष्णोदक सिक्तमीषत् स्विन्नमपूपीकृतं कुल्माषमाहुः'। काशिका वृत्ति और चान्द्रवृत्ति ने भी कुल्माष का पाठ गुडादिगण में माना है (४।४।१०३) और कौल्माषिक मुद्ग उदाहरण दिया है, अर्थात् कुल्माष रांधने लायक मूंग।

घुघरी खाने का रिवाज है। यावक कुल्माष से कुछ भिन्न था। पतंजलि ने लिखा है कि यावक बनाने के लिये अन्न को पहले ऊखल में कूटते या छरते थे और तब उसे पानी में उबालते थे[1] ।५।२।८२ सूत्र पर कात्यायन ने बटकिनी पौर्णमासी का नाम भी दिया है। उस दिन वटक या बड़े नियमतः खाए जाते थे। यह कार्त्तिक की पूर्णिमा ज्ञात होती है, जब कि बड़े बनाने और खाने की प्रथा है। जिस दिन जो अन्न प्रायः करके खाया जाय उस अन्न से उस दिन का नाम पड़ जाना स्वाभाविक है। लोक में खिचड़ी, तिलवा, आदि पर्वो का नामकरण इसी नियम के अनुसार हुआ है।

पलल—(६।२।१२८)। यह तिल और गुडादि कूटकर बनाया हुआ मिष्टान्न था, जिसे आजकल तिलकुट कहते हैं। (गुडेन मिश्रं पललं गुडपललम्,—६।२।१८, तिलपललम्, काशिका ६।२।१३५)।

चूर्ण (४।४।२३)—आटा और घी कढाई में भूनकर और शर्करा मिलाकर चूर्ण बनाया जाता था। पछाँही बोली में उसे कसार किंतु बनारस की ओर चूर्ण या चून कहते हैं। पाणिनि ने लिखा है कि इस प्रकार चूर्ण या कसार भरकर जो गुंझियाँ या गूझें बनाए जाते थे, उन्हें 'चूर्णी अपूप' कहते थे (चूर्णिनः अपूपाः)। व्याह में कन्या के साथ ऐसे गूझे देने की प्रथा अति प्राचीन काल से चली आती है।

मिष्टान्न—पाणिनि ने निम्नलिखित मिष्टवर्गों का उल्लेख किया है।

मधु—इसका एक नाम क्षौद्र था (४।३।११८)। छोटी मक्खी का बनाया हुआ मधु क्षौद्र और बड़ी डँगारा मक्खी का भ्रामर कहलाता था।

अष्टाध्यायी में गन्ने के बड़े खेतों का उल्लेख है, जिन्हें इक्षुवण कहते थे (८।४ ५)। गुडे साधु' (४।४।१०३ गुडादिभ्यष्ठञ्) प्रयोग उस जाति के गन्ने के लिये किया जाता था, जिसका गुड़ बढ़िया बने। किसानों की बोली में इससे मिलते जुलते प्रयोग आज भी चलते हैं। उत्तर भारत के किसान सरौती ईख को गुड़ के लिये अच्छा मानते हैं, और बोते समय ऐसे ही गन्नों के बीज का चुनाव करते हैं, जिनसे अच्छा गुड़ बैठे। सूत्र ७।२।१८ में फाण्ट के प्रत्युदाहरणस्वरूप फाणित का उल्लेख है। गाढे औंटाए हुए इक्षु रस में दाना उठने के बाद जो राब बनती है उसी का संस्कृत नाम फाणित था।

रस को औंटाकर या तो गुड़ बनाते थे या फाणित अर्थात् राब। फाणित से शर्करा बनती थी। गुड, फाणित और शर्करा (५।२।१०४ इन तीनों का निर्माण गावों के आर्थिक जीवन का महत्वपूर्ण अंग था। यह उद्योग अत्यन्त प्राचीन काल में ही इस देश में संगठित हो गया था। शर्करा शब्द का एक अर्थ पत्थर की

---

१ इदं तु न सिध्यति औलूखलो यावक इति। संस्कृतं हि नाम तद् भवति यत् तत एवापकृष्याभ्यवह्रियते। न च यावक उलूखलादेवापकृष्याभ्यवह्रियते। अवश्यं रन्धनादीनि प्रतीक्ष्याणि, ४।३।२५ वा० १)।

रोड़ी या ढोके भी था, जिसके सान्निध्य में आबाद होने के कारण उत्तरी सिंध का एक नगर 'शार्कर' कहलाता था। वही वर्तमान सक्खर है (४।२।८३; ५।२।१८५)।

४. गव्य पदार्थ—दूध से बने हुए खाद्य पदार्थों को गव्य या पयस्य कहा गया है (४।३।१६०)। दूध दही मट्ठा–इनका सूत्रों में उल्लेख है (४।२।१८; दधिपयसी, २।४।१४, गणपाठ)। सूत्र ७।२।१८ में जिस फाण्ट का उल्लेख है वह भी गव्य पदार्थ ही था। शतपथ ब्राह्मण (३।१।८) में उसी दिन के दूध से तत्काल निकाले हुए मक्खन को फाण्ट कहा है। पहले दिन के दूध की दही जमाकर, अगले दिन प्रातःकाल उसे मथकर जो मक्खन निकाला जाता था, उसके लिये हैयङ्गवीन ('हैयङ्गवीनं संज्ञायाम्, ५।२।२३) यह नया शब्द प्रयोग में चल पड़ा था जो कि प्राचीन वैदिक साहित्य में नहीं था।

जनपदों में विशेष पेय—'पानं देशे' सूत्र (८।४।९) व्याकरण की दृष्टि से णत्व का विधान करता है, पर इस सूत्र की पृष्ठभूमि कुछ रोचक है। जिस जनपद के लोग जिस तरह के पेय पदार्थ के शौकीन थे, उससे उस जनपद का नाम भी पड़ जाता था। काशिका में इसके चार उदाहरण हैं—क्षीरं पानं येषां ते क्षीरपाणा उशीनराः; सुरापाणाः प्राच्याः; सौवीरपाणा बाल्हीकाः; कषायपाणा गन्धाराः। 'क्षीरपाणा उशीनराः' उदाहरण से ज्ञात होता है कि पंजाब में शिबि–उशीनर जनपद के लोग दूध पीने के शौकीन थे। चरक के अनुसार प्राच्य जनपद में मत्स्य भोजन, सिंधु जनपद में क्षीर भोजन, एवं बाह्लीक (बलख), शूलिक (काशगर) और चीन के लोगों में माध्वीक या अंगूरी शराब पीने का आम रिवाज था (चिकित्सा स्थान ३०।३१७)। शिबि-उशीनर चनाब के निचले काँठे का पुराना नाम था, जहाँ आज झंग-मघियाना, पाकपत्तन और मुलतान का इलाका है। यहाँ की दुधार साहीवाल गाएँ उत्तरी भारत में विख्यात हैं। चनाब से लेकर सिंधु नद तक का प्रदेश दुग्धपान के लिये प्राचीन काल में प्रसिद्ध था, और आज भी है। काशिका में ७।३।१९ सूत्र के उदाहरण में (हृद्भगसिन्ध्वन्ते पूर्वपदस्य च) सक्तुसिन्धु और पानसिन्धु इन दो भागों का उल्लेख किया है। उनकी संगति इस प्रकार है। सिंधु जनपद (वर्तमान सिंधु-सागर दोआब) के उत्तरी भाग में सत्तू प्रधान भोजन था, इसलिये सक्तुसिंधु वही प्रदेश होना चाहिए। उसके दक्षिण की ओर चनाब और झेलम के बीच में लैया का क्षेत्र पान-सिंधु होना चहिए। सौवीरपाणः बाह्लीकाः, इस उदाहरण में बाह्लीक का तात्पर्य वाहीक या मद्रदेश लेना चाहिए, जैसा कि प्रायः महाभारत में इस शब्द के प्रयोग में देखा जाता है। सौवीर या कांजी मद्रदेश की स्त्रियों का अत्यन्त प्रिय पान था (कर्णपर्व, २७।८७–८८, पुत्रं दद्यां पतिं दद्यां न तु दद्यां सुवीरकम्)।

मथित—मट्ठा भी वाहीक देश में रहने वालों को प्रिय कहा गया है (कर्ण पर्व ३०।२४)। भाष्य में मथित की दूकान रखनेवालों को माथितिक कहा है (मथितं पण्यमस्य माथितिकः, ७।३।५१, वा २)।

५. शाक और फल—भोजन के अन्य खाद्य पदार्थों में पाणिनि शाक, भाजी, और सूप का उल्लेख किया है। भाजी को श्राणा (४।१।१४२) कहते थे। फलों में केवल आम्र (८।४।५) और जम्बू (४।३।१६५) का नाम है। व्याकरण की दृष्टि से फल का नाम वृक्ष के नाम के अनुसार होता था (फले लुक् ४।३।१६३)।

सूदकर्म—रसोई बनाने को पक्ति कहा गया है (३।३।९५)। भोजन बनाने वाला कोई रसोईया कितनी तोल का आटा पोकर उठाता है, इस विशेषता के आधार पर उसका नाम पड़ जाता था, जैसे एक प्रस्थ अन्न का पाचक प्रास्थिक और खारी भर अन्न का पाचक खारीक कहलाता था। ऐसे शब्दों की आवश्यकता समाज में दावत आदि के प्रसंग में पड़ती थी। साधारण रूप से तो घर का भोजन घर की स्त्रियाँ ही बना लेती थीं, पर ब्रह्मभोज, जेवनार या जातीय भोजन के अवसर पर जब हजार-पाँचसौ आदमियों का भोजन होता, तब मजदूरी पर हलवाई या रसोईए बुलाए जाते थे। उस समय जैसा बड़ा-छोटा कार्य हो, उसके अनुसार रसोईये और बर्तन इन दोनों की तलाश की जाती थी। संभवत्यवहरति पचति (५।१।५२) सूत्र में तोल या माप के अनुसार बर्तन और रसोईयों के नाम पड़ने की प्रथा का उल्लेख है। जिस बर्तन में या बड़े टोकने में या बटलोई में प्रस्थ, खारी आढक, आचित या पात्र नामक तोल के बराबर सामग्री पकाई जा सके, उसे प्रास्थिक, खारीक, आढकिक आदि नामों से पुकारते थे। गावों में आज भी इस तरह के छोटे-बड़े बर्तनों की माँग रहती है। सूत्र का 'संभवति' पद विशिष्ट परिमाणों के बर्तनों की ओर संकेत करता है। 'पचति' का संकेत अलग अलग तोल का आटा या चावल कढाई में उतारने या पकाने वालों के लिये है। बीच का 'अवहरति' पद स्पष्ट नहीं है, पर दावत के समय जो कई तरह की आवश्यकताएँ होती हैं, उन्हीं से संबंधित शब्दों का विधान इस सूत्र में है। उस अवसर के लिये एक तो बर्त्तन चाहिएँ; दूसरे रसोईए या हलवाई जो उतने तोल का पूड़ी-पकवान बना सकें; और तीसरे आटा गूँदनेवाले नाई-धीवर या पीठी पीसने वाले दलपिसे। दावत से संबंधित फुटकर सामान जुटानेवाले व्यक्ति के काम के लिये ही 'अवहरति' पद का संकेत ज्ञात होता है। कात्यायन ने एक द्रोण तोल पकाने वाली महाराजिन को 'द्रौणी' या 'द्रौणिकी' कहा है (५।१।५२ वा १—द्रोणादण् च)। भाष्य में दो आढक (पाँच सेर) अन्न पकाने वाली स्त्री को द्व्याढकिकी, द्व्याढकीना कहा गया है। इन शब्दों की लोकप्रियता का यह प्रमाण है कि दो कुलिज अन्न पकानेवाली स्त्री के लिये चार शब्दरूप चलते थे—द्विकुलिजिकी, द्विकुलिजीना, द्विकुलिजा, द्वैकुलिजिका (५।१।५५, कुलिजाल्लुक्खौ च)। सूत्र ५।१।५३ में आचित नामक तोल का उल्लेख है। अमरकोश के अनुसार एक सगड़ या लढ़िया गाड़ी का बोझा आचित कहलाता था (शाकटो भार आचितः—२।६। ९७) यह दस भार या २५ मन के बराबर माना जाता था। मोटे तौर पर एक मन आटे में सौ व्यक्तियों के जीमने का हिसाब लगाया जाता है। अतएव एक

आचित या शाकट भार अन्न में ढाई हजार व्यक्ति जीम लेते थे। जो रसोईये इतने अन्न संभार का प्रबन्ध संभाल सकें वे आचितक विशेषण के अधिकारी थे। इतने अधिक चावलों को पकाने वाले बहुत बड़े डेगों के लिये भी यही शब्द काम में आता था। परिमाणे पचः (३।२।३३) सूत्र में इस प्रकार के बर्तनों का विशेष उल्लेख किया गया है जैसे प्रस्थंपचा स्थाली (एकप्रस्थ अन्न या ढाई पाव रांधने की बटलोई), द्रोणंपचः कटाहः (एक द्रोण या पाँच सेर रांधने की बड़ी कढ़ाई); खारींपचः कटाहः (एक खारी = १६ द्रोण या चार मन राँधने का बड़ा कड़ाह)। ईख के रस को औंटाने के लिये गुड़गोई (गुड़ बनाने के घर) में इस प्रकार के बड़े कड़ाहों की आवश्यकता रहती थी और वहाँ इन शब्दों के प्रयोग का अवसर था।

नियुक्त भोजन—तदस्मै दीयते नियुक्तम् (४।४।४६) सूत्र का अर्थ है कि जो भोजन जिस व्यक्ति को नियम बाँधकर दिया जाय, उस व्यक्ति का नाम उस भोजन के नाम से पड़ जाता था। पतंजलि ने कहा है 'यद् अस्य नियोगतः कार्यम् ऋणं तस्य तद् भवति' (२।१।४३ सूत्र पर वार्तिक का भाष्य)। जैसे किसी नौकर को उसके काम के बदले में कुछ देना तय किया जाय तो काम हो जाने के बाद उस नौकर का हम पर उतना ऋण चढ़ जाता है। सूत्र में इसी प्रकार के किसी प्रबन्ध की ओर संकेत है। इस प्रकरण में दो सूत्र और हैं—श्राणामांसौदनात् टिठन्, भक्तादण् अन्य तरस्याम् (४।४।६७-६८)। तीनों सूत्रों के उदाहरण इस प्रकार है—आग्रभोजनिक, आपूपिक, शाष्कुलिक, श्राणिक, मांसौदनिक, औदनिक, भाक्तिक। यह कोई ऐसी लोकप्रथा होनी चाहिए जिसकी पृष्ठभूमि में ये उदाहरण ठीक घट सकें। बात यह है कि भारतीय समाज की अर्थ-व्यवस्था में गावों और शहरों में ऐसा रिवाज था कि घर गृहस्थी में सेवा करने वाले कर्मकर या कमीनों को उस टहल या सेवा के बदले में रोज कुछ भोजन दिया जाता था। आज भी गाँवों में यह प्रथा बच गई है। जैसे कोई पनिहारी गाँव के घरों में पानी भरती है, तो उसके बदले में वह पैसा नहीं लेती, बल्कि रोटी, दाल, चावल आदि भोजन के पदार्थ दोपहर बाद आकर इकट्ठा कर ले जाती है। अर्थशास्त्र में ऐसे कमेरों को जिन्हें काम के बदले में भोजन मिलता हो भक्तकर्मकर कहा है। परिवार की पुरोहितानी, पनिहारी या धींवरी और मेहतरानी इस प्रकार नित्यप्रति घरों से नियत अन्न पाती है। इस दृष्टि से ऊपर के कई शब्द संगत हो जाते हैं, जैसे आग्रभोजनिक (अग्रेभोजनमस्मै नियुक्तं दीयते) वह ब्राह्मण या पुरोहित हुआ जो प्रतिदिन अग्राशन के रूप में भोजन पाता हो। प्रतिदिन के भोजन में से कुछ अंश ब्राह्मण या पुरोहित के लिये अलग रख दिया जाता है। उसे अग्रभोजन, अग्राशन या गोग्रास भी कहते हैं। इस प्रथा का कुछ ऐसा बन्धेज बाँधा जाता था कि एक ही पनिहारी यदि दस घर पानी भरती है तो उसे किसी घर से भात, किसी घर से रोटी, किसी घर से साग भाजी मिल जाती था और उसका भोजन पूरा हो जाता था।

अतएव वह एक घर के लिये श्राणिकी, एक के लिये ओदनिकी और एक के लिये भाक्तिकी कही जायगी। जो हलवाई (=आपूपिक) के यहाँ काम करके बदले में रोज अपूप पावे, उसे आपूपिकी कहा जाता था। घर गृहस्थी में धंधा करने वाले नेगी भृत्यों को भोजन देने की प्रथा थी, नगद पैसा नहीं।

निमंत्रण—निमंत्रण उस प्रकार का नेवता था, जिसे स्वीकार करना निमन्त्रित व्यक्ति के लिये आवश्यक होता, जैसे हव्य और कव्य, अर्थात् यज्ञ और श्राद्ध में ब्राह्मणों को दिया हुआ नेवता। यदि कोई विशेष कारण न हो तो पुरोहित और ऋत्विजों को यह स्वीकार करना ही चाहिए। स्वीकार न करने पर दोष लगता है। आमन्त्रण की स्वीकृति आमन्त्रित व्यक्ति (मित्र सुहृद्संबंधी आदि) की इच्छा पर निर्भर है (आमन्त्रणे कामचारः, ३।३।१६१ भाष्य)।

बचा हुआ भोजन—भिन्न-भिन्न बर्तनों में जो भोजन बच जाता है, उसके लिये भिन्न भिन्न विशेषण प्रयुक्त होते थे। इसके लिये पाणिनि का सूत्र है—तत्रोद्धृतम् अमत्रेभ्यः (४।२।१४)। उद्धृत का अर्थ है भुक्तोज्झित छूटा हुआ या बचा हुआ (नानार्थार्णव संक्षेप, भाग २, पृ० ४२)। जिस बर्तन में जो भोजन बच जाय, उस बर्तन के नाम से प्रत्यय जोड़कर भोजनवाची शब्द बनाया जाता था। काशिका में इसके तीन उदाहरण हैं—शाराव, माल्लक, कार्पर ओदन। इस सूत्र में जिस परिस्थिति का उल्लेख है वह ब्रह्मभोज आदि के अवसर पर संभव होती है। उस अवसर पर जो भृत्य काम करते हैं, बचे हुए भोजन का नेग उन्हीं को मिलता है। जैसे शाराव का तात्पर्य उस अन्न से है, जो पत्तल या शराव में परोसे हुए ओदन में से खाने के बाद बच रहता है। उसका नेग घर के भंगी को मिलता है। माल्लक का अर्थ है मिट्टी की मलिया में बचा हुआ ओदन, अर्थात् जो परोसने के बर्तनों में बच जाता है। आज भी तौला, झांवला, चौकड़ा आदि जिन बर्तनों में खाने का सामान परोसते हैं, उनमें जो कुछ बच जाता है उस 'माल्लक ओदन' को नाई ले जाता है। कार्पर ओदन उस भोज्य पदार्थ के लिये है, जो पकाने के बर्तन में बच जाता था। टोकने, डेग, कड़ाही आदि में जो बचता है, वह हलवाई या रसोईये का हिस्सा माना जाता है। इस पृष्ठ भूमि में कार्पर, माल्लक, शाराव जैसे उदाहरणों की चरितार्थता समझी जा सकती है। सूत्र में प्रयुक्त उद्धृत से प्राकृत में उज्झित बनता है (उज्झ=छोड़ना)।

व्रत या उपवास रखने के लिये व्रतयति (३।१।२१) ठूँस कर खानेवाले पेटू के लिये औदरिक (५।२।६७) घस्मर, अद्मर (३।२।१६०) और तृप्तिपूर्वक भोजन के लिये 'सुहित' शब्द हैं (२।२।११)।

मद्य—मद्य चूआने की भट्टी आसुति (५।२।११२), उसका स्वामी आसुतीवल और चुआने का शुण्डाकृति भत्रका शुण्डिक कहलाता था[1] (४।३।७६)

१ इसके कई नमूने तक्षशिला की खुदाई में मिले हैं जिनमें दो घड़ों के बीच में एक पोला शुण्डाकृति भाग रहता है।

भभके से मद्य खींचने वाले व्यक्ति को शौण्डिक कहते थे (४।३।७६)। मद्य (३।१।१००) और सुरा (२।४।२५) ये प्राचीन शब्द थे, किन्तु मैरेय और कापिशायन ये दो नए संज्ञा शब्द भी पाणिनिकालीन भाषा में चल गए थे, जो वैदिक साहित्य में नहीं मिलते।

मैरेय—ब्राह्मण और आरण्यक साहित्य में यह शब्द नहीं है, अवश्य ही उसके बाद इस नए शब्द का जन्म हुआ। दूसरी ओर बुद्ध के समय मैरेय पीने का प्रचार इतना बढ़ा हुआ था कि बुद्ध को विशेष रूप से उसके निषेध की आवश्यकता जान पड़ी (मद्य मैरेय सुरा स्थानाद् विरमामि)। 'अङ्गानि मैरेय' (६।२।७०) सूत्र का अर्थ है—'मैरेय शब्द के पूर्वपद पर उदात्त स्वर होता है, यदि वह पूर्वपद मैरेय में पड़ने वाले किसी अंग (द्रव्य) का वाची हो।' यह ध्यान देने योग्य है कि मैरेय शराब जिन-जिन द्रव्यों से बनाई जाती थी, उसके नुस्खे का पाणिनि को परिचय था; तभी यह सूत्र बना। अर्थशास्त्र से मैरेय पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। वहाँ मेदक, प्रसन्ना, आसव, अरिष्ट, मैरेय और मधु छः प्रकार की सुरा कही गई है (अर्थशास्त्र २।२५)। कौटिल्य ने मैरेय का नुस्खा इस प्रकार दिया है—मेषशृङ्गीत्वककाथाभिषुतो गुडप्रतीवापः पिप्पलीमरिच्-संभारस्त्रिफला युक्तो वा मैरेयः (२।२५), अर्थात् मेषशृङ्गी की छाल का काढ़ा बनाकर उसमें गुड़ डाल कर उसे उठाओ। फिर पीपल, कालीमिर्च या त्रिफला का चूर्ण मिलाओ—यही मैरेय है।' इस योग में काकड़ासींगी, मिर्च और त्रिफला—यह ओषधिवर्ग एक ओर और गुड़ दूसरी ओर है। काशिका में सूत्र के दो उदाहरण हैं—गुड़ मैरेयः, मधु मैरेयः। दोनों ही मूर्धाभिषिक्त उदाहरण जान पड़ते हैं, जो सूत्र के जन्मकाल से उसके साथ चले आते थे। ऐसा मानने का कारण आगे स्पष्ट होगा। उदाहरणों के दो पूर्वपद—गुड़ और मधु मधुर वर्ग के हैं। इससे सूचित होता है कि सूत्रगत 'अङ्गानि' पद से तात्पर्य काकड़ासिंगी आदि ओषधि वर्ग से नहीं, बल्कि मैरेय में मिठास के लिये डाले जाने वाले गुड़, शहद आदि द्रव्यों से था। यह बात भी समझ में आती है कि काकड़ासींगी की छाल, मिर्च, पीपल और त्रिफला, ये सब तरह के मैरेय में एक जैसे रहते थे, सिर्फ मिठास वाला द्रव्य घटिया-बढ़िया किस्म की मैरेय के हिसाब से बदलता रहता था। स्पष्ट है कि मैरेय के अलग अलग भेदों का नाम मिर्च पीपल त्रिफला आदि से नहीं, बल्कि गुड़-शहद आदि से ही पड़ना स्वाभाविक था। मधुशाला में बैठा हुआ व्यक्ति अपनी रुचि के अनुसार मैरेय की माँग करते हुए मधुर वर्ग वाची पूर्वपद पर ही बल देता था, जैसे इक्षुरस मैरेय, फाणित मैरेय, गुड़ मैरेय, शर्करा मैरेय, मधु मैरेय लाओ। ये पाँच तरह के मैरेय उत्तरोत्तर बढ़िया प्रकार के थे। ईख के रस, राब, गुड़, शक्कर, शहद मिलाने से मैरेय नामक आसव में विभिन्न प्रकार का स्वाद और गुण उत्पन्न होता था। उच्चारण की इस स्वाभाविक स्थिति के कारण ही गुड़ मैरेय, मधु मैरेय आदि शब्दों के पूर्वपद में उदात्त स्वर बोला जाता था।

काकड़ासींगी, पीपल, मिर्च और गुड़, अर्थशास्त्र में दिए हुए इस नुस्खे से काशिका का 'गुड़ मैरेय' उदाहरण तो समझ में आ जाता है, मधुमैरेय के विषय में जानने की अपेक्षा रहती है। अर्थशास्त्र में ही कौटिल्य ने एक दूसरा नुस्खा दिया है—ईख का रस, गुड़, शहद, राब, जामुन का रस, कटहल का रस, इनमें से कोई एक लेकर काकड़ासींगी और पीपल के काढ़े में यदि मिला दिया जाय और फिर उसे एक महीने, छह महीने या साल भर रखा रहने दिया जाय और बाद में इच्छानुसार उसमें ककड़ी, खीरा, गन्ना, आम, त्रिफला मिलाया जाय, तो एक प्रकार का शुक्त तैयार होता है (अर्थशास्त्र २।१५)। यहाँ यद्यपि कहा नहीं गया, किन्तु यह भी मैरेय का ही नुस्खा है। इसमें छह प्रकार के मधुरद्रव्य एक ओर और ओषधियाँ दूसरी ओर हैं। मधुर वर्ग में शहद की भी गिनती है। इससे काशिका का 'मधु मैरेय' उदाहरण स्पष्ट हो जाता है।

कापिशायनी—कापिश्याः ष्फक् (४।२।२९) सूत्र से कापिशायन शब्द सिद्ध होता है। कापिशी से आने वाले किसी पदार्थ के लिये इस शब्द की चरितार्थता थी। कापिशायन मधु और कापिशायनी द्राक्षा इस सूत्र के दो उदाहरण हैं। कापिशी की भौगोलिक पहचान काबुल के उत्तर में स्थित कोहिस्तान-काफिरिस्तान के विस्तृत प्रदेश के साथ बताई जा चुकी है (ऊपर पृ० ४७)। यह प्रदेश अंगूर का घर है। वहाँ हरे रंग की दाख होती है, और उससे एक विशेष प्रकार का मधु बनाया जाता है। दाख और उसका मधु दोनों ही कापिशी से अपने देश में लाये जाते थे। पाणिनि के निवास स्थान गन्धार जनपद के पड़ोस में ही कापिशी का राज्य था, अतएव वहाँ की कापिशायिनी द्राक्षा और कापिशायन मधु इन दोनों से आचार्य अवश्य परिचित रहे होंगे। कौटिल्य ने कापिशायनी नाम की व्याख्या करते हुए लिखा है—'द्राक्षा फल के रस से मधु बनता है। उसके उत्पन्न होने का जो स्थान है, उस स्थान के नाम से कापिशायन और हारहूरक इन नामों के अर्थ पर प्रकाश पड़ता है (मृद्वीका रसो मधु, तस्य स्वदेशो व्याख्यानं कापिशायनं हारहूरकमिति, २।२५)। कापिशी या उत्तरी अफगानिस्तान में हरी दाख से बनने वाला मधु कापिशायन था, दक्षिण-पश्चिमी अफगानिस्तान में अरगन्दाब या हरह्वैति[1] नदी के प्रदेश के काले अंगूरों का मधु हारहूरक था। कापिशी कापिशायन मधु के व्यापार का बहुत बड़ा केन्द्र कालान्तर में भी बना रहा। अभी हाल की खुदाई में वहाँ अनेक प्रकार के सुन्दर मधु पात्र और चषक पाए गए हैं।

कषाय—पाणिनि ने कई प्रकार के कषायों का भी उल्लेख किया है (६।२।

१—यह नदी संस्कृत में सरस्वती कहलाती थी। इसे अवेस्ता में हरह्वैति और प्राचीन ईरानी भाषा में हरहुवति कहा है। इसी से हरक्वैति शब्द रूप बना, जिससे यूनानी भौगोलिकों ने उस प्रदेश को अरखोसिया कहा। इस समय यह नदी अर्गन्दाब कहलाती है।

१०, अध्वर्युकषाययोर्जातौ)। काशिका में सर्पिर्मण्डकषाय, उमापुष्पकषाय, दौवारिक-कषाय, ये तीन नाम दिए हैं। पहला घी और चावल के माँड़ को कई गुना जल में औंटाकर बनाया जाता था और दूसरा अलसी के फूलों को। तीसरा ऐसा कोई पान था जो दौवारिक या प्रतिहारों के लिये तैयार किया जाता था और जो हलके उत्तेजक पेय के रूप में नींद आने से रोकता था।

सूत्र ५।४।३ के गण पाठ में काशिका और चान्द्रवृत्ति के अनुसार कालिका और अवदातिका ये दो सुरावाची शब्द भी पढ़े गए हैं (इक्षुतिल पाद्यकालावदाताः सुरायाम्)। कालिका सुरा का कौटिल्य ने भी उल्लेख किया है (अर्थ २।२५)। अवदातिक वही सुरा रही होगी जिसे अर्थशास्त्र में श्वेतसुरा कहा गया है।

अभिषव—आसुति या अभिषव के स्थान में मद्य बनाने के लिये विविध ओष-धियों को पहले उठाया जाता था। जब वे पूरी तरह उठ आतीं तब उन्हें आसाव्य (३।१।१२६) कहते थे, अर्थात् जो ऐसी स्थिति में आ गई हों कि उनका अभिषव या चुवाना अत्यन्त आवश्यक हो। चुवाने के बाद जो फोक (कल्क) बचता था उसे विनीय (फेंकने योग्य) कहते थे (३।१।११७)। कौटिल्य ने लिखा है कि चुवाने के बाद बचे हुए सुराकिण्व या फोक को हटाने के लिये स्त्री या बच्चों को लगाना चाहिए (२।२५)।

मधुपान से सम्बन्धित भाषा के एक विशेष प्रयोग का पाणिनि ने १।४।६६ में उल्लेख किया है—कणे हत्यपिबति, जिसका अर्थ है—तलछट तक पी गया फिर भी मन नहीं भरा (श्रद्धाप्रतिघाते)।

अध्याय ३, परिच्छेद ६—स्वास्थ्य और रोग

नाना प्रकार की ओषधियों और रोगों के विषय में छानबीन वैदिक युग में ही आरंभ हो गई थी। प्रमुख विद्या केन्द्रों में इस अध्ययन को अधिक प्रोत्साहन मिला था। तक्षशिला में इस विषय का अनुशीलन विशेष रूप से होता था, जैसा कि बिम्बिसार के राज वैद्य जीवक के वहाँ जाकर शिक्षा ग्रहण करने से ज्ञात होता है। पाणिनि तक्षशिला की परम्पराओं से सुपरिचित थे। रोग और ओषधियों से संबंधित कुछ शब्द अष्टाध्यायी में आए हैं। रोग के पर्याय गद (६।३।७०), उप-ताप (७।३।६१) थे। स्पर्श रोग छूत की बीमारी को कहते थे (३।३।१६)। वैद्य के लिये अगदंकार (कारे सत्यागदस्य ६।३।७०) विशेष शब्द भाषा में प्रयुक्त होने लगा था। कड़ी बूटी ओषधि और तैयार दवाई औषध कहलाती थी (ओषधेरजातौ ५।४।३७।) कई द्रव्यों को एकत्र कूट छान कर तैयार की हुई औषध को जातिवाचक शब्द नहीं माना गया, जैसे जड़ी बूटी वाची ओषधियों को।

रोगों की चिकित्सा करने के लिये भाषा में एक विशेष प्रकार का प्रयोग चल गया था जो रोग के नाम में तस् प्रत्यय जोड़कर कृ धातु के साथ बनाया जाता था, जैसे 'प्रवाहिकातः कुरु, कासतः कुरु, छर्दिकातः कुरु,' अर्थात् प्रवाहिका (संग्रहणी), खाँसी या मचली के लिये कुछ उपाय करो, अर्थात् इनकी चिकित्सा करो (रोगाच्चापनयने ५।४।४९)।

त्रिदोष—पाणिनीय सूत्र 'तस्य निमित्तं संयोगोत्पातौ' (५।१।३९) पर कात्यायन ने वात-पित्त श्लेष्मा का पहली बार उल्लेख किया है। कात्यायन से पहले पाणिनिकाल में त्रिदोष का परिज्ञान अवश्य हो चुका था। सूत्र ५।२।१२९ में वात के रोगी को वातकी कहा गया है (वातातिसाराभ्यां कुक् च)। पित्त सिध्मादि गण (५।२।९७) और श्लेष्मा पामादि गण (५।२।१००) में पठित हैं।

रोगों का नामकरण—रोगों का नामकरण काल और प्रयोजन इन दो कारणों से होता था (५।२।८१ काल प्रयोजनाद्रोगे)। जैसे दूसरे या चौथे दिन आनेवाला ज्वर द्वितीयक, चतुर्थक कहलाता था। ऐसे ही सर्दी देकर चढ़नेवाला ज्वर शीतक और गर्मी से आनेवाला उष्णक कहा जाता था (उष्णं कार्यमस्य उष्णकः)। विषपुष्प से उत्पन्न हुआ ज्वर विषपुष्पक और कासपुष्प से उत्पन्न हुआ ज्वर कासपुष्क था। काशिका के ये छह उदाहरण प्राचीन वृत्तियों से लिए जान पड़ते हैं।

रोगवाची शब्दों के निर्माण की एक विशेष पद्धति बन गई थी अर्थात् धातु से ण्वुल् प्रत्यय जोड़कर रोगवाची शब्द एक ही ढंग से बनाए जाते थे, जैसे प्रच्छर्दिका, प्रवाहिका, विचर्चिका। वर्तमान चिकित्साविज्ञान में भी एक ही ढंग पर रोगों का नाम रखने की पद्धति है। आयुर्वेद की भाषा में रोग के नाम से रोगी का नाम रखने की प्रथा भी चल पड़ी थी (५।२।१२८ छन्दोपतापगर्ह्यात् प्राणिस्थादिनिः) जैसे कुष्ठी, किलासी, अर्शस (अर्श आदिभ्योऽच ५.२।१२७), वातकी (वात का रोगी) और अतिसारकी (वातातिसाराभ्यां कुक् च ५।२।१२९)। रोग से मुक्त किन्तु उसकी निर्बलता से पीड़ित व्यक्ति ग्लास्नु कहा जाता था (३।२।१३९)। कात्यायन ने रोग से पीड़ित व्यक्ति के लिये आमयावी शब्द का उल्लेख किया है (५।२।१२२)।

शरद् ऋतु में उत्पन्न रोग—उत्तर भारत में वर्षा की समाप्ति पर शरद् ऋतु के आरंभ में ज्वरादि रोगों का बड़ा प्रकोप देखा जाता है। पाणिनि ने उन्हें शारदिक रोग कहा है (विभाषा रोगातपयोः ४।३।१३)।

रोगों के नाम—सूत्रों में निम्नलिखित रोगों का उल्लेख है–अतिसार (५।२।२९); अर्शस् (५.२।१२७); आस्राव (३।१।१४१); कुष्ठ (८।३।९७); न्युब्ज (७।३।६१); पामन् (५।२।१००); विक्षाव (खांसी, ३।३।२५); संज्वर (संभवतः क्षय रोग का ज्वर, ३ २।१४२); सिध्म (एक प्रकार का कुष्ठ ५।२।९७); स्पर्श (कात्यायन के अनुसार एक रोग का नाम, ३।३।१६); हृद्रोग (६।३।५१)।

आस्राव का उल्लेख अथर्ववेद (१।२।४) में है जिसे सायण ने मूत्रातिसार कहा है। कुछ विद्वान् उसे प्रमेह और कुछ संग्रहणी मानते हैं (वैदिक इंडेक्स १।७४)। पामन् का नाम भी अथर्व में है (५।२२।१२)। पामा का रोगी पामन कहलाता था। क्षेत्रियच् परक्षेत्रे चिकित्स्यः (५।२।९२) सूत्र में कहा गया है— क्षेत्रिय वह व्याधि है जिसकी चिकित्सा दूसरे शरीर में हो सके, अर्थात् ऐसा घोर रोग जो इस जन्म में ठीक न हो सके। अथर्ववेद में क्षेत्रियच् शब्द कई बार आया है। वहाँ उसका अर्थ व्याधि विशेष किया गया है। भारतीय व्याख्याकार इसे पुश्तैनी बीमारी समझते हैं जो जन्म के साथ आती है और प्राणों के साथ जाती है (वैदिक इंडेक्स १।२११)। हृद्रोग का उल्लेख ऋग्वेद में भी है।

शरीर—शरीर में दो प्रकार के स्वांग (अवयव) कहे गए हैं। ध्रुव (उपसर्गात् स्वांगं ध्रुवमपर्शु ६।२।१७७) और अध्रुव (स्वांगेऽध्रुवे ३।४।५४)। काशिका के अनुसार वह अंग जिसके कटने पर भी प्राणी न मरे अध्रुव और उसका उलटा ध्रुव कहलाता है (यस्मिन् अङ्गे छिन्नेऽपि प्राणी न म्रियते तद् अध्रुवम्)। सूत्रकार ने पर्शु या पसली को ध्रुव अंग कहा है।

शरीर संस्थान के भिन्न भिन्न अंगों के नाम अष्टाध्यायी में इस प्रकार हैं— अङ्गुलि, पाद, प्रपाद ५।२।८), अष्ठीवत् (८।२।१२), जंघा, जानु, ऊरु, उर्ध्वग्रीव (५।४।७७)। सक्थि (५।४।११३), स्फिग ६।२।१८७ = नितम्ब), उदर, नाभि, कुक्षि, बाहु, उरस् , पर्शु, स्तन, अंस, ग्रीवा, मन्या, (३।३।९९), कर्ण, नासिका, अक्षिभ्रुव, मुख, ओष्ठ, दन्त, जिह्वा, ललाट, मूर्धा, मस्तक, शीर्ष, अस्थि, नाडी, तन्त्री (५।४।१५९) हृदय, हृत्, यकृत्, केश, लोम, नख (६।३।७४), त्वच, मांस, बस्ति (४।३।५६), अरुष् (= मर्म ६।३।६७)। अमरकोष के अनुसार मन्या ग्रीवा का पृष्ठ भाग या गुद्दी थी।

महाहैलहिल—सूत्र ६।२।३९ में हैलहिल और महाहैलहिल शब्द हैं, जिनका अर्थ संस्कृत कोशों में स्पष्ट नहीं है और न साहित्य में ही कहीं उनका प्रयोग देखने में आया है। इस सूत्र में पठित दसों शब्द विशेष संज्ञावाची हैं, अतएव हैलहिल या महाहैलहिल भी वस्तु विशेष का नाम रहा होगा। ज्ञात होता है कि मूल में यह म्लेच्छ भाषा का शब्द था, जो संस्कृत में अपना लिया गया। अरबी में हलाहिल का अर्थ घोर या घातक विष है जिसे हिब्रू भाषा में हलूल कहते थे (स्टाइनगास, फारसी कोश पृ १५०६ में इसे संस्कृत हलाहल से संबंधित माना है)। संस्कृत भाषा में हलाहल, हालाहल हालहल, हालहाल, हाहल, हाहाल, इन अनेक रूपों में इस शब्द के आने से सूचित होता है कि वह बाहर से आया हुआ शब्द था जिसके स्वरों को ठीक ठीक पकड़ने में मतभेद था। (मानियर विलियम्स संस्कृत कोष पृ० १२९३)। पाणिनीय हैलिहिल अरबी हलाहिल के निकटतम

है। संभव है कि गन्धार और ईरान के बीच जो व्यापारसंबंध था उसके द्वारा यह शब्द हमारी भाषा में आया हो।

अध्याय ३, परिच्छेद ७-वस्त्र और अलंकार

वस्त्र—वैदिक भाषा में वस्त्र और वसन शब्द चालू थे। पाणिनि में चार नये शब्द और आ गए थे, चीर, (६।२।१२७), चेल (३।४।३३) चीवर (३।१।२०) आच्छादन (३।३।५४; ४।३।१४१; ५।४।६)। चीवर का प्रयोग ब्राह्मण और आरण्यक साहित्य में कहीं नहीं है। चान्द्रवृत्ति और काशिका में चीवर का उदाहरण 'संचीवरयते भिक्षुः' है जो इस शब्द की बौद्ध पृष्ठभूमि का संकेत करता है। गृहस्थ या ब्रह्मचारी के वस्त्रों के लिये चीवर नहीं चलता था। आच्छादन भी एक नया शब्द था, जो ब्राह्मण ग्रन्थों में नहीं मिलता, हाँ धर्मसूत्रों में उसका प्रयोग अवश्य है (वसिष्ठ १७.६२; १८.३३, राजपत्न्यो ग्रासाच्छादने लभेरन्; अर्थशास्त्र में भी १।११)। अष्टाध्यायी में प्रावार (३।३।५४) बृहतिका (५।४.६) जैसे वस्त्रों को आच्छादन कहा गया है।

वस्त्रों के विविध प्रकार—रेशमी वस्त्रों को कौशेय (६।३।४२), अलसी (उमा) के तन्तुओं से बनाए हुए वस्त्रों को औम—औमक (६।३।१५०), और ऊनी वस्त्रों को और्ण—और्णक (४।३।१५८) कहते थे। ४।३।१४३ (मयड्वैतयोर्भाषायामभक्ष्याच्छादनयोः) सूत्र के प्रत्युदाहरण में कार्पास आच्छादन या सूती वस्त्र का उल्लेख है। सूत्र में कार्पासी शब्द नहीं है, पर बिल्वादिगण में उसका पाठ अवश्य था, अन्यथा ४।३।१४३ सूत्र में आच्छादन पद व्यर्थ हो जाता है। ४।३।१३६-१४२ प्रकरण में जिसकी ओर ४।३।१४३ सूत्र का लक्ष्य है गणपठित अकेला कार्पासी शब्द ही वस्त्र के लिये आया है।[1] तूल शब्द का सूत्र में उल्लेख है (३।१।२५; ३।३।६४) इषीकातूल का अर्थ सींक में लिपटी हुई रुई हो सकता है।

वेषभूषा—अन्तरं बहिर्योगोपसंव्यानयोः (१।१।३६) सूत्र में अन्तर शब्दका अर्थ उपसंव्यान है। कात्यायन के अनुसार उपसंव्यान अन्तरीय शाटक या धोती को कहते थे। उत्तरीय और अन्तरीय अर्थात् उपरना और धोती यही इस देश का प्राचीन वेष था। कला में भी इसका अंकन मिलता है। इस जोड़े को ही शाटक युगल (जोड़ा) या केवल युगल भी कहते थे। काशिका ने उपसंव्यान शब्द की व्याख्या करते हुए लिखा है कि उसका अर्थ परिधानीय था, प्रावरणीय नहीं। इसका भी यही तात्पर्य हुआ कि उपसंव्यानवाची अन्तर शब्द धोती के लिये प्रयुक्त होता था, उपरने के लिये नहीं। जिस समय यूनानी इस देश में आए, वे यहाँ के सरल

१—बिल्वादिगण की प्रामाणिकता इससे भी सिद्ध है कि कात्यायन ने उस गण में पढ़े हुए गवेधुका शब्द के विषय में विशेष रूप से विचार किया है (बिल्वादिषु गवेधुकाग्रहणं मयट् प्रतिषेधार्थम्—वा०; बिल्वादि गण में गवेधुका नवें स्थान पर है)।

और सुन्दर वेष से प्रभावित हुए। अर्रियन ने लिखा है—'भारतीय प्रायः सूती वस्त्र पहनते हैं। वे नीचे पैर तक लटकती हुई धोती और ऊपर अंगों पर एक उत्तरीय डाल लेते हैं, जिससे कभी-कभी सिर भी ढक लेते हैं।' अष्टाध्यायी में जो आप्रपदीन शब्द है, वह प्रपद अर्थात् पैरों के अग्रभाग तक नीचे लटकती हुई धोती के लिये प्रयुक्त होता था (आप्रपदं प्राप्नोति ५।२।८, काशिका आप्रपदीनः पटः)। धोती के ऊपर कटि प्रदेश में कायबन्धन या फेटा बाँधा जाता था, जिसे अष्टाध्यायी में नीवि कहा गया है। नीवि बाँधने का कटिभाग उपनीवि कहा जाता था (४।३।४४)।

सूत्र ५।१।२१ पर पतंजलि ने यह सूचना दी है कि उनके समय में एक साड़ी या एक धोती का दाम एक कार्षापण था। यह चाँदी का सिक्का तोल में ३२ रत्ती होता था (शतेन क्रीतं शत्यं शाटक शतम्)।

स्थूलादि गण में (५।४।३) गोमूत्रिका नामक वस्त्र का उल्लेख है। यह उस प्रकार की धोती या साड़ी थी, जिसके एक पल्ले पर गोमूत्रिका भाँति की किनारी बनी रहती थी। प्राचीन यक्षमूर्तियों में सामने की ओर लटकती हुई पटली में गोमूत्रिका (बड़दामूतन) भाँति की किनारी प्रायः मिलती है।

कम्बल—उस समय पण्यकम्बल नाम से एक विशेष मापका बाजार में चालू कम्बल बनता था (६।२।४२)। उसमें जितनी ऊन लगती थी, उसके लिये कम्बल्य शब्द चालू था। पाणिनि ने कम्बल्य को तोल-विशेष का वाचक संज्ञा शब्द कहा है (कम्बलाच्च संज्ञायाम्, ५।१।३)। काशिका में लिखा है कि सौ पल अर्थात् ५ सेर ऊन की संज्ञा कम्बल्य थी (कम्बल्यम् ऊर्णापलशतम्; पल = ४ तोले; १०० पल = ४०० तोले = ५ सेर)। सूत्र ४।१।१२ में भी कम्बल्य शब्द आया है, जिसके उदाहरण में काशिका ने 'द्विकम्बल्या त्रिकम्बल्या' प्रयोग दिए हैं। दो कम्बल्य या १० सेर ऊन और त्रिकम्बल्य या १५ सेर ऊन से मोल ली गई—यह अर्थ भेड़ के लिये ही चरितार्थ होता होगा।

प्रावार—वृणोतेराच्छादने (३।३।५४) सूत्र द्वारा पाणिनि ने प्रावार शब्द का विशेष रूप से विधान किया है। यह एक प्रकार का कम्बल ही था। कौटिल्य के अनुसार जंगली जानवरों के रोएँ से प्रावारक नामक कम्बल बनता था। महाभारत में भी प्रावार का उल्लेख आता है। ज्ञात होता है कि पण्य कम्बल की अपेक्षा यह महीन और बढ़िया किस्म का कम्बल था, जिसे तूस या दुशाला कहना चाहिए।

बृहतिका—बृहत्या आच्छादने (५।४।६) सूत्र के अनुसार विशेष प्रकार के वस्त्र के अर्थ में बृहतिका सिद्ध होता है। अमरकोश में बृहतिका को प्रावार लिखा है। पतंजलि के एक वाक्य से सूचित होता है कि बृहतिका सामान्यतः प्रयुक्त होने वाला वस्त्र था (शुक्लश्च कम्बलः शुक्ला च बृहतिका शुक्लं च वस्त्रम् तदिदं शुक्लम्, तानीमानि शुक्लानि १।२।६९)। मज्झिम निकाय में बाहितिका को १६ हाथ लम्बी

और ८ हाथ चौड़ी कहा गया है।[1] इससे सूचित होता है कि बाहितिका या बृहतिका आज कल का तूस था। इस समय दुहरे तूस की लम्बाई १२ हाथ या ३ गज होती है।

सूत्र ४।२।१०० (रङ्कोरमनुष्येऽण्च) में पठित रङ्कु शब्द से राङ्कव और राङ्कवायण इन दो शब्दों की सिद्धि की गई है। रङ्कु किसी जनपद का नाम था। काशिका से ज्ञात होता है कि वहाँ के बैल और कम्बल प्रसिद्ध थे, जिन्हें राङ्कव कम्बल कहते थे। चीन हूण शक आदि देशों के निवासी मध्य एशिया से युधिष्ठिर के लिये जो उपहार सामग्री लाए थे उसमें (और्ण), रेशमी (कीटज), पाट या चीनी घास के बने हुए (पट्टज, जिन्हें क्षौम भी कहते थे), और रांकव इन चार प्रकार के वस्त्रों का उल्लेख है।[2] मध्य एशिया की लम्बे बालों वाली भेड़ें रंकु कहलाती थीं। उन्हीं के विशेष ऊन से बने हुए कम्बल रांकव होने चाहिएं।

कात्यायन ने वर्णका नामक एक विशेष वस्त्र का उल्लेख किया है (७।३।४५, वार्त्तिक, वर्णका तान्तवे)। अर्थशास्त्र में वर्णक एक प्रकार का ऊनी कम्बल है। (२।११)। भाष्य में कुतप (२।१।६९) नेपाली थुलमा ज्ञात होता है।

नागरक जीवन—नगर का प्रवीण व्यक्ति या छैल नागरक (४।२।१२८, नगरात्कुत्सन प्रावीण्ययोः) कहलाता था। सौन्दर्य के लिये अलंकरण और सुभगंकरण और सजावट के लिये आढ्यंकरण (३।२।५६) का उल्लेख है। शरीर के विभिन्न अंगों को सजाकर उनका संस्कार किया जाता था (स्वांगेभ्यः प्रसिते, ५।२।६६), जैसे बालों को सँवारने-काढ़ने वाला छैल व्यक्ति केशक कहलाता था। अलंकार (४।३।६४), आच्छादन (५।४।६), केशवेष (४।१।४२), उसी क्षेत्र के शब्द हैं। वामोरू, संहितोरू, शफोरू (४।१।७०) शब्द स्त्री-सौन्दर्य के सूचक हैं। सत्, महत्, परम, उत्तम, उत्कृष्ट (२।१।६१), वृन्दारक, नाग, कुंजर, पूज्यमान (२।१।६२) आदि शब्द नागरिकों की सामाजिक प्रतिष्ठा का संकेत करते हैं। पुरुष सिंह,

---

१ अयम्मे भन्ते बाहितिका रञ्ञा मागधेन अजातसत्तुना वेदेहिपुत्तेन छत्तनालिया पक्खिपित्वा पहिता सोलससमा आयामेन अट्ठसमा वित्थारेण। तं भन्ते आयस्मा आनन्दो परिगण्हातु, अनुकम्पमुपादायाति। (मज्झिम सुत्त ८८, बाहितिक सुत्तम्) कोसलराज प्रसेन जित् ने आनन्द से कहा—यह बाहितिका मगध के राजा अजातशत्रु ने एक नलकी में रखकर मेरे पास भेजी थी। यह सोलह हाथ लम्बी और आठ हाथ, चौड़ी है। हे आनन्द, आप इसे कृपा कर स्वीकार करें। आनन्द ने कहा-'महाराज, इसे रहने दें। मेरे लिये त्रिचीवर ही बहुत है।'

२ प्रमाणरागस्पर्शाढ्यं बाल्ही चीन समुद्भवम्। और्णं च राङ्कवं चैव कीटजं पट्टजं तथा॥ कुट्टीकृतं तथैवान्यत् कमलाभं सहस्रशः। श्लक्ष्णं वस्त्रमकार्पास माविकं मृदु चाजिनम्॥ (सभापर्व ४७।२२-२३)।

पुरुष व्याघ्र आदि नए शब्द लौकिक संस्कृत में प्रयुक्त होने लगे थे (उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे, २।१।५६)।

स्त्रियाँ शालभंजिका आदि उद्यान क्रीडाओं (५।२।७४, प्राचांक्रीडायाम्) से और पुरुष प्रहरणक्रीड़ाओं से मनोविनोद करते थे (तदस्यं प्रहरण मिति क्रीडायाम् णः, ४।२।५७)।

अलंकार—अंगुलीय (४।३।६२), कर्णिका (४।३।६५), ललाटिका (४।३।६५) और ग्रैवेयक (४।२।९६) इन चार गहनों का सूत्रों में उल्लेख है। मौर्य-शुङ्गकाल की भारतीय कला में ये अलंकार मिलते हैं. विशेषरूप से परखम यक्ष जैसी मूर्तियों के गले में पड़ा हुआ चपटा कंठा ग्रैवेयक का उदाहरण है। दीदारगंज यक्षी के माथे का बोल ललाटिका है। ऐसे ही भरहुत से प्राप्त सुदर्शना, चुलकोका, सिरिमा देवता की मूर्तियों में भी ललाटिका आभूषण दर्शनीय है। जातकों में ग्रीवा के आभूषण को गिवेय्य कहा है (जा० ६।५९०)।

कुम्बा का भी उल्लेख है (३।३।१०५)। वेद में इस शब्द को स्त्रियों के केशों का अलंकार माना गया है (वैदिक इंडेक्स १।१६३)।

भूषण, अलंकार या सुभगंकरण से सम्बन्धित अन्य वस्तुओं का भी वर्णन आया है, जैसे दर्शन या शीशा (५।२।६), अंजन, माला (६।३।६५) गन्ध (४।४।५३-५४), दण्ड (५।१।१०), उपानह् (५।१।१४) आदि। यथामुखीन और सम्मुखीन दो प्रकार के शीशे होते थे। पहला चपटा और दूसरा उन्नतोदर या बीच में उठा हुआ जिसमें सामने से ही ठीक देखा जा सके। अंजन का सूत्र में उल्लेख नहीं, पर त्रिककुत् पर्वत का है (५।४।१४७) जहाँ से वैदिक युग में ही प्रसिद्ध सुरमा आने लगा था। इसे त्रैककुद अंजन (अथर्व ४।९।९) कहते थे। कर्णपर्व में आया है कि मद्रदेशकी गोरी स्त्रियाँ त्रैककुद अंजन से आँखों की शोभा बढ़ाती थीं (मनःशिलोज्ज्वलापांगा गौर्यस्त्रिककुदांजनाः, कर्ण० ३०।२२)। सौवीर देश में यही सौवीरांजन कहा जाता था।

पाणिनि ने जिस कलकूट जनपद का उल्लेख किया है (४।१।१७३) वही महाभारत का कालकूट है। यमुना की उपरली धारा के प्रदेश में स्थित यहाँ से यामुन अंजन आता था। मालाओं से शरीर सजाने वाले को मालभारी (६।३।६५; स्त्री मालभारिणी) कहा जाता था। भाष्य में इसी सूत्र पर उत्पल मालभारिणी कन्या उदाहरण दिया गया है। पाणिनि ने स्रग्वी (स्रज् या माला पहनने वाला) का उल्लेख किया है (५।२।१२१)। यह शब्द स्नातक के प्रसंग में प्रयुक्त होता था (तं प्रतीतं स्वधर्मेण ब्रह्मदायहरं पितुः। स्रग्विणं तल्प आसीनमर्हयेत् प्रथमं पिता ॥ मनु)।

किसर (४।५।५३) और शलालु (४।४।५४) नामक सुगन्धित द्रव्यों की दुकानों का उल्लेख है। इनकी ठीक पहचान नहीं हुई। शलालु बेचनेवाली

की शालालुकी, शलालुकी कहलाती थी। किसरादि गण में नलद, तगर, गुग्गुलु, उशीर का भी उल्लेख है।

याजकादिगण (२।२।६, ६।२।१५१) में पठित स्नातक, उत्सादक, उद्वर्तक, परिषेचक, और महिष्यादि गण (४।४।४८) में अनुलेपिका, प्रलेपिका, विलेपिका आदि परिचारक प्रसाधन से सम्बन्धित थे।

अध्याय ३, परिच्छेद ८—शालाएँ

नगरों में जो अनेक प्रकार के भवन या निवास स्थान होते हैं उनके नाम अष्टाध्यायी में ये हैं—राजसभा (२।४।२३); गेह–गृह (३।१।१४४)–निवास-निकाय्य (३।१।१२९), शाला, छात्रिशाला (६।२।८६), अगारान्त शब्द जैसे कोष्ठागार (४।४।७०), निषद्या (३।३।९९, बैठकें)। द्वार (४।३।८६), कपाट (३।२।५४), परिघ (८।२।२२) का भी उल्लेख है।

शाला—मूल में यह वैदिक शब्द था जो घर के लिए प्रयुक्त होता था। पाणिनि काल में शाला शब्द का व्यापक प्रयोग देखने में आता है। राजा की जो सभाएँ या आस्थान मंडप होते थे उसे भी शाला कहा गया है (अशाला च, २।४। २४)। सूत्र ६।२।८६ में छात्राओं के निवास स्थान को छात्रिशाला कहा है। गौ आदि पशु बांधने की जगह को भी शाला कहने लगे थे। गोशाल, खरशाल का उल्लेख पाणिनि ने किया है (४।३।३५)। अन्न रखने के कोठार को भी शाला कहा है, जिस में नीचे की ओर बने हुए आनन या मुँह को शालाबिल कहते थे (६।२।१०२)।

घर—घर के लिए वैदिक भाषा में गृह शब्द था। पाणिनि ने गृह, गेह (३।१।१४४) अगार (३।३।७९) और क्षय (६।१।२०१, क्षयोनिवासे) कई शब्दों का उल्लेख किया है। क्षय शब्द इस अर्थ में विशेष था जो सभापर्व में भी आया है। (अजायत यदुक्षये, अर्थात् कृष्ण का जन्म यदुओं के घर में हुआ, ३३।१६)।

पाणिनि ने ऐसे अधिकारियों का उल्लेख किया है जो विशेष प्रकार के अगारों का प्रबंध या अधिकार संभालते थे (तत्र नियुक्तः, ४।४।६९; अगारान्ताट्ठन्, ४।४।७०)। काशिका में भांडागार, देवागार और कोष्ठागार, इन तीन प्रकार के अगार और उनमें नियुक्त अधिकारियों का उल्लेख है। ज्ञात होता है कि अगार बड़ी इमारत होती थी जिस के कई भाग होते थे। अगार का एक भाग (अगारैक देश) प्रघण या प्रघाण कहलाता था। काशिका ने उसका अर्थ बाह्य द्वार प्रकोष्ठ किया है जिसे गुप्तकाल की भाषा में अलिन्द कहा जाने लगा। द्वारप्रकोष्ठ से हिंदी का बरौठा शब्द बना है जो घर के द्वार के लिए प्रयुक्त होता है। बाह्य

द्वार प्रकोष्ठ बड़े मकानों के सामने बना हुआ वह द्वार हुआ जिसमें कई कमरे होते थे और जिसमें महा कपाट या बड़ा फाटक लगाया जाता था। आजकल उसे ड्योढ़ी भी कहते हैं। पाली पघन की व्याख्या करते हुए बुद्धघोष ने लिखा है, 'पघन वह है जो घर में आते जाते समय पैरों से खूँदा जाय (विनय २।१५३, पघन नाम यं निक्खमन्ता च पविसन्ता च पादेहि हनन्ति, बुद्धघोष)। डाक्टर कुमार-स्वामी ने प्राचीन भारतीय शिल्प सामग्री के आधार पर द्वारकोष्ठक का अर्थ नगर के प्राकार या चहारदीवारी में बने हुए बड़े फाटक किया है जिन्हें बाद में प्रतोली कहा जाने लगा (अरली इंडियन आर्किटेक्चर, नगर और नगर-द्वार, पृष्ठ २०९)। आजकल इन्हें पौर या पोल कहते हैं।

निषद्या—सूत्र ३।३।९९ के अनुसार निषद्या संज्ञा शब्द था। पथिकों के लिये निर्मित विश्राम गृह के अर्थ में अशोक के लेखों में निसिदिया शब्द आया है। नागार्जुनी पहाड़ी की गुफाओं को वहाँ के उत्कीर्ण लेखों में 'वास-निसिदिया' कहा गया है अर्थात् वर्षा ऋतु में भिक्षुओं के विश्राम करने के स्थान।

निकाय्य—पाणिनि ने निकाय्य को निवास का पर्याय माना है (पाय्य सान्नाय्य निकाय्यधाय्या मानहविर्निवाससामिधेनीषु, ३।१।१२९)। इसी अर्थ में निकाय शब्द की भी सिद्धि की गई है (निवासचितिशरीरोपसमाधानेष्वादेश्च कः ३।३।४१)। इस अर्थ में ये विशुद्ध पाणिनीय शब्द हैं। यजुर्वेद में एक बार निकाय शब्द आया है (यजुः १५।५) किन्तु शतपथ के अनुसार वह वायु छन्द का नाम था (श० ८।५।२।५)। अर्थशास्त्र में निकाय शब्द का प्रयोग है, पर संघ के अर्थ में (अर्थ २।४)। मनु ने देवनिकाय का प्रयोग किया है (१।३६) जिसका अर्थ कुल्लूक टीका में 'देवनिवासस्थान' किया गया है। यह कहना कठिन है कि निकाय सब घरों के लिये या केवल भिक्षुओं के निवास के अर्थ में आता था।

एकशालिक—इसका दूसरा रूप ऐकशालिक भी था। पाणिनि के अर्थ के अनुसार जो 'एक शाला की भाँति' काम में आवे, अर्थात् एक व्यक्ति का अपना निवास हो, वह एकशालिक या ऐकशालिक कहलाता था (एकशालायाष्ठजन्यतरस्याम्, ५।३।१०९, एकशाला इव)। इस शब्द का यह अर्थ नहीं था कि जिस व्यक्ति का एक घर हो, बल्कि वह मकान जो केवल एक व्यक्ति के इस्तेमाल में आता हो, अर्थात् जो सार्वजनिक न हो। यह स्थिति इस उदाहरण से समझ में आ सकती है। दीघनिकाय में लिखा है कि श्रावस्ती के तिन्दुक वन नामक बगीचे में बना हुआ रानी मल्लिका का घर पहले 'एकसालक' था अर्थात् उसके अपने या अपने अतिथियों के काम में आता था। उस समय की प्रथा थी कि प्रायः धनिक या शौकीन लोग अपने शहरी मकान के अलावा नगर के बाहर बगीचा बनाकर उसमें भी एक मकान विश्राम-विनोद के लिये बनाते थे। मल्लिका का वह एकशालक घर बाद में

भिक्षुसंघ को दान कर दिया गया। तब बहुतों के काम में आने के कारण उसके लिये कहा है—बहूसालाकता (सुमङ्गल विलासिनी २।३६५)। उस काल की समाज में इस बात का कुछ महत्व था कि किसी रईस के बगीचे वाला घर उसके अपने लिये है या उसने उसे सबके लिये खोल रखा है। श्रावस्ती के नगरसेठ अनाथ पिण्डक की कहानी है कि उसने राजकुमार जेत का बगीचे वाला मकान जो पहले राजकुमार के अपने काम में आने से एकशालिक था, खरीद कर भिक्षुसंघ को दे डाला अर्थात् उसे बहुशालिक बना दिया। यह सूत्र उसी प्रकार के नगर के बाहर बने हुए उद्यान-गृहों के लिये था। बनारस में अभी तक शहर से बाहर इस प्रकार के घर रखने की प्रथा चली आती है, जहाँ उनके स्वामी साँझ-सवेरे गंभीर वाद्य यानों (गहरेबाज इक्कों) पर सवार होकर ठाठ से जाते हैं।

घरों की सामग्री—इष्टकचित शब्द में इष्टका या ईंटों का उल्लेख है (६।३।६५)। वैदिक युग में ही इष्टकाएँ बनने लगी थीं। पाली साहित्य में ईंटों से चिनाई करने वाले कारीगरों को 'इट्ठकावड्ढकि' कहा गया है। घर की छत के लिये छदिस् शब्द था, जो संभवतः फूँस के छप्पर के लिये प्रयुक्त होता था। सूत्र ५।१।१३ के उदाहरण में छत पर छाने के लिये उपयोगी पयार या फूँस को छादिषेय तृण कहा गया है। घरों के द्वार और उनके कपाट या किवाड़ों का भी सूत्र में उल्लेख है। किवाड़ तोड़ कर घुस जाने वाले चोरों के लिये कपाटघ्न शब्द प्रचलित था (३।२।५४ शक्तौ हस्तिकपाटयोः)। ऐसे चोर वस्तुतः डाकू थे। कपाटघ्न का अर्थ ऐसा व्यक्ति नहीं, जिसके घूँसे में किवाड़ तोड़ने की ताकत हो, बल्कि वह जो बन्द किवाड़ों पर धमधम करके चुनौती दे और सामने से चोरी करे। महाकण्ह जातक में राजभवन के बड़े फाटक को तोड़कर घुसने के लिये 'कवाटे ठपेत्वा' शब्द आया है (४।१८२)। किवाड़ों को भी भीतर की ओर से परिघ या पलिघ लगाकर बन्द करते थे (८।२।२२)। यह लकड़ी का वह डण्डा या अर्गला था, जिसे किवाड़ों के पीछे खींचकर अटकाया जाता था।

रहने के घर और शालाओं के अतिरिक्त हाट में आपण या दूकानें होती थीं, जहाँ बिक्री की वस्तुएँ (पण्य, क्रय्य ६।१।८२) रखी जाती थी।

प्राचीन वैदिक शब्द वास्तोष्पति अर्थात् वास्तु-देवता का भी सूत्र में उल्लेख है (४।२।३२)। घर के अर्थ में वैदिक क्षय शब्द पाणिनि कालीन भाषा में भी प्रयुक्त होता था (क्षयो निवासे, ६।१।२०१)। आवसथ या आवसथ्य उस घर के लिये प्रयुक्त होता था, जो यज्ञशाला के पास आवसथ्य अग्नि के लिये बनाया जाता था, अथवा जहाँ ब्राह्मणादि विशिष्ट अतिथियों का स्वागत सत्कार किया जाता था (अनन्ता वसथेतिहभेषजाञ्ञ्यः, ५।४।२३)। आवसथ में यज्ञीय नियम या व्रत लेकर रहने वाला

व्यक्ति आवसथिक कहलाता था (अवसथातृष्ठल, ४।४।७३)। लोक में प्रचलित अवस्थी नामक आस्पद आवसथिक से ही बना, अर्थात् जो व्यक्ति आवसथ में गार्हपत्य अग्नि रखता था।

अध्याय ३, परिच्छेद ६—नगरमापन

कापिशी, तक्षशिला, शाकल, हास्तिनपुर, सांकाश्य जैसे प्रसिद्ध नगरों का उल्लेख सूत्रों में हुआ है। गणों में और भी नाम हैं। यह इस बात का प्रमाण है कि वास्तुविद्या एवं नगरमापन शास्त्र अस्तित्व में आ चुके थे। महाभारत में लिखा है कि जिस समय युधिष्ठिर ने इन्द्रप्रस्थ नगर बसाया उन्होंने व्यास तथा कृष्ण आदि प्रतिष्ठित पुरुषों को बुलाकर आरंभिक उत्सव किया और नगर के लिये नियत भूमि पर सूत्र मापन से इस बात का निश्चय किया कि परिखा, प्राकार, राजप्रासाद, गोपुर एवं और चत्वर, वीथी आदिक का स्थान कहाँ-कहाँ रहेगा। इसीको नगरमापन कहते थे[1] (नगरं मापयामासुः)।

नगर निवेश करने वाले वास्तुविद्याचार्य (पालि वत्थुविज्जाचरिय, जातक १।२९७) तदर्थ निश्चित भूमि का पहले संस्कार करते थे (जातक १।२९७; ४।३२३)। भूमिशोधन के बाद नगरमापन किया जाता था। (नगरं वेदेहेन सुमापितम्, महा उम्मगजातक ६।४४८)। नगर निर्माण में परिखा, प्राकार और द्वार—इन तीन का निर्माण सर्वप्रथम होता था। अर्थशास्त्र में उल्लेख है कि दुर्गविधान या पुरसन्निवेश के लिये परिखा-निर्माण सबसे पहले होना चाहिए। पाणिनीय सूत्र परिखाया ढञ् (५।१।१८) के अनुसार पारिखेयी भूमि उस लम्बी चौड़ी जगह को कहते थे जो नगर निवेश करते समय दुर्ग के चारों ओर की खाई के लिये छोड़ दी जाती थी। यह ध्यान रखना चाहिए कि प्राचीन नगर या पुरों का सन्निवेश दुर्ग के ढंग पर ही किया जाता था और रक्षा या नगर गुप्ति के लिये गहरी खाई और ऊँची चारदिवारी या परकोटे का निर्माण आवश्यक समझा जाता था। तदस्य तदस्मिन्

---

(१) ततस्ते पाण्डवास्तत्र गत्वा कृष्ण पुरोगमाः।
मण्डयाञ्चक्रिरे तद् वै पुरं स्वर्गवदच्युताः॥
ततः पुण्ये शिवे देशे शान्तिं कृत्वा महारथाः।
नगरं मापयामासु द्वैपायन पुरोगमाः॥
सागर प्रतिरूपाभिः परिखाभिरलंकृतम्।
प्राकरेण च सम्पन्नं दीर्घमावृत्य तिष्ठता॥
द्विपक्ष गरुडप्रख्यैर्द्वारैर्घोर प्रदर्शनै।
गुप्तमभ्युच्चय प्रख्यै र्गोपुरैर्मन्दरोपमैः॥
आदिपर्व १९९।२७-२९,३१)

स्यादिति (५।१।१६) सूत्र की (जिसका अधिकार 'परिखाया ढञ्' में भी आया है) सारी पृष्ठभूमि यह बताती है कि किस प्रकार नगर निर्माण के लिये पहले सामग्री इकट्ठा की जाती थी और तब सूत्र मापन किया जाता था। काशिका में इसके तीन महत्त्वपूर्ण उदाहरण हैं—प्राकारीया इष्टकाः, प्रासादीया भूमिः, प्रासादीयं दारु। इसीके साथ सूत्र पठित पारिखेयी भूमि शब्द को मिला दिया जाय तो नगर-मापन का एक चित्र खड़ा हो जाता है। यहाँ पहली, यहाँ दूसरी, यहाँ तीसरी—इस प्रकार तीन खाईयाँ खोदने के उद्देश्य से नियत की हुई समस्त भूमि पारिखेयी भूमि कहलाती थी (परिखा अस्मिन् देशे स्यादिति)। परिखा के लिये भूमि नियत हो जाने पर तुरन्त उसके बाद अन्दर की ओर चारदिवारी वा परकोटे का स्थान नियत किया जाता था। उसे प्राकारीय देश कहते थे (प्राकारोऽस्मिन् देशे स्यादिति[1])।

परिखा और प्राकार का स्थान निश्चित हो जाने पर नगर या दुर्ग के भीतर सबसे महत्त्वपूर्ण स्थान राजप्रासाद होता था। अतएव उसका स्थान भी आरंभ में ही नगर के केन्द्रीय भाग में नियत कर दिया जाता था। उसके लिये उदाहरण है—'प्रासादीया भूमिः' अर्थात् वह भूमि, जहाँ राजमहल बनेगा (प्रासादोऽस्यां भूमौ स्यादिति)। इसी प्रसंग में उन ईंटों को 'प्राकारीयाः इष्टकाः' कहा जायगा जो नगर का परकोटा या प्राकार बनाने के लिये तैयार की जाती थीं। शहरपनाह या नगर कोट की ईंटें पाथने के लिए लम्बा चौड़ा काम फैलाना पड़ता था, क्योंकि करोड़ों ईंटों को पकाने के लिये इन्धन के पूरे जंगल की आवश्यकता पड़ती थी। पाँचवा उदाहरण 'प्रासादीयं दारु' भी है। राज प्रासाद बनाने के लिये भारी भारी साल के लट्ठों की आवश्यकता होती थी। भारतीय वास्तु विद्या के आरंभिक युग में राजप्रासाद और राजसभा का अधिकांश निर्माण लकड़ी के लट्ठों से ही किया जाता था। उन्हीं के जिये 'प्रासादीय दारु' पद भाषा में प्रचलित था। जातकों में कहानियाँ आती हैं कि वास्तु विद्या के विशेषज्ञ (वत्थुविज्जाचरिय) जंगल में जाकर पुराने पेड़ों का चुनाव करते थे और उनकी पकी लकड़ी कटवा कर प्रासाद के लिये लाते थे।

परिखा—खाई खोदने का काम पहले छेड़ने का प्रयोजन यह भी था कि उसमें से निकली हुई मिट्टी से ही प्राकार की ईंटे पाथ ली जाती थीं या पक्के परकोटे के बाहर एक कच्चा परकोटा भी उसीसे बना लेते थे, जिसे अर्थशास्त्र में पांसु

---

(१) इस पर काशिका ने स्पष्ट लिखा है कि इस शब्द के पीछे यह भाव नहीं था कि उस भूमि की मिट्टी से परकोटा बनेगा, किन्तु वह भूमि ऐसी गुणवती या इस योग्य थी कि वहाँ परकोटा बनाया जाय। (देशस्य च गुणेन संभाव्यते, प्रासादोऽस्मिन् देशे स्यादिति प्रकृति विकारभावस्तादर्थ्यं चेह न विवक्षितम्, किन्तर्हि, योग्यतामात्रम्—काशिका)।

प्राकार कहा गया। मध्यकाल में उसे ही धूलकोट कहते थे, जैसा कि मथुरा आदि प्राचीन नगरों के चारों ओर अभी तक कहीं कहीं बच गया है।

अर्थशास्त्र में लिखा है कि दुर्ग के चारों ओर तीन परिखाएँ बनानी चाहिए। इनके बीच में एक एक दण्ड भूमि छोड़नी चाहिए। पहली परिखा १४ दण्ड, दूसरी १२ दण्ड और तीसरी १० दण्ड चौड़ी होती थी (अर्थशास्त्र २।२३)। इस प्रकार कुल पारिखेयी भूमि १४ + १ + १२ + १ + १० = ३८ दण्ड (= २२८ फुट; एकदण्ड = ६ फुट) चौड़ी होती थी। उदक जातक की टीका में यह भी बताया है कि पहली खाई उदक परिखा (पानी से भरी हुई), दूसरी कद्दम परिखा (दल दल से भरी हुई), तीसरी सुक्ख परिखा (सूखी खाई) होती थी। ५।२।३८ सूत्र के उदाहरण में काशिका में द्विपुरुषी, त्रिपुरुषी उदाहरण स्त्रीलिंग में आए हैं, जो परिखा का संकेत करते हैं, अर्थात् दो पुरुसा या तीन पुरुसा गहरी खाई। ५।२।३८ सूत्र में पाणिनि ने जिस पुरुष संज्ञक माप का उल्लेख किया है, वह अर्थशास्त्र के अनुसार ८४ अंगुल या ५ फुट ३ इंच मानी जाती थी, उसे खात पौरुष कहते थे, अर्थात् गहराई नापने की पुरुष संज्ञक माप (चतुरशीत्यङ्गुलो व्यामो रज्जुमानं खात-पौरुषं च, अर्थशास्त्र २।२०)। इस हिसाब से द्विपुरुषी परिखा १० फुट ६ इंच और त्रिपुरुषी १५ फुट ९ इंच गहरी होती थी।

प्राकार और देवपथ—यद्यपि सूत्र में प्राकार शब्द नहीं है, किन्तु कात्यायन ने प्राकार और प्रासाद दोनों का उल्लेख किया है (६।३।१२२ वार्त्तिक) और उनके वार्त्तिक की ऐसी ध्वनि है जैसे सूत्रकार को वहाँ वे दोनों शब्द इष्ट हों। पाणिनि ने प्राकार के संबंध में देवपथ इस महत्त्वपूर्ण शब्द का उल्लेख किया है (देवपथादिभ्यश्च, ५।३।१००)। इस शब्द की व्याख्या कौटिल्य के अर्थशास्त्र से ही ठीक समझी जा सकती है। पाणिनि के अनुसार देवपथ के दो अर्थ थे, एक तो आकाश में विमानचारी देवताओं का मार्ग देवपथ कहलाता है (रघुवंश में उसे सुरपथ कहा है[१]); दूसरे आकाशवाले देवपथ के समान जो ऊँचा हो उसे भी देवपथ कहा जाता था (देवपथ इव देवपथः)। कौटिल्य ने लिखा है कि देवपथ उस ऊँचे मार्ग का नाम था, जो किले की चार दिवारी के ऊपर इन्द्रकोश या कंगूरों के पीछे बनाया जाता था[२]। यह आठ हाथ या बारह फुट चौड़ा होता था। प्राचीन दुर्ग निर्माण पद्धति के अनुसार प्राकार की ऊँचाई १२ हाथ से २४ हाथ (१८ फुट

---

(१) क्वचित् पथा संचरते सुराणां क्वचिद् घनानां पततां क्वचिच्च।
यथाविधो मे मनसोऽभिलाषः प्रवर्तते पश्य तथा विमानम्॥ (रघुवंश १३।१९)।
यहाँ सुरपथ, घनपथ, खगपथ आकाश में क्रमशः ऊँचे उठते हुए मार्ग थे।

(२) अन्तरेषु बृहत् च विष्कम्भ पार्श्वे चतुर्गुणयामम् अनुप्रकारम् अष्टहस्तायतं देवपथं कारयेत् (अर्थशास्त्र २।३)।

से ३६ फुट तक) होती थी। जातकों में भी अट्ठारह हाथ ऊँचे प्राकार (अट्ठारस हत्थ प्राकार) का उल्लेख है। आज तक दुर्ग निर्माण में परकोटा १८ हाथ ऊँचा बनाने की चाल है। इतनी ऊँचाई पर जो मार्ग बनाया जाता था, उसे उचित ही देवपथ कहा जाता था।

भाष्य में पाटलिपुत्र नगर के विशिष्ट प्रासाद और प्राकारों का उल्लेख है। वहाँ कहा है—पाटलिपुत्र के परकोटे के भिन्न भिन्न अवयवों (प्रतोली, अट्टालक, इन्द्रकोश, देवपथ आदि) को ठीक ठीक समझना हो तो सुकोशला अर्थात् अयोध्या को देखकर समझा जा सकता है'। तात्पर्य यह कि शुंग काल में अयोध्या राजधानी हुई थी और उसका निर्माण हूबहू पाटलिपुत्र के समान किया गया था (४।३।६६—पाटलिपुत्रस्य व्याख्यानी सुकोशला पाटलिपुत्रं चाप्यवयवश आचष्ट ईदृशा अस्य प्राकारा इति)।

नगरद्वार—प्राचीन नगरों में प्रायः चार बड़े फाटक परकोटे में बनाए जाते थे (नगरस्य चतुसु द्वारेसु, जातक १।२६२; ३।४१४; कुमारस्वामी नगर और नगर द्वार शीर्षक लेख, पृ० २१३)। पाणिनि ने नगरद्वारों के नामकरण के नियम का निर्देश किया है—अभिनिष्क्रामति द्वारम् (४।३।८६), अर्थात् द्वार का नाम उस नगर के नाम पर पड़ता है जिसकी ओर उस द्वार से निकलकर मार्ग जाता है। जैसे 'माथुरं कान्यकुब्जद्वारम्' अर्थात् कन्नौज का वह दरवाजा जहाँ से मथुरा की ओर सड़क जाती है। आजतक भी नगरद्वारों के नाम रखने की यही रीति है। मथुरा में बने हुए भरतपुर दरवाजे का नाम इस कारण पड़ा, क्योंकि वहाँ से भरतपुर के लिये रास्ता निकलता था। द्वार की तरह ही सड़कों का नाम भी पड़ता था। जो सड़क जिस नगर की ओर जाती थी, उसका वैसा ही नाम होता था (तद् गच्छति पथिदूतयोः, ४।३।८५)। मथुरा को यदि केन्द्र में मान लें, तो उसके चारों ओर के शहरों से मथुरा की ओर आनेवाली जितनी सड़कें थीं, वे माथुर पथ कहलाती थीं। उनका एक छोर भिन्न भिन्न नगरों में होता था, पर सबका दूसरा छोर मथुरा में मिलता था। इस प्रकार कन्नौज के माथुर द्वार से होकर मथुरा की ओर जानेवाली सड़क का नाम माथुरपथ पड़ता था।

इन सड़कों पर पथिकों के ठहरने के लिये विश्रामस्थल बनाए जाते थे। जिस लक्ष्य स्थान तक सड़क जाती थी उसे मर्यादा कहते थे। बीच के पड़ाव की अपेक्षा से इस ओर का भाग अवर और उस ओर का पर कहलाता था (भविष्यति मर्यादावचनेऽवरस्मिन् ३।३।१३६)। उदाहरण के लिये, साकेत से पाटलिपुत्र को जानेवाले मार्ग में कौशाम्बी का पड़ाव था। साकेत और कौशाम्बी के बीच का भाग अवर और कौशाम्बी से उधर का साकेत की अपेक्षा से पर कहलाता था। इन दूरियों में भी छोटे पड़ाव होते थे, जहाँ ठहर कर यात्री दिन के अन्त में भोजन बनाते रहे होंगे। इस प्रकार यात्रियों की भाषा में

पड़ावों की गिनती भोजन की गिनती से होती थी। जैसे यह कहा जा सकता था साकेत से कौशाम्बी तक के मार्ग में दो बार आहार करना है, अर्थात् दो आहार की की दूरी है (योऽयम् अध्वा गन्तव्य आपाटलिपुत्रात् तस्य यदवरं कौशाम्ब्याः तत्र द्विरोदनं भोक्ष्यामहे, भाष्य ३।३।१३६)। भाष्य में साकेत से पाटलिपुत्र और साकेत से स्रुघ्न के मार्गों का उल्लेख है।

उत्तरपथ—पाणिनि ने 'उत्तरपथेनाहृतं च' (५।१।७७) सूत्र में उस लम्बे मार्ग का उल्लेख किया है जो सारे उत्तरापथ के यातायात की बृहत् धमनी थी यह मार्ग पाटलिपुत्र, वाराणसी, कौशाम्बी, साकेत, मथुरा, शाकल, तक्षशिला, पुष्कलावती, कपिशा की बड़ी राजधानियों को मिलाता हुआ बाह्लीक तक चला जाता था। यूनानी लेखकों ने उत्तर पथ का ठीक अनुवाद करते हुए इस महापथ को 'नार्दर्न रूट' कहा था (आजकल का ग्रैन्ड ट्रङ्क रोड)।

इस प्रकार पाणिनि कालीन नगर में नगर रक्षा के लिये परिखा, प्राकार और द्वार होते थे एवं नागरिकों के लिये गृहशालाएँ एवं आपण बनाऐ जाते थे। उसकी सड़कें संचर कहलाती थीं (३।३।११९) और उसमें राजसभा, कोष्ठागार, भाण्डागार (४।४।७०), प्रेक्षा के स्थान (४।२।८०) भी बनाए जाते थे।

ग्राम—ग्रामों के स्वरूप की कल्पना कुछ इस प्रकार होती है। वन, कठिन (४।४।७२, अर्थात् बँसवाड़ी), नदी, टीले, जंगल, और प्रस्तार (चट्टानी स्थान) ये सब ग्रामों के आस-पास की भूमि की विशेषताएँ थीं। किसानों के घर कुटीर कहलाते थे (५।३।८८) जिन पर आजकल की तरह फूँस के छप्पर (छदिः ५।१।१३) छाए जाते थे। एक घर में एक परिवार या गार्हपत रहता था। सारी गाँव बस्ती के लिये वसति शब्द चलता था (४।४।१०४)। गाँवों का समूह ग्रामता थी। गाँवों में मनुष्यों के लिये कूप (४।२।७३) और पशुओं के लिये निपान या चरही (३।३।७४) बनाई जाती थीं। कुओं की सफाई करने वाले उदगाह या उदकगाह (६।३।७) कहलाते थे।

गाँवों के चारों ओर की धरती के कई भाग होते थे—(१) क्षेत्र या हल के नीचे आई हुई खेतिहर भूमि (सीत्य, ४।४।९१); (२) गोचर या चरागाह (३।३। ११९); (३) वंश कठिन या पेड़ों के झुरमुट और बँसवारी (४।४।७२); (४) सरपत और मूँज के जंगल, (५) ओषधियों के जंगल और वनस्पति या बड़े पेड़ों के वन एवं फलों के बगीचे जो गाँव के बाहर होते थे; (६) एवं कहीं कहीं ऊषर के रूप में पड़ती धरती (५।२।१०७)।

खेती की भूमि अलग-अलग टुकड़ों में बँटी हुई होती थी। प्रत्येक को भी क्षेत्र कहते थे, जिसकी परिभाषा पाणिनि ने स्पष्ट की है—धान्यानां भवने क्षेत्रे, (५।२।१) अर्थात् क्षेत्र वह है जिसमें धान्य या फसल उत्पन्न होती हो। खेतों की नापजोख करने के लिये क्षेत्रकर नामक विशेष अधिकारी होते थे (३।२।२१)। वे

काण्ड नामक लम्बाई से नापकर खेतों का क्षेत्रफल (क्षेत्र भक्ति) निश्चित करते थे (४।१।२३) जैसे द्विकाण्डा क्षेत्रभक्तिः, वह खेत जिसका क्षेत्रफल दो काण्ड हो। खेतों की नाप का अनुमान उसमें बोने के लिये आवश्यक बीज की तौल से भी किया जाता था (तस्य वापः ५।१।४५)। केदार उस खेत को कहते थे जहाँ पानी की सिंचाई सुलभ हो। बहुत से केदार या खेतों का समूह कैदार्य कहलाता था (४।२।४०) ज्ञात होता है कि खेतों का स्वामित्व अलग-अलग होता था, पर गोचर भूमि सारे गाँव भर की साझली होती थी जहाँ गाँव भर के पोहों (ग्राम्य पशु संघ, १ २।७३) को चरने की छूट थी। गाँव के बाहर किन्तु उससे लगे हुए गोष्ठ (५।२ १८) या व्रज (३।३।११९) होते थे, जिनमें बहुसंख्यक पशुओं को रखा जाता था। गौओं के चराने के लिये गोपाल और भेंड़-बकरियों के लिये तन्तिपाल होते थे (गोतन्तियवं पाले ६।२।७८) ग्वालों के गाँव घोष थे (६।२।८५)। पशुओं के गोष्ठ स्थान नए-नए चारे की खोज में एक स्थान से दूसरे स्थान पर हटते रहते थे। पाणिनि ने लिखा है कि वह भूमि जहाँ पहले कभी गोष्ठ रहा हो, पर अब हट गया हो, गौष्ठीन कही जाती थी (गोष्ठात् खञ् भूतपूर्वे ५।२।१८)। अनुमान होता है कि ग्राम-सन्निवेश का ढंग आजकल के जैसा ही था, अर्थात् बीच में बस्ती या आबादी होती थी, उसके बाहर खात डालने की भूमि या खत्ते, फिर गोचर भूमि या गोष्ठ, और फिर खेतिहर भूमि या क्षेत्र होते थे।

गाँव के साथ लगनेवाली भूमि अरण्य से पृथक् होती थी। अरण्य के पशु आरण्य और वहाँ रहनेवाले वनवासी मनुष्य आरण्यक कहे जाते थे (४।२।१२९)। पाणिनि ने इस बात का संकेत किया है कि आसपास के अरण्यों में भी गाँवों के पशुओं को चराने की प्रथा थी। जिस जंगल में सब चारे या घास को पशुओं ने चर लिया हो, वह आशितंगवीन कहलाता था (५।४।७, आशितंगवनीमरण्यम्, काशिका)। उसके बाद ग्वाले अपने झुण्डों को दूसरे जंगल में या उसी जंगल के दूसरे हिस्से में ले जाते थे। तब ऐसे जंगल गोष्पद कहलाते थे, अर्थात् जो गौओं के लिये खुले हों (गोष्पदं सेवितासेवित प्रमाणेषु ६।१।१४५)। इसके विपरीत वे घने जंगल जहाँ पशुओं के लिये चरना कठिन हो, अगोष्पद अरण्य कहलाते थे (यानि हि महान्त्यरण्यानि येषु गवामत्यन्तासंभवस्तान्येवमुच्यन्ते अगोष्पदान्यरण्यानि-काशिका)।

अध्याय ३, परिच्छेद १०–शयनासन

घरेलू सामान के लिये प्राचीन शब्द शयनासन था (६।२।१५१) शयन के काम में आनेवाले खाट-पलंग और आसन के लिये पीढ़े-चौकी आदि मिलकर शयनासन कहलाते थे। इसे ही पाली में सेनासन कहा है। गाँव की बोली में आजकल इसे राछ-रछेंडा कहा जाता है। गृहोपकरण वाची निम्नलिखित शब्द आए

हैं—शय्या (३।३।९९), खट्वा (२।१।१२६), पर्यङ्क या पल्यङ्क (पलंग, ८।२।२२), आसन्दी[१] (कुरसी या राजसिंहासन, ८।२।१२), विष्टर, आसन (८।३।९३), पर्प (अशक्त व्यक्तियों के लिये पहियेदार पीढ़ा या चौकी, ४।४।१०)। पर्प पर बैठ कर चलनेवाले को पर्पिक कहा जाता था। इसे ही यजुर्वेद (३०।२४), मनु (८।३९४) और जातक में पीठ सर्पी कहा गया है (जातक १।७६, पीठ=हस्तेन ग्रहण युग्य अर्थात् हाथ से खींचकर चलाने की गाड़ी)।

पात्र या बर्तन (३।४६) घरेलू बर्तनों में निम्नलिखित का उल्लेख है—(१) कुम्भ (८।३।४६ बड़ा घड़ा)। (२) कंस, गगरा जैसा पात्र विशेष (कुछ लोग इसे फूल या काँसे का पात्र समझते हैं)। यूनानियों का ध्यान इसकी ओर गया था। उन्होंने लिखा है कि यह गिरते ही मिट्टी के पात्र की तरह टूट जाता था। (३) कुण्डी, पत्थर या लकड़ी की कूंडी (४।१।४२; इसे पाणिनि ने अमत्र भी कहा है)। (४) स्थाली, बटलोई (५।१।७०), जिससे स्थाली बिलीय शब्द विशिष्ट खाद्य पदार्थ के लिये बनता था (स्थाली बिलीय तण्डुल = बटलोई में बढ़िया भात के योग्य चावल)। (५) उखा, कढ़ाई (४।२।१७)। (६) कलशी, छोटी गगरी या लुटिया (४।३।५६)। (७) कपाल, शराव, मिट्टी के पात्र (६।२।२९) और अन्य अनेक मिट्टी के भाँड़े जो कौलालक कहलाते थे (कुलालादिभ्यो वुञ् , ४।३।११८)। अपने देश में गाँव और शहरों के घरेलू जीवन में मिट्टी के पात्रों का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। मिट्टी के इन भाँड़ों के अनेक प्रकारों में एक सिरे पर बड़ा कुसूल (६।२।१०२) और दूसरी ओर छोटा शराव (६।२।२९) होता था। गृहोपस्कर की वस्तुओं में इनका भी उल्लेख है—शूर्प (५।१।२६), मन्थ अर्थात् मथानी जिसे वैशाख भी कहते थे (५।१।११०) और शूल (४।२।१७) जिसे मांस भोजी काम में लाते थे।

चमड़े के पात्र-पाणिनि के समय में चमड़े के बड़े कुप्पे कुतु और छोटी कुप्पियों कुतुप कहलाती थीं (कुत्वा डुपच् , ५।३।८९ ह्रस्वाः कुतूः कुतुपं चर्ममयं स्नेहभाजन मुच्यते-काशिका)। तेल रखने की छोटी कुप्पियों को उदंक (३।३।१२३) और बड़े डोल या पानी उठाने के मोट को उदञ्चन कहते थे। चमड़े की मशक भस्त्रा (४।४।१६) या दृति (४।३।५६) कहलाती थी। दृति का नाम वैदिक साहित्य में आया हुआ है। पञ्चविंश ब्राह्मण में क्षीरदृति और सुरादृति का उल्लेख है[२]। दृति या

---

१ आसन्दी प्राचीन वैदिक शब्द था। अष्टाध्यायी में आसन्दीवत् शब्द है जो जनमेजय की राजधानी थी। वहाँ राजकीय आसन्दी या गद्दी होने के कारण उसका यह नाम पड़ा।

२ सक्षीर दृतयो रथा भवन्ति (पञ्चविंश ब्राह्मण १६।१३।१३)। सुरादृतिना उपवसथं धान्यति (वही १४।११।२६)। इससे ज्ञात होता है कि दूध भरी हुई मशकें

मशक में रखा हुआ पदार्थ दार्तेय कहा जाता था (४।३।५६)। आजकल दृति केवल पानी भरने के काम आती है। शुष्क चर्म काष्ठवत् की उक्ति के अनुसार राजस्थान में दृति या पखाल का पानी शुद्ध माना जाता है। पाणिनि के समय में दृति या मशकों में भरा हुआ सामान लादकर ले जानेवाले पशुओं को 'दृतिहरि' कहते थे (हरतेर्दृति नाथयोः पशौ, ३।२।२५)। उन पहाड़ी इलाकों में जहाँ यातायात के पथ नहीं हैं आज भी घोड़े टट्टू, झब्बू आदि पर दृति लाद कर सामान ढोते हैं। इससे दुर्गम ऊँचे पहाड़ी मार्गों में भेड़ बकरी दृतिहरि पशु के रूप में काम आते हैं।

भस्त्रा (४।४।१६)—शतपथ ब्राह्मण से ज्ञात होता है कि भस्त्रा में सत्तू भरकर ले जाए जाते थे (यथानिर्धूतसक्तुर्भस्त्रा एवं हतो वृत्रः संलीनः शिश्ये, शतपथ १।६।३।१६)। वहाँ लिखा है कि ऋषि लोग कोष्ठ (कोठार) या कुम्भी में रक्खे हुए अन्न को लेना पसंद नहीं करते। उन्हें खेत से भस्त्राओं में भरकर और छकड़े पर लादकर लाया हुआ अन्न ही भला लगता है क्योंकि भूसा या अधिक वस्तु उनके मन को रुचती है (न कौष्ठस्य न कुम्भ्यै, भस्त्रायै ह स्म ऋषयो गृह्णन्ति, श० ११।१।२।७)। इससे भस्त्रा का प्रयोग नित्य प्रति के जीवन में सूचित होता है। पाणिनि ने भस्त्रिक शब्द का प्रयोग एक विशेष अर्थ में अर्थात् भस्त्रा से माल ढोने वाले मल्लाहों के लिए किया है (४।४।१६, भस्त्रादिभ्यः ष्ठन् ४।४।१६, भस्त्रया हरति)। जो लोग नदी में हवा से फूली हुई मशकों का बेड़ा बनाकर उससे माल ढोते या नदी पार कराते थे उनके लिए भाषा में भस्त्रिक शब्द काम में आता था। यह प्रथा उत्तर पश्चिमी भारत की नदियों में विशेष थी जैसा कि आगे बताया जाएगा। उदीच्य देश के लोग भस्त्रिका को भस्त्रका कहते थे। (भस्त्रैषा ज्ञाद्वास्वा नञ् पूर्वाणामपि, ७।३।४७)।

गोणी—गोण से बने हुए आवपन या थैले को गोणी कहा जाता था (४।१।४२) वैदिक साहित्य में गोण शब्द नहीं मिलता, किन्तु दीघ निकाय के ब्रह्मजालसुत्त में गोणक शब्द आया है जो लम्बे बालों वाले बकरों के बालों से बना हुआ मोटा ऊनी वस्त्र होता था। श्री मोतीचन्द्र का अनुमान है कि यह गोणक शब्द कौनकसे संबद्ध है जो ऊन का बनता था और जिसे प्राचीन सुमेर और अक्कद देश के निवासी पहिनते थे (Kaunakes, मार्शल, सिन्धु उपत्यकाकी सभ्यता, पृ० १३३, ३४२; फलक ५५, चित्र १०)। हो सकता है कि प्राक्पाणिनीय काल में कभी यह शब्द पश्चिमी व्यापारियों के साथ इस देश में आ गया हो।

गोणी शब्द को हिन्दी में गौन या गोनी कहते हैं। गौन में अनाज, नमक

रथों पर लादकर लाई जाती थीं। सम्भवतः यह कबाइली इलाके के लोगों की प्रथा थी। वे अपनी छोटी फिरक या फलकास्तीर्ण रथ पर दृतियों में भरा हुआ सामान लाद कर लाते थे। व्रातों की पहिचान आगे की जाएगी।

आदि भरकर पशुओं पर लादा जाता है। पाणिनि ने दो प्रकार की गोणी कही है बड़ी गोणी (४।१।४२) और छोटी गोणीतरी (कासूगोणीभ्यां ष्टरच, ५।३।९०)। पहिली बैल, खच्चर, टट्टू, घोड़ों पर लादी जाती थी और दूसरी भेड़ बकरी और गधों पर। इद्गोण्याः सूत्र (१।२।५०) के उदाहरण में पञ्चगोणिः और दशगोणिः वस्त्र का उल्लेख किया है जो पाँच या दश गोनी मूल्य देने पर खरीदा जाता था (पञ्चभिः गोणीभिः क्रीतः पटः पञ्चगोणिः, दशगोणिः)। इससे अनुमान होता है कि गोणी नामकी एक विशेष तोल भी थी। भाष्यकार ने एक श्लोक वार्तिक उद्धृत किया है जिसमें गोणी को एक प्रमाण माना है (गोणीमात्रमिदं गोणिः १।२।५०)। चरक के अनुसार गोणी खारी का नाम था, जो चार द्रोण के बराबर होती थी। शार्ङ्गधर से भी इसका समर्थन होता है। हिसाब से गोणी लगभग ढाई मन की तौल थी।

विवध—(४।४।१७; वीवध[1] ४।३।७) इसे हिन्दी में बँहगी कहते हैं (संस्कृत विहङ्गिका)। कहार (उदकहार या उदहार) कुओं से पीने का पानी बँहगी में लाद कर घरों में भरते थे। यह प्रथा गाँवों में आज भी है। पाणिनि के समय में इसे उदकवीवध या उदवीवध कहा जाता था (४।३।७)। कौटिल्य ने वीवध शब्द का प्रयोग नए पारिभाषिक अर्थ में किया है अर्थात् सेना में रसद या माल ढोनेवाला विभाग (अर्थशास्त्र १०।४)।

अन्न संग्रह - सूत्र ६।२।१०२ (कुसूल कूप कुम्भ शालं बिले) में पाणिनि ने अन्न संग्रह के कई पात्रों का उल्लेख किया है - (१) कुसूल = बहुत बड़ा लम्बोतरा मिट्टी का बना हुआ कुठला या कोठी जो मनुष्य की ऊँचाई से कुछ ऊँची होती है और जिसमें १५ से २० मन तक अनाज आ सके। संभवतः इसी को शतपथ (१।१।२।७) में कौष्ठी या कोठी कहा गया है। (२) कुम्भ=मिट्टी का बड़ा घड़ा जिसका मुँह अपेक्षाकृत छोटा हो। इसे सिन्ध की ओर गोदी कहा जाता है। इसमें कुसूल से लगभग आधा अन्न आएगा। शतपथ में कौष्ठ के बाद कुम्भी का उल्लेख है और इन्हीं दोनों को लक्ष्य करके मनु ने कुसूलधान्यक और कुम्भीधान्यक गृहस्थों का उल्लेख किया है। शतपथ में कहा है - न कौष्ठस्य न कुम्भ्यै, भस्त्रायै ह स्म ऋषयो गृह्णन्ति। ज्ञात होता है कि साल भर के लिए अन्न रखने वाला गृहस्थ कुसूलधान्यक और छह महीने या एक फसल के लिए रखने वाला कुम्भीधान्यक कहलाता था। (कुसूल धान्यको वा स्यात् कुम्भीधान्यक एव वा, मनु० ४।७)। जिसके पास एक वर्ष के खाने लायक अन्न हो (यस्यान्नं वार्षिकं भवेत्, याज्ञवल्क्य १।१२४) ऐसा गृहस्थ प्राचीन शास्त्रों में संभवतः कुसूलधान्यक या कुटले में धान्य संग्रह करने वाला कहा होगा।

---

१ क्योंकि सूत्रकार ने स्वयं ह्रस्व और दीर्घ दोनों रूपों का प्रयोग किया है इस लिए भाष्यकार ने भी ४।४।१७ सूत्र में वीवध रूप का पाठ करने का निर्देश किया है।

(३) कूप—इसका तात्पर्य पक्की मिट्टी की बनी हुई लगभग तीन फुट व्यास की उन चकरियों से ज्ञात होता है जिन्हें एक के ऊपर एक रख कर अन्नसंग्रह के लिये कुठला जैसा बनाया जाता था। प्रत्येक चकरी को गण्ड और इस प्रकार के कुठल को गण्ड कुसूल कहा जाता था (हर्षचरित)। पाणिनि के कूप की पहिचान इसी से की जानी चाहिए। मथुरा, अहिच्छत्रा, कौशाम्बी, राजघाट, पाटलिपुत्र आदि के उत्खनन में सर्वत्र इस प्रकार के गण्ड कुसूल पाए गए हैं जो कहीं-कहीं कुँए की तरह ही गहरे हैं। कच्ची खुदी हुई कुइयों में लगाकर उनसे कुओं का काम भी लिया जाता था।

(४) शाला—इस सूत्र में जिस शालाबिल का उल्लेख है वह अन्न रखने के भण्डार का आनन या छोटा मुँह होना चाहिए। अन्न रखने के बखर को ही यहाँ सूत्रकार ने शाला कहा है। सोमयज्ञ करने के लायक व्यक्ति का विचार करते हुए कहा गया है कि तीन वर्ष तक खाने लायक अन्न जिसके पास हो वह सोमपान कर सकता है[1]। तीन वर्ष के लिये पर्याप्त अन्न संग्रह करने का साधन कुसूल से भी कम से कम तिगुना बड़ा होना चाहिए और उसी का नाम शाला जान पड़ता है। संभवतः यह ऐसा कोठा होता था जिसे अन्न भरने के बाद चारों ओर से बन्द कर देते थे।

पाणिनि ने अन्न निकालने के लिये इन चारों के मुँह या मोखे का उल्लेख किया है जिसे उस उस समय बिल कहते थे (कुसूल बिल, कूप बिल, कुम्भबिल, शालबिल)। बिहार में कोठी कुठले आदि के मोखे को जिसमें से अन्न बाहर निकाला जाय आनन कहते हैं (बिहार पेजेन्ट लाइफ, अनुच्छेद ८१)। साधारणतः यह बिल या मुँह कोठी कुठले के निचले भाग में बनाया जाता था और पिहान या ढक्कन (सं० पिधान) से उसे मूँदकर रखते थे।

अध्याय ३, परिच्छेद ११—वाहन

आने जाने या माल ढोने के लिये सवारी वह्य (वह्यंकरणम, ३।१।१०२ वहत्यनेनेति वह्यं शकटम्) या वाहन (८।४।८) कहलाती थी। ये दो प्रकार के होते थे, स्थल के लिये और जल के लिये जिन्हें उदवाहन कहते थे (६।३।८)। वाहन का नाम उसमें लदे हुए बोझे के अनुसार पड़ता था (वाहनम् आहितात्, ८।४।८), जैसे इक्षुवाहण, शरवाहण, दर्भवाहण। आज भी गन्ने की गाड़ी, गेहूँ की गाड़ी, रूई की गाड़ी नाम इसी नियम से बनते हैं।

शकट—बोझा ढोने की बड़ी गाड़ी या सगड़ को शकट और उसमें जुतने वाले तगड़े बैल को शाकट (४।४।८०) कहते थे। जो बैल जिस तरह की

---

१ यस्य त्रैवार्षिकं भक्तं पर्याप्तं भृत्य वृत्तये।
अधिकं वापि विद्येत स सोमं पातुमर्हति ॥ मनु० ११।७

गाड़ी खींचता था उसी के अनुसार उसका नाम पड़ जाता था और उसके लिए रातिब और खातिर का प्रबन्ध उसी हिसाब से किया जाता था। पतञ्जलि ने शकट सार्थ का उल्लेख किया है। प्राचीन साहित्य से विदित होता है कि पाँच पाँच सौ छकड़ों पर माल लादकर सार्थवाह लोग लम्बी-लम्बी यात्राएँ करते थे। यह सब दृढ़ ठुके हुए शकट और उन्हें खींचने वाले धुरन्धर बैलों की कृपा पर निर्भर था।

रथ—रथ (४।२।१०) विशेष करके मनुष्यों के आने-जाने का यान था। रथों का समूह रथ्या या रथकट्या कहलाता था (४।२।५०-५१)। सेना में भी रथों का उपयोग होता था। सूत्र २।४।२ में सेनाङ्ग का उदाहरण देते हुए काशिका में 'रथिकाश्वारोहम्' आया है।

रथ कई प्रकार के होते थे जिनका नामकरण खींचने वाले पशु के अनुसार किया जाता था (४।३।१२२)। खींचने वाले अश्वादि को पत्र और युग्य (युग्यं च पत्रे ३।१।१२१) कहा गया है। इतर साहित्य में इन दोनों को वाहन अर्थात् सवारी भी माना है। जैन साहित्य में एक विशेष प्रकार की गाड़ी जो गोल्ल देश (कृष्णा गोदावरी के बीच गोली) में चालू थी जुग्ग (सं० युग्य) कही गई है।

पतञ्जलि ने ४।३।१२२ सूत्र के उदाहरण में अश्वरथ, उष्ट्ररथ और गर्दभरथ का उल्लेख किया है (४।३।१२० वार्त्तिक ७)। पत्र या खींचने वाले जानवर के अनुसार सवारियों को आश्वरथ, औष्ट्ररथ आदि कहा जाता था। वैदिक साहित्य में अश्वरथ के अतिरिक्त रासभरथ और अश्वतरीरथ का भी उल्लेख है। महाभारत में दुर्योधन ने पुरोचन को रासभयुक्त स्यन्दन पर चढ़कर वारणावत जाने की आज्ञा दी जिससे कि वह उसी दिन वहाँ जा पहुँचे।[1]

महानिद्देश में ओट्टयान (ऊँट गाड़ी या शिकरम) और खरयान एवं जातक में (५।३५५) अस्सतरीरथ का उल्लेख है। कात्यायन ने स्पष्ट लिखा है कि इन विभिन्न शब्दों की आवश्यकता बढ़इयों को पड़ती थी जो इन विभिन्न सवारियों के छोटे-बड़े पहियों में भेद करने के लिये उन्हें आश्वरथचक्र, औष्ट्ररथचक्र या गार्दभरथ-चक्र कहते थे (रथाद् रथाङ्गे, वार्तिक ७, सूत्र ४।३।१२०)।

पाणिनि ने रथाङ्ग को अपस्कर भी कहा है (अपस्करो रथाङ्गम् ६।१।१४९) जो रथ का कोई विशेष भाग या उसका पहिया भी हो सकता है। किन्तु महाभारत में बराबर उपस्कर शब्द का प्रयोग हुआ है (सुचक्रोपस्करैः, सभा० ५४।३, सूपस्करं सोत्तारबन्धुरेषम्, भीष्म ५६।९), अपस्कर का नहीं। रथ के पहिए, जुए आदि के लिए 'रथ्य' इस विशेष शब्द का पाणिनि ने उल्लेख किया है (रथाद् यत् ४।३।१२१, काशिका-रथस्येदं रथ्यं चक्रं वा युगं वा, रथाङ्ग एवेष्यते नान्यत्र, अनभिधानात्)।

---

१ स त्वं रासभयुक्तेन स्यन्दनेनाशुगामिना।
वारणावतमद्यैव यथा यासि तथा कुरु॥ आदिपर्व १३२।७

रथकारों की भाषा में इस शब्द का विशेष प्रचलन रहा होगा क्योंकि वे रथ के चक्र वा जुए को अधिक सावधानी से बनाते और मूल्यवान् समझते थे।

गाड़ी के पहिये बनाने के लिए बढ़ई लोग उसकी नाह की लकड़ी के चुनाव में विशेष सावधानी बरतते हैं। यह लकड़ी गाँठों से रहित पक्की ठोस और गाभे की होनी चाहिए क्योंकि इसी के भीतर धुरी पिरोई रहती है और इसी के ऊपरी भाग में अरे ठोंके जाते हैं। इसे प्राचीन भाषा में उपधि कहा जाता था और उपधि बनाने के लिए जो लकड़ी चुनी जाती थी उसे औपधेय दारु कहते थे (छदिरुपधिबलेर्ढञ् ५।१।१३; औपधेयं दारु, उपधीयते इति उपधिः रथाङ्गम्)।

धुरे के लिए अक्ष शब्द था (५।४।७४)। कुत्सित धुरे को 'काक्ष' कहा जाता था (कापथ्यक्षयोः ६।३।१०४)। इसी प्रसङ्ग में पाणिनि ने कद्रथ का भी उल्लेख कुत्सित रथ के लिये किया है (६।३।१०२)। संभवतः काक्ष और कद्राथ का संबंध था। छोटे रथों में लगने वाले कम लम्बे धुरे काक्ष कहे जाते होंगे। आपस्तम्ब शुल्व सूत्र के अनुसार अच्छे रथ की नाप यह थी—

ईषा की लम्बाई १८८ अंगुल = पौने बारह फुट,
धुरे की लम्बाई १०४ अंगुल = ६।। फुट,
जुए की लम्बाई ८६ अंगुल = ५ फुट ४।। इंच

(आपस्तम्ब शुल्व सूत्र, माईसोर संस्करण पृ० ९५)

यह नाप पूरे रथों की थी। ऐसे रथों को परम रथ या उत्तम रथ कहते थे (सूत्र १।१।७२, वार्त्तिक १६, 'रथ सीताहलेभ्यो यद् विधौ, इसके अनुसार ४।३।१२१ सूत्र में परमरथ और उत्तम रथ का भी ग्रहण था)। इस प्रकार के लम्बे पूरे रथ को जो बैलों की नाप को ध्यान में रखकर बनाया जाता था अनुगव कहते थे (अनुगव मायामे, ५।४।८३, अनुगवं यानम्)। इस प्रकार के उत्तम रथों की तुलना में छोटी नाप वाले रथों को अवश्य ही कद्रथ और उनकी छोटी धुरी को काक्ष कहा जाता होगा। लाट्यायन श्रौत्रसूत्र में व्रात्यस्मोम के वर्णन में व्रात्यों के कुत्सित रथ का उल्लेख है (८।६।९)। उसका मान उत्तम रथ की अपेक्षा कम होता था (अन्यदेव तस्य मानम्, टीका)। बोधायन श्रौतसूत्र (२०।२३) में 'जरद्' 'कद्रथ' का उल्लेख है। कात्यायन श्रौ० ५।३।११ में रथयात्रा का उल्लेख है (=१८८ अंगुल)।

रथों का मँढ़ना—प्राचीन भारत में रथ बनाने की चार अवस्थाएँ थीं। सबसे पहिले बढ़ई रथ के एक एक भाग जैसे रथचक्र, ईषादण्ड, अक्ष, युग, कूबर आदि को अलग बना लेता था। दूसरी अवस्था में वह उन्हें एक में ठोकता और मिलाता था। इन दोनों अवस्थाओं का उल्लेख भाष्य में इस प्रकार किया है, 'यथा तर्हि रथाङ्गानि विहृतानि प्रत्येकं व्रजिक्रियां प्रत्यसमर्थानि भवन्ति तत् समुदायश्च रथः समर्थः' (१।२।४५, वा १०, महाभाष्य)। तीसरी अवस्था वह थी कि जिसमें रथ

को चमड़े और कपड़ों से मढ़ा जाता था। इसका उल्लेख पाणिनि ने 'परिवृतो रथः' और उसके बाद वाले दो सूत्रों (४।२।१०।१२) में किया है।

चौथी अवस्था में रथ को जहाँ तहाँ आवश्यक रस्सियों से जिन्हें अथ जन्दनी (सं० यन्त्रिणी) कहा जाता है कसा जाता था। इस प्रक्रिया का संकेत पाणिनि के 'प्राध्वं बन्धने' सूत्र (१।४।७८) में आया है।

रथ मढ़ने (परिवृतो रथः) के काशिका में तीन उदाहरण हैं--वास्त्र, काम्बल, चार्म, अर्थात् कपड़े, कम्बल और चमड़े से मढ़े हुए रथ। कम्बल से मढ़े हुए रथों में पाणिनि ने पाण्डुकम्बली रथ का विशेष रूप से उल्लेख किया है (पाण्डुकम्बलादिनिः ४।२।११)। वेस्सन्तर जातक में लिखा है कि पाण्डु कम्बल गन्धार देश में बनाए जाते थे और बीरबहूटी के जैसे चटकीले लाल रंग के होते थे (इन्दगोपकवण्णाभा गंधरा पंडुकम्बला, वेस्सन्तर० ६।५००)। जातक की टीका के अनुसार वे कम्बल सेना के काम के लिये गन्धार देश से अन्यत्र ले जाए जाते थे (गंधाररट्ठे उप्पन्ना सतसहस्सघनिका सेनाय पारुता रत्तकंबला[1])।

काशिका के चार्मण रथ उदाहरण पर भी पाणिनि से विशेष प्रकाश पड़ता है। यों तो साधारण रथ मामूली चमड़े से मढ़े जाते हैं किन्तु द्वैप वैयाघ्रादञ् ४।२।१२ सूत्र में कहा है कि बाघ और चीते के चमड़े भी विशेष रथों को मढ़ने के काम में लाए जाते थे। ऐसे रथ द्वैप और वैयाघ्र कहलाते थे। अपने देश में वैयाघ्र रथ की परम्परा वैदिकयुग से आरम्भ हो गई थी और वह राजाओं के काम में आता था। राज्याभिषेक के समय वैयाघ्र रथपर बैठकर राजा उत्सव यात्रा के लिये निकलता था (अथ व्याघ्रोऽधिवैयाघ्रे विक्रमस्व)। रामायण में राम के यौवराज्य पद पर अभिषेक के लिए अन्य सामग्री के साथ वैयाघ्र रथ भी लाया गया (अयोध्या० ६।२८)। पूर्व देश के राजा युधिष्ठिर के लिये जो उपहार लाए थे उनमें वैयाघ्र रथ भी था, जिसे वैयाघ्र परिवारित रथ (बाघ के चमड़े से मढ़ा हुआ रथ, सभापर्व ५१।२३) अथवा सहस्रसमित वैयाघ्र राज-रथ (एक हजार कार्षापण मूल्य का वैयाघ्र नामक राजकीय रथ, सभा० ६१।४) कहा गया है। वैयाघ्र चमड़ा और भी चीजें मढ़ने के काम में आता था, जैसे महाभारत में ही भीमसेन की तलवार की म्यान को वैयाघ्र कोष कहा है (विराटपर्व ३८।३०,५५)। ज्ञात होता है कि जातकों के और पाणिनि के समय में वैयाघ्र रथ की विशेष ख्याति थी। वेस्सन्तर जातक में कहा है कि राजकुमार वेस्सन्तर ने ऐसे सात सौ रथ दान में दे डाले (सत्तरथसते

---

१ ससजातक में भी पांडुकम्बल का उल्लेख है। (पंडुकम्बल सिलासनम्) अर्थात् इन्द्र के बैठने की पत्थर की चौकी पर पाण्डुकम्बल बिछा हुआ था, जातक भाग ३ पृष्ठ ५३)। वेस्सन्तर जातक (६।५१५) में वेस्सन्तर के राजकीय हाथी की पीठ पर पाण्डुकम्बल बिछाने का उल्लेख है।

दत्त्वा···दीपे अथोऽपि वेय्यघे, वेस्सन्तर जातक ६।५०३; दीपिचम्म—व्यग्घ चम्म—परिक्खित्ते······टीका)। महाजनक जातक में तो दीप और वैय्यग्घ रथों के ऊपर एक पूरा गीत ही दिया हुआ है (जातक भाग ६ पृष्ठ ४८-५०)।

भिन्न प्रकार के मार्गों में कौटिल्य ने रथपथ का विशेषरूप से उल्लेख किया है (अर्थशास्त्र २।४)। वह रथ जो ऐसा मजबूत बना हो कि अच्छे रास्ते के समान ही ऊबड़खाबड़ मार्ग में भी ले जाया जा सके 'सर्वपथीन' कहलाता था (५।२।७; काशिका, सर्वपथं व्याप्नोति सर्वपथीनो रथः)। वह सारथि जो सब तरह के अर्थात् सीधे और कड़वे जानवरों को हाँक सके सर्वपत्रीण कहा जाता था (५।२।७)। यह सारथि की सुघड़ाई का वाचक था।

चक्ररक्षक पुरुष—परिस्कन्दः प्राच्य भरतेषु (८।३।७५) सूत्र में पाणिनि ने लिखा है कि भरत जनपद में और प्राच्य देश में परिस्कन्द शब्द प्रचलित था। इसकी ध्वनि है कि उदीच्य देश में उसका उच्चारण मूर्धन्य षकार के साथ परिष्कन्द होता था। परिस्कन्द उन दो सैनिकों को कहते थे जो रथ के दोनों ओर पहिओं के साथ रहकर दोनों ओर के हमले से रथी का बचाव करते थे। अथर्व वेद के व्रात्य सूक्त में पाँच बार परिस्कन्द शब्द आया है। अथर्व १५।२।६ में इसका रूप द्विवचनान्त है, किन्तु तैत्तिरीय ब्राह्मण में एक वचन है (३।४।१।७, भूम्ने परिस्कन्दम्—परिचारकम्, भट्टभास्कर, अथर्व १५।३।१० तस्य देवजनाः परिस्कन्दा आसन्)। महाभारत में परिस्कन्द नामक परिचारकों को चक्ररक्ष कहा गया है (भीष्मपर्व १८।१६)।

प्राध्वं बन्धने—जैसा ऊपर लिखा है गाड़ी और रथों के बनाने में सबसे अन्तिम प्रक्रिया वह थी जिसमें उन्हें रस्सी या डोरिओं से कसा जाता था। पाणिनि ने प्राध्वं बन्धने १।४।७८ सूत्र में इसी का उल्लेख किया है। सूत्र का व्याकरणी अर्थ तो इतना ही है कि 'प्राध्वंकृत्य' पद बाँधने के लिए प्रयुक्त होता है। प्रश्न यह है कि प्राध्वंकृत्य का अर्थ बन्धन कैसे हुआ? इसका उत्तर यह है कि गाढ़ी या रथ का सब ठाट तैयार हो जाने पर जब बढ़ई का काम समाप्त हो जाता तो ग्राहक उसे अपने घर ले आता था। वह गाड़ी तब तक काम के योग्य अर्थात मार्ग में चलाने लायक न समझी जाती थी जबतक उसे रस्सिओं से कसा न जाय। सग्गड़ या लढ़िया गाड़ी के ढाँच और जुए को बरही (वध्री) नामक मोटी रस्सी से कसकर बाँधते हैं और रथ को इसी प्रकार सूत की जन्दनी नामक डोरियों से बहुत सफाई के साथ कसते हैं। कसकर बाँधने की अन्तिम प्रक्रिया से ही प्रत्येक वाहन अध्व के अनुकूल अर्थात् मार्ग में चलने के योग्य बनाया जाता है। चाहे सारी गाड़ी या मढ़ा हुआ रथ तैयार हो किन्तु बन्धन के विना वह प्राध्व नहीं होता।

पाणिनिसूत्र ५४।८५ (उपसर्गादध्वनः) का एक उदाहरण है प्रगतोऽध्वानं प्राध्वो रथः, प्राध्वं शकटम्। उससे ज्ञात होता है कि मार्ग में चलने के योग्य रथ या

गाड़ी को प्राध्व कहा जाता था। प्राध्वंकृत्य का प्रत्युदाहरण प्राध्वं कृत्वा था। यदि मार्ग में चलती हुई कोई गाड़ी टूट जाय तो उसे सड़क के एक किनारे रोक देते हैं और फिर मरम्मत करके उसे चलाते हैं। प्राध्वं कृत्वा का यही अर्थ है अर्थात् जो चलती हुई गाड़ी रास्ते से उतर गई हो उसे ठीक करके रास्ते पर डाल दिया जाय। दोनों शब्दों में व्याकरण की बात इतनी ही थी कि प्राध्वंकृत्य में ल्यप् प्रत्यय और समास होता है और प्राध्वं कृत्वा में नहीं।

अध्याय ३, परिच्छेद १२–भारवाही पशु

जैसा ऊपर कहा गया है रथ या गाड़ी में जुतकर उसे खींचने वाले वोढा पशु को पत्र (३।१।१२१; ४।३।१२२-१२३) और जोतने योग्य पशु को युग्य कहा गया है (युग्यं च पत्रे, ३।१।१२५)। तद्वहति (अर्थात् वह बोझ ढोता है), प्रकरण में (४।४।७६-८१) पाणिनि ने भिन्न भिन्न प्रकार का काम करने वाले बैलों का इस प्रकार वर्गीकरण किया है—

१—रथ्य, रथ के बैल (४।४।७६) ये सवारी के बैल बड़े चंचल होते थे।

२—शाकट, छकड़ा, या सग्गड़ खींचने वाले बैल (४।४।८०)। ये लादे के बैल धुरन्धर या तगड़ी जाति के होते थे। भाष्यकार ने लिखा है—वह अच्छा बैल है जो गाड़ी खींचे पर वह और भी बढ़िया है जो गाड़ी और हल दोनों में काम दे (गौरयं यः शकटं वहति गोतरोऽयं यः शकटं वहतिः सीरं च)।

३—हालिक और सैरिक, हल के बैल (४।४।८१) किसान के जीवन में इन शब्दों की बराबर आवश्यकता पड़ती थी क्योंकि जैसा कि अर्थशास्त्र में विस्तार से उल्लेख है (अर्थशास्त्र २।२९) सवारी के बैल और लादे के बैलों की टहल और रातिब में भेद होता था।

कुछ बैल जुए में दोनों ओर जोते जा सकते हैं उन्हें सर्वधुरीण कहते थे। यहाँ धुरा गाड़ी के उस अगले भाग के लिये है जिस पर बैलवान बैठकर बैल हाँकता था (देखिए जातक १।१९२)। पर कुछ बैल ऐसे होते हैं जो धुरे के एक ही ओर जोते जा सकते हैं। उन्हें एक धुरीण कहा जाता था। आजकल दाहिनी ओर के बैल को उपराल और बाईं ओर के बैल को तरवाल कहते हैं। कभी कभी दो बैलों के अतिरिक्त एक तीसरा बैल भी आगे जोता जाता है जो 'बींड़िया' कहलाता है। पाणिनि ने उसे प्रष्ठ कहा है (प्रष्ठोऽग्रगामी ८।३।९२)। वैदिक भाषा में उसकी संज्ञा पुष्टि थी और जिस रथ में पुष्टि जुता हो उसे पुष्टिवाहन या पुष्टिवाही रथ कहते थे।

बैलों पर सवारी करनेवाले गोसाद, गोसादिन् (६।२।४२) और ऊँट या साँड़िनी के सवार 'उष्ट्रसादि' कहे जाते थे। ऐसे अधिकारी जो घोड़े आदि की सवारी करते थे युक्तारोह थे (६।२।८१)। सम्भवतः घुड़सवार सैनिकों के लिए यह शब्द

प्रयुक्त होता था। सूत्रों में ये शब्द और आए हैं—सारथि (६।२।४१), प्रग्रह या रश्मि (रश्मौ च ३।३।५३), गोसारथि (६।२।४१ बैलवान्), एवं सर्वपत्रीण (५।२।७)।

आश्वीन—एक घोड़ा एक दिन में जितनी यात्रा करता था वह दूरी आश्वीन कहलाती थी (अश्वस्यैकाहगमः ५।२।१९)। अथर्ववेद में ३ योजन और ५ योजन के बाद आश्वीन दूरी का उल्लेख है (यत् धावसि त्रियोजनं पञ्चयोजन माश्विनम्, अथर्व ६।१३१।३)। अर्थशास्त्र में आश्वीन दूरी की लम्बाई का निश्चय किया गया है क्योंकि सरकारी नौकरों के भत्ते आदि के लिये इसकी आवश्यकता पड़ती थी। वह तालिका इस प्रकार है—

अश्व का प्रकार	पृष्ठ वाह्य=सवारी के घोड़े	रथ्य=रथ के घोड़े
अधम	पाँच योजन (२५॥ मील)	६ योजन (३१ मील)
मध्यम	आठ योजन (४१ मील)	९ योजन (४६ मील)
उत्तम	दस योजन (५१ मील)	१२ योजन (६१ मील)

(अर्थशास्त्र २।३०, एक योजन बराबर ५$\frac{३}{४}$ मील)। इस प्रकार अर्थशास्त्र में मामूली सवारी के घोड़े की एक दिन की दूरी पाँच योजन और वाहक की छह योजन कही गई है। यह अथर्व वेद के उस प्रमाण से संगत होता है जिसमें आश्वीन दूरी को ५ योजन से कुछ अधिक कहा है। इस सम्बन्ध में भाष्यकार ने रोचक सूचना दी है—'जो चार योजन दूरी तय करे वह अश्व है। जो आठ योजन जाय वह अश्वतर है, (अश्वोऽयं यश्चत्वारि योजनानि गच्छति, अश्वतरोऽयं योऽष्टौ योजनानि गच्छति, ५।३।५५)।

अध्याय ३, परिच्छेद १३--नौ सन्तरण

पाणिनि ने समुद्र और महानदियों का उल्लेख किया है। उनके अनुसार द्वीप दो प्रकार के होते थे, एक वे जो किनारे के पास हों (अनुसमुद्र द्वीप, ४।३।१०) और दूसरे वे जो बीच समुद्र में हों। अनुसमुद्र द्वीप से जो तिजारती सामान लाया जाय वह द्वैप्य और जो बीच समुद्र के या समुद्र पार के द्वीपों से लाया जाय वह द्वैप या द्वैपक कहलाता था। (द्वैपादनुसमुद्रं यञ् ४।३।१०)। ऐसे द्वीपों से व्यापार करनेवाले व्यापारी भी इन्हीं नामों से अभिहित होते थे[1]।

---

१ द्वैप शब्द का उत्तम प्रयोग माघ के निम्नलिखित श्लोक में आया है--विक्रीय दिश्यानि धनान्यरूणि द्वैप्यानसावुत्तमलाभभाजः। तरीषु तत्रत्यमफल्गु भाण्डं सांयात्रिकानावपतोऽभ्यनन्दत्। इसमें द्वैप्य उन सांयात्रिक व्यापारियों के लिये आया है जो द्वारका के पास के समुद्रवाले द्वीपों के साथ वाणिज्य करते थे (माघ ३।७६)।

पानी में चलनेवाले वाहनों को उदक-वाहन या उदवाहन कहा गया है। (६।३।५८)। नाव, डाँड़ और मल्लाह इन तीनों का भी सूत्रों में उल्लेख है (नौ, ५।४।९९; अरित्र, ३।२।१८४; नाविक, ४।४।७, नावा तरति)।

जहाँ नाव लगती हो ऐसे घाट को नाव्य कहा जाता था (४।४।९१ नौ द्वयचष्ठन्, नावातार्यम् नाव्यमुदकम्, नाव्या नदी। इसे ही पाली में नावतित्थ कहा है (जातक ३।३३)। पाणिनि के जन्मस्थान शलातुर के पास ही सिन्धु नदी में नाव का घाट था, जिसे वहाँ से प्राप्त एक शिला लेख में शल-नो-क्रम कहा गया है। उस स्थान पर साल में आठ महीने तक अब भी सिन्धु नदी में नाव का पुल लगता है।

नावो द्विगोः (५।४।९९) सूत्र के उदाहरण से ज्ञात होता है कि मालधनी व्यापारियों का नाम नावों की संख्या के आधार पर पड़ता था, जैसे दो नावों वाला मालधनी दिनावधन और जिसने पाँच नावें लादी हों वह 'पञ्चनावप्रिय' कहा जाता था। दो नावों के साथ आया हुआ बजड़ा द्विनावरूप्य या 'द्विनावमय' कहलाता था (५।४।९९ का उदाहरण)।

नावों के व्यापार में व्यापारी बहुत से पटेलों में माल लादकर उसे बेचते हुए और उसकी जगह नया माल खरीदते हुए चलते थे। उदाहरण के लिये यदि किसी माल-धनी ने सौ नावें लादी हों और मार्ग में दस नावों में भरा हुआ माल देकर बदले में दूसरा माल भर ले तो उसका वह माल 'दशनौ' कहलाता था (दशभिः नौभिः क्रीतः—काशिका ५।४।९९)। साझे के व्यापार में रुपये में अठन्नी भर जिसका माल में हिस्सा हो वह आधा भाग अर्धनाव कहा जाता था (५।४।१००)।

भस्त्रा—भस्त्रा का लोक में अर्थ लोहार की धौंकनी है, किन्तु इस शब्द का मूल अर्थ पशु की फुलाई हुई खाल लिया जाता था। इसी कारण भस्त्रा उस प्रकार के बजरे को कहते थे जो भेड़-बकरी या उससे बड़ी खालों को हवा से फुलाकर और एक दूसरे में बाँध कर बनाया जाता था। पाणिनि ने इस विशिष्ट अर्थ में इस शब्द का प्रयोग किया है। भस्त्रादिभ्यः ष्ठन् (४।४।१६) सूत्र के अनुसार भस्त्रिक उसे कहते थे जो भस्त्रा के बजरे से नदी पार कराता या बोझा ढोता था (भस्त्रया हरति भस्त्रिकः)। पंजाब, उत्तर-पश्चिमी भारत और अफगानिस्तान की पहाड़ी नदियों में यही नदी पार करने का सबसे सुरक्षित और क्षिप्र उपाय है। बलूचिस्तान में ऐसे बजरे या तमेड़ों को जक कहते हैं (तिब्बती याक या झब्बू गाय की खाल से बनाया हुआ)। इस समय बकरे की खालों को सींकर ज़क बनाते हैं, जिनका एक पैर हवा भरने के लिये खुला छोड़ रखते हैं। इन फुलाई हुई खालों के ऊपर बाँस बाँध कर या मछुओं का जाल फैला कर एक साथ बाँध लेते हैं और यात्री उन्हीं पर बैठ कर आठ मील फी घण्टे की रफ्तार से मजे में यात्रा करते हैं। किसी-किसी जक में तो सोलह खाल तक बाँधी जाती हैं। पंजाब में दो बैलों की फुलाई हुई खालों पर चार-

पाई बिछाकर बैठ जाते हैं। इस प्रकार के बजरे बहुत ही सुविधाजनक रहते हैं। जैसे ही यात्री ठिकाने पर पहुँच जाते हैं, मल्लाह खालों को पटका कर कन्धे पर डाल लेता है और नदी किनारे पैदल चलता उजानी लौट आता है। भारतवर्ष में और उसके पड़ोसी देश प्राचीन ईरान में भी इस प्रकार के बजरों की प्रथा थी, जिसे पाणिनि ने भस्त्रा कहा है। उसी युक्ति को दारा प्रथम के बहिस्तून लेख में मश्का खुवा कहा गया है (संस्कृत भस्त्रा के लिये ईरानी शब्द मश्का था)। इस प्रकार ज्ञात होता है कि तिब्बत की नदियों से लेकर सारे पश्चिमी भारत में एवं अफगानिस्तान से लेकर ईरान की तिग्रा-उफ्रातु नदियों तक भस्त्रा या मश्का से नदी पार करने या माल ढोने की प्रथा थी और उनके मल्लाह भस्त्रिक कहलाते थे।

पाणिनि का दूसरा सूत्र है- हरत्युत्सङ्गादिभ्यः (४।४।१५)। उसके अनुसार उत्सङ्गेन हरति औत्सङ्गिकः, यह प्रयोग बनता था। उसी गण में उडुप, उत्पट पिटक—ये तीन शब्द और पढ़े हैं। ये शब्द विभिन्न प्रकार की नावों के वाचक हैं। उत्संग का गोद अर्थ यहाँ संगत नहीं है, क्योंकि गोद में ढोने की क्षणिक क्रिया से भाषा में शब्द की आकांक्षा नहीं होती। जैसे भौलिया, पनसुइया, पटेला, सारंगा, आदि भिन्न-भिन्न प्रकार की नावें गंगाजी में चलती हैं, और उनके खिवैया मल्लाह को हम अपनी भाषा में भौलियावाला, पनसुइयावाला, पटेलेवाला, इस प्रकार के शब्दों से पुकारते हैं, ठीक वैसी ही स्थिति संस्कृत भाषा में भिन्न प्रकार की नावों के आधार पर बने हुए नाविकवाची शब्दों की थी। भस्त्रिक, औत्सङ्गिक, औडुपिक आदि का अर्थ इस पृष्ठभूमि में ठीक समझा जा सकता है। उत्संग भी एक प्रकार की छोटी नाव होती थी। इसी प्रकार उडुप, उत्पथ और पिटक नावों के नाम थे। भस्त्रादिगण में भरट शब्द का पाठ है, जो संभवतः लकड़ी के लट्ठों या बाँस के मुट्ठों को बाँधकर बनाया जाता था, जिसे भरड़ा कहते हैं। पिटक भी एक तरह की नाव थी, जिसकी पहचान लोक में मिल गई है। जगाधरी की तरफ यमुना में अभी तक पिटक चलते हैं, जिन्हें वहाँ पिड़क कहा जाता है। घड़ों को उलटकर उनकी गर्दन में बाँस बाँधकर ऊपर चारपाई बिछाकर पिड़क बनाए जाते हैं, इसे ही कहीं-कहीं घरनई या घण्डेल भी कहते हैं। वाल्मीकि रामायण में लट्ठों को बाँधकर बनाए हुए प्लव या बजरे का उल्लेख है, जिसे संघाट कहा गया है (अयोध्याकाण्ड ५५।१४, १८)। उडुप एक आदमी से चलाई जाने वाली छोटी डोंगी जान पड़ती है। रघुवंश २।१।२ की व्याख्या में मल्लिनाथ ने सज्जनकोश का प्रमाण देते हुए उडुप को चर्मावनद्ध यानपात्र कहा है (चर्मावनद्धमुडुपं प्लवः काष्ठं करण्डवत्)। इससे ज्ञात होता है कि चमड़े से मढ़ी हुई छोटी गोल डोंगी उडुप कहलाती थी। सूत्र ४।४।५ (तरति) के उदाहरण में काशिका ने कांडप्लव का उल्लेख किया है। यह पेड़ के तने को खोखला करके बनाई हुई डोंगी जान पड़ती है, जैसा कि सज्जन के प्रमाण से विदित होता है कि करण्डी की भाँति खोखला किया हुआ लकड़ या लट्ठा प्लव

कहलाता था (प्लवः काष्ठं करण्डवत्; और भी आदिपर्व ७९।१९, उडुप प्लवसन्तारः अर्थात् उडुप और प्लव इन दोनों की उतराई)[१] ।

अध्याय ३ परिच्छेद १४—क्रीड़ा-विनोद

अष्टाध्यायी में निम्नलिखित क्रीड़ाओं का संकेत या उल्लेख है – (१) मल्लयुद्ध (२) प्रहरणक्रीड़ा, (३) लुब्धयोग या मृगया, (४) अक्षक्रीड़ा, (५) उद्यान-क्रीड़ा, (६) समज्या या गोष्ठियां ।

खेल के लिये क्रीड़ा शब्द प्रयुक्त होने लगा था (६।२।७४; ४।२।५७) खिलाड़ी आक्रीड़ी कहलाता था । क्रीड़ा के विविध अंगों के लिये अनुक्रीड़ा, संक्रीड़ा, परि-क्रीड़ा, आक्रीड़ा (१।३।२१) आदि शब्द प्रचलित थे ।

समज्या—सूत्र ३।३।९९ के अनुसार यह संज्ञाशब्द था । वार्त्तिक और भाष्य में कहा है कि जिसमें जनसमुदाय इकट्ठा हो, वह उत्सव समज्या कहलाता था (समजन्ति तस्याम् समज्या) । जातकों से विदित होता है कि समज्या वे विशेष प्रकार की गोष्ठियां थीं, जिनमें स्त्री-पुरुष बाल-वृद्ध एकत्र होकर अनेक प्रकार के खेल तमाशे, नृत्य, संगीत हस्तियुद्ध, मेषयुद्ध, अजायुद्ध, दण्डयुद्ध, मल्लयुद्ध आदि खेल या क्रीड़ाएँ खेलते थे । इन्हें समाज भी कहा जाता था । अशोक के अभिलेखों में समाज नामक उत्सवों के विषय में लिखा है कि अच्छे और बुरे दो प्रकार के समाज होते थे । विधुर पण्डित जातक में एक समज्या का चित्र खींचा गया है, जिसमें भाग लेने के लिये स्त्री पुरुषों का समूह एकत्र हुआ था और वे पंक्तियों में बनी हुई अपनी-अपनी जगह (मंचातिमंच) पर बैठ गए थे (जातक ६।२७७) । महाभारत में विस्तार से समाज-नामक क्रीडोत्सवों का उल्लेख आता है । धृतराष्ट्र ने पाण्डवों को यही भुलावा देकर वारणावत भेजा था कि वहाँ एक समाजोत्सव होने को है, तुम लोग उसे जाकर देखो । समज्या या समाज महाजनपद युग के नागरिक जीवन की बहुत बड़ी विशेषता थी । पाणिनि ने जनसमूह के एकत्र होने के इन अवसरों के लिए समवाय यह सामान्य शब्द प्रयुक्त किया है (समवायान् समवैति, ४।४।४३) । समवाय के अन्तर्गत टीका में समाज का भी उल्लेख किया है । समवाय या समाज में सम्मिलित होने वाले लोग सामवायिक या सामाजिक कहलाते थे । इस दृष्टि से समवाय पारिभाषिक शब्द था । कामसूत्र १।४।३१ में इस शब्द का प्रयोग हुआ है (आगन्तूनां कृतसमवायानाम्) । महाभारत में द्रौपदी के स्वयंवर के अवसर पर द्रुपद ने जो समाज किया था, उसे भी समवाय कहा गया है, जो इस शब्द के

१—गंगा में चलने वाली नावों के लिये देखिए—जैम्स हार्नेल कृत उक्त विषय का ग्रन्थ एशियाटिक सोसायटी बंगाल से प्रकाशित, और भी उसी का लिखा हुआ लेख, एशिया में जल सन्तरण के आदिम प्रकार. लन्दन की राजकीय एशिया परिषत् की शोधपत्रिका, १९४६, पृ० १२६–१२७ ।

पाणिनीय अर्थ से संगत होता है (समवाये तत्तो राज्ञाम्, आदि० १।८२)। समाज और सन्निवेश ये समवाय के दो विशेष प्रकार थे जिनका उल्लेख समवायान् समवैति सूत्र के उदाहरण में है और रक्षति (४।४।३३) इस विशेष सूत्र में भी है। इस प्रकार शब्दों के दो जोड़े हुए—

(१) समाजं रक्षति=सामाजिकः
समाजं समवैति=सामाजिकः
(२) सन्निवेशं रक्षति=सान्निवेशिकः
सन्निवेशं समवैति=सन्निवेशिकः

यह स्पष्ट है कि शब्द रूप में समानता होते हुए भी सामाजिक शब्द के दो भिन्न अर्थ थे। पाणिनि ने स्वयं सूत्रों में उन अर्थों को बताया है। ४।४।३३ सूत्र में रक्षति का ठीक वही अर्थ है जो हिन्दी में आजतक 'रखना' धातु का है, जैसे वह चकला रखता है, अर्थात् अपनी जीविका के लिये उसे चलाता है। सामाजिक का पहला अर्थ ठीक ऐसा ही है। जो जीविका या धनोपार्जन के लिये समाज रखे अर्थात् चलावे या प्रबन्ध करे वह सामाजिक कहलाता था (समाजं रक्षति)। दूसरी ओर जो व्यक्ति उस समाज में क्रीड़ा या मनोविनोद के लिये भाग ले (समाजं समवैति, आगत्य तदेकदेशी भवति-काशिका) वह भी सामाजिक कहलाता था। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि रक्षधातु के इस विशिष्ट अर्थ की ओर संस्कृत कोषकारों का ध्यान प्रायः नहीं गया, इसलिये किसी भी कोश में सामाजिक शब्द का पहला अर्थ नहीं मिलता। यह भी कम आश्चर्यजनक नहीं है कि हिन्दी में रक्षधातु का जो विशेष अर्थ अभी जीवित है, वह पाणिनि के युग में ही संस्कृत रक्षधातु में विद्यमान था।

सामाजिक के साथ ही सान्निवेशिक पद पर विचार करने से वे ही दोनों अर्थ सामने आते हैं, अर्थात् जो किसी प्रकार का सन्निवेश रखे या चलावे, वे भी सान्निवेशिक और जो उस सन्निवेश में सम्मिलित हो (सन्निवेशं समवैति) वह भी सान्निवेशिक था। इस प्रकरण में सन्निवेश का समाज से मिलता जुलता कोई पारिभाषिक अर्थ होना चाहिए। सौभाग्य से अमरकोश में सन्निवेश का यह विशिष्ट अर्थ दिया हुआ है—सन्निवेशो निकर्षणम् (२।२।१९)। क्षीर स्वामी ने इसकी व्याख्या में कहा है—'समन्तान्निविशन्तेऽत्र सन्निवेशः पुराद्बहिर्विहरणभूः'। स्पष्ट है कि नगर से बाहर खेल और उत्सवों के लिये रखी हुई विहारभूमि का पारिभाषिक नाम सन्निवेश था। ज्ञात होता है कि वहाँ लोगों के उठने बैठने के लिये कुछ मण्डप आदि और दौड़ने खेलने के लिये मैदान बना रहता था। इससे समाज से भेद यही था कि समाज कहीं अन्यत्र भी किया जा सकता था, किन्तु सन्निवेश उत्सव के लिये नियत स्थान पर ही एकत्र होना आवश्यक था। स्वाभाविक है कि ऐसे स्थान को ठीक हालत में रखने के लिये राज्य की या नगर शासन की ओर से

व्यय या प्रयत्न नहीं किया जाता होगा, बल्कि निजीरूप से जो व्यक्ति ऐसे स्थान का प्रबन्ध करता और उसे चलाता था वह साम्निवेशिक कहा जाता था। उस सन्निवेश में खेल और विनोद के लिये हिस्सा लेने जो लोग इकट्ठा होते थे, वे भी साम्निवेशिक कहलाते थे।

सूत्र ४।४।४३ पर काशिका में 'सामूहिकः' उदाहरण भी है, अर्थात् वह व्यक्ति जो समूह में सम्मिलित हो। समूह भी यहाँ पारिभाषिक शब्द है। मनु से विदित होता है कि श्रेणि निगम आदि के सार्वजनिक संगटन समूह कहलाते थे (ग्रामजातिसमूहेषु समयव्यभिचारिणाम्, ८।२२१)। याज्ञवल्क्य (२।१८८-१९१) में समूह पारिभाषिक शब्द है, जो इन्हीं संस्थाओं के लिए प्रयुक्त हुआ है। याज्ञवल्क्य (८।१९२) से ज्ञात होता है कि श्रेणि (शिल्पियों की संस्था), नैगम (सर्राफे के व्यापारियों या महाजनों की संस्था), पाषण्डी (भिक्षु आदि साम्प्रदायिक संघ) और गण (आयुधजीवी आदि राजनीतिक संस्था), ये सब समूह के ही विभिन्न रूप थे। याज्ञवल्क्य, ८।१८७ पर मिताक्षरा ने लिखा है संवित् समयस्तां समूहकृतां राजकृतां वा। यहाँ स्पष्ट ही राजा के बनाए हुए नियम और समूह नामक संस्थाओं के परम्पराप्राप्त समयाचार या सामयिक नियम (जिन्हें दस्तूरुल अमल कह सकते हैं), इन दोनों में भेद किया गया है और समूह के पारिभाषिक अर्थ की ओर ही संकेत है। अतएव सामूहिक का पारिभाषिक अर्थ वह व्यक्ति था जो श्रेणि आदि समूह संस्थाओं में सम्मिलित होता था।

मल्लयुद्ध—समि मुष्टौ (३।३।३६) सूत्र में मल्ल की मुट्ठी या पकड़ को संग्राह कहा है (अहो मल्लस्य संग्राहः, वाह पहलवान की कैसी पकड़ है!)। कात्यायन ने लिखा है कि मुष्टि का अर्थ मुट्ठी नहीं, अपितु मूठ या पकड़ है। जातकों में पहलवान को मुट्ठिक कहा गया है (जातक, ६।२७७)। पतञ्जलि ने मल्ल और मुष्टिक के संग्राह का उल्लेख किया है। कुश्ती का आरम्भ दो मल्लों की परस्पर ललकार से होता है जिसके उत्तर में वे दोनों ही आपस में लपट करने लगते हैं। इसके लिये भाषा में मल्लो मल्लमाह्वयते, इस प्रकार का वाक्य प्रयुक्त होता था (स्पर्धायामाङः, १।३।३१,३।३।७३)।

प्रहरण क्रीडा—प्राचीनकाल में शस्त्रों की क्रीड़ा के लिये अखाड़े में उतरने की प्रथा थी। महाभारत में द्रोणाचार्य ने राजकुमारों की शस्त्र परीक्षा के लिए ऐसे ही अखाड़े का आयोजन किया था, इस सम्बन्ध में पाणिनि का सूत्र है, तदस्यां प्रहरणमिति क्रीड़ायाम् णः ४।२।५७)। क्रीडा का नाम उस प्रहरण या आयुध के नाम से पड़ता था, जिसे लेकर क्रीडा की जाती थी अर्थात् जिसके कौशल का प्रदर्शन किया जाता था। काशिका ने दाण्डा (लाठी के खेल), मौष्टा (मुक्केबाजी का खेल), ये उदाहरण दिए हैं। सरभंग जातक में धनुष बाण के बहुत से खेलों का वर्णन है, जैसे सरलट्ठि, सररज्जु आदि (५।१३०)।

प्राच्यक्रीडा—भारतवर्ष के पूर्वी भाग में अनेक प्रकार की उद्यान-क्रीड़ाएँ अत्यन्त प्राचीन काल से चली आती थीं। उनका विषय पाणिनि के निम्नलिखित तीन सूत्र हैं—

१—प्राचां क्रीडायाम् (६।२।७४)।
२—नित्यं क्रीडाजीविकयोः (२।२।१७)।
३—संज्ञायाम् (३।३।१०९)।

पहले सूत्र से क्रीडावाची शब्दों में स्वर, दूसरे से उनके नाम और तीसरे से उनके समास का विधान है। काशिका में इनके निम्नलिखित उदाहरण हैं, उद्दालक पुष्पभञ्जिका वीरणपुष्प प्रचायिका, शालभञ्जिका, तालभञ्जिका, अभ्योषखादिका। कामसूत्र में इन्हें देश्य क्रीडा कहा है, जिसका तात्पर्य हुआ कि ये खेल परम्परा से लोगों में चले आते थे। वात्स्यायन में कुछ और भी नाम हैं, जैसे सहकारभञ्जिका, बिसखादिका, अशोकोत्तंसिका, पुष्पावचायिका, इक्षुभक्षिका, दमनभञ्जिका, उदक-क्ष्वेडिका आदि। अन्तिम के विषय में जयमङ्गला ने लिखा है कि वह मध्यदेश के लोगों की क्रीड़ा थी।

प्राच्यक्रीडाओं का स्वरूप—इस देश के साहित्य में दो प्रकार की क्रीड़ाओं की परम्परा जातक कहानियों से लेकर मध्यकालीन काव्यों तक पाई जाती है, एक उद्यानक्रीडा और दूसरी सलिलक्रीडा। मातङ्गजातक में उल्लेख है कि वाराणसी के सेठ की दिट्ठमङ्गलिका नाम की दुहिता महीने दो महीने पर अपनी सखियों को लेकर उद्यानक्रीडा के लिये जाया करती थी।[1] उद्दालक जातक के अनुसार वाराणसी के राजा का पुरोहित उद्दालक वृक्षों के बगीचे में अपनी गणिका को उद्यानक्रीडा के लिये ले जाता था। अश्वघोष, कालिदास, माघ, भारवि आदि सभी कवियों ने उद्यानक्रीडा और सलिलक्रीडाओं का रोचक वर्णन किया है। फूले हुए अशोक वृक्ष या शालवृक्षों के नीचे खड़ी होकर और उनकी टहनियों से पुष्प चुनकर परस्पर क्रीडा करने की मनोरम उत्सव विधि इस देश के स्त्री-समाज जिसके वातातपिक जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध रखती थी। अवदानशतक में आया है, 'एक बार जब बुद्ध श्रावस्ती के जेतवन में ठहरे हुए थे, उसी समय सारी श्रावस्ती में शालभञ्जिका का उत्सव मनाया जा रहा था, कई हजार व्यक्ति उसमें भाग लेने के लिए एकत्र हुए और पुष्पित शालवृक्षों के फूल चुनकर वे एक दूसरे के साथ क्रीड़ा और विनोद करते हुए इधर-उधर मन बहलाने लगे (अवदान पृ० २०१)।" शाल-वन में शाल-भञ्जिका क्रीडा करने का सबसे अच्छा वर्णन पालि निदानकथा में आया है, "उन दोनों नगरों (कपिलवस्तु और देवदह) के बीच में लुम्बिनीवन नामक मङ्गल

१—तदा वाराणसिसेट्ठिनो धीता दिट्ठमङ्गलिका नाम एकमासद्वेमासवारेन महापरिवारा उय्यानकीलिकं गच्छति (जातक, ४।३७६)।

शालवन था, जो उभयनगर वासियों के उपभोग में आता था। उस समय में मूल से लेकर फुनगी तक सारा वन फूलों से अकस्मात् लद गया था। शाखाओं और पुष्पों के बीच में पँचरंगी तितलियाँ और नाना प्रकार के पक्षी मधुर स्वर से कूजते हुए विचर रहे थे। सारा लुम्बिनी वन रंग-बिरंगी लताओं के वन के समान या किसी वैभवशाली राजा के सुसज्जित हाट के समान हो गया था। उसे देखकर रानी मायादेवी के मन में शालवन की क्रीड़ा करने की कामना उत्पन्न हुई (सालवन कीलितुकामता उदपादि) अमात्य देवी के साथ शालवन के भीतर आए। रानी ने माङ्गलिक शाल के नीचे जाकर उसकी शाखा को पकड़ने की इच्छा की। शाल की शाखा भपारा दिये हुए बेंत के समान झुककर देवी के हाथ की पहुँच के भीतर आ गई। उसने हाथ बढ़ा कर शाखा को पकड़ लिया। उसी समय उसे प्रसव पीड़ा आरम्भ हुई।[1]

शालभञ्जिका शब्द क्रीडा का नाम भी था और शालवृक्ष के नीचे उसकी डाल झुकाने की मुद्रा में खड़ी हुई स्त्री का वाचक भी हो गया। भरहुत, साँची की शुङ्गकला में और मथुरा की कुषाणकला में शालभञ्जिका और पुष्पप्रचायिका में संलग्न स्त्रियों के अनेक दृश्य अंकित मिलते हैं। यह पूर्व भारत की क्रीड़ा थी। उत्तर-पश्चिम या गन्धार में जहाँ शाल या अशोक वृक्षों का अभाव है, इस क्रीडा का न साहित्य में उल्लेख मिलता है, न कला में अंकन। काशिका ने प्रत्युदाहरण के रूप में जीवपुत्रप्रचायिका नाम की क्रीडा (इंगुदी या जिवतिया के फूल चुनने की क्रीड़ा) को उत्तर-पश्चिमी भाग की क्रीडा कहा है (इयमुदीचां क्रीडा, ६।२।७४)। वीरणपुष्पप्रचायिका का उत्सव वैशाख पूर्णिमा को मनाया जाता था, जिसमें वीरण (हिन्दी, बेना या खस) के पुष्पों का चयन होता था।

इन पुष्प क्रीडाओं की यह सामान्य विशेषता थी कि पुष्पों का चयन हाथ की पहुँच के भीतर आई हुई शाखा से अपने ही हाथ से करना चाहिए। उसी अवस्था में पुष्पप्रचाय यह शब्द रूप बनता था, जिससे क्रीडा का नाम पुष्पप्रचायिका पड़ता था (हस्तादाने चेरस्तेये, ३।३।४०)।

मृगया—मृगया लुब्धयोग (५।४।१२६), शिकारी मार्गिक, चिड़ीमार या बहेलिया पाक्षिक या शाकुनिक कहलाता था (पक्षि-मत्स्य मृगान् हन्ति, ४।४।३५)। मृगों में न केवल हिरन बल्कि सूअर आदि बड़े जंगली जानवरों की भी गिनती होती थी। बहेलियों का नाम उन पक्षियों से पड़ता था जिन्हें वे फँसाकर बेचते थे, जैसे मायूरिक, तैत्तिरिक। शिकार ऐसे बाणों से किया जाता था जिनमें पीछे दोनों ओर पत्र या आँकुड़ेनुमा काँटे लगे रहते थे। साधारण बाण की अपेक्षा सपत्र बाणों

१—जातकट्ठकथा, भा० १ पृ० ४१, भारतीय ज्ञानपीठ काशी का देवनागरी संस्करण।

के लगने से पशु को बहुत व्यथा होती थी। क्योंकि पशु के शरीर में उनका घाव बहुत बड़ा होता था (सपत्रनिष्पत्रादतिव्यथने ५।४।६१, सपत्रकारोति मृगं व्याधः, काशिका)। जो बाण इतने वेग से मारा जाता कि शरीर के एक ओर से घुसकर दूसरी ओर जा निकले उसे निष्पत्रा बाण मारना कहते थे (निष्पत्राकरोति, शरीरात् शरम् अपर पार्श्वे निष्क्रामयति)। सपत्र बाणों का प्रयोग युद्ध में भी किया जाता था। जब सिकन्दर का वाहीक देश के निवासी मालवों से संग्राम हुआ तो मालवों ने सपत्र बाण छोड़ा जो सिकन्दर के करिहाँव में घुस गया। उस बाण ने लगभग उसका प्राण ही ले डाला था। प्लूटार्क ने लिखा है कि उस बाण में जो पत्र या काँटा लगा था वह पाँच अंगुल लम्बा और चार अंगुल चौड़ा था। यदि बाण शिकार के दाहिने पार्श्व में जाकर लगे तो शिकारी की भाषा में उसे दक्षिणेर्मा कहा जाता था। ईर्म का प्रयोग पार्श्व या पुट्ठे के लिए ऋग्वेद में आता है (ऋ० ८।२२।४)। दक्षिणेर्मा कहने की ध्वनि यह थी कि पशु की दाहिनीं ओर लगा हुआ बाण बाईं ओर की अपेक्षा जहाँ हृदय रहता है कम घातक समझा जाता था। इसलिए ऐसी संभावना रहती थी कि दाहिनी ओर घायल हुआ पशु जंगल में दूर तक बचकर निकल भागा हो और जीवित रह गया हो।

शेर आदि जंगल के बड़े शिकारी जानवर दिन भर माँद में पड़े रहते हैं और शाम या रात को शिकार के लिए बाहर निकलते हैं। उस समय भूखे होने के कारण शिकार की खोज में वे कुपित होकर दहाड़ते हैं। शिकारी लोग इसका भी पता रखते हैं कि कौनसा जानवर शाम को और कौन सा रात को दहाड़ता है। तदनुसार ही जानवर को प्रादोषिक या नैशिक कहा जाता था (व्याहरति मृगः ४।३।५१)। व्याहरति का अर्थ दहाड़ना, रोना या हू हू करना है। जैनेन्द्र व्याकरण में 'रौति मृगः' सूत्र (जैनेन्द्र ३।३।२६) है। हेमचन्द्र ने शृगाल को नैश या नैशिक कहा है। महाभारत में भी व्याहरति धातु का इस अर्थ में प्रयोग हुआ है (क्रव्यादा व्याहरन्त्येते मृगा कुर्वन्ति भैरवम्, कर्णपर्व ३१।४०)।

पाणिनि ने उन शिकारियों को जो खूँखार कुत्तों का झुण्ड लेकर शिकार के लिए जंगल छानते थे श्वागणिक या श्वगणिक कहा है (श्वगणेन चरति ४।४।११)। अर्थशास्त्र में लुब्धक श्वगणी का उल्लेख है २।२९) जिनका उपयोग राज्य की ओर से गोचर स्थानों को जंगली जानवरों और चोरों से मुक्त रखने के लिये किया जाता था। भरहुत स्तूप की वेदिका पर एक दृश्य अंकित है जिसमें शिकारी अपने कुत्तों से जानवर पर हमला करा रहा है।

मछली पकड़ने वाले मछुओं को मात्सिक या मैनिक कहा जाता था (४।४।३५)। मछली के नाम से भी उसका नाम पड़ता था, जैसे शाफरिक, जो सहरी नाम की छोटी मछली जाल में फँसाकर बेंचे, शाकुलिक जो शकुल या सौल नाम की

मछली पकड़े। जाल के लिए आनाय शब्द भी प्रयुक्त होता था (जालमानायः ३।३।१२४)।

अक्षद्यूत अक्षों से खेलने का उल्लेख ऋग्वेद में ही मिलता है। पाणिनि ने उसे अक्षद्यूत (४।४।१९) या केवल द्यूत,(३।३।३७) कहा है। भाषा में 'अक्षान् दीव्यति, अक्षैर्दीव्यति' दोनों प्रयोग चलते थे (दिवः कर्म च १।४।४), क्योंकि खेल और पासा दोनों ही अक्ष कहलाते थे।

पासों का खिलाड़ी आक्षिक या शालाकिक कहलाता था (तेन दीव्यति, ४।४।२)। भाष्य के अनुसार कितव और धूर्त का पाठ शौण्डादि गण में था। (२।१।४०)। चतुर खिलाड़ी को अक्षकितव और अक्षधूर्त कहते थे। जुआरी के लिये कितव शब्द ऋग्वेद में भी आता है। बौद्ध साहित्य में चतुर खिलाड़ी को सिक्खित कितव और बौड़म को असिप्प धुत्तक कहा गया है (जातक ६।२२८) महाभारत सभापर्व में कितव शब्द का प्रयोग जुआरी के लिए हुआ है उसके अर्थ में कुत्सा या निन्दा का भाव नहीं पाया जाता।

खेलने के पासे आदि—पासे का खेल अक्ष और शलाका से खेला जाता था, दोनों का ही सूत्र में उल्लेख है (२।१।१०) अर्थशास्त्र में कहा गया है कि जो अक्ष से खेलने वाले आक्षिक जुवारी हों उनके लिये द्यूताध्यक्ष अक्ष का प्रबन्ध करे और जो शलाका से खेलने वाले शालाकिक हों उनके लिये शलाकाओं का। अक्ष चौकोर और शलाकाएँ लम्बी होती थीं जिन पर अंक पड़े रहते थे। भरहुत के एक दृश्य में जुआरी पुण्णक यक्ष के पासे छोटे घनाकार दिखाए गए हैं (कनिंघम, भरहुत स्तूप, फलक ४।५)।

आजकल की अपेक्षा पुराने समय में पासों की संख्या में भेद था। इस समय दो पासों से खेला जाता है किन्तु ब्राह्मण युग में यह खेल पाँच पासों का था। तैत्तिरीय ब्राह्मण में लिखा है कि खिलाने वाला राजा को पाँच पासे देता है क्योंकि सब इतने ही पासे होते हैं तै० ब्रा० (१।७।१०)। अक्षराज, कृत, त्रेता, द्वापर, कलि ये पाँच पासों के नाम थे। पाणिनि ने जिस खेल का उल्लेख किया है उसमें भी पाँच ही पासे होते थे जैसा कि २।१।१० सूत्र के चतुष्परि (वह दाव जिसमें चार पासे ठीक न पड़े हों) प्रयोग से सिद्ध होता है। काशिका, चन्द्र, कैयट सबने पाणिनीय खेल को पञ्चिका द्यूत कहा है (पञ्चिका नाम द्यूतं पञ्चभिरक्षैः शलाकाभिर्वा भवति)।

खेल का प्रकार—खेलने के ढंग पर निम्नलिखित सूत्र से प्रकाश पड़ता है—

अक्षशलाकासंख्याः परिणा (२।१।१०)। अक्ष शब्द, शलाकाशब्द और संख्यावाची शब्द (केवल चार तक, एक द्वि त्रि चतुर्) इनका परि के साथ अव्ययी भाव समास होता है जब कि उस समास का अर्थ पासे के दाव का नाम हो।

कात्यायन ने इस सूत्र का सम्बन्ध कितव व्यवहार या ज्वारियों की भाषा से बताया है। इस प्रकार निम्नलिखित छह शब्द बनते थे—

१—अक्षपरि।
२—शलाकापरि।
३—एकपरि।
४—द्विपरि।
५—त्रिपरि।
६—चतुष्परि।

काशिका में लिखा है कि पञ्चिका नाम का जुआ पाँच अक्ष या पाँच शलाकाओं से खेला जाता है। जब वे सब के सब सीधे या औंधे एक से गिरते हैं तब पासा फेंकने वाला जीतता है, किन्तु यदि कोई पासा उलटा गिरता है तो खेलने वाला उतने अंश में हारता है।[1] उदाहरण के लिये, जब चार पासे एक से पड़ते और एक उलटा होता तो खिलाड़ी कहता था अक्षपरि शलाकापरि—एकपरि। इन तीनों का मतलब हुआ—'हा! एक पासे से दाव उलट गया।' ये तीनों शब्द एक ही प्रकार के दाव के लिये थे जैसा भाष्य में लिखा है (एकत्वेऽक्षशलाकयोः)। यदि दाव में दो पासे उलटे पड़े हों तो वह द्विपरि, तीन पासे उलटे हों तो त्रिपरि, और चार पासे उलटे हों तो चतुष्परि कहा जाता था। जब पाँचों पासे एक से पड़ें तो वह जीत का दाव होता था और उसे कृत कहते थे। धम्मपद के अनुसार बेईमान जुआड़ी (कितवो सठो) अपने कलि दावों को छिपाना चाहता है (धम्मपद गाथा २५२)। भूरिदत्त जातक में कलि और कृत दोनों को एक दूसरे के विपरीत माना है (कली हि धीरा कटं मुगानं जातक ६।२२८, जे० आर० ए० एस० १८९२, पृ० १२७)। छान्दोग्य उपनिषद् में भी कृत जीत का दाव है (यथा कृताय विजितायाधरेयाः संयन्ति, ४।१।४)। सभापर्व में (५२।१३) शकुनि को कृतहस्त कहा गया है, अर्थात् जो सदा जीतका दाव ही फेंकता था। पाणिनि के समय दोनों प्रकार के दाँव फेंकने के लिये भाषा में अलग-अलग नाम-धातुएँ चल गई थीं जिनका सूत्रकार ने स्पष्ट उल्लेख किया है—

कृतं गृह्णाति कृतयति,
कलिं गृह्णाति कलयति, (३।१।२१)[2]।

---

१ पञ्चिकानामद्यूतं पञ्चभिरक्षैः शलाकाभिर्वा भवति। तत्र यदा सर्वे उत्तानाः पतंति अवाञ्चो वा तदा पातयिता जयति। तस्यैवास्य विघातोऽन्यथा पाते सति जायते। अक्षेणेदं न तथा वृत्तं यथा-पूर्वे जये, अक्षपरि। शलाकापरि। एकपरि। द्विपरि। त्रिपरि। परमेण चतुष्परि। पञ्चस्वेकरूपासु जय एव भविष्यति काशिका २।१।१०।

२ सूत्र में जान बूझकर कलि की जगह कल शब्द रखा गया है जैसा कि कात्यायन ने बताया है—कलिहल्योरत्व निपातनम् सन्वद्भाव प्रतिषेधार्थम्। कात्यायन का कहना है

खेल चलते समय हारजीत के दावों को कहने के लिये इस प्रकार के स्वाभाविक शब्दों की भाषा में आवश्यकता थी। विधुर पण्डित जातक में कुरुजनपद के राजा और पुण्णक यक्ख के बीच पासे के खेल का वर्णन करते हुए 'कृतं गृह्णाति' 'कलिं गृह्णाति' ऐसे प्रयोग हुए हैं—

राजा कलिं विचिनमग्गहेसि
कटं अग्गही पुण्णको पि यक्खो ॥ (जातक ६।२८२)

वहाँ कहा है कि यक्ष अपनी माया से उन पासों को जो उसके विरुद्ध पड़ने वाले होते थे उलट देता था। जातक में उन्हें 'भस्सपान पासक' कहा है। वे ही पाणिनि के एकपरि, द्विपरि आदि हैं। ज्ञात होता है कि जब तक किसी खिलाड़ी का कृत दाव आता रहता वही पासा फेंकता जाता था। पर जैसे ही कलि दाँव आता चट पासा डालने की बारी दूसरे खिलाड़ी की हो जाती। इसीलिए शकुनि और पुण्णक एक बार जब जीतने लगते हैं बराबर उन्हीं को दाव मिलता जाता है।

ग्लह या दाव—शकुनि ने कहा है कि पासे का खेल बहुत ही शुद्ध और बढ़िया है। हार जीत के दाव के कारण ही वह निन्दित मान लिया गया[१]। पाणिनि ने ठीक इसी अर्थ में ग्लह शब्द सिद्ध किया है। (अक्षेषु ग्लहः ३।३।७०) ऋग्वेद में मूल शब्द 'ग्राभ' था। कहा जाता है कि उसी से निकला हुआ अथर्व में ग्लह शब्द है। ऋग्वेद में ग्राभ का मूल अर्थ केवल पासा फेंकना था। पर पाणिनीय संस्कृत में ग्लह का अर्थ पासे का दाव नहीं बल्कि वह दाव था जो रुपए पैसे के रूपमें हार जीत के लिये रखा जाता था। याज्ञवल्क्य स्मृति २।१९९ पर मिताक्षरा ने ग्लह का अर्थ 'कितवपरिकल्पित-पण' किया है। सभापर्व में ग्लह को पण भी कहा गया है (५३।५)। द्यूतपर्व में सर्वत्र ग्लह शब्द का यही अर्थ है। पाणिनि ने रुपए पैसे के दाव से संबंधित भाषा के और भी कई प्रयोगों का उल्लेख किया है, जैसे शतस्य दीव्यति (२।३।५८), शतस्य प्रतिदीव्यति (२।३।५९), शतस्य व्यवहरति, शतस्य पणते (२।३।५७)। इन सबका अर्थ जुए में सौ रुपए दाव पर रखना है।[१]

कि कलयति धातु से इच्छार्थक सन्नन्त प्रयोग नहीं बन सकता क्योंकि कौन ऐसा होगा जो चाहेगा कि कलि दाव पड़े।

१ युधिष्ठिर ने कहा था 'नहि मानं प्रशंसन्ति निकृतौ कितवस्य ह (सभा–५३।३) उसी के उत्तर में शकुनि का कहना है—'अक्षग्लहः सोऽभिभवेत् परं नस्तेनैव कालो भवतीद-मात्थ। दीव्यामहे पार्थिव मा विशङ्कां कुरुष्व पाणं च चिरं च मा कृथाः।—सभापर्व ५३।५ अर्थात् पासों के साथ जो दाव है वही नीचा दिखलानेवाला है, वही कालरूप हो जाता है—तुम्हारे कहने का यही अभिप्राय है न ? युधिष्ठिर डरो मत, आओ दाव लगाओ, समय न खोओ।

१ इन चारों शब्दों का दूसरा अर्थ है—सौ रुपए की पूँजी से क्रय विक्रय या वाणिज्य करता है।

वैदिक साहित्य, जातक, महाभारत, कौटिल्य सब इसमें एकमत हैं कि अक्षद्यूत सभा में खेला जाता था। सभा अवश्य ही कोई सार्वजनिक या राजकीय स्थान होना चाहिए। अर्थशास्त्र में लिखा है कि दाव के धन पर राजा को पांच प्रतिशत शुल्क मिलता था (अर्थ० ३।२०)। सूत्र ५।१।४७ पर आय के उदाहरण में जिस पञ्चक शब्द (पञ्चास्मिन्नाय:) का उल्लेख है, उसका संकेत या पृष्ठभूमि कुछ ऐसी ही आय होगी।

चौपड़ का खेल—पाणिनि ने एक अन्य खेल का उल्लेख किया है जो चौपड़ ज्ञात होता है। वह आकर्ष पर खेला जाता था (५।२।६४)। इस फलक पर कोठे या घर बने रहते थे। आकर्ष का अर्थ अमरकोष में शारिफलक किया है। (द्यूतेऽक्षे शारिफलकेऽप्याकर्षः अमर, ३।३।२२१)। ४।४।९ सूत्र में भी आकार्ष शब्द का प्रयोग हुआ है (आकर्षात् ष्ठल्), किन्तु वहाँ उसका अर्थ सोना परखने की कसौटी है (आकर्ष इति सुवर्णपरीक्षार्थो-निकषोपल उच्यते, काशिका)।

इस खेल की मुख्य बात गोटों का घरों में चलना था। चाल के बारे में दो सूत्रों से विशिष्ट सूचना मिलती है। एक तो पाणिनि ने 'अयानयीन' विशेष शब्द सिद्ध किया है (५।२।९, अयानयं नेयः अयानयीनः)। इसपर भाष्य में लिखा है-- 'अयानयं नेयः' केवल इतना कह देने से यह नहीं जान पड़ता कि अय क्या और अनय क्या ? (इस पर हमारा कहना है) दाहिनी ओर की चाल अय है और बाईं ओर की अनय (आमने सामने बैठे हुए खिलाड़ियों की दृष्टि से गोटें दाहिनी बाईं ओर से चलती हुई आती हैं)। वह घर अयानय है जिसमें दाहिने बाएँ दोनों से आती हुई गोटें (अर्थात् दोनों खिलाड़ियों की गोटें) एक दूसरे से या अपनी शत्रुगोटों से पिट न सकें। ऐसी गोट जिसे ऐसे घर में ले जाना या पुगाना हो वह अयानयीन कही जाती है।[1] चौपड़ के फलकपर बीच का कोठा वह स्थान है जहाँ पहुँचकर गोटें फिर मरती नहीं। हमारी दृष्टि में यही 'अयानयीन' पद या घर होना चाहिए। कभी कभी ऐसा होता है कि बीच के कोठे या अयानय के पास पहुँच कर गोट को दो-चार घर चलना रह जाता है, तब यह प्रतीक्षा करनी पड़ती है कि उतने ही अंक का पासा पड़े तो गोट पुगे। इस प्रतीक्षा में जो गोट हो उसी के लिये 'अयानयीन' इस विशेष शब्द की भाषा में आकांक्षा हुई होगी।

गोटों की चाल का दूसरा प्रयोग 'परिणायेन हन्ति शारान्', सूत्र ३।३।३७ (परिन्योर्नीणोर्द्यूताभ्रेषयोः) का विषय है। टीकाओं में और कोषों में परिणाय का

१—अयानयं नेय इत्युच्यते। तत्र न ज्ञायते कोऽयः कोऽनय इति। अयः प्रदक्षिणम्। अनयः प्रसव्यम्। प्रदक्षिणप्रसव्य गामिनां शाराणां यस्मिन् पदे (कोष्ठे) परैः (शत्रुशारैः) पदानामसमावेशः सोऽयानयः। अयानयं नेयोऽयानयीनः शारः (भाष्य ५।२।९)।

अर्थ समन्ताअयन दिया है, पर यह स्पष्ट नहीं होता कि इस 'चारों ओर घुमाने' से ठीक क्या समझा जाय। हमारी समझ में यह वह विशेष स्थिति है जिसे हिन्दी में 'बेणी' कहते हैं। कभी-कभी ऐसा होता है जब किसी खिलाड़ी की सब गोटें चारों फड़ घूम कर बीच के घर में पुग जाती हैं, तब वह पुगी गोटों में से एक गोट निकाल कर फिर से चलता है और उससे दूसरी गोटों को पीटता है। यह गोट बेणी कही जाती है। यह पहले की तरह बाँई ओर से न चल कर उसकी उल्टी अर्थात् दाहिनी ओर से घूमती हुई फिर बीच के कोठे में लौटती है। औरों से भेद करने के लिये यह गोट औंधी रखी जाती है। अतएव समन्ताअयन या चारों ओर घूम आने के बाद जो गोट पुग चुकी है उसकी संज्ञा 'परिणाय' मानी जाय तो उसकी चाल से दूसरी विपक्षी गोटों को पीटने की क्रिया के लिये 'परिणायेन हन्ति शारान्' यह प्रयोग भाषा में प्रयुक्त होता था।

अध्याय ३, परिच्छेद १५–संगीत

संगीत और वाद्यकर्म को पाणिनि के युग में शिल्प माना जाता था, जिसे अब ललितकला का पद दिया जाता है। न केवल मड्डुक, झर्झर जैसे बाजों का बजाना शिल्प है (४।४।५५-५६), बल्कि नृत्य (३।१।१४५ और गायन (३।१।१४६-१४७) भी शिल्प कहा गया है। जातक युग की भी यही विशेषता थी। वहाँ संगीत की गणना शिल्पों में की जाती थी।

खन्तिवादी जातक में नृत्य, गीत, वादित्र और नाट्य या अभिनय के परस्पर घनिष्ट संबंध की ओर संकेत है (गीत-वादित नच्चेसु चेका नाटकात्थियो गीतादीनि पयोजयिंसु, जा० ३।४०)। अर्थशास्त्र में भी गीत, वाद्य, नृत्त, नाट्य को संगीत का अंग माना है (अर्थ २।२७)। अष्टाध्यायी में इन चारों का ही अलग अलग सूत्रों में उल्लेख आ गया है, जैसे गीति (३।३।९५), गेय (३।४।६८), गाथक (३।१।१४६, गवैया), गायन (३।१।१४७, शिल्पिनि ष्वुन्, गस्थकन्, ण्युट्च, गानेवाला, शिल्पी, स्त्री गायिका, गायनी), नर्तक (३।१।१४५, भाष्य के अनुसार), और परिवादक (३।२।१४६)। अभिनय के लिए नाट्य शब्द अस्तित्व में आ चुका था (४।३।१२९)। अष्टाध्यायी में नट सूत्रों के उल्लेख से (४।३।११०) अनुमान होता है कि अभिनय या नाट्य प्रयोग की भी उन्नति पाणिनि के समय में हो चुकी थी।

तूर्यांग—वृन्दवाद्य के लिये तूर्य शब्द आया है। तूर्य में भाग लेनेवाले तूर्यांग कहलाते थे (२।४।२)। जातकट्ठकथा में 'पंचंगिक तुरीय' का उल्लेख आता है। वृन्द वाद्य के लिए दो मिलते हुये बाजों की जोड़ मिलाई जाती थी, जैसे मृदंग और पणव साथ बजाने वालों की जुट 'मार्दङ्गिक-पाणविकम्' कहलाती थी।

नाट्यशास्त्र में दोनों का पृथक् उल्लेख भी है। काशिका में 'वाणिवादक-परिवादकम्' यह भी तूर्यांग का उदाहरण है। पाणिनि ने ३।२।१४६ सूत्र में परिवादक का उल्लेख किया है। पतंजलि ने तो परिवादक को भी वीणा बजानेवाला माना है (भाष्य ७।४।१, अवीवदद्वीणां परिवादकेन)। संभव है ऊपर के समास में परिवादक वीणावादक का साथ देने के लिये कोई दूसरा ताँत का बाजा बजाता हो। पाणिनि ने कई सूत्रों में वीणा का उल्लेख किया है। जातकों के अनुसार वीणा भी तूर्य का एक अंग थी (वीणादीनि तुरियानि, जा० ३।४०)।

सम्मद—पाणिनि ने सम्मद और प्रमद को हर्ष या उत्सव अर्थ में सिद्ध किया है (प्रमद सम्मदौ हर्षे, ३।३।६८)। भरहुत स्तूप के एक शिलापट पर अंकित दृश्य को सम्मद कहा गया है जिसमें गीत और वाद्य के साथ सट्टक प्रयोग दिखाया गया है (साडकं सम्मदं तुरं देवानं, बरुआ, भरहुत, भाग १, फलक २, भाग ३, चित्र ३४)। साडक को विद्वान् सट्टक ही मानते हैं (स्टेन कोनो)। इस दृश्य में कुछ गानेवाले हैं, चार स्त्रियां नृत्य कर रही हैं और एक वृन्दवाद्य या तूर्य है जिसमें वीणावादिनी स्त्री, पाणिवादक, माड्डुकिक और झार्झरिक अंकित किए गए हैं। पंचाङ्गिक तूर्य (जा० १।३२) में वांशिक और रहता होगा। इससे ज्ञात होता है कि सम्मद विशेष उत्सव का प्रकार था जिसमें नृत्य, गीत और वादित्र का सहयोग रहता था।

वाद्य—तंत्री वाद्यों में वीणा का उल्लेख हुआ है। वीणा के साथ गाने के लिये भाषा में उपवीणयति धातु ही चल गई थी (३।१।२५, वीणयोपगायति, काशिका)। वीणा के विना गायन 'अपवीणं' कहलाता था (६।२।१८७)। वीणा के तारों से उत्पन्न स्वर लहरी निक्वण या निक्वाण कहलाती थी (क्वणो वीणायां च, ३।३।६५)।

अन्य बाजों के ये नाम आए हैं—मड्डुक (४।४।५६, हुडुक जैसा छोटा वाद्य); झर्झर (४।४।५६, झांझ)। इनके बजानेवाले माड्डुकिक, झार्झरिक कहलाते थे)। हाथ से ताली देकर स्वर साधनेवाले पाणिघ, तालघ कहलाते थे (पाणिघताडघौ शिल्पिनि, ३।२।५५), जिन्हें पाली में पाणिस्सर कहा गया है (विधुर पंडित जा० ६।२६७)।

दार्दुरिक सम्भवतः मिट्टी का घड़ा बजानेवाले के लिये प्रयुक्त होता था (शब्द दर्दुरं करोति, ४।४।३४) नाट्य शास्त्र में दर्दर वाद्य और उसके बजाने वाले को दार्दरिक कहा गया है (नाट्य० ३३।२०५)। दर्दरा को वाद्यभाण्ड ही कहना ठीक होगा। विधुर पंडित जातक वाद्यवादकों की सूची में कुम्भथूनिक का भी उल्लेख है जिसे टीकाकार ने घटदद्दर वादक (जा० ६।२७६) कहा है।

अध्याय ३, परिच्छेद १६—काल विभाग

अकालक व्याकरण—प्राचीन विद्वानों ने पाणिनीय व्याकरण को अकालक कहा है। काशिका में तीन सूत्रों के उदाहरण रूप में 'पाणिन्युपज्ञमकालकं व्याकरणम्', सूचना है (२।४।२१; ४।३।११५; ६।२।१४; और भी चान्द्रवृत्ति, २।२।६८)। दिन का परिमाण सूर्योदय से सूर्यास्त तक, या मध्यरात्रि से मध्यरात्रि तक माना जाय? वर्तमान किस क्षण समाप्त होता है और भविष्य कहाँ से आरम्भ होता है? अद्यतन क्या है? कितना समय बीतने पर परोक्ष माना जाय?—इस प्रकार की ऊहापोह पुराने वैयाकरणों के लिये बड़ी सिरदर्दी थी। भाष्य ने बाल की खाल खींचनेवाले कालविद् शाब्दिकों की कुछ बानगी दी है।[1] किसी का मत था, वर्तमान काल कुछ नहीं। दूसरे कहते वर्तमानकाल है अवश्य पर उसका भाव अति सूक्ष्म होने से अनुमान से ही जाना जा सकता है। कात्यायन का मत था कि भूत, भविष्य और वर्तमान का काल विभाग मानना आवश्यक है (सन्ति च कालविभागाः ३।२।१२३ वा०)। कालविभाग को पाणिनि ने भी माना है पर वे इस पचड़े में नहीं पड़े कि भवन्ती, भविष्यन्ती, अद्यतनी, श्वस्तनी, परोक्षा, इनका स्वयं निर्णय करने बैठें। उन्होंने स्पष्ट कहा कि इस विषय में लोक को प्रमाण मान लेना चाहिए (कालोपसर्जने च तुल्यम्, १।२।५७)। पहले के व्याकरणों से अष्टाध्यायी का यह भेद देखकर ठीक ही उस समय के लोगों ने पाणिनि के शास्त्र को अकालक व्याकरण माना।

फिर भी मोटे तौर पर पाणिनि ने काल-विभागों में (३।३।१३७) अहोरात्र (३।३।१३७), पक्ष (५।२।२५), मास (५।१।८१), षण्मास (५।१।८३), वर्ष (५।१।८८), अयन (७।४।२५) आदि का उल्लेख किया है। काल, समय, वेला, पर्यायवाची होते हुए भी एक सूत्र में इन तीनों का पृथक् उल्लेख है (कालसमयवेलासु तुमुन्, ३।३।१६७)। सूत्र ७।३।१५ पर भाष्य ने एक अन्य वार्तिककार का मत दिया है कि अष्टाध्यायी के अन्तर्गत परिमाणवाची शब्दों में काल का ग्रहण नहीं होता (ज्ञापकन्तु कालपरिमाणानां परिमाणग्रहणस्य)। किन्तु पाणिनि ने स्पष्टतः काल को आयु का परिमाण कहा है (कालाः परिमाणिना, २।२।५)। उदाहरण

---

१ अपर आह, नास्ति वर्तमानः काल इति। अपि चात्र श्लोकानुदाहरन्ति—

न वर्तते चक्रमिषुर्न पात्यते न स्पन्दन्ते सरितः सागराय।
कूटस्थोऽयं लोको न विचेष्टितास्ति योह्येवं पश्यति सोऽप्यनन्धः॥

अनागतमतिक्रान्तं वर्तमानमिति त्रयम्।
सर्वत्र च गतिर्नास्ति गच्छतीति किमुच्यते॥

अपर आह, अस्ति वर्तमानः काल इति। आदित्यगतिवन्नोपलभ्यते। (भाष्य ३।२।१२३)।

के लिये जन्म होते ही प्रत्येक व्यक्ति कालरूपी परिमाण की नाप में आने लगता है। इसी आधार पर उसे द्व्यहजात, त्र्यहजात, मासजात, संवत्सरजात आदि कहा जाता है। पतञ्जलि ने कहा है कि हम काल से ही मूर्त पदार्थों में वृद्धि और ह्रास देखते हैं और आदित्य गति के कारण ही दिन और रात का विभाग होता है। फिर उसी के बारबार होने से मास और संवत्सर बनते हैं (भाष्य, २।२।५)। इसीलिए सूर्य को अहस्कर कहा जाता था (३।२।२१)। नक्षत्र के लिये ज्योतिष शब्द सूत्रयुग में प्रयुक्त होता था। एक ही नक्षत्र में जन्म लेनेवाले कई व्यक्ति सज्योति कहलाते थे (६।३।८५)। विधुन्तुद शब्द (३।२।३५) राहु द्वारा चन्द्र-ग्रहण की कथा की ओर संकेत करता है, जिसका उल्लेख वैदिक साहित्य में भी है (ताण्ड्य ब्राह्मण, ६।६।८)।

अष्टाध्यायी में काल के निम्नलिखित विभागों का उल्लेख है—

अहोरात्र (३।३।१३७; ६।२।३३)—अहोरात्र को इकाई मानकर कालगणना की जाती थी। षष्टिकाः षष्टिरात्रेण पच्यन्ते (५।१।९०) सूत्र में रात्रि शब्द पूरे अहोरात्र या एक दिन के लिये है। नक्तन्दिव, रात्रिन्दिव (५।४।७७) शब्द फ्लीट के मत में कुछ विचित्र से लगते हैं, क्योंकि भारतवर्ष में दिन की गणना सूर्योदय से की जाती है जिसमें दिन के बाद रात्रि का स्थान है। सम्भव है सन्धि की सुविधा के लिये नक्त और रात्रि का पूर्वनिपात इन शब्दों में हुआ हो। कीथ का मत है कि ये दोनों शब्द उस प्राचीनकाल में बन चुके थे जब अहोरात्र का परिमाण सूर्यास्त से निश्चित किया जाता था।[1] यह सर्वसम्मत है कि सूत्रयुग में दिन सूर्योदय से ही माना जाता था।

दिन के भाग पूर्वाह्ण, अपराह्ण (४।३।२४) और रात के पूर्वरात्र, अपररात्र (५।४।८७) कहलाते थे। सायं प्रातः होनेवाली रात दिन की सन्धि के लिये सन्धि-वेला शब्द था (४।३।१६) दिन का विभाग मुहूर्तों में माना जाता था। मुहूर्त भर समय परिमाण के आधार पर लकार में भेद हो सकता है (लिङ् चोर्ध्वमौहूर्तिके, ३।३।१६४)। भाष्य में छह चराचर मुहूर्तों का उल्लेख है (२।१।२८)। अर्थशास्त्र में लिखा है कि तीस मुहूर्त के दिन रात में पन्द्रह मुहूर्त का दिन और पन्द्रह मुहूर्त की रात्रि होती थी। यह स्थिति चैत्र और आश्विन में आती है। पर अयनों के कारण रात और दिन तीन मुहूर्त तक घटते बढ़ते हैं। ग्रीष्म में तीन मुहूर्त तक दिन की वृद्धि और जाड़े में तीन मुहूर्त तक रात की वृद्धि, इन्हीं छह मुहूर्तों का नाम चराचर मुहूर्त था।

---

१ जे आर ए एस, १६१६, पृ० १४३-४६; फ्लीट का उत्तर, वही पृ० ३५६; कीथ का प्रत्युत्तर, वही, पृ० ५५५; और फ्लीट का अंतिम कथन, जिसमें फ्लीट की युक्ति ही ठीक प्रतीत होती है।

मास—मास के पक्षों में पक्षान्त की तिथि अमावास्या और पौर्णमासी कहलाती थीं। पक्ष का प्रथम दिन पक्षति कहा गया है (पक्षात्तिः, ५।२।२५, पक्षस्य मूलं पक्षतिः प्रतिपत्-काशिका)।

सावन मास—तीस दिन के सावन मास की गणना पाणिनि के षष्टिरात्र पद से सूचित होती है (५।३।९०)। षष्टिरात्र का शब्दार्थ साठ अहोरात्र या दो मास है। कौटिल्य ने तीस दिन और रात के महीने का उल्लेख करते हुए उसे प्रकर्म मास कहा है (अर्थ० २।२०)। इस गणना में यह आवश्यक न था कि मास का पन्द्रहवाँ दिन अमावास्या और तीसवाँ दिन पूर्णिमा को ही पड़े। वे तो चान्द्रमास के पर्व थे। सावनमास के पन्द्रहवें और तीसवें दिन के लिये अर्धमासतम और मासतम इन दो विशेष शब्दों का प्रचलन हुआ, जिनका पाणिनि ने उल्लेख किया है (नित्यं शतादिमासार्धमास संवत्सराच्च, ५।२।५७; मासस्य पूर्णः मासतमो दिवसः, अर्धमासस्य पूर्णः अर्धमासतमः-काशिका)। कौटिल्य के प्रकर्ममास के पन्द्रहवें और तीसवें दिन के ही ये नाम रहे होंगे। प्रकर्ममास का व्यवहार राजकीय कामकाज में होता था। वैतनिक लोगों के वेतन के निर्धारण और भुगतान के लिये तीस दिन के मास की व्यावहारिक आवश्यकता थी। पतञ्जलि ने स्पष्ट ही भृतकमास का उल्लेख किया है (४।२।२१, वा० २)। इसका व्यवहार भृति पर काम करनेवाले कर्मकरों की भृति बाँटने के लिये होता था। सास्मिन् पौर्णमासीति (४।२।२१) सूत्र पर वार्तिककार और भाष्यकार दोनों के विचार का आधार यही है कि चान्द्रमास की पौर्णमासी का किसी दूसरे प्रकार की मासगणना के अन्तिम दिन से मेल न खाता था। वह दूसरा मास कौटिल्य का प्रकर्ममास अथवा पतञ्जलि का भृतकमास ही होना चाहिए।

पतञ्जलि ने त्रिंशद्रात्र का उल्लेख किया है, जिसके दो बराबर भाग होते थे (३।३।१३६-१३७)। उसका पहला भाग अवरपञ्चदशरात्र या अवर अर्धमास कहलाता था। इसी संकेत से दूसरे की संज्ञा परपञ्चदशरात्र या परअर्धमास रही होगी। पाणिनि के षष्टिरात्र की तरह त्रिंशद्रात्र शब्द में रात्र का अर्थ अहोरात्र है।

चान्द्रमास—अमावास्या और पौर्णमासी इन दो पक्षों से बनने वाला चान्द्रमास पाणिनि के कई सूत्रों का आधार है। ज्ञात होता है कि पाणिनि काल में पूर्णिमा के दिन चान्द्रमास की समाप्ति मानी जाती थी। यह इसी बात से सूचित है कि मास का नाम उसमें होनेवाली पौर्णमासी से माना जाता था। आग्रहायणी (४।२।२२) श्रवणा, कार्तिकी और चैत्री (४।२।२३), इनका उल्लेख सूत्रों में आया है। एक अन्य सूत्र में कहा है कि पौर्णमासी के दिन अमुक ऋण का भुगतान किया जाय(४।३।५०)। यह संकेत भी पूर्णिमान्त मास गणना के पक्ष में ही है, क्योंकि महीने के बीच में ऋण लौटाने की बात कम सम्भव है। उसके बिना आग्रहायणिक या अग्रहायणक (४।३।५०; अगहन या मँगसिर की पूनो को लौटाया जानेवाला ऋण) जैसा शब्द

भाषा में बनना कठिन था। और भी, इस प्रकार के विशेष शब्द, जैसे उपपौर्णमासि उपपौर्णमासम् अर्थात् महीने की पौर्णमासी तिथि के लगभग (५।४।११०, नदी पौर्णमास्याग्रहायणीभ्यः) पूर्णिमान्त मास गणना के आधार पर ही भाषा में प्रयुक्त होना सम्भव थे। यदि अमावस्या को मास की समाप्ति मानी जाती तो इसी प्रकार के प्रयोग अमावस्या शब्द से बन जाते, जो नहीं मिलते। कात्यायन और पतञ्जलि दोनों पौर्णमासी को महीने की अन्तिम तिथि मानते हैं।[1]

महीनों के नाम—यद्यपि नभस्य, सहस्य, तपस्य, जैसे कुछ वैदिक नाम सूत्र, ४।४।१२८ में आ गए हैं, पर नक्षत्रों से रक्खे हुए मास नाम ही सूत्र युग में चालू थे। इस प्रथा का आरम्भ ब्राह्मण युग में हुआ, फिर रामायण, महाभारत में तो ये ही नाम नियमतः मिलने लगते हैं (वैदिक इंडेक्स, २।१६२)। स्मरण रखना चाहिए कि ब्राह्मणों की भाषा में 'फाल्गुनी पौर्णमासी' या 'फाल्गुनी अमावस्या' इस प्रकार नक्षत्र के नाम से बने हुए विशेषणों के साथ विशेष्य का प्रयोग होता था। पर सूत्रयुग में फाल्गुनी आदि का प्रयोग स्वतन्त्र रूप से होने लगा (वैदिक इंडेक्स १।४२२)। उस समय फाल्गुनी पौर्णमासी के लिये फाल्गुनी कहना ही पर्याप्त था। अष्टाध्यायी में भी आग्रहायणी फाल्गुनी, श्रवणा, कार्तिकी, चैत्री नामों का स्वतन्त्र रूप से प्रयोग हुआ है (आग्रहायण्यश्वत्थाट्ठक्, ४।२।२२; विभाषा फाल्गुनी श्रवणा कार्तिकी चैत्रीभ्यः; ४।२।२३)। कात्यायन के स्पष्टीकरण के अनुसार ये सब नाम स्वयं संज्ञाएँ बन गई थीं (सूत्र ४।२।२१ पर वार्तिक, संज्ञायाम्)।

पौर्णमासी का नाम उसमें पड़ने वाले नक्षत्र से (नक्षत्रेण युक्तः कालः, ४।२।३) और महीने का नाम उसमें होनेवाली पौर्णमासी से माना जाता था। (सास्मिन् पौर्णमासीति, ४।२।२१)। नक्षत्रेण युक्तः कालः सूत्र पर शंका है कि काल जैसे अव्यक्त पदार्थ का नक्षत्र से योग कैसे हो सकता है? उत्तर में कहा है कि नक्षत्र का योग काल से नहीं, चन्द्रमा से होता है।[2] जिस दिन फाल्गुनी नक्षत्र चन्द्रमा के समीप आ जाता है उस दिन फाल्गुनी पौर्णमासी मान लेते हैं, और फिर पौर्णमासी से मास का नाम बनाते हैं।

नक्षत्र—पाणिनि के अनुसार नक्षत्र शब्द की व्युत्पत्ति न+क्षत्र है। शतपथ ब्रा० में भी यही है। (२।१।२।१८; न-क्षत्र इसलिये कहे जाते हैं क्योंकि सूर्य उदित होते ही उनके क्षत्र या ज्योति को हर लेता है)। दूसरी व्युत्पत्ति 'नक्ष-गतौ' से भी मानी जाती थी (यो वा इह यजते, अमुं स लोकं नक्षते, तन्नक्षत्राणां

---

१ पूर्णमासादण् (भा० पूर्णमासो वर्ततेऽस्मिन् काले पौर्णमासी तिथिः)।

२ कथं पुनर्नक्षत्रेण पुष्यादिना कालो युज्यते? पुष्यादि समीपस्थे चन्द्रमसि वर्तमानाः पुष्यादिशब्दाः प्रत्ययमुत्पादयन्तीत्यर्थः—काशिका।

नक्षत्रत्वम्, तै० ब्रा० १।५।२।५)। निरुक्त में शतपथ को उद्धृत करते हुए भी दूसरी व्युत्पत्ति को स्वीकार किया गया है (नक्षतेर्गतिकर्मणः, निरुक्त ३।२०)। पर पाणिनि ने शतपथ की परम्परा को मान्य समझा। अष्टाध्यायी में नक्षत्रों के नाम और संबन्धित शब्द इस प्रकार हैं--

१ कृत्तिका--कार्तिकी पौर्णमासी में नक्षत्र नाम स्पष्ट है (४।२।२३)। कृत्तिका का नाम बहुल भी था (४।३।३४), क्योंकि कृत्तिका में बहुत से नक्षत्र माने जाते हैं (भूयिष्ठा यत् कृत्तिकाः, शतपथ २।१।२।३) बहुल से ही भूयिष्ठ बना है (बहोर्लोपो भू च बहोः, ६।४।१५८)।[1]

३ मृगशीर्ष--आग्रहायणी पौर्णमासी का कई बार उल्लेख है (४।२।२२; ४।३।५०, ५।४।११०)। मास का नाम आग्रहायणिक भी पड़ता था। अगहन की पूनों के आस पास का समय आग्रहायण या आग्रहायणि (५।४।११०) कहलाता था।

४ आर्द्रा—आर्द्रा में उत्पन्न बालक का नक्षत्र नाम आर्द्रक होता था।

५ पुनर्वसु—इस नक्षत्र में दो तारे माने जाते थे। यद्यपि दो पुनर्वसु और एक तिष्य मिलकर तीन नक्षत्र होते हैं, पर तिष्य-पुनर्वसू में द्विवचन का ही प्रयोग होता था। सूत्र ४।३।६४ में पुनर्वसु एक वचन में ही आया है जैसा मैत्रायणी और काठक संहिताओं में भी आता है।

६ तिष्य—तिष्य (१।२।६३; ४।३।३४; ६।४।१४९) के दो अन्य पर्याय पुष्य और सिद्धय भी थे (पुष्यसिद्धयौ नक्षत्रे, ३।१।११६)। तिष्य नक्षत्र में जन्म लेने वाला बालक तिष्य कहलाता था। जातकों में यह नाम प्रायः आता है (तिस्स, फुस्स)। अर्थशास्त्र में तिष्य नहीं, केवल पुष्य का प्रयोग है। पतञ्जलि को भी वही प्रिय है। पाणिनि के उत्तर युग में वही अधिक चल गया था।

९-१० फाल्गुनी—फल्गुन्यौ और फल्गुन्यः दोनों रूप आते थे (१।२।६०)।

११ हस्त—(४।३।३४)।

१२ चित्रा ४।२।२३) की पौर्णमासी चैत्री कहलाती थी।

१३ स्वाति (४।३।३४)।

१४ विशाखा के दो नक्षत्रों को विशाखे भी कहा जाता था (१।२।६२)। तैत्तिरीय सं० में विशाखे और काठक में विशाखा आता है। पाणिनि को एक वचनान्त रूप प्रिय है (४।३।६४)।

---

१ कृत्तिका में सात नक्षत्र हैं—अम्बा, दुला, नितत्नी, अभ्रयन्ती, मेघयन्ती, वर्षयन्ती चुपुणिका (तै० ब्रा० ३।१।४१)। संस्कृत साहित्य में कृत्तिका के छह नक्षत्र माने गए हैं (तुलना कीजिए, सूत्र ४।१।११५ पर उदाहरण द्वैमातुर, षाण्मातुर)।

१५ अनुराधा (४।३।३४)।

१७ मूल (४।३।२८)।

१८-१९ अषाढा (४।३।१४)।

२० अभिजित् (४।३।३६)।

२१ श्रवण (४।२।२३)—काठक सं० में इसे अश्वत्थ कहा है (वैदिक इंडेक्स, १।४१३)। पाणिनि में भी यह नाम है। (संज्ञायां श्रवणाश्वत्थाभ्याम् ४।२।५)। काशिका के अनुसार पीपल की पीपली पकने का काल अश्वत्थ कहा जाता था (यस्मिन्नश्वत्थाः फलन्ति सोऽश्वत्थः, ४।३।४८)। श्रवण और अश्वत्थ ये दोनों सावन महीने की किसी विशेष रात और मुहूर्त की संज्ञाएँ थीं।

२२ श्रविष्ठा (४ ३।३४)।

२३ शतभिषज् ४।३।३६)।

२४-२५ प्रोष्ठपदा—इसके दो रूप थे, प्रोष्ठपदे, प्रोष्ठपदाः (१।२।६०)। पुल्लिंग प्रोष्ठपद रूप भी चलता था (५।४।२०)। प्रोष्ठपद नक्षत्र देवता का उल्लेख करते हुए पाणिनि ने भी इसे पुल्लिंग लिखा है (४।२।३५)। तै० सं० में भी यह पुल्लिंग ही है।

२६ रेवती (४।१।१४६)।

२७ अश्वयुज् (४।३।३६)-खेत बोने के लिए आश्वयुजी पौर्णमासी विशेष मांगलिक मानी जाती थी। (उप्ते च, आश्वयुज्या वुञ्, ४।३।४४-४५)।

नक्षत्रों का क्रम—वैदिकयुग में कृत्तिका पहला नक्षत्र माना जाता था। याज्ञवल्क्य स्मृति के समय तक, (१।२६७) कृत्तिकादि सूची चालू रही, और उसके बाद अश्विनी प्रथम नक्षत्र माना गया (हापकिंस, जे० ए ओ एस०, २४।३४)। पतंजलि ने नक्षत्रों का पौर्वापर्य सूचित करने के लिए 'कृत्तिकारोहिण्यः' उदाहरण दिया है, जिससे उनके युग में भी कृत्तिकादि गणना सूचित होती है।

श्रविष्ठादि गणना—सूत्र ४।३।३४ में दस नक्षत्रों के नामों की सूची में पाणिनि ने सबसे पहले श्रविष्ठा को रक्खा है—

श्रविष्ठा – फल्गुन्यनुराधा – स्वाति – तिष्य – पुनर्वसु – हस्त – विशाखाषाढा बहुलाल्-लुक्।

श्रविष्ठा को पहले रखने का क्या हेतु हो सकता है? वेदांग ज्योतिष की नक्षत्र सूची में भी श्रविष्ठा ही सबसे पहले था।

गर्ग के अनुसार भी श्रविष्ठा की गिनती नक्षत्रों में सबसे पहिले थी (कर्मसु कृत्तिकाः प्रथमं श्रविष्ठा तु संख्यायाः)। महाभारत में नक्षत्रों का एक आरम्भ धनिष्ठा (श्रविष्ठा का दूसरा नाम) से है (वनपर्व २३०।१०) और दूसरा श्रवण से कहा है (अश्वमेधपर्व ४४।२, श्रवणादीनि ऋक्षाणि, हापकिंस, जे ए ओ एस० भाग २४, पृ० १५-३४)।

महाभारत में श्रवण को नक्षत्र सूची में पहिला कहा है (प्रतिश्रवणपूर्वाणि नक्षत्राणि चकार यः— आदिपर्व ७१।३४)। अनुमान किया जाता है कि महाभारत का यह उल्लेख ऐसे समय हुआ जब कि सूर्य का मकर संपात (उत्तरायण) श्रविष्ठा से हटकर उससे एक नक्षत्र पूर्व श्रवण में होने लगा था। (फ्लीट, जे आर ए एस०, १९१६, पृ० ५७०)। वेदाङ्ग ज्योतिष में जो पुरानी श्रविष्ठादि नक्षत्र सूची थी उसे कालान्तर में सुधारकर श्रवणादि बनाया गया। ऐसा लगभग ४०५ ई० पूर्व में किया गया। पाणिनि की श्रविष्ठादि सूची उस समय की होनी चाहिए जब श्रवण को यह स्थान नहीं मिला था। इससे पाणिनि के तिथिक्रम पर भी प्रकाश पड़ता है जैसा कि अन्तिम अध्याय में विचार किया जायगा।

पाणिनीय उल्लेखों के अनुसार क्रान्तिवृत्त २७ नक्षत्रों में बँटा हुआ था और पूर्णिमा के दिन चन्द्रमा जिस नक्षत्र में होता उसी के अनुसार पौर्णमासी तिथि और मास का नाम रखा जाता था। लुबविशेषे सूत्र (४।२।४) के अनुसार नक्षत्र के नाम से ही काल का नाम समझा जाता था। जैसे अद्य पुष्यः = आज पुष्य है का तात्पर्य यह हुआ कि आज चन्द्रमा पुष्य नक्षत्र के समीप है, अर्थात् आज पुष्य नक्षत्र का योग है। पाणिनि के युग में वारों के नाम नहीं रक्खे गए थे। तिथियों को ही दिन कहा जाता था, एवं नक्षत्रों के नाम से ही तिथियों के नाम रक्खे जाते थे। जैसे पुष्य नक्षत्र से युक्त दिन 'पौषम् अहः' कहा जाता था।

ऐसा दिन जब दो नक्षत्रों का योग हो उन दोनों के नाम से पुकारा जाता जाता था, जैसे 'राधानुराधीय' 'तिष्य पुनर्वसवीय' (द्वन्द्वाच्छः ४।२।६)।

पाणिनि में लग्न शब्द का अर्थ सक्त अर्थात् सटा हुआ या लगा हुआ है (७।२।१८)। 'राशि का उदय' यह अर्थ चौथी शती ईसवी के लगभग आरम्भ हुआ (डा० के, दी नक्षत्राज् एंड प्रिसेशन, इंडियन ऐंटीकेरी, भाग ५०, पृ० ४५)।

अयन—सूत्र ८।४।२५ (अयनञ्च) में अन्तरयण का उल्लेख है। संभवतः यह अयनों के सानिध्य में सूर्य की स्थिति का काल था। इसके विपरीत अन्तरयन से कर्क और मकर रेखा के बीच में स्थित देशों का बोध होता था ?

ऋतु और वर्ष—वर्ष (५।१।८८), समा (५।१।८५-५।२।१२), संवत्सर (५।१।८७), हायन (३।१।१४८, ४।१।१३०) शब्द संवत्सर के लिये प्रयुक्त होते थे। अर्थशास्त्र में पाँच वर्षों के एक युग का उल्लेख है जिसमें हर एक वर्ष का अलग अलग नाम होता था। इनमें से इद्वत्सर, संवत्सर, परिवत्सर का पाणिनि में भी उल्लेख है (५।१।९१-९२)।

वर्ष के विभागों में दो षण्मास माने जाते (५।१।८३)। पहिले को अवर षण्मास कहते थे (४।३।४९)। सूत्रों में छहों ऋतुओं के नाम आ गए हैं। वसन्त (४।३।४६), ग्रीष्म (४।३।४९, वर्षा (४।३।१८; प्रावृष् ४।३।१७, ४।३।२६), शरद्

(४।३।१२- ४।३।२७), हेमन्त (४।३।२१-२२) और शिशिर (२ ४।२८)। प्रत्येक ऋतु दो मास की होती थी। पहिला महिना पूर्व और दूसरा अपर कहलाता था। (अवयवाद् ऋतोः ७।३।११), जैसे वर्षा ऋतु के पहिले मास के लिये पूर्ववार्षिक और दूसरे के लिये अपरवार्षिक प्रयोग थे। भाष्य में पूर्वशरद् और अपरशरद्, पूर्वनिदाघ और अपरनिदाघ शब्द भी हैं (१।१।७२ वार्त्तिक १८ भाष्य)। पतञ्जलि ने लिखा है कि शिशिर वसन्त से पहिले होती है और शिशिर से ही उत्तरायण का आरम्भ होता है (शिशिरवसन्तावुदगयनस्थौ २।२।३४)। अर्थशास्त्र में भी उत्तरायण का आरम्भ शिशिर से माना है और माघ फाल्गुन उसके महिने कहे हैं (अर्थशास्त्र २।२०)।

व्युष्ट, वर्ष का पहिला दिन--पाणिनि ने उन कार्यों को जो व्युष्ट के दिन होते थे या उस भुगतान को जो उस दिन किया जाता था वैयुष्ट कहा है (तत्र च दीयते कार्यं भववत् ५।१।९६; व्युष्टादिभ्योऽण् ५।१।९७)।

वैसे तो व्युष्ट का सामान्य अर्थ रात्रि का चौथा पहर था (वाराह श्रौत सूत्र) किन्तु आर्थिक वर्ष के प्रथम दिन का पारिभाषिक नाम व्युष्ट था जो कि आषाढ़ी पौर्णमासी के अगले दिन होता था (अर्थशास्त्र २।६)[1]। पाणिनि में भी व्युष्ट का यही विशेष अर्थ है। इस दिन के कार्य और देय भुगतानों पर कुछ प्रकाश अर्थशास्त्र से पड़ता है। वहाँ कहा है कि जितने गणनाध्यक्ष हैं वे आषाढ़ी पूर्णिमा को अपने मोहरबन्द हिसाब किताब के कागज और रोकड़ लेकर राजधानी में आएँ। वहाँ उन्हें आय, व्यय, रोकड़ का जोड़ बताना पड़ता था और तब उनसे रोकड़ जमा कराई जाती थी। 'तत्र च दीयते' में जिनकी ओर लक्ष्य है वे ही वैयुष्ट भुगतान ज्ञात होते हैं।

राजकीय गणना विभाग के केन्द्रीय कार्यालय में हिसाब किताब की जाँच पड़ताल बारीकी से की जाती थी। यही वे वैयुष्ट कार्य थे जिनका 'तत्र च कार्यम्' में संकेत है। सारे हिसाब की जाँच का सूत्र उस रोकड़ से पकड़ में आता था जिसे व्युष्ट के दिन गाणनिक (गणन के अधिकारी) जमा कराते थे (अर्थशास्त्र २।७)। अशोक के ब्रह्मगिरि वाले लघु लेख से ज्ञात होता है कि वर्ष की दिवस गणना व्युष्ट दिन से आरम्भ होती थी।

पाणिनि में वर्ष के अन्तिम दिन के लिये 'संवत्सरतम' शब्द का प्रयोग किया है। (५।२।५७ संवत्सरस्य पूर्णो दिवसः संवत्सरतमः)। सूत्र ४।३।५० में संवत्सर की समाप्ति पर लौटाए जानेवाले ऋण को सांवत्सरिक कहा है (४।३।५०)। वे इसी संवत्सरतम नामक अन्तिम दिन पर भुगताए जाते थे।

---

१ देखिए, श्री शाम शास्त्री का लेख, व्युष्ट वैदिक-संवत्सर का प्रथम दिन, अखिल भारतीय द्वितीय प्राच्य संमेलन, कलकत्ता अधिवेशन की लेखमाला।

महापराह्ण (६।२।३८)—इसका शब्दार्थ है 'बड़ा दुपहरा'। इस सूत्र में पठित महाव्रीहि आदि दसों शब्द पारिभाषिक संज्ञाएँ हैं, अतएव महापराह्ण भी किसी दिन विशेष का नाम रहा होगा। ज्ञात होता है कि यह व्युष्टवाले दिन का ही 'बड़ा दुपहरा' था। सूर्य प्रज्ञप्ति में कहा है नया वर्ष श्रावण महीने के "सबसे लम्बे दिन" आरम्भ होता था। (अखिल भारतीय द्वितीय प्राच्य संमेलन, लेख संग्रह, पृ० ३८)। यह दिन सचमुच महापराह्ण होता था क्योंकि आज कल की तरह इस दिन का रोजनामचा बहीखाता (अहोरूप) उसी दिन बन्द न करके कई दिनों बाद तक खुला रहता था और सरकारी-कार्यालयों में भी उस दिन देर तक हिसाब किताब होता रहता था। महाभारत में महापराह्ण दिन का उल्लेख है—महत्यथापराह्णे तु घर्मेसूर्य इवावृतः (आदिपर्व १८१।४०), अर्थात अर्जुन महापराह्ण के दिन कृष्णमृग चर्म पहिने हुए ब्राह्मणों के बीच ऐसे सुशोभित हुआ जैसे मेघों से घिरा हुआ सूर्य हो। यह कल्पना वर्षाऋतु में ही ठीक बैठती है। इससे महापराह्ण दिन का वर्षाऋतु या श्रावण में होना संगत हो जाता है। इसी आधार पर व्युष्ट के साथ उसका सम्बन्ध जोड़ना युक्त है। आषाढ़ी पूर्णिमा के बाद श्रावण का प्रथम दिन या 'युष्ट' हिसाब किताब आदि की दृष्टि से उचित ही महापराह्ण समझा जाता था।

अध्याय ३, परिच्छेद १७—पाणिनिकालीन मनुष्य नाम

मनुष्य-नाम और स्थान नाम, ये नामों के दो बड़े समूह हैं। दोनों मनुष्य की भाषा के अंग हैं और दोनों से ही मनुष्य के भूतकालीन इतिहास और संस्कृति पर प्रकाश पड़ता है। पश्चिमी देशों में स्थानीय नामों का ब्यौरेवार अध्ययन किया गया है जिससे जातियों की भाषा, प्रसार और रहन सहन पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। भारतीय स्थान नामों का अध्ययन भी उतना ही महत्त्वपूर्ण सिद्ध होगा, क्योंकि मुंडारी भाषा, द्रविड़ भाषा, आर्य भाषा और म्लेच्छ परिवार की भाषाओं ने स्थान-नामों की रचना में भाग लिया है। यहाँ हम केवल मनुष्य-नामों की चर्चा करना चाहते हैं।

भारतीय मनुष्य-नामों का इतिहास वैदिक काल से आरंभ होता है। नामों के विकास और परिवर्तन की दृष्टि से नीचे लिखी हुई सीढ़ियाँ मुख्य हैं—

१—ऋग्वैदिक नाम
२—उत्तर-वैदिक और ब्राह्मणकालीन नाम
३—बौद्ध पाली साहित्य और पाणिनिकालीन नाम
४—मौर्य, शुंग और कुषाणकालीन प्राकृत नाम

५—गुप्तकालीन एवं संस्कृत साहित्यगत नाम

६—अपभ्रंश भाषा, प्राकृत और संस्कृत साहित्य से प्राप्त मध्यकालीन नाम

७—आधुनिक नाम

इस प्रकार भारतीय मनुष्य-नामों का अध्ययन प्रत्येक युग के सांस्कृतिक इतिहास का ही एक टुकड़ा है। भाषा और धार्मिक एवं सामाजिक विश्वासों के अनुसार मातापिता बालक का नाम रखते हैं। नाम प्रत्येक मनुष्य के लिये बहुत ही प्रिय शब्द बन जाता है। प्रत्येक के जीवन में वह सबसे अधिक व्यवहार में आनेवाला शब्द होता है। अतएव नामों में एक प्रकार की जातीय और वैयक्तिक सुरुचि, आस्था और संस्कृति की छाप पाई जाती है। चरक के अनुसार नाम दो प्रकार के होते हैं—नाक्षत्रिक नाम और आभिप्रायिक नाम (शरीर स्थान, अ० ८।५१)। जिस नक्षत्र में जन्म होता है उसके अनुसार रखा हुआ नाम (नक्षत्रदेवतासमानाख्यं) नाक्षत्रिक कहलाता है; जैसे, स्वाति नक्षत्र से स्वातिदत्त, जिसका छोटा रूप होगा स्वातिल। आभिप्रायिक नाम को ही पुकारने का सच्चा नाम कहना चाहिए; जैसे यज्ञदत्त, देवदत्त इत्यादि।

ऋग्वेद के समय अधिकांश नाम केवल आभिप्रायिक थे। उनके साथ पिता से प्राप्त होनेवाला पैतृक नाम भी जुड़ा रहता था जैसे मेधातिथि काण्व। कालांतर में गोत्रनाम की प्रवृत्ति बहुत बढ़ गई। ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषदों के समय में जितने नाम मिलते हैं उनमें गोत्र-नाम का रिवाज बहुत अधिक है। उदाहरण के लिये बुडिल शार्कराक्ष्य, अर्थात् शर्कराक्ष गोत्र में उत्पन्न बुडिल। लगभग इसी समय गोत्रों की बहुत बड़ी बड़ी सूचियाँ संगृहीत हुईं। बौधायन श्रौतसूत्र में इस तरह की एक बृहत् गोत्र-सूची महाप्रवर कांड के नाम से पाई जाती है जिसके आधार पर पीछे मत्स्य पुराण में गोत्रों की सूची तैयार की गई। आश्वलायन, कात्यायन आदि श्रौतसूत्रों में भी गोत्रों की सूचियाँ हैं, पर वे कुछ छोटी हैं। प्राचीन भारतीय समाज जिन प्रतिष्ठित परिवारों से बना था उन परिवारों या कुलों की सूचियों को ही महाप्रवरकांड समझना चाहिए।

इसी परिस्थिति में पाणिनि और बौद्ध साहित्य की साक्षी हमें मिलती है। पाली बौद्ध साहित्य में गोत्रनामों की प्रधानता पाई जाती है। पाणिनि की अष्टाध्यायी में गोत्रनामों की लंबी-चौड़ी सूचियाँ हैं। गर्गादि, अश्वादि, नडादि, शिवादि, हरितादि गणों में लगभग पाँच सौ से अधिक गोत्रनामों का परिगणन है और पाणिनि ने विशेष ध्यान से इस बात की शिक्षा दी है कि एक ही कुल में बड़े-बूढ़ों और नवयुवकों के गोत्रसंज्ञक नामों में क्या भेद होता था। उदाहरण के लिये गर्ग का लड़का गार्गि, उसका पोता या पड़पोता गार्ग्य कहलाता था। पर यदि गर्ग जीवित हो तो पड़पोता गार्ग्यायण कहलाता रहेगा। जब गर्ग कुल में वृद्ध का शरीर पूरा हो जाता था तो नीचे के पुत्र-पौत्र-प्रपौत्र एक-एक सीढ़ी चढ़ जाते थे। अर्थात्

जो गार्ग्यायण था वह गार्ग्य बन जाता और उससे नीचे की पीढ़ी का व्यक्ति गार्ग्यायण कहलाने लगता था। समाज के विभिन्न क्षेत्रों में कुल का प्रतिनिधित्व करने के लिये इस प्रकार के सूक्ष्म भेदों का काफी महत्त्व रहा जान पड़ता है। किसी पंचायत में परिवार की ओर से गार्ग्य प्रतिनिधि बनकर गया या गार्ग्यायण, यह बात अपना महत्त्व रखती थी। गृह्यसूत्रों के समय गोत्रवाची नामों का समाज में बहुत अधिक प्रचार और महत्त्व था। अष्टाध्यायी में और बौद्ध साहित्य में इसकी भरपूर सामग्री मिलती है।

पाणिनि के समय में एक दूसरे प्रकार के नाम भी काफी प्रचलित हो गए थे—ये थे स्थानवाची नामों से बननेवाले व्यक्ति-नाम या विशेषण। जैसे, आज जयपुर के निवासी जयपुरिया कहलाते हैं और खंडाला गाँव के पारसी अपने को खंडालावाला तथा तारापुर के तारापुरवाला कहते हैं। मराठी क्षेत्र के अधिकांश नाम गाँवों के नाम के आगे 'कर' प्रत्यय जोड़कर बनाए जाते हैं, जैसे बरसई गाँव का रहनेवाला बरसईकर। इसी प्रकार पाणिनि के समय में नामों के लिये स्थानवाची शब्दों का विशेष महत्त्व था। काशी का रहनेवाला काश्य, मथुरा का माथुर, अवंति का आवंत्य कहलाता था। भिन्न भिन्न स्थान-नामों से अलग अलग तरह के प्रत्यय जुड़ते थे। इन सबकी व्यवस्था पाणिनि ने सूत्रों में की है। इसी कारण अष्टाध्यायी की भौगोलिक सामग्री बहुत बढ़ी-चढ़ी है। स्थान-नाम के कारण जो व्यक्ति का नाम पड़ता है उसके दो कारण हैं। स्वयं मथुरा में रहने के कारण भी 'माथुर' और पूर्वजों के वहाँ रहने के कारण भी 'माथुर' विशेषण व्यक्ति के नाम के आगे जोड़ा जाता था। यही स्वाभाविक प्रथा लोक में आज तक देखी जाती है। कोई व्यक्ति किसी एक स्थान से हटकर जब दूसरी जगह जा बसता है तब वह स्वयं पहले स्थान के नाम से पुकारा जाता है और उसकी संतानें भी उसी नाम को जारी रखती हैं। जो स्वयं जयपुर में रहा हो या रहता हो, वह 'जयपुरिया' कहलाता है और जिसके पूर्वज वहाँ रहे हों वह भी 'जयपुरिया' कहलाएगा। पाणिनि की परिभाषा के अनुसार अपने रहने का स्थान 'निवास' (सोऽस्य निवासः, ४।३।८९) और पूर्वजों के रहने का स्थान 'अभिजन' (४।३।९०) कहलाता था।

इनके अतिरिक्त पाणिनि ने एक प्रकरण में विशेष रूप से केवल मनुष्य नामों के बनाने का उपदेश किया है। इस प्रकरण (बह्वचो मनुष्यनाम्नष्ठज्वा ५ । ३ । ७८ से लेकर शेवल-सुपरि-विशाल-वरुणार्यमादीनां तृतीयात् ५ । ३ । ८४ तक) का विवेचन विशेष रूप से करना होगा, क्योंकि बहुत ही थोड़े में भारतीय नामों के बनाने की विधि सूत्रकार ने बताई है जिसका प्रभाव आज तक के भारतीय नामों पर पाया जाता है।

पाणिनिकालीन नामों की तीन मोटी विशेषताएँ थीं —

(१) नाम के प्रायः दो भाग होते थे—पूर्वपद और उत्तरपद ; जैसे देवदत्त या देवश्रुत।

(२) नामों को छोटा करने की प्रथा चल पड़ी थी। उत्तरपद या पूर्वपद का लोप करके नामों को छोटा किया जाता था और लोप को सूचित करने के लिये कुछ प्रत्यय जोड़े जाते थे। जैसे देवदत्त के 'दत्त' को हटाकर केवल 'देवक' नाम प्यार के कारण छोटा किया हुआ नाम है।

(३) नक्षत्र के नामों से मनुष्यों के नाम रखने की प्रथा पाणिनियुग की तीसरी विशेषता थी।

यदि हम पहली विशेषता को देखें, जिसके अनुसार नामों को समस्त पद होना चाहिए, तो हमें ज्ञात होता है कि मनुष्य-नामों का यह रूप वही है जिसका आदेश गृह्यसूत्रों में किया गया है। गृह्यसूत्रों में नामकरण की पद्धति के अनुसार[1] नाम प्रायः चार अक्षरों का होना चाहिए, और नाम के अंत में 'कृत्' शब्द आना चाहिए, तद्धित नहीं—

पिता नाम करोति द्व्यक्षरं चतुरक्षरं वा घोषवदाद्यन्तरन्तस्थं दीर्घाभिनिष्ठानं कृतं कुर्यान्न तद्धितम्। (पारस्कर)

अर्थात् पिता बालक को जो नाम दे उसमें दो या चार अक्षर हों, नाम के आदि में घोष अक्षर (वर्ग के तीसरे, चौथे, पाँचवें) हों, अंत में अंतःस्थ (य, र, ल, व) अक्षर हों, अंत का अक्षर दीर्घ हो या विसर्ग हो और वह नाम कृदंत हो, तद्धित नहीं। गृह्यसूत्रों में जो चार अक्षर वाला नाम कहा है वही पाणिनि के समस्त पद (पूर्वपद + उत्तरपद) के अनुकूल है, और गृह्यसूत्रों के कृदंत नाम के अनुकूल पाणिनि के 'दत्त' और 'श्रुत' उत्तरपद हैं जिनका विधान ६।२।१४८ सूत्र में किया गया है।[2] काशिका के अनुसार देवदत्त और विष्णुश्रुत नाम पाणिनि-सूत्र के उदाहरण हैं। 'दत्त' और 'श्रुत' दोनों कृदंत पद हैं। भाष्य से ज्ञात होता है कि 'रक्षित' और 'गुप्त' पदों का भी नामों के साथ प्रयोग होने लगा था (भाष्य १।१।७३)। इसके उदाहरणों में आम्रगुप्त और शालगुप्त भाष्य में मिलते हैं (भा० १।१।१)।

१—गृह्यसूत्रों का नामकरण संस्कार, पारस्कर १।१७।२; आश्वलायन १।१३।५–६ ; हिरण्यकेशी २।४।१० ; काठक ३।१०।२ ; आपस्तंब ६।१५।६ ; मानव १।१८।१ ; बौधायन २।१।२४–३१ ; गोभिल २।७।१५–१६ ; शांखायन १।२४ ; खादिर २।२।३१–३२ ; द्राह्यायण २।४।१२ ; भारद्वाज १।२६ ; वाराह ३।७।

पतंजलि ने याज्ञिकों के प्रमाण से नाम के इसी स्वरूप का समर्थन किया है—'दशम्युत्तरकालं पुत्रस्य जातस्य नाम विदध्याद् घोषवदाद्यन्तरन्तःस्थमवृद्धं त्रिपुरुषानूकमनरिप्रतिष्ठितं तद्धि प्रतिष्ठिततमं भवति द्व्यक्षरं चतुरक्षरं वा नाम कृतं कुर्यान्न तद्धितमिति। नचान्तरेण व्याकरणं कृतस्तद्धिता वा शक्या विज्ञातुम्।' (भाष्य १।१।१)

२—कारकाद्दत्तश्रुतयोरेवाशिषि, पाणिनि ६।२।१४८

पाणिनि के अनुसार मित्र (६।२।१६५), अजिन (५।३।८२; ६।२।१६५) और सेन (४।१।१५२; ८।३।९९) शब्दों का भी नामों के उत्तरपद में प्रयोग होने लगा था, जिनके उदाहरण आगे दिए जायँगे।

पाणिनिकालीन नाम पूर्वपद और उत्तरपद के मेल से बने होने के कारण बह्वच् (= बहुत अच् वाला — अर्थात् वह नाम जिसमें दो से अधिक स्वर हों) कहलाता था (५।३।७८)। प्रायः नाम में चार या पाँच स्वर रहते थे। नामों के इस बह्वच् स्वरूप के कारण दूसरी विशेषता का जन्म हुआ जिसके अनुसार नामों के उत्तरपद या पूर्वपद का लोप करके उन्हें छोटा बनाया जाता था। वैदिककालीन नामों में उन्हें छाँटकर छोटा करने का कोई उदाहरण नहीं पाया जाता। किंतु अष्टाध्यायी में इसके लिये काफी बारीकी के साथ नियम बने हुए मिलते हैं। सूत्र ५।३।८२ के अनुसार यदि नाम के अंत में 'अजिन' पद हो तो उसका लोप कर दिया जाता था, जैसे व्याघ्राजिन (व्याघ्र + अजिन) की जगह केवल व्याघ्रक कहने से काम चल जाता था। प्रायः पहले दो स्वरों को रखकर नाम का शेष भाग पुकारते समय छोड़ दिया जाता था। जैसे देवदत्त में पहले दो स्वरों का पद 'देव' है, उसके बाद का 'दत्त' पद छोड़ दिया जा सकता था और उस लोप का सूचक एक प्रत्यय देव में जोड़कर देवक, देविय, देविल आदि नाम बनाए जाते थे। नामों को छोटा करने का रिवाज क्यों चल पड़ा, इस प्रश्न का उत्तर पाणिनि का सूत्र 'अनुकम्पायाम्' (५।३।७६) है। अनुकम्पा अर्थात् प्यार या दुलार का जो नाम होता था उसी में उत्तरपद के लोप की प्रवृत्ति पाई जाती थी। इस तरह का नाम पाणिनीय परिभाषा में अनुकम्पार्थ नाम कहा जा सकता है। पीछे इसे ही लोग 'प्रिय नाम' भी कहने लगे थे। मौर्य-शुङ्ग काल और मध्यकाल में नाम को छोटा करके उसका रूप बदलने की प्रथा सामान्य हो गई थी। गोत्रवाची नामों में हेर-फेर या काट-छाँट असंभव थी। वे संस्कृत भाषा के नाम थे और जड़ाऊ नगीने की तरह उनका स्वरूप स्थिर था। लेकिन पाली बौद्ध साहित्य के समय में नामों पर प्राकृत भाषा का प्रभाव पूरी तरह पड़ गया था और प्यार या दुलार के नाम छोटे होने लगे थे। पाणिनि की अष्टाध्यायी में इस प्रवृत्ति का पूरा चित्रण पाया जाता है। दुलार के नाम में कभी-कभी प्रत्यय जोड़कर एक स्वर बढ़ाया भी जा सकता था, जैसे देवदत्त की जगह देवदत्तक और यज्ञदत्त की जगह यज्ञदत्तक (५।३।७८)। किंतु सामान्यतः नामों को छोटा करने का नियम ही अधिक प्रचलित था। इसी कारण छोटे रूप में तराशे हुए नाम के देवक, देविय, देविल आदि एक से अधिक रूप काम में आते थे।

पाणिनिकालीन तीसरी विशेषता नक्षत्र-नामों की है। गृह्यसूत्र भी इस प्रथा का समर्थन करते हैं। जिस नक्षत्र में बालक का जन्म हो उस नक्षत्र के नाम पर लड़के का नाम रखा जा सकता था। पाली साहित्य में इसके बहुत उदाहरण मिलते हैं। तिष्य नक्षत्र में जन्म लेने वाले बच्चे को तिष्य और

पुनर्वसु में जन्म लेने वाले बालक को पुनर्वसु नाम दिया जा सकता था (४।३।३४)।[1] नाक्षत्रिक नाम पाणिनियुग की विशेषता थी। संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषदों में नाक्षत्रिक नामों का अस्तित्व नहीं पाया जाता[2]। नक्षत्राश्रयी नामों की भरमार मौर्य-शुंगकालीन ब्राह्मी लेखों में पाई जाती है। मालूम होता है गृह्यसूत्रों के समय में नक्षत्रनामों की ओर लोगों की आस्था बढ़ गई थी। आपस्तंब के अनुसार नक्षत्र-नाम मनुष्य का गुह्य नाम समझा जाता था। गोभिल का मत है कि गुरु अपने शिष्य के लिये, जब वह पहली बार उसके पास आता था, नक्षत्र-नाम चुन देता था जो शिष्य का अभिवादनीय नाम कहलाता था। संभवतः इसी नाम से पुकार कर गुरु शिष्य को अभिवादन के उत्तर में आशीर्वाद देते थे। शांखायन, खादिर, मानव और हिरण्यकेशी गृह्यसूत्रों का मत भी यही है। 'मौद्गल्यायन तिष्य'—इस भारी नाम के स्थान में पुकारने की सुविधा केवल 'तिष्य' नाम में अधिक है, अतएव प्यार से बुलाने आदि में नक्षत्र-नाम का प्रचार ही अधिक संभव था।

नक्षत्र-नामों की ओर जनता का झुकाव क्यों हुआ, इसका उत्तर उस समय की धार्मिक प्रवृत्तियों और विश्वासों में पाया जाता है। साधारण मनुयों का यह विश्वास बढ़ रहा था कि नक्षत्रों के अधिष्ठातृ देवताओं की मानता मानने से शुभ-अशुभ फल की प्राप्ति होती है। समाज में नैमित्तिक और मौहूर्तिक लोगों की बन आई थी। पाली साहित्य में इस तरह की बहुत सी कहानियाँ पाई जाती हैं कि नक्षत्रविद्या और ज्योतिष के जाननेवालों के कहने-सुनने का जनता पर प्रभाव पड़ता था। 'सास्य देवता' प्रकरण में स्वयं पाणिनि ने प्रोष्ठपद नक्षत्र को देवता कहा है (४।२।३५)। नक्षत्रों की शक्ति में जनता का जब विश्वास बढ़ता है तभी तिष्यदत्त, पुष्यदत्त जैसे नाम सूझते हैं और रखे जाते हैं। वस्तुतः पूजन-पाठ, श्रद्धा-भक्ति के द्वारा देवताओं को प्रसन्न करके संतान पाने का विश्वास जब लगों में घर करता है तभी दत्त, रक्षित, गुप्त जैसे नामों के अंतिम पद व्यवहार में आते हैं। पाणिनि के समय में यह धार्मिक परिवर्तन समाज में आ चुका था। इंद्रदत्त, वरुणदत्त, देवदत्त, जैसे नाम उसी अवस्था में संभव हुए। एक ओर तो पुराने वैदिक देवताओं की

१—तिष्यश्च माणवकः पुनर्वसु च माणवकौ तिष्यपुनर्वसवः—भाष्य के अनुसार ये नाम सूत्र १।२।६३, 'तिष्यपुनर्वस्वोर्नक्षत्रद्वन्द्वे बहुवचनस्य द्विवचनं नित्यम्' में अंतर्निहित है।

२—इस प्रकार के केवल दो तीन विरल उदाहरण हैं। जैसे, चित्र गाङ्ग्यायनि (शांखायन आरण्यक ३।१); चित्र गार्ग्यायणि (जैमिनीय ब्राह्मण २।३); आषाढ़ सायवस (जैमिनीय ब्राह्मण, यह शार्कराक्षों के ग्रामणी का नाम था); आषाढ़ि सौश्रोमतेय (शतपथ ६।२।१।३७) जो आषाढ़ और सुश्रोमता का पुत्र था। इन नामों में संभव यह है कि चित्र = विचित्र और आषाढ़ = पलाशदंड हो और दोनों में से कोई भी नक्षत्र-नाम न हो।

भक्ति की ओर जनता का ध्यान था और यज्ञ के अतिरिक्त अन्य उपायों से भी लोग उन्हें प्रसन्न करने का उपचार करने लगे थे ; दूसरी ओर नक्षत्रों के अधिपति अथवा दिशाओं के अधिपति लोकपालों को देवता का पद प्राप्त हो रहा था। पाली साहित्य में 'चातू महाराजिक' (चार लोकपाल देवताओं की) भक्ति का प्रायः उल्लेख आता है। पाणिनि ने भी 'महाराज' को देवता कहा है (४।२।३५)। यह 'महाराज' कुबेर का ही नाम था जो लोकपालों और यक्षों में बड़े समझे जाते थे। संस्कृत साहित्य में कुबेर को इसीलिये 'राज-राज'[1] कहा गया है। बुद्ध के उदय से पहले ही लोक में यक्षों और कुबेरों की मान्यता प्रचलित हो चुकी थी और वह बराबर बढ़ रही थी। बौद्ध धर्म ने यक्ष पूजा के साथ बड़ी भलमनसाहत का समझौता किया और जनता के जमे हुए विश्वासों के साथ धक्का-मुक्की करने के बदले उन्हें अपनाकर उनके कंधों पर अपने लिये आदर का स्थान बना लिया। लोक-जीवन का यह सुंदर पक्ष भरहुत और साँची के स्तूप-तोरणों पर और वेदिका के खंभों पर खुलकर देखने में आता है।

धर्म की छाप नामों पर अवश्य पड़ती है। देवताओं के नाम मनुष्यों के नामों में घुल-मिल जाते हैं और पुरातत्त्व की सामग्री की तरह बचे रह जाते हैं। षष्ठिदत्त नाम गुप्तकाल की मुहरों पर बचा हुआ एक संकेत है जो उस युग में अत्यंत प्रिय षष्ठी देवी की पूजा की सूचना देता है। मणिभद्र और पूर्णभद्र यक्षों को जिस युग में लोग पूजते थे उसी युग में उनके भक्त अपने पुत्रों के नाम भी मणिभद्रगुप्त या मणिभद्रदत्त रखने की बात सोच सकते थे। यद्यपि ईसाई धर्म ने इंगलिस्तान के पुराने धर्मों और विश्वासों को उखाड़ डाला, परंतु फिर भी पुराने देवी-देवताओं और पहाड़-नदी-नालों को पवित्र रखनेवाले छुटभैए यक्ष और जिनों के नाम जो किसी समय जनता में प्रचलित थे, प्राचीन अंग्रेजी नामों में अभी तक बचे पड़े हैं। यही सत्य अन्य जातियों और देशों में भी चरितार्थ होता है। प्राचीन भारतीय मनुष्यनाम और स्थान-नामों की पड़ताल करने से मुंडा, शबर, द्रविड़ आदि जातियों के देवी-देवताओं का कुछ परिचय प्राप्त हो सकेगा।

नक्षत्रों से मनुष्य-नाम बनने का आधार उस नक्षत्र में जन्म पाना है। 'तत्र जातः' (४।३।२५) सूत्र के अनुसार नक्षत्रवाची शब्दों में प्रत्यय जोड़े जाते हैं। प्रायः नक्षत्रवाची शब्दों से मनुष्य नाम बनाने के लिये जोड़े हुए प्रत्यय का लोप हो जाता था। उदाहरण के लिये रोहिणी नक्षत्र में जन्मा हुआ व्यक्ति रोहिण कहलाता था। इसी प्रसंग में निम्नलिखित सूत्र विचारने योग्य है—

१—अंतर्बाष्पश्चिरमनुचरो राजराजस्य दध्यौ। मेघदूत १।३
'राजराज' पर मल्लिनाथ की टीका—राजानो यक्षाः, राज्ञां राजा राजराजा कुबेरः।

श्रविष्ठा फल्गुन्यनुराधा स्वाति तिष्य पुनर्वसु हस्त विशाखाषाढ़ा बहुलाल्लुक् ।
(४।३।३४)

श्रविष्ठा, फल्गुनी, अनुराधा, स्वाति, तिष्य, पुनर्वसु, हस्त, विशाखा, अषाढ़ा, और बहुला (अर्थात् कृत्तिका) इन नक्षत्रों में यदि किसी का जन्म होने के कारण नाम बनाना हो तो प्रत्यय का लुक् समझना चाहिए। श्रविष्ठा नक्षत्र में जिसका जन्म हुआ हो उसका नक्षत्राश्रयी नाम श्रविष्ठ होता था। इसी प्रकार फल्गुन, अनुराध, स्वाति, तिष्य, पुनर्वसु, हस्त, विशाख, अषाढ़ और बहुल–इतने नाम और बनते थे।[1] अभिजित्, अश्वयुज और शतभिषक् भी नक्षत्रों के नाम हैं। पाणिनि के अनुसार इनके 'तत्र जातः' इस अर्थ में दो दो रूप बनते थे - प्रत्यय का लोप करके और प्रत्यय के साथ; जैसे अभिजित् आभिजित, अश्वयुक् आश्वयुज, शतभिषक्-शातभिषज।

जातकों में नक्षत्र-नाम प्रायः आते हैं; जैसे विसाखा, पुनब्बसु, चित्ता, पोट्ठपाद, फग्गुनी, फुस्स, तिस्स, उपतिस्स। साँची के लेखों में कुछ नक्षत्र नाम इस प्रकार हैं—

फगुन, फगुला, तिसक (=तिष्यक), उपसिध्य (=उपसिद्धय), सिध्या (सिद्धया), पुस (=पुष्यदत्त), पुसक, पुसनी, बहुल, सातिल (=स्वातिगुप्त या स्वातिदत्त), असाढ़, मूल पोठक, (प्रोष्ठपद दत्त), पोठदेवा (=प्रोष्ठदेवी), अनुराधा, सोना (=श्रवणा)।

सातिल नाम का विश्लेषण करने से ज्ञात होता है कि पहले नक्षत्र के आश्रय से स्वातिदत्त या स्वातिगुप्त नाम बनाया गया। फिर उत्तरपद का लोप किया गया और उस लोप का सूचक 'ल' प्रत्यय जोड़ा गया। तब रूप बना स्वातिल जिसका प्राकृत रूप हुआ सातिल। ऐसे ही पोठक नाम (प्रोष्ठपद दत्त–प्रोष्ठक–पोठक) को भी समझना चाहिए।

मनुष्य-नाम संबंधी निम्नलिखित विविध सामग्री अष्टाध्यायी से प्राप्त होती है—

(१) वे नाम जिनमें 'विश्व' पूर्वपद हो (बहुव्रीहौ विश्वं संज्ञायाम् ६।२।१०६)। काशिका में इसके उदाहरण हैं विश्वदेव, विश्वयशस्। पाणिनि से पहले के साहित्य में विश्वामित्र, विश्वमनस् (जैमिनीय ब्राह्मण) और विश्वसामन्

१—को नामासीत्युक्तो देवताश्रयं नक्षत्राश्रयं वाभिवादनीयं नाम ब्रूयादसावस्मीति (द्राह्यायण गृह्यसूत्र २।४।१२); अर्थात् 'क्या नाम है' यह प्रश्न पूछने पर शिष्य गुरु के सामने अपना अभिवादनीय नाम बोलकर बताए, जो देवता या नक्षत्र के आधार पर रखा गया हो।

नाम मिलते हैं। जातकों में विश्वादि नामों की संख्या कुछ अधिक है; जैसे—विस्सकम्म, विस्ससेन (काशी के राजा का नाम जा० २।३४५), वेस्सभू बुद्ध, वेस्सामित्र (एक प्राचीन राजा, पौराणिक राजा, ६।२५१) और वेस्संतर।

(२) वे नाम जिनमें उत्तरपद उदर, अश्व और इषु हों (उदराश्वेषेषु, १६।२।१०७)। काशिका में इसके उदाहरण हैं वृकोदर, हर्यश्व, महेषु—जो कि प्राक्पाणिनीय जान पड़ते हैं। उदरांत नाम का केवल एक उदाहरण जातक में मिलता है—बहुशोदरी देवधिता (जा० ६।८३)।

(३) वे नाम जिनके अंत में 'कर्ण' हो (६।२।११३)। इसके भी बहुत ही थोड़े उदाहरण हैं; जैसे, शिवादिगण में 'मयूर कर्ण' (४।१।११२)। संभवतः कर्णांत नामों की प्रथा पाणिनिकालीन ही थी।

(४) वे नाम जिनके अंत में कंठ, पृष्ठ, ग्रीवा, जंघा शब्द हों (६।२।११४)। वैदिक साहित्य में इस प्रकार के नाम बहुत ही कम हैं। शितिपृष्ठ और शितिकंठ, दो नाम वहाँ मिलते हैं। पाणिनि ने उपकादिगण (२।४।६९) में कलशीकंठ, दामकंठ और खारीजंघ नाम गिनाए हैं। काशिका में उद्धृत तालजंघ पुराना नाम था। मणिकंठ नाम जातकों में आता है। (जा० २।२८२)।

(५) वे नाम जिनके अंत में 'शृंग' शब्द हो (६।२।११५)। इसका केवल एक ही उदाहरण बौद्ध और संस्कृत साहित्य में पाया जाता है, अर्थात् ऋष्यशृंग।

(६) वे नाम जिनके आदि में (पूर्वपद) 'मनसा' हो (६।३।४)। काशिका में इसके उदाहरण मनसादत्त और मनसागुप्त हैं। साहित्य में इन नामों का प्रयोग देखने में नहीं आता। अवश्य ही ये नाम ठेठ पाणिनिकालीन हैं। 'मनसा' पद तृतीया का एकवचन रूप है। मन से जो बालक देवता को अर्पित कर दिया जाता था, अर्थात् जिसे देवता के निमित्त 'मंस' देते थे, वह मनसादत्त कहलाता था। नवजात शिशु को मर्तजाई (जिसके बच्चे होकर मर जाते हैं) माता देवता का करके मान लेती थी ; अर्थात् बच्चे और मृत्यु के बीच में देवता की साक्षी समझी जाती थी। इसी से वह बच्चा जी जाता था, ऐसा लोगों का विश्वास था।

(७) वे नाम जिनके अंत में 'मित्र' हो (६।२।१६५)। वैदिक साहित्य में मित्रांत नाम बहुत थोड़े हैं। पर पाणिनियुग और बाद के साहित्य में उनकी बहुतायत है; जैसे सर्वमित्र (जा० ५।१३) जितमित्र (जा० १।३७), चंदमित्र (जा० १।४१)। ब्राह्मी शिलालेखों में मित्रांत नामों की बाढ़ आ जाती है। साँची में बलमित्र (ज्ञात होता है कि बलराम की मान्यता या पूजा इस नाम के पीछे निहित है ; ई० पू० द्वितीय शताब्दी में मथुरा के आसपास संकर्षण और वासुदेव की पूजा चालू

हो गई थी और बलराम की मूर्तियाँ भी बनने लगी थीं), नागमित्रा (नाम देवता से संबंधित स्त्री नाम), उत्तरमित्रा (उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र से संबंधित), वसुमित्रा, ऋषिमित्रा (इसिमिता), जितमिता और मित्रा[1] तथा भरहुत में संघमित्र और गर्गमित्र नाम भी पाए जाते हैं (ल्यूडर्स सूची ४०३, ४०७)। पंचाल राजाओं के सिक्कों पर (ई० पूर्व प्रथम शती) ब्राह्मण देवताओं की मूर्तियाँ मिली हैं। उस समय उन देवताओं की भक्ति और पूजा अच्छी तरह फैल चुकी थी। इसी कारण उनसे निस्सृत नाम पंचाल राजाओं की सूची में मिलते हैं ; जैसे बृहस्पतिमित्र, अग्निमित्र, भानुमित्र, भूमिमित्र, ध्रुवमित्र, फल्गुनीमित्र, सूर्यमित्र, विष्णुमित्र, प्रजापतिमित्र।

(८) वे नाम जिनके अंत में 'अजिन' हो (६।२।१६५)। काशिका के अनुसार वृकाजिन, कुलाजिन, कृष्णाजिन। जातकों में दो उदाहरण मिलते हैं— मिगाजिन (६।५८) और कण्हाजिना (वेस्संतर की पुत्री, ६।४८७)। पाणिनि ने भी उपकादिगण (२।४।६९) में कृष्णाजिन का उल्लेख किया है। साहित्य में अजिनांत नामों का टोटा है। पाणिनि के अनुसार अजिनांत नाम में उत्तरपद के लोप का विधान है (अजिनान्तस्योत्तरपदलोपश्च ५।३।८२)। जैसे, व्याघ्राजिन में 'अजिन' का लोप होने के बाद व्याघ्रक हो जाता था।

(९) वे मनुष्य नाम जो जातिवाचक शब्दों से लिए गए हों (जातिनाम्नः कन् ५।३।८१), जैसे व्याघ्रक, सिंहक। दूसरे प्रत्यय जोड़ने से इन्हीं के रूप व्याघ्रिल, सिंहिल भी होते थे। पाणिनि के समय में व्याघ्र, सिंह, ऋक्ष, वराह, कुंजर आदि पशु मनुष्य के बलवीर्यादि के उपमान मान लिए गए थे (उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे, २।१।५६; पुरुषोऽयं व्याघ्र इव पुरुषव्याघ्रः पुरुषसिंहः)। सिंहों का पैदल शिकार करना, हाथ में तलवार लेकर व्याघ्र या सिंह के मुकाबले में अकेले डट जाना, इस प्रकार के विनोद और आखेटों का समाज में काफी प्रचार हो चुका था। 'सिंह' शब्द का भारतीय नामों पर बहुत प्रभाव पड़ा है। वस्तुतः इस शब्द ने भारतीय नामों के उत्तरपद रूप में जो स्थान प्राप्त किया है वह अन्य किसी शब्द को नहीं मिला। आज भी राजस्थान और पंजाब के प्रायः शत-प्रतिशत नाम सिंहांत सुने जाते हैं। शुंगकालीन ब्राह्मी लेखों में 'सिंह' से निकले हुए नाम इस प्रकार मिलते हैं—सीह, सिहा, सीहा, सिहदत, सीहदेव, सिहक, सिहमित्र, सिहनादिक, सिहरखित, सीहरखित। कारला की गुफा में एक यवन (यूनानी) का नाम सिहधय (= सिंहध्वज) मिलता है। गुप्तकाल में सिंह शब्द का नाम के साथ संबंध शिथिल पड़ गया था। किंतु मध्यकाल में सिंहाश्रित नामों की प्रथा ही चल गई थी। सिंह से सीहाक, सीहड (= सिंहभट्ट), ये अपभ्रंशकालीन नाम हैं।

१—बूहलर, साँची लेखों में व्यक्तिवाची नाम, एपिग्राफिया इंडिका २।४०३ ; भरहुत के नामों के लिये द्रष्टव्य ल्यूडर्स कृत लेख-सूची, ए० इं० भाग १०, परिशिष्ट।

लेकिन 'सिंह' शब्द का पूरा प्रचार और महत्त्व तो उत्तरपद के रूप में संभवतः मुसलिम काल में हुआ।

(१०) वे नाम जिनके अंत में 'सेन' शब्द हो (एति संज्ञायामगात् ८।३।९९)। सेनांत नामों का विशेष उल्लेख सूत्र ४।१।१५२ (सेनांत लक्षण कारिभ्यश्च) में हुआ है। काशिका में इसके उदाहरण करिषेण, हरिषेण मिलते हैं। वैदिक काल में सेनांत नाम के उदाहरण यज्ञसेन (तैत्तिरीय सं० ५।३।८।१; काठक सं० २१।४) और ऋष्टिषेण (ऋष्टि या बरछी नामक आयुध की सेनावाला, निरुक्त २।११) मिलते हैं।[१] पतंजलि के अनुसार जातसेन भी एक ऋषि का नाम था (जातसेनो नामर्षिस्तस्मादुभयं प्राप्नोति, ४।१।११४)। क्षत्रियों के सेनांत नामों में पतंजलि ने उग्रसेन अंधक, विष्वक्सेन वृष्णि और भीमसेन कुरु का उल्लेख किया है (४।१।११४)। पाणिनि के युग में सेनांत नाम काफी चल गए थे। जातकों में मिलनेवाले नाम सोत्थिसेन (=स्वस्तिसेन, जा० ५।८८), सुरसेन (=शूरसेन, काशिराज, जा० ४।४५८), उग्गसेन (जा० २।४४९), अत्थिसेन (=अस्तिसेन, जा० ३।३५२), नंदिसेन (जा० ३।३), जयसेन (जा० निदान कथा), चंद्रसेन (जा० ४।१५७), और भद्दसेन (जा० ६।१३४) हैं। साँची में धमसेन, बरसेन, भरहुत में नागसेन, महेंद्रसेन और पभोसा में अषाढ़सेन नाम मिले हैं।

पाणिनि सूत्र ८।३।१०० (नक्षत्राद्वा) से ज्ञात होता है कि नक्षत्रवाची शब्दों के साथ 'सेन' शब्द लगाकर भी मनुष्य नाम बनाए जाते थे। इसके उदाहरण रोहिणिसेन, भरणिसेन हैं। इसी सूत्र का अनिवार्य उदाहरण शतभिषक् सेन है जो मनुष्य नाम के रूप में साहित्य में नहीं मिला।

(११) वे नाम जिनके अंत में 'दत्त' और 'श्रुत' पद इस तरह प्रयुक्त हों कि उनसे आशीर्वाद प्रकट हो (कारकाद्दत्तश्रुतयोरेवाशिषि, ६।२।१४८)। जैसे देवदत्त (देवा एनं देयासुः, अर्थात् जिसके जन्म के समय मातापिता के मन में ऐसी भावना हो कि देवता इसे दें'), विष्णुश्रुत (विष्णुरेनं श्रूयात्—अर्थात् जिसके जन्म के समय ऐसी भावना हो कि 'विष्णु इसे सुनें')। ये दोनों नाम कृदंत उत्तरपद वाले हैं। वैदिक या बौद्ध साहित्य में ऐसे नाम शायद ही कोई हों जिनमें 'श्रुत' उत्तरपद हो। 'दत्त' से समाप्त होनेवाले वैदिक नामों के उदाहरण ये हैं—ब्रह्मदत्त (जो कोसल के राजा थे, जिनका नाम प्रसेनजित भी था, जैमिनीय ब्राह्मण), पुनर्दत्त और सूर्यदत्त (शांखायन आ० ८।८)। बौद्ध साहित्य में इन नामों की परिपाटी चल पड़ी थी; जैसे देवदत्त, भूरिदत्त (जा० ६।१६७), मतिदत्त (जा० ४।३४२), यञ्ञदत्त ब्राह्मणकुमार (जा० ४।३०), सोमदत्त (जा० ६।१७)।

१—कौषीतकी ब्रा० ७।४ में यज्ञसेन के पुत्र याज्ञसेन का उल्लेख है। जैमिनीय ब्राह्मण में सुत्वा याज्ञसेन का उल्लेख है।

साँची स्तूप के अभिलेख जिस समय खुदवाए गए थे उस समय तो देवों के आशीर्वाद वाले नामों की भरमार हो गई थी; जैसे अग्गिदत्त, वायुदत्त, यमदत्त, इददत्त (=इन्द्रदत्त), इसिदत्त (=ऋषिदत्त), बहदत्त (=ब्रह्मदत्त), उपेददत्त या उपिददत्त (=उपेन्द्रदत्त), उत्तरदत्त, वैश्रमणदत्त, पुष्यदत्त, गंगदत्त, धर्मदत्त, नागदत्त आदि। कात्यायन ने एक वार्तिक में मरुदत्त नाम का उल्लेख किया है जिसका छोटा रूप मरुत्त होता था (१।४।३८)। पतंजलि के समय में देवदत्त, यज्ञदत्त ब्राह्मणों के सामान्य नाम हो गए थे (१।१।७३), जिनका छोटा रूप केवल 'दत्त' होता था (देवदत्तो दत्तः सत्यभामा भामेति, भाष्य १।१।४५)।

(१२) पाणिनि ने एक सूत्र में विशिष्ट नामों का उल्लेख किया है— शेवल-सुपरि-विशाल वरुणार्यमादीनां तृतीयात् (५।३।८४)। इस सूत्र का तात्पर्य यह है कि शेवल, सुपरि, विशाल, वरुण और अर्यमा इन पाँच शब्दों से जो नाम बनते हैं उनमें तीसरे स्वर के बाद सब अक्षरों का लोप हो जाना चाहिए और लोप के बाद जो रूप बचे, उसमें इक, इय, इल - ये तीन प्रत्यय जोड़ दिए जायँ। जैसे, शेवलदत्त या शेवलेंद्रदत्त में तीसरे स्वर के बाद सब अक्षरों का लोप करके प्रयत्न जोड़ने से शेवलिक, शेवलिय और शेवलिल - ये तीन नाम बनते हैं। सुपर्याशीर्दत्त नाम का छोटा रूप सुपरिक, सुपरिय या सुपरिल होता था। विशालदत्त को दुलार के लिये (अनुकंपार्थ) विशालिक, विशालिय, विशालिल पुकारते थे। ये नाम कुछ बेतुके से हैं, पर लोक में चालू रहे होंगे। शेवलदत्त का कुछ अर्थ भी स्पष्ट नहीं होता। जान पड़ता है कि ये किन्हीं यक्ष या छुटभैए देवताओं के नाम थे जिनकी मानता मानने से लोग पुत्र लाभ की आशा करते थे। 'विशाल' निश्चयपूर्वक एक यक्ष का नाम था जो सभापर्व में उन यक्षों की सूची में है जो कुबेर की सभा में उपस्थित थे (सभापर्व १०।१६)। यह इस बात का संकेत देता है कि संभवतः शेवल और सुपरि भी यक्षों के नाम थे। 'शेव' प्राचीन वैदिक शब्द है जिसका अर्थ था धन या समृद्धि। जो धन दे वह शेवल। यक्ष के लिये शेवल धनद की तरह सार्थक नाम हुआ। फिर शेवलदत्त के अतिरिक्त काशिका ने शेवलेंद्रदत्त नाम का भी उदाहरण दिया है। शेवलदत्त वह बालक हुआ जिसके जन्म के लिये शेवल का आशीर्वाद प्राप्त किया गया हो। शेवल का स्वामी शेवलेंद्र हुआ, अर्थात् यक्षराज कुबेर या वैश्रवण की संज्ञा शेवलेंद्र होनी चाहिए थी। शेवल यक्ष की भक्ति करने वाले गृहस्थ लोग कुबेर के आशीर्वाद से जन्मे हुए अपने बालक के लिये ऐसा नाम चुनते रहे होंगे। शेवलेंद्र या कुबेर भी एक यक्ष की संज्ञा थी। भरहुत स्तूप के खंभे पर कुबेर यक्ष की मूर्ति (कुपिरो यखो) पाई गई है। यदि शेवलेंद्रदत्त से 'शेवल और इंद्र के आशीर्वाद से उत्पन्न', यह तात्पर्य लिया जाय तो भी शेवल एक देवता का नाम ठहरता है। बौद्धों के आटानाटीय सुत्त (दीघनिकाय, ३२) में यक्खराजों की सूची में इंद्र, सोम, वरुण, प्रजापति, मणिभद्द, आलावक आदि नामों में इंद्र और वरुण भी यक्ष हैं। वरुण का नाम पाणिनि के इसी सूत्र में आया है। ऐसा ज्ञात होता है

कि यक्ष के रूप में वरुण की मान्यता पाणिनि-काल में होती थी। अर्यमा का बच्चों के जन्म से घनिष्ठ संबंध था, ऐसा अथर्ववेद के 'नारी सुखप्रसव' सूक्त के प्रथम मंत्र (अथर्व० १।११।१) से विदित होता है, जिसमें कहा है कि प्रसव के समय अर्यमा चतुर होता की तरह बच्चे के झटपट जन्म लेने के लिये 'वषट्' का बोल बोल दे। इससे अर्यमादत्त नाम की बात समझ में आ सकती है।

पाणिनि के इस सूत्र (शेवल सुपरि विशाल वरुणार्यमादीनां तृतीयात् ५।३।८४) पर कात्यायन का एक वार्तिक है—वरुणादीनां तृतीयात्सचाकृतसन्धीनाम्; अर्थात् वरुण आदि पूर्वपदवाले नामों में जब तीसरे स्वर के बादवाले स्वरों का लोप किया जाय, तो वरुणादि शब्दों का वह स्वरूप लेना चाहिए जो उत्तरपद के साथ होने वाली किसी स्वर संधि से पहले का हो। यहाँ एक छोटा सा प्रश्न उठता है कि कात्यायन ने 'वरुणादीनां' क्यों कहा? 'शेवलादीनां' कहते तो ठीक होता, क्योंकि पाणिनि का सूत्र शेवल से आरंभ होता है। हमारा अनुमान है कि पाणिनि से पूर्व के किसी व्याकरण में 'वरुणार्यमादीनां' सूत्र ही पढ़ा गया था और यह वार्तिक उसी काल का है। पाणिनि ने किसी पूर्वाचार्य का सूत्र ग्रहण करके अपनी ओर से शेवल, सुपरि और विशाल, इन तीन नए नामों का पैवंद उस सूत्र में लगाया। वरुण और अर्यमा पहले के माने हुए देवता थे, आरंभ में बच्चों के नाम भी उन्हीं के नाम पर रखे जाते रहे होंगे। पीछे से छोटे-छोटे देवी-देवताओं की बाढ़ आई और लोक में उनकी मान्यता फैली। तभी, विशेषकर बुद्ध के और गृह्यसूत्रों के युग में इंद्र, वरुण, सोम, प्रजापति जैसे वैदिक देवताओं को भी यक्ष बना डाला गया और नये-नये यक्ष तो पुजने ही लगे। विशाल, शेवल और सुपरि, तीन नाम लोक में प्रचलित मनुष्य नामों से लेकर पाणिनि ने पूर्व सूत्र में बढ़ाकर अपना सूत्र बनाया, पर कात्यायन ने वही पहले का वार्तिक रहने दिया। बौद्ध साहित्य में सीवल और सीवली दो नाम आए हैं। संभव है उनका संबंध भी शेवल से ही हो।

सुपरि के आशीर्वाद से जो पुत्र उत्पन्न हुआ उसके लिये सुपर्याशीर्दत्त (सुपरि + आशीः + दत्त) नाम बनता था। यद्यपि नाम कुछ टेढ़ा है, पर विशाल यक्ष की तरह सुपरि भी कोई विशेष देवता या यक्ष अवश्य रहा होगा, जिसका पद अपने वर्ग में इतना ऊँचा था कि भक्त लोग उसके पूजा-पाठ से पुत्र की कामना करते थे। सुपर्याशीर्दत्त नाम में आशीर्वाद पद का लोप करके सुपरिक, सुपरिय, सुपरिल—ये दुलार के तीन नाम बनाए जाते थे। शेवल, सुपरि, विशाल और अर्यमा नामों के उदाहरण साहित्य में बहुत ही कम हैं या नहीं है। भरहुत में एक बार 'अयम' नाम आया है जो अवश्य अर्यमा का ही रूप है (ल्यूडर्स सूची ८१३)।

(१३) वे नाम या विशेषण जो गोशाला, खरशाला और वत्सशाला में जन्म लेने के कारण बने, जैसे गोशाला से गोशाल, खरशाला से खरशाल (४।३।३५) और वत्सशाला से वात्सशाल या वत्सशाल (४।३।३६)। इनमें

मंखलि गोशाल नाम का उदाहरण प्रसिद्ध है। मंखलि ही संभवतः पाणिनि का मस्करी है जिसका उल्लेख सूत्र ६।१।१५४ (मस्कर मस्करिणौ वेणु परिव्राजकयोः) में हुआ है। मस्करी नाम की व्युत्पत्ति बताते हुए पतंजलि ने लिखा है कि मस्करी का मत कर्मवाद का निराकरण था (मा कर्म कार्षीः शान्तिर्वः श्रेयसी)। मंखलि गोशाल भी इसी मत के प्रवर्तक थे, दैववाद या भाग्य ही उनकी शिक्षा का सार था। महाभारत शांति पर्व में मंकि ऋषि की एक कहानी है जिसमें दैव और पुरुषार्थ की विवेचना करते हुए मंकि ने अंत में यह मत प्रकट किया कि इस लोक में दैव ही सब कुछ है, पुरुषार्थ में सार नहीं (शुद्धं हि दैवमेवेदं हठे नैवास्ति पौरुषम्, शांति-पर्व, अ० १७७)। भरहुत के एक वेदिका-लेख में गोशाल नाम आया है जो लोकप्रचलित नाम रहा होगा (ल्यूडर्स कृत सूची ८५३)।

(१४) वे नाम जिनके अंत में 'पुत्र' हो और आदि में पुरुषवाची शब्द हो (पुत्रः पुम्भ्यः, ६।२।१३२); जैसे कौनटिपुत्र, दामकपुत्र, माहिषकपुत्र। पिता का नाम गौरवसूचक समझा जाता है, इसलिये इनमें पूर्वपद का पहला स्वर उदात्त बोला जाता था। इससे उलटी रीति पूर्वपद में माता का नाम रखने की थी; जैसे वात्सी-पुत्र, गार्गीपुत्र। यहाँ उदात्त उच्चारण नाम के अंतिम स्वर पर पड़ता था। पाणिनि की राय में गोत्रवाची स्त्री-नाम से बेटे का नाम पड़ना हेठी की बात थी, क्योंकि जब पिता में गड़बड़ी होगी और उसका ठीक नाम न मालूम होगा तभी माँ के नाम से काम चलाना पड़ेगा (गोत्रस्त्रियाः कुत्सने ण च, ४।१।१४७); इसपर काशिका की व्याख्या है—पितुरसंविज्ञाने मात्रा व्यपदेशोऽपत्यस्य कुत्सा)। यह तो हुई पाणिनिकाल की स्थिति, पर शतपथ ब्राह्मण के आचार्य वंश की सूची में माता के नाम से प्रसिद्ध ऋषियों के नामों की भरमार है। सांजीवीपुत्र से आरंभ करके बीसों नाम उस सूची में हैं (बृ० उ० ६।५७, अंत की वंश-सूची)। शतपथ ब्राह्मण या उपनिषद् काल में ऐसा नाम रखना प्रतिष्ठा की बात थी। पाणिनि के युग में उसमें निंदा का भाव आ गया था। पर पीछे से शुंग काल में हम फिर सातवाहन-वंशी राजाओं के नामों में बड़े आदर के साथ माता का नाम जुड़ा हुआ पाते हैं। पतंजलि ने जो माता के नाम से पुत्र के नाम को प्रतिष्ठासूचक बताया है वह उनके युग की प्रथा के अनुकूल ही है, जैसे गार्गीमात, वात्सीमात (मातॄणां मातच पुत्रार्थमर्हते, ७।३।१८७)।

पाणिनि में लड़कियों का नाम नदी के नाम पर रखने की प्रथा का उल्लेख मिलता है। माता का नाम यदि नदी के नाम पर है, जैसे यमुना, वितस्ता, तो पुत्र का नाम अण् प्रत्यय जोड़कर बनेगा; जैसे यामुन, वैतस्त (अवृद्धाभ्यो नदी मानुषीभ्यस्तन्नामिकाभ्यः, ४।१।११३)। गृह्यसूत्रों के समय लड़कियों के लिये नदी-नामों का रिवाज सम्मत रहा होगा, पर पीछे मनुस्मृति में इसे अच्छा नहीं समझा

गया। यही बात नक्षत्रों पर रखे जानेवाले नामों पर भी घटती है, क्योंकि मनु ने यहाँ तक लिखा है कि नक्षत्र, नदी और पेड़ के नाम पर जिस लड़का का नाम हो उससे ब्याह न करे। पर गृह्यसूत्रों और पाणिनि के काल में तो नक्षत्र-नाम बहुत ही प्रचलित थे। पीछे शुंग काल में मानो नक्षत्र-नामों ने दूसरी तरह के नामों को छा लिया था। इसीलिये संभवतः स्मृतिकाल में उस तरह के निषेध की बात सुझाई गई।

ऊपर के सूत्र में पाणिनि ने स्त्रियों के लिये एक दूसरे प्रकार के नाम भी कहे हैं। इन मानुषी नामों के उदाहरण काशिका में 'चिन्तिता', 'शिक्षिता' हैं। वराह गृह्यसूत्र में, जो पाणिनिकाल के बाद की लोकसम्मति को प्रकट करता जान पड़ता है, ऐसे नाम अच्छे नहीं समझे गए जो नदी से बने हों या जिनमें देवता के नाम के साथ 'दत्त', 'रक्षित' पद जोड़े गए हों (श्री करो, बच्चे का नामकरण इंडियन हिस्टारिकल क्वार्टर्ली, १९३८, पृ० २३३)।

(१५) नामों को छोटा करने के लिये जोड़े जानेवाले प्रत्यय इस प्रकार थे-

(अ) इक—पाणिनि के अनुसार ठच् प्रत्यय था जिसके स्थान में इक-आदेश होता है (सूत्र ५।३।७८)। देवदत्त को छोटा करके 'देव' बना, फिर उसमें लुप्त उत्तरपद की जगह भरने के लिये इक प्रत्यय जोड़ने से 'देविक' दुलार का नाम बनता था। ऐसे ही यज्ञदत्त से यज्ञिक। साँची में प्राप्त 'छडिक' नाम का मूल होगा सं० षडिक, मूल षडंगुलिदत्त, जिससे लोक में 'छंगा' बनता है (ल्यू० सूची ३८०, काशिका ५।३।८३), और भरहुत में प्राप्त यसिक का यशोदत्त (ल्यू० सूची ७५७)।

(आ) इय—पाणिनि के अनुसार घन् प्रत्यय था (५।३।७९) जिसकी जगह इय जोड़ा जाता था। छोटा करने के नियम वे ही थे। इसके अनुसार देविय, यज्ञिय नाम सार्थक हुए। जातक में अन्य नाम हैं गिरिय (जा० ३।३२२), चंदिय (चंदकुमार, ६।१३७), नंदिय (जा० २।१९९; इसी मूल का दूसरा रूप नंदिक, जा० २।२००, और तीसरा रूप नंदक भी मिलता है), सभिय (जा० ६।३२९, सभाकुमार या सभादत्त; सभा से तात्पर्य देवसभा से था)। साँची, भरहुत में इस प्रत्यय के नाम प्रायः नहीं हैं। संभवतः यह मगध देश की प्रथा थी।

(इ) इल—यह प्रत्यय भी अनुकंपार्थ या प्यार के नाम में जोड़ा जाता था (५।३।७९, घनिलचौ)। देवदत्त और यज्ञदत्त से क्रमशः देविल और यज्ञिल बनते हैं। जातकों में गुत्तिल (२।२४८) और मखिल (मखदेव, निदान कथा, पृ० ४१) नाम हैं।

'इल' वाले नाम साँची में इस प्रकार हैं—अगिल (अग्निदत्त), सातिल (स्वातिदत्त), नागिल (नागदत्त), यखिल (यक्षदत्त), बुधिल (बुधदत्त)। भरहुत में यखिल (ल्यू० ८३६), महिल (ल्यू० ७६६) और घटिल (घटदत्त या घटकुमार, ल्यू ८६०) हैं।

वे नाम जिनके आदि में 'उप' आता है, विशेष नियम (प्राचामुपादेरडज् वुचौ च, ५।३।८०) के अधीन हैं। उदाहरण के लिये उपेंद्रदत्त नाम काशिका ने दिया है। भारतवर्ष के पूरबी भाग के आचार्यों का मत था कि ऐसे नामों से प्यार का नाम बनाने के लिये 'अड' और 'अक' प्रत्यय जोड़े जायँ। उपेंद्र विष्णु की संज्ञा है। उपेंद्रदत्त में 'उप' अलग करके उप + इंद्रदत्त + अड रूप बना। छोटा करने के लिये बीच के इंद्रदत्त पद का लोप करने पर 'उपड' नाम बचता था। इसी तरह 'अक' प्रत्यय लगाकर 'उपक'। ऐसे नाम बिहार इत्यादि की ओर विशेष प्रचलित रहे होंगे। पहले के तीन प्रत्यय लगाने से उपिक, उपिय, उपिल और लोप न करने से उपेंद्रदत्तक, इस प्रकार एक नाम छः प्रकार से पुकारा जा सकता था। संभव है बौद्ध साहित्य का उपालि नाम भी उपेंद्रदत्त का ही छोटा रूप हो। आश्चर्य है कि साँची के लेखों में उपक इत्यादि छोटे रूपों की जगह उपेददत्त, उपिददत्त, ओपेददत्त, ये बड़े रूप मिलते हैं। पाणिनि में उपक गोत्र-नाम भी है (उपकादिभ्यो गोत्रे २।४।६९)। 'उप' वाले दूसरे नाम उपकंस (जातक ४।७९), उपकंचन (जा० ४।३०५), उपजोतिय (जा० ४।३८२), उपगु (जै० ब्रा०), उपजीव (जै० ब्रा०) मिलते हैं।

(ई) 'क' प्रत्यय नाम के आगे दो अर्थों में जोड़ा जाता था—(१) निंदा के लिये, जैसे शूद्रक, पूर्णक, और (२) आशीर्वाद के अर्थ में, जैसे नंदक (नन्दतात् नन्दकः), जीवक (जीवतात् जीवकः, ३।१।१५०)।

पाणिनि के बाद नामों को छोटा करने की प्रवृत्ति ने और जोर पकड़ा। कुछ नए प्रत्यय और नए नियम बन गए, जिनमें चार बातें मुख्य थीं—

(१) नाम के पहले चार अक्षरों को रखकर बाद के अंश का लोप करना; जैसे बृहस्पतिदत्त से बृहस्पतिक, प्रजापतिदत्त से प्रजापतिक।

(२) इक की जगह क प्रत्यय जोड़कर नाम छोटा करना; जैसे देवदत्त से देवक। क प्रत्यय वाले नामों के उदाहरण जातकों में भी हैं, जैसे पहक (प्रभाकर, १।४०), सोनक (सोननंद ५।२४७), सच्चक (सत्ययज्ञ, ६।४७८)। साँची, भरहुत में तो ऐसे नामों की भरमार है—बलक (बलदेव, बलराम, बलमित्र), पुसक (पुष्यदत्त) धमक (धर्मगुप्त, धर्मदत्त) आदि।

(३) इल की जगह ल प्रत्यय, केवल उकारांत नामों के बाद; जैसे भानुदत्त + इल की जगह भानुल, वसुदत्त+इल की जगह वसुल। राहुल और बंधुल (जा० ४।१४८) इस प्रवृत्ति के प्राचीन उदाहरण हैं।

(४) चौथा सबसे महत्त्वपूर्ण परिवर्तन यह हुआ कि प्यार का नाम बनाने के लिये उत्तरपद की तरह पूर्वपद का भी लोप किया जाने लगा, जैसे देवदत्त से दत्तक और यज्ञदत्त से भी दत्तक।

(५) किसी भी प्रत्यय को जोड़े बिना बारी बारी से पूर्वपद या उत्तरपद का लोप करके अनुकंपार्थ या दुलार का नाम बनाना एक नई विधि थी। जैसे, देवदत्त से केवल देव या केवल दत्त भी हो सकता था।

इन सब नियमों पर यदि एक साथ विचार करें तो देवदत्त नाम के नीचे लिखे ग्यारह रूप बन जाते हैं—

देवदत्तक, देवक, देविय, देविल (पाणिनि के अनुसार), देवक दत्तिक, दत्तिल, दत्तिय, दत्तक, देव, दत्त (पिछले परिवर्तनों के अनुसार)। इस प्रकार हम देखते हैं कि नामों को छोटा करने की प्रवृत्ति में सब तरह की छूट दे दी गई थी। वैदिक काल में यह प्रथा नहीं थी, अथवा उसका साहित्यिक प्रमाण नहीं पाया जाता। पाणिनि के समय में वह विकसित हो चुकी थी। पतंजलि के समय में वह अपने पूर्ण विकास को पहुँच गई। इसी तरह नक्षत्र-आश्रित नाम भी पाणिनियुग की अपनी विशेषता थी। गृह्यसूत्र और बौद्ध साहित्य उसका समर्थन करते हैं। तीसरी विशेषता नामों को संक्षिप्त करने की थी। यह अंतिम बात तो भारतीय नामों के साथ सदा के लिये जुड़ गई। कालांतर में भी प्यार का नाम बनाने के लिये संक्षेप विधि से काम लिया जाता रहा। मध्य काल में इसका बड़ा प्रचलन था। आज भी गाँवों के अधिकांश नाम भाषा की दृष्टि से अपभ्रंश का चोला पहने हुए और संक्षेप के नियमों की दृष्टि से पाणिनि-पतंजलि का अनुसरण करते हुए पाए जायँगे।

अध्याय ४

आर्थिक दशा

परिच्छेद १—कृषि

वृत्ति—वार्ताशास्त्र का सम्बन्ध कृषि, वाणिज्य, पशुपाल्य आदि मनुष्यों की जीविका के साधन या वृत्तियों से है। जनपदों में फैले हुए आर्थिक जीवन के इस तानेबाने के लिये जानपदी वृत्ति यह सुन्दर शब्द प्रचलित था (४।१।४२)। इस अर्थ में जानपदी वृत्ति का उल्लेख पाणिनि से पहले यास्क में आता है—'जानपदीषु विद्यातः पुरुषो भवति', अर्थात् जनपद सम्बन्धी वृत्तियों या शिल्पों में कुशलता प्राप्त किया हुआ पुरुष विशेष समझा जाता है, निरुक्त, १।१६)। यह ध्यान देने योग्य है कि यास्क ने जानपदी शब्द को विशेष्य मान कर उसका प्रयोग किया है।

कृषि—खेती के लिये सूत्रों में कृषि शब्द है। मूल में कृषि शब्द का अर्थ केवल हल चलाना था, जैसा कि महाभारत में भी पाया जाता है।[1] कात्यायन और पतंजलि में कृषि के व्यापक अर्थ पर विचार किया गया है—कृषि का अर्थ केवल भूमि विलेखन या हल चलाना नहीं, बल्कि बीज, बैल, एवं कर्मकर आदि के लिये भोजन का प्रबन्ध करना भी कृषि धातु के अर्थ के अन्तर्गत है।[2] सूत्रों में कृषि जीवन के सम्बन्ध में कई प्रकार के शब्द हैं, जैसे कृषीवल (किसान ५।२।११२), हल (३।२।१८३; ४।४.८१), हलयति (हल चलाना, ३।१।२१), हलि (एक प्रकार का बड़ा हल, ३।१।११७), कर्ष (जुताई, ४।४।९७), वाप (बुवाई, ५।१।४५), मूलाबर्हण (निराई, ४।४।८८), लवन (कटाई, ६।१।१४०), खल (खलिहान ४।२।५०-५१) और निष्पाव (बरसाई ३।३।२८)।

१—पण्यानां शोभनं पण्यं कृषीणां बाद्यते कृषिः।
बहुकारं च सस्यानां वाह्ये वाह्यं तथा गवाम्॥

(शांतिपर्व, १८६।२०)

अर्थात् बिक्री की वस्तुओं में वह अच्छी है जो दुकान में सजी हो। खेती की सब प्रक्रियाओं में हल चलाना उत्तम कहा जाता है। हरी फसल के लिये निराना सर्वोत्तम है। वाहनों में बैल का वाहन बढ़िया है। यहाँ एक ही श्लोक में कृषि के दोनों अर्थ प्रयुक्त हुए हैं।

२—नाना क्रियाः कृषेरर्थाः नावश्यं कृषिर्विलेखन एव वर्तते। किं तर्हि, प्रतिविधानेऽपि वर्तते, यदसौ भक्त बीज बलीवर्दैः प्रतिविधानं करोति स कृष्यर्थः (भाष्य, ३.१।२६)।

कृषीवल—खेती करने वाले किसान के लिये कृषीवल शब्द चला गया था (रजः कृष्यासुति परिषदो वलच्, ५।२।११२) इस नये शब्द ने वैदिक कृषि शब्द को हटा दिया था। कीनाश शब्द भी इस समय चालू न रह गया था। ब्राह्मण ग्रन्थों में कृषीवल शब्द नहीं मिलता।

भूमि और क्षेत्र—गाँव की भूमि कई प्रकार की होती थी जैसे हल्य या सीत्य, जो हल की जोत में हो (४।३।९७), ऊषर (रेहाड़ या नोनी धरती, ५।२।१०७), गोचर या चरागाह (३।३।११९)। व्रज (३।३।११९) और गोष्ठ (५।२।१८) भी उसके अङ्ग थे।

कृषियोग्य भूमि अलग-अलग क्षेत्रों में बँटी रहती थी। ये खेत तरह-तरह के धान्य या फसलें बोने के काम में आते थे (धान्यानां भवने क्षेत्रे खञ् ५।२।१) खेतों के बटवारे से सूचित होता है कि धरती की नापजोख का प्रबन्ध था, जैसा कि सूत्र, ४।१।२३ में कहा है। क्षेत्र व्यापक शब्द था, उसी के अन्तर्गत केदार उस खेत को कहते थे जहाँ हरी फसल बोई गई हो और जिसमें पानी की सिंचाई होती हो। अर्थ शास्त्र में केदार शब्द आर्द्र खेतों के लिये प्रयुक्त हुआ है। जिस खेत में हरी फसल खड़ी हो वह केदार कहा जाता था। वाल्मीकि ने लिखा है, 'सुग्रीव की वानरी सेना ऐसी सुशोभित थी, जैसे पके शालि के केदारों से पृथिवी सुहावनी लगती है (यथा कलम केदारैः पक्वैरेव वसुन्धरा)। हरी फसल से लहलहाते खेतों का समूह कैदार्य या कैदारक कहा जाता था। प्रायः किसान रक्षा की दृष्टि से खलिहानों के लिये खेत पास-पास चुनते थे। ऐसे खलिहानों के समूह खल्या (४।२।५०) या खलिनी (४।२।५१) कहलाते थे। खेती योग्य भूमि साधारणतः कर्ष कही जाती थी (४।४।९७)। किन्तु जितनी वस्तुतः हल की जोत में आ गई हो उसे हल्य (४।४।९७) और सीत्य (४।४।९१) कहते थे।

हल्य – एक हल की जोत के लिये पर्याप्त भूमि हल्य कहलाती थी (हलस्य कर्षः हल्यः, ४।४।९७, काशिका)। इसी सूत्र के उदाहरण में द्विहल्य और त्रिहल्य, अर्थात् एक हल की माप से दुगुनी, तिगुनी का भी उल्लेख है। वस्तुतः एक परिवार के भरणपोषण के लिये पर्याप्त भूमि की इकाई को द्विहल्या कहते थे। इसे ही मध्यकाल में दोहली या डोहली कहने लगे, जो भूमि मन्दिर आदि के साथ राज्य की ओर से लगा दी जाती थी। मनु ने 'कुल' परिमाण भूमि का उल्लेख किया है (मनु० ७।११९)। कुल्लूक के अनुसार यह दोहल जोत की भूमि थी। इसीलिये दान में दोहली भूमि देने की प्रथा चली जो एक कुटुम्ब के गुजारे के लिये काफी हो। एकहल धरती की माप पचीस सहस्र वर्ग हाथ ($१\frac{१}{३}$ एकड़) मानी जाती थी। इस हिसाब से द्विहल्य या दोहली भूमि $२\frac{२}{३}$ एकड़ होती थी। त्रिहल्य भूमि पूरे चार एकड़ होती थी। पतञ्जलि ने हल्य भूमि के अतिरिक्त परमहल्या का

भी उल्लेख किया है, जो अवश्य ही उससे भी बड़ा क्षेत्रफल होना चाहिए (१।१।७२। वा० १६)। इसी प्रकार सीत्य और परमसीत्य का भी भाष्य में उल्लेख है।

सीता—यह शब्द ऋग्वेद और उत्तरकालीन संहिताओं में कृषि के देवता और हल की खूड या फाड़ के लिये प्रयुक्त हुआ है। शनैः शनैः पहला अर्थ विलुप्त हो गया। अर्थशास्त्र में केवल एक स्थान पर पुराना अर्थ है—सीता मे ऋध्यतां देवी बीजेषु च धनेषु च (२।२४)। शेष स्थानों में सीता का अर्थ विशेष रूप से राजा की भूमि की उपज है (अर्थ० २।१५)। अष्टाध्यायी में इस प्रकार का कोई विशिष्ट अर्थ नहीं मिलता। सीत्य उस खेत को कहते थे, जो हल की जोत में आ गया हो (सीतया सङ्गतं क्षेत्रम् सीत्यम्, ४।४।९१)।

सास्य देवता प्रकरण में (४।२।२४–३१) शुन और सीर नामक प्राचीन देवताओं का उल्लेख है। कुछ लोग इन्हें वायु और आदित्य और कुछ उन्हें लकड़ी का हल और उसके अग्रभाग में लगी हुई कुशी मानते थे (वैदिक इंडेक्स, २।३८६)। इन देवताओं को दी जानेवाली हवि शुनासीरीय या शुनासीर्य कहलाती थी।

खेतों की नापजोख—किसानों के निजी खेत नापजोख के आधार पर एक दूसरे से बँटे हुए थे। काण्डान्तात् क्षेत्रे (४।१।२३) सूत्र में खेतों के क्षेत्रफल की माप बताने वाले शब्दों की ओर संकेत है, जैसे द्विकाण्डा क्षेत्रभक्तिः (द्विकाण्डे प्रमाणं मस्याः क्षेत्रभक्तेः) या त्रिकाण्डा क्षेत्रभक्तिः। काण्ड एक नाप थी (प्रमाण-विशेषः काण्डम्, काशिका) जिसकी लम्बाई सोलह हाथ मानी जाती थी (षोडशा-रत्न्यायामो दण्डः काण्डम्, बालमनोरमा; अरत्नि=दो वितस्ति या २४ अंगुल=१८ इंच)। इस प्रकार एक काण्ड खेत २४ फुट से २४ फुट हुआ। द्विकाण्ड क्षेत्रफल= ४८ × २४ वर्गफुट या १२८ वर्ग गज; और त्रिकाण्ड=७२ × २४ वर्गफुट या १९२ वर्ग गज हुआ।

क्षेत्रकर(३।२।२१)—'खेत बनानेवाला' यह उस अधिकारी की संज्ञा थी जो खेतों की नाप-जोख करता था। मेगस्थने ने ऐसे राजपुरुषों का उल्लेख किया है जो भूमि का लगान निश्चित करने अर्थात् बंदोबस्त के लिये खेतों की नाप-जोख करते थे (मेगस्थने का ग्रन्थांश, ३४)। जातकों में जिसे रज्जुग्राहक कहा है वही यह हो सकता है। उसका पद अमात्य का था। वह अपनी रज्जु के एक छोर पर खूंटा पिरोकर उसे खेत के सिरे पर गाड़ता था और खेत का मालिक दूसरा सिरा पकड़ कर खेत की नाप करवाता था (कुरुधम्म जातक ३।२७६)।

खेतों का नाम—खेतों का नाम उनमें बोई जाने वाली फसल से (धान्यानां भवने क्षेत्रे खञ्, ५।२।१–४) या, बोने के लिये आवश्यक बीज की तोल से (तस्य-वापः, ५।१।४५-४६) पड़ता था।

धान्यों के अनुसार खेतों के ये नाम थे - व्रैहेय (व्रीहि या धान का खेत), शालेय (शालि या जड़हन का खेत, व्रीहिशाल्योर्ढक्, ५।२।२); यव्य (जौ का खेत यवक्य (यवक नामक चावल का खेत), षष्टिक्य (साठी का खेत, ५।२।३), तिल्य-तैलीन (तिल का खेत), माष्य-माषीण (उड़द का खेत जिसे लोक में मसीना कहते हैं), उम्य-औमीन (अलसी का खेत), भंग्य-भांगीन (भांग का खेत), अणव्य-आणवीन (चीना का खेत, ५।२।४)।

बीज के आधार पर खेत के नाम के उदाहरण प्रास्थिक (२½ पाव) द्रौणिक (१० सेर) खारीक (४ मन) हैं (काशिका ५।१।४५)। पाणिनि ने पात्रिक खेत का विशेष उल्लेख किया है (५।१।४६), पात्रिकं क्षेत्रं, पात्रिकी क्षेत्र भक्तिः)। चरक ने पात्र को आढक का पर्याय कहा है जो २½ सेर का होता था। किस धान्य का बीघे में कितना बीज पड़ेगा इसका एक मोटा हिसाब किसान रखते हैं, जैसे बाजरा एक पाव और मक्का तीन पाव प्रति कच्चे बीघे में। इसी आधार पर खेत की माप का अनुमान बीज से लगा लिया जाता है।

जो खेत जिस धान्य की फसल के लिये अधिक उपयुक्त हो, उससे भी उसका नाम पड़ जाता था, जैसे यव्य (जौ के लिये), माष्य (उड़द के लिये), तिल्य (तिलके लिये उपयुक्त खेत, ५।१।७, खल यव माषतिल वृष ब्रह्मणश्च)। किसान अपने कई खेतों की चक में से खलिहान के लिये ऐसा विशेष खेत चुन लेता था जिसमें कुछ छाया हो और जो ऊँचे पर हो। उसे खल्य कहा जाता था।

खेती के उपकरण, हल--हल का कई सूत्रों में उल्लेख है (३।२।१८३; ४।३।१२४; ४।३।८१; ६।३।८३ । वैदिक लांगल शब्द सूत्र में नहीं है, पर सूत्र ६।२।१८७ के सीर नामों में उसका अन्तर्भाव है। बड़ा हल हलि कहलाता था (३।१।११७)। उसे जित्य भी कहा गया है (३।१।११७) अवधी भाषा में अभी तक हरी और जीत शब्द सुरक्षित रह गए हैं। खेती में हल के साझे के लिये ये शब्द चलते हैं (कार्नेगी, कचहरी टेकनीकैलिटीज़, इलाहाबाद, १८७७, पृ० १४)। सम्भवतः नई पड़ती धरती को तोड़ने के लिये जित्य हल काम में लाया जाता था। ईख बोने लिये खेत में चौड़ी खूड बनाने के लिये बड़ा हल चलाते हैं। उसके पड़ौथे में गन्नों के टुकड़े बाँध कर उसे भारी बना लेते हैं। उन्नाव की ओर उसे सीर और शाहजहाँपुर में हरी कहते हैं। यही पाणिनि का हलि ज्ञात होता है।

पाणिनि ने तीन तरह के किसान कहे हैं—(१) अहलि, जिनके पास निज का हल न हो, इन्हें अपहल, अपसीर, अपलांगल भी कहते थे, (६।२।१८७); (२) सुहल-सुहलि, बढ़िया हल रखने वाले; (३) दुर्हल-दुर्हलि, जिनका हल पुराना पड़कर घिस गया हो (जिसे देशी भाषा में गलत्थिअ कहा जाता है, देशी नाम माला २।७२; मेरठ की बोली में गलौथिआ घिसा हुआ पडौथा जो चौड़ाई

में कम पड़ गया हो)। 'स्वस्ति भवते सहहलाय, सहलाय' किसान के लिये यह सुन्दर आशीर्वाद वाक्य था (कात्यायन)।

हल के तीन भाग होते थे, ईषा या हलस (सं० हलीषा), बीच का भाग पोत्र (३।२।१८३), और लोहे की बनी (अयोविकार) कुशी जो पोत्र या पड़ौथे में ठुकी रहती है (४।१।४२)। वेद में उसे फाल कहते थे।

हल चलानेवाले बैल हालिक या सैरिक कहे जाते थे (४।४७६; ४।४।८०)। उन्हें योत्र या योक्त्र (जोत) से जुए में कसा जाता था (३।२।१८२)। नद्ध्र या नद्ध्री (नाड़ी) वह चमड़े रस्सी थी जिससे जुए को हलस से जोड़ते हैं (३।२।१८२)। खंडिकादि गण में (४।२।४५) युग-वरत्रा (जुआ और बरत) का साथ उल्लेख है जो सिंचाई के लिये कुआँ चलाते समय एक साथ काम आती हैं। पैना या चाबुक व्यज (३।३।११९) या तोत्र (३।२।१८२); फड़वा खनित्र (३।२।१८४), आखान या आखन (३।३।१२५); खेत निराने की कुदाली स्तम्बघ्न (३।३।८३), हँसिया या दाँती दात्र (३।२।१८२) या लवित्र (३।१।१८४) कहलाती थी। दात्र वैदिक और लवित्र नया शब्द था। यास्क के अनुसार उदीच्य देश में जो दात्र था वही प्राच्य देश में दाति (= दाव) कहलाता था (निरुक्त २।२)।

कृषिकर्म—शतपथ के अनुसार खेती का पूरा स्वरूप यह है, जोतना, बोना, काटना, मगनी करना (कृषन्तः, वपन्तः लुनन्तः मृणन्तः, श० १।६।१।३) प्रत्येक के विषय में सूत्रों की सामग्री इस प्रकार है—

(१) जोतना या कर्ष—जोतने के लिये कृषति धातु थी (कृष विलेखने)। आजकल हिन्दी में 'काढना' 'खैंचना' दोनों क्रिया जोतने के अर्थ में भी व्यवहृत होती हैं। 'हलयति' यह नया शब्द चल गया था (हलिं गृह्णाति हलयति, ३।१।२१)। भाष्य में लिखा है कि किस प्रकार खेत का स्वामी एक ओर बैठा रहता और उसके मजदूर पांच-पांच हलों से उसके लिये खेत जोतते (एकान्ते तूष्णीमासीन उच्यते पंचभिर्हलैः कृषतीति। तत्र भवितव्यं पंचभिर्हलैः कर्षयतीति, ३।१।२६, वा० ३)। खेतिहर कमेरों को क्षेत्रस्वामी उचित समय पर भक्त या भोजन देता था।

यूनानी लेखक भारत में आने पर यहाँ की भूमि की उपजाऊ शक्ति और किसानों के कौशल देखकर चकित हुए थे (अर्रिअन, ५।६)। उन्होंने जुताई के विषय में लोगों की सावधानी का भी उल्लेख किया है (मेगस्थने)। पाणिनि में इसका संकेत है कि खेत की जुताई करने या भूमि कमाने में किसान कितना श्रम करते थे। दो बार की जोत के लिये द्वितीया करोति, और तीन बार की जोत के लिये तृतीया करोति (५।४।५८) शब्द चलते थे। आजकल इन्हें 'दूसरे करना', 'तीसरे करना' कहते हैं जो पुराने शब्दों के ज्यों के त्यों अनुवाद हैं। अधिक बार की जोत के लिये भी सूत्र में विधान है, पर दो-तीन बार की जोत मामूली बात थी, अतएव उसके लिये भाषा में विशेष शब्द चल गए थे। आजकल तीसरी बाह के लिये

तेस शब्द भी चलता है। उससे भी गहरी फाड़ के लिये हल को उल्टा चलाते थे जिसे 'शम्बाकरोति' (५।४।५८) कहा जाता था (अनुलोमकृष्टं क्षेत्रं पुनः प्रति लोमं कृषतीत्यर्थः, काशिका)।

(२) बोना (वाप)—जुताई के बाद खेत बोने लायक (वाप्य) हो जाता है (३।१।१२६, यहाँ वप् धातु से 'आवश्यक' अर्थ में ण्यत् प्रत्यय का विधान है)। पहले खेत को दो तीन बाह देकर छोड़ देते हैं। फिर जब बोने का समय आता है तब जोतकर बीज डालते हैं। ऐसाही खेत 'वाप्य' कहलाता था। हिन्दी में इसे कहते हैं खेत जुताई आ रहा है, या केवल 'खेत आ रहा है', अर्थात् जुताई के लिये धरती बिल्कुल तैयार है, तंत पर आ गई है, बोना आवश्यक हो गया है। किसान मानते हैं कि जैसे ऋतु पर गाय भैंस हरी होने के लिये आकुल होती हैं वैसे ही धरती भी। बुआई के कई प्रकार हैं, जैसे वैर, पबेड़ या छींट, चोबली। हल चलाते समय बीज खूड में गिरता जाय इसे वैर की बुआई कहते हैं। खेत में बीज छींट कर हल चलाने का नाम पबेड़ की बुवाई है। जोती हुई धरती में बीज को हाथ से गाड़ना चोबली कहलाता है। सूत्र ५।४।५८ में 'बीजा करोति' प्रयोग बताया गया है जिसका तात्पर्य पबेड़ की बुआई से ही जान पड़ता है (सह बीजेन विलेखनं करोतीत्यर्थः; काशिका)। भाष्य में एक स्थान पर दो धान्यों को मिलाकर बोने का भी उल्लेख है। अब भी किसान मिलवाँ फसल बोते हैं, जैसे तिलों के साथ उड़द मिलाकर बोते हैं। इसमें यह देखना होता है कि कौन फसल प्रधान है, कौन गौण, क्योंकि खेत की जुताई-गुड़ाई आदि उसी हिसाब से करनी आवश्यक होती है। बोते समय दूसरी फसल का बीज आनुषंगिक रूप से मिलाकर बो या छींट दिया जाता है और समझा जाता है कि हो जायगा तो हो जायगा।[1]

कृषिकर्म का सम्बन्ध माता भूमि से है। उसके लिये शुभ मुहूर्त देखकर बुवाई की जाती है। पाणिनि ने आश्वयुजी पौर्णमासी का बुवाई के सम्बन्ध में विशेष रूप से उल्लेख किया है (आश्वयुज्या वुञ्, ४।३।४५)। उस दिन बोए हुए उड़द आश्वयुजक माष कहलाते थे। कौटिल्य ने भी मूँग, उड़द आदि छीमी धान्य को 'मध्यवाप' अर्थात् सावनी और कातिकी के बीच की बुवाई के योग्य माना है (अर्थ० २।२४)। उप्ते च सूत्र (४।३।४४) के उदाहरण में हैमन्त जौ और ग्रैष्म व्रीहि का उल्लेख है।

---

(१) इदं चाप्युदाहरणं तिलैः सह माषान् वपतीति। ननु चोक्तं तिलैर्मिश्रीकृत्य माषा उप्यन्ते तत्र करण इत्येव सिद्धमिति। भवेत्सिद्धं यथा तिलैर्मिश्रीकृत्योप्येरन्। यदा तु खलु कस्यचिन्माषबीजावाप उपस्थितस्तदर्थं च क्षेत्रमुपार्जितं तत्रान्यदपि किंचिदुप्यते यदि भविष्यति भविष्यतीति तदा न सिद्ध्यति (२।३।१९, सहयुक्तेऽप्रधाने पर भाष्य)।

(३) लवनी—जो खेत कटाई या लवनी के लिये बिल्कुल तैयार हो वह लाव्य कहलाता था (३।१।१२५, काशिका)। लवनी दात्र या लवित्र से की जाती थी (३।२।१८२; १८४)। लवनी को अभिलाव कहते थे (३।३।२८, निरभ्यो पूल्वोः) आजकल खेतिहरों की भाषा में इसे लाव कहते हैं। लाव के समय खेतों में बड़ी चहल-पहल रहती है। कटाई करनेवाले लावक या लवक (३।१।१४९) कहलाते थे जिन्हें आजकल लावा कहते हैं। कटाई शुरू होने को बाड़ लगना कहा जाता है (खेत में बाड़ लग गई, वृध् = काटना)। कहीं-कहीं यह बाड़ एक ओर से न करके छिटपुट की जाती है, कभी कहीं, कभी कहीं। उसे 'अपस्किरति' कहते थे (किरतौ लवने, ६।१।१४०)। काशिका ने लिखा है कि मद्र और काश्मीर में कटाई की ऐसी ही चाल थी (उपस्कारं मद्रका लुनन्ति; उपस्कारं काश्मीरका लुनन्ति)। मूँग माष जैसी दालों के पौधों को जड़ से उखाड़कर लवनी की जाती है। ऐसी फसल को लाव्य का उल्टा मूल्य कहते थे (मूलमस्याबर्हि, ४।४।८८)।

(४) मणनी (निष्पाव, ३।३।२८)—फसल काटकर खलिहान में ले जाते थे। खलिहान के लिये चुना हुआ खेत खल्य (५।१।७) कहलाता था। वह पड़ती रक्खा जाता था। इसीलिये खलीकृत का अर्थ हो गया पड़ती छोड़ा हुआ। कई खलिहानों का समूह खल्या (४।२।५०) या खलिनी कहा जाता था (४।२।५१)। अर्थशास्त्र में लिखा है कि जहाँतक हो खलिहानों को एक साथ रखना चाहिए (खलस्य प्रकरान् कुर्यान्मण्डलान्ते समाश्रितान् , २।२४)।

मणनी के बाद अनाज की बरसाई की जाती थी (कॄ धान्ये, ३।३।३०, उत्कारो धान्यस्य, निकारो धान्यस्य)। खेत-खलिहान का एक शब्दमय चित्रपट निम्नलिखित दस शब्दों में सूत्रकार ने उतार दिया है[1]—

१. लूयमानयव—वह समय जब जौ के खेत में लाव लगी हो (लूयमाना यवा यत्रकाले स लूयमानयवम्, वर्धमानकृत गणरत्नमहोदधि, २।९५)।
२. लूनयव - पहले के बाद का वह समय जब कटाई हो चुकी हो।
३. पूयमानयव—जब खलिहान में मणनी और बरसाई हो रही हो।
४. पूतयव —जब बरसाई हो चुकी हो।
५. खलेयव—जब खलिहान में जौ की रास अलग लगी हो।
६. खलेबुस – जब खलिहान में भूसे का ढेर अलग लग गया हो।
७. संह्रियमाणयव—जब रास को ढोकर घर ले जा रहे हों।
८. संहृतयव—जब रास खलिहान से उठ कर कोठार में पहुँच चुकी हो।

---

(१) तिष्ठद्गु गण (२।१।१७); कात्यायन के वार्तिक (खलेयवादीनि प्रथमान्तानि अन्य पदार्थे और उसपर भाष्य से सिद्ध होता है कि इन दसों शब्दों को पाणिनि ने ही गण में रक्खा था।

९. संह्रियमाणबुस—जब भूसे को खलिहान से हटाकर भुसौले में ढो रहे हों।

१०. संहृतबुस—वह अन्तिम समय जब भूसा भुसौले में पहुँचा कर किसान खेतक्यार के काम से छुट्टी पा गया हो।

कौटिल्य में भी लिखा है कि जैसे ही फसल तैयार होती जाय उसे कोठार में भेज देना चाहिए। बुद्धिमान् को चाहिए कि खेत में कुछ न छोड़े, पयार तक नहीं (अर्थ० २।२४)। पाणिनि की यह शब्दावली जौ की खेती से ली गई है। अनुमान होता है कि मद्रदेश की भाषा में यह बनी होगी, जहां जौ की खेती सर्व-प्रधान थी। भाष्य में मद्र और उशीनर में जौ की समृद्धि का उल्लेख है, मगध में चावलों का (उशीनर वन्मद्रेषु यवाः, १।१।५७ वा० ६; तानेवशालीन्भुंजमहे ये मगधेपु, शिवसूत्र २ पर वा० १६)। जौ की फसल का महत्त्व इससे भी ज्ञात होता है कि पाणिनि ने ऐसे ऋण का उल्लेख किया है जो इस शर्त पर दिया जाता था कि जौ के भूसे से उसका भुगतान कर दिया जायगा। उसे यवबुसक कहते थे (४।३।४८)। पतंजलि ने लिखा है कि अकेली जौ या धान की उपज तगड़ी हो जाय तो किसान की जय है (एको व्रीहिः सम्पन्नः सुभिक्षं करोति; एको यवः सम्पन्नः सुभिक्षं करोति, १।२।५८ वा० ४)। प्राच्यदेश में धान और उदीच्य में जौ, ये ही उस समय की मुख्य फसलें थीं। जौ के खेतों की रखवाली के लिये यवपाल नामक विशेष अधिकारी रक्खे जाते थे (गो-तन्ति-यवं पाले, ६।२।७८)। भाष्य में हिरनों के झुंड से जौ की खेती को संशय लिखा है (न च मृगाः सन्तीति यवा नोप्यन्ते, १।१।३९, वा० १६)।

वृष्टि—बरसात को प्रावृष् (४।३।२६; ६।३।१४) और वर्षा (४।३।१८) कहा गया है। वर्षा के पूर्व भाग के लिये प्रावृष् विशिष्ट शब्द था (हाप्किन्स, एपिक क्रोनोलाजी, जे ए ओ एस०, १९०३, पृ० २६)। सावन भादों के महीनों में पहले को पूर्व वर्षा और दूसरे को अपर वर्षा कहा जाता था (अवयवादृतोः, ७।३।११)। वृष्टि की नाप वर्ष-प्रमाण कही जाती थी (३।४।३२)। वह दो तरह की थी, एक तो जिसमें खेत की खूडें पानी से लबालब भर जायँ और सारे खेत में पानी उतिराने लगे—सीतापूरं वृष्टो देवः (वर्षप्रमाण ऊलोपश्चान्यतरस्याम्, ३।४।३२, काशिका)। दूसरे जिससे खेत में पड़े हुए खुर के निशानमात्र पानी से भरें—गोष्पदपूरं वृष्टो देवः (भाष्य, २।४।३३ पर)। पाणिनि ने लिखा है कि इस प्रयोग में गोष्पद से प्रमाण लिया जाता था (गोष्पदं सेवितासेवित प्रमाणेषु, ६।१।१४५; काशिका नात्र गोष्पदं स्वार्थं प्रतिपादनार्थमुपादीयते, किंतर्हि क्षेत्रस्य वृष्टेश्च)। कौटिल्य ने जांगल अनूप आदि प्रदेशों में वर्ष प्रमाण का उल्लेख किया है। वृष्टि का न होना या सूखा पड़

जाना (वर्ष प्रतिबन्ध) अवग्रह कहलाता था (३।३।५१)।[1] मेगस्थने ने लिखा है कि भारत में दो बार वृष्टि और दो फसलें होती थीं। पाणिनि ने भी वासन्तक-ग्रैष्मक (खरीफ) और आश्वयुजक (असौज में बोई जानेवाली और वसन्त में पकने वाली, रबी) फसलों का उल्लेख किया है (४।३।४५-४६)।

सिंचाई—पाणिनि ने कई बड़ी छोटी नदियों के नाम दिए हैं जिनसे सिंचाई होती होगी। भाष्य ने नहर या गूलों से धान के खेत सींचने का उल्लेख किया है (शाल्यर्थं कुल्याः प्रणीयन्ते, १।१।२४)। मद्र देश की देविका नदीके तट पर बरसात में छोड़ी हुई रौसली मिट्टी की तह शालि के लिये बहुत अच्छी समझी जाती थी (७।३।१)। कुओं से भी सिंचाई होती थी। चरस या मोट के लिये उदञ्चन शब्द आया है (३।३।१२३, उदंकोऽनुदके में उदक के लिये उदंचन का विधान है)। गण-पाठ में युगवरत्र। का पाठ है (४।२।४५) जिसकी आवश्यकता कुएं की सिंचाई में बैलों को जोतने और मोट उठाने के लिये होती है।

सस्य या फसलें—दो प्रकार की थीं, कृष्टपच्य (३।१।११४) जो खेती से उत्पन्न हों; अकृष्टपच्य जैसे नीवार आदि जंगली धान्य। बोने के समय (उप्ते च, ४।३।४४-४६) और पकने के समय (४।३।४३) के आधार पर भी फसलों का नाम पड़ता था। बोने के हिसाब से फसलें तीन होती थीं—(१) आश्वयुज या आश्विन में बोई गई असौजी (आश्वयुज्या वुञ्, ४।३।४५); (२) ग्रीष्म में बोई गई ग्रैष्म या ग्रैष्मक: और (३) वसन्त में बोई गई वासन्त या वासन्तक (ग्रीष्म वसन्तादन्यतरस्याम्, ४।३।४६)। असौजी में जौ गेहूँ प्रधान हैं जो कातिक में बोए जाते हैं और वसन्त में पकते हैं। वसन्त की बोई फसल बरसात में पकती है। ग्रीष्म में बोई हुई शरद् या अगहन में पकती है।

कौटिल्य में भी ऋतु के अनुसार कई फसल होने का उल्लेख है। वहाँ हरी खेती को सस्य और पकी फसल को मुष्टि कहा गया है। वार्षिक सस्य के बाद हैमन-मुष्टि मार्गशीर्ष में, हैमन सस्य के बाद वासन्तिक मुष्टि चैत्र में, वासन्तिक सस्य के बाद वार्षिक मुष्टि ज्येष्ठ में तैयार होती थी। कौटिल्य के शब्दों में सस्य और मुष्टि वही है जिन्हें पाणिनि ने वाप और पच्यमान कहा है। दोनों का तुलनात्मक परिचय इस प्रकार है—

---

(१) खेती के अन्य विघ्न, आखूत्थ, शलभोत्थ, श्येनोत्थ (भाष्य ३।२।४), चूहे, टिड्डी, बाज से भय।

वाप काल के अनुसार कौटिल्य में सस्य का नाम	बोने या वाप के अनुसार पाणिनि में फसल का नाम	पच्यमान काल के अनुसार मुष्टि (पकी फसल) का नाम	पकने का काल
१ वार्षिक सस्य	ग्रैष्म, ग्रैष्मक (४।३।४६)	हैमन मुष्टि	मार्गशीर्ष
२ हैमन सस्य	आश्वयुजक (४।३।४५)	वासन्तिक मुष्टि	चैत्र
३ वासन्तिक सस्य	वासन्त, वासन्तिक ४।३।४६	वार्षिक मुष्टि	ज्येष्ठ

पहिले और दूसरे स्तम्भ मिलते हैं। केवल इतना अन्तर है कि पाणिनि में जहाँ ग्रीष्म ऋतु में बोई हुई फसल का उल्लेख है वहाँ अर्थशास्त्र में बरसात की फसल का। वैसे कौटिल्य के समय में भी गरमी में कुछ फसलें बोई जाती थीं जिनका उसमें ग्रैष्मिक सस्य के नाम से उल्लेख किया है (कर्मोदक प्रमाणेन हैमनं ग्रैष्मकं वा सस्यं स्थापयेत्, अर्थ० २।२४)। किन्तु ग्रैष्मक सस्य में किसानों को बहुत श्रम करना पड़ता था, इस लिए अर्थशास्त्र में कहा है कि राजा के लिए जब अन्य आय के साधन कम हों तब ही उसके समाहर्ता लोग किसानों को ग्रीष्म की खेती के लिए प्रेरित करें (तस्याकरणे वा समाहर्तृपुरुषा ग्रीष्मे कर्षकाणामुद्वापं कारयेयुः, अर्थ० ५।२)।

खेती की उपज—

धान्य—धान्यों में निम्नलिखित का उल्लेख है—

व्रीहि और शालि के खेत पृथक् पृथक् होते थे जो व्रैहेय और शालेय नामों से पहिचाने जाते थे (व्रीहिशाल्योर्ढक् ५।२।२)। व्रीहि बरसात में बोया जाने वाला धान था जो कातिक में तैयार होता था। जिसके यहाँ व्रीहि या धान की उपज अच्छी होती उसे व्रीहिमान्, व्रीहिक या व्रीही कहते थे (व्रीह्यादिभ्यश्च ५।२।११६)। इन शब्दों से जनपदीय संसार के धनी व्यक्ति का बोध होता था। व्रीहिमान् के लिये ही बहुव्रीहि शब्द पहले प्रचलित था जो पीछे समास का नाम मान लिया गया। तैत्तिरीय संहिता (७।२।१०।२) के अनुसार व्रीहि शरद् में पककर तैयार होता था। एक सूत्र में व्रीहि से बननेवाले पुरोडाश को व्रीहिमय कहा गया है (व्रीहेः पुरोडाशे, ४।३।४६)।

निम्नलिखित चावलों का उल्लेख है—

शालि (५।२।२)—अर्थशास्त्र में भी शालि को व्रीहि से भिन्न माना गया है। यह उखाड़कर फिर से रोपा जाने वाला जड़हन था। शालि की फसल शीत ऋतु में पकती थी[१]। शालि की अपेक्षा व्रीहि प्राचीन शब्द था। उसे ग्राम्य धान्य या कृष्ट पच्य अन्नों में सबसे पहिला मानते थे (यजु० १८।१२; बृ० उप०, ६।३।१३)। पतञ्जलि ने लोहित शालि (२।१।६९ वा० ५) का उल्लेख किया है। आज भी भदई धानों में कई धान लाल होते हैं जैसे लालचू, सजनी जो ईंगुर के ऐसा लाल होता है। ऐसे ही शालि या अगहनी धानों में भी रजनेत ललदेहया और बगरी आदि हैं। बगरी का छिलका काला पर चावल लाल होता है। जिसे जायसी ने रितुसारी कहा है (पदमावत ५४४।३), सम्भवतः वह रक्तशालि या लोहित शालि ही था जो रत्त शालि > रत्त सारि > रितुसारि बन गया।

महाव्रीहि (६।२।३८)—महाव्रीहि पाणिनि के समय में प्रसिद्ध धान्य था जिसका उल्लेख तैत्तिरीय संहिता (३।१।५।२) में भी आया है। इसके अतिरिक्त हायन षष्टिक नीवार (अकृष्टपच्य) धान्यों का भी उल्लेख है। कात्यायन के अनुसार साठी विशेष चावल का ही नाम था। और कोई फसल साठ दिन में पकने से साठी नहीं कही जा सकती (षष्टिके संज्ञाग्रहणम् ५।१।९०)।

अन्य धान्यों में जौ, मूँग, माष, तिल, अणु, कुलत्थ (?।४।४) का उल्लेख है। यवानी (४।१।४९) को कात्यायन ने निकृष्ट जौ कहा है। जौ के खेत यव्य (५।१।७) और यवक संज्ञक चावल के यवक्य (५।२।३) कहलाते थे। मुद्ग और माष का उल्लेख पाणिनि से पहिले ही वाजसनेयी संहिता में आता है। (१८।१३)। माष के खेत माष या माषीण कहलाते थे। आज भी देहातों में उसकी फसल मासीना कही जाती है। सूत्र ४।४।८८ (मूलमस्याबर्हि) पर काशिका में मुद्ग और माष को मूल्य कहा है। पकने पर इनके पौधे जड़ से उखाड़ लिए जाते थे और फिर उनकी छीमियाँ झाड़ ली जाती थीं। वॉट ने अपने कोश में लिखा है माष का खेत कहीं तो काटा जाता है और कहीं पर जैसे पश्चिमी जिलों में, पौधों को उखाड़ लेते हैं (आर्थिक उपज का कोश, जिल्द ६, भाग १, पृ० १८९)। जौ, उड़द और तिल के लिये जो खाद या खेत अच्छा हो उसे यव्य, माष्य या तिल्य कहा जाता था। माष्य में कृष्ण तिलों का नाम है। पाणिनि में काले या सफेद तिलों का अलग अलग उल्लेख नहीं है, पर श्राद्ध कर्म में उपयोगी तिलों का

---

१ वाल्मीकि में हेमन्त ऋतु में शालिका वर्णन इस प्रकार है—

खर्जूर पुष्पाकृतिभिः शिरोभिः पूर्णतंडुलैः।
शोभन्ते किंचिदालम्बाः शालयः कनकप्रभाः॥

अरण्यकांड १६।१।

नाम आया है जो प्रायः काले होते हैं (४।६।७१; ।४।२।५८)। मूल में तैल शब्द तिल के तेल के लिये ही प्रयुक्त होता था (४।३।१४९, असंज्ञायां तिलयवाभ्याम्), किन्तु बाद में वैयाकरणों ने सर्षप तैल, इङ्गुदी तैल इन प्रयोगों को भी समीचीन माना (५।२।२९ भाष्य)। तैल शब्द का प्रयोग प्रत्यय के समान किया जाने लगा (तैलशब्दश्च प्रत्ययो वक्तव्यः)। षष्टिक की भाँति कुलत्थ (हिन्दी कुलथी) शब्द भी पहिली बार अष्टाध्यायी में आया है। इसकी दाल या सत्तू बनाकर खाए जाते हैं, किन्तु पाणिनि में तड़का आदि देने के लिये संस्कारक द्रव्यों में उसका उल्लेख किया है (कुलत्थकोपधादण् ४।४।४, कुलत्थैः संस्कृतं कौलत्थम्)। बिल्वादि गण (४।३।१३६) में मसूर, गोधूम, गवेधुका (हिन्दी गड़हेरुआ या गोभी) का भी उल्लेख है।

उमा-भङ्गा—उमा और भङ्गा अर्थात् अलसी और भाँग के खेतों का उल्लेख है। कौटिल्य में उनकी जगह अतसी और शण का नाम है। उमा या अलसी से बने हुए वस्त्र औम या औमक और ऊन से बने हुए और्ण या और्णक कहलाते थे। (उमोर्णयोर्वा, ४।३।१५८)। कपास का उल्लेख किसी सूत्र में नहीं है, किन्तु बिल्वादिगण (४।३।१३४) में कर्पास का पाठ है।

अष्टाध्यायी में उमा और भङ्गा का उल्लेख धान्य के प्रकरण में आया है। कुछ वैयाकरण इन्हें धान्य मानने पर आनाकानी करते थे। पतञ्जलि ने बीच बिचाव किया है कि धान्य शब्द की व्युत्पत्ति पर विचार करें तो धान्य वह है जिसकी बढ़िया फसल देख कर चित्त प्रसन्न हो जाय। सो उमा भङ्गा से भी चित्त प्रसन्न होता ही है (धिनोतेर्धान्यम् एते चाभिधिनुतः) इस लिये इन्हें धान्य मानने में क्या आपत्ति हो सकती है? पर सच्ची बात यह थी कि पुराने समय में जो मुख्य फसलें होती थीं उनकी गिनती करके सत्रह धान्यों की सूची बना ली गई थी, जिनमें सन भी था (षणसप्तदशानि धान्यानि)। अतएव पाणिनिसूत्र के लिये, उमा या भङ्गा को धान्य मानने में कोई आपत्ति नहीं हो सकती (भाष्य, ५।२।४)।

इक्षु—एक ओर तो ईख की नियमित खेती होती थी, दूसरी ओर ज्ञात होता है उसके जङ्गल भी थे जिन्हें इक्षुवण कहा गया है, (८।४।५)। खेतीवाले गन्नों का चुनाव करके उन्हें बोते थे जिससे उनका गुड़ अच्छा बैठे (गुडादिभ्यष्ठञ् ४।४।१०३, गुडे साधुर्गौडिक इक्षुः)। आज भी किसान जानते हैं कि सरौती ईख गुड़ के लिये अच्छी होती है। पुराने समय में सरौती, मनगो, डकचन, बाँसपत्ती आदि कई प्रकार की ईखें हुआ करती थीं। काष्ठेक्षु, पौण्ड्रक, वंशक आदि गन्नों का कोशों में उल्लेख है। इनमें काष्ठेक्षु और वंशक (बाँसपत्ती) जंगली ईख थीं जिसके जंगलों के लिये इक्षुवण शब्द प्रचलित था। किसानों से बोई जाने वाली ईख के खेत इक्षुशाकट और इक्षुशाकिन कहलाते थे (भाष्य ५।२।२९)।

कुस्तुम्बुरु (६।१।१४३ कुस्तुम्बुरूणि जातिः) धनिये के लिये संस्कृत काः यह विचित्र शब्द दक्षिण भारत की भाषाओं से लिया गया था। इसे कन्नड़ में कोतम्बरि, तेलुगू में कोत्तिमिरि और तमिल में कोत्तमल्लि कहते हैं।

रङ्ग—मञ्जिष्ठ (८।३।९७) और नीली। ४।१ ४२) का उल्लेख सूत्रों में आया है। मञ्जिष्ठ या मँजीठ नाम ऐतरेय आरण्यक ३।२।४ और शाङ्खायन आरण्यक ८।४ में आया है। पाणिनि ने इसकी व्युत्पत्ति मञ्जि–स्थ दी है। मञ्जि का अर्थ मञ्जरी ज्ञात होता है। मँजीठ की उत्पत्ति अधिकतर अफगानिस्तान (प्राचीन गन्धार) में होती है जहाँ से लोहानी अफगान उसे लाकर बेंचते हैं। नीली शब्द पाणिनि ने नील के पौधे को नीली और उससे रंगी साड़ी को नीला कहा है (४।१।४२ नीला दोषधौ नील्योषधिः, कात्यायन) संस्कृत साहित्य में यह उसका सर्वप्राचीन उल्लेख है। यूनानी लेखकों के अनुसार नील की खेती सबसे पहिले बहुत प्राचीन काल में भारतवर्ष में ही की गई थी (पैरिप्लस, पृ० १७)।

अध्याय ४, परिच्छेद २—ओषधि-वनस्पति

ओषधि-वनस्पतियों में कुछ का उल्लेख पहली बार पाणिनिय सूत्रों में मिलता है। पुष्प, पत्र, फल, मूल आदि के आधार पर ओषधियों के नामकरण का जो अध्याय प्राचीन भारत में आरम्भ हुआ था, उसकी भी हल्की सी रेखा इस चित्र में है। ओषधि—वनस्पतियों के जंगल और बनों का भी उल्लेख आया है।

वन—इस शब्द के दो अर्थ थे, एक तो प्राकृतिक अरण्य जैसे पुरगावण, मिश्रकावण (८।४।४), दूसरे वृक्षों और फलों के जंगल या उद्यान, जैसे आम्रवण, खदिरवण, इक्षुवण जो सामान्य नाम थे (असंज्ञायामपि, ८।४।५)। बड़े प्राकृतिक वन को पाणिनि ने अरण्य (४।१।४९) और कात्यायन ने अरण्यानी कहा है।

वन दो प्रकार के थे, १ ओषधिवन, जैसे मूर्वावन, मूर्वाविन, और २ वनस्पति वन, जैसे शिरीष वन, देवदारुवन (८।४।६, विभाषौषधिवनस्पतिभ्यः)।

ओषधि-वनस्पति—वनस्पति जगत् के दो विभाग किए गए हैं, ओषधि और वनस्पति। वनस्पति और वृक्ष दोनों एक दूसरे के पर्याय थे, जैसे ४।३।१३५ सूत्र में (अवयवे च प्राण्योषधिवृक्षेभ्यः)। कात्यायन इस से सहमत हैं (२।४।१२)। तृण और धान्य जिन्हें सूत्र २।४।१२ में वृक्षों से अलग गिना है, ओषधि के अन्तर्गत आते थे।

पतंजलि ने 'मूल-स्कन्ध-फल-पलाशवान्' वाक्य में वृक्ष के वितान का भव्य चित्र खींचा है (१।२।४५, वा० ९)। पाणिनि ने पर्ण, पुष्प, फल, मूल के आधार पर ओषधियों के नामकरण के सिद्धान्त का उल्लेख किया है (पाककर्णपर्णपुष्प फल मूल

वालोत्तर पदाद्य, ४।१।६४)। उदाहरण के लिये, ओदनपाकी शङ्कुकर्णी शाल-पर्णी, शङ्खपुष्पी, दासीफली, दर्भमूली, आदि। ये सब जड़ी बूटी और लताओं के नाम थे। फलों का नाम प्रायः वृक्षों के नाम से पड़ता था, जैसे आमलकी वृक्ष का फल आमलक, जम्बू वृक्ष का फल जम्बू (फले लुक ४।३।१६३; लुक् तद्धितलुकि से ईकार का लोप)।

वृक्ष—वृक्षों के निम्नलिखित नाम सूत्रों में हैं —

(१) अश्वत्थ (४।३।४८; अश्वत्थ वृक्ष के फलने का समय भी अश्वत्थ कहा गया है); (२) न्यग्रोध (७।३।५; इसके लिये वट शब्द का भी प्रयोग होने लगा था जो वैदिक साहित्य में अज्ञात था, ६।२।८२); (३) प्लक्ष (४।३।१६४; इसका फल प्लाक्ष और जंगल प्लक्षवण, ८।४।५); (४) आम्रवण (यह आम्र का प्राचीनतम उल्लेख है); (५) पलाश (४।३ १४१, पलाशादिगण में अन्य वृक्ष खदिर, शिंशपा, चन्दन, करीर, शिरीष, विकंकट हैं); (६) बिल्व (४।३।१३६); (७) खदिर (८।४।५ खदिरवण एक विशेष वन का नाम और खदिर वृक्ष का जंगल); (८) शिंशपा (७।३।१); (९) वरण (४।२।८२, हिन्दी बरना, वरण जातक के अनुसार गंधार देश में तक्षशिला के बाहर वरण वृक्षों का जंगल था); (१०) शमी (५।३।८८, ४।३।१४२, हिन्दी छोकरा या जंड, इसका छोटा पौधा शमीर या इससे बनी हुई चीजें शामील कहलाती थीं); (११) पीलु (५।२।२४, ६।३।१२१, शमी और पीलु वाहीक देश में बहुत होते थे; पीलु वृक्ष के नीचे होने वाली घटनाओं और लेन देन को पैलमूल कहा गया था, ५।१।९७। ज्ञात होता है कि चोरी और लूटपाट के कामों के लिये जो कि वाहीक देश में पीलु के जंगलों में प्रायः होते थे, इस तरह के शब्दों का प्रचलन भाषा में था—पीलुमूले दीयते कार्यं वा पैलुमूलम्, ५।१।९७, व्युष्टादिगण); (१२) कार्श्य (८।४।५, शालवृक्ष, कार्श्यवण या शालवृक्ष के जंगल तराई प्रदेश में थे); (१३) पीयूक्षा (८।४।५, प्लक्ष जाति के वृक्षों का एक भेद, तालादि ४।३।५२ और काशादिगण ४।२।८० में भी इसका पाठ है); (१४) ताल (४।३।१५२); (१५) जम्बू (४।३।१६५, फल जाम्बव या जम्बू); (१६) हरीतकी (४।३।१६६ फल भी हरीतकी); (१७) वंश (५।१।५०, वेणु और मस्कर भी, ६।१।१५४); (१८) कारस्कर (६।१।१५६); (१९) सिध्रका (८।४।४, सामविधानब्राह्मण ३।६।९ और तैत्तिरीय ब्रा० ३।४।१० में भी सैध्रिक वृक्ष का उल्लेख है। यह कत्थे की तरह का सा वृक्ष था); विष्टर (वृक्षासनयोर्विष्टरः, ८।३।९३, यह कोई विशेष वृक्ष था, या सामान्य वृक्षवाची शब्द था, निश्चय नहीं)।

गणों में भी कुछ वृक्षों के नाम हैं, यथा कर्कन्धू और बदर (५।२।२४), कुवल (५।२।२४), कुटज (५।१।५०, पाटली (४।३।१३६; पतंजलि के पाटलानि मूलानि उदाहरण से (४।३।१६६, वा० २) सिद्ध है कि यह बिल्वादि गण में पढा गया था), विकंकत (४।३।१४१), इंगुदी (४।३।१६४), शाल्मली, (४।२।८२), उदुम्बर (४।३।१५२),

नीप (४।३।१५२), दारु (पीतदारु या देवदारु, ४।३।१३९), रोहीतक (४।३।१५२), बिभीतक (४।३।१५२), शिरीष (४।२।८०), स्यन्दन (४।३।१४१, अति प्राचीन वृक्ष जिसका ऋग्वेद में भी उल्लेख है, दृढ़ता के कारण रथ बनाने में उपयोग होता था), कण्टकार (४।३।१५२), करीर (४ ३।१४१, करीरप्रस्थ ग्राम का नाम ६।२।८७)।

तृण – सूत्रों में निम्नलिखित तृणों का उल्लेख है—शर (८।३।५, पाणिनि में शरवण और शरावती नदी का उल्लेख है, पतंजलि ने शर शीर्यम् २।४।१२ लिखा है जिसमें शीर्य ऋग्वेद कालीन १।१९।१३ सैर्य है); काश (४।२।८०, ६।२।८२); कुश (कुशाग्र ५।३।१०५, कुशल ५।२।६३ जैसे शब्दों में अन्तर्निहित, स्त्री लिंग कुशा ४।१।४२, पतंजलि में कुशकासम् नाम है, २।४।१२) ; मुंज (३।१।११७, इसे सड़ा, विपूय, कर बान आदि बटते थे इसकी सींक इषीका, ६।३।६५); नड (४।२।८७, नड्वान् ४।२।८८, नड्वल, ५२।९१, नडकीय जैसे स्थान नामों में ; शाद (४।२।८८, एक घास); वेतस (४ २।८७); कत्तृण (६।३।१०३, अमर के अनुसार सौगन्धिक तृण, संभवतः वैदिक साहित्य का सुगन्धितेजन) ।

इसके अतिरिक्त गणों में भी ये नाम हैं—वीरण जिसे उशीर भी कहा जाता था (४।५।५३, ४।२।८०, खस), बल्वज (४।२।८०, ४।३।१४४), दर्भ (४।३।१४२, २।४।११ में दर्भ शरम्), पूतिक (२।४।११, वैदिक साहित्य में प्रयुक्त) ।

पुष्प (४।१।६४)—कुमुद (४।२।८०, ४।२।८७), पुष्कर (५।२।१३५, पुष्करादि गण में पद्म, उत्पल, बिस, मृणाल पर्यायों का भी उल्लेख है) । हरीतक्यादि गण में शेफालिका का नाम है (पारिजात या हरिसिंगार) । पतंजलि ने उससे रंगे हुए शैफालिक वस्त्र का उल्लेख किया है (५।३।५५ पर भाष्य) । पाणिनि के अनुसार पुष्पों के नाम उनके फूलने की ऋतु से रक्खे जाते थे (कालात् पुष्यत् ४।३।४३), जैसे वासन्ती कुन्दलता (काशिका) ।

ओषधि—सूत्र ४।१।६४ (पाक कर्ण पर्ण पुष्प मूल वालोत्तार पदाच्च) में संकेत है कि जड़ी बूटियों के नाम उनके पत्तो, फूल, मूल आदि की विशेषताओं के अनुसार रक्खे जाने लगे थे । अजादि गण (४।१।४) में त्रिफला का और भाष्य में ब्राह्मी का उल्लेख है (६।४।१७१) ।

फल—सूत्र ४।३।१६३-६४ से सूचित होता है कि पाणिनि फल को वृक्षों से सम्बन्धित मानते हैं । किन्तु वार्तिक और भाष्य में चावल, जौ, दाल, तिल आदि वार्षिक पौधों की उपज भी उनका फल माना गया है (फल पाक शुषामुप-संख्यानम्) । मनु के ओषधियों को फल पाकान्त कहने का भी यही भाव है (१।४६) । फलवाले वृक्षों को फलेग्रहि कहा जाता था (३।२।२६) फले लुक् सूत्र (४।३।१६३) में भाषा के उस नियम की ओर संकेत किया गया है जिसके अनुसार वृक्ष और उसके फल का नाम प्रायः एक सा होता है ।

आम्र, बिल्व, जम्बू का सूत्रों में उल्लेख है। सक्ष और हरीकती के नाम भी है। द्राक्षा का पाठ ४।३।१६७ के गण में है। पाणिनि कृत कापिशायन के उल्लेख से भी उनके द्राक्षा से परिचित होने का संकेत मिलता है (४।२।९९)। माल्यादि और यवादि गणों में (६।२।८८ ; ८।२।९) भी द्राक्षा का नाम है। दाडिम अर्धर्चादि गण में है (२।४।३१) पर उसका सर्वप्राचीन पक्का प्रमाण भाष्य में मिलता है (१।२।४५, वा० १)।

पीलुकुण (५।२।२४)—पके पीलु फलों के लिये पाणिनि ने इस शब्द का उल्लेख किया है। शाहपुर खिउड़ा आदि जिलों की पंजाबी भाषा में जहां प्राचीन केकय प्रदेश था, यह शब्द जीवित है जहां उसे पिलकना कहते हैं। संस्कृत में कुण प्रत्यय बहुत कम देखा जाता है। सूत्रकार ने अपने युग की जनपदीय भाषा से इस शब्द का संकलन किया था। जामुन में भी इसी कुण प्रत्यय का अवशेष ज्ञात होता है।

अध्याय ४, परिच्छेद ३—पशु-पक्षी

वर्गीकरण—वस्तुओं के दो विभाग आचार्य ने किए हैं, प्राणी (४।३।१३५; १५४; या प्राणभृत् ५।१।१२९) और अप्राणी (२।४।६; ५।४।९७)। इन्हें ही चित्तवत् (५।१।८६) और अचित्त (४।२।४१) कहा गया है। उपनिषद् विचार धारा के अनुसार प्राण और चित्त ये ही जीवन की दो विशेषताएँ थीं। प्राणभृत् संसार को पुनः मनुष्य (४।२।१३४) और पशु (३।३।६९) इन दो वर्गों में बांटा गया है। फिर पशुओं के भी दो विभाग किए गए हैं, ग्राम्य पशु (१।२।७३) और आरण्य पशु (४।२।१२९)। परिमाण के आधार पर कुछ को क्षुद्रजन्तु (२।४।८), और भोजन के आधार पर कुछ को क्रव्याद् कहा गया है (३।२।६९)। पाणिनि से पूर्व के वर्गीकरण के कुछ संकेत ये थे—उभयतोदन्त-अन्यतोदन्त, द्विपाद्, चतुष्पाद्, एकशफ-द्विशफ। अष्टाध्यायी में मृग का अर्थ जंगली जानवर है (४।३।५१, ४।४।३५) पर सूत्र २।४।१२ में वह हिरनों के लिये है, जैसे रुरु-पृषतम् (भाष्य)। चिड़ियों को पक्षी, शकुनि कहा गया है।

सूत्रों में निम्नलिखित पशुओं का उल्लेख है—

१ हस्ती (५।२।१३३), नाग या कुंजर (२।१।६२)। नदन्त हाथी को शुंडार कहा है (५।३।८८)। हस्ती एक नाप भी थी जैसे द्विहस्ति, त्रिहस्ति शब्दों में (५।२।३८)। इसका विचार आगे परिच्छेद ८ में किया गया है। पाली हत्थि का भी अर्थ प्रमाणवाची था (मिलिन्द पन्ह)। दंतैल हाथी को दन्तावल (५।२।११३) और हाथी दाँत को केवल दन्त (दाँत) कहा जाता था। हाथी से भिड़कर उसे वश में करने की शारीरिक शक्ति वाला व्यक्ति हस्तिघ्न कहलाता था (३।२।५४,

शक्तौ हस्ति-कपाटयोः)। बाण ने ऐसे महाकाय महाबली व्यक्ति को वंठ कहा है। सेना में या राजदरबार में उनकी माँग रहती थी। पतंजलि ने हाथी के रातिब को हस्तिविधा कहा है (२।१।६३, वा० ३)।

२. उष्ट्र (४।३।१५७)—ऊँटों के समूह को औष्ट्रक (४।२।३६), बच्चे को करभ और छोटे बच्चे को शृंखलक (शृंखल मस्य बंधनं करभे, ५।२।७९) कहते थे। सांडनी सवार उष्ट्र-सादि और ऊँट और खच्चर की मिली-जुली टुकड़ी उष्ट्रवामि (उष्ट्रः सादिवाम्योः ६।२।४०) कहलाती थी। ज्ञात होता है सेना में शीघ्र प्रयाण के लिये इनका उपयोग होता था।

ऊँट के बाल, खाल या आँतों से बने हुए पदार्थ या बर्तन (विकारावयव, ४।३।१५७) औष्ट्रक कहलाते थे। ऊँट के बालों से बनाई हुई गोणी और उनकी आँतों से बनाए हुए कुप्पे या कुप्पियों आदि की गणना इस शब्द में की जाती थी।
३. अश्व—घोड़े और घोड़ी दोनों का संयुक्त नाम अश्व-वडव था (२।४।२७)। सूत्र ६।२।४२ में पठित पारेवडवा का तात्पर्य सिन्धु के उस पार की चंचल बछेड़ियों से था जो उस युग से सुप्रसिद्ध रही हैं। कौटिल्य ने लिखा है कि उत्तम जाति के अश्व कम्बोज, बाल्हीक सौवीर और सिन्धु से लाए जाते थे (अर्थ २।३०)।

हरण—घोड़ी के गरमाने को 'अश्वस्यति' कहा गया है (७।१।५१)। घोड़ा छलवाने का जो शुल्क देना पड़ता था उसके लिये हरण यह विशेष शब्द चलता था। सप्तमी हारिणौ धर्म्येऽहरणे सूत्र (६।२।६५) में हरण पारिभाषिक शब्द है। पहले समय से जो बंधेज अर्थात् दस्तूर या रिवाज से निश्चित देय या नेग अनुवृत्तः आचारः) चले आते थे उन्हें धर्म्य कहा जाता था। उन्हीं में एक देय हरण भी था। सप्तम्यन्त पदों से सूचित नेग जैसे 'मुकुटेकार्षापणम्' आदि के अर्थो पर आगे विचार किया जायगा (अ० ७, परि० २)। अहरण (जो हरण न हो) का प्रत्युदाहरण काशिका में वाडवहरण लिखा है।—वडवाया अयं वाडवः, तस्य बीज निषेका दुत्तरकालं यद्दीयते हरणमिति तदुच्यते, अर्थात् गर्भाधान करने के बाद नर घोड़े को जो रातिब आदि के लिये दिया जाय वह हरण है। यह नेग दस्तूर से बंधा हुआ होने के कारण धर्म्य था और उसका देना आवश्यक था। महाभारत में हरण शब्द का कुछ व्यापक अर्थ है, अर्थात् विवाहोपरान्त प्रदत्त धन यौतुकादि। जब अर्जुन सुभद्रा को हर ले गया तो सुभद्रा के ज्ञाति बन्धु कृष्णआदि यादव अर्जुन के लिये बहुत सा 'हरण' द्रव्य लेकर इन्द्रप्रस्थ देने गए (हरणं वै सुभद्राया ज्ञाति देयं, आदि २२३।४४)। इस सूत्र का वाडवहरण प्रत्युदाहरण मूर्धाभिषिक्त था और अति प्राचीन काल से चला आता था।

आश्वीन—एक घोड़ा दिन भर में जितनी मंजिल तय करे वह दूरी आश्वीन कही जाती थी (अश्वस्यैकाहगमः, ५।२।१९)। अथर्व वेद में इसे आश्विन कहा

गया है (६।१।३१।३)। अर्थ शास्त्र के आधार पर इस दूरी का निर्णय पहले किया जा चुका है (पृ० १५७)।

४. खर—गधों के लिये खरशाल नामक अलग अस्तबल बनाए जाते थे (४।३।३५)।

५, अज (४।१।४।;४।२।३९)। भेड़ बकरी दोनों अजावि या अजैड (तिष्ठद्गु गण) और बकरों का रेवड़ आजक कहलाता था (४।२।३९)।

६. अवि (५।१।८)—इसी के लिये अविक शब्द भी था (५।४।२८)। भेड़ों का बड़ा झुंड औरभ्रक (४।२।३९) कहलाता था। कात्यायन ने भेड़ के दूध के लिये अविदूस, अविमरीस, अविसोढ शब्द दिए हैं (४।२।३६, वा०) जो जनपदीय बोली से लिए गए ज्ञात होते हैं। अजापाल को जाबाल और भेड़ बकरियों के बहुत बड़े रेवड़ पालने वाले को महाजाबाल (६।२।३८) कहा जाता था। जाबाल का सम्बन्ध म्लेच्छ भाषा के भेड़वाची शब्द योबिल या जोबिल (भेड़ का सींग) से ज्ञात होता है, जिससे अंग्रेजी का जुबिली शब्द बना है। पाणिनि में और भी दो एक विदेशी शब्द आगए हैं, जैसे अरबी भाषा का हलाहिल, ईरानी का दिश्रि और शकभाषा का कन्था, जिन पर यथास्थान विचार किया गया है

७. मृग—मृगों में ऋष्य (४।२।८०) और न्यङ्कु का (७।३।५३) सूत्रों में उल्लेख है। दोनों शब्द वैदिक भाषा में मिलते हैं। सूत्र, २।४।१२ में मृगवाची शब्दों के द्वन्द्व समास में एकवद्भाव का विधान है जैसे रुरुपृषतम्। हिरनी के लिये एणी शब्द था (४।३।१५९)। भाष्य में ऋश्य की हिरनी को लोहित कहा है।

क्रव्याद् पशुओं में (३।२।६९) सिंह (६।२।७२), व्याघ्र (२।१।५६), वृक (५।४।४१), क्रोष्टु (=शृगाल) (७।१।९५), बिडाल (६।२।७२) और श्वा (४।२।११) का उल्लेख है। राजघरानों में जो कुत्ते पाले जाते थे उन्हें कौलेयक कहा गया है (४।२।९६)। कुक्कुर जातक (१।२२) में ऐसे कुत्तों का उल्लेख है ये कुक्कुरा राजकुलम्हि बद्धा)। रामायण में केकय देश के राजमहल में बघेरी नस्ल के खूँखार कुत्ते पालने का विशेष रूपसे उल्लेख आया है, जिन्हें अन्तःपुर संवृद्ध कहा गया है।[1]

पक्षियों के ये नाम थे—चटका (४।१।१२८), मयूर (२।१।७२); कलापी (४।३।४८), कुक्कुट (४।४।४६), ध्वांक्ष (२।१।४२), श्येन (६।३।७१)। विष्किर

---

१. अन्तःपुरेति संवृद्धान् व्याघ्र वीर्यबलोपमान्,
दंष्ट्रायुक्तान् महाकायान् शुनश्चोपायनं ददौ ॥

(अयोध्याकाण्ड, ७०।२०)

पक्षी वे थे (६।१।१५०) जो चोंच से कुरेदकर अपना चुग्गा खाते हैं (विष्किरः शकुनिर्विकिरो वा. अपाच्चतुष्पाच्छकुनिष्वालेखने, ६।१।१४२)।

क्षुद्र जन्तुओं में (२ ४।८) नकुल (६।३।७५), गोधा (४।१।१२९, १३०), अहि (४।३।५६), क्षुद्रा, भ्रमर, वटर (४।३ ११९, भ्रमर की मक्खियों के भेद, छोटी मक्खी क्षुद्रा और बड़ी डेंगारा मक्खी भ्रमर) और वटि (चींटी, ५।२।१३९) का उल्लेख है। जलचरों में नक्र (६।३।७५), वर्षाभू (६।४।८४), मत्स्य (४।४।३५) तथा वैसारिण मछली (विसारिणो मत्स्ये, ५।४।१६) के नाम हैं। सम्भवतः यह वह मछली थी जो छूने से अपना शरीर फुला लेती है।

गोष्ठ और पशुचारण—पशु समूह को समज और उन्हें गोचरभूमि में हाँक देने को उद्ज कहते थे (३।३।६९, समजः पशूनां समुदाय इत्यर्थ; उद्जः पशूनां प्रेरणमित्यर्थः—काशिका)। ग्राम्य पशुसंघों में एक साथ चरती हुई गायों और बैलों के लिये केवल गावः, और ऐसे ही नर-मादा भैंसों के लिये महिष्यः, तथा बकरे-बकरियों के लिये अजाः कहा जाता था (१।२।७३, ग्राम्यपशुसंघेष्वतरुणेषु स्त्री)। परन्तु साथ चरते हुए बछड़े, बछियों को वत्साः कहा जाता था। आज भी हिन्दी भाषा की यही प्रकृति है, जैसे गाएँ, भैंसे, बकरियाँ चर रही हैं।

पशुओं की आयु, उनके दाँत (५।४।१४१), सींग (६।२।१) और कूबड़ (५।४।१४६) की वृद्धि से सूचित होती थी, जैसे छोटी आयु का दो दाँत का बछड़ा द्विदन्, असञ्जातककुत् और अंगुल शृङ्ग कहा जाता था। वही चार दाँत या छह दाँत का होने पर चतुर्दन्, षोडन् (हिन्दी छदर), पूर्णककुत् और उद्गतशृङ्ग कहलाता था।

चरागाह या गोचर (३।३।११९) में पशु स्वच्छन्द चरते थे। उनके लिये चारे की उपलब्धि के अनुसार नई-नई जगह गोष्ठ बना लेते थे। छोड़ी हुई पहली धरती को गौष्ठीन कहा जाता था (गोष्ठात् खञ् भूतपूर्वे, ५।२।१८)। जिस जंगल में पशु चराने के बाद दूसरी जगह हटा लिए गये हों, वह आशितङ्गवीन कहा जाता था (५।४।७)। इससे सूचित होता है कि गांवों के चारों ओर के जंगलों और वनों में क्रमिक व्यवस्था के अनुसार पशुओं के चराने का प्रबन्ध किया जाता था। पशुओं को खाने के लिये भुस और कडङ्कर या कुट्टी दी जाती थी उसे खाने वाले कडङ्करीय कहलाते थे (५।१।६९, हिन्दी डंगर)। जल पीने की चरही निपान या आहाव कही जाती थी (३।३।७४)।

कौटिल्य ने लिखा है कि नियमित चारे के साथ पशुओं को नमक भी देना चाहिए। नमक के लिये पशु की इच्छा या हड़क को लवणस्यति कहा गया है (७।१।५१)।

गाय और बैल के लिये भाषा में धेन्वनडुह शब्द प्रयुक्त होता था। सम्भवतः उसका वाच्यार्थ दूध देने वाली गाय और सग्गड़ खींचने वाले बैल के लिये था।

दोनों का एक साथ होना किसान के कल्याण सम्पन्न जीवन का द्योतक था। आशीर्वाद देने के लिये उपयुक्त वाक्य था 'स्वस्ति भवते सगवे सवत्साय (६।३।७३ पर कात्यायन)। व्रज, गोशाल (४।३।३५), गोष्ठ (८।३।९७) और गोष्पद भूमियों का गाय के जीवन से विशेष सम्बन्ध था (६।१।१४५, गोभिः सेवितो देशः, काशिका)। गायों के समूह के लिये गोत्रा शब्द है (४।२।५१) जो वैदिक गोत्र शब्द का स्मरण दिलाता है। गोत्र का मूल अर्थ कई परिवारों की समान गोशाला थी। पाणिनिकालीन भाषा में गोत्रा के लिये दो नूतन शब्द गव्या (४।२।५०) और आधेनव (४।२।४७) प्रयुक्त होने लगे थे।

ग्वालों के लिये गोपाल शब्द चल गया था। तन्तिपाल (६।२।७८) उन अधिकारियों को कहते थे जो राज्य की गायों के बड़े-बड़े झुण्डों की देखभाल करते थे। महाभारत में तन्तिपाल शब्द का उल्लेख इसी अर्थ में है। जब ग्वाले का नौजवान लड़का स्वतन्त्र रूप से जंगल में गायों को चरा लाने की आयु प्राप्त कर लेता तो उसे अनुगवीन कहते थे (अनुग्वलंगामी, ५।२।१५, अनुगवीनो गोपालकः)। जैसे वयःप्राप्त क्षत्रिय कुमार के लिये कवचहर शब्द था वैसे ही गोपाल के पुत्र के लिये अनुगवीन। आगवीन कर्मकर वह मजदूर था जो गाय मिल जाने तक काम करे (यो गवाभृतः कर्म करोति आ तस्य गोः प्रत्यर्पणात्—काशिका, ५।२।१४, आगवीनः)। इसका ब्योंत यों बैठता है। माँ का दूध छोड़ देने पर बछिया किसी कमेरे को चराई पर दे दी जाती है। यदि वह अपने घर पर चरावे तब गाय के बिआने पर उसका मूल्य कूतकर आधा-आधा कर दिया जाता है। दोनों में से कोई आधा मूल्य देकर गाय ले लेता है। इसे अधबट चराई कहते हैं। दूसरा तरीका यह है कि चराने वाला मालिक के यहाँ ही काम करता रहता है। जब गाय बिआ जाती है तो उसकी भृति के बदले में वह गाय उसीको दे दी जाती है। यही आगवीन कहलाता था।

गौ की जीवन-गाथा—प्राचीन भारतीय भाषा में गौ से सम्बन्धित विविध शब्दावली का होना स्वाभाविक है। गाय के जन्म और जीवन की भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ उन-उन शब्दों से प्रकट की गई हैं। ओसर बछिया जो हरी होने, फलने या बरदाने के लिये तैयार हो, उपसर्या कहलाती थी (उपसर्या काल्या प्रजने, ३।१।१०४), अर्थात् वह प्रजनन या बूने-साइने के लिये काल प्राप्त समझी जाती थी। उसका पहला बरदाना उपसर कहा जाता था (३।३।७१)। बछिया तीन बरस की या तिबरसी होने पर पूरी पट्ठी मानी जाती थी। विराट् पर्व में उसे त्रिहायनी माहेयी कहा है (विराट्, १६।६, पूना संस्करण)। ग्याभिन होने के बाद यदि वह बह जाय या तू-निछा जाय तो उस चूई हुई को बेहत् कहते थे (२।१।६५, बेहद् गर्भपातिनी, काशिका)। ग्याभिन होने पर जो ठहर जाती थी वह गर्भ पूरा हो जाने पर पुट्ठे तोड़ने लगती थी, जिससे सूचित होता था कि वह आजकल में बिआने

वाली है। उसकी इस अवस्था का द्योतक अद्यश्वीना (५।२।१३) शब्द था। वैदिक भाषा में इसे ही प्रवय्या कहते थे (६।१।८३, भय्यप्रवय्ये च च्छन्दसि, वत्सतरी प्रवय्या, काशिका)। बिआने के बाद पहलवन बिआई या पहलौटी गाय गृष्टि कहलाती थी (२।१।६५)। पाणिनि ने महागृष्टि शब्द का उल्लेख किया है (६।२।३८)। यह उस प्रकार की गौ थी जो एक ब्यांत के बाद लगभग तब तक दूध देती है, जब तक दूसरी ब्यांत न करे। इसी के लिये वैदिक भाषा में नैत्यिकी शब्द चलता था। स्वाभाविक है कि ऐसी गाय बहुत धन्य और शीलवती मानी जाती थी। इसे ही मध्यकालीन संस्कृत में नित्यवत्सा (हेमचन्द्र, अभिधानचिन्तामणि ४।३३६) और ब्रज भाषा में नैचकी कहा गया है। इस प्रकार जो गायं बरस-बरस या बरस ब्य वर होती थी, उसके लिये पाणिनि कालीन भाषा में समांसमीना, यह सुन्दर शब्द चल गया था (समां समां विजायते, ५।२।१२)। पतंजलि ने ऐसी गौ के विषय में अपने युग की कल्याणी भावना को प्रगट करते हुए लिखा है— गौरियं या समां समां विजायते। गोतरेयं या समां समां विजायते स्त्रीवत्सा च (भाष्य, ५।३।५५)। 'वह गौ धन्य है जो बरस-बरस पर बिआती है। उससे भी उत्कृष्ट वह है जो बरस-बरस पर बिआती और बछिया जनती है।' जब तक गाय दूध देती रहे वह धेनु कहलाती थी (२।१।६५), जिसे आज भी हिन्दी में धेन कहते हैं। इसे ही कात्यायन ने अस्तिक्षीरा कहा है (२।२।२४, वा० २१)। बिआने के छह सात महीने बाद दूध गाढ़ा और कम होने लगता है और गाय बष्कयणी हो जाती है (२।१।६५, हिन्दी बखैनी या बाखड़ी)। जिस गाय को उसके दूध से ऋण पाटने के लिये बन्धक रख दिया जाय वह धेनुष्या कहलाती थी।

बैल—भारतीय किसान के जीवन में बैल का जो महत्त्वपूर्ण स्थान है उसकी झाँकी संस्कृत भाषा और हिन्दी भाषा के उन सैकड़ों शब्दों से मिलती है, जो बैलों के रूपरंग, आयु, स्वभाव और दुःख सुख पर प्रकाश डालते हैं। पाणिनि की अष्टाध्यायी में भी ऐसे सार्थक शब्दों का गुच्छा सुरक्षित है। छोटा दूध पीता बच्चा शकृत्करि कहलाता था (३।२।२४, स्तम्बशकृतोरिन्) जिसे वैदिक भाषा में अतृणाद कहते थे (बृहदारण्यक उप० १।५।२)। फिर वही वत्स या बछड़ा कहलाता था। बछड़ों का समूह वात्सक था। जब गाएँ जंगल में चली जातीं तो जिस विशेष स्थान में बछड़े रखे जाते उसे वत्सशाला कहते थे (४।३।३६)। कुछ दिन बाद जब बछड़ा दूध पीने से हट जाता तब उसके गले में डेंगुर बाँधकर उसे कुछ दूर चरने के लिये छोड़ देते थे। इस अवस्था में वह प्रासङ्ग्य कहलाता था (तद्वहति रथयुगप्रासङ्गम्, ४।४।७६, प्रासङ्ग = बछड़े के गले में बाँधा हुआ खटखटा या डेंगुर)। लगभग दो बरस का बछड़ा दित्यवाह् कहा जाता था। (७।३।१, वैदिक इंडेक्स, १।३५९)। उसे निकालने के लिये जो लकड़ी के लट्ठे का खटखटा बनाया जाता है, संभवतः उसकी संज्ञा दित्य थी। उसमें जोतकर जिस बछड़े को निकालते

थे उसकी संज्ञा दम्य होती थी। पहले वत्स, फिर दम्य और अन्त में वह बलीवर्द बनता था (बालो युवा वृद्धो वत्सो दम्यो बली वर्द इति, भाष्य, १।१।१, वा० १३)। चतुर किसान अपने बछड़ों में से पहले ही यह पहचान लेते हैं कि किसे साँड़ या बिजार बनाना है। ऐसे चुने हुए बछड़ों को आर्षभ्य कहा जाता था (ऋषभोपानहोर्ञ्यः, ५।१।१४)। ऐसे बछड़े के चौखने के लिये किसान शुरू से ही गाय के थनों में अधिक दूध छोड़ देता है और प्रायः दो थनों का दूध उन्हें देता है। कभी कभी तो ऐसे बछड़े को अपनी माँ का पूरा दूध ही मुखामेल या मुहछुट्ट पीने दिया जाता है। इस प्रकार ऋषभ बननेवाला बछड़ा जब कुछ बड़ा होकर बढ़ने लगता तब उसे जातोक्ष कहते थे (५।४।७७)। जातोक्ष बधिया नहीं किया जाता था। वही जब अपने पूरे यौवन पर आता और उसकी गर्दन पर टाट लोटने लगती तो वह पूर्णकाकुत् कहलाता था (५।४।१४८–१४६)। उस यौवनकाल में उसे महोक्ष यह सम्मानित पद मिलता था (५।४।७७)। उस पूरे सांड या बिजार को प्रत्येक जनपद में पर्याप्त आदर की दृष्टि से देखते थे। जब वह जंगल में खड़ा हुआ दड़ूकता और मठारता तो ऐसा ज्ञात होता मानो सारे जनपद की गायों का सौभाग्य उस महोक्ष में मूर्तिमन्त हो उठा है। इसके बाद जब उसकी उमर ढलने लगती और यौवन बीत जाता तब उसे वृद्धोक्ष कहते थे (५।४।७७)। इस प्रकार असमर्थ बने हुए ऋषभ को भाषा के द्वारा और अधिक सम्मान देने के लिये ऋषभतर कहा जाता था (वत्सोक्षाश्वर्षभेभ्यश्च तनुत्वे, ५।३।९१)। अब यह साँड़ ऋषभ नहीं ऋषभतर हो गया—यह कथन एक ओर तरप् प्रत्यय द्वारा उसका अधिक सम्मान करता है दूसरी ओर उसके तनुत्व या असमर्थता का सूचक है। इसी प्रकार जिस बछड़े को शकट आदि में जोतने के लिये बधिया करते थे वह पूरा जवान होने पर उक्षा और अधेड़ अवस्था का होनेपर उक्षतर कहा जाता था (५।३।९१)। उक्षतर से ही हिन्दी खैरा शब्द बना है (उक्षतर—उक्खयर—उखइर—खइरअ—खैरा)।

बछड़ों का दाँतना और उनकी आयु[1]– दो से ढाई वर्ष की आयु के बीच में बछड़े के दूध के दाँत गिरकर दो पक्के दाँत निकल आते हैं, तब वह द्विदन् कहा जाता है। जिसके दूध के दाँत न टूटे हों उसे भाषा में उदन्त कहते हैं। तीन वर्ष

---

१. गाय बैलों का दाँतना—

आयु	दाँतों की संख्या
२–२॥ वर्ष	दो दांत
तीन वर्ष	चार दांत
साढ़े तीन वर्ष	छह दांत
चार वर्ष	आठ दांत

की आयु में वह चतुर्दन् या चौदन्ता होता है (वयसि दन्तस्य दतृ, ५।४।१४१)। इस समय उसकी नाक छेदकर नाथ डाल दी जाती है और तब से वह नाथहरि हो जाता है (३।२।२५)। लगभग साढ़े तीन वर्ष की आयु में दो दाँत और निकल आते हैं, तब वह षोडन् (हिन्दी छहर) कहा जाता है। पूरे चार वर्ष की आयु में सब दाँत भर जाते हैं और तरुण बैल अष्टदन् हो जाता है। जिसके एक दाँत कम रहे उसे सप्तदन् (हिन्दी सद्दर) कहते थे।

बैल मोल लेते और बेचते समय दाँत देखकर उसकी आयु का अनुमान किया जाता है। ऐसे ही सींगों की नाप से भी आयु की पहचान होती है[1]। खुब्भ या टाट की वृद्धि भी आयु की सूचक है। (ककुदस्यावस्थायां लोपः, ५।४।१४६) उसके लिये भाषा में तीन शब्द प्रचलित थे, असंजातककुत् (बालकः), पूर्णककुत् (मझली उमर का), उन्नतककुत् (वृद्धवया)। कामकाजी बैलों को रथ गाड़ी, तांगा, हल आदि जिसमें जोतना हो उसी के अनुसार उनका अलग अलग वर्गीकरण करके दाने-चारे और टहल का प्रबन्ध किया जाता था। रथ के लिये पूरी नाप का ठाढा बैल पसन्द किया जाता या। हल और गाड़ी में चाहे जैसा भी जोत लेते थे। शौकीन लोग रथ के बैलों को पालने में काफी ध्यान देते थे, क्योंकि उस समय बैलों के रथ की सवारी सबसे अधिक सम्भ्रान्त मानी जाती थी (वाह्यं वाह्यं तथा गवां, शान्तिपर्व १८६।२०)। रथ खींचने वाला बैल रथ्य (४।४।७६), जुवा खींचने वाला युग्य (४।४।७६, जो कुएँ से सिंचाई करता था), बोझ ढोने वाला धुर्य या धौरेय (४।४।७७ धुरो यड्ढकौ), पूरी गाड़ी या सग्गड़ खींचने वाली शाकट (४।४।८०, शकटादण्), और हल खींचने वाला हालिक या सैरिक कहलाता था (हलसीराट्ठक् ४।४।८१)। गाड़ी में केवल एक ओर जुतने का अभ्यस्त बैल एकधुरीण (एकधुराल्लुक् च, ४।४।७९) और दोनों ओर जुतकर जुआ खींचने वाला सर्वधुरीण (खः सर्वधुरात्, ४।४।७८) कहलाता था। पतञ्जलि ने लिखा है, 'वह अच्छा बैल है जो छकड़ा खींचता है। पर जो छकड़े और हल दोनों में चलता है वह और भी बढ़िया है (गौरयं यः शकटं वहति गोतरोऽयं यः शकटं वहति सीरञ्च, ५।३।५५)।

बैलों की प्रसिद्ध नस्लें—पाणिनि ने साल्व जनपद की नस्ल के बैलों को साल्वक कहा है (गोयवाग्वोश्च, ४।२।१३६)। साल्व की पहचान ऊपर की जा चुकी है (अ० २, परि० ४)। उत्तरी राजस्थान के बीकानेर से अलवर तक फैले हुए बड़े भूभाग का नाम साल्व था। मेड़ता और जोधपुर इलाका भी उसी

---

१ शृङ्गमवस्थायाञ्च, ६।२।११५, अङ्गुल शृङ्गः, द्व्यङ्गुल शृङ्गः, उद्गतशृङ्गः।

के अन्तर्गत था। इस प्रदेश के नागौरी बैल आज तक प्रसिद्ध हैं जो चलने में ततैया होते हैं। नागौर के उत्तर-पच्छिम में दूर तक फैला हुआ जो जंगल है उसी में यह नस्ल प्राचीन काल से पनपती आई है (हंटर, इम्पीरियल गजेटियर, १०।१५५)।

पतंजलि ने वाहीक के बैलों का (१।४।१०८, वा० ७), और काशिका ने कच्छी बैलों का (सूत्र ४।२।१३४ के प्रत्युदाहरण रूप में) और रंकु जनपद के रांकव और रांकवायण बैलों का उल्लेख किया है। इनमें से पहली दो नस्लें तो आज तक मशहूर हैं। काठियावाड़ में रैवतक पर्वत की तलहटी में बैलों और गायों की एक विलक्षण जाति अभी तक जीवित है। यहाँ की गाएँ अत्यन्त दुधार और सुहावनी एवं बैल बहुत ही तगड़े और चलनेवाले होते हैं। यही प्राचीन कच्छी-काठियावाड़ी नस्ल होनी चाहिए जिसका रंग सिंह के समान नेत्रसुभग होता है। रांकव बैलों की ठीक पहिचान अभी निश्चित नहीं है।

लक्षण—पशुओं के शरीर या कानों पर अंकित चिन्हों या लक्षणों से उनके स्वामी का बोध होता था (पशूनां स्वामि विशेष सम्बन्ध ज्ञापनार्थम्, काशिका)। पाणिनि ने निम्नलिखित दो सूत्रों में लक्षणों का विधान किया है—

(१) कर्णो वर्ण लक्षणात् (६।२।११)

(२) कर्णे लक्षणस्याविष्टाष्ट-पंच मणि-भिन्न-छिन्न-छिद्र-स्रुव-स्वस्तिकस्य (६।३।११५)

पहले सूत्र का अर्थ है—रंग या लक्षणवाची शब्द पहले हो और कर्ण बाद में, तो कर्ण का आद्य स्वर उदात्त होता है, जैसे शुक्लकर्ण, दात्राकर्ण में। दूसरे सूत्र का अर्थ है—लक्षणवाची शब्द पहले हो, कर्ण शब्द बाद में हो, तो पहले शब्द का अन्तिम स्वर दीर्घ हो जाता है। यदि विष्ट, अष्ट, पंच, मणि, भिन्न, छिन्न, छिद्र, स्रुव, स्वस्तिक—ये नौ लक्षणवाची शब्द पूर्व में हों तो दीर्घ नहीं होता।

गायों पर स्वामित्व का चिह्न अंकित करने की प्रथा वैदिक युग से चली आती थी। अथर्ववेद में लक्षण को लक्ष्म कहा है और मिथुन नामक लक्षण का उल्लेख किया गया है (६।१४१।२-३; १२।४।६)। मैत्रायणी संहिता (४।२।९), मानव श्रौत सूत्र (९।५।१-३), और वाराह श्रौत सूत्र के गोनामिक परिशिष्ट[१] में इस प्राचीन पशुकर्म के विषय में और भी सूचनाएँ दी गई हैं। वनपर्व में दुर्योधन की घोषयात्रा का उल्लेख करते हुए गाय बछड़ों के स्मारण या गिनती करने के लिये उनपर अंक और लक्ष्म अंकित हुए थे (वनपर्व २३९।४, २४०।४)। अर्थशास्त्र में गवाध्यक्ष को आदेश है कि वह व्रज से सम्बन्धित निजकर्म में गायों पर लगाए हुए अंकों का पूरा ब्यौरा रखे (अर्थशास्त्र, २।२९)। अशोक के अभिलेखों में निर्देश है

१. जर्नल ऑफ वैदिक स्टडीज़, लाहौर, जनवरी १९३४, पृ० १६।

कि कुछ विशेष तिथियों में घोड़े और बैलों पर लक्षण न दागे जाएँ[1]। पतंजलि ने लिखा है कि यह लिंग अर्थात् चिह्न गाय के कान पर या पुट्ठे पर लगाना चाहिए (गोः सक्थनि कर्णे वा कृतं लिंगम्, १।३।६२)। अन्यत्र भाष्य में कहा है कि इस प्रकार अंकित गाएँ दूसरी गायों से अलग पहचान ली जाती हैं (अंकं प्रकाशनम्, अंकिता गाव इत्युच्यन्तेऽन्याभ्यो गोभ्यः प्रकाश्यन्ते, ८।२।४८)।

लक्षणों के नाम—पाणिनि ने कर्णे लक्षणस्यादि सूत्र में नौ लक्षणों के नाम दिए हैं। मैत्रायणी संहिता में भी चार नाम हैं। ऋकतंत्र प्रातिशाख्य में पाणिनि से ही मिलता हुआ एक सूत्र है जिसमें सात लक्षणों की सूची है (कर्णे प्लीहाङ्कुश कुण्डलो परिष्टाध्यक्षत बाणानाम्, ऋकतंत्र, सूत्र २१७)। विष्टकर्णी जो पाणिनि की सूची में है मैत्रायणी संहिता के अनुसार अगस्त्य की गायों का चिह्न था। जमदग्नि की गायों के कान पर कर्करी या वीणा का चिह्न, वसिष्ठ की गायों के कान पर स्थूणा या थूनी का चिह्न बनाया जाता था (वैदिक इंडेक्स, ११४६)। पाणिनि में जो अष्टकर्णी चिन्ह है उसका ऋग्वेद (१०।६२।७) में भी उल्लेख आया है। ग्रासमन ने लिखा है कि अष्टकर्णी का तात्पर्य उन गायों से था जिनके कान पर आठ का चिन्ह अंकित किया जाता था (मैक्डानल, वैदिक इंडेक्स, ११४६)। संख्या वाची पांच और आठ चिन्हों के अंकित करने के आधार पर गोल्डस्टूकर का मत है कि प्राचीन भारतवर्ष में लिखने और पढ़ने का आम रिवाज था, क्योंकि ये चिन्ह सामान्य ग्वालों के समझने के लिये ही लगाए जाते थे[2]।

इनमें से कुछ चिन्ह भारत की प्राचीन आहत मुद्राओं पर भी पहचाने जा सकते हैं, जैसे (१) स्रुव, (२) स्वस्तिक, (३) अंकुश, (४) कुण्डल, (५) प्लीहा, (६) बाण, (७) मिथुन[3]।

१ २ ३ ४ ५ ६ ७

---

१. देखिए ऐनीमल्स इन दी इंस्क्रिप्शन्स ऑफ़ पियदसी, पृ० ३७३। वहीं सूत्र साहित्य की निम्नलिखित सामग्री की भी सूचना दी गई है—पारस्कर गृह्यसूत्र, ३।१०; शांखायन, ३।१०; आश्वलायन गृह्य परिशिष्ट ३।८। और भी द्राह्यायण गृह्यसूत्र ३।१।४६ (वहीं भुवन नामक चिह्न अंकित करने का उल्लेख किया गया है)। खादिर गृह्यसूत्र ३।१।४६।

२. गोल्डस्टूकर, पाणिनि हिज़ प्लेस इन संस्कृत लिटरेचर (पाणिनि, संस्कृत साहित्य में उनका स्थान), पृ० ४४।

३. एलेन, काइन्स ऑफ़ एंश्येण्ट इंडिया (प्राचीन भारत की मुद्राएं), आहत चिह्नों की सूची, सूची ४।

लक्षणों की सूची—

ग्रंथ का नाम	लक्षण का नाम	अर्थ
१. पाणिनि (६।३।११५)	१. विष्ट (कर्णी)	मैत्रायणी संहिता में भी है; अर्थ अनिश्चित ।
	२. अष्ट	आठ का अंक
	३. पञ्च	पाँच का अंक
	४. मणि	मनका या गुरिया
	५. भिन्न	फटा हुआ कान
	६. छिन्न	कटा हुआ कान
	७. छिद्र	बिंधा हुआ कान; मैत्रायणी संहिता में भी है ।
	८. स्रुव	चम्मच का निशान
	९. स्वस्तिक	स्वस्तिक का चिह्न
२. मैत्रायणी संहिता (४।२।९)	१०. स्थूणा	थूनी के आकार का चिह्न (वनपर्व, १६३।३२, अर्जुन के बाण का चिह्न)
	११. कर्करी	वीणा
	१२. पुछिन्द्या	संभवतः पूँछ
	१३. दात्र	दराँत या हँसिया; काशिका में भी उदाहृत
३. अथर्ववेद (६।१४१।२)	१४. मिथुन	स्त्री-पुरुष
४. ऋक् तंत्र (सूत्र २१७)	१५. प्लीहा	तिल्ली
	१६. अंकुश	अंकुश
	१७. कुण्डल	मण्डलाकार घेरा
	१८. उपरिष्ट	ऊपर की ओर मुड़े हुए
	१९. अधि	भीतर की ओर मुड़े हुए
	२०. अक्षत	पूर्ण सुडौल
	२१. बाण	बाण
	२२. शंकु	खूँटा या कीली
५. काशिका (६।२।११२, ६।३।११५)	२३. द्विगुण	दोहरे मुड़े हुए
	२४. त्रिगुण	तिहरे मुड़े हुए
	२५. द्व्यंगुल	दो अंगुली का चिन्ह
	२६. अंगुल	एक अंगुली का निशान
६. द्राह्यायण गृह्यसूत्र (३।१।४६)	२७. भुवन	संभवतः ब्रह्माण्ड का गोल निशान

अध्याय ४, परिच्छेद ४–शिल्प

अष्टाध्यायी में शिल्पी शब्द चारु शिल्पी और कारुशिल्पी दोनों के लिये प्रयुक्त हुआ है। नर्तक, गायन, वादक जिस नृत्य संगीत की साधना करते हैं उस ललित कला को भी उस समय शिल्प कहा जाता था (३।१।१४६, ३।२।५५, ४।४।५६)। कुम्हार आदि के मोटे हुनर को भी शिल्प कहते थे (६।२।६२)। ठीक यही अर्थ बौद्ध साहित्य में सिप्प का है। वहाँ नट लंघक आदि की कलाबाजी को भी सिप्प कहा गया है। कौषीतकी ब्रा० में नृत्य और गीत को शिल्प माना है (२९।५)। अर्थ शास्त्र में सैनिक शिक्षा भी एक शिल्प है (शिक्षित सैनिक—शिल्पवन्तः पादाताः ५।३) और राजा द्वारा सेना का निरीक्षण शिल्पदर्शन कहा गया है।

हाथ से शिल्प या उद्योग धन्धा करनेवाले के लिये उस समय 'कारि' शब्द प्रयुक्त होता था (सेनान्त लक्षणकारिभ्यश्च ४।१।१५२)। काशिका में कारि का अर्थ कारु शिल्पी किया गया है (कारिशब्दः कारूणां तन्तुवायादीनां वाचकः)। अर्थशास्त्र में कारि शब्द नहीं, कारु है (कारुशिल्पिनः, अर्थ० २।३६)। कात्यायन ने भी शिल्पी के लिये पाणिनीय कारि शब्द का प्रयोग किया है (४।१।१५९ वा०)।

शिल्पियों के भेद—सूत्रों में ग्रामशिल्पी (६।२।६२), ग्रामतक्षा ५।४।९५ और कुलाल का उल्लेख है। पतंजलि ने लिखा है कि उस समय के प्रत्येक गांव में कम से कम पाँच प्रकार के शिल्पी अवश्य पाए जाते थे—तत्र चावरतः पञ्चकारुकी भवति (१।१।४८)। नागेश ने उनके नाम इस प्रकार दिए हैं-कुम्हार, लोहार, बढ़ई, नाई और धोबी। पाणिनि ने कुशल शिल्पियों को राजशिल्पी कहा है। (राजा च प्रशंसायाम् ६।२।६३,) जैसे राजनापित, राजकुलाल। संभवतः ये लोग राजकुल से संबन्धित होने के कारण प्रशंसित और कर्मकुशल समझे जाते थे। पतंजलि ने स्पष्ट लिखा है कि जो बढ़ई राजा के लिये काम करता है, वह फिर निजी काम अर्थात् घर पर बैठकर जनता का काम नहीं करता (तक्षा राजकर्मणि प्रवर्तमानः स्वं कर्म जहाति, भा० २।२।१)। राजकुल के कर्मों में नियुक्त शिल्पियों को जनता का काम करने का निषेध पतंजलि के पहले से ही चला आता था। इसके विपरीत जो सर्वसाधारण के लिये काम करते थे। उनमें भी दो प्रकार के शिल्पी थे। एक वे जो अपने ठीहे कर बैठ पर ही काम करते थे[1] और दूसरे वे जो बुलाए जाने पर किसी के भी घर जाकर काम कर आते थे। विशेष रूप से बढ़इयों के लिये आज भी यह बात ठीक घटित होती है। ग्रामकौटाभ्यां तक्ष्णः (५।४।९५) सूत्र में

---

(१) कश्मीरी भाषा में भी इसके लिये शब्द है—तोर्क छान, वह बढ़ई जो अपनी दूकान पर काम करे, गाँव में काम करने न जाय।

पाणिनि ने दोनों प्रकार के तक्षाओं का उल्लेख किया है। अपनी कुटी या घर की दूकान पर काम करनेवाला कौटतक्षा और भृति या मजदूरी पर गांव में जाकर काम करनेवाला ग्रामतक्षा कहलाता था। अपने ठीहे पर काम करने वाले को लोग कुछ अधिक संमानित समझते हैं।

शिल्पों का विवरण—संगीत नृत्य, गीत आदि शिल्पकार्य में प्रवृत्त शिल्पियों के लिये सूत्रों में निम्नलिखित शब्द आए हैं—

गाथक (३।१।१४६) गायन (३।१।१४७)। माडडुकिक (४।४।५६), झार्झरिक (४।४।५६), पाणिघ (३।२।५५), ताडघ (३।२।५५), नर्तक (३।१।१४५, वार्त्तिक के साथ)।

अन्य शिल्पियों के नाम ये हैं—कुलाल (४।३।११८), कुम्भकार (गणपाठ) उसके बनाए हुए मिट्टी के बर्तन कौलालक कहलाते थे। तक्षा (५।४।९५) का मुख्य कार्य रन्दे बसूले से लकड़ी का गढना छीलना (तनूकरण) था। उसके उपकरणों में उद्घन (३।३।८०) वह ठीहा था, जिस पर रखकर वह अदद तैयार करता है। पाणिनि के युग में तक्षा या बढ़ई का महत्त्वपूर्ण स्थान था। सूत्र २।४।२३ के उदाहरण में काष्ठ सभा और ५।१।१६ के उदाहरण में प्रासादीय दारु का उल्लेख है। इनसे सूचित होता है कि राजमहल और उनकी सभा (आस्थान मंडप या दरबार) पूरे लकड़ी के बड़े बड़े लट्ठों को गढ़ छील कर बनाए जाते थे। जातक कथाओं में पाँच-पाँच सौ बढ़इयों के गाँवों के उल्लेख से काष्ठमय वास्तु का महत्त्व सूचित होता है। धनुष्कर (३।२।२१) सामान्य धनुष और महेष्वास (६।२।३८) नाम के विशेष धनुष का उल्लेख है। तालादि गण में कहा गया है कि धनुष ताड़ की लकड़ी के बनाए जाते थे ४।३।१५२, तालाद् धनुषि)। महेष्वास वह बड़ा धनुष था जो पूरे ६ फुट का मनुष्य की लम्बाई के बराबर होता था। यूनानी इतिहास लेखकों के अनुसार उसका एक सिरा भूमि पर टेककर बाण चलाया जाता था।

रजक (३।१।१४५, वा० के अनुसार)—सूत्रों में कई प्रकार के रंगों से रँगे हुए वस्त्रों का उल्लेख है (तेन रक्तं रागात्, ४।२।१) रंग और रँगने का मसाला (गुण और द्रव्य) इन दोनों के लिये राग शब्द था (६।४।२६-२७ घञि च भाव-करणयोः भावे—विचित्रो रागः, करणे—रज्यतेऽननेति रागः)। लाल रंग से रंगा हुआ वस्त्र लोहितक (५।४।३२-रक्ते-लोहितकः कम्बलः लोहितकः पटः, लोहितिका शाटी) और काल से रंगा कालक कहलाता था (कालाच्च, ५।४।३३, कालकः पटः, कालिका शाटी)। लाक्षा या लाखी रंग (४।२।२) जिसे जतु भी कहते थे (४।३।१३८) वस्त्र रँगने के लिये और लकड़ी पर चढ़ाने के लिये इस देश में सदा से अत्यन्त प्रिय माना जाता रहा है। उसके रँगे हुए सामान को लाक्षिक या जातुष कहते थे (लाक्षया रक्तं वस्त्रं लाक्षिकं—काशिका) इसी प्रकार मञ्जिष्ठ (८।३।९७),

नीली (४।१।४२) और रोचना या गोरोचन (४।२।२) इन चटकीले रंगों से भी वस्त्र रंगे जाते थे। कात्यायन के अनुसार शकल और कर्दम से भी वस्त्र रंगने का रिवाज था, जिन्हें शाकलिक या कार्दमिक कहते थे (४।२।२ वा०)। वार्तिककार ने हरिद्रा और महारजन नामक रंगों का भी उल्लेख किया है (४।२।२)। ३।१ १४५ सूत्र पर वार्त्तिक में खनक का उल्लेख है। आकर या खानों से प्राप्त होनेवाली आय आकरिक कहलाती थी (ठगायस्थानेभ्यः, ४।३।७५)। काशिका में प्रस्तार (३।३।३२) का अर्थ ऐसी खान है जहाँ रत्न या मणि निकलती हों (मणिप्रस्तारः)। अर्थशास्त्र में भी यह अर्थ है। प्रस्तारों में काम करने वाले वाणिजों को प्रास्तारिक कहते थे (४।४।७२, प्रस्तारे व्यवहरति)।

धातु और रत्नों का उल्लेख इस प्रकार है—

हिरण्य, जातरूप (४।३।१५३), वैदिक उपचाय्यपृड (= सोना ३।१।१२३), रजत (४।३।१५४), अयस्) (लोहा, ५।४।९४), कांस्य (फूल, ४।३।१३८), त्रपु (रांगा, ४।३।१३८)। पाणिनि ने अयस् को जाति और संज्ञा दोनों अर्थों में लिया है। काशिका में उसके दो प्रकार कहे गए हैं कालायस् (लोहा) और लोहितायस् (तांबा)। रजतादि गण में लोहे और सीसे का उल्लेख है। उनकी बनी वस्तुएँ लौह और सैस कहलाती थीं।

मणि—लोहितक संभवतः माणिक्य या लाल की संज्ञा थी (लोहितान्मणौ, ५।४।३०)। अनुमान होता है कि पद्मराग रत्न का नाम था और लोहितक केवल संग या उसकी अपेक्षा घटिया किस्म का पत्थर होता था।[1] यह हकीक या तामड़े की कोई जाति होनी चाहिए। सस्येन परिजातः (५।२।६८) सूत्र के उदाहरण में काशिका ने सस्यक को मणि कहा है। कल्पसूत्र में प्राचीन रत्नों की सूची के अन्तर्गत सासग या सस्यक का नाम आता है (३।१३)। अनुमान होता है कि यह पन्ने का प्राचीन नाम था, जिसे बाद में कुषाण-गुप्तकाल के लगभग मरकत कहने लगे। श्री मोतीचन्द्र जी का विचार है कि लालसागर में मरकत बन्दरगाह से आने के कारण पन्ने का नाम मरकत पड़ा। सूत्र ४।३।८४ (विदूराञ्ञ्यः) पर भाष्यकार ने वैदूर्यमणि का उल्लेख करते हुए लिखा है कि यह मणि वालवाय पर्वत में होती थी, किन्तु विदूर नगर के वैकटिक (हिन्दी बेगड़ी) उसे तराशते या उसका संस्कार करते थे, अतएव वह वैदूर्यनाम से प्रसिद्ध हुई। काशिका ने वालवाय नामक पर्वत का उल्लेख किया है (६।२।७७), किन्तु उसकी पहचान निश्चित नहीं।

(६) तन्तुवाय—शिल्पिनि चाकृञः (६।२।७६) सूत्र पर तन्तुवाय का उल्लेख व्याख्याकारों ने किया है। जहाँ कपड़ा बुना जाता था, उस स्थान को आवाय (आवयन्ति अस्मिन् ३।३।११२) और करघे को तन्त्र (५।२।७०) और ढरकी को प्रवाणी (५।४।१६० तन्तुवायशलाका) कहते थे। जो वस्त्र अभी नया-नया करघे से

१–पंचतन्त्र के अनुसार लोहितक मणि पद्मराग से घटिया होती थी—लोहिताख्यस्य मणेः पद्मरागस्य चान्तरम्। यत्र नास्ति कथं तत्र क्रियते रत्न विक्रयः॥ —पंचतन्त्र १।८५

उतरा हो, उसे तन्त्रक (तन्त्रादचिरापहृते, ५।२।७०), नवक या निष्प्रवाणि कहा जाता था (५।४।१६०, अपनीतशलाकः समाप्तवाणः)। पाणिनि ने वस्त्र के लिये प्रायः आच्छादन शब्द का प्रयोग किया है। सूत्र युग की भाषा में वही चालू शब्द था (वशिष्ठधर्मसूत्र १७।६२; १८।३३)। पतंजलि ने अपने युग के कुछ प्रसिद्ध वस्त्रों के नाम दिए हैं, जैसे शैफालिक (हरिसिंगार या पारिजात का रंगा हुआ), काशिक (काशि जनपद का बना हुआ जिसे जातकों में कासेय्यक या वाराणसेय्यक कहा गया है), माध्यमिक अर्थात् चित्तौड़ के पास प्राचीन मध्यमिका नगरी का बना हुआ वस्त्र, और मथुरा के बने हुए शाटक (५।३।५५ सूत्र पर भाष्य; शिवसूत्र १ वार्तिक १६, तानेव शाटकानाच्छादयामो ये मथुरायाम्)।

(७) कम्बलकारक—पाणिनि के समय में इस देश में अनेक प्रकार के कम्बल बनाए जाते थे, विशेषतः उत्तर-पश्चिमी भारत से सब प्रकार के ऊनी वस्त्र और कम्बल बनकर मध्यदेश में आते थे। पाणिनि ने निम्नलिखित कम्बलों का उल्लेख किया है—(१) प्रावार (३।३।५४)—इसका उल्लेख महाभारत आदि में बहुधा आता है। (२) पाण्डु-कम्बल (४।२।११) (३) पण्यकम्बल (६।२।४२)। कात्यायन ने वर्णक कम्बल का नाम दिया है (७।३।४५) जिसका उल्लेख अर्थशास्त्र में भी है (२.११)। काशिका में रांकव भी एक प्रकार का कम्बल माना है। यह रंकु नाम की बकरियों के लम्बे बालों से बनता था (४।२।१०० का प्रत्युदाहरण)। पण्य कम्बल निश्चित नाप और तोल का बाजार में चालू कम्बल था। उसमें जो ऊन लगती थी, उसे उस कारण कम्बल्य कहते थे (कम्बलाच्च संज्ञायाम् ४।१।२२ कम्बल्य; ५।१।३)। सौ पल या ५ सेर ऊन की संज्ञा कम्बल्य थी (कम्बल्यमूर्णापलशतम्)।

पाण्डुकम्बल – पाणिनि के अनुसार इस कम्बल से मढ़े हुए रथ पाण्डुकम्बली कहलाते थे (४।२।११)। काशिका ने इसे राजसिंहासन पर बिछाने के लिये बढ़िया मेल का रंगीन कम्बल कहा है (राजास्तरणस्य वर्णकम्बलस्य वाचकः)। इन्द्र के हाथी और आसन पर भी बिछाने के लिये जातकों में इसका उल्लेख है (जातक ६।४९०; २।१८८; ३।५३; ४।८)। वहाँ यह भी कहा गया है कि यह चटकीले लाल रंग का कम्बल गन्धार देश में बनता था (इन्दगोपकवण्णाभा गन्धारा पाण्डुकम्बला, वेस्सन्तरजातक ६।५००)। महावाणिजजातक[१] में उड्डियान कम्बल का उल्लेख है। स्वात की द्रोणी प्राचीन गन्धार या उड्डियान के नाम से प्रसिद्ध थी। आज भी वहाँ विशिष्ट प्रकार के कम्बल बनते हैं, जो सारे उत्तर-पच्छिमी भारत में स्वाती कम्बल के नाम से प्रसिद्ध हैं। श्री आरेल स्टाईन ने स्वातघाटी की अपनी पुरातत्व परायण यात्रा में पता लगाया कि ये कम्बल वहाँ की स्वाती स्त्रियाँ अभी तक बुनती हैं। इनके किनारे अत्यन्त सुहावने चटकीले लाल रंग के होते हैं।

---

१ कासिकानि च वत्थानि उड्डियाने च कम्बले, ४।३५२।

(८) चर्मकार—चमड़े की बनी हुई कई वस्तुओं का सूत्रों में उल्लेख है (चर्मणोऽञ् , ५।१।१५), जैसे नध्री (हिन्दी नाड़ ३।२।१८२), वह तस्मा जिससे बैलों को जुए में नाधते हैं; वध्रे (हिन्दी बद्धी), चमड़े की दुवाली या रस्सी। काशिका में वारत्र चर्म उदाहरण दिया है (५।१।१५)। इससे ज्ञात होता है कि कभी कभी मोटी बरत या कुआँ चलाने की रस्सी या शकट गाड़ी में बाँधने की रस्सी भी चमड़े की बनाई जाती थी। 'पूरे चमड़े का बना हुआ' इस अर्थ में सर्वचर्मीण या सार्वचर्मीण प्रयोग भी चलता था (सर्व चर्मणा कृतः खखञौ ५।२।५)। इस शब्द का प्रयोग उस वस्तु के लिये होता था जिसके बनाने में गाय भैंस के चमड़े का पूरा थान लग जाय। जैसे प्रायः कुएँ से पानी उठाने के लिये मोट, चरस या पुर के बनाने में ऐसा किया जाता है। लोक में जूता बनवाने के दो प्रकार हैं, एक तो मोची को बुलाकर पैर की नाप देकर और दूसरे हाट में जाकर जो भी अपने पैर की नाप का हो पहन लेते हैं। पहले प्रकार की पनही के लिये लोक में अनुपदीना शब्द चलता था, जिसका पाणिनि ने उल्लेख किया है (अनुपदं बद्धा ५।२।९) गावों में वह अच्छी और मजबूत मानी जाती है। दूसरी में विशेषता न होने से उसके लिये भाषा में शब्द की आकांक्षा नहीं हुई।

कर्मार (लोहार)—उसके निम्नलिखित औजारों का उल्लेख है—भस्त्रा (७।३।४७), अयोघन या घन नामक हथौड़ा (३।३।८२), कुटिलिका या आँकुडा (४।४।१८) जिसके कारण लोहार के लिये कौटिलिक शब्द भाषा में चल गया (अण् कुटिलिकायाः ४।४।१८)। वह गाँव में नाना प्रकार की उपयोगी वस्तुएँ तैयार करता था, जैसे लोहे की बनी हुई हल की कुशी या फाल (४।१।४२, अयोविकार कुशी), एवं द्रुघन या कुल्हाड़ी (३।३८२)।

सुवर्णकार—सूत्रों में कर्णिका, ललाटिका, ग्रैवेयक, अंगुलीयक आदि आभूषणों के नाम आए हैं। उन्हें सुनार तैयार करते थे। वे कसौटी पर सोना कसने में कुशल होते थे, जिसके कारण उन्हें आकर्षिक कहा जाता था (५।२।६४, आकर्षे कुशलः आकर्ष इति सुवर्णपरीक्षार्थो निकषोपलः)। कसौटी लेकर जो लोग घरों में जाकर सोना कसते और उसका बान बताते थे, उन्हें भी आकर्षिक कहा जाता था (आकर्षेण चरति आकर्षिकः ४।४।९)।

पाणिनि ने सुनारों की भाषा के एक विशेष प्रयोग का उल्लेख किया है—निष्टपति सुवर्णम् (निसस्तपतावनासेवने, ८।३।१०२)। इस वाक्य का ठीक अर्थ यह था—'वह सोने को आँच में केवल एक बार तपाता है।' इसकी पृष्ठभूमि यों समझनी चाहिए। अपनी भट्टी और घरिया के सामने बैठा हुआ सुनार तीन तरह के ग्राहकों का काम भुगताता है। पहले वे जो गहने बनाने के लिये उसके पास नया सोना चाँदी लाते हैं। दूसरे वे जो पुराने आभूषण लाकर देते हैं कि उन्हें गलाकर फिर नए गहने बनाए जायँ। इन दोनों के सोने को लेकर वह उसे बारबार

तपाता और पीटता या बढ़ाता है। उसके लिये भाषा का प्रयोग 'निस्तपति सुवर्णम्' था। तीसरे प्रकार के ग्राहक वे होते हैं जो अपने गहने गलाने के लिये नहीं, बल्कि सफाई और चमकाने के लिये लाते हैं। सुनार उन्हें लेकर एकबार अग्नि में तपाता है, और रगड़कर या बुझाकर उन्हें फिर नए जैसा चमकीला कर देता है। अनासेवन अर्थात् एक बार इस पद का यही संकेत है। इस तीसरी प्रक्रिया के लिये ही भाषा में, 'निष्टपति सुवर्णं सुवर्णकारः' प्रयोग चलता था (मूर्धन्य षकार का आदेश इसमें हुआ है)

(११) बन्धानी—अपने देश में पत्थर का काम बहुत पुराने समय से चला आता है। पत्थर की शिलाओं और खंभे आदि उठाने के लिये बन्धानी होते थे, जो लकड़ी की सोंटों या डंडों से और रस्सियों से भारी बोझ उठाकर एक स्थान से दूसरे स्थान में पहुँचाते थे। वे लोग रस्सियों में कई तरह की मजबूत गाँठे लगाते हैं, उन्हें प्राचीन भाषा में बन्ध कहते थे। संज्ञायाम् (३।४।४२) एवं अधिकरणे बन्धः (३।४।४१) सूत्रों पर काशिका ने कुछ पुराने बन्धों का उल्लेख किया है, जैसे क्रौञ्ची बन्ध, मयूरिका बन्ध, अट्टालिका बन्ध (बन्धविशेषणां नामधेयानि)। अर्थशास्त्र में वृश्चिकबन्ध नाम आता है (अर्थ ४।८)। ये बन्धानियों की गाठों, फन्दों या फाँसों के नाम थे।

अध्याय ४, परिच्छेद ५—कर्मकर और भृति

कर्मकर—अनसिखिये मजूर जिन्हें कहीं भी किसी काम पर लगा लिया जाय कर्मकर कहलाते थे (३।२।२२, कर्मणि भृतौ, कर्म करोतीति कर्मकरः)। वे अपने शरीर या हाथ पांव की मेहनत तो कर सकते हैं, पर किसी प्रकार का शिल्प नहीं जानते। खेतिहर मजदूर भी कर्मकर कहलाते थे। ऐसे मजदूरों के लिये हिन्दी में कमेरा शब्द चलता है (कर्मकर > कम्मयर > कम्मइर > कमेरा)। उनकी मजदूरी भृति कहलाती थी (भृतिर्वेतनम्, काशिका, ३।२।२२)। कमेरों को काम पर लगाने के लिये भाषा में 'कर्मकरानुपनयते' वाक्य प्रयुक्त होने लगा था (१।३।३६, काशिका, भृतिदानेन समीपं करोतीत्यर्थः)।

शिल्प जाननेवाले कारीगर शिल्पी या कारि कहलाते थे। उनकी मजदूरी या उजरत को वेतन कहा गया है (शिल्पिनो नाम स्वभृत्यर्थमेव प्रवर्तन्ते वेतनञ्च लप्स्यामहे, भाष्य, ३।१।२६, वा० १४)। पाणिनि ने वेतन द्वारा जीविकोपार्जन करनेवाले को वैतनिक कहा है (वेतनादिभ्यो जीवति, ४।४।१२)। अर्थशास्त्र के अनुसार वेतन शब्द के दो अर्थ थे। शिल्पियों को मिलने वाला द्रव्य विशेष भी वेतन कहलाता था (अर्थ० २।२३)। राजकर्मचारियों को जो नौकरी मिलती थी उसे भी वेतन कहते थे (अर्थ० ५।३)।

शिल्पियों के काम करने का मुख्य उद्देश्य जीविकोपार्जन करना था (अके जीविकार्थे, ६।२।७३)। नियत काल के लिये नियत वेतन पर किसी व्यक्ति को काम

के लिये स्वीकृत करना परिक्रयण कहलाता था (परिक्रयणे सम्प्रदानमन्यतरस्याम्, १।४।४४, परिक्रयणं नियतकालं वेतनादिना स्वीकरणम्, नात्यन्तिक क्रय एव)। जो व्यक्ति इस प्रकार परिक्रीत होता वह अपने परिक्रेता से वेतन जान लेने पर उसकी औपचारिक स्वीकृति देता था। उसी के लिये इस प्रकार के प्रयोग भाषा में चलते थे--शताय (या शतेन) परिक्रीतोऽनुब्रूहि; सहस्राय (या सहस्रेण) परिक्रीतो ऽनुब्रूहि, अर्थात् एक शत या एक सहस्र कार्षापण मुद्रा पर तुम्हें काम पर रख लिया गया, उसे स्वीकार करो। भृति या मजदूरी पर लगाए हुए मजदूर का नाम या तो उसकी मजदूरी से और या उसके कार्यकाल से रक्खा जाता था, (५।१।५६ सोऽस्यांश वस्नभृतयः, पञ्चभृतिरस्य पञ्चकः, सप्तकः, साहस्रः) पंचक वह मजदूर हुआ, जिसे पाँच कार्षापण माहवार मिलें। अथवा मासिक वह जिसे महीने भर के लिये काम पर लगाया गया हो (तमधीष्टो भृतो भूतो भावी, ५।१।८०)। दैनिक से भेद करने के लिये मासिक शब्द था। आजकल रोजीना और माहवारी के हिसाब से मजदूरों को मजदूरी दी जाती है। भृति या वेतन की गणना की इकाई एक मास माना जाता था, जैसे कर्मकरः मासिकः मासं भृतः। कात्यायन ने भी इसका समर्थन किया है (५।४।११६, वा० मासाद् भृतिप्रत्यय पूर्वपदाट्ठज् विधिः, पञ्चकः मासोऽस्य पञ्चकमासिकः कर्मकरः, सूत्र, ५।१।५६ के साथ)। इस वार्तिक पर विचार करते हुए पतञ्जलि ने अपने समय के कर्मकरों की मासिक भृति का कुछ सङ्केत दिया है, जैसे पञ्चकमासिकः, षट्कमासिकः, दशकमासिकः, अर्थात् पाँच छः या दस कार्षापण मासिक पानेवाला मजदूर। भाष्य में एक जगह ऐसे मजदूरों का भी उल्लेख है जो रोजाना मजदूरी पर रक्खे जाते थे। उनकी मजदूरी चांदी का चौथाई कार्षापण कही गई है, जो साढ़े सात कार्षापण माहवारी हुआ (कर्मकराः कुर्वन्ति पादिकमहर्लप्स्यामहे, १।३।७२)। इसी के साथ कौटिल्य का वह प्रमाण भी सङ्गत हो जाता है जिसमें कहा गया है कि उन मजदूरों को जो खाना भी पाते हैं, सवा कार्षापण प्रतिमास मजदूरी दी जायगी (अर्थ ५।३)। यह स्थिति उन दास कर्मकरों की थी, जो मुख्यतः खाने कपड़े पर रक्खे जाते थे। भाष्य में उनके विषय में लिखा है—तथा यदेतद्दासकर्मकरा नामैतेऽपि स्वभूत्यर्थमेव प्रवर्तन्ते भक्तञ्चेलञ्च लप्स्यामहे, परिभाषाश्च न नो भविष्यन्ति, भाष्य, ३।१।२६ वा० १४)। रोजाना भोजन पर रहनेवाले मजदूर भाक्त या भाक्तिक कहलाते थे (४।४ ६८)। जातकों में मजदूरों को यवागू और भक्त देने का उल्लेख आता है

अध्याय ४, परिच्छेद ६–वाणिज्य-व्यापार

वाणिज्य-व्यापार के सम्बन्ध में सूत्रों में पर्याप्त सामग्री आ गई है। ये शब्द विशेष ध्यान देने योग्य हैं--वाणिज, निमान, क्रय विक्रय, क्रयविक्रयिक, आपण, पण्य, शुल्क, देय ऋण।

व्यवहार—वाणिज्य-व्यापार के लिये सामान्यतः शब्द व्यवहार चालू था। उसे पण भी कहा गया है। व्यवहार का मुख्य लक्षण क्रय-विक्रय है (४।४।१३)। ज्ञात होता है कि व्यवहार आयात-निर्यात सम्बन्धी व्यापक व्यापार के लिये और पण स्थानीय क्रय-विक्रय के लिये प्रयुक्त होता था। आपण अर्थात् दूकान या बाजार में क्रय-विक्रय के लिये प्रदर्शित वस्तुएँ पण्य कहलाती थीं (४।४।५१)।

वाणिज—व्यापारियों के लिये वणिक् (३।३।५२) और वाणिज (६।२।१३) ये दोनों शब्द प्रयुक्त होते थे। किसी भी जाति का व्यापारी हो वह वाणिज कहलाता था। वैश्यों के लिये वह शब्द सीमित न था; जैसे मद्रवाणिज, मद्र देश के साथ व्यापार करने वाला कोई भी व्यक्ति हो सकता था।

व्यापारियों के नाम कई कारणों से पड़ते थे, उनके व्यवसाय की विशेषता से, व्यापार की वस्तुओं से, पूंजी के आधार पर अथवा वे जिन देशों से वाणिज्य करते हों उनके नाम से। सूत्रों में इन सब का उल्लेख यथास्थान किया गया है।

क्रय-विक्रयिक (४।४।१३ वस्नक्रयविक्रयाट् ठन्, क्रय-विक्रयेणजीवति) वह व्यापारी था, जिसका मुख्य काम लेवा-बेची या खरीद-फरोख्त था। यह थोक-व्यापारी हुआ, जो सामान एक जगह भरकर दूसरी जगह ले जाकर बेचता था। वस्निक उस व्यापारी की संज्ञा होती थी, जो रोकड़-पूंजी व्यापार में लगाता हो, चाहे स्वयं उसकी देखभाल न भी करता हो (वस्नेन जीवति ४।४।१३)। एक प्रकार से क्रय-विक्रयिक और वस्निक का यही परस्पर भेद था कि एक की पूंजी या रोकड़ लगती थी और दूसरा मुख्यतः काम-काज देखता था। पाणिनि ने एक विशेष प्रकार के व्यापारी को सांस्थानिक कहा है (४।४।७२ संस्थाने व्यवहरति)। संस्थान का अर्थ विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है। प्राचीन भारत में आर्थिक जीवन की तीन मुख्य संस्थाएँ थीं। शिल्पियों के संगठन को श्रेणी, व्यापारियों के संगठन को निगम (३।३।११९, निगच्छन्तीति निगमः) और एक साथ माल लाद कर वाणिज्य करने वाले व्यापारियों को सार्थवाह कहते थे। सार्थवाह और श्रेणी दोनों ही महाभारत में प्रयुक्त हुए हैं। सार्थवाह का तो विशेष उल्लेख जातकों में आता है। पाणिनि में सार्थवाह शब्द का प्रयोग नहीं मिलता, किन्तु व्यापार की यह विधि उस समय भी अवश्य विद्यमान थी। विचार करने से अनुमान होता है कि पाणिनि का सांस्थानिक शब्द सार्थवाह के लिये ही प्रयुक्त हुआ है। सार्थ या समूह में व्यापार करने वाले लोगों को सार्थवाह शब्द के जन्म के पहले सांस्थानिक कहा जाता हो, ऐसी संभावना है (संस्थान = समूह)।

सूत्रों में दो प्रकार के व्यापारियों का और उल्लेख है, प्रास्तारिक (प्रस्तारे व्यवहरति) एवं काठिनिक (कठिने व्यवहरति ४।४।७२)। पहले व्यापारी खनिज धातुओं में और दूसरे बाँस, बबई (बल्वज) बाध (बार्ध—काशिका) आदि के जंगलों की उपज की ठेकेदारी का काम करते थे।

व्यापारिक वस्तुओं के नाम से भी व्यापारी लोग प्रसिद्ध हो जाते थे, जैसे अश्ववाणिजः गोवाणिजः (६।२।१३)। इसी प्रकार उन देशों के नाम से जिनके साथ वे प्रायः व्यापार करते थे व्यापारियों का नाम पड़ता था (गन्तव्य पण्यं वाणिजे ६।२।१३), जैसे काश्मीरवाणिज मद्रवाणिज, गान्धारिवाणिज (मद्रादिषु गत्वा व्यवहरन्तीत्यर्थः)। व्यापारियों में जो उच्चस्थानीय या चोटी के होते थे, वे औरों की तुलना में परमवाणिज या उत्तमवाणिज कहलाते थे। इन उदाहरणों से प्राचीनकाल के अन्तर-प्रान्तीय व्यापार का संकेत मिलता है। जातकों में वर्णन आता है कि प्राच्य देश के व्यापारी उत्तर-पश्चिमी भारत में जाकर व्यापार करते थे, जैसे विदेह के व्यापारी कश्मीर और गन्धार में (३।३६५), एवं मगध के व्यापारी धुरपश्चिम के सौवीर देश में (विमानवत्थु अट्ठकथा, पृ० ३३६), अथवा वाराणसी के व्यापारी उज्जैन (जातक २।२४८) या श्रावस्ती में (२।२९४)। भाषा की प्रकृति से ज्ञात होता है कि दूरस्थ प्रदेशों के साथ व्यापार करने वाले व्यक्तियों के लिये ही इस प्रकार के विशेष शब्दों की आवश्यकता पड़ती होगी। उन्हीं में सूत्रार्थ की चरितार्थता अधिक है।

आपण (३।३।११९)—दूकान या बाजार के लिये आपण शब्द था (एत्य तस्मिन् आपणन्त इत्यापणः, काशिका) बिक्री की वस्तुएँ पण्य या पणितव्य कहलाती थीं (३।१।१०१)। पण्य सामान्य शब्द था। कोई वस्तु भाण्डशाला में बिक्री के निमित्त रखी हो, तो भी पण्य हो सकती थी, किन्तु जो वस्तुएं बिक्री के निमित्त दूकान में सजाकर रखी जाती थीं, उनके लिये क्रय्य शब्द प्रयुक्त होता था (क्रय्य स्तदर्थे, ६।१।८२)। महाभारत में क्रय्य के विशिष्ट अर्थ में पण्य का भी व्यवहार हुआ है, जैसे 'पण्यानां शोभनं पण्यम्' (शान्ति पर्व १८६।२०) का अर्थ यह है कि जो बिक्री की वस्तुएँ हों, उनमें वे उत्तम हैं जो उस निमित्त से पण्य रूप में दुकान या बाजार में सजाई हुई हैं। सूत्र का क्रय्य शब्द ठीक उन्हीं के लिये है।

तेन क्रीतम् (५ १।३७)—इस प्रकरण में कई सोने-चांदी और तांबे की मुद्राओं का उल्लेख है जो उस समय व्यवहार में काम आती थीं (आगे परिच्छेद ९ । बाजार में माल खरीदने के लिये सिक्कों का चलन आम बात थी। पहले की उस स्थिति से लोग आगे बढ़ गए थे, जिसमें वस्तुओं की अदलाबदली ही व्यापार का मुख्य साधन होती थी। वस्तुओं का मूल्य दुकानदार और ग्राहकों के बीच में सिक्कों में ही चुकाया जाता था। इस के बड़े सौदे भी होते थे, जैसा पाणिनि ने उल्लेख किया है। जो सामान एक सहस्र कार्षापण से खरीदा जाय वह साहस्र कहलाता था (५।१।२७, सहस्रेण क्रीतम्)। हर बड़ी संख्या से भाषा में शब्द नहीं बना करता, पर शत और सहस्र ऐसी संख्याएँ हैं, जो प्रायः भाषा में व्यवहृत होती हैं, अतएव उनके संबन्ध में ही शत्य और साहस्र शब्द प्रचलित हो गए। बाजार में सोने के निष्क से लेकर तांबे के माष तक बीसियों प्रकारके सिक्के

चलते थे। उनके आधार पर छोटे बड़े मूल्य की अनेक प्रकार की क्रीत वस्तुओं के लिये बहुत से शब्द लोक में चालू थे, जैसे नैष्किक (एक निष्क की वस्तु ५।१।२०), द्विनिष्क या द्विनैष्किक, त्रिनिष्क या त्रिनैष्किक (५।१।३०), शतमान (५।१।२७), विंशतिक (५।१।२७), अध्यर्धविंशतिकीन, द्विविंशतिकीन, त्रिविंशतिकीन, कार्षापणिक, अध्यर्धकार्षापणिक, द्विकार्षापण-द्विकार्षापणिक (५।१।२९), पाणिक, पादिक अध्यर्धपण्य, द्विपण्य, त्रिपण्य, अध्यर्धपाद्य द्विपाद्य, त्रिपाद्य, माषिक, अध्यर्धमाष्य, द्विमाष्य, त्रिमाष्य, शत्य, अध्यर्धशत्य, द्विशत्य त्रिशत्य (५।१।३४), अध्यर्धशाण्य-अध्यर्धशाण, द्विशाण्य-द्विशाण-द्वैशाण त्रिशाण्य-त्रिशाण-त्रैशाण (५।१।३६), साहस्र, अध्यर्धसाहस्र-अध्यर्धसहस्र, द्विसाहस्र-द्विसहस्र (५।१।२९), इत्यादि। अनेक प्रकार के शब्दों में उस समय के उस क्रय-विक्रय की झांकी मिलती है, जो तांबे के धेले-पैसे से लेकर हजार-दोहजार-तीनहजार की लागत की वस्तुओं की लेवा-बेची के रूप में प्रचलित था। इसके अतिरिक्त निमान या अदलाबदली की प्रथा भी थी (५।२।४७)।

साई या सत्यापन द्रव्य—बाजार में किसी चीज की बिक्री पक्की करने के लिये दुकानदार गाहक से कुछ साई लेता है। इसके लिये सत्याकरोति (सत्यादशपथे, सत्याकरोति वणिक् भाण्डम् ५।४।६६) एवं सत्यापयति (३।१।२५) ये दो शब्द भाषा में प्रचलित थे। साई का उद्देश्य जैसा काशिका ने लिखा है ग्राहक की ओर से सौदा नक्की करना था (मयैतत् क्रेतव्यमिति तथ्यं करोति)। पक्का करने की क्रिया को सत्यंकार[1] कहते थे (कारे सत्यागदस्य ६।३।७०)।

मूल और लाभ—पूंजी मूल थी। लाभ सहित पूंजी या लागत को मूल्य कहते थे (पटादीनां उत्पत्तिकारणं मूलम्, मूल्यं हि सगुणं मूलम्—काशिका)। लाभ वह है जो मूल द्वारा प्राप्त होता है (मूलेन आनाम्यम्, ४।४।९१)। इसी सूत्र में पाणिनि ने मूल्य शब्द का दूसरा अर्थ भी दिया है- मूलेन समं मूल्यम् (४।४।९१)। पहले मूल्य का अर्थ है लागत और लाभ; दूसरे मूल्य का अर्थ है वह वस्तु जो लागत के समतुल्य हो, अर्थात् उसमें जो लागत आई है, उसके अनुरूप या बराबर कीमत की हो।

भाषा में ऐसे शब्द भी चलते थे, जिनसे यह प्रकट हो कि अमुक वस्तु की बिक्री से कितना लाभ हुआ है (तदस्मिन् वृद्धयायलाभशुल्कोपदा दीयते, ५।१।४७), जैसे पञ्चक, सप्तक, शत्य-शतिक, साहस्र, जिसमें पांच, सात, सौ या हजार कार्षापण का मुनाफा हो।

वस्न—इस शब्द का प्रयोग वैदिक साहित्य से आरंभ हो जाता है। निम्नलिखित तीन सूत्रों में वस्न आया है—

---

(१) याज्ञवल्क्य स्मृति २।६१ में सत्यंकार कृतम्।

१—वस्नक्रयविक्रयाट्टन् (४।४।१३), वस्नेन जीवति वस्निकः ।

२—वस्नद्रव्याभ्यां ठन्कनौ (५।१।५१), वस्नं हरति, वस्नं वहति, वस्नमावहति वस्निकः ।

३—सोऽस्यांशवस्नभृतयः (५।१।५६), पञ्च वस्नः अस्य पञ्चकः ।

वस्न का अर्थ सर्वत्र पूंजी है । वस्निक शब्द के अर्थों को इस प्रकार समझना चाहिए – वस्निक वह व्यापारी था, जो स्वयं खरीदने बेचने का काम न करके केवल पूंजी लगाता और लाभ का उपार्जन करता हो । वस्निक का उलटा क्रय-विक्रयिक था, जो स्वयं लेता-बेचता था (४।४।१३) । सूत्र ५।१।५६ में जिस वस्न का उल्लेख है, वह संमिलित व्यापार में लगी हुई पूंजी को व्यक्त करने के लिये है । इस प्रयोग का क्षेत्र सांस्थानिक या सार्थवाह लोगों का वाणिज्य था । यदि कई आदमियों की मिलाकर सौ पूंजी लगी है, तो अपनी अपनी पूंजी के अनुसार लाभ में भी सब हिस्सा बांटते थे । सौ की पूंजी में जिसका ५ वस्न है, वह पञ्चक कहलाता था ।

वस्निक शब्द का तीसरा प्रयोग (५।१।५१) द्रव्यक का उलटा था । जो व्यापारी माल बेचने के लिये शकटों पर भांड लादकर निकलता था, वह जाते समय द्रव्यक कहलाता था । वही जब अपना माल बेचकर पूँजी और लाभ कमाकर घर की ओर लौटता था, तब वस्निक कहलाता था । वस्निक और द्रव्यक इन दोनों शब्दों के भी तीन तीन अर्थ थे । उन्हें सूत्रकार ने हरति वहति, आवहति—इन तीन शब्दों से प्रकट किया है । उदाहरण के लिये एक व्यापारी वाराणसी से तक्षशिला तक जाकर अपना माल बेचने के लिये घर से निकलता है । जब वह काशी से चला, तो काशी के व्यापारियों की भाषा में वह 'हरति देशान्तरं' प्रापयति, माल लादकर चला है, इस अर्थ में द्रव्यक कहलाता था । मार्ग में जब वह मथुरा पहुँचता तो मथुरा के व्यापारी उसे 'वहति' अर्थ में द्रव्यक कहते थे अर्थात् जो उनके नगर से होता हुआ माल ले जा रहा है । वही वाणिज जब अपने गन्तव्य स्थान तक्षशिला में पहुँचता, तब वहाँ के व्यापारी उसे 'आवहति' अर्थ में द्रव्यक कहते अर्थात् वह हमारे नगर में माल लेकर आ रहा है । इस प्रकार वह माल बेचकर पूँजी कमाता हुआ चलता था । तक्षशिला में बिक्री समाप्त करके वह अपनी पूँजी लेकर वाराणसी की ओर लौटता था, तब वह वस्निक कहलाने लगता था । तक्षशिला के व्यापारी 'हरति' अर्थ में उसे वस्निक कहते अर्थात् वह बिक्री से मिली हुई आय, जिसमें पूँजी और लाभ दोनों शामिल थे, ले जा रहा है (यहाँ भी हरति देशान्तरं प्रापयति) । मार्ग में मथुरा के व्यापारी उसे 'वहति' अर्थ में वस्निक कहते, अर्थात् वह बिक्री का द्रव्य लेकर उनके नगर से जा रहा है । जब वह वाराणसी पहुँचने को होता, तब वहाँ के लोग उसके लिये आवहति अर्थ में वस्निक शब्द का प्रयोग करते, अर्थात् वह बिक्री की रोकड़ ला रहा है ।

इन उदाहरणों से यह समझा जा सकता है कि सूत्रकार ने शब्दों के अर्थों की सूक्ष्म छानबीन में कितना परिश्रम किया था—महती सूक्ष्मेक्षिका वर्तते सूत्रकारस्य।

सूत्रयुग की भाषा के बाद वस्न शब्द का प्रचलन साहित्य में कम हो गया, हाँ लोक में पूंजी और रोकड़ के लिये यह शब्द चलता रहा, जैसा कि भोजपुरी भाषा में अभी तक मिलता है। अर्थशास्त्र में वस्न की जगह मूल्य शब्द का प्रयोग हुआ है। पतंजलि ने अपनी समृद्ध भाषा में केवल एक बार मूल्य के अर्थ में वस्न शब्द का प्रयोग किया है (अन्येन हि वस्नेनैकं गां क्रीणाति, अन्येन द्वौ अन्येन त्रीन् १।१।३८ वा० ६) अर्थात् एक बैल का मूल्य और, दो का और, तीन का और होता है।

द्रव्यक व्यापारी अर्थात् माल लादकर ले जानेवाले सार्थवाह कितने भिन्न प्रकारों का माल लेकर चलते थे, उसका थोड़ा-सा संकेत वंशादिगण (५।१।५०) में है, जैसे वंश (बाँस), कुटज, बल्वज (एक प्रकार की घास, बबई), मूल (कई प्रकार की ओषधियाँ), अक्ष (गाड़ी या रथ के पहियों के धुरे), स्थूण (घरों में लगाने के लिये लकड़ी के लट्ठों की बनी हुई थूनी या खंभे), अश्म (पत्थर की पटिया या भोट या स्तंभ), अश्व, इक्षु, खट्वा (खाट के पाए और पट्टियाँ)।

शुल्क—व्यापारियों के माल पर जगह जगह चुंगी लगती थी, जिसे शुल्क कहते थे। जितना शुल्क माल पर पड़ता था, उसके आधार पर व्यवहार में माल का नाम पड़ जाता था, जैसे पञ्चक, वह माल जिस पर पाँच कार्षापण चुंगी लगी हो (५।१।७ पञ्च अस्मिन् शुल्को दीयते)। ऐसे ही सप्तक, सहस्रक आदि। चुंगीघर को शुल्कशाला और वहाँ से प्राप्त होनेवाली आय को शौलकशालिक कहा जाता था। शुल्कशाला राज्य के लिये प्रमुख आयस्थान थी। ठगायस्थानेभ्यः सूत्र के मूर्धाभिषिक्त उदाहरणों में सर्वप्रथम शौल्कशालिक आय अर्थात् चुंगी की आमदनी का ही उल्लेख है। वस्तुतः शुल्क से ही दक्षिणी भाषाओं में सुंक हुआ जिससे बिगड़कर चुंगी शब्द बना है। छोटे या फुटकर माल पर चुंगी की रकम कम ही होती थी। जिस पर आधा कार्षापण या अठन्नी चुंगी लगे उसके लिये चुंगी की भाषा में अर्धिक या भागिक—ये दो शब्द प्रचलित थे (पूरणार्धाट्ठन् ५।१।४८; भागाद् यच्च ५।१।४९; भागिक का दूसरा रूप भाग्य भी था)। अर्ध और भाग शब्द का अर्थ आधा कार्षापण या अठन्नी होता था (अर्धशब्दः भाग शब्दोऽपि रूपकार्धस्य वाचकः, काशिका)।

पाणिनि ने पूर्व देश में परम्परा से चले आते हुए कुछ करों का उल्लेख किया है, जिन्हें वहाँ की भाषा में कार कहते थे (कारनाम्नि च प्राचां हलादौ ६।३।१०)। भाष्य में अविकटोरणः उदाहरण में कहा गया है कि भेड़ों के हरेक झुंड या रेवड़ के पीछे एक भेड़ चुंगी वसूल की जाती थी। काशिका में दो उदाहरण और हैं—*यूथपशुः अर्थात् एक झुंड या हेड़े के पीछे एक पशु चुंगी;* नदी दोहनी अर्थात् नदी

का घाट पार करने वाले हर दूधिये से एक छोटी दोहनी दूध उतराई या चुंगी वसूल किया जाता था। इसी सूत्र पर दृषदिमाषकः, मुकुटेकार्षापणं, हलेद्विपदिका- इन करों का और भी उल्लेख है। उनका संबन्ध चुंगी से न था।

वाणिज्य पथ—जैसा कहा जा चुका है, सूत्र ४।३।८५ में एक नगर को दूसरे नगर से मिलाने वाले पथों का उल्लेख आया है (तद्गच्छति पथि दूतयोः)। देव पथादिगण में कई प्रकार के विशेष पथों का उल्लेख है, जैसे वारिपथ, स्थलपथ, रथपथ, करिपथ, अजपथ, शङ्कुपथ, राजपथ, सिंहपथ, हंसपथ देवपथ (पिछले दो का संबन्ध वायुमार्ग से है)। पालि महानिद्देस में इन पथों का प्राचीन उल्लेख रह गया है। उस सूची में ये नाम हैं—वण्णुपथ, अजपथ, मेण्ढपथ, संकुपथ, छत्तपथ, वंसपथ, सकुणपथ, मूसिकपथ, दरीपथ, वेत्तचारपथ (महानिद्देस, भाग १, पृ० १५३-१५५; भाग २ पृ० ४१४-४१५; सिल्वाँ लेवी, टालेमी, निद्देस और बृहत्कथा नामक लेख)। अजपथ और शंकुपथ का उल्लेख कात्यायन ने भी किया है जिससे इन नामों की प्राचीनता सिद्ध होती है। अजपथ से आनेवाला माल (अजपथेन आहृतम्) अथवा उस रास्ते जानेवाला व्यापारी (अजपथेन गच्छति) आजपथिक कहलाता है। ऐसे ही शंकुपथ से जानेवाला या आनेवाला शांकुपथिक था। अजपथ के विषय में बृहत्कथाश्लोकसंग्रह (१८।४८६) में लिखा है कि यह रास्ता इतना कम चौड़ा होता था कि आमने सामने से आनेवाले दो व्यक्ति एक साथ उस पर से न निकल सकते थे। जिस मार्ग में केवल एक बकरी के चलने की गुंजाइश हो, वह तंग रास्ता अजपथ हुआ। आज भी पहाड़ी प्रदेश में बकरी और भेड़ों पर छोटे थैलों में माल लादकर ले जाते हैं। ये ही अजपथ और मेण्ढपथ होने चाहिएं।

पाणिनि, कात्यायन और निद्देस में जिसे शंकुपथ कहा है, वह और भी अधिक कठिन मार्ग था। पहाड़ी मार्गों में जहाँ बीच में चट्टानें आ जाती थीं, वहाँ शंकु या लोहे की कीलें चट्टान में ठोककर चढ़ना पड़ता था। एक जातक में शंकु- पथ का उल्लेख आया है (वेत्ताचारो संकुपथ पि छिन्नो, जातक ३।५४१)।

मूषिक पथ वे पहाड़ी मार्ग थे, जिनमें चट्टान काटकर चूहों के बिल जैसी छोटी सुरंगें बनानी पड़ती थीं। दरीपथ वे मार्ग थे जिनमें कुछ चौड़ी सुरंगें काटी जाती थीं। वंशपथ और वेत्राचार उन मार्गों को कहते थे, जहाँ नदी के एक किनारे पर लगे हुए लम्बे बाँस या बेंतों को झुकाकर उनकी सहायता से दूसरी ओर पहुँचा जा सके। अत्यन्त घने जंगलों में इस प्रकार के उपाय काम में लाए जाते थे। पाणिनि का हंसपथ वही है जो महानिद्देस का सकुणपथ है। कालिदास ने भी खग- पथ, घनपथ सुरपथ (= देवपथ) इन तीन मार्गों का उल्लेख किया है (रघु० १३।१९)। वैसे तो देवपथ आकाश में ऊँचे मार्ग को कहते थे, किन्तु देवपथा- दिभ्यश्च सूत्र में देवपथ शब्द उस मार्ग के लिये सिद्ध किया गया है, जो किले

की दीवार के ऊपर ऊँची सड़क होती थी (अर्थशास्त्र २।३; देखिए अ० ३ परि० ९, पृ० १४४)।

कात्यायन ने और भी कुछ विशेष पथ और उनसे आने वाले सामानों का उल्लेख किया है, जैसे कान्तार-पथ, स्थलपथ वारिपथ। इनसे आने वाला सामान कान्तार-पथिक, स्थालपथिक, वारिपथिक नामों से पुकारा जाता था। कौशाम्बी से अवन्ति होकर दक्षिण में प्रतिष्ठान और पश्चिम में भरुकच्छ को मिलाने वाला विंध्याटवी या विन्ध्य के बड़े जंगल का मार्ग प्राचीन भूगोल में कान्तार-पथ नाम से प्रसिद्ध था। कात्यायन की सूचना से ज्ञात होता है कि मधूक (मुलहठी) और मिर्च स्थलपथ नामक मार्ग से उत्तर में लाई जाती थीं। यह स्थलपथ दक्षिण भारत के पाण्ड्यदेश से पूर्वी घाट और दक्षिणकोसल होकर आने वाला मार्ग हो सकता है। कालिदास ने भारत से ईरान को जाने वाले खुश्की के रास्ते को भी स्थलपथ कहा है। पेतवत्थु की परमत्थदीपनी टीका के अनुसार द्वारका से मरुभूमि के रेगिस्तान को पार करता हुआ एक मार्ग सौवीर की राजधानी रोरुक को चला जाता था। वहाँ से फिर वही उत्तर की ओर मुड़कर बाह्लीक कम्बोज की तरफ चला जाता था (परमत्थ, भाग ३, पृ० ११३)। वही दूसरी ओर पश्चिम में ईरान की ओर जाता होगा, जैसा कि आज भी है।

उत्तर पथ—एक विशेष सूत्र में उत्तरपथ का उल्लेख है। जो माल उत्तरपथ से आता था, या जो लोग उस मार्ग पर जाते थे, उनके लिये औत्तारपथिक शब्द का प्रयोग उस समय की भाषा में होता था (उत्तरपथेनाहृतं च, ५।१।७७)। उत्तर भारत में यातायात और व्यापार की जो महाधमनी गन्धार से पाटलिपुत्र तक चली गई है, अशोक शेरशाह अकबर आदि के समय में भी जो बराबर चालू रही, उसी महामार्ग (राहे आज़म) का प्राचीन नाम उत्तरपथ था। मेगस्थने आदि यूनानी लेखकों ने इसे 'नार्दर्न रूट' कहा है, जो उत्तरपथ का ठीक अनुवाद है। उन लेखकों के अनुसार इस मार्ग के दो बड़े टुकड़े थे। एक तो वंक्षु से काश्यपीय सागर तक जो ब्लैक सी होकर यूरुप तक चला जाता था। उसी रास्ते भारतीय माल नदियों के वारिपथ से होता हुआ पश्चिमी देशों में पहुँचता था।

इस मार्ग का दूसरा भाग भारतवर्ष में था जो गन्धार की राजधानी पुष्कलावती से चलकर तक्षशिला होता हुआ मार्ग में सिंधु, शुतद्रि और यमुना पार करके, हस्तिनापुर और कान्यकुब्ज प्रयाग को मिलाता हुआ पाटलिपुत्र एवं ताम्रलिप्ति तक चला जाता था। इस मार्ग पर यात्रियों के ठहरने के लिये निषद्याएँ, जल के लिये कुएँ, और छायादार वृक्ष लगे हुए थे। सर्वत्र एक-एक कोस पर दूरी की सूचना देनेवाले चिह्न बने थे। इसी मार्ग का बीच का टुकड़ा वह था जो तक्षशिला पुष्कलावती से कापिशी होता हुआ बाल्हीक तक जाता था और वहाँ पूरब में कम्बोज की ओर से आते हुए चीन के कौशेय पथों से मिलता था। इस प्रकार

चीन, पश्चिमी देश और भारत इन तीनों को मिलानेवाला यह उत्तरपथ नामक महामार्ग विश्व के वाणिज्य-पथों में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण था।

पण्यद्रव्य—अष्टाध्यायी में यत्र-तत्र वस्तुओं के जो अनेक नाम आए हैं, उनकी सूची से उस समय की पण्य वस्तुओं का अनुमान किया जा सकता है। तदस्य पण्यम् (४।४।५१) सूत्र के प्रकरण में लवण (४।४।५२) किसर, तगर, गुग्गुल, उशीर (४।४।५३), शलालु (४।४।५४; पाली सलल, देवदार का सुगन्धित पुष्प, सारत्थपकासिनी ३।२६३) का पण्यद्रव्यों में उल्लेख है। और भी इस प्रकार की आर्थिक वस्तुओं की सूची सूत्रों से संगृहीत की जा सकती है—वस्त्र जैसे कौशेय (४।२।४२), और्ण (४।३।१५८), औम (४।३।१५८) भंग्य-भांगीन (५।२।४), कार्पासिक (४।३।१३६ गणपाठ, तूल ३।१।२५), उपसंव्यान (१।१।३६), बृहतिका (५।४।६); कम्बल, जैसे पण्यकम्बल (६।२।४२ और ४।१।२२) प्रावार (३।३।५४), पाण्डुकम्बल; (४।२।११), अजिन (६।२।१९४), द्वैप-वैयाघ (४।२।१२); रंग जैसे लाक्षा (४।२।२) रोचना (४।२।२), मंजिष्ठ (८।३।९७), नीली (४।१।४२); थैले और बोरे (आवपन) जैसे गोणी और गोणीतरी (४।१।४२, ५।३।९०), कुतुप (५।३।८९); उपानत्, (५।१।१४), नद्ध्री (३।२।१८२), वार्ध्र (४।३।१५१); शृंखल (५।२।७९), दात्र (३।२।१८२), कुशी (४।१।४२), युग, अक्ष (६।३।१०४), खनित्र (३।२।१८४), अरित्र (३।२।१८४); तन्त्र (५।२।७०), प्रवाणी (५।४।१६०); खाद्यद्रव्य जैसे गुड (४।४।१०३), फाणित (७।२।१८), क्षीर-दधि-हैयंगवीन (५।२।२३), शाक (६।२।१२८); धान्य (५।२।१) जैसे, व्रीहि, शालि, यव, तिल, माष, अणु, षष्टिका आदि; कौलालक (मिट्टी के बर्तन ४।३।११८), अमत्र (३।१।१००); सुरा (२।४।२५), कापिशायन (४।२।९९); आभूषण, जैसे कर्णिका, ललाटिका (४।३।६५); रत्न और मणि जैसे सस्यक (५।२।६८), लोहितक (५।४।३०), वैदूर्य (४।३।८४); धातुएँ जैसे सुवर्ण, रजत, ताम्रायस्, कृष्णायस्, त्रपु; शस्त्र (३।२।१८२) जैसे शक्ति (४।४।५९), कासू (५।३।९०), परश्वध (४।४।५८), धनु-इषु (६।२।१०७), वर्म (३।१।२५); वाद्य जैसे वीणा (३।३।६५), मड्डुक, झर्झर (४।४।५६); माला (६।३।६५), शकट, रथ, नौ आदि।

इसी सूची में शाल्व जनपद के बैल (४।२।१३६) और सिन्धु के उस पार की बछेड़ियाँ (पारेवडवा) भी हैं।

कुछ वस्तुएँ ऐसी थीं, जिनका बेचना अच्छा नहीं समझा जाता था (कर्मणीनि विक्रियः, ३।२।९३, कुत्सानिमित्तं कर्म) काशिका ने सोम-विक्रयी, रसविक्रयी दो उदाहरण दिए हैं। मनु ने सोम और दूध इत्यादि रसों का बेचना निषद्धि माना है (मनु० १०।८६-८९)। व्यापारी लोग अपना माल भरने के लिये भाण्डागार रखते होंगे, जिसका उल्लेख सूत्र ४।४।७० में है। इसे ही कालान्तर में भाण्डशाला

या भंडसाल कहने लगे। भंडसाल भरना इस प्रयोग के लिये संस्कृत में संभाण्डयते प्रयोग था (३।१।२०)। कात्यायन ने इसे ही समाचयन कहा है (भाण्डात् समाचयने)।

अध्याय ४, परिच्छेद ७-निमान

एक वस्तु से बदलकर दूसरी वस्तु लेना निमान कहलाता था, जिसे आज कल अदलाबदली कहते हैं। जो वस्तु दी जाती थी, उसका उस वस्तु के साथ जो ली जाती थी, मूल्य का आनुपातिक सम्बन्ध निश्चित करना पड़ता था। या तो दोनों वस्तुओं का मूल्य बराबर होता, जैसे सेर भर गेहूँ के बदले में सेर भर तिल लेना। किन्तु यदि सेर भर जौ देकर दो सेर मट्ठा मिले तो जौ का मूल्य मट्ठे के मूल्य से दुगना होगा। उस समय कहा जायगा द्विमयमुदश्वित् यवानाम्। इसी प्रकार त्रिमयम्, चतुर्मयम् उदाहरण भी थे अर्थात् दो भाग मट्ठे का मूल्य एक भाग जौ के बराबर हुआ। जो वस्तु बदले में ली जाती है वह निमेय और जो दी जाती वह निमान कहलाती थी। निमेय के एक भाग के मूल्य की तुलना निमान के कई भागों से करने का नियम था। यदि निमान 'क' माना जाय तो यह अनुपात कः १—इस रूप में प्रगट किया जाता था। कः ३—इस रूप में कभी नहीं। निमान और निमेय के आनुपातिक सम्बन्ध को बताने वाले भाषा के प्रयोगों को नियमित करने के लिये सूत्र था—संख्याया गुणस्य निमाने मयट् (५।२।४७, गुणो भागः निमानं मूल्यम्—काशिका)।

निमान के कुछ उदाहरण - निमान निमेय के उदाहरण प्रतिदिन के काम में आने वाली साधारण वस्तुएँ हैं, जैसे खाद्य पदार्थ, वस्त्र, छोटे पालतू पशु। सूत्र में वसन या वस्त्र को निमान का साधन माना है (५।१।२७)। वसन देकर जो वस्तु ली जाती थी, उसे वासन कहते थे। वसन नियत लम्बाई और मूल्य का शाटक या धोती थी। कोली जुलाहे वस्त्र देकर बदले में वस्तुएँ लेते होंगे। सूत्र ५।१।१९ में गौपुच्छिक उस वस्तु को कहा है जो गोपुच्छ के बदले में ली जाती थी। डाक्टर भण्डारकर ने गोपुच्छ को अदलाबदली या सिक्कों की तरह क्रय विक्रय करने का साधन माना था। किन्तु गोपुच्छ का अर्थ गाय की पूँछ नहीं, गौ ही है। गाय के लिये जो चराई का शुल्क दिया जाता है, उसे आज भी पुच्छी कहते हैं। प्राचीन प्रथा के अनुसार गाय को बेचते समय उसका स्वाम्य परिवर्तन उसी समय पूरा होता था, जब बेचने वाला गाय की पूँछ खरीदने वाले के हाथ में पकड़ा दे। इससे ज्ञात होता है कि गोपुच्छ शब्द गौ के ही पर्याय रूप में लिया जाता था। वैदिक काल से ही गाय अन्य वस्तुओं के साथ अदला-बदली करने या मूल्य चुकाने का साधन थी। अतएव जो वस्तु एक गाय के बदले में ली जाती, वह गौपुच्छिक कहलाती थी। भाष्य में इससे भी बड़े सौदे का उल्लेख है—पञ्चभिः गोभिः क्रीतः पञ्चगुः (१।२।

४४)। पञ्चक्रोष्ट्रीरथः (७।१।९६) अर्थात् पाँच क्रोष्ट्री देकर लिया हुआ रथ) इस उदाहरण का अर्थ स्पष्ट नहीं है। हो सकता है कि धान्यगव (सूत्र, ६।२।७२ के अनुसार काटी हुई फसल का वह ढेर या चट्टा जो दूर से बैल की शकल का दिखाई पड़े) की तरह क्रोष्ट्री भी धान्य की कोई नाप रही हो, जिसके बदले में रथ जैसी सवारी मोल ली जाती थी। द्विकम्बल्या उस भेंड़ को कहा जाता था जो दो कम्बल्य अर्थात् दस सेर ऊन के बदलेमें मोल ली जाती थी (४।१।२२; ५।१।३; कम्बल्य=५ सेर)। ऐसे ही त्रिकम्बल्या पन्द्रह सेर ऊन के बदले में ली जाने वाली वस्तु थी। काशिका में पञ्चाश्वा और दशाश्वा शब्द भी आते हैं, जो किसी महँगी वस्तु के लिये प्रयुक्त होते थे, जो पाँच या दस अश्वों के बदले में ली जाए। वस्तुओं के लेन-देन के संबंध में कंस, (५।१।२५), शूर्प (५।१।२६) और खारी (५।१।३३) का भी उल्लेख है, ये परिमाणवाची शब्द थे, इसलिये कंसिक-कंसिकी, शौर्प-शौर्पिक, अध्यर्धखारीक द्विखारीक, ये प्रयोग उन वस्तुओं के लिये चलते थे, जो इतनी तोल के द्रव्य, संभवतः अनाज से बदले जाते थे। एक सूत्र में द्वयञ्जलि, त्र्यञ्जलि प्रयोग दिए हैं (५।४।१०२, द्वित्रिभ्यामञ्जलेः)।

आज भी प्रथा है कि मालिनों से हरी साग-सब्जी या फल-फूलादि लेने के लिये एक दो या तीन अञ्जलि भर अनाज दिया जाता है। उसी के लिये ये घरेलू शब्द थे। दो या तीन आचित नामक तोल से ली गई वस्तु द्व्याचिता, त्र्याचिता कहलाती थी (४।१।२२, अपरिमाणबिस्ताचितकम्बल्येभ्यो न तद्धितलुकि)। जैसा आगे बताया गया है, आचित पचीस मन के बराबर होता था, जो कि बड़े सग्गड़ या लढ़ियागाड़ी का बोझ माना जाता था। पचास मन या पिचहत्तर मन अन्न देकर बदले में ली जाने वाली वस्तु भूमि हो सकती है। जिसे पहले द्विकाण्डा क्षेत्र भक्तिः और त्रिकाण्डा क्षेत्र भक्तिः (४।१।२३) कहा है, उतने नाप की भूमि मोल लेने के लिये पचास और पिचहत्तर मन अन्न सम्भवतः दिया जाता था। उसके लिये द्व्याचिता, त्र्याचिता जैसे शब्द प्रयोग भाषा में आए।

पाणिनि ने एक शूर्प प्रमाण से क्रीत वस्तु को शौर्प कहा है (शूर्पादञन्यतरस्याम्, ५।१।२६)। इस पर पतञ्जलि ने द्विशूर्प, त्रिशूर्प उदाहरण भी दिए हैं (५।१।२०, वा० १, द्वाभ्यां शूर्पाभ्यां क्रीतं द्विशूर्पं त्रिशूर्पम्; द्विशूर्पेण क्रीतं द्विशौर्पिकम् त्रिशौर्पिकम्, भाष्य)। चरक के अनुसार दो द्रोण का एक शूर्प एवं दो शूर्प की एक गोणी (=लभगभग ढाई मन तोल की) होती थी। पाँच गोणी और दस गोणी अन्न से क्रीत वस्तु के लिये भाष्य में पञ्चगोणि, दश गोणि शब्दों का उल्लेख है। काशिका के अनुसार इतने अन्न से पट मोल लिया जाता था (इद्गोण्याः, १।२।५०; पञ्चभिर्गोणीभिः क्रीतः पटः पञ्चगोणिः)। साढ़े बारह मन या पचीस मन अन्न की तोल से जो पट लिया जाता था वह किसी नियत नाप का होता होगा। पाणिनि ने बसन देकर वस्तु मोल लेने की प्रथा का उल्लेख किया है। उस प्रकार

की वस्तु के लिये वासन शब्द सिद्ध किया है (शतमानविंशतिकसहस्रवसनादण्, ५।१ २७, वसनेन क्रीतं वासनम्)। यह वासन पाँच गोणी अन्न के बराबर मूल्य का होना चाहिए। कात्यायन ने लिखा है कि वसन मोल लेने के लिये जो ऋण उधार लिया जाता था उसे वासनार्ण कहते थे (प्रवत्सतरकम्बलवसनानाञ्च ऋणे, ६।१।८९, वा० ७)। यह ऋण कितना होता था इस प्रश्न के उत्तर का सङ्केत 'पञ्चगोणिः पटः' इस उदाहरण से मिलता है, अर्थात् पाँच गोणी अन्न से या उसके बराबर मूल्य उधार लेकर वसन या पट लिया जाता था। प्रश्न यह है कि यह पट कौन सा था और उसका क्या मूल्य होता था। पहले प्रश्न के उत्तर में अनुमान होता है कि धोती या साड़ी ऐसा वस्त्र है जिसकी नाप सदा से प्रायः नियत रही है। जुलाहे उसी नाप की धोती बुनते हैं। ऐसा प्रतिमानित पट या वसन ही 'वसनेन क्रीतम्', इस प्रकार के व्यवहार के लिये काम दे सकता था। इस प्रकार के नियत नाप वाले वस्त्र या शाटक के मूल्य पर पतञ्जलि के एक उदाहरण से अच्छा प्रकाश पड़ता है—शतेन क्रीतं, शत्यं शाटक शतम्, ५।१।२१ भाष्य)। इससे विदित होता है कि पतञ्जलि के समय में एक साड़ी या धोती का मूल्य एक कार्षापण था। यदि एक शाटक पञ्च गोणी या साढ़े बारह मन अन्न अथवा एक कार्षापण से मोल मिलता था तो इससे यह जाना जाता है कि पतञ्जलि के समय में एक कार्षापण से साढ़े बारह मन अन्न आता था। शुङ्गयुग से पूर्व मौर्ययुग और नन्दयुग में भी वस्तुस्थिति इससे कुछ भिन्न न रही होगी, ऐसा अनुमान किया जा सकता है। जब वस्तुएँ इतनी सस्ती थीं, तभी एक काकणी और अर्धकाकणी जैसे छोटे सिक्के बजारों में चलते थे, जैसा कि हम मुद्रा वाले परिच्छेद में आगे देखेंगे। इस प्रकार पञ्चगोणि का अर्थ एक शाटक, एक वसन, या एक पट; या एक धोती के लिये सङ्गत हो जाता है।

इसी सूत्र पर भाष्य में दशगोणि शब्द आता है, अर्थात् वह पट जो २५ मन अन्न से खरीदा गया हो। इस वस्त्र के सम्बन्ध में अनुमान करने का भी कुछ आधार प्राप्त होता है। इस देश में अन्तरीय और उत्तरीय अर्थात् धोती और उपरना, इन दो वस्त्रों के पहनने की प्रथा प्राचीनकाल से रही है। अन्तरं बहिर्योगोपसंव्यानयोः सूत्र में पाणिनि ने भी उनका उल्लेख किया है। इस पर टिप्पणी करते हुए कात्यायन ने धारण किये जाने वाले वस्त्रों के जोड़े को शाटकयुग कहा है (नवा शाटकयुगाद्यर्थम्, १।१।३६, वा० २ ; शाटकयुगाद्यर्थं तर्हीदं वक्तव्यम्, यत्रैतन्न ज्ञायते किमन्तरीयं किमुत्तरीयमिति)। कात्यायन और पतञ्जलि के उल्लेख से ऐसा सङ्केत मिलता है कि उपरना और धोती (अन्तरीय और उत्तरीय, परिधानीय और प्रावरणीय) इन दोनों प्रकार के शाटकों का नया जोड़ा एक साथ भी बाजारों में बेचा या खरीदा जाता था। तभी पतञ्जलि ने लिखा है कि एक साथ रक्खे हुए शाटकयुग में यह नहीं मालूम पड़ेगा कि कौन सा उत्तरीय (धोती) और कौन सा अन्तरीय (उपरना) है। फिर वे कहते हैं कि जो व्यक्ति समझदारी

से देखेगा वह यह जान लेगा कि दोनों में कौन सी धोती है और कौन सा उपरना है। इसी शाटक युग के लिये दशगोणि शब्द प्रयोग में आता था, जिसका मूल्य एक शाटक से दुगुना पच्चीस मन धान्य या दो कार्षापण होता था।

पञ्चनौः, दशनौः जैसे प्रयोग (नावो द्विगोः, ५।४।९९ का प्रत्युदाहरण, पञ्चभिर्नौभिः क्रीतः) उन बड़े सौदों के लिये काम में आते थे जो पांच नाव या दस नावों में भरे हुए माल के बदले में किए जाते थे।

अध्याय ४, परिच्छेद ८–प्रमाण और उन्मान

अष्टाध्यायी में परिमाण तोल या घनाकार वस्तुओं के लिये और प्रमाण लम्बाई के लिये आया है। पतंजलि के अनुसार तोल के लिये उन्मान, आयाम या लम्बाई के लिये प्रमाण और लम्बाई मोटाई चौड़ाई वाली घनाकृति (सर्वतोमान) वस्तुओं के लिये परिमाण शब्द का प्रयोग किया गया है।[1] अर्थशास्त्र में प्रयुक्त 'पौतव' शब्द का उल्लेख पाणिनि में नहीं है।

वस्तुतः सूत्रों में परिमाण शब्द का दो अर्थों में प्रयोग है। सूत्र ५।१।१९ में संख्या को परिमाण से अलग माना है, 'किन्तु' सूत्र ३।३।२० और ४।३।१५६ में संख्या का भी परिमाण से ग्रहण किया है। (परिमाणाख्यायां सर्वेभ्यः, ३।३।२०, आख्या ग्रहणं रूढिनिरासार्थं तेन संख्याऽपि गृह्यते न प्रस्थाद्येव––काशिका)। पतंजलि के अनुसार काल परिमाण अर्थात् समय की नाप बताने वाले शब्द सूत्रगत परिमाण शब्द के अन्तर्गत नहीं आते (ज्ञापकं तु काल परिमाणाग्रहणस्य, ७।३।१५, वार्तिक)। लम्बाई की माप के लिये सर्वत्र प्रमाण शब्द ही प्रयुक्त हुआ है।

तुला—तराजू और उसमें तोली हुई वस्तुएँ तुल्य कहलाती थीं (तुलया संमितम्, ४।४।९१)। तराजू की डंडी के ऊपर बंधी हुई रस्सी बनियों की बोलचाल में प्रग्रह कही जाती थी (प्रे वणिजाम् ३।३।५२)। अथर्व वेद में द्रुवय शब्द दुंदुभि या नगाड़े के बने हुए बाहरी खोल के लिये आया है। (द्रुवयो विबद्धः, अथर्व ५।२०।२)। लगभग उसी प्रकार के गहरे लकड़ी के पात्र नाप-जोख के लिये काम में आने लगे थे। पाणिनि के समय तक द्रुवय शब्द ऐसे ही नपैनों के लिये[2] रूढ़ हो गया है (माने वयः ४।३।१६२)। ऐसे ही नपैने के बर्तनों में दो विशेष प्रकार से प्रसिद्ध थे। एक जिसका पाणिनि ने विशेष उल्लेख किया है, पाय्य था—

---

१ उर्ध्वमानं किलोन्मानं परिमाणं तु सर्वतः।
आयामस्तु प्रमाणं स्यात् संख्या बाह्या तु सर्वतः ॥ भाष्य ५।१।१९

२ गढ़वाल में नापने के बर्तन को पाथा कहते हैं। प्राचीन काल में सरकारी लगान इन्हीं के द्वारा लिया जाता था। कई स्थानों में इन्हें नाली भी कहा जाता है।

पाय्यसान्नाय्यनिकाय्यधाय्या मानहविर्निवाससामिधेनीषु । ३।१।१२९
कंसमंथशूर्पपाय्यकाण्डं द्विगौ । ६।२।१२२

'पाय्य अभी तक पंजाब राजस्थान में पाइ और उत्तर प्रदेश में प्या कहलाता है । बुन्देल खंड में प्या भगोने की तरह का एक बर्तन होता है । भगोने में कनौठे होते हैं, प्या में नहीं होते । मणनी के बाद खलिहान में एकत्र अन्न की रास को गावों में अब भी प्या से ही नापने का नियम है । सब नहीं तो मांगालिक रूप में पाँच प्या भर कर नाप दिए जाते हैं । एक प्या अन्न देकर सवा प्या लेने के नियम को वहाँ सवाई कहते हैं ।[२] प्या की नाप साधारणतः पाँच, सात, दस सेर तक होती है ।[३] जातकों में खेत की रास को नापने वाले अधिकारियों को द्रोण मापक कहा गया है । हिन्दी भगौना संस्कृत भाग द्रोणक का ही रूप है । भाग द्रोणक का अर्थ खेत की रास से अलग निकाले हुए राजग्राह्य अंश या भाग को (इसे राजरास कहा जाता था) नापने का बर्तन हुआ । सुभिक्ष की अवस्था में प्रायः यह उपज का छठा भाग होता था । सम्भव है कि पाय्य और द्रोण की माप प्राचीन समय में एक ही रही हो क्योंकि दोनों ही रास नापने के काम में आते थे । पाणिनि ने एक विशेष प्रकार के मान या नाप को षष्ठक कहा है (षष्ठाष्टमाभ्यां मान पश्वङ्गयोः कन्लुकौ च ५।३।५१) जिसका शब्दार्थ छठा भाग ऐसा था । ज्ञात होता है कि राजग्राह्य छठे भाग को नापने के लिए जो द्रोण संज्ञक माप थी वही पाणिनि का षष्ठक मान था । कुरुधम्मजातक में द्रोण मापक यह एक राजकीय अधिकारी का नाम ही आया है (कुरुधम्म जातक, ३।२७६) ।

व्याकरण साहित्य में एक प्राचीन मूर्धाभिषिक्त उदाहरण सुरक्षित रह गया है नन्दोपक्रमाणि मानानि (२।४।२१; ६।२।१४, काशिका) । इसका अभिप्राय यह है कि नाप तोल के बट्टे सर्व प्रथम नन्दराजाओं ने निश्चित किए । अपने विस्तृत साम्राज्य की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये उन्हें ऐसा करना पड़ा था । तभी से मागध मान यह प्रसिद्धि हुई । क्योंकि कलिंग जनपद स्वतन्त्र था इसलिए कलिंग मान की परम्परा अलग चलती रही । मान स्थिर हो जाने से बाद आढ़क (ढ़ाई सेर), द्रोण (दस सेर), खारी (चार मन) इत्यादि शब्द बिलकुल सही नाप-तोल के लिए सर्वत्र प्रयुक्त होने लगे, जैसा कि पतंजलि ने लिखा है—अक्तपरिमाणानामर्थानां वाचका भवन्ति नैवाधिके भवन्ति न च न्यूने (१।४।१४) ।

अष्टाध्यायी में उल्लिखित तोल और नापवाची शब्द इस प्रकार हैं—

---

१ एक पंजाबी लोकोक्ति है—पाई पीसी चंगी कुड़ी खड़ाई मंदी । किसी का पाइली भर अनाज पीस देना सुगम है, पर उसकी लड़की खिलाना टेढ़ा काम है ।

२ देखिये मेरा लेख संग्रह, पृथिवीपुत्र, पृष्ठ १०६

३ बम्बई में पायली लगभग तीन सेर की नाप है ।

१ माष—यह एक तोल और एक सिक्के का नाम भी था (पणपादमाषशताद्यत्, ५।१।३४)। तांबे का माष तोल में पाँच रत्ती और चाँदी का दो रत्ती का होता था (मनु ८।१३५, अर्थशास्त्र २।१२)।

२—निष्पाव—सूत्र ३।३।२८, निरभ्योः पूल्वोः में निष्पाव शब्द सिद्ध किया गया है। अर्थ के विषय में कोई संकेत नहीं मिलता। जैन साहित्य में सोना चांदी रत्न आदि तोलने के सूक्ष्म बटखरों की सूची में निष्पाव भी है—प्रतिमानों में गुंजा काकणी, निष्पाव, कर्ममाषक, मण्डलक, स्वर्ण ये सोने चान्दी तोलने में काम आते हैं (अनुयोग द्वार सूत्र, १३२)। इस सूची में गुंजा (= १ रत्ती), काकणी (= सवा रत्ती), माषक (= पाँच रत्ती) की तोल सोना तोलने के काम में आती थी। जैन साहित्य में निष्पाव (प्रा० निप्फाव) का पर्याय वल्ल दिया है (बृहत्कल्पसूत्र गाथा ६०४९)। वल्ल या बाल तीन रत्ती की तोल का नाम था (वल्लस्त्रिगुंजः, लीलावती) अतएव निष्पाव भी वल्ल या तीन रत्ती माना जा सकता है। अनुयोग-द्वार की सूची में सवा रत्ती की काकणी और पांच रत्ती के माषक के बीच में निष्पाव पठित होने से यह संगत भी होता है।

३—शाण (५।१।३५, ७।३।१७)—चरक में सुवर्ण का चौथाई भाग शाण कहा गया है। इससे शाण की तोल २० रत्ती के बराबर हुई। (कल्पस्थान, १२।७९)[1]। शाणार्ध उसका आधा दस रत्ती के बराबर ओषधि की स्वल्प मात्रा तोलने के काम में आता था। महाभारत में शाण को शतमान का आठवां भाग कहा गया है (आरण्यक पर्व १३४।१४) जिससे उसकी पुरानी तोल १२॥ रत्ती ठहरती है।

परिमाणान्तस्यासंज्ञाशाणयोः (७।३।१७) में शाण परिमाण का वाचक है और शाणाद्वा ५।१।३५ में सिक्के का।

४—बिस्त (४।१।२२; ५।१।३१)—अमरकोश में बिस्त को कर्ष या अक्ष का पर्याय कहा है। जो स्वर्ण तोलने के काम में आता था। चरक में कर्ष, सुवर्ण और अक्ष पर्याय हैं। अतएव बिस्त सुवर्ण का ही पर्याय ज्ञात होता है, जो तोल में अस्सी रत्ती होता था।

५—अञ्जलि (५।४।१०२)—द्व्यञ्जलि, त्र्यञ्जलि, प्रयोगों में अञ्जलि शब्द एक परिमाण ही ज्ञात होता है। चरक के अनुसार सोलह कर्ष या तोले की एक अञ्जलि होती थी, जिसे कुड़व भी कहते थे। दो पल की एक प्रसृति और दो प्रसृति या चार पल की एक अञ्जलि कही गई है (गरुड पुराण, २०२।७३, अञ्जलिं कुड़वं चैव

१—२ शाण=१ द्रंक्षण। २ द्रंक्षण = १ कर्ष या सुवर्ण या अक्ष। शाण की तोल के विषय में आगे चलकर और भी कई विकल्प मिलते हैं (दे० भारतीय मुद्रापरिषद् की पत्रिका, १५।१५१-१५२)।

विद्यात् पलचतुष्टयम्)। कौटिल्य के अनुसार तालिका यह थी—चार कुड़व = एक प्रस्थ; चार प्रस्थ=एक आढक; ४ आढक=१ द्रोण=२०० पल=८०० कर्ष=१० सेर (अर्थ शास्त्र २।१९)। अतएव कुड़व या अंजलि ढाई छटाँक या १२½ तोले के बराबर थी।

६. कुलिज—सूत्र ५।१।५५ में कुलिज का विशेष रूप से उल्लेख है (कुलिजाल्लुक् खौ च)। उससे कई रूप बनते थे, जैसे द्विकुलिजिकी, द्विकुलजीना, द्वैकुलिजिकी। ज्ञात होता है कि उस समय की भाषा में इस शब्द का काफी प्रचार था। इस शब्द पर किसी अन्य स्रोत से अभी तक प्रकाश नहीं पड़ सका। केवल अथर्ववेद के कौशिक सूत्र में यह शब्द दो बार आया है (उदकुलिजं सम्पातवन्तं ग्रामं परिहृत्य मध्ये निनयत्येवं सुरा कुलिजम्, कण्डिका १२; कण्डिका, ४३)। पाणिनि में प्रस्थ शब्द का उल्लेख नहीं है। कौटिल्य के समय वह बहुत चालू शब्द था। साढ़े बारह पल या ५० तोले या ढाई पाव की तोल प्रस्थ कहलाती थी। अनुमान है कि पाणिनि ने उसी के लिये कुलिज शब्द का प्रयोग किया है।

७—आढक—(५।१।५३) चरक के अनुसार आढक और पात्र एक दूसरे के पर्याय हैं (कल्पस्थान, १२।९४)। पाणिनि ने दोनों का एक साथ उल्लेख किया है (आढकाचितपात्रात् खोऽन्यतरस्याम् ५।१।५३)। आढक की तोल के दो प्रकार मिलते हैं। एक चरक में दूसरा अर्थशास्त्र में। चरक का मान इस प्रकार है—

४ कर्ष = १ पल
२ पल = १ प्रसृति = ८ तोला
२ प्रसृति = १ अञ्जलि या कुड़व = १६ तोला
४ कुड़व = १ प्रस्थ = २५६ तोला
४ प्रस्थक = १ आढक
४ आढक = १ द्रोण = १०२४ तोला = १२४⁄५ सेर

इसके विरुद्ध कौटिल्य ने चार प्रकार के द्रोण लिखे हैं। उनमें पहला दो सौ पल या आठ सौ तोले अर्थात् आजकल के दस सेर के बराबर होता था (अथ धान्यमाषद्विपलशतं द्रोणमापमानम्, अर्थशास्त्र, २।१९)। इस हिसाब से तोल की यह तालिका बन जाती है—

१ कुड़व = १२½ तोला = २½ छटांक
४ कुड़व = १ प्रस्थ = ५० तोला = ढाई पाव
४ प्रस्थ = १ आढक = ५० पल = २०० तोला = ढाई सेर
४ आढक = १ द्रोण = २०० पल = ८०० तोला = १० सेर
१६ द्रोण = १ खारी = १६० सेर = ४ मन

२० द्रोण = १ कुम्भ = ५ मन
१० कुम्भ = १ वह = ५० मन

इस हिसाब से जिन खेतों को पाणिनि ने पात्रिक क्षेत्र (५।१।४६) कहा है, उनमें ढाई सेर बीज बोया जाता था।

८. कंस (५।१।२५; ६।२।१२२)—चरक के अनुसार कंस आठ प्रस्थ या दो आढक के बराबर था। वह अर्थशास्त्र की तालिका के अनुसार पाँच सेर और चरक की तलिका के अनुसार ६३⁄४ सेर के बराबर हुआ।

९. मन्थ (६।२।१२२)—इसकी ठीक तोल किसी तालिका में नहीं मिलती। किन्तु पाणिनि ने सूत्र में कंस के बाद उसका उल्लेख किया है (कंस मन्थ शूर्पपाय्य काण्डं द्विगौ)। सम्भव है मन्थ द्रोण का पर्यायवाची हो, क्योंकि द्रोण का सूत्रों में उल्लेख नहीं है। चरक में कलश और घट को द्रोण का पर्याय लिखा है। कौटिल्य के अनुसार द्रोण १० सेर की तोल थी। वही सम्भवतः मन्थ की भी तोल थी।

१०. शूर्प (५।१।२६; ६।२।१२२)—चरक ने दो द्रोण का शूर्प माना है, जिसे कुम्भ भी कहते थे। उनकी तालिका के अनुसार शूर्प = ४०९६ तोला = १ मन ११ सेर १६ तोला।

११. खारी—(५।१।३३) पाणिनि ने लिखा है कि डेढ़ खारी से क्रीत वस्तु अध्यर्धखारी कहलाती थी। प्राच्य वैयाकरणों के अनुसार खारी शब्द का द्विगु समास में खार हो जाता था (खार्याः प्राचाम्, ५।४।१०१)। कात्यायन ने 'खार-शताद्यर्थम्' प्रयोग में अकारान्त रूप ही रक्खा है (५।१।५८, वा०)। कौटिल्य के अनुसार सोलह द्रोण की एक खारी मानी जाती थी। उस हिसाब से उसकी तोल चार मन के बराबर हुई। पतञ्जलि ने भी खारी को द्रोण से बड़ी माना है (अधिको द्रोणः खार्याम ५।२।७३)। खलिहान में रास की तोल खारी में बताई जाती थी। कात्यायन के खारशतादि पर पतञ्जलि ने सौ खारी अर्थात् चार सौ मन और हजार खारी या चार हजार मन तोल की बड़ी रासों का उल्लेख किया है (खारशतिको राशिः खारसहस्रिको राशिः, ५।१।५८, वा० ६)। यह बहुत ही बड़ी राशि हुई। इतनी भारी उपज के लिये लगभग पाँच सौ पक्के बीघे का खेत या चक भूमिधारी की जोत में होना आवश्यक था। खलिहान में मणनी हो जाने के बाद साफ किए हुए अन्न के ढेर को सदा से रास (सं० राशि) कहा जाता रहा है। पाली ग्रन्थों में पाँच प्रकार की अन्न समृद्धि कही गई है—खेतग्ग, रासग्ग, कोट्ठग्ग, कुम्भिग्ग, भोजनग्ग, अर्थात् ललहाते हुए खेत में, रास में, कोठार में, कुम्भी में, और परोसे हुए थाल में अन्न की बहुतायत। सहस्र खारी तोल की रास के लिये रासग्ग (राशि + अग्र) राशि का भारी ढेर यह विशेषण उपयुक्त था।

१२. गोणी (१।२।५०)—श्लोक वार्तिक के अनुसार एक गोणी माप की तोल भी गोणी कहलाती थी (गोणीमात्रमिदं गोणिः, १।२।५०)। चरक ने गोणी

को खारी का पर्याय मानते हुए उसे बड़ी तोल लिखा है। तदनुसार खारी = ८१९२ तोला = २ मन २२ सेर ३२ तोला।

१३ भार—सूत्र ६।२।३८ में भार और महाभार का उल्लेख है। ये दोनों संज्ञा शब्द थे। अर्थशास्त्र के अनुसार सौ पल या ५ सेर की एक तुला और २० तुला या ढाई मन का एक भार होता था (२।१९, विंशति तौलिको भारः)। अमरकोश में भी यही तोल है। एक भार = ८००० कर्ष या ढाई मन (अमर २।९।८७)। आज भी तराजू का एक धड़ा ५ सेर और एक पल्लेदार के लादने का बोझ ढाई मन होता है। इसी आधार पर ढाई मनी बोरी आजकल चलती है। महाभार एक अच्छी सगड़ गाड़ी का बोझा होना चाहिए, जो लगभग २५ मन माना जाता है। अतएव अनुमान होता है कि १० भार का बोझ महाभार कहलाता था। आदिपर्व में १० मनुष्य-भार बोझे का उल्लेख आया है[1]।

१४. आचित (४।१।२२, ५।१।५३)—अमरकोष के अनुसार आचित सगड़ के बोझे को कहते थे (शाकटो भार आचितः—२।६।८७) जो १० भार या २०००० पल या २५ मन का होता था। इससे ज्ञात होता है कि आचित और महाभार दोनों पर्याय थे।

१५. कुम्भ (६।२।१०२)—अर्थशास्त्र में कुंभ २० द्रोण के बराबर माना है। जो १० सेर प्रति द्रोण के हिसाब से ५ मन हुआ।

१६. वह—सूत्र ३।३।११९ में संज्ञा शब्द के रूप में वह शब्द सिद्ध किया गया है। परिमाण से उसका विशेष संबंध नहीं बताया गया, किन्तु अर्थशास्त्र के अनुसार १० कुम्भ का एक वह होता था, जो ५० मन के बराबर था। कालान्तर में वह ही वाह कहा जाने लगा। अंगुत्तर (५।१७३) के अनुसार कोसल जनपद में २० खारी या ८० मन का वाह होता था (वीसति खारीको कोसलको तिलवाहो)। वसुबन्धु ने २० खारी का ही मागधक तिलवाह कहा है (अभिधर्म० ३।८४)।

सूत्र में पण शब्द को भी परिमाणवाचक माना है (नित्यं पणः परिमाणे, ३।३।६६)। यह उस नाम का सिक्का या तोल नहीं, बल्कि साग सब्जी की एक गड्डी के लिये प्रयुक्त होता था (क्रय्य शाकाट्टिका, मेदिनी), जैसे मूलक पण, शाक पण (संव्यवहाराय मूलकादीनां यः परिमितो मुष्टिर्बध्यते तस्यदेमभिधानम्—काशिका)।

---

(१) कृताकृतस्य मुख्यस्य कनकस्याग्निवर्चसः।
मनुष्यभारान् दाशार्हो ददौ दश जनार्दनः॥ (आदि २१३।४६)

अर्थात् सुभद्रा के दायज में कृष्ण ने दस मनुष्यभार सोना दिया, जिसमें ढले हुए सिक्के (कृत) और पासा सोना (अकृत) दोनों शामिल थे।

आयाम या लम्बाई की नाप—

प्रमाण—अष्टाध्यायी में सर्वत्र प्रमाण का अर्थ आयाम है, केवल ६।२।४ सूत्र में तोल भी है, जैसे गोलवण, अश्वलवण उदाहरणों से ज्ञात होता है। ६।२।१२ सूत्र में काल को भी प्रमाण के अन्तर्गत माना है (द्विगौ प्रमाणे), जैसा प्राच्य सप्तसमः गान्धारि सप्तसमः उदाहरणों में स्पष्ट है।

अष्टाध्यायी में निम्नलिखित आयाम प्रमाणों का उल्लेख है—

(१) अङ्गुलि (५।४।८६)—८ यवमध्य के बराबर प्रमाण की संज्ञा अंगुलि थी (अर्थ० २।२०)। यह आजकल के पौन इंच के बराबर हुआ।

(२) दिष्टि, वितस्ति (६।२।७१, दिष्टिवितस्त्योश्च)—भाष्य में इन दोनों को प्रमाण कहा है, जैसा ५।२।३७ सूत्र पर काशिका के उदाहरण से भी सिद्ध होता है। ये एक दूसरे के पर्याय थे। इस आधार पर प्राचीन वैयाकरणों में कुछ प्रासंगिक चर्चा चली थी कि सूत्रकार ने इन दोनों का पाठ साथ साथ क्यों किया, जब एक के ग्रहण होने से दूसरे का ग्रहण भी हो जाता (सू० ६।२।१ पर श्लोक वार्त्तिक और भाष्य)। अर्थशास्त्र में १२ अंगुल की वितस्ति कही गई २।२०)। प्रमाण अर्थ में दिष्टि शब्द का प्रयोग संस्कृत साहित्य में अत्यन्त विरल है। केवल कौशिकसूत्र (५०।८५) में आया है। तथ्य यह है कि वितस्ति शब्द भारतवर्ष में और दिष्टि ईरान और मध्य एशिया की भाषाओं में अधिक चालू हुआ। मध्य एशिया से मिले हुए खरोष्ठी लेखों में दिठि शब्द प्रायः आता है, जो कि ईरानी दिस्तय का पर्याय है। इसका अर्थ एक वितस्ति ही था (एफ्० डब्लू० टामस, मध्य एशिया के खरोष्ठी लेखों पर कुछ टिप्पणियां, स्कूल आफ ओरियन्टल एन्ड अफ्रिकन् स्टडीज की पत्रिका, ११, १९४५, पृ० ५४७)।

पतंजलि ने शमः दिष्टिः वितस्तिः का क्रमशः उल्लेख किया है (५।२।३७)। अर्थशास्त्र के अनुसार शम १४ अंगुल का होता था। संभवतः पाणिनि में 'शम्बा करोति' (५।४।५८) का अर्थ यही था कि वह एक शम्ब या १४ अंगुल की गहराई तक खेत को जोतता है।

पुरुष—गहराई नापने के संबन्ध में पुरुष संज्ञक माप का प्रयोग किया जाता था (पुरुषात् प्रमाणेऽन्यतरस्याम्, ४।१।२४) जैसे द्विपुरुषा-द्विपुरुषी, त्रिपुरुषा-त्रिपुरुषी परिखा, अर्थात्, २ या ३ पुरसा गहरी खाई; अथवा द्विपुरुष त्रिपुरुष-मुदकम् अर्थात् २ या ३ पुरसा गहरा पानी (पुरुषहस्तिभ्यामण् च, ५।२।३८)। एक पुरुष प्रमाण के बराबर गहरी वस्तु पौरुष कहलाती थी।

अर्थशास्त्र (२।२०) में पौरुष नाप तीन तरह की है—(१) खातपौरुष, परिखा, रज्जु आदि की नाप के लिये=८४ अंगुल=१ व्याम=५' ३"। (२) पौरुष, संभवतः सेना में रंगरूटों की ऊँचाई नापने के लिये=४ अरत्नि=९६ अंगुल=

६ फुट (इसे दंड भी कहते थे)। (३) अग्निचित्य पौरुष, अग्निचयन की वेदी बनाने के लिये=४½ अरत्नि=१०८ अंगुल = ६′ ९″। 'इस प्रकार दो पुरसा गहरी खाई १०½ फुट और तीन पुरसा गहरी १५¾ फुट होती थी। बौधायन में वेदी-निर्माण के लिये पुरुषमाप को ५ अरत्नि या ७½ फुट लिखा है (बौधायनश्रौत १०।१; पदमंजरी ४।१।२४, पञ्चारत्निः पुरुष इति शुल्वविदः)।

हस्ति ५।२।३८)—हस्ती की माप ४० वर्ष के उत्तमजातीय पट्ठे हाथी के प्रमाण से ली जाती थी। उसकी ऊँचाई ७ अरत्नि, लम्बाई ९ अरत्नि और घेरा १० अरत्नि कहा गया है (अर्थ० २।३१)। हस्ति-माप के संबन्ध में यह उल्लेखनीय है कि वह नाप हाथी की ऊँचाई से न लेकर लम्बाई के आधार पर ही ली जाती थी। यों नौ अरत्नि १३½ फुट हस्ति-संज्ञक माप थी। ५।२।३८ सूत्र पर काशिका में द्विहस्ति त्रिहस्ति उदाहरण दिए हैं। द्विहस्ति या २७ फुट की नाप किले के परकोटे की ऊँचाई होती थी। महासुत सोम जातक में १८ हाथ ऊँचे परकोटे का उल्लेख है (अट्ठारसहत्थ पाकारेन, जातक ५।४७७)। आज भी पुराने किलों के परकोटे की ऊँचाई १८ हाथ मिलती है।

काण्ड (४।१।२३)—खेतों की नाप के संबंध में इसका उल्लेख आया है। द्विकाण्डी त्रिकाण्डी रज्जु से ज्ञात होता है कि काण्ड रज्जु संज्ञक नाप का छोटा भाग था। बाल मनोरमा ने काण्ड को दण्ड का पर्याय लिखा है, जो १६ हाथ या २७ फुट लम्बा माना जाता था। अर्थशास्त्र में दण्ड को छह कंस या १९२ अंगुल (=१२ फुट) लिखा है और १० अंगुल की रज्जु मानी है। खेतों का निवर्तनसंज्ञक क्षेत्रफल ३ रज्जु के बराबर होता था। कांड शब्द दो प्रकार की नाप के लिये था। लम्बी नाप के लिये, जैसे द्विकाण्डी रज्जुः तब उसमें ङीप् प्रत्यय लगता था। किन्तु क्षेत्रभक्ति या क्षेत्र फल के लिये जब उसका प्रयोग होता था, तब स्त्रीलिंगवाची टाप् प्रत्यय लगता था, जैसे द्विकाण्डा क्षेत्रभक्तिः।

किष्कु—पतंजलि ने पारस्करादि गण में इसका पाठ प्रामाणिक माना है (पारस्करप्रभृतीनि च संज्ञायाम्, ६।१।१५७)। अर्थशास्त्र के अनुसार ३२ अंगुल या दो फुट का साधारण किष्कु होता था। आराकश एवं राजबढ़ई का किष्कु ४२ अंगुल या ३१½ इंच लम्बा माना जाता था (क्राकचिक किष्कु)। स्कन्धावार, दुर्ग, राजभवन आदि के निर्माण के समय इसी का प्रयोग होता था (अर्थ० २।२०)। महाभारत में भी किष्कु का उल्लेख है (आरण्यक १२६।२९)। किष्कु ही यहाँ का पुराना गज था।

योजन (योजनं गच्छति, ५।१।७४)—योजन की नाप ४ क्रोश या ४ गोरुत मानी जाती थी। एक क्रोश ४००० हाथ या २००० गज का होता था। इस प्रकार योजन=८००० गज=४·५४ मील या ४ मील ९६० गज होता था (देखिए श्रीशामशास्त्रिकृत अर्थशास्त्र का अनुवाद पृ० ११८)।

आयाम प्रमाणों की तालिका इस प्रकार है—

८ यव = १ अंगुल = ¾ इंच
१२ अंगुल = १ वितस्ति या दिष्टि = ९ इंच
२ वितस्ति = १ अरत्नि = १½ फुट
४२ अंगुल = १ किष्कु = २ फुट ७½ इंच
८४ अंगुल = १ खात पौरुष = ५ फुट ४ इंच
२१६ अंगुल = १ हस्ति आयाम = १३ फुट ६ इंच
१९२ अंगुल = १ दंड या कांड = १२ फुट
१० दंड = १ रज्जु = ४० गज

अध्याय ४, परिच्छेद ९—मुद्राएं

अष्टाध्यायी के पंचम अध्याय के प्रथम पाद में एक प्रकरण (सूत्र १९-३७) का नाम आर्हीय प्रकरण है। ये सूत्र अधिकांश में प्रचलित सिक्कों की दर से चीजों का मोलभाव करने के लिये जो नियम लागू थे उनका वर्णन करते हैं। इस अधिकार को 'तेन क्रीतम्' (५।१।३७) इस सूत्र से सूचित किया गया है। इन्हीं सूत्रों में एक दूसरा अर्थ भी लागू है, उसे पाणिनि ने 'तदर्हति' (५।१।६३) सूत्र से बताया है। अर्थात् मोलभाव के लिये ये दो अर्थ थे। पहला तो यह कि अमुक वस्तु 'इस दाम से मोल ली गई' और दूसरा यह कि वह 'इतने मोल की है'। जैसे जिस बनारसी रेशमी दुपट्टे (काशिक क्षौम दुकूल) के लिये पाणिनि के समय में दो निष्क लागत लगती थी वह द्विनैष्किक कहलाता था। और इतना मूल्य देकर जो खरीदा गया हो वह भी द्विनैष्किक कहा जाता था। स्वभावतः एक का प्रयोग दुकूल के बाजार दर की दृष्टि से और दूसरे का उसकी असली कीमत की दृष्टि से भाषा में होता होगा। यह उचित ही है कि ऐसे विषय से संबंध रखनेवाले प्रकरण में उस समय के बहुत से सिक्कों का हवाला पाणिनि को देना पड़ा। ये सिक्के अवश्य ही पाणिनि के अपने समय में चलते थे। उनमें से अधिकांश एक सदी बाद कौटिल्य के समय में भी चालू थे। यहाँ हम सोने, चाँदी और ताँबे के सिक्कों का अलग अलग वर्णन करेंगे[1]।

१—आदरणीय श्री देवदत्त रामकृष्ण भांडारकर ने कलकत्ता विश्वविद्यालय में प्राचीन भारतीय मुद्राशास्त्र (Ancient Indian Numismatics) पर सन् १९२१ में एक व्याख्यानमाला दी थी। उसमें पाणिनीय सामग्री का अच्छा सन्निवेश था। हम उसके अनुगृहीत हैं। पर यहाँ अध्ययन का क्षेत्र उससे विस्तृत है।

सोने के सिक्के—निष्क और सुवर्ण

१ निष्क—निष्क वैदिक युग में एक सुवर्ण का आभूषण था। ऋ० ५।१९।३ में निष्कग्रीव का, २।३३।१० में विश्वरूप निष्क का उल्लेख है। ऋ० १।१२६।५ में शत निष्क मांगने के उल्लेख से श्री मैकडानल और कीथ का विचार था कि निष्क एक सिक्का भी रहा होगा (वैदिक इंडेक्स, १।४५५)। अथर्व वेद में सौ सुवर्ण निष्कों का उल्लेख है (शतं निष्का हिरण्ययाः, २०।१३१।५)। निष्कमिव प्रतिमुंचत (५।१४।३; ५।७।५), 'निष्क की तरह बाँध कर पहनो', इस कथन से सूचित होता है कि निष्क मुख्यतः कंठ का आभूषण था। अथर्व में भी निष्कग्रीवः (५।१७।१४) और ऐतरेय ब्रा० में निष्क कंठी स्त्रियों का उल्लेख है (ऐ० ८।२२)। निष्क पहनने वाले पुरुष को निष्की (जै० ब्रा०) और स्त्री को निष्किनी (श० १३।४।१८) कहते थे। वैदिक संहिताओं की सामग्री से निश्चित रूप में निष्क को सिक्का मानना कठिन है। यद्यपि यह सम्भव है कि निष्क गहने की तोल और आकृति व्यवहार में निश्चित मान की हो गई हो और तब लेन-देन या अदला बदली या गिरवी रखने में निष्क का व्यवहार होने लगा हो।

बाद के युगों में तो निष्क नियत सुवर्ण मुद्रा बन गई थी, ऐसा निश्चित ज्ञात होता है। जातक, महाभारत और पाणिनि तीनों की सामग्री का एक ही ओर संकेत है।

डा० भांडारकर के मत से जातकों में जो निष्क का जिक्र है उससे निष्क सोने का सिक्का ही मालूम होता है। अष्टाध्यायी में निष्क का वर्णन इन तीन सूत्रों में है —

(१) असमासे निष्कादिभ्यः (५।१।२०)—इसका अर्थ यह है कि निष्क, पण, पाद और माष जब समास में न हों तब 'इससे मोल लिया' (तेन क्रीतम्) इस अर्थ में ठक् प्रत्यय हो जाता है। निष्क में ठक् जोड़ने से 'नैष्किक' बनता है। पाणिनि के समय में जिस नैष्किक शब्द का प्रयोग होता था उसका अर्थ था 'एक निष्क से मोल ली हुई वस्तु'। इस अर्थ का ज्ञान कराने के लिये पाणिनि ने व्याकरण की दृष्टि से ठक् प्रत्यय का विधान किया। मुद्राशास्त्र की दृष्टि से तथ्य यह था कि निष्क पाणिनिकाल में एक चालू सिक्का था। इसी तरह पण से पाणिक, पाद से पादिक और माष से माषिक इन शब्दों का प्रयोग होता था। पतंजलि के भाष्य में एक स्थान पर ऐसा भी उदाहरण है जिससे 'नैष्किक' शब्द का दूसरा अर्थ (तदर्हति) यह भी मालूम होता है, जैसे—किमयं ब्राह्मणोऽर्हति ? शतमर्हति

शत्यः। शतिकः। साहस्रः। नैष्किक इति न सिध्यति[1] (महाभाष्य, सूत्र ५।१।१९)। ब्राह्मण की योग्यता या गुण-परिप्रश्न के विचार के समय कहा जाता था कि यह ब्राह्मण सौ की दक्षिणा के योग्य हैं, यह सहस्र की, या यह एक निष्क की। संभवतः यज्ञ आदि कर्मों में ब्राह्मणों को निमंत्रित करते समय इस प्रकार के विशेषणों से ब्राह्मणों की प्रतिष्ठा का अंदाज लगाया जाता था। 'शत्य' ब्राह्मण की योग्यता सौ चाँदी के कार्षापणों के लायक थी साहस्र' ब्राह्मण को एक सहस्र कार्षापण यज्ञ-दक्षिणा में या राजा के यहाँ से उपहार में मिलता होगा।

(२) द्वित्रिपूर्वान्निष्कात् (५।१।३०)-निष्क के चालू सिक्के होने की बात को यह सूत्र और भी पुष्ट करता है। कुछ चीजें दो निष्क और कुछ तीन निष्क के मूल्य से ली जाती थीं। व्याकरण की दृष्टि से विकल्पलोप के द्वारा इन दोनों के लिये ये प्रयोग बनते थे—

द्विनिष्कम्, द्विनैष्किकम्।
त्रिनिष्कम्, त्रिनैष्किकम्।

(३) शतसहस्रान्ताच्च निष्कात् (५।२।११६)—पाणिनि के समय में सौ निष्क की हैसियत वाला व्यक्ति नैष्कशतिक (निष्कशतमस्यास्तीति) और एकसहस्र निष्क वाला नैष्कसहस्रिक कहलाता था। व्यापारिक समृद्धि के उस युग में व्यक्ति विशेष के आढ्यभाव या आर्थिक प्रतिष्ठा का निर्देश करने के लिये ये वास्तविक पदवियाँ थीं। नगर की समृद्धि का अनुमान नागरिकों की अमीरी से लगाया जाता था। इस आँख से भी उस समय भिन्न भिन्न नगरों के निवासियों को देखने की प्रथा था। पतंजलि का यह वाक्य कि मथुरा के रहनेवाले पाटलिपुत्र के रहनेवालों से अधिक धनी हैं, इसी प्रकार के सामाजिक व्यवहार की ओर संकेत करता है[2]। महाभारत में भी सौ निष्क और सहस्र निष्कवाली सम्पत्ति का उल्लेख आया है (शतेन निष्कगणितं सहस्रेण च संमितम्, अनुशासन पर्व, १३।४३)। पतंजलि ने निष्कधन और शतनिष्कधन शब्दों का उल्लेख किया है (५।३।५५, नहि निष्कधनः शतनिष्कधनेन स्पर्धते)। महाभारत के अनुसार १०८ सुवर्ण मुद्राओं के साथ एक निष्क उस समय धन की इकाई मानी जाती थी (साष्टं शतं सुवर्णानां निष्कमाहुर्धनं तथा, द्रोणपर्व ६७।१०)। काशिकाकार ने यह प्रश्न किया है कि निष्कशत और निष्कसहस्र से पूर्व में सुवर्ण पद क्यों न जोड़ लिया जाय, जिससे यह मालूम हो सके कि किस धातु के निष्क उस व्यक्ति के पास हैं। इसका उत्तर काशिकाकार ने स्वयं दिया है कि

---

१ 'न सिध्यति' वाक्य व्याकरण शास्त्र के पूर्वपक्ष की उत्थापना के लिये है।

२—माथुराः पाटलिपुत्रकेभ्य आढ्यतराः। भाष्य ५।३।५७
सांकाश्यकेभ्यः पाटलिपुत्रका अभिरूपतराः। भाष्य १।३।११

लोक में इस तरह कहने का मुहावरा नहीं है। भाषा तो लोक के पीछे चलनेवाली है। जब निष्क सोने का ही होता है, तब व्यर्थ सुवर्ण पद जोड़ने से क्या लाभ? और फिर नैष्कशतिक पदवी में जिस प्रतिष्ठा की ध्वनि है वह तो सुवर्णनिष्क से ही संभव थी न कि रौप्यनिष्कों से। इसलिये भी नैष्कशतिक और नैष्कसहस्रिक जैसे प्रयोगों में सोने का सिक्का लोक-व्यवहार से समझ लिया जाता था। शतपथ ब्राह्मण में स्पष्ट इस बात का उल्लेख है कि निष्क सोने का सिक्का था। उद्दालक आरुणि ने स्वैदायन आचार्य के साथ शास्त्रार्थ करने के लिये एक सुवर्णनिष्क की शर्त बदी थी (श० ११।४।१।८)। कुहक जातक में कथा है कि एक कुटुम्बी ने सोने के सौ निष्क एक तपस्वी की पर्णशाला के पास भूमि में गाड़कर रखे थे (सुवण्णनिक्खसतं, कुहकजातक, जातकसंख्या ८९, पालि-जातक जिल्द १, पृ० ३७५)। वेस्संतर जातक में कथा है कि वेस्संतर ने अपने पुत्र का निष्क्रय मूल्य एक सहस्र निष्क निश्चित किया था (पालि-जातक, जि० ६ पृ० ५४६)। जुण्ह जातक की कथा में एक ब्राह्मण जुण्ह कुमार से सहस्र से भी अधिक निष्कों की याचना करता है (परो सहस्सञ्च सुवण्णनिक्खे, पालि-जातक, ४।९७)।

निष्क नाम से जिस सोने के सिक्के का वर्णन मिलता है क्या उसी के मेल में उससे छोटे फुटकर सिक्के भी थे? अँगरेजी पौंड सोने का सिक्का है। उसी के फुटकर सिक्कों में आधे पौंड का सिक्का भी सोने का है। इसी तरह पहले समय में निष्क के बाद अर्धनिष्क और पादनिष्क के अस्तित्व का अनुमान होता है। पाणिनि ने इनका उल्लेख नहीं किया। हाँ, पतंजलि ने 'निष्के चोपसंख्यानम्' वार्तिक (सूत्र ६।३।५६) के उदाहरण में पादनिष्क का उल्लेख किया है। इसे बोलचाल में 'पन्निष्क' भी कहते थे। मनु (८।१३७) में निष्क की तोल में ४ सुवर्ण या ३२० रत्ती के बराबर कहा है। अतएव पादनिष्क की तोल सुवर्ण के बराबर हुई। डा० भांडारकर का अनुमान है कि राजा जनक ने अपने यज्ञ में ब्राह्मणों को दक्षिणा के लिये गौओं के सींगों में जो २०,००० पाद सिक्के बाँधे थे (गोसहस्र के प्रत्येक शृंग में दस-दस पाद) वे सोने के ही थे। यह संभव है, क्योंकि उस यज्ञ को 'बहुदक्षिण' कहा गया है। उनका यह भी अनुमान है कि पाणिनीय सूत्र ५।१।३४–पण पाद माष शताद्यत्– में जो पाद है वह भी सोने का ही सिक्का था। यह दूसरा अनुमान चिन्त्य है। पण कार्षापण का छोटा नाम था। उसके साथ पढ़ा होने से पाद चाँदी के कार्षापण का चौथाई भाग था। पाद के बाद का माष सिक्का तांबे का था। चाँदी के पण और ताम्र माष के बीच में पढ़ा हुआ पाद सोने के सिक्के का वाचक नहीं माना जा सकता। इससे ¼ कार्षापण का अर्थ लेना अधिक संगत है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र और जातकों में पाद कार्षापण का उल्लेख भी है, जैसा कि आगे ज्ञात होगा। काशिकाकार ने हिरण्य परिमाण या संपत्ति के उदाहरण में निष्क माला का उल्लेख किया है (६।२।५५)।

२. सुवर्ण—जैसा ऊपर कहा जा चुका है, सुवर्ण का स्पष्ट उल्लेख अष्टाध्यायी में नहीं है। परंतु 'हिरण्यपरिमाणं धने' (६।२।५५) इस सूत्र में हिरण्यपद में सुवर्ण का भी अंतर्भाव है। सूत्र का अर्थ है कि परिमाण वाची पूर्वपद के बाद धन शब्द उत्तरपद में रहे तो पूर्वपद का अपना प्रकृतिस्वर विकल्प से रहता है। इसका उदाहरण है द्वौ सुवर्णौ परिमाणमस्य द्विसुवर्णम्, तदेव धनमिति द्विसुवर्णधनम्, अर्थात् दो सुवर्ण सिक्कों की पूँजी। वह पूँजी जिसकी हो उसको भी 'द्विसुवर्णधनः' कहेंगे। हिरण्य और सुवर्ण में अंतर है। डा० भांडारकर ने यह सिद्ध किया था कि अनगढ़ हुण्ड की संज्ञा हिरण्य थी। उसी के जब सिक्के ढाल लेते थे तब वे सुवर्ण कहलाते थे (प्राचीन भारतीय मुद्राशास्त्र, पृ० ५१)। कौटिल्य के अनुसार सुवर्ण का भार एक कर्ष अर्थात् ८० गुञ्जा (लगभग १५० ग्रेन) के बराबर होता था। पुराने स्वर्ण तो मिले नहीं हैं, गुप्त युग के जो सुवर्ण सिक्के प्राप्त होते हैं, उनका वजन प्रायः इतना ही मिलता है। साम जातक में 'हिरञ्ञ सुवण्ण' दोनों शब्द साथ आते हैं।[1] कौटिल्य के अर्थशास्त्र में 'हिरण्यसुवर्णम्' पद का अर्थ करते हुए श्री शाम शास्त्री ने हिरण्य का अर्थ पासा (bar gold) और सुवर्ण का अर्थ सोने का सिक्का (coined gold) किया है। जातरूपेभ्यः परिमाणे ४।३।१५३ सूत्र के उदाहरण में काशिका ने 'हाटकं कार्षापणं' (सोने का कार्षापण) यह उदाहरण दिया है। कार्षापण की तोल भी ८० रत्ती के बराबर थी। इससे अनुमान होता है कि कौटिल्य के सुवर्ण का ही दूसरा नाम 'हाटक कार्षापण' है। 'जातरूपेभ्यः परिमाणे' सूत्र में भी पाणिनि ने सोने के सिक्कों का ही संकेत किया है। जातरूप से सुवर्ण के पर्यायवाची शब्दों का ग्रहण होता है। सुवर्ण का परिमाण व्यक्त करने के लिये आवश्यक था कि सोने के निश्चित परिमाण के टुकड़े हों जिनकी आकृति पर उस परिमाण की निश्चयात्मक छाप हो। यह बात सिक्कों से ही प्रकट हो सकती है। हाटकः निष्कः में हाटक विशेषण का अण् प्रत्यय परिमाण अर्थ का द्योतक है। यह हाटक पद वहीं आ सकता है जहाँ अगला पद, जो हाटक का विकार है, परिमाणवाची हो। सोने के पात्र या सोने की बनी छड़ी के लिये हाटकमयम् या हाटकमयी कहना ठीक होगा।

इस प्रकार सुवर्ण के सिक्कों का अस्तित्व पाणिनि के समय में ज्ञात होता है। विभाषाकार्षापण सहस्राभ्याम् सूत्र (५।१२९) पर कात्यायन ने कहा है कि सूत्र में सुवर्ण और शतमान का ग्रहण भी करना चाहिए (सुवर्णशतमानयोरुपसंख्यानम्)। उससे अध्यर्धसुवर्ण और द्विसुवर्ण जैसे प्रयोगों को सिद्ध किया गया है।। पर इतना तो निर्विवाद हो जाता है कि कात्यायन के समय में सुवर्ण नामक सोने के सिक्के का अस्तित्व था। कौटिल्य की साक्षी भी ऐसी ही है। पर इस संबंध

---

१ दासकम्मकारादयो पि हिरञ्ञसुवण्णादीनि गहेत्वा पलायिंसु।
सामजातक (संख्या ५४०), पालि जातक जिल्द ६, पृ० ६९।

में आश्चर्य की बात यह है कि पाणिनि या चाणक्य के समय का सुवर्ण का कोई सिक्का अभी तक कहीं नहीं मिला, यद्यपि उस समय के चाँदी के कार्षापण नामक सिक्के लगभग पचास हजार मिल चुके हैं।

३ सुवर्ण माषक—अष्टाध्यायी के निष्कादि गण में (५।१।२०) तथा अलग सूत्र में (५।१।३४) भी जो माष शब्द आता है, उससे दोनों स्थानों में रौप्य कार्षापण वाले माष का ग्रहण करना चाहिए। सुवर्ण माष का स्पष्टतः उल्लेख पाणिनि में नहीं है। उदय जातक की कथा में एक जगह सुवर्ण माषकों से भरी हुई सुवर्ण पात्री का वर्णन आता है[१]।

चाँदी की आहत मुद्राएँ

१. शतमान—शतमान का नाम केवल एक सूत्र में आया है - शतनामविंशतिकसहस्रवसनादण् (५।१।२७,) अर्थात् शतमान, विंशतिक, सहस्र और वसन—इन चार शब्दों से क्रीतादि अर्थों में अण् प्रत्यय होता है। शतमानेन क्रीतम् शातमानम्, अर्थात् शतमान मुद्रा से मोल ली हुई वस्तु के लिये 'शातमान' पद का प्रयोग होता था।

पाणिनि ने यह नहीं कहा कि शतमान सिक्का सोने का था। पर शतपथ ब्राह्मण से मालूम होता है कि शतमान सुवर्णमुद्रा थी—तस्य त्रीणि शतमानानि हिरण्यानि दक्षिणा (श० ५।५।५।१६); हिरण्यं दक्षिणा सुवर्णं शतमानं तस्योक्तम्, (श० ८।२।३।२)। सोने की दक्षिणा में शतमान दिया जाता था पर समय क्रम से शतमान का अधिक सम्बन्ध चांदी के सिक्के से होने लगा। शतपथ में कहा है—देवता के दोनों रूपों के कारण विचित्रता के लिये सोने और चांदी दोनों की दक्षिणा देनी चाहिए। वह दक्षिणा शतमान होनी चाहिए, क्योंकि मनुष्य की आयु सौ वर्ष होती है (रजतं हिरण्यं दक्षिणा नानारूपतया शतमानं भवति शतायुर्वै पुरुषः, श० १३।२।३।२)। यहाँ सौ मान या भागों वाले राजत शतमान का उल्लेख है। कात्यायन श्रौत सूत्र में सुवर्ण शतमान के साथ साथ राजत शतमान का सुनिश्चित उल्लेख है (द्वादश कपालन्निर्वपति भिन्नतंत्रान् शतमानदक्षिणान्, मध्यमस्य राजतः, का० श्रौ० २०।२।६)। अलग सौवर्ण शतमान का भी स्पष्ट उल्लेख है (शतमानं दक्षिणा

---

१ सुवण्णमासकपूरं एकं सुवण्णपातिं आदाय। उदय-जातक (४५८). पालि-जातक ४।१०६। डा० भांडारकर, प्राचीन मुद्राशास्त्र, पृ० ५२। इस कहानी में सुवर्णमाषकों से भरी सोने की पात्री (तश्तरी), सुवर्ण माषकों से भरी चांदी की पात्री और चाँदी कार्षापणों से भरी ताँबे की पात्री को एक दूसरे से कम मूल्य की बताया गया है। ज्ञात होता है कि ३२ रत्तीके चाँदी के कार्षापण का मूल्य सोने के एक माषक (=५ रत्ती) से कुछ कम था। यों जातक युग में सोने और चांदी का आनुमानिक मूल्य १:७ रहा होगा।

सौवर्णम्, का० श्रौ० २०।१।२२)। वैदिक संहिताओं में ऐसा प्रमाण नहीं है कि शतमान सौ रत्ती का था, पर सायण और कर्काचार्य ने उसकी यही व्याख्या की है (रक्तिका-शत-मान, का० श्रौ० १५।६।३०)। वैदिक इंडेक्स के विद्वान् लेखकों ने भी इसे स्वीकार किया है। संहिता ग्रन्थों में कृष्णल या रत्ती तोल का प्रायः उल्लेख आया है (मैत्रायणी सं० २।२।२; तै० सं० २।३ २।१)। तै० ब्रा० (१।३।६।७) में कहा है कि वाजपेय यज्ञ में एक एक कृष्णल या रक्तिका बांटी जाती थी। अतएव यह अनुमान समीचीन है कि शतमान सिक्के की इकाई यही कृष्णल रहा हो। सौ रत्ती तोल का चांदी का सिक्का १८० ग्रेन तोल में रहा होगा। यह ठीक है कि मनु (८।१३५ १३७) और याज्ञवल्क्य स्मृति (१।३६४-३६५) के अनुसार शतमान की तोल ३२० रत्ती कही गई है। पर यह प्रमाण वैदिक युग और जनपद युग के लिये सत्य न था, बाद के युगों में बनाया गया। जब भूमि का लगान ३२ रत्ती वाले चांदी के कार्षापणों में दिया जाना निश्चित हुआ (शुंग-कुषाण-गुप्त युग) तब कार्षापण या पुराण या धरण की दसगुनी तोल की कल्पना की गई और उसे शतमान नाम दिया गया। यह ३२० रत्ती का शतमान कोई सिक्का न था, क्योंकि एक भी वैसा उदाहरण आजतक कहीं नहीं मिला, बल्कि हिसाब किताब के लिये चाँदी की एक कल्पित तोल मान ली गई थी। लेकिन सौ रत्ती वाले चाँदी के वास्तविक सिक्के तक्षशिला की खुदाई में प्राप्त हुए हैं। उनकी पहचान शतमान सिक्के से करना युक्ति संगत और प्रमाण सामग्री के अनुकूल है। ये मुद्राएं शलाकाकृति हैं और उनकी तोल १७७·३ ग्रेन या ठीक सौ रत्ती के लगभग है। वे सिक्के चौथी शती ई० पू० के हैं। सब विद्वान् ऐसा मानते हैं। यह सम्भावित है कि सातवीं शती ई० पू० से चौथी-तीसरी शती ई० पू० तक अर्थात् महाजनपद और नन्दयुग में शतमान सिक्के चलते थे।

शतमान मुद्रा कात्यायन के समय में भी चलती थी। सूत्र ५।१।२९ पर एक वार्तिक में डेढ़ शतमान का स्पष्ट नाम लिया है; यथा—वार्तिक—सुवर्णशतमानयोरुपसंख्यानम्। भाष्य—अध्यर्धशतमानम्, अध्यर्धशातमानम्। द्विशतमानम्, द्विशातमानम्। डेढ़ या दो शतमान से खरीदी हुई बस्तु की उक्त संज्ञाएँ थीं।

२. शाण—पाणिनि ने शाण सिक्के से क्रीत वस्तुओं के लिये लोक में प्रचलित कई शब्दों का उल्लेख किया है (शाणाद्वा, ५।१।३५; द्वित्रिपूर्वादण् च ५।१।३६), जैसे—अध्यर्धशाणम्। अध्यर्धशाण्यम्। द्विशाणम्। त्रिशाणम्। द्वैशाणम्। त्रैशाणम्। द्विशाण्यम्। त्रिशाण्यम्। इसमें पतंजलि ने पंचशाणं-पंचशाण्यम् और जोड़े हैं (५।१।३५)। ये अनेक उदाहरण इस बात के साक्षी हैं कि इस सिक्के का व्यवहार अधिक था। इसी सूत्र पर कात्यायन के दो वार्तिक हैं। वे भी इस बात को बताते हैं कि कात्यायन के समय में भी यह सिक्का काफी चालू था जिसके कारण विविध शब्द-रूपों का व्यवहार हो गया था। पाणिनि ने (परिमाणांतस्य असंज्ञाशाणयोः ७।३।१७) सूत्र में शाण का फिर उल्लेख किया है जिससे मालूम होता है कि शाण

उसी अर्थ में परिमाणवाची शब्द था जिस प्रकार हिरण्यपरिमाणं धने (६।२।५५) या जातरूपेभ्यः परिमाणे (४।३।१५३) में वर्णित सुवर्णादि। अर्थात् शाण निश्चित परिमाण और मूल्य का एक सिक्का था। महाभारत में शाण सिक्के के मूल्य का सबसे निश्चित उल्लेख आया है—अष्टौ शाणाः शतमानं वहन्ति (आरण्यकपर्व १३४।१४)। सौ-रत्ती वाले शतमान में आठ शाण होते थे। अतएव एक शाण की तोल १२½ रत्ती हुई (=२५ ग्रेन)। चरक ने शाण तोल को सुवर्ण या कर्ष का एक चौथाई लिखा है जो २० रत्ती हुआ। हो सकता है शाण सिक्के की पुरानी तोल को कुछ बढ़ाकर यह नया मान बनाया गया जैसे कि चरक की द्रोणादि तोलों में भी बढ़ाया हुआ मान मिलता है। शाण शतमान का अष्टभाग था उसकी वास्तविक तोल के पुराने चांदी के सिक्के मिल गए हैं (दे० मुद्रापरिषद् की पत्रिका, १४।२२-५५ शाण मुद्रा पर मेरा लेख)। अष्टभाग या पादार्ध शतमान का दुगना अर्थात् द्विशाण के बराबर पाद शतमान सिक्का, उससे बड़ा तीन शाण का सिक्का, उससे बड़ा चार शाण का या अर्धशतमान सिक्का भी चलता था। पैलानिधान के सिक्के पादशतमान(वही, २।२७), लखनऊ संग्रहालय के कुछ चांदी के चौड़े सिक्के भी पाद शतमान (मुद्रा परिशिष्ट, ४५।९-१२), प्राचीन कोसलजनपद के कुछ सिक्के अर्धशतमान (तोल ७५-७९ ग्रेन, मुद्रा परिषद् पत्रिका, ३।५१, १५।११०), और सोनपुर से प्राप्त सिक्के (तोल २१ ग्रेन) पदार्धशतमान या शाण (वही १३।९२, १५।९४) से मिलते हैं।

१. कार्षापण

प्राचीन भारतवर्ष का सबसे मशहूर सिक्का चाँदी का कार्षापण था। इसे ही मनुस्मृति में धरण और राजत पुराण (चाँदी का पुराण) भी कहा गया है[1]। पाणिनि ने इन सिक्कों को 'आहत' (५।२।१२०) कहा है उसी के अनुसार अँगरेज़ी में ये पंच-मार्क्ड (Punch-marked) के नाम से प्रसिद्ध हैं। ये सिक्के बुद्ध से भी पुराने हैं और भारतवर्ष में ओर से छोर तक पाए जाते हैं। अब तक लगभग पचास सहस्र से भी अधिक चाँदी के कार्षापण मिल चुके हैं। कौटिलीय अर्थशास्त्र में कार्षापण ही चालू सिक्का था पर वहाँ सर्वत्र इसका संक्षिप्त नाम पण दिया गया है। मनुस्मृति के अनुसार चाँदी के कार्षापण या पुराण का वजन ३२ रत्ती था। सोने और ताँबे के कर्ष का वजन ८० रत्ती था। उसके बराबर तोल के सोने के सुवर्ण और तांबे के कार्षापण सिक्के की तोल भी ८० रत्ती होती थी।

१—द्वे कृष्णले समधृते विज्ञेयो रौप्यमाषकः। ८।१३५
ते षोडश स्याद् धरणं पुराणश्चैव राजतः। ८।१३६

जातक कथाओं में अनेक स्थानों पर कार्षापण का उल्लेख है। उसका पाली नाम कहापण था। जातकों के पढ़ने से यह साफ मालूम होता है कि रोजमर्रा के लेने-देन में कहापण और उसकी छोटी खरीज का बहुत चलन था। अष्टाध्यायी में कार्षापण और पण ये दोनों नाम पाए जाते हैं। यथा –

विभाषा कार्षापणसहस्राभ्याम्। ५।१।२९
पणपादमाषशताद्यत्। ५।१।३४

संभव है चाँदी के सिक्के का नाम कार्षापण और ताँबे के कर्ष का नाम पण रहा हो। मनुस्मृति में ताँबे के कार्षापण को पण कहा है :—

कार्षापणस्तु विज्ञेयस्ताम्रिकः कार्षिकः पणः। ८।१३६

अर्थात् ताँबे का कार्षापण जो तोल में एक कर्ष (८० रत्ती) हो पण कहलाता है। पाणिनीय सूत्र पर कात्यायन ने कार्षापण का एक नया नाम 'प्रति' दिया है। एक कार्षापण में मोल ली हुई अर्थात् प्रति कार्षापण के हिसाब वाली वस्तु को 'प्रतिक' कहने लगे थे। यही कात्यायन के वार्तिक की ध्वनि है, जिससे 'प्रतिक' पद सिद्ध किया गया है[1] कार्षापण का 'प्रति' नाम उसके चालू सिक्के होने की बात को और अधिक पुष्ट करता है।

बौद्ध साहित्य में जहाँ कहीं हजारों लाखों का जिक्र है वहाँ कार्षापण पद के बिना भी सहस्र या शतसहस्र कार्षापण ही समझे जाते हैं। हिंदी में जैसे लखपति या करोड़पति का आशय लाख या करोड़ रुपयों वाले मनुष्य से है, वैसे ही प्राचीन साहित्य में कार्षापण समझा जाता था। गंगमाल जातक[2] में राजा उदय ने 'अड्ढमासक' भिश्ती से उसके धन की संख्या पूछते हुए सतसहस्स', 'पञ्ञासहस्स' से पूछना शुरू किया था जिसका आशय एक लाख और पचास हजार कार्षापण से था। संस्कृत साहित्य में भी इसी तरह का मुहाविरा पाया जाता है। अर्थशास्त्र में एक स्थान पर (पृष्ठ ३६८) शतसहस्र, दशसहस्र, पंचसहस्र, सहस्र शत और विंशति मुद्राओं के इनाम देने का वर्णन है। वहाँ इनसे पणों का ही अर्थ लिया जाता है।

स्वयं अष्टाध्यायी में भी कार्षापणों के सूचक निरे संख्या-शब्दों का प्रयोग हुआ है। सूत्र ५।१।२१ में सौ से खरीदी हुई वस्तु के लिये शतिक और शत्य प्रयोग है। सूत्र ५।१।२७ में हजार की कीमतवाली चीज के लिये 'साहस्र' तथा सूत्र

१—वा०—कार्षापणाद्वा प्रतिश्च।

भाष्य—कार्षापणाट् टिठन् वक्तव्यः। वा च प्रतिरादेशो वक्तव्यः कार्षापणिकः कार्षापणिकी। प्रतिकः प्रतिकी।

२—गंगमाल-जातक (४२१), पालि-जातक, जिल्द ३, पृष्ठ ४४८।

५।१।२९ में डेढ़ हजार या उससे भी अधिक मोलवाली वस्तु के लिये अध्यर्धसहस्रम्, अध्यर्धसाहस्रम्, द्विसहस्रम्, द्विसाहस्रम् आदि प्रयोग सिद्ध किए गए हैं। इन सूत्रों में केवल शत और सहस्र पद उतनी संख्या वाले चाँदी के कार्षापणों का बोध कराते हैं। सूत्र ५।१।३४ में अध्यर्ध, द्वि और त्रि पूर्वक शत शब्द १५०, २००, और ३०० कार्षापणों के लिये हैं। द्रव्यवाचक ये संख्याएँ संभवतः बहुत अधिक व्यवहार में आती थीं। इसी तरह सूत्र ५।४।२ में सौ या उससे अधिक जुर्माने और दान का विधान है, वहाँ भी द्विशतिकां दंडितः उदाहरण में दो सौ कार्षापण के जुर्माने का ही ग्रहण होता है।

पतंजलि के भाष्य में भी इस मुहाविरे के कई उदाहरण हैं। ५।१।२१ सूत्र पर एक वार्तिक के भाष्य में भाष्यकार ने एक महत्वपूर्ण वाक्य लिखा है—शतेन क्रीतं शत्यं शाटकशतम्, अर्थात् सौ में खरीदी गई सौ धोतियाँ। यहाँ यह मालूम होता है कि अब से २२०० वर्ष पूर्व एक धोती का मूल्य चाँदी का एक कार्षापण था।

तदस्मिन्नधिकमिति दशान्ताड्डः सूत्र (५।२।४५) पर वार्तिकों का व्याख्यान करते समय भाष्यकार ने स्पष्ट बताया है कि प्राचीन काल में फुटकर अधिक संख्या की गणना सौ और हजार की दृष्टि से की जाती थी। जैसे १११ में ११ संख्या उसी सिक्के की सूचक है जिसकी कि १००। अपने उदाहरण में भाष्यकार ने स्वभावतः सौ का तात्पर्य सौ कार्षापण में घटाया है। जैसे ग्यारह अधिक हैं जिस कार्षापण के सैकड़े में उसको कहेंगे एक सौ ग्यारह (एकादश कार्षापणा उपश्लिष्टा अस्मिञ्शते एकादशं शतम्)।

कार्षापण की फुटकर खरीज

जहाँ कार्षापण इतना प्रचलित सिक्का था वहाँ यह स्वाभाविक है कि उससे सम्बन्ध रखने वाले कई तरह के छोटे सिक्के भी चालू हों। फुटकर सिक्कों की तीन सूचियाँ हमें मिलती हैं। एक अष्टाध्यायी से दूसरी जातकों से[1] और तीसरी कौटिल्य के अर्थशास्त्र से[2]। अष्टाध्यायी में कार्षापण (दूसरा नाम पण), अर्ध (भाग),

---

१. गंगमाल-जातक, ३।४४८—

तेन हि पञ्ञाससहस्सानि चत्तालीस तिंस वीसति दस पंच चत्तारि तयो द्वे एको कहापणो, अड्ढो, पादो, चत्तारो मासका, तयो, द्वे, एको मासको ति पुच्छि। सब्बं पटिक्खिपित्वा अड्ढमासको ति वुत्ते, आम देव, एत्तकं मह्यं धनम्।

२. अर्थशास्त्र २।१२—

पणम्, अर्धपणम्, पादम्, अष्टभागम् इति। पादाजीवं ताम्ररूपं माषकम्, अर्धमाषकम्, काकणीम्, अर्धकाकणीमिति।

अर्थात्—चाँदी के सिक्के—पण, अर्धपण, पाद, अष्टभाग (जैसे अब रुपया, अठन्नी, चवन्नी, और दुअन्नी हैं)। ताँबे के सिक्के—माषक, अर्धमाषक, काकणी, अर्ध-

पाद, त्रिमाष, द्विमाष, अध्यर्ध या डेढ़ माष, माष और अर्ध माष का वर्णन है। इसमें कात्यायन ने काकणी और अर्धकाकणी नाम और जोड़े हैं। नीचे की तालिका में पाणिनि की सूची जातक और अर्थशास्त्र के साथ मिलाकर दिखाई गई है। पाठक देखेंगे कि इन दो ग्रंथों की संज्ञाएँ अष्टाध्यायी के नामों से कहीं-कहीं भिन्न हैं।

कार्षापण–तालिका

संख्या	कार्षापण का भाग	अष्टाध्यायी	जातक	अर्थशास्त्र	तोल
१	१/१	कार्षापण और पण	कहापण	पण	३२ रत्ती चाँदी
२	१/२	अर्ध या भाग	अड्ढ	अर्धपण	१६ ,, ,,
३	१/४	पाद	पाद या चत्तारो मासका	पाद	८ ,, ,,
४	३/१६	त्रिमाष	तयो मासका		
५	१/८	द्विमाष	द्वे मासका	अष्टभाग	४ ,, ,,
६	१/१६	माष	एकमासक	माषक	तोल २ रत्ती
७	१/३२	अर्धमाष	अड्ढमासक	अर्ध माषक	१ रत्ती
८	१/६८	काकणी (कात्यायन वा० ५।१।३३)		काकणी	१/२ रत्ती (चार काकणी का एक माष)
९	१/१२८	अर्धकाकणी (कात्यायन)		अर्धकाकणी	१/४ रत्ती

चाँदी के कार्षापण की तोल

कार्षापण नामक चाँदी के सिक्कों की तोल के संबंध में दो तरह की सामग्री है। एक शास्त्रीय, दूसरी कार्षापणों के उपलब्ध नमूने। शास्त्र के वाक्यों में मनुस्मृति का कथन सबसे अधिक स्पष्ट है—

काकणी। जान पड़ता है कि ताँबे के सिक्कों में माषक से ऊपर ताँबे का चौथाई पण, आधा पण, और पण नामक सिक्के भी थे।

द्वे कृष्णले समधृते विज्ञेयो रौप्यमाषकः ॥८।१३५
ते षोडश स्याद् धरणं पुराणश्चैव राजतः ॥८।१३६
अर्थात् २ कृष्णल = १ चाँदी का माशा।
१६ रौप्यमाष=१ धरण या राजत पुराण या ३२ रत्ती।
इस प्रकार चाँदी के पुराण अर्थात् कार्षापण का वजन ३२ रत्ती होता था।

कौटिल्य के अनुसार ८८ गौरसर्षप=१ रूप्यमाषक, और १६ रूप्यमाषक=१ धरण। मनु का धरण और कौटिल्य का धरण एक ही मालूम होते हैं। एक रत्ती की आधुनिक तोल १·८३ ग्रेन के लगभग मानी जाती है (भांडारकर, पृष्ठ ११२)। इस हिसाब से ३२ रत्ती का वजन ५८·५६ ग्रेन होता है। विद्वान् लोग इसी को प्रायः कार्षापण का वजन मानते हैं। रत्ती की तोल घटने बढ़ने से यह वजन ५६ से ६० ग्रेन तक हो सकता है। इसी हिसाब से अर्धकार्षापण, पाद और अष्ट-भाग का वजन निकल आता है। अब तक जो सिक्के मिले हैं उनके वजन की छानबीन करके देखने से पता चला है कि कार्षापण की ऊपर बताई तोल अधि-कांश में ठीक ही है। कुछ कार्षापण ऐसे भी हैं जिनकी तोल का हिसाब ३२ रत्ती के साथ मेल नहीं खाता। उदाहरणार्थ डा० स्पूनर को पेशावर से मिले हुए कार्षापणों में कुछ का वजन ४६·४१ और ५१·२४ ग्रेन के बराबर था। इन अपवादों का कारण सिक्कों की घिसाई या जान बूझकर वजन में की हुई कमी हो सकती है। अधि-कांश कार्षापण ३२ रत्तीवाले हिसाब से मिल जाते हैं। अर्धकार्षापण और पाद कार्षापण अपेक्षाकृत कम संख्या में मिले हैं।

२. अर्धकार्षापण

पाणिनीय सूत्र ५।१।४८ (पूरणार्धाट्ठन्) में अर्ध शब्द अर्धकार्षापण के लिये प्रयुक्त हुआ है। काशिका में स्पष्ट कहा है—अर्धशब्दो रूपकार्धस्य रूढिः, अर्थात् इस सूत्र में अर्ध रूपकार्ध या 'अधेली' की संज्ञा है। रूपकार्ध का तात्पर्य कार्षापण के अर्धभाग से है। जिस काम में आधा कार्षापण सूद, निकासी, मुनाफा, चुंगी या रिश्वत के रूप में दिया जाय उसे 'अर्धिक' कहते थे। महासुपिन जातक में अर्ध-कार्षापण के लिये सिर्फ अड्ढ शब्द का व्यवहार हुआ है—कहापणड्ढमासकरूपा-दीनि—(जातक १।३४०)।

गंगमाल जातक का जो प्रमाण ऊपर दिया गया है उसमें भी 'अड्ढ' संज्ञा ही है। इससे मालूम होता है कि पाणिनि के और जातकों के समय में अर्धकार्षापण के लिये केवल 'अड्ढ' शब्द काम में आता था। पाणिनि के अगले ही सूत्र में अर्ध के लिये भाग शब्द का भी प्रयोग है—

भागाद्य—५।१।४९

भाग का अर्थ काशिका में 'रूपकार्ध' दिया है जो अर्ध का ही नामांतर है। (भागशब्दोऽपि रूपकार्धस्य वाचकः, काशिका ५।१।४९)। भागिक का अर्थ भी वही था जो अर्धिक का था। कात्यायन ने भी अर्धकार्षापण के लिये अर्ध शब्द का प्रयोग किया है—टिठनर्धाच (सूत्र ५।१।२५, वा०)।

कौटिल्य में अर्धकार्षापण के लिये अर्धपण शब्द है। उसका वजन १६ रत्ती = २९·२८ ग्रेन था। इस तोल के आसपास के सिक्के प्राचीन 'अर्ध' के ही नमूने हैं।

३. पादकार्षापण

चौथाई कार्षापण का नाम 'पाद' था। 'पणपादमाषशताद्यत्' (५।१।३४) में पाद शब्द इसी के लिये प्रयुक्त जान पड़ता है। सूत्र १।३।७२ के भाष्य में पतं-जलि ने लिखा है—

कर्मकराः कुर्वन्ति पादिकमहर्लप्स्यामह इति। भाष्य १।२९३

अर्थात् मजदूर (कमेरे) इसलिये काम करते हैं कि दिन भर की मजदूरी एक पादिक (पावली) हमें मिल जायगी। इससे मालूम होता है कि शुंगकाल में मजदूरों की रोजाना मजदूरी चौथाई कार्षापण अर्थात् ८ रत्ती चाँदी के बराबर थी।

पाणिनीय सूत्र ५।४।१ और २ में भी पाद सिक्के का उल्लेख है। द्विपदिका और त्रिपदिका प्रयोगों का उदाहरण काशिका ने और भी कई सूत्रों (६।२।६५; ६।३।१०; ६।४।१३०) की व्याख्या में दिया है। ये स्वतन्त्र सिक्के न थे बल्कि दो और तीन पादों के वाची हैं। जैसे द्विपदिकां दण्डितः, दो पाद का जुर्माना हुआ; द्विपदिकां व्यवसृजति, दो पाद दान में देता है।

४. अष्टभाग

अर्थशास्त्र ने व्यावहारिक सिक्कों की जो सूची दी है उसमें अष्ट भाग का नाम है। यह पण का आठवाँ हिस्सा था। मनुस्मृति (८।४०४) में इसे पादार्ध कहा है। अर्थशास्त्र में एक ऐसी सूची है जिसमें सोने और चाँदी की तोल में काम आनेवाले छोटे बट्टों के नाम दिए हुए हैं (अर्थ २।१९)। इसमें 'दो माशा' भी एक तोल है। चाँदी की तोल में दो माशे का वजन ४ रत्ती के बराबर हुआ। यही कार्षापण अष्टभाग सिक्का था।

उ—ताँबे के सिक्के

५. माष

सूत्र ५।१।३४ में पण, पाद के बाद माष का जिक्र है। माष चाँदी और ताँबे का सिक्का था। दोनों के शब्दरूप एक से बनते थे। चाँदी का रौप्य माष दो रत्ती का और ताँबे का पाँच रत्ती का होता था। (द्वे कृष्णले समधृते विज्ञेयो रौप्यमाषकः, मनु० ८।१३५)। अष्टाध्यायी में माष से छोटे अर्धमाष का स्पष्ट उल्लेख नहीं है, पर पणपादमाषशताद्यत् इस सूत्र में अध्यर्ध की अनुवृत्ति से डेढ़ माष का जिक्र है। इससे 'अर्धमाष' के अस्तित्व का भी मनुमान होता है। जातकों में तो 'अड्ढमासक' का खूब वर्णन है। गंगमाल जातक में अड्ढमासक नाम के भिश्ती की कथा में आधे माशे का रोचक वर्णन है। अर्थशास्त्र में सिक्कों की और तोल की सूची में अर्धमाषक की गिनती है।

ताँबे के सिक्के

ताँबे में भी कार्षापण या कहापण चालू सिक्का आजकल के पैसे जैसा था। ताँबे का माष तोल में पाँच रत्ती होता था। इसके छोटे सिक्के अड्ढमाषक, काकणी अर्ध काकणी थे।

अर्थशास्त्र में ताँबे के सिक्कों की सूची के आदि में 'पादाजीवं ताम्ररूपं' पद आया है (पृ० ८४)। श्री शामशास्त्री जी ने इसका अर्थ किया है कि ताँबे के सिक्कों में एक-चौथाई मिलावट रहती थी। पर डा० भांडारकर को बेसनगर की खुदाई में १४७·५ ग्रेन के पूरे वजन के ताम्र कार्षापण, १११·५ ग्रेन के पौन कार्षापण भी मिले थे। संभव है चाँदी के कार्षापण की भाँति ताँबे के पण में भी एक एक पाद कम वजन के $\frac{3}{4}$, $\frac{1}{2}$, $\frac{1}{4}$ पण के सिक्के हों। पादाजीवं का संकेत इन्हीं मुद्राओं से ज्ञात होता है।

काकणी, अर्ध-काकणी

पाणिनि में इन दो सिक्कों का उल्लेख नहीं है। चाणक्य ने ताँबे की सूची में इनका नाम दिया है (२।१९)। चुल्लसेट्ठि जातक में इसका उल्लेख है (१।१२०)। सालित्तक जातक में भी काकणी सिक्के का वर्णन है (१।४१९)। चार काकणी का एक माष होता था।

कात्यायन ने सूत्र ५।१।३३ पर दो वार्तिकों में काकणी और अर्धकाकणी का पहली बार उल्लेख किया है। वहाँ एक, डेढ़ और दो काकणी से मोल ली जाने वाली वस्तु के लिये काकणीक, अध्यर्धकाकणीक और द्विकाकणीक प्रयोग सिद्ध

किए गए हैं[1]। मालूम होता है कि पाणिनि के समय में काकणी का व्यवहार नहीं था, अन्यथा उनके सूत्रों में उसका उल्लेख होता।

विंशतिक

पाणिनि के सिक्कों की सूची में विंशतिक और त्रिंशत्क ये दो नाम रहस्यमय हैं। विंशतिक का उल्लेख दो सूत्रों में है।

शतमान-विंशतिक-सहस्र-वसनादण्। ५।१।२७

विंशतिकात्खः। ५।१।३२

पहले सूत्र से वैंशतिक (एक विंशतिक से मोल लिया हुआ) और दूसरे से अध्यर्धविंशतिकीन, द्विविंशतिकीन, त्रिविंशतिकीन (१½, २, ३ विंशतिक से क्रीत) ये प्रयोग बनते हैं। विंशतित्रिंशद्भ्यां ड्वुन्नसंज्ञायाम् ५।१।२४ सूत्र के द्वारा असंज्ञा में विंशक-त्रिंशक और संज्ञा अर्थ में पाणिनि ने विंशतिक और त्रिंशत्क पदों का विधान किया है। प्रसंग से ये संज्ञाएँ सिक्कों की जान पड़ती हैं। विंशतिक शब्द २० हिस्सों वाले सिक्के का संकेत करता है। विंशति शब्द से पहले [किसी (संभवतः सिक्के) के नाम] के लिये विंशतिक संज्ञा बनती है पुनः तेन क्रीतं आदि अर्थों में वैंशतिक प्रयोग सिद्ध होता है। प्रश्न यह है कि विंशतिक नाम की कौन सी मुद्रा थी ? इसके उत्तर में अब निश्चय पूर्वक कहा जा सकता है कि यह एक प्रकार का कार्षापण सिक्का था जिसके २० भाग होते थे। इस प्रकार दो तरह के कार्षापण थे, एक १६ माष का और दूसरा २० माष का होता था। बीस भाग होने के कारण ही उसका नाम विंशतिक पड़ा था। इस विषय में निम्नलिखित प्रमाण हैं—

(१) विनयपिटक पर बुद्धघोष कृत समंतपासादिका टीका में लिखा है—तदा राजगहे वीसतिमासको कहापणो होति, तस्मा पंचमासको पादो। अर्थात् राजा बिंबिसार के समय में राजगृह में बीस माषक का कार्षापण था। उसके एक पाद का वजन ५ माषक था। समंतपासादिका पर सारिपुत्त थेर की सारत्थदीपनी टीका ने भी इसकी पुष्टि की है[2]।

१—काकण्याश्चोपसंख्यानम्।

भाष्य— काकण्याश्चोपसंख्यानं कर्तव्यम्। अध्यर्धकाकणीकम्। द्विकाकणीकम्।

वा०—केवलायाश्च।

भाष्य—केवलायाश्चेति वक्तव्यम्। काकणीकम्।

२—इमिना व सब्बजनपदेसु कहापणस्स वीसतिमो भागो मासको ति। श्री चरणदास चटर्जी, पाली ग्रन्थों में कुछ नए मुद्रा सम्बन्धी शब्द, उत्तर प्रदेश इतिहास परिषद् की पत्रिका, मई १९३३, पृ० १५८।

(२) गंगमाल जातक (३।४४२) में कार्षापण के फुटकर छोटे सिक्कों की नामावली में पाद के बाद उससे कम मूल्य के चार मासक सिक्के का वर्णन है। यह तभी संभव है जब पाद पाँच मासक के बराबर हो और उसका कार्षापण २० मासक का हो।

(३) कौटिल्य ने धरण का वजन १६ रौप्यमाषक या २० शैंब्य बीज दिया है। संभवतः २० शैंब्य बीजों वाले कार्षापण के ही २० भाग होते थे (अर्थशास्त्र पृ० १०३)।

(४) याज्ञवल्क्यस्मृति (१।३६४) में एक पल को चार या पाँच सुवर्ण के बराबर माना है। इस पर मिताक्षरा का वचन है कि पाँच सुवर्ण के बराबर १ पल मानने से पण या कार्षापण का वजन २० माष मानना होगा (पंचसुवर्णपलपक्षे विंशतिमाषः पणो भवति याज्ञ० १।३६५)।

(५) कात्यायनस्मृति में भी एक कार्षापण को २० माषक के बराबर माना है (डा० भांडारकर, पृ० १८६)।

(६) पाणिनि १।२।६४ पर पतंजलि ने लिखा है—अपरस्त्वाह। पुराकल्प एतदासीत् षोडशमाषाः कार्षापणं षोडशपलाश्च माषशम्बस्यः। तत्र संख्यासामान्यात्सिद्धम्। अर्थात् किन्हीं आचार्य का मत है कि पूर्व समय में सोलह माष का कार्षापण होता था और सोलह पल की एक माषरांबटी होती थी, तब दोनों माष शब्दों के साथ सोलह की संख्या का समान सम्बन्ध था। जिस आचार्य का यह पक्ष है उसके मत में १६ माषवाला कार्षापण पुराकल्प की घटना थी। डा० शामशास्त्री का अनुमान है कि पुराकल्पवाला यह कार्षापण वही है जिसका उल्लेख अर्थशास्त्र में है। पर इससे यह अनुमान नहीं निकाला जा सकता कि कौटिल्य से पहले २० माषकवाले कार्षापण का अथवा कौटिल्य के बाद १६ माषकवाले कार्षापण का प्रचार नहीं था। ऐसा मालूम होता है कि एक ही समय में देशभेद से दोनों प्रकार के कार्षापणों का चलन था, जैसे राजगृह में २० माषकवाला कार्षापण चालू था। तभी तो हम बिंबिसार के समय में, जातकों में और पतंजलि में २० भागवाले कार्षापण का वर्णन पाते हैं और उसके बीच में अर्थशास्त्र में १६ माषक कार्षापण का।

इन प्रमाणों से यह स्पष्ट होता है कि २० भाग वाले कार्षापण का भी रिवाज था। पाणिनि के विंशतिक सिक्के का संबंध इसी २० भागवाले कार्षापण से था। इसी कारण उसकी एक विशेष संज्ञा पड़ गई थी। साथ ही सोलह माषकवाला कार्षापण भी पाणिनि को ज्ञात था और व्यवहार में वही अधिक प्रचलित भी रहा होगा।

विंशतिक सिक्कों के वास्तविक नमूने भी मिल गए हैं। कुछ लखनऊ संग्रहालय में हैं। उनकी तोल ७० से ८० ग्रेन तक है। उन पर आहत रूपों और

बनावट के आधार पर यह निश्चित ज्ञात होता है कि वे ३२ रत्ती वाले कार्षापण सिक्कों से प्राचीन थे। मुद्राशास्त्र के प्रमाणों से ज्ञात होता है कि ३२ रत्ती वाले कार्षापण को पहली बार नन्दराजाओं ने चलाया था। उनसे पूर्व बिम्बिसार के काल में ४० रत्ती वाले विंशतिक का ही प्रचार था। विंशतिक से संबंधित इन सिक्कों का भी उल्लेख उदाहरणों में आया है—त्रिविंशतिक (काशिका, ५।१।३२, १२० रत्ती तोल का सिक्का); द्विविंशतिक (काशिका, ५।१।३२, ८० रत्ती तोल का सिक्का); अध्यर्ध विंशतिक (सूत्र ५।१।८४ में उल्लिखित; ६० रत्ती तोल का)।

पाणिनि ने जिस त्रिंशत्क का उल्लेख किया है (५।१।२४) वह विंशतिक का ड्यौढ़ा था और उसका मूल्य अध्यर्धकार्षापण (५।१।२९) के बराबर रहा होगा। श्री दुर्गा प्रसाद जी को १०४ से १०५·७ ग्रेन या लगभग ५८ रत्ती के सिक्के मिले थे। उनकी पहचान अष्टाध्यायी के त्रिंशत्क से की गई है।

रूप या रूप्य

प्राचीन कार्षापण सिक्कों को आहत सिक्कों का नाम दिया गया है। इसका कारण यह है कि उनपर अनेक प्रकार के रूप (symbols) ठप्पों से छापे हुए मिलते हैं। आहत नाम भी एक प्रकार से पाणिनि का दिया हुआ है—

रूपादाहतप्रशंसयोर्यप् ।५।२।१२०

सूत्रार्थ—रूप शब्द के बाद यप् प्रत्यय आहत और प्रशंसा अर्थों में जोड़ा जाता है। जैसे रूप्यो गौः, प्रशंसनीय रूपवाला बैल। आहत के लिये काशिका में तीन उदाहरण हैं—

आहतं रूपमस्य रूप्यो दीनारः,
रूप्यः केदारः
रूप्यं कार्षापणम्।

काशिकाकार ने आहत की व्याख्या करते हुए लिखा है कि निहाई पर रखकर पीटने से दीनार आदि पर जो रूप बनाया जाता है उसे आहत कहते हैं (निघातिकाताडनादिना दीनारादिषु रूपं यदुत्पाद्यते तदाहतमित्युच्यते)।

कार्षापण को रूप्य कहना ठीक है क्योंकि उस पर ठप्पे से चिह्न ठोक कर बनाए जाते थे। 'केदार' सिक्कों का सम्बन्ध केदार कुषाणों के साथ था। कार्षापण बनाने की विधि यह थी। एक चाँदी की चादर को पीटकर उसके लंबे पत्तर काट लिए जाते थे। फिर हर एक पत्तर से छोटे छोटे टुकड़े कतर लेते थे और कोने कुपटकर उनका वजन एक समान कर लेते थे। इसके बाद हर टुकड़े पर अलग अलग ठप्पे से एक एक चिह्न या रूप ठोका जाता था। विद्वानों का विचार है कि एक रूप के लिये एक ठप्पा काम में लाया जाता था। पाणिनि ने 'रूपात्' एक वचनांत पद रखा है, जो एक रूप के लिये एक ठप्पे की बात को सूचित करता है।

कार्षापणों के प्राचीन रूपों का अध्ययन एक रोचक विषय है। काशी के श्री दुर्गाप्रसादजी ने अनेक प्रकार के रूपों को छाँटकर उनका वर्गीकरण और पहचान करके लगभग ५६४ प्रकार के रूपों की तालिका दी है। उससे यह भी मालूम होता है कि किस स्थान के कार्षापणों पर कौन कौन से रूपों का समुदाय छापा जाता था। पतंजलि ने अइउण् सूत्र पर १६ वें वार्तिक के भाष्य में लिखा है--तदेवेदं भवतः कार्षापणं यन्मथुरायां गृहीतम्।

'यही वह आप का कार्षापण है जो हमने मथुरा में लिया था।' यहाँ मथुरा के कार्षापणों क उल्लेख कारणवश ही हुआ है। वह यह कि शूरसेन जनपद के प्राचीन कार्षापणों पर जो कई प्रकार के रूपों का एक समुदाय था वह अन्यत्र नहीं मिलता था और बहुत स्पष्ट होने के कारण उसकी पहचान भी सरल थी। श्री दुर्गाप्रसादजी ने अपनी पुस्तक में मथुरा के प्राचीन कार्षापणों के उन विशेष रूपों का चित्र भी दिया है।

कौटिल्य ने रूपदर्शक नाम के एक अधिकारी का उल्लेख किया है जो सरकारी खजाने में आनेवाले (कोश प्रवेश्य) सिक्कों की परख किया करता था। पतंजलि ने उसी का लल्लेख रूपतर्क के नाम से किया है—

पश्यति रूपतर्कः कार्षापणम्।
दर्शयति रूपतर्कं कार्षापणम्। (भाष्य १।४।५२, वार्तिक ४)

रूपदर्शक और रूपतर्क में रूप का अर्थ है सिक्का। महासुपिन जातक (१।३४७) में भी यह अर्थ है। पर पाणिनि की अष्टाध्यायी में रूप का अर्थ है चिह्न विशेष। उस चिह्न-विशेष से आहत सिक्कों का विशेषण रूप्य शब्द था। कालांतर में रूप्य विशेष्य पद बनकर उन्हीं सिक्कों के लिये और फिर सब प्रकार के सिक्कों के लिये प्रयुक्त होने लगा था।

सूत्रों में और उदाहरणों में जो आहत मुद्राओं के नाम आए हैं, उनकी एक सूची तोल सहित यहाँ दी जाती है।

(१ रत्ति = १·८ ग्रेन)

(अ) चाँदी की आहत मुद्राएँ	रत्ती	ग्रेन
(१) शतमान	१००	१८०
अर्धशतनाम	५०	९०
त्रिशाण	३७·५	६६·५
पादशतमान या द्विशाण	२५	४५
अध्यर्धशाण	१८·७५	३३·७५
पादार्धशतमान या अष्टभागशतमान या शाण	१२·५	२२·५
अर्धशाण	६·२५	११·२५

	रत्ती	ग्रेन
(२) विंशतिक		
त्रिविंशतिक	१२०	२१६
द्विविंशतिक	८०	१४६
अध्यर्ध विंशतिक या त्रिंशत्क	६०	१०८
विंशतिक	४०	७२
अर्ध विंशतिक	२०	३६
पादविंशतिक या पंचमाषक	१०	१८
(३) कार्षापण (= प्रति)	३२	५७.६
अर्धकार्षापण (=भाग, अर्ध)	१६	२८.८
पाद कार्षापण	८	१४.४
अष्टभाग कार्षापण	४	७.२
रौप्य अध्यर्धमाषक	३	५.४
रौप्य माषक	२	३.६
रौप्य त्रिकाकिणी	१.५	२.७
रौप्य अर्धमाषक (द्विकाकिणी)	१	१.८
रौप्य अध्यर्धकाकिणी	३/४	१.३५
रौप्य काकिणी	१/२	.९
रौप्य अर्धकाकिणी	१/४	.४५
(आ) ताँबे की आहत मुद्राएं		
(१) ताम्रविंशतिक		
त्रिविंशतिक	३००	५४०
द्विविंशतिक	२००	३६०
अध्यर्ध विंशतिक या त्रिंशत्क	१५०	२७०
विंशतिक	१००	१८०
अर्ध विंशतिक	५०	९०
पाद विंशतिक	२५	४५
(२) ताम्र कार्षापण		
या ताम्रिकपण		
(पालि काहापण)		
कार्षापण	८०	१४०
अर्ध कार्षापण	४०	७२
पाद कार्षापण	२०	३६
त्रिमाष	१५	२७
अष्टभाग कार्षापण (या द्विमाष)	१०	१८

	रत्ती	ग्रेन
ताम्रमाष	५	९
अर्धमाष	२½	४½
काकिणी	१¼	२¼
अर्धकाकिणी	⅝	१⅛

यह हर्ष की बात है कि इनमें से अधिकांश सिक्के प्राप्त हो चुके हैं। पिछले कुछ वर्षों में पाणिनीय सामग्री की सहायता से बहुत सी आहत मुद्राओं की यथार्थ पहचान संभव हो सकी है, जो पाणिनीय सामग्री के अभाव में पहले नहीं हुई थी। इस अध्ययन का परिणाम भारतीय मुद्रा परिषत् की पत्रिका में कई लेखों में मैंने प्रकाशित किया है[1]।

ऊपर की तालिका को देखने से विदित होता है कि चाँदी के कार्षापण में रौप्य माषक, रौप्य अर्ध माषक, काकिणी और अर्धकाकिणी बहुत ही छोटी मुद्राएँ थीं। एक समय यह विश्वास किया जाता था कि इतनी कम तोल की हलकी मुद्राओं का अस्तित्व संभव नहीं था, किन्तु अब इनके असली नमूने मिल गए हैं। अतएव यह मानने पर बाधित होना पड़ता है कि ये नाम वैयाकरणों की कोरी कल्पना न थी, बल्कि जो सिक्के वस्तुतः व्यवहार में चालू थे, उन्हीं के आधार पर व्याकरणशास्त्र में उदाहरण बनाए गए। इन मुद्राओं के साथ एक प्रश्न यह भी उत्पन्न होता है कि इतनी छोटी मुद्राओं का क्रयमूल्य वस्तुतः कुछ था या नहीं। जिस रौप्य काकिणी में आधी रत्ती या अर्धकाकिणी में चौथाई रत्ती चाँदी थी वह किस उपयोग में आ सकती थी। इस प्रश्न का उत्तर कुछ इस प्रकार समझा जा सकता है। पहले पञ्च-गोणिपटः दश गोणिपटः उदाहरण की व्याख्या करते हुए यह दिखाया गया है कि एक चाँदी के कार्षापण से जिसकी तौल ३२ रत्ती थी, पाँच गोणी अन्न अर्थात् १२ मन ३२ सेर अन्न खरीदा जा सकता था। इस गणना से इन छोटे सिक्कों की क्रय शक्ति का अनुमान इस प्रकार किया जा सकता है।

कार्षापण	=१६ रौप्यमाषक	३२ रत्ती चाँदी	१२मन ३२सेर अन्न
कार्षापण का १६वाँ भाग	१ रौप्यमाषक	२ रत्ती चाँदी	३२सेर २०तोला
कार्षापण का 1/32 भाग	अर्धमाषक	१ रत्ती	१६सेर १० तोला
कार्षापण का 1/64 भाग	काकिणी	½ रत्ती	८सेर ५ तोला
कार्षापण का 1/128 भाग	अर्धकाकिणी	¼ रत्ती	४सेर २½ तोला

१—एंशियण्ट क्वायनस् ऐज नोन टु पाणिनि (पाणिनि कालीन प्राचीन मुद्राएँ, भारतीय मुद्रा पत्रिका, भाग १५, पृ० २७–४१।

(२) रौप्य माषक नामक आहत मुद्राएँ, वही, भाग १६ पृ० १४–१६।

(३) शाण, वही, भाग १४ पृ० २२–२५।

इस प्रकार यह अनुमान किया जा सकता है कि काकणी और अर्धकाकणी जैसी छोटी रौप्य मुद्राओं का भी व्यवहार में वास्तविक उपयोग था। इसी लिये हम देखते हैं कि जातकों में अड्ढमासक का कितना उल्लेख आता है। साधारण स्थिति के व्यक्तियों के लिये अड्ढमासक जैसा अत्यन्त छोटा सिक्का भी महत्त्व रखता था। अड्ढमासक जातक से विदित होता है कि वे लोग इस तरह के अत्यन्त छोटे सिक्कों को भी कितनी सावधानी और चाव से छिपाकर या सँभालकर रखते थे। यह भी उल्लेखनीय है कि वस्तुओं का इतना सस्ता मूल्य मौर्य युग की आर्थिक व्यवस्था में संभव हो सका था, इसलिये काकणी और अर्धकाकणी, ये दो नए छोटे सिक्के इस युग में ढलवाए गए। पाणिनि में उनका नाम नहीं है, किन्तु कात्यायन ने वार्तिक में विशेष रूप से उनका उल्लेख किया है।

अध्याय ४, परिच्छेद १०—व्यवहार और ऋणादान

धन—धन के लिये अष्टाध्यायी में कई शब्द हैं, जैसे स्व (१।१।३५; ३।४।४०; आत्मीय ज्ञातिधन-वचनः स्वशब्दः—काशिका), द्रव्य, मूल; किन्तु स्वापतेय, यह नया शब्द भी इस अर्थ में चल गया था, जो ब्राह्मण और आरण्यक साहित्य में नहीं है। स्वापतेय वह द्रव्य या वस्तु है, जिसमें स्वपति या मालधनी का साधु अर्थात् न्याय्य अधिकार हो (स्वपतौ साधु, ४।४।१०४)।

धनी व्यक्ति आढ्य (३।२।५६, पाली अड्ढो) कहलाता था। पाणिनि ने गणपाठ में इभ्य शब्द का उल्लेख किया है (दण्डादिगण, ५।१।६६)। जातकों में भी इब्भ शब्द है। आढ्य वर्ग के ही अन्तर्गत इभ्य वे धनिक थे, जो निगम सभा के सदस्य होने के कारण श्रेष्ठी कहलाते थे और जिन्हें राज्य की ओर से हाथी पर चढ़कर निकलने का विशेष अधिकार प्राप्त था (इभमर्हति)। कालान्तर में इन्हें नैगम या महाजन कहने लगे।

सोने और चांदी के जो चालू सिक्के थे, उनसे निर्मित शब्दों द्वारा धनी का अभिधान किया जाता था। जैसे आजकल लखपति करोड़पति शब्द हैं, वैसे ही सौ सोने के निष्क धनवाला व्यक्ति नैष्कशतिक और सहस्र निष्कवाला नैष्कसहस्रिक कहलाता था (शत सहस्रान्ताच्च निष्कात्, ५।२।११९)। निष्क सोने का सिक्का सुविदित था अतएव उसके पहले सुवर्ण शब्द जोड़ने की आवश्यकता न थी (सुवर्ण निष्क शतमस्यास्तीत्यनभिधानान् न भवति)। अब भी लखपति शब्द के पहले चाँदी शब्द की आकांक्षा भाषा में नहीं होती। सौ निष्क धन संग्रह का आदर्श ऋग्वेद से ही मिलने लगता है (शतं राज्ञो नाधमानस्य निष्कान्, १।१२६।२)। सूत्र ५।२।११८ में ऐकशतिक और ऐकसहस्रिक उदाहरण हैं, जो सौ कार्षापण और एक सहस्र कार्षापण धनवाले व्यक्ति की संज्ञाएं थीं। जहाँ शत सहस्र के पहले किसी सिक्के का नाम न हो, वहाँ चालू सिक्का होने से कार्षापण ही समझा जाता था।

ऋणदान—उत्तमर्ण (१।४।३५), अधमर्ण (३।३।१७०), ऋण (४।३।४७) वृद्धि (५।१।४७), प्रतिदान (१।४।९२), और प्रतिभू (३।२।१८९ ; २।३।३९), ये लेन देन संबंधी पारिभाषिक शब्द सूत्रों में आए हैं।

कृषि वाणिज्य और गोपालन के साथ सूद पर ऋण देना भी लोगों की न्याय्य जीविका का अंग था (जातक ४।४२२)। पाणिनि ने न्याय्य सूद को वृद्धि (५।१।४७) और ब्याज की कड़ी दर को कुसीद कहा है (४।४।३१)। कुसीद को निन्दित समझा जाता था (प्रयच्छति गर्ह्यम्, ४।४।३०)। कुसीदिक व्यक्ति के लिये सामाजिक निन्दा सूचित होती थी। उस कुत्सा का कुछ अंश उसके घर वालों को भी भुगतना पड़ता था, जैसे उसकी स्त्री को कुसीदायी, सूदखोर की घरवाली कहकर पुकारा जाता था।

कात्यायन ने तगड़े ब्याज को वृधुषि और सूदखोर को वार्धुषिक (४।४।३० वा० ३) कहा है।

वृद्धि—पाणिनि में दशैकादश नामक ऋण का उल्लेख किया है, जिसमें १० रुपये देकर एक रुपये महीने की किस्त से ११ वसूल किए जाते थे (४।४।३१)। इस लेन देन में १० प्रतिशत ब्याज पड़ता था जिसे गर्ह्य माना गया था। कौटिल्य ने १०० पण पर सवा पण मासिक वृद्धि को धर्म्य कहा है (अर्थ० ३।११) मनु (८।१४०-१४३) और याज्ञवल्क्य १०० का ८० वां भाग न्याय्य वृद्धि मानते हैं। वशिष्ठ ने २० कार्षापण पर ५ माष धर्म्यवृद्धि कही है (२।५१)। यदि कार्षापण को विंशतिक कार्षापण माना जाय, जो २० मासे का होता था, तो यह भी मूल का ८० वां भाग ब्याज हुआ। नारद, गौतम, व्यास इसी से सहमत हैं। इस प्रकार १५ प्रतिशत वृद्धि धर्म्य मानी जाती थी। बोधायन में २० प्रतिशत का उल्लेख है। इसके मुकाबिले में दशैकादश ऋण पद्धति को भी पाणिनि के समय में गर्ह्य समझा जाता था। पतंजलि ने द्वैगुणिक और त्रैगुणिक अथात् मूल का दुगना तिगुना ब्याज कमाने वालों को निन्दायोग्य माना है (४।४।३०)। यह स्थिति संभवतः अल्पकालिक बे लिखा पढ़ी के ऋणों के संबंध में थी।

सूत्र में अर्ध, या भाग अर्थात् आधे कार्षापण प्रतिमास वृद्धि का भी उल्लेख है (५।१।४८-४९) जो छह प्रतिशत हुई। ऐसे ऋण को अर्धिक, भाग्य या भागिक कहते थे (भाग्यं-भागिकं शतम्) ब्याज में मिलनेवाली रकम के अनुसार ऋण का नाम पड़ने की प्रथा थी, जैसे पंचक वह ऋण हुआ जिस पर पांच रुपया सूद मिले। पतंजलि ने ७, ८, ९, १० ब्याजवाले ऋणों का भी उल्लेख किया है (सप्तकः, अष्टकः, नवकः, दशकः, ५।१।४७)। ऐसे ऋण दशैकादश पद्धति के अन्तर्गत आते थे, जैसे जिसने १०, १० रुपये की पांच किश्तें ली हों, उसका ऋण पञ्चक कहलाता था। वैसे ही सात किश्तों वाला सप्तक, आठ किश्तों का अष्टक, नौ किश्तों वाला नवक कहलाता था। पूरे सौ रुपये अर्थात् दस दस रुपयों की दस

किश्तों वाला ऋण दशक कहलाता था। इस प्रकार के ऋणों में प्रतिमास ५, ७, ८, ९, १० रुपये चुकाने से पूरा ऋण ग्यारह किश्तों में चुक जाता था। किश्त बन्दी ऋण की इकाई दस रुपया मानी जाती थी। आजकल यही ऋण थोड़े अन्तर से दस के बारह कहलाता है।

जितने समय में ऋण चुकाना हो, उसके अनुसार ऋण का नाम पड़ता था (देयमृणे, ४।३।४७)। जैसे साल भर में चुकाया जानेवाला ऋण सांवत्सरिक (४।३।५० और छह मास का आवरसमक (४।३।४६) कहलाता था।

विशेष ऋतुओं में चुकाने की शर्त पर भी ऋण लिया जाता था और वह ऋण उसी ऋतु के नाम से कहाजाता था; जैसे ग्रैष्मक (४।३।४९), वह ऋण जो ग्रीष्म ऋतु अर्थात् अषाढ़ की पूर्णमासी को जब वर्ष का अन्तिम दिन हो, चुकाया जाय (आषाढ़ी पूर्णिमा और वर्ष के अन्तिम दिन के लिये देखिए अ० ३, परि० १६ पृ० १७९)। यह ऋण सम्भवतः गर्मी में बोई जाने वाली ककड़ी, खरबूजे, तरबूज, आदि पालेज की फसल से होने वाली आय से चुकाया जाता था, जैसी आज भी प्रथा है।

इसके बाद ऋण चुकाने के लिये दूसरी ऋतु वर्षा थी। मोरों के कूकने के कारण वर्षाकाल का चालूनाम कलापी भी था। 'जब मोरों की कूक सुनाई देगी, उस समय तुम्हारा ऋण चुका दूँगा', इस शर्त पर लिया गया ऋण कलापक कहा जाता था। वर्षाकाल में तैयार होनेवाली जो फसल वार्षिक कहलाती थी, उसी से कलापक ऋण का भुगतान किया जाता था। कलापक ऋणों के लिये ऐसा ही दूसरा चलता नाम अश्वत्थक भी था (कलाप्यश्वत्थयवबुसाद् वुन्, ४।३।४८)। काठक संहिता के अनुसार श्रोणा या श्रवणा नक्षत्र का नाम अश्वत्थ था जिस महीने में पीपल के पेड़ों पर पीपली लगे उसे अश्वत्थ कहते हैं (यस्मिन् काले अश्वत्थाः फलन्ति सोऽश्वत्थः, काशिका)। इसी से सावन महीने में जो ऋण चुकाना हो वह अश्वत्थक कहा जता था।

इसके बाद अगहन का महीना ऋण चुकाने के लिये अनुकूल पड़ता था, क्योंकि उस समय हेमन्त ऋतु में तैय्यार होनेवाली फसल (कौटिल्य की हैमनमुष्टि) की आमदनी किसान के पास आती थी। यह फसल सावन में बोयी जाती और अगहन में पकती थी। आजकल इसे खरीफ कहते हैं। चावल, ज्वार, बाजरा, मक्का, तिल, मूँग, उड़द आदि धान्यों की फसल इसी महीने में होती है। पाणिनि ने अगहन की पूर्णिमा को भुगताए जाने वाले ऋणों को आग्रहायणिक या अग्रहायणक कहा है। यह भी कल्पना की जा सकती

है कि सावन के महीने में किसीने दशैकादश ऋण की ऐसी किस्त ली जो पञ्चक हो तो उसे पाँच महीने बाद अगहन की पूनों को लौटाना पड़ता था।

इसके बाद फिर वसन्त ऋतु का समय आता था। उसमें तैय्यार होने वाली फसल वासन्तिक कहलाती थी, आजकल जिसे रबी कहते हैं। इसमें जौ, गेहूँ और तिलहन पैदा होते हैं। जौ की फसल के साथ जौ का भूसा भी इस समय किसानों के भुसैले को भर देता है। हजार मन जौ के साथ तीन हजार मन भूसा खलिहान में उपट पड़ता है। इस कारण इस ऋतु का भी चलतू भाषा में यवबुस नाम पड़ गया (यस्मिन् यवबुसं सम्पद्यते स यवबुस शब्देन उच्यते, काशिका, ४।३।४८)। इस समय पर भुगताने के लिये लिया हुआ ऋण पहले से ही यवबुसक कहलाता था (४।३।४८)।

कात्यायन ने विशेष नाम वाले कुछ स्वल्प ऋणों का उल्लेख किया है। दशार्ण उस ऋण को कहते थे जो दशैकादश पद्धति पर लिया जाता था। नये बछड़े के लिये जो ऋण लिया जाय उसे वत्सतरार्ण कहते थे। कम्बल के लिये लिया जाने वाला ऋण कम्बलार्ण कहलाता था। यह कम्बल पांच सेर ऊन का बना हुआ निश्चित नाप और तोल का होता था। आज भी पांच सेर ऊन का कम्बल चार पटों में बुना जाता है। एक पट डेढ़ बालिश्त या साढ़े तेरह इंची चौड़ा और लगभग आठ फुट लम्बा होता है। चार पटों को मिलाकर सी देने से कम्बल की चौड़ाई डेढ़ गज बैठती है। ये ही पांच सेर कम्बल्य ऊन से बने हुए नियत नाप के कम्बल थे जिनके लिये लिया हुआ ऋण कम्बलार्ण कहलाता था। कात्यायन ने एक प्रकार के छोटे ऋण को वसनार्ण लिखा है। वसन भी नियत माप और मूल्य का वस्त्र होता था। जैसा ऊपर बताया गया है, एक शाटक या धोती वसन कहलाती थी जिसका मूल्य पतञ्जलि के समय में एक कार्षापण होता था (५।१।२१)। विसुद्धिमग्ग के अनुसार शाटक या धोती की लम्बाई नौ हाथ होती थी (नवहत्थ साटक, विसुद्धिमग्ग, ९२)। आजकल यह दस हाथ होती है। काशिका में पञ्चगोणिः पटः उदाहरण में इसी शाटक या वसन के लिये पट शब्द का प्रयोग हुआ है, जिसका मूल्य पांच गोणी या साढ़े बारह मन अन्न होता था। यों वसनार्ण की रकम एक कार्षापण या पांच गोणी अन्न होती थी। शाटकयुग या धोती उपरने के जोड़े के लिये दो कार्षापण ऋण आवश्यक था।

कायिक वृद्धि—गौतम ने छह प्रकार की वृद्धि लिखी है—(१) चक्र वृद्धि, (२) काल वृद्धि, (३) कारित वृद्धि, (४) कायिक वृद्धि, (५) शिखा वृद्धि[1]

---

१. जैसे एक रुपया लेकर बहत्तर दिन तक एक-एक पैसा प्रतिदिन चुकाना शिखा वृद्धि है।

प्रतिदिन दिया जानेवाला ब्याज, (६) अधिभोग वृद्धि (गौतम स्मृति, १२।३४-३५)। पाणिनि ने अलग अलग सूत्रों में इन छहों का उल्लेख किया है। चक्रवृद्धि का उल्लेख सूत्र ६।२।३८ (महाप्रवृद्ध) में है। कालवृद्धि दशैकादश ऋण के रूप में ली जाती थी। कारित वृद्धि पञ्चक, सप्तक के रूप में होती थी। शिखावृद्धि का अलग कोई उल्लेख सूत्रों में नहीं है, किन्तु वह प्रयच्छति गर्ह्यम् (४।४।३०) के अन्तर्गत आ जाती है। बृहस्पति ने शिखावृद्धि को निन्दित सूदखोरी माना है। कायिक वृद्धि का सङ्केत अकर्तर्यृणे पञ्चमी (२।३।२४) सूत्र में है, जिसके अनुसार शताद् बद्धः, जैसे प्रयोगों को नियमित किया गया था। उसका अर्थ था—सौ रूपये का ऋण चुकाने के लिये उसने अपने आप को बन्धक रख दिया है। कौटिल्य में भी इस प्रथा का उल्लेख है।

धेनुष्या (संज्ञायां धेनुष्या, ४।४।८९)—गौतम ने जिसे अधिभोग वृद्धि कहा है, उसका उदाहरण धेनुष्या पद में मिलता है, अर्थात् वह गाय जो अधमर्ण द्वारा उत्तमर्ण को तब तक के लिये दे दी जाय जब तक कि उसके दूध के मूल्य से उधार लिया हुआ रूपया न चुक जाय (या धेनुरुत्तमर्णाय ऋणप्रदानाद् दोहनार्थं दीयते सा धेनुष्या, काशिका)।

महाप्रवृद्ध (६।२।३८)—ब्याज की उस अधिक से अधिक रकम को महाप्रवृद्ध कहते थे जहां तक चक्रवृद्धि से बढ़ते बढ़ते और आगे ब्याज का बढ़ना सम्भव न हो। मनु ने कहा है कि ब्याज की इकट्ठा रकम मूलधन से किसी भी हालत में अधिक नहीं होनी चाहिए (मनु, ८।५०)। कौटिल्य का नियम था कि उत्तमर्ण (धनिक) या अधमर्ण (धारणिक) की अनुपस्थिति या लापरवाही के कारण यदि ब्याज बढ़ जाय तो उसे चुकता करने के लिये मूल का दुगना अदा कर देना चाहिए (अर्थशास्त्र, ३।११, चिरप्रवासस्तम्भप्रविष्टो वा मूल्य-द्विगुणं दद्यात्)। शुक्र का भी यही मत है (४।५ ६३१-२)। इस प्रकार जब सौ कार्षापण का ऋण प्रवृद्ध होकर अर्थात् चक्रवृद्धि से दो सौ कार्षापण हो जाता, तब उस ऋण को महाप्रवृद्ध हुआ समझते थे।

आपमित्यक—आपमित्यक उस द्रव्य या धान्य को कहा जाता था जिसे इस शर्त पर लेते थे कि उसी तरह की वस्तु लौटाकर ऋण चुका दिया जायगा (अपमित्य याचते)। इस प्रकार के परिवर्तन को व्यतीहार (३।४।१९) और उस प्रकार के ऋण को आपमित्यक कहा जाता था (अपमित्य याचिताभ्यां कक्कनौ, ४।४।२१)। कौटिल्य ने आपमित्यक उस धान्य को कहा है जो उतनी ही मात्रा में लौटाने की शर्त पर ऋण के रूप में लिया गया हो (तदेव प्रतिदानार्थमापमित्यकम्, २।१५)। धान्य लेने की यह प्रथा अथर्ववेद के समय से चली आती थी—मैंने जो धान्य उधार

लेकर खाया हो उसे लौटाकर में अनृण बनता हूँ (अपमित्य धान्यं यज्जघासाहमिदं तदग्ने अनृणो भवामि, ६।११७।८)।

याचितक—कौटिल्य ने इसी प्रकरण में उस अन्न को प्रामित्यक कहा है, जिसे आवश्यकता पड़ने पर कोई अपना काम चलाने के लिये दूसरे से मांग ले, पर लौटाने की शर्त न हो (सस्ययाचनमन्यतः प्रामित्यकम्, अर्थशास्त्र, २।१५)। पाणिनि ने उसे ही याचितक कहा है (४।४।२१, याचितेन निर्वृत्तम्)।

अध्याय ५

शिक्षा और साहित्य

परिच्छेद १—शिक्षा

पाणिनीय व्याकरण की रचना भाषा और साहित्य के क्षेत्र में पूर्ववर्ती दीर्घ विकास और उन्नति की सूचक है। उस उन्नति के मूल में वह सुन्दर शिक्षा प्रणाली थी जो महाफलवती हुई। अष्टाध्यायी से उस काल के विभिन्न साहित्यिक रूप, ग्रन्थ रचना के प्रकार, शिक्षा-संस्थाएँ, आचार्य और अन्तेवासी छात्र, शिक्षण-प्रणाली, अध्ययन के विषय एवं ग्रन्थों के नामों के सम्बन्ध में बहुत-सी मूल्यवान् सामग्री प्राप्त होती है। आचार्य पाणिनि स्वयं उस उच्च ख-स्वस्तिक के प्रतीक हैं जहाँ तक उस युग में ज्ञान सूर्य का उत्थान हुआ था। उनका तपस्वी जीवन, विश्लेषणात्मक कार्य-प्रणाली, विषय के अनुशीलन में सूक्ष्म-दृष्टि, भाषा पर असामान्य अधिकार, ग्रन्थ-प्रणयन में प्रतिभा, सर्वोपरि दृढ़ संकल्प तथा महान् प्रयत्न—ये गुण सदा के लिये भारतीय साहित्य पर अपनी छाप छोड़ गए हैं। उनके समकालीन शिक्षा-जगत् में भी वे ओत प्रोत थे जिसका परिणाम उस विशाल साहित्य के रूप में हुआ जिसे सूत्र-साहित्य कहा जाता है।

छात्र—शिक्षा का मूल आधार ब्रह्मचर्य-प्रणाली थी। (तदस्य ब्रह्मचर्यम् ५।१।९४)। इस में न केवल शिक्षा, बल्कि ज्ञान संचय की चर्या या आन्तरिक जीवन के निर्माण पर बहुत अधिक बल दिया जाता था। गुरु और शिष्य विद्या सम्बन्ध से परस्पर बँधे होते थे। (४।३।७७)। यह सम्बन्ध योनिसम्बन्ध के सदृश ही पवित्र और प्रभाव-पूर्ण था। शिष्य अन्तेवासी के रूप में आचार्य के साथ ही निवास करते और सच्चे अर्थों में आचार्य के जीवन से प्रभावित होते थे। ब्रह्मचारी चरण नामक विद्या संस्था में अन्य ब्रह्मचारियों के साथ विद्याध्ययन करते थे। जैसा हम आगे देखेंगे शिक्षा और साहित्य के निर्माण में इन चरणों का व्यापक महत्त्व था। आचार्य के जीवन का वेग और शक्ति उनके द्वारा संस्थापित चरणों के माध्यम से प्रकट होती थी। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य इन तीनों वर्णों के ब्रह्मचारी वर्णी कहलाते थे (वर्णाद् ब्रह्मचारिणि ५।२।१३४)। यह शब्द संहिता और ब्राह्मणों में अविदित था। गुरु से पढ़नेवालों के लिये छात्र यह सामान्य शब्द प्रयुक्त होता था (छत्रादिभ्यो णः, ४।४।६२)। छात्र शब्द के मूल में यह कल्पना बड़ी मधुर है कि वह आचार्य के जीवन पर छत्र के समान छाया रहता था (छत्रं शील

मस्य)। यह एक आध्यात्मिक भाव था जिसके कारण शिष्य गुरु के प्रति विशेष जागरूक रह कर अपना कर्तव्य पालन करने का बल प्राप्त करता था। (गुरुकार्येष्ववहितः)। जैसा काशिका ने लिखा है वह अपने गुरु की त्रुटियों की ओर मन को ले जाकर (तच्छिद्रावरणप्रवृत्तः) कभी अपनी शक्ति का क्षय नहीं करता था। ब्रह्मचारी को स्नातक बनाते समय आचार्य की भावना भी यही रहती थी कि जो मेरा सदाचार हो उसी पर ध्यान देना, त्रुटियों पर नहीं।

छात्र दो प्रकार के होते थे—(१) दण्डमाणव, और (२) अन्तेवासी। (दण्डमाणवान्तेवासिषु, ४।३।१३०)। दण्डमाणव को केवल माणव कहा जाता था (६।२।६९)। वह अभी छोटी श्रेणियों में सीखतर छात्र होता था। जैसा पतञ्जलि ने लिखा है वेद की पढ़ाई शुरू होने के पहले उसकी माणव संज्ञा होती है। (अनृचो माणवे बह्वृचश्चरणाख्यायामिति ५।४।१५४) तत्त्वबोधिनी के अनुसार दण्डमाणव वह था जिसका उपनयन न हुआ हो। दण्ड रखने के कारण वे छात्र दण्डमाणव कहे जाते थे (दण्डप्रधानाः माणवः,—काशिका)। पलाश का वह दण्ड आषाढ कहलाता था। मतंगजातक (४।३७९) में माणव को आयु में बाल कहा है। वे अपना डंडा लिए हुए आश्रम में इधर से उधर फिरते दिखाई देते थे। माणवों का वर्ग माणव्य कहलाता था (४।२।४२)।

जब वेद पढ़ने का समय आता तो आचार्य माणव का उपनयन-संस्कार कराते थे। उसके लिए माणवकमुनपते यह वाक्य भाषा में प्रचलित था। (१।३।३६) इस विशेष कर्म को आचार्यकरण कहते थे। इस संस्कार के बाद वह माणवक सच्चे अर्थों में आचार्य का सामीप्य प्राप्त करता था[१]। मनसा वाचा कर्मणा आचार्य के समीप पहुँचा हुआ ब्रह्मचारी अन्तेवासी इस अन्वितार्थ पदवी को धारण करता था (४।३।१०४; ४।३।१३०)। उपनीत हो जाने पर ब्रह्मचारी अजिन और कमण्डलु धारण करता था। भाष्य में कमण्डलु-पाणि छात्र का उल्लेख है। चरण में पढ़ने वाले शब्द अन्तेवासी ब्रह्मचारी परस्पर सब्रह्मचारी कहे जाते थे (चरणाद् ब्रह्मचारिणि, ६।२।८६)।

छात्र के कर्तव्य—उपनयन होने के बाद छात्र और गुरु दोनों के बीच में जो नया विद्या-सम्बन्ध बनता था उससे वे दोनों एक दूसरे के लिए उपस्थानीय बन जाते थे (३।८।६८) अर्थात् शिष्य गुरु के समीप आकर उसकी सेवा करे और उससे अध्ययन करे (उपस्थानीयः शिष्येण गुरुः) और गुरु अन्तेवासी को अपने समीप लाकर शिक्षित करे (उपस्थानीयोऽन्तेवासी गुरोः)। दोनों के लिये यह अत्यन्त

---

१ आचार्यकरणमाचार्य क्रिया। माणवकमीदृशेन विधिनाऽऽत्मसमीपं प्रापयति यथा स उपनेता स्वयमाचार्यः संपद्यते। माणवकमुपनयते। आत्मानमाचार्यीकुर्वन्माणवकमात्मसमीपं प्रापयतीत्यर्थः—काशिका।

मधुर सम्बन्ध बनता था। अध्यापन कराने की दशा में आचार्य को अनूचान (३।२।१०९) एवं प्रवचनीय (३।४।६८) कहते थे (प्रवचनीयो गुरुः स्वाध्यायस्य-काशिका)। छन्दों का अध्ययन करने वाले शिष्य की संज्ञा शुश्रूषु होती थी क्योंकि वह श्रुति के पारायण या 'श्रवणीय' को कान से सुनकर धारण करता था (१।३।५७; ३।२।१०८)। अपने पिता से ही अध्ययन करनेवाले ब्रह्मचारी पितुरन्तेवासी कहलाते थे (६।३।२३)। आचार्य कुल में आचार्य का पुत्र भी पर्याप्त महत्त्व रखता था। अतएव उसके लिये भाषा में 'आचार्य पुत्र' इस विशेष शब्द की उत्पत्ति हुई ६।२।१३३)। इसी प्रकार राजपुत्र और ऋत्विक् पुत्र भी अपने पिता की पदवी से अभिहित होते थे (६।२।१३३)। स्वाभाविक है कि दूसरे शिष्य आचार्य पुत्र का विशेष सम्मान करते हों। जैसा कात्यायन ने लिखा है—गुरवद् गुरुपुत्र इति यथा (१।१।५६ वा १)। गुरुपुत्र में भी गुरु जैसी वृत्ति उचित थी (उद्योगपर्व, ४४।१२)।

गुरु—पाणिनि ने चार प्रकार के शिक्षकों का उल्लेख किया है (१) आचार्य, (२) प्रवक्ता, (३) श्रोत्रिय, (४) अध्यापक (२।१।६५)। इनमें आचार्य का स्थान सर्वोच्च था। शिष्य का उपनयन कराने का अधिकार आचार्य को ही था। अथर्ववेद में आचार्य करण प्रकिया का वर्णन आया है - आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः (११।५।३), अर्थात् आचार्य उपनयन संस्कार करके ब्रह्मचारी को अपने विद्यागर्भ के भीतर प्रविष्ट कराता है। इसी उदात्त कल्पना के आधार पर ब्रह्मचारी अन्तेवासी कहा जाता था। जैसे माता के गर्भ में शिशु पोषण पाता है वैसे ही अन्तेवासी आचार्य के विद्यागर्भ में सर्वभावेन आध्यात्मिक पोषण प्राप्त करता है। आचार्य और अन्तेवासी का यह सम्बन्ध यहाँ तक घनिष्ठ होता था कि आचार्य के ही नाम से अन्तेवासी का नाम पड़ जाता था, जैसा कि 'आचार्योपसर्जनश्चान्तेवासी' इस सूत्र में कहा गया है (६।२।१३६; ६।२।१०४); जैसे तित्तिरि आचार्य के शिष्य तैत्तिरीय, आपिशिलि के आपिशल और पाणिनि के पाणिनीय कहलाते थे।

प्रवक्ता—आचार्य के बाद दूसरा पद प्रवक्ता का था। पाणिनि ने जिसे प्रोक्त साहित्य कहा है, अर्थात् शाखाग्रन्थ, ब्राह्मण, श्रौत सूत्र आदि, उस साहित्य का प्रवचन करने वाले आचार्य प्रवक्ता कहलाते थे। वेद और वेदांगों का अर्थ-सहित अध्यापन इनका कार्य था। ये ही आख्याता भी थे। (१।४।२९; उद्योग पर्व ४३।३२ । सूत्र २।१।६५ में प्रवक्ता श्रोत्रिय और अध्यापक इन तीनों का उल्लेख क्रमिक महत्त्व के अनुसार है।

श्रोत्रिय—छन्द या वेद की शाखाओं को कण्ठ करने वाले विद्वान् श्रोत्रिय कहलाते थे (श्रोत्रियश्छंदोऽधीते ५।२।८४)। इनका सम्बन्ध विशेषतः वेद के पारायण से था। वे संहिता, पद, क्रम दण्ड, जटा, घन आदि पाठों के अनुसार शाखा-ग्रन्थ और उनके ब्राह्मण आदि को स्वयं कंठ करते थे एवं विद्यार्थियों को कराते थे। इनके निर्देशन में रहकर विद्यार्थियों का

जो वर्ग पदपाठ कण्ठस्थ करता वह पदक कहलाता था। इसी प्रकार क्रमपाठ कण्ठस्थ करनेवाले छात्र क्रमक कहलाते थे (क्रमादिभ्यो वुन्)। वे श्रोत्रिय गुरु भी अपने कण्ठस्थ किए हुए वेद पाठ के आधार पर उस-उस नाम से प्रसिद्ध होते थे। ज्ञात होता है कि बड़े बड़े चरणों में भिन्न भिन्न पाठ कंठस्थ कराने के लिये भिन्न भिन्न अध्यापक होते थे। कोई पदक कहा जाता था और कोई क्रमक। जो जिस प्रकार के पारायण का श्रावक होता वह उसी के आधार पर पदक या क्रमक कहा जाता था (४।२।६१, तदधीते तद्वेद के साथ उसका अर्थ, क्रमं वेद क्रमकः, पदं वेद पदकः)।

अध्यापक (२।१।६५)—पाणिनि ने 'कृते ग्रन्थे' या 'अधिकृत्य कृते ग्रन्थे' सूत्रों में जिस साहित्य का उल्लेख किया है उस वैज्ञानिक या लौकिक साहित्य का अध्यापन कराने वाले गुरु अध्यापक कहलाते थे। माणवक आदि बाल कक्षा को भी ये लोग पढ़ाते थे। इन्हें आगे चलकर उपाध्याय कहा जाने लगा। भाष्य में कण्डिकोपाध्याय नाम मिलता है।

कुत्सित छात्र—नियमों का उल्लंघन करनेवाले छात्रों की निन्दा के लिये कई शब्द प्रयुक्त होते थे, जैसे तीर्थध्वांक्ष, तीर्थ काक, अर्थात् जो अपने तीर्थ या गुरु में कौए की तरह चंचल व्यवहार करे, या गुरुकुल में पूरे समय तक निवास न करके शीघ्र बदलता रहे (ध्वांक्षेण क्षेपे २।१।४१; भाष्य—यो गुरुकुलानि गत्वा न चिरं तिष्ठति स उच्यते तीर्थकाक इति)।

इसी प्रकार खट्वारूढ शब्द उस छात्र के लिये प्रयुक्त होता था जो समय से पहले ही ब्रह्मचर्य व्रत समाप्त करके आराम का जीवन बिताने लगा हो (खट्वाक्षेपे, २।१।२६)।

पाणिनि ने यह भी कहा है कि कुछ माणव और अन्तेवासी ऐसे होते थे जिनका पढ़ने-लिखने में मन न था, बस गुरुकुल में सेंत का माल चाभने के लिये माणव बन जाते थे (गोत्रान्तेवासी माणव ब्राह्मणेषु क्षेपे ६।२।६९; भिक्षां लप्स्येऽहमिति माणवो भवति-काशिका)। वाल्मीकि रामायण में कठकालाप चरण के माणवों के विषय में कहा है कि वे बड़े जिह्वा लोलुप (स्वादुकामाः) और आलसी (अलसाः) थे और पढ़ाई का बहाना बना कर काम काज में गुरु को चुत्ता दे जाते थे (अयोध्या काण्ड ३२।१८)। बड़े छात्रों में भी जो ऐसे निकम्मे होते, उनके कई उदाहरण पतंजलि ने दिए हैं; जैसे 'कम्बलचारायणीयाः' (बढ़िया कम्बल के लोभ से चारायण के गुरुकुल में भर्ती होने वाले); 'घृतरौढीयाः' (घी पीने के लिये रौढि के गुरुकुल में घुसने वाले), ओदन पाणिनीयाः (भात भसकने के लिये पाणिनीय बन जाने वाले, १।१।७३, भाष्य)।[1]

१—काशिका ने इनसे भी गए बीते छात्रों का संकेत किया है, जैसे कुमारीदाक्षाः (६।२।६६) कुमारी के लिये दक्ष के यहाँ शास्त्र पढ़ने के लिये पहुँचने वाले।

इन उदाहरणों में चारायण का उल्लेख कौटिल्य में है। वे अर्थशास्त्र के प्राचीन आचार्य थे। कोशलराज प्रसेनजित् के महामन्त्री चारायण से उनकी पहचान की जा सकती है। रौढ़ि पाणिनि के समकालीन या उत्तरवर्ती आचार्य थे जैसा पाणिनीयरौढीयाः इस प्रयोग से ज्ञात होता है, जिसमें दोनों नाम काल क्रम के अनुसार पढ़े गए हैं (काशिका ६।२।३६; भाष्य ४।१।८६)।

छात्रों के नामकरण—छात्रों के नामकरण के तीन आधार थे, (१) अध्ययन के विषय के अनुसार; (२) जिस चरण में शिक्षा पाते हों उसके अनुसार; (३) जिस गुरु के यहाँ या जिसके ग्रन्थ पढ़ते हों उसके नाम के अनुसार।

विषय के अनुसार छात्रों के नामकरण का विधान ४।२।६०—६२ सूत्रों में है। क्रतु या सोमयज्ञों का अध्ययन करनेवाले छात्र उन यज्ञों के नाम से आग्निष्टोमिक, वाजपेयिक, राजसूयिक (क्रतूकथादिसूत्रान्ताट्ठक् ४।२।६०); वेद के क्रमपाठ और पदपाठ का अध्ययन करनेवाले छात्र क्रमक और पदक (क्रमादिभ्यो वुन्—४।२।६१ ; अनुब्राह्मण नाम विशेष ग्रन्थों के विद्यार्थी अनुब्राह्मणी कहलाते थे (४।२।६०)। इस प्रकरण में उकथादिगण महत्त्वपूर्ण है, जिसमें अनेक प्रकार के नए नए अध्ययन-विषयों का उल्लेख है, जिनका विचार आगे साहित्य के प्रकरण में किया जायगा। यज्ञीय कर्मकाण्ड का अध्ययन करने वाले छात्र याज्ञिक कहे जाते थे। याज्ञिक का उल्लेख अन्यत्र भी किया गया है (४।३।१२९)। ऋतुओं के अनुसार अध्ययन के विषयों में क्रमिक परिवर्तन होता रहता था। जो ग्रन्थ जिस ऋतु में पढ़ा-पढ़ाया जाता उसका भी वही नाम पड़ जाता था, जैसे वसन्त ऋतु में जिस ग्रन्थ का पाठ हो, उसका नाम भी वसन्त पड़ जाता था और वसन्तऋतु में उस ग्रन्थ की कक्षा के छात्र वासन्तिक कहे जाते थे (वसन्तादिभ्यष्ठक् ४।२।६३, वसन्तसहचरितोऽयं ग्रन्थो वसन्तस्तमधीते—काशिका)। स्मृतियों से ज्ञात होता है कि माघ शुक्ल में वसन्तपञ्चमी के दिन प्राचीन विद्यालयों का वसन्तसत्र आरम्भ होता था, और उस समय विशेषतः वेदाङ्गों का अध्ययन किया जाता है (मनु ४।९८)। उससे पूर्व श्रावणी पूर्णिमा से पौष की अमावस्या तक या भाद्र पूर्णिमा से माघ की अमावस्या तक साढ़े चार महीने का सत्र विशेषतः छन्दों के अध्ययन या वैदिक पारायण के लिये होता था (मनु ४।९५)। वर्षा, शरत्, हेमन्त, शिशिर आदि ऋतुओं में भी छात्र अल्पकालिक अध्ययन के लिये कुछ विषय या ग्रन्थ चुन लेते थे। ऐसे छात्रों को वार्षिक, शारदिक, हैमन्तिक, और शैशिरिक कहा जाता था (४।२ ६३ गणपाठ)। वर्तमानकाल में कुछ इसी ढंग पर वसन्त, ग्रीष्म, शरद् आदि ऋतुओं में मास दो मास की विशेष व्याख्यान मालाएँ आयोजित की जाती हैं।

वैदिक छात्रों का नामकरण—चरणों के अन्तर्गत भिन्न-भिन्न छन्द या शाखा ग्रन्थ पढ़ाए जाते थे। उनके अध्येता छात्रों का नाम उन छन्द ग्रन्थों के नाम से रखा

जाता था, जैसे तित्तिरि आचार्य से प्रोक्त तैत्तिरीय शाखा के विद्यार्थी तैत्तिरीय कहलाते थे। वस्तुतः स्थिति यह थी कि प्रत्येक शाखा से सम्बन्धित छन्द और ब्राह्मण इन दोनों का कोई स्वतन्त्र नाम न था, बल्कि उनके पढ़नेवाले छात्र और पढ़ानेवाले गुरुओं के नाम से ही ग्रन्थों का नाम लोक में प्रचलित होता था। (छन्दो ब्राह्मणानि च तद् विषयाणि, ४।२।६६)।

तद् विषयता का नियम – तदधीते तद्वेद प्रकरण में अष्टाध्यायी में तद्-विषयता का नियम बहुत महत्त्वपूर्ण है। शाखा का मूल प्रवर्तक प्रत्यक्षकारी कहलाता था (४।३।१०४ वा०) वही चरण का संस्थापक आचार्य भी होता था। उसकी छान्दस शाखा का अध्ययन उस चरण के विद्यार्थी करते थे। आचार्य कठ और उसके द्वारा प्रोक्त छान्दस ग्रन्थ—इस संबन्ध को प्रकट करने के लिये पहले कठ शब्द में एक प्रत्यय जोड़ा जाता था। उसका विधान पाणिनि ने 'तेन प्रोक्तम्' (४।३।१०१) सूत्र में किया है। इस प्रकार जो शब्द का रूप बनता था, उससे फिर एक दूसरा प्रत्यय उस ग्रन्थ के पढ़नेवाले या पढ़ाने वाले—इन दो अर्थों को व्यक्त करने के लिये जोड़ा जाता था। इस प्रत्यय का विधान 'तदधीते तद्वेद' इस सूत्र में किया गया है (४।२।५९) पहला प्रोक्त प्रत्यय और दूसरा अध्येतृ-वेदितृ प्रत्यय कहलाता था। प्रोक्ताल्लुक् (४ २।६४) सूत्र से विद्यार्थी वाची दूसरे प्रत्यय का लोप हो जाता है। किन्तु उसका अर्थ शब्द में बना रहता है। फलतः छन्द और ब्राह्मण के नाम का जो रूप प्रोक्त प्रत्यय लगाने से बनता था, उसका अर्थ तदधीते तद्वेद के अनुसार उस शाखा और ब्राह्मण के पढ़ने पढ़ानेवालों के लिये किया जाता था। अतएव वैदिक मूल ग्रन्थों का नाम सदा उनके छात्रों का ही बोधक होता था, जैसे कठ आचार्य द्वारा प्रोक्त जो कठ शाखा थी, उसके पढने-पढ़ानेवालों (अध्येतृ-वेदितृ) का नाम 'कठाः' होता था। कठ जो साधारणतः कठ-प्रोक्त पुस्तक का नाम होना चाहिए था, उन सब छात्र और गुरुओं का बोध कराता था, जो उसको पढ़ते (अधीयान) और पढ़ाते थे (तद्वेद)। मूल कठ शब्द आचार्य के नाम से और उसकी शाखा के नाम से एक सीढ़ी आगे बढ़कर चरण का नाम बन गया। और भी सैकड़ों वैदिक शाखाएँ और उनके ब्राह्मण ग्रन्थ थे, जिनको केन्द्र मानकर चरणों की स्थापना हुई। यही तद्विषयता का नियम था अर्थात् छन्द और ब्राह्मण का नामकरण स्वतन्त्र न होकर अध्येतृ-वेदितृ परक होता था। जिस प्रधान आचार्य ने शाखा का प्रवचन किया था वह अथवा उसके शिष्य ब्राह्मण आदि नए व्याख्या ग्रन्थों की रचना भी करते रहते थे। उनकी शिष्य-परम्परा में आगे आनेवाले लोग भी उन व्याख्यानों और विमर्शों में अपना अपना भाग जोड़ते रहते थे, किन्तु उन सबका नामकरण स्वतन्त्र न होकर चरण के नाम से ही किया जाता था। जैसे तित्तिरि आचार्य के तैत्तिरीय चरण में तैत्तिरीय शाखा, तैत्तिरीय ब्राह्मण, तैत्तिरीय आरण्यक, तैत्तिरीय उपनिषत्, तैत्तिरीय प्रातिशाख्य आदि समस्त साहित्य तैत्तिरीय चरण के नाम से ही प्रसिद्ध हुआ था। जब तक वैदिक चरणों का

संगठन दृढ़ रहा, नामकरण की यही पद्धति चालू रही। आगे चलकर वैदिक चरणों के अन्तर्गत कल्प साहित्य की भी रचना हुई, जिसमें श्रौतसूत्र आदि थे (पुराण-प्रोक्तेषु ब्राह्मणकल्पेषु ४।३।१०५)। कुछ चरणों में धर्मसूत्रों का भी निर्माण हुआ (चरणेभ्यो धर्मवत् ४।२।४६)। इन सब का नाम उसी पुरानी शैली से चरण के नाम के अनुसार रखा गया। स्वाभाविक है कि सब चरण या शिक्षण संस्थाओं का समान महत्त्व न था। उनमें कुछ प्रधान या बड़े और कुछ छोटे चरण थे। प्रधान चरणों में तो छन्द (शाखा), ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषत्, प्रातिशाख्य श्रौतसूत्र आदि पूरे या अधिकांश साहित्य का विकास हो गया था, पर छोटे चरण उसी परम्परा में एकाध सूत्रग्रन्थ ही बना पाते थे, उनका साहित्यिक प्रयत्न उसी तक सीमित रह जाता था। इन्हें सूत्र चरण कहते थे। एक सूत्रग्रन्थ के निर्माण द्वारा वे अपना अस्तित्व चरितार्थ करते थे। वैदिक शाखाओं में कुछ का अधिक महत्त्व था, कुछ का कम। कुछ में स्वतंत्र सामग्री अधिक होती थी, कुछ में नाम मात्र का पाठ परिवर्तन रहता था। पाणिनि ने इनकी तीन कोटियों का उल्लेख किया है—उत्तमशाख, समान शाख, अधम शाख, जिन के चरण मूल चरण की तुलना में क्रमश: उत्तम शाखीय, समान शाखीय और अधमशाखीय कहलाते थे (गहादि गण, ४।२।१३८)। इन वैदिक चरणों अर्थात् उनके छात्र और गुरुओं के समुदाय के बहुत से नाम प्राचीन चरण व्यूह सूचियों में मिलते हैं। पाणिनि ने भी अनेक नामों का उल्लेख किया है, जैसा हम आगे देखेंगे।

छात्रों का बढ़ता हुआ एक नया वर्ग ऐसा भी था जो चरण या वैदिक शिक्षा संस्थाओं से स्वतन्त्र रह कर उन ग्रंथों का अध्ययन करता था, जिनकी रचना चरणों की सीमित परिधि से बाहर बड़े वेग से हो रही थी। वस्तुतः यह महान् आचार्यों का युग था शाकटायन और आपिशलि, स्फोटायन और भारद्वाज आदि महान् आचार्यों ने व्याकरण और भाषाशास्त्र के क्षेत्र में बिलकुल नयी रचनाएँ की थीं उनका पठन-पाठन लोक में व्यापक रूप से होने लगा था। स्वयं पाणिनि इसी प्रकार के धुरन्धर आचार्य थे, जिन्होंने एक नये शास्त्र का प्रणयन किया। जो विद्यार्थी जिस आचार्य के शास्त्र या ग्रंथ का अध्ययन करता वह उसी नाम से पुकारा जाता, जैसे आपिशलि के आपिशल, शाकटायन के शाकटायनीय और पाणिनि व्याकरण के पाणिनीय कहलाते थे। वैदिक चरणों का क्षेत्र इनकी अपेक्षा कहीं व्यापक था, किन्तु फिर भी इस प्रकार के स्वतन्त्र आचार्य और उनके शास्त्रों की संख्या उत्तरोत्तर बढ़ रही थी। पाणिनि ने ऐसे आचार्यों को उपज्ञाता (४।३।११५) और उनके द्वारा नये-नये विषयों के विवेचन को आद्य आचिख्यासा कहा है (२।४।२१)।

स्त्री शिक्षा—पाणिनि और पतंजलि दोनों ने वैदिक चरणों में अध्ययन करने वाली स्त्रियों का उल्लेख किया है। जातेरस्त्रीविषयादयोपधात् (४।१।६३) सूत्र में

जाति की परिभाषा के अन्तर्गत गोत्र और चरण दोनों का ग्रहण किया गया है (गोत्रं च चरणानि च, भाष्य)। इस प्रकार कठचरण में अध्ययन करने वाली छात्रा कठी और ऋग्वेद के बह्वृच चरण की बह्वृची कहलाती थी। छात्रों के नामकरण के जो नियम थे वही छात्राओं के लिये लागू थे। उदाहरण के लिये आपिशलि व्याकरण का अध्ययन करने वाली ब्राह्मण जाति की स्त्री आपिशला ब्राह्मणी कहलाती थी (पूर्व सूत्र निर्देशो वाऽऽपिशलमधीत इति, ४।१।१४ वा० ३)। कात्यायन ने यहाँ किसी पूर्व वैयाकरण के, सम्भवतः स्वयं आपिशलिके, सूत्र का उल्लेख किया है। इसी प्रकार पाणिनि व्याकरण का अध्ययन करने वाली पाणिनीया ब्राह्मणी थी। भाष्य से ज्ञात होता है कि मीमांसा जैसे क्लिष्ट विषय का अध्ययन भी स्त्रियों के लिये विहित था, जैसे काशकृत्स्नि आचार्य के मीमांसाशास्त्र का अध्ययन करनेवाली छात्रा काशकृत्स्ना कही जाती थी (एवमपि काशकृत्स्निना प्रोक्ता मीमांसा काशकृत्स्नी, काशकृत्स्नीमधीते काशकृत्स्ना ब्राह्मणी, ४।१।१४ भाष्य)। पतञ्जलि ने नियमित अध्ययन करनेवाली इन छात्राओं को अध्येत्री कहा है। भाष्य में स्त्री छात्राओं के नामकरण का जो प्रकरण है उसकी पृष्ठभूमि ऐसी है मानो स्त्रियों की उच्च शिक्षा समाज की एक सामान्य प्रथा हो। पाणिनि ने इन अध्येत्री स्त्रियों के लिये निर्मित छात्रिशालाओं का उल्लेख किया है (६।२।८६)। आचार्य की स्त्री तो आचार्यानी कही जाती किन्तु जो स्वयं आचार्य के ही समान विद्या के क्षेत्र में ऊँचे उठकर अध्यापन का कार्य कराती थीं और छात्राओं के उपनयन आदि का भी अधिकार रखती थीं, उन्हें आचार्या कहते थे। पतञ्जलि ने तो एक उदाहरण में यहाँ तक संकेत किया है कि इन आचार्याओं से पुरुष छात्र भी पढ़ते थे, जैसे औदमेघ्या आचार्या से पढ़नेवाले छात्र अपनी आचार्या के नाम से औदमेघ कहलाते थे (औदमेघ्यायाश्छात्रा औदमेघाः ४।१।७८, वा० १ भाष्य)। यह भी ज्ञात होता है कि जिस प्रकार शाकल आदि चरणों के विद्यार्थी संघ आदर्श के अनुसार अपना संगठन बना लेते थे, जो शाकल संघ आदि नामों से प्रसिद्ध होते थे, ऐसे ही औदमेघ्या के छात्रों के संघ का औदमेघाः यह बहुवचनान्त नाम पड़ता था। कठीवृन्दारिका जैसा शब्द कठशाखा की उस छात्रा के लिये भाषा में प्रयुक्त होता था जो अपने चरण में विशेष कीर्ति या अग्र पद प्राप्त करती थी। षष्टिपथ और शतपथ का अध्ययन करनेवाली स्त्रियाँ षष्टिपथिकी और शतपथिकी कहलाती थीं (भाष्य ४।२।६०, शतषष्टेः षिकन्पथः, काशिका)। माणव की तरह अनुपनीत कुमारी छात्रा माणविका कही जाती थी।

अध्ययन के नियम—शिक्षा संस्था में अध्ययन के दिन अध्याय कहलाते थे (३।३।१२२ अधीयते अस्मिन्नित्यध्यायः)। इसी व्युत्पत्ति के आधार पर अनध्याय वह दिन था जिस दिन अध्ययन बन्द रहे। गृह्यसूत्रों में अनध्याय या छुट्टी के नियम दिए हुए हैं। पाणिनि ने भी इस बात का उल्लेख किया है कि अध्ययन में देश और काल सम्बन्धी कुछ नियम थे। उनका उल्लंघन करके जो छात्र

देश विरुद्ध और काल विरुद्ध अध्ययन करता था उसका नाम उसी प्रकार पड़ जाता था (अध्यायिन्यदेशकालात्, ४।४।७१)। इस पर काशिका ने ऐसे छात्रों का उल्लेख किया है जो श्मशान में या चौराहे पर अध्ययन करने के कारण श्माशानिक और चातुष्पथिक कहे जाते थे। जानबूझ कर श्मशान में जाकर तो कोई विद्यार्थी क्या पढ़ता ? ज्ञात होता है कि जब श्मशान यात्रा में जाने के कारण सब छात्र पाठ बन्द रखते उस दिन भी जो वहाँ पढ़ता उसके लिये ऐसा निन्दा भरा विशेषण प्रयुक्त होता था। ऐसे ही जब किसी हाट मेले के कारण औरों का पाठ बन्द रहता तब भी जो पढ़ता वह चातुष्पथिक कहलाता था। चातुर्दशिक और आमावास्यिक उदाहरणों से सूचित होता है कि चतुर्दशी और आमावस्या को भी पाठ वर्जित था क्योंकि ये दर्शपौर्णमास इष्टि के दिन थे। इन शब्दों में जो निन्दा का भाव था, वह स्थायी नहीं, उसी काल तक के लिये होता था।

एक ही चरण में पढ़ने वाले ब्रह्मचारी परस्पर सब्रह्मचारी कहे जाते थे (चरणे ब्रह्मचारिणि, ६।३।८६)। एक ही गुरू के पास अध्ययन करने वाले छात्रों को सतीर्थ्य कहा जाता था (समानतीर्थे वासी, ४।४।१०७, तीर्थे ये, ६।३।८७)।

जिन संस्थाओं में अध्ययन के विषय और ग्रन्थों का इतना विस्तार था वहाँ यह आवश्यक था कि छात्रों को कक्षा या वर्गों में बाँटा जाय। यह वर्गीकरण दो प्रकार से होता था, एक तो जो छात्र एक विषय का एक समय में अध्ययन करते उनकी एक कक्षा बना दी जाती थी। कभी कभी ऐसी एक से अधिक कक्षाओं के छात्र कार्य विशेष के लिये एक साथ मिलकर भी अपने विशेष वर्ग बना लेते थे। लेकिन शर्त यह थी कि उनकी कक्षाएं पृथक् होते हुए भी पाठ्यक्रम के पौर्वापर्य से एक दूसरे के बाद पड़ती हों, अर्थात् उनमें अत्यन्त निकट का सम्बन्ध हो (अध्ययनतोऽविप्रकृष्टाख्यानाम्, २।४।५)। उदाहरण के लिये क्रमपाठ पढ़ने वाले छात्र 'क्रमकाः' कहलाते थे। ऐसे ही पदपाठ की कक्षा वाले 'पदकाः' (क्रमादिभ्योवुन्, ४।२।६१)। पदपाठ का अध्ययन पहले और उसके तुरन्त बाद क्रमपाठ का अध्ययन किया जाता था। अतएव पदक और क्रमक ये दो कक्षाएं एक दूसरे के सन्निकट थीं। उनमें और किसी कक्षा का व्यवधान न था। इसलिये उन दोनों के नामों का जोड़ा भाषा में चल जाता था। उसे पदकक्रमकम् इस एक वचनान्त पद से प्रकट करते थे। यह ठीक ऐसे ही हुआ जैसे आज कल एफ० ए०-बी० ए० इन दो नामों को साथ बोला जाता है। जब कभी निमन्त्रण आदिक के लिये छात्रों को बाहर जाना पड़ता तो आचार्य इस प्रकार कहते —पदक-क्रमकं गच्छतु, अर्थात् आज पदक और क्रमक छात्र वहाँ जाएं। काशिका में क्रमकवार्तिकम् उदाहरण और दिया है जिससे यह ज्ञात होता है कि जैसा पद पाठ के बाद क्रमपाठ पढ़ने की प्रथा थी वैसे ही क्रमपाठ के बाद वृत्ति का अध्ययन किया जाता था।

क्रम और वृत्ति इन दोनों का प्रत्यासन्नपाठ था। वृत्ति से तात्पर्य व्याकरण सूत्रों की वृत्ति से ज्ञात होता है। इससे यह सूचित होता है कि पदपाठ और क्रमपाठ का पारायण सब छात्रों को पहले करा दिया जाता था और उसके बाद व्याकरण की पढ़ाई प्रारम्भ होती थी। ठीक यही बात पतंजलि ने लिखी है—आजकल ऐसी प्रथा है कि पहले वैदिक शब्दों को पढ़ते हैं।[1] ज्ञात होता है कि प्राचीन काल में, सम्भवतः सूत्र युग में, ऐसी प्रथा थी कि छात्रों की शिक्षा व्याकरण से शुरू होती और उसके बाद उन्हें वेद का पारायण कण्ठ कराया जाता। किन्तु पतंजलि के समय में पुरानी प्रथा बदल गई थी। उस समय शिक्षा का स्तर कुछ नीचे आ गया था और छात्रों की पढ़ाई वेद कण्ठ करने से ही शुरू होती और कुछ दिन बाद वे लोग पढ़ाई छोड़ कर फिर अपने अन्य धंधों में लग जाते थे। उनका तर्क यह था कि वेद कंठ करने से वैदिक ज्ञान हमें आ गया अब लोक व्यवहार से लोक की बात सीख लेंगे, व्याकरण के पचड़े में कौन पड़े? इस प्रकार पतंजलि के युग में वेद कंठ कर लेने वाले श्रोत्रिय ब्राह्मणों की संख्या में वृद्धि हुई होगी। फिर भी वेद कंठ करने के बाद कुछ संख्या छात्रों की ऐसी अवश्य थी जो व्याकरण का अध्ययन करती थी। गुरु मुख से सुनकर मन्त्रों का पाठ कंठ करने वाले छोटे छात्रों का एक चित्र पतंजलि ने दिया है—जब आयु में छोटे ऐसे छात्र पाठ कंठ करने या सुनाने में अशुद्धि करते हैं तो कण्डिका घोखाने वाले उनके उपाध्याय चपकट रसीद करते हैं (एवं हि दृश्यते लोके य उदात्ते कर्तव्ये अनुदात्तं करोति खण्डिकोपाध्यायस्तस्मै चपेटां ददात्यन्यत्त्वं करोषीति, १।१।१, वा० १३)।

पाठ्यक्रम—भिन्न-भिन्न कक्षाओं के वर्गीकरण से सूचित होता है कि शिक्षण संस्थाओं में पाठ्य-विषयों का एक क्रम निर्धारित किया जाता था। माणव, अन्तेवासी, चरक ये तीन शब्द छात्रों की विभिन्न अवस्थाओं के द्योतक थे। ऐसे ही अध्यापक, प्रवक्ता, आचार्य ये शब्द गुरुओं के क्रमिक पदों के सूचक थे, जिनका सम्बन्ध शिक्षण के क्रम से था।

पाठ्यक्रम के अध्ययन में छात्र की जो प्रगति होती थी उसे व्यक्त करने के लिये भाषा में कुछ प्रयोग और शब्द चल पड़े थे। ग्रन्थ के नाम से पढ़ाई का दरजा सूचित किया जाता था (ग्रन्थान्ताधिके च, ६।३।७९) जैसे सकलं समुहूर्तं ज्यौतिषमधीते, अर्थात् अमुक छात्र ने कला के प्रकरण तक या मुहूर्त के प्रकरण तक ज्योतिष का अध्ययन किया है अथवा ससंग्रहं व्याकरणमधीते, अमुक छात्र ने संग्रह ग्रन्थ तक व्याकरण-

---

१—पुराकल्प एतदासीत् संस्कारोत्तरकालं ब्राह्मणाः व्याकरणं स्माधीयते, तेभ्यस्तत्र स्थानकरणनादानुप्रदानज्ञेभ्यो वैदिकाः शब्दा उपदिश्यन्ते, तदद्यत्वे न तथा वेदमधीत्यत्वरिता वक्तारो भवन्ति, पस्पशाह्निक)।

शास्त्र पढ़ लिया है। आजकल भी भाष्यान्त व्याकरण पढ़ा है, कौमुद्यन्त व्याकरण पढ़ा है, इन प्रयोगों से कुछ ऐसा ही सूचित किया जाता है। किसी विषय के अध्ययन की समाप्ति को प्रकट करने के लिये भाषा में विशेष शब्दों का निर्माण हुआ था (अन्त-वचन में अव्ययीभाव समास, २।१।६) जैसे साग्नि अधीते, वह 'अग्नि' ग्रन्थ की समाप्ति तक अध्ययन करता है (शतपथ ब्राह्मण काण्ड ६ से ९ तक की संज्ञा अग्नि थी, क्योंकि उसमें अग्निचयन का विषय था); अथवा सेष्टि पशु बन्धमधीते, अर्थात् वह इष्टि (शतपथ, काण्ड १-२ जिनमें दर्शपौर्णमास इष्टियों का वर्णन है) और पशुबन्ध (शतपथकाण्ड ३-५ जिनमें सोमयाग का विषय है) पर्यन्त अध्ययन करता है।

किसी विषय के अध्ययन की समाप्ति 'वृत्त' कहलाती थी गोरध्ययने वृत्तम्, ७।२।२६), जैसे देवदत्त ने कहाँ तक पढा है? इस प्रश्न के उत्तर में कहा जाता था—वृत्तो गुणो देवदत्तेन (देवदत्त ने व्याकरण शास्त्र में गुण प्रकरण पढ़ कर समाप्त कर लिया है); वृत्तं पारायणं देवदत्तेन देवदत्त ने वैदिक पारायण समाप्त कर लिया है)। इस प्रकार या तो ग्रन्थ के नाम से, या विषय के नाम से अध्ययन की प्रगति सूचित करने के दो ढंग भाषा के प्रयोगों में चलते थे।

जैसा कहा जा चुका है (४।२।६३) वर्ष भर के पाठ्यक्रम का विभाग ऋतुओं के अनुसार कर लिया गया था। प्रत्येक ऋतु में जो विषय पढाए जाते उनका संकेत ऋतु के नाम से सूचित किया जाता था और उसके अध्येता छात्र भी उसी नाम से पुकारे जाते थे, जैसा 'वसन्त' संज्ञक ग्रन्थ से वासन्तिक छात्र, वर्षा से वार्षिक, शरद से शारदिक, हेमन्त से हैमन्तिक और शिशिर से शैशिरिक। इस सूची में ग्रीष्म का नाम नहीं है। संभवतः आजकल की तरह उस समय भी ग्रीष्म या जेठ अषाढ के तपते महीनों में पढ़ाई बन्द रहती थी।

अल्पकाल के लिये शिक्षण संस्थाओं में प्रविष्ट होकर किसी ग्रन्थ विशेष या विषय विशेष का अध्ययन करने की भी प्रथा थी। इसका विधान तदस्य ब्रह्म-चर्यम् सूत्र में है (५।१।९४)। जो विद्यार्थी जितने समय के लिये गुरुकुल में प्रविष्ट हो अर्थात् ब्रह्मचर्य व्रत का नियम ले उससे उसका नाम पड़ जाता था। अथवा जिस विषय या ग्रन्थ के पढ़ने के लिये वह आवे उससे भी उसका नाम रक्खा जाता था। उदाहरण के लिये सांवत्सरिक ब्रह्मचारी, वह छात्र जो एक वर्ष के लिये ब्रह्म-चारी बना है; मासिक, वह छात्र जो केवल एक मास के लिये ब्रह्मचारी बना है; अर्ध मासिक, वह छात्र जो केवल पन्द्रह दिन के लिये ब्रह्मचारी बना है। यहाँ ब्रह्मचर्य का तात्पर्य चरण का नियमित विद्यार्थी था। चरण में प्रविष्ट होना ब्रह्मचर्य या उपनयन द्वारा समिधाधान से शुरू होता था। इसलिये ब्रह्मचर्य का यह पारि-भाषिक अर्थ चल गया था। उपनिषदों में जो कथा आती है कि केवल एक प्रश्न पूछने के लिये भी कोई जिज्ञासु आचार्य या तत्वज्ञानी के पास जाकर ब्रह्मचर्य से

रहता था उसकी पृष्ठ भूमि में वही नियम था जिसका इस सूत्र में संकेत है। ब्रह्मचर्यं मूषुः' का अर्थ हो गया था ज्ञानोपार्जन या विशेष अध्ययन के लिये जाना (बृ० उप० ५।१ १)। आरुणि ने अपने पुत्र श्वेतकेतु से कहा—वस ब्रह्मचर्यम् (छा० ६।१।१)। वह बारह वर्ष आचार्य के यहाँ जाकर रहा। प्राचीनशाल औपमन्यव आदि पाँच मित्र केवल वैश्वानर विद्या सीखने के लिये ही अश्वपति के पास गए और पूर्वाह्न में समित्पाणि होकर उसके सामने पहुँचे। 'समित्पाणी होना ब्रह्मचर्य के औपचारिक नियम का सूचक था। सत्यकाम जाबाल ने हारिद्रुमत गौतम के पास जाकर कहा—ब्रह्मचर्यं भगवति वत्स्यामि।

कात्यायन ने कुछ और नाम दिए हैं—माहानाम्निक, वह छात्र जो महानाम्नी ऋचाओं के अध्ययन तक के लिये ब्रह्मचारी बना हो (महानाम्न्यो नाम ऋचो व्रतो तासां तुचर्यते, भाष्य ५।१।९४, वा० १-२)। कात्यायन का यह भी कहना है कि एक ओर तो इस प्रकार के विशेष शिक्षा प्रबन्ध को माहानाम्निक कहा जाता था, दूसरी ओर उस छात्र का भी माहानाम्निकः (पुल्लिंग) नाम पड़ता था (तच्चरतीति च, महानाम्नीश्चरति माहानाम्निकः)। ऐसे ही आदित्यव्रतिक, वह जो आदित्यव्रत साम की समाप्ति तक के लिये चरण में अन्तेवासी बनता था। गोभिल गृह्य सूत्र में आदित्यव्रतिक ब्रह्मचारियों का उल्लेख है (गोभिल० ३।१।२८; ३।२।१-९)। महानाम्नी व्रत को शाक्वरी व्रत भी कहते थे। प्राचीन रौरुकि ब्राह्मण में कहा गया था कि उस समय के छात्र महानाम्नी छन्दों तक वेदाध्ययन करना बहुत ही महनीय व्रत समझते थे। माताएं बच्चों को दूध पिलाते समय लोरी में कहा करती थीं कि तुम शाक्वरी व्रत के पारगामी बनो[१]।

अध्ययन की समाप्ति समापन कहलाती थी (समापनात्सपूर्वपदात्, ५।१।११२); जैसे छन्दः समापनीयं, व्याकरणसमापनीयं, अर्थात् वह अध्ययन या व्रत जिसका उद्देश्य छन्द अर्थात् वैदिक शाखा, या वेदांगों में व्याकरण की समाप्ति हो (तदस्यप्रयोजनम्)।

अध्यापन—चरण के अन्तर्गत नियमपूर्वक अध्यापन उपयोग और अध्यापन कराने वाला आख्याता कहलाता था (आख्यातोपयोगे १।४।२९, नियमपूर्वकं विद्याग्रहणं—काशिका)। काशिका के अनुसार नाट्य आदि लौकिक विषयों की शिक्षा इस शब्द का तात्पर्य न था, जैसे नटस्य शृणोति, नट से नाट्य या अभिनय सीखता है। जो विषय धार्मिक अध्ययन के क्षेत्र से बाहर नए शुरू हो रहे थे उन्हें स्वभावतः वह सम्मान प्राप्त न था जो चरणों में अनुशीलित विषयों को था। स्वाध्याय सम्बन्धी ग्रन्थों का अध्यापन करानेवाला प्रवचनीय कहलाता था

---

१ अथ ह रौरुकि ब्राह्मणं भवति। कुमारान् ह वै मातरः पाययमाना आहुः शाक्वरीणां व्रतं पारयिष्णवो भवतेति। गोभिलगृह्यसूत्र, ३।२।७-६।

(३।४।६८, प्रवचनीयो गुरुः स्वाध्यायस्य)। अथवा जो वस्तु पढ़ाई जाती उसके लिये भी यही शब्द था, जैसे प्रवचनीयो गुरुणा स्वाध्यायः)। जिन अध्यापन करानेवालों को प्रवक्ता कहा गया है वे ही वैदिक ग्रन्थों का प्रवचन करते थे (२।१।६१)। पाणिनि ने कुछ विद्वानों को अनूचान कहा है (३।२।१०९)। बोधायन के अनुसार ये वेदांगों की शिक्षा देते थे (अंगाध्यायी अनूचानः, बोधायन गृह्यसूत्र, १।४)। उपनयन, गोदानव्रत, महानाम्नी व्रत आदि प्रत्येक व्रत की समाप्ति पर अनुप्रवचनीय होम किया जाता था (अनुप्रवचनादिभ्यश्छः, ५।१।१११; आश्व० १।२२; गोभिल ३।२।४८-४ ; खादिर २।९।३४, रुद्रस्कंद, प्रवचनात् पश्चात्क्रियते इत्यनुप्रवचनीय होमः)।

माणवक का पिता या अभिभावक गुरु के पास आकर सत्कार पूर्वक निवेदन करता था —मेरी आपसे प्रार्थना है कि आप इस माणवक को उपनीत करें (अधीच्छामो भवन्तं माणवकं भवानुपनयेत्, काशिका ३।३।१६१ सूत्र में पठित अधीष्ट शब्द की व्याख्या)। जितने काल के लिये यह प्रार्थना की गई हो उसे व्यक्त करने के लिये भी भाषा में प्रयोग चलता था, जैसे एक मास तक अध्यापन के लिये जिससे अनुरोध किया गया हो वह मासिक अध्यापक कहा जाता था (तमधीष्टः, ५।१।८०, मासमधीष्टः सत्कृत्य व्यापारितः)।

विद्यार्थी के छात्र जीवन में नियम और व्यवस्था का मुख्य स्थान था। अध्ययन की कठिनाई प्रकट करने वाले शब्द भी मिलते हैं; जैसे कष्टोऽग्निः, कष्टं व्याकरणं, ततोऽपि कष्टतराणि सामानि, अर्थात् अग्नि ग्रन्थ (शतपथ काण्ड ६ ९) का अध्ययन कठिन है; ऐसे ही व्याकरण भी कठिन है; इन दोनों से कठिन साम गान का सीखना है (कृच्छ्रगहनयोः कषः, ७।२।२२, काशिका)।

अष्टाध्यायी में कई प्रकार के अध्यापकों का उल्लेख है, जैसे दारुणाध्यापक, घोराध्यापक (पूजनात्पूजितं काष्ठादिभ्यः, ८।१।६७)। ये बहुत कठोरता से नियमों का पालन कराते या शारीरिक दंड का भी प्रयोग करते थे। दूसरी ओर अनुभवी सरल और आदर्श पढ़ाने वाले भी थे जिन्हें काष्ठाध्यापक, अद्भुताध्यापक, परमाध्यापक, स्वाध्यापक कहा जाता था। अधिक रटन्त कराने वाले भृशाध्यापक या अत्याध्यापक भी होते थे। अवसर-प्राप्त अध्यापक प्राचार्य और पुराने छात्र प्रान्तेवासी कहलाते थे (भाष्य २।२।१८)।

पारायण—वैदिक शाखा ग्रंथ या छन्दों को कण्ठस्थ करने की प्रथा थी। कण्ठाग्र करने वाले विद्वान् श्रोत्रिय कहलाते थे (श्रोत्रियंश्छन्दोऽधीते, ५।२।८४)। संहितापाठ (निर्भुज), पद पाठ (प्रतृण्ण), क्रम पाठ आदि कई प्रकार से वैदिक मन्त्रों का सस्वर पाठ करना वैदिक पारायण कहलाता था। नियमानुसार पारायण करने वाला पारायणिक होता था (पारायणं वर्तयति, ५।१।७२)। श्रावणी या भाद्रपद पूर्णिमा को उपाकर्म करने के बाद साढ़े चार महीने तक वेद का पारायण किया जाता था। उस समय कुछ नियमों का पालन करना आवश्यक था। बोधायन एवं

अन्य गृह्य सूत्रों में वर्णित नियत कर्म विधि के साथ पारायण का आरम्भ किया जाता था। पारायणिक ब्रह्मचारी या श्रोत्रिय स्थण्डिल पर शयन करता था, अतएव उसे उस समय स्थाण्डिल कहते थे (स्थण्डिलाच्छयितरि व्रते, ४।२।१५)। उस अवधि में वह पारायण के अतिरिक्त और कुछ न बोलने का व्रत लेने के कारण वाचंयम कहलाता था (वाचि यमो व्रते, ३।२।४०)। उस व्रत के समय वह आहार में भी संयम करता था, कभी केवल दुग्ध ही पीकर रह जाता था, तब उसके लिये 'पयो व्रतयति' कहा जाता था (३।१।२१)। महीदास ने लिखा है कि एक से अधिक पारायण करने की प्रथा भी थी। ऐसे लोगों को द्वैपारायणिक कहा जाता जो जीवन में दो पारायण कर लेते थे (द्वैपारायणे वर्तयति, ४।१।८८ पर काशिका)। छात्रावस्था के बादभी कभी कोई पारायण कर सकता था।

छन्दों को कंठ करना उस समय की शिक्षा प्रणाली का आवश्यक अंग बन गया था। पतंजलि ने तो लिखा है कि पढ़ाई का आरम्भ ही वेद कंठस्थ करने से होता था। उसके बाद किसी का मन हुआ तो व्याकरण पढ़ता था। कंठ करते समय छात्र स्वयं बहुत परिश्रम करते थे और श्रोत्रिय लोग भी उनके साथ परिश्रम करते थे। अच्छी स्मृति वाले छात्रों को अधिक परिश्रम के बिना (अकृच्छ्र) ग्रंथ कंठस्थ हो जाता था। उनके लिये भाषा में इस प्रकार का प्रयोग था—अधीयन् पारायणम्, धारयन्नुपनिषदम् (इङ्धार्योः शत्रकृच्छ्रिणि, ३।२।१३०)।

कुछ सूत्रों से कंठस्थ करने की प्रक्रिया पर प्रकाश पड़ता है। एक तो जितनी बार घोखने से ग्रंथ कंठस्थ होता हो उतने अध्ययन या आवृत्ति की संख्या प्रकट करने के लिये भाषा में प्रयोग थे; जैसे पंचकोऽधीतः, सप्तकोऽधीतः, अष्टकः, नवकः, अर्थात् पाँच आवृत्ति या पाँच बार में जिसका अध्ययन पक्का हो उसके लिये इस प्रकार कहा जाता था। अथवा पाँच प्रकार से जो अध्ययन या आवृत्ति की जाय वह भी पंचक कहलाती थी (पंच रूपाण्यस्याध्ययनस्य पंचकमध्ययनम्)। दूसरी बात यह थी कि पारायण करते समय जो अशुद्धियाँ होती उन्हें भी प्रकट करने के लिये भाषा में प्रयोग थे; या तो एक पद अशुद्ध निकल जाता (पदं मिथ्या कारयते), या स्वर की अशुद्धि होती (स्वरादि दुष्टम्), या बार-बार वही अशुद्धि हो जाती (असकृदुच्चारयति, १।३।७१ मिथ्यो पपदात्कृञोऽभ्यासे)। अध्ययन या पारायण सुनाते समय परीक्षा-काल में जिससे जितनी अशुद्धियाँ हों उनकी गिनती सूचित करने वाले प्रयोग भी चलते थे (कर्माध्ययने वृत्तम्, ४।२।६३-६४), जैसे ऐकान्यिकः, जो एक अशुद्धि करे। ऐसे ही द्वैयन्यिक, त्रैयन्यिक आदि दस अशुद्धियों तक बताने के लिये शब्द थे।

दस तक के संख्यावाची शब्दों में दो अच् होते हैं। पर सूत्र में बह्वच् संख्या शब्दों से भी ऐसे प्रयोग बनाने का विधान है (४।४।६४), जैसे द्वादशान्यिक, त्रयोदशान्यिक, चतुर्दशान्यिक, अर्थात् जो पारायण में १२, १३, या १४ अशुद्धियाँ करे। इस प्रकार छन्दों को कंठस्थ करने में जो कठिन परिश्रम किया जाता उसीका यह

सुफल होता कि ऋग्वेद तैत्तिरीय संहिता और शतपथ ब्राह्मण जैसे महाग्रन्थों को लोग सस्वर कंठस्थ कर लेते थे और पीढ़ी-दर-पीढ़ी उनकी रक्षा करते रहते थे।

ज्ञानपूर्वक अध्ययन – ऊपर कही विधि से कंठस्थ करना शिक्षण विधि का केवल एक अंग था। उससे तत्कालीन ज्ञान साधन के यत्नों का अतिसीमित परिचय मिलता है। यास्क ने वेदों को कंठस्थ कर लेने मात्र से संतुष्ट हो जानेवाली मनोवृत्ति से सावधान किया है। पंतजलि ने भी आगे चलकर एक पुराने श्लोक का उद्धरण देते हुए इसमें अरुचि प्रकट की है। बिना समझे बूझे कंठ फाड़ कर घोखना ऐसा है जैसे अग्नि के बिना सूखे कंडों का ढेर हो[1]। यह मानना पड़ेगा कि सूत्र युग में ज्ञानपूर्वक अध्ययन की ओर लोगों का सविशेष ध्यान था। स्वयं पाणिनि की अष्टध्यायी शब्दों के संग्रह और विश्लेषण में किए गए भूरि परिश्रम का फल थी। यास्क के निरुक्त एवं शाकटायन और आपिशलि के व्याकरण भी इसी प्रकार की वैज्ञानिक पद्धति के परिणाम थे। इस प्रकार मौलिक चिन्तन और सामग्री के संकलन एवं विश्लेषण से जिन नए शास्त्रों की उद्भावना की जाती थी उन्हें पाणिनि ने उपज्ञात कहा है (४।३।११५)। पुराने ग्रन्थों के व्याख्यान से उपज्ञात सहित्य भिन्न प्रकार का था। पाणिनि का व्याकरण उपज्ञात कोटि में था (पाणिन्युपज्ञं व्याकरणं; पाणिनिना उपज्ञातं पाणिनीयम्)।

ज्ञान साधन के विशेष प्रकार—शिक्षण और ज्ञान साधन के क्षेत्र में प्रयुक्त कई महत्वपूर्ण शब्दों का पाणिनि ने उल्लेख किया है जिससे ज्ञात होता है कि उनके समय में कितने प्रकार से शास्त्रों की ऊहापोह और प्रचार का वास्तविक प्रयत्न किया जा रहा था। ये शब्द इस प्रकार हैं—प्रकथन, तत्काल स्फुरित विषय का मौखिक निरूपण (१।३।३२); भासन, विषय का चमत्कृत व्याख्यान (१।३।४७); विषय का सम्यगवबोध (ज्ञान अर्थ में वद धातु का विशिष्ट प्रयोग जैसे वदते चार्वी लोकायते, १।३।४७); विमति, किसी विषय पर नाना मतों का विवेचन (१।३।४७); विप्रलाप, विभिन्न मत रखने वाले विद्वानों का शास्त्रार्थ (१।३।५०), जैसे काल के विषय में सांवत्सर और मौहूर्त—संवत्सरवादी और मूहूर्तवादी दार्शनिकों का परस्पर प्रतिषेधपूर्वक विचार करना); प्रतिश्रवण (८।२।९९) या प्रतिज्ञान, अपने मत की प्रतिज्ञा का स्थापन, जैसे नित्यं शब्दं संगिरते, 'शब्द नित्य है' इस प्रकार की प्रतिज्ञा करता है (१।३।५२); ज्ञान की खोज में जिज्ञासा वृत्ति (१।३।५७, जिज्ञासते)। सत्य तक पहुँचने के लिये विद्वानों के मध्य वाद और विवाद की ये प्रवृत्तियां और प्रकार थे। ज्ञान साधन की यह बहुशः युक्ति उपनिषद्, बौद्ध साहित्य एवं महाभारत शान्ति पर्व में परिलक्षित

---

१ यदधीतमविज्ञातं निगदेनैव शब्द्यते।
अनग्नाविव शुष्कैधो न तज्ज्वलति कर्हिचित्॥ पस्पशाह्निक।

होती है। विवाद के समय जो मध्यस्थ होने वालों का (मध्येकृत्य, १।४।७६), विपक्षी को निरुत्तर कर देने का (निवचनेकृत्य, १।४।७६), एवं उसकी युक्तियों का खण्डन करके या उनकी निस्सारता दिखाकर उसे अवरुद्ध कर देने का भी उल्लेख है (निगृह्यानुयोगे च, ८।२।९४)। इसमें निग्रह और अनुयोग दोनों न्याय शास्त्र के शब्द थे। तर्क के मार्ग से विचार करते हुए सिद्धान्त तक पहुँचना (विचार्यमाणानाम्, ८।२।९७, प्रमाणेन वस्तु परीक्षणम्, काशिका), एवं अपने मत की विनिश्चयपूर्वक स्थापना (ज्ञान = प्रमेशनिश्चय, १।३।७६), भी शास्त्रार्थ के आवश्यक अंग थे। शास्त्रार्थ में विजयी व्यक्ति को विशेष सम्मान मिलता था (सम्मानन, १।३।३६) और तब उस विषय या शास्त्र में सब लोग उसे अग्रणी या प्रमुख मानने लगते थे। जैसे चान्द्र वृत्ति ने एक पुराना उदाहरण दिया है कि भगवान् पाणिनि स्वयं व्याकरण के क्षेत्र में अग्रणी माने जाने लगे थे (नयते पाणिनिर्व्याकरणे, १।४।८२)। गुरुओं से शिष्यों को प्राप्त होती हुई विद्या निरन्तर प्रथित होती या फैलती थी, उसे तायन कहते थे (१।३।३८)। शास्त्रों के विस्तार का यही सर्वोत्तम प्रकार इस देश में सदा से रहा है कि उस शास्त्र को गुरु शिष्य पारम्पर्य में डाल दिया जाय। फिर ऐसा होता ही रहेगा कि मेधावी शिष्य पूर्व प्राप्त अपनी प्रतिभा से ज्ञान का अभूतपूर्व विस्तार करेंगे, जैसे पाणिनि के शब्द शास्त्र का अपूर्व 'तायन' वार्तिककार कात्यायन और भाष्यकार पतंजलि ने किया। जिस समय आचार्य अपने बुद्धिशाली शिष्य के मन में किसी शास्त्र का बीज वपन कर देता है आचार्य का काम समाप्त हो जाता है और उस शास्त्र के भावी कल्याण के लिये वह अपने कर्तव्य से उऋण हो जाता है। प्रायः ऐसा होता कि चरणों के संस्थापक आचार्य स्वयं अपने कार्य से ऐसे यशस्वी न बन पाते जैसे वे अपने शिष्यों के ग्रन्थों से कीर्तिमान् हो जाते थे। पाणिनि ने लिखा है कि कलापी और वैशम्पायन इस प्रकार के आचार्य थे जिनके प्रतिपादित विषयों या छन्द ग्रन्थों का विस्तार उनके अनेक अन्तेवासी शिष्यों ने किया (कलापि वैशम्पायनान्तेवासिभ्यश्च, ४।३।१०४; श्री राधाकुमुद मुकर्जी, पाणिनि, कात्यायन पतंजलि के ग्रन्थों में प्राचीन भारतीय शिक्षा)।

चरण, वैदिक विद्या पीठ—चरण उस प्रकार की शिक्षा संस्था थी जिसमें वेद की एक शाखा का अध्ययन शिष्य समुदाय करता था और जिसका नाम मूल संस्थापक के नाम से पड़ता था। इसका प्रबन्ध संघ के आदर्श पर होता था (चरण शब्दः शाखानिमित्तकः पुरुषेषु वर्तते, काशिका २।४।३)। वैदिक साहित्य के विविध अंगों का विकास चरणों में हुआ था, जैसे मूल संस्थापक ऋषि द्वारा प्रोक्त छन्द या शाखा, मंत्रों की अधिदैवत अध्यात्म अधिभूत और अधियज्ञ परक व्याख्या करनेवाला ब्राह्मण ग्रन्थ, एवं श्रौत सूत्र आदि कल्पग्रन्थ। पाणिनि के समय से पूर्व ही चरणों में वैदिक साहित्य का इतना विकास सम्पन्न हो चुका था (सूत्र ४।२।६६; ४।३।१०५)। वस्तुतः वैदिक शाखा और ब्राह्मण ग्रन्थों का चरणों के

साथ ऐसा तादात्म्य सम्बन्ध माना जाता था कि इन दोनों प्रकार के साहित्य का नामकरण चरणों में उनका अध्ययनाध्यापन करने वाले (अध्येतृ-वेदितृ) विद्वान् गुरु शिष्यों के नाम पर ही प्रसिद्ध होता था। छन्द या शाखाएं ग्रन्थ मात्र नहीं रह गई थीं बल्कि उन्होंने संस्थाओं का रूप ले लिया था जिसमें ब्राह्मण, आरण्यक, श्रौत सूत्र आदि साहित्य का भी समावेश हो गया था। पाणिनि काल में चरणों का विकास एक सीढ़ी और आगे पहुँच चुका था, अर्थात् श्रौत सूत्र या कल्प ग्रन्थों के बाद धर्म सूत्रों की रचना भी चरण साहित्य के अन्तर्गत हो गई थी। चरणेभ्यो धर्मवत् (४।२।४६) सूत्र में आचार्य ने इसी का उल्लेख किया है (उसी पर वार्तिक है, चरणाद् धर्माम्नाययोः)। वैदिक चरणों के विकास की यह अन्तिम कड़ी थी। जब धर्म सूत्रों का अध्ययन चरणों में हुआ, उसी युग में कितने ही नये विषयों का अध्ययन चरणों के बाहर भी होने लगा था, जिनकी शिक्षा विधि के नियम चरणों की अपेक्षा सम्भवतः सरल थे। एक बार जब गुरु या शास्त्रज्ञ लोगों के स्वतन्त्र रीति से अध्यापन कराने की प्रथा शुरू हुई तो फिर चरणों की वह बँधी हुई प्रतिष्ठा छिनती ही चली गई। यास्क कृत निरुक्त और पाणिनि कृत अष्टाध्यायी इसी प्रकार के स्वतंत्र शास्त्र और ग्रंथ थे जिन पर किसी एक चरण का सर्वाधिकार न था और जिनका निर्माण और अध्ययन चरणों के बाहर हुआ और होने लगा था। पतंजलि ने अष्टाध्यायी के विषय में यह बहुत ही महत्वपूर्ण सूचना दी है कि उसका सम्बन्ध किसी एक चरण से न था बल्कि सभी चरणों की परिषदें उन्हें अपना रही थीं—

सर्व वेद पारिषदं हीदं शास्त्रम् (२।१।५८; ६।३।१४ भाष्य)।

नए शास्त्रों की रचना सबके वश की बात न थी। अतएव जहाँ भी चाहे उनका निर्माण हुआ हो, सब चरणों को उन्हें अपने पाठ्य क्रम में स्वीकार कर लेना पड़ता था।

परिषद् पाणिनि ने तीन प्रकार की परिषदों का उल्लेख किया है, (१) शिक्षा सम्बन्धी, (२) समाज में गोष्ठी सम्बन्धी, और (३) राज शासन सम्बन्धी। पहले प्रकार की परिषद् चरण के अन्तर्गत एक प्रकार की विद्वत्सभा थी जो उच्चारण और व्याकरण सम्बन्धी नियमों का निश्चय करती थी और शाखा के पाठ आदि के विषय में भी जिसमें विचार होता था। सूत्र ४।३।१२३ (पत्राध्वर्यु परिषदश्च) में चरण परिषद् का ही उल्लेख है। इसमें परिषत् सम्बन्धी किसी वस्तु के लिये पारिषद शब्द सिद्ध किया गया है (परिषदः इदम्)। गृह्य सूत्रों में आचार्य और उनकी परिषत् का निश्चित उल्लेख है। कहा है कि प्रविष्ट हुआ ब्रह्मचारी परिषद् के मध्य में विराजमान आचार्य के समक्ष उपस्थित होकर हर्षित मन से अपना आदर भाव प्रकट करता था (यक्षमिव चक्षुषः प्रियो वा भूयासमिति सपरिषत्कमाचार्यमभ्येत्य ब्रह्मचारी पठति, गोभिलगृह्यसूत्र ३।४।२८; द्राह्यायण गृह्यसूत्र ३।१।२५)। चरक में भी इस प्रकार की शिक्षा परिषत् का आभास मिलता है (विमानस्थान, ८।१९–२०)। पाणिनि ने जो पारिषद शब्द सिद्ध किया है, पतंजलि ने परिषदों में बने हुए साहित्य

के अर्थ में ही उसका प्रयोग किया है (ऊपर के सर्ववेद-पारिषदं हीदं शास्त्रम् वाक्य में)। इसी शब्द का दूसरा रूप पार्षद निरुक्त में मिलता है जिसका प्रयोग चरणों की परिषदों के साहित्य के लिये ही किया गया है (पदप्रकृतीनि सर्व चरणानां पार्षदानि, निरुक्त १।१७)। दुर्गाचार्य ने लिखा है कि पार्षद ग्रंथों से तात्पर्य प्रातिशाख्यों का है जो चरणों की पर्षदों (परिषदों) में बनाए गए थे। स्वर, सन्धि वैदिक शब्द रूप, पाठ आदि के सम्बन्ध में परिषदों द्वारा निर्णीत नियमों का ही इनमें संग्रह है। पतंजलि ने सामवेद की सात्यमुग्रि और राणायनीय शाखाओं के अर्ध एकार, अर्ध ओकार सम्बन्धी नियम को पार्षद कृति अर्थात् चरण परिषत् द्वारा निर्णीत नियम कहा है (पार्षदकृतिरेषा तत्रभवतां नैव हि लोके नान्यस्मिन्वेदेऽर्ध एकारोऽर्ध ओकारो वास्ति, प्रत्याहार सूत्र ३-४ पर वा० ४)।

ऊपर दो अन्य परिषदों का भी उल्लेख किया गया है। परिषद् में जो सम्मिलित हो, वह पारिषद्य होता था (परिषदं समवैति, ४।४।४४)। यहाँ सामाजिक परिषद् का ग्रहण है जिसे गोष्ठी या समाज कहा जाता था। तीसरी परिषद् राजा की मंत्रिपरिषद् थी जिसका उल्लेख 'परिषद्वलो राजा' इस प्रयोग में है (कृष्यासुति परिषदो वलच्, ५।२ ११२)। सूत्र ४।४।१०१ में भी जिस परिषद् का उल्लेख है, वह राजनीति के क्षेत्र का शब्द था (परिषदो ण्यः)। परिषद् या मंत्रिपरिषद् में जो साधु हो अर्थात् उसमें सम्मिलित होने का अधिकारी हो वह पारिषद्य या पारिषद कहलाता था। यह निश्चित है कि परिषद् चरण के अन्तर्गत एक अति प्राचीन संस्था थी जो वहाँ की विद्यासम्बन्धी व्यवस्था करती थी और जिसके अध्यक्ष आचार्य स्वयं होते थे।

चरणों की कार्य प्रणाली — चरणों के सम्बन्ध में अष्टाध्यायी से निम्नलिखित सूचनाएँ प्राप्त होती हैं —

(१) नाम — जैसा पहले कहा जा चुका है चरण का नाम और उसमें अध्येता छात्रों का नाम एक ही होता था। इन नामों के विकास की दो सीढ़ियाँ थीं, जो चरणों के विकास क्रम की सूचक हैं। पहले एक ऋषि या आचार्य ने अपनी प्रतिभा से वैदिक शाखा या ग्रन्थ का प्रवचन किया जो उस चरण की आधार शिला बनी (४।३।१०२)। फिर उस छन्द ग्रन्थ के अध्ययन के लिये छात्र एकत्र होने लगे। उदाहरण के लिये, ऋषि तित्तिरि ने तैत्तिरीय शाखा का प्रवचन किया (तेन प्रोक्तम्)। उसके अध्येता छात्र तैत्तिरीय कहलाए (तित्तिरिणा प्रोक्तमधीयते)। व्याकरण की बात इतनी ही है कि प्रोक्त प्रत्यय के लगाने से बना हुआ तित्तिरि प्रोक्त = तैत्तिरीय, यह शब्द उस प्रोक्त छन्द या शाखा ग्रन्थ के नाम के लिये स्वतंत्र रूप से प्रयुक्त न हो सकता था। उस शाखा को पढ़ने वाले छात्रों को सूचित करने के लिये उसी तैत्तिरीय शब्द में अध्येतृ-वेदितृ वाची दूसरा प्रत्यय जुड़ता था (छन्दो ब्राह्मणानि च तद्विषयाणि, ४।२।६६) और तब तैत्तिरीय शब्द से नया चरण

वाची अर्थ प्रकट होता था। इसे यों समझना चाहिए—तित्तिरि + छ (प्रोक्त प्रत्यय) + छ (अध्येतृ वेदितृ प्रत्यय)।

ऊपर दो अर्थों में दो प्रत्यय हैं। दूसरे प्रत्यय का लोप हो जाता है (प्रोक्ताल्लुक्, ४।२।६४) पर उसका अर्थ बना रहता है। पहला प्रत्यय बना रहता है पर उसका अर्थ नहीं रहता। शाखा वाची और चरणवाची दोनों शब्दों का रूप एक सा ही था पर अर्थों में भेद था। चरण के अर्थ में शब्द का प्रयोग लोक में चालू था, शाखा के लिये नहीं। इसी नियम को पाणिनि ने 'तद्विषयता' कहा है। जितना भी साहित्य चरण के अन्तर्गत बनता गया, सब में तद्विषयता का नियम लागू होता गया, अर्थात् सब का नामकरण चरण के नाम से ही हुआ। सौ दो सौ वर्षों में भी जो रचनाएं हुईं उनके नाम चरण के नाम पर ही पड़े अर्थात् चरण के संस्थापक मूल आचार्य के नाम से ही उसकी शाखा, उसके विद्यार्थी और अध्यापक एवं उनके साहित्य का नाम पड़ा। तैत्तिरीय शाखा का अर्थ तित्तिरि प्रोक्त शाखा न हो कर, तैत्तिरीय चरण वालों का छन्दोग्रन्थ, ऐसा समझना चाहिए। प्राचीन भारत की वैदिक शिक्षा संस्थाओं में नामकरण का यह सिद्धान्त बहुत ही महत्वपूर्ण था। इसका परिणाम बहुत दूर तक हुआ। उदाहरण के लिये इतिहास-पुराण का विकास अथर्ववेद के समय में हो चुका था (अथर्व. १५।६।११)। छान्दोग्य में इतिहास पुराण विद्या को पंचम वेद कहा गया है। उसका अध्ययनाध्यापन भी चरण के अन्तर्गत होने लगा। पाराशर्य वेदव्यास के चरण ने इस नूतन विषय को पल्लवित किया। फल यह हुआ कि पुराण ग्रन्थों का कर्तृत्व वेदव्यास के नाम से प्रसिद्ध हो गया और चारसहस्र श्लोकात्मक मूलपुराण संहिता यद्यपि कालक्रम से सौगुनी बढ़कर चार लक्ष श्लोक के बराबर हो गई तो भी उसके समस्त साहित्य पर वेदव्यास के नाम की ही छाप लगी रही।

(२) चरणों का उदय और प्रतिष्ठा—एक आचार्य के केन्द्र से आरम्भ होकर चरणों का देश और काल में विस्तार होता जाता था। आजकल के विद्यालयों की भाँति यह न समझना चाहिए कि किसी स्थान विशेष में कोई चरण सीमाबद्ध था। जहाँ-जहाँ आचार्य से पढ़े हुए अन्तेवासी और फिर उन अन्तेवासियों के शिष्य फैलते जाते वे सब उसी चरण के नाम से प्रसिद्ध होते थे। यही विद्या सम्बन्ध या गुरु शिष्य पारम्पर्य सम्बन्ध वास्तविक चरण था। पतञ्जलि ने लिखा है कि कठ और कालाप चरण गाँव-गाँव में फैल गए थे जहाँ उनके ग्रन्थों की शिक्षा देनेवाले विद्वान् जा बसे थे (ग्रामे ग्रामे काठकं कालापकं च प्रोच्यते, भाष्य ४।३।१०१)। चरणों के उदय और फैलने के विषय में पाणिनि ने लोक की वास्तविक स्थिति का इस सूत्र में संकेत किया है- अनुवादे चरणानाम् (२।४।३)। जो बात पहले से लोक प्रसिद्ध थी उसीका कथन अनुवाद कहा जाता था (प्रमाणान्तरावगतस्यार्थस्य शब्देन संकीर्तन मात्रमनुवादः, काशिका)। कात्यायन ने कहा है कि पाणिनि को

इस सूत्र में जो प्रयोग इष्ट थे उनमें स्था और इण् धातुओं के भूतकाल के रूप बोले जाते थे (स्थेणोः, अद्यतन्यां च)। पतंजलि ने 'उदगात्' और 'प्रत्यस्थात्' इन दो रूपों का उल्लेख किया है जिनके द्वारा दो चरणों के एक साथ उदय और प्रतिष्ठा की बात कही जाती थी। जैसे, उदगात् कठकालापम्; प्रत्यष्ठात्कटकौथुमम्; उदगान्मौदपैप्पलादम्। लोक में यह तथ्य भलीभाँति विदित था कि कठकालाप चरणों की इस प्रकार उन्नति हुई और उन्हें ऐसे सर्वत्र दृढ़ स्थिति प्राप्त हुई। उसी तथ्य को जानने वाला व्यक्ति बातचीत के सिलसिले में कहता था—कठकालाप चरणों के साथ ऐसा उदय हुआ, कठकौथुम चरणों को ऐसी प्रतिष्ठा मिली। इन्हीं वाक्यों को पाणिनि ने अनुवाद कहा है, अर्थात् जानी बूझी बात को फिर कहना। वैदिक चरण भौगोलिक क्षेत्र में और उनमें पनपनेवाले विषयों की दृष्टि से भी शीघ्र उन्नति कर रहे थे। उसी पृष्ठभूमि की ओर ऊपर के सूत्र का संकेत है।

(३) अनुवाद—अभी जिस परिस्थिति का उल्लेख किया है, उससे कुछ भिन्न अर्थ में यहाँ अनुवाद शब्द है। अनोरनुक्रमात् सूत्र (१।३।४९) में दो चरणों के पारस्परिक विद्यासम्बन्ध की ओर संकेत है, जैसे अनुवदते कठः कालापस्य, अनुवदते मौदः पैप्पलादस्य, कठ चरण के छात्र कालापचरण के समान छन्द का पाठ करते हैं (यथा कालापोऽधीयानो वदति तथा कठः, काशिका)। कठ और कालाप दोनों कृष्णयजुर्वेद के एवं मौद और पैप्पलाद दोनों अथर्ववेद के चरण थे। चरणों में ज्ञानसाहचर्य के ये उदाहरण हैं। पाणिनि ने कार्त कौजपादि गण में (६।२।३७) कठकालापाः, कठकौथुमाः, कौथुमलौगाक्षाः, मौदपैप्पलादाः उदाहरणों में उन उन चरणों के बौद्धिक सहयोग का उल्लेख किया है।

(४) चरण-प्रवेश—छात्रों के चरणों में प्रविष्ट होने को 'तद् अवेत' कहा गया है (५।१।१३४), जैसे 'काठिकाम् अवेतः' का तात्पर्य था कि वह छात्र कठ चरण का ब्रह्मचारी या उसके आचार्य का अन्तेवासी बन गया (कठत्वं प्राप्तः — काशिका)।

यद्यपि कठ चरण के आचार्य और छात्र दूर दूर तक फैले हुए होते थे पर उनका परस्पर एक समूह था जिसे काठक कहते थे (कठानां समूहः काठकम्, कालापकम्, छान्दोग्यम्, औक्थिक्यम्, आथर्वणम् (चरणेभ्योधर्मवत्, ४।२।४६)। कठचरण अथवा सभी चरणों का आन्तरिक संगठन संघ पद्धति पर होता था जिसे काठक संघ, शाकल संघ आदि नामों से पुकारा जाता था। संघ शासन ही उस समय सार्वजनिक संस्थाओं का आदर्श था। आज फिर ठीक वैसी ही स्थिति हो गई है। इस समय जो सार्वजनिक संस्थाएँ संगठित होती हैं वे संघ के संविधान को ही अपना आदर्श बनाती हैं।

(५) चरणों की सदस्यता—एक ही चरण के छात्र परस्पर सब्रह्मचारी कहलाते थे (चरणे ब्रह्मचारिणि, ६।३।८६)। शिक्षा संस्था के आधार पर निर्मित

इस सम्बन्ध का सामाजिक महत्त्व था। याज्ञवल्क्य के अनुसार व्यक्ति के नाम और गोत्र के साथ उसके चरण का नाम भी कानूनी कागज पत्रों में लिखा जाता था। ताम्रपत्रों में प्रायः ब्राह्मणों के नामों के आगे उनके चरण का नाम भी मिलता है।

पतंजलि ने चरण विषयक पूछ ताछ का यह रूप दिया है—'किं सब्रह्मचारी त्वम्', अर्थात् आप किस चरण के ब्रह्मचारी हैं, आपके सब्रह्मचारी या सहपाठी किस चरण के हैं ? उनका कहना है कि इस प्रश्न को तीन तरह पूछ सकते हैं—

(१) के सब्रह्मचारिणः तव—आपके चरण सहपाठी कौन थे ?
(२) किं सब्रह्मचारीत्वम्—आप किन के सहपाठी हैं ?
(३) कः सब्रह्मचारी तव—अपका सहपाठी कौन है ?

बात एक ही है। इस प्रश्न से यही जानना इष्ट था कि व्यक्ति का सम्बन्ध किस चरण से था। चाहे इसे सीधे पूछलें, या घुमाफिरा कर। जैसे आज हम कहें—आपका विश्वविद्यालय कौन है ? किस विश्वविद्यालय से आप उत्तीर्ण हैं ? आपकी पदवी किस विश्वविद्यालय की है ? भाषा की विविधता के ही ये सूचक हैं।

(६) स्त्री छात्राएँ—जातेरस्त्रीविषयादयोपधात् (४।१।६३) सूत्र पर पतंजलि ने लिखा है कि स्त्रियाँ भी चरण नामक शिक्षासंस्थाओं में प्रविष्ट होती थीं। 'गोत्रं च चरणैः सह' उल्लेख में यह स्वीकार किया गया है कि गोत्र और चरण ये दोनों जातियों का स्वरूप ले रहे थे। उदाहरण के लिये कठचरण में प्रविष्ट स्त्री कठी, उन में जो विशेष संमानित होती वह पूज्ममान कठी और जो अग्रपद की अधिकारिणी होती वह कठवृन्दारिका कहलाती थी। कठचरण की सदस्या होने के नाते जो अपने को गौरवान्वित समझती उसके लिये कठमानिनी यह विशेषण भाषा में चल गया था। कठजातीय और कठदेशीय शब्द से उनका अभिधान होता था जो कठचरण में पूरे समय तक रहकर उसकी शिक्षा परिसमाप्त न कर सके हों (५।३।६७ ईषद् समाप्तौ कल्पब्देश्य देशीयरः), बल्कि कठ जाति या कठ देश से सम्बन्धित होने के कारण जिनमें कठत्व का भाव आ गया हो।

(७) चरण जनित गौरव - प्रसिद्ध चरणों की सदस्यता के आधार पर समाज में विद्वानों को आदर मिलता था। कुछ लोग इस स्थिति से लाभ उठाकर औरों की तुलना में स्वयं अपने आप को अधिक गौरवशाली समझने लगते थे। पाणिनि ने इस भाव को श्लाघा कहा है, जैसे 'काठिकया श्लाघते', कठ होने के नाते वह अपना बड़प्पन दिखाता है। कभी कभी इसी मनोवृत्ति के लोग अपने से कम प्रतिष्ठित दूसरे चरण के सदस्यों को हेटी की निगाह से देखते थे। इसे पाणिनि ने

श्रत्याकार कहा है, जैसे काठिकया श्रत्याकुरुते (गोत्र चरणाच् श्लाघात्याकार तद्-वेतेषु ५।१।१३४)। यह ऐसे ही हुआ जैसे आजकल कोई आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय से पदवी प्राप्त स्नातक उसी कारण अपनी शेखी बघारे, या दूसरों को हीन समझे।

(८) ज्ञानसाधना का आदर्श—अनेक गुरु शिष्यों ने मिलकर पीढी दरपीढी जो ज्ञानसाधना की थी, उस सबकी परम्परा के रक्षक चरण थे। आचार्यरूपी मूल बीज से जो महान् प्रज्ञा स्कन्ध या विद्याविटप जन्म लेता था, उसी की शाखा-प्रशाखाओं के रूप में चरणों के विद्वान् गुरु और शिष्य देश में सर्वत्र फैल जाते थे। यह बड़ी ही प्रशंसनीय और स्वाभाविक स्थिति थी, जिसमें स्वेच्छा से व्यक्ति के अधिकतम प्रयत्न की अभिव्यक्ति होती थी। ज्ञान साधन की इन परम्पराओं का मूर्तरूप वह वाङ्मय है जिसका इन चरणों में निर्माण हुआ। इनमें सबसे विशिष्ट, सबसे विशाल और सबसे गम्भीर वह साहित्य था जो ब्राह्मणों के रूप में आज मिलता है। वैदिक मन्त्रों के अध्यात्म, अधिदैवत, अधिभूत और अधियज्ञ अर्थों की जैसी निश्चित ऊहापोह ब्राह्मण ग्रन्थों में मिलती है, अन्यत्र नहीं। ब्राह्मण ग्रन्थ वैदिक अर्थों के शीर्षस्थानीय हैं। उनकी अर्थवती शैली देखकर मुग्ध हो जाना पड़ता है। इन्द्र, अग्नि, यज्ञ, प्राण, अमृत, सोम आदि शत-सहस्र शब्दों के जितने प्रकार के भिन्न भिन्न क्षेत्रों में अर्थ ब्राह्मण ग्रन्थों में दिए हैं, वह चरणों की विराट् निधि थी, जिसकी संप्राप्ति के लिये अनेक आचार्यों ने अर्थों का अन्वेषण किया था। पाणिनि ने साहित्य के उन रूपों का उल्लेख किया है, जिनका विकास उनके समय तक चरणों में हो चुका था। इनमें चार प्रकार के ग्रन्थ मुख्य थे—(१) वैदिक छन्द या शाखा, (२) ब्राह्मण ग्रन्थ, (३) कल्प ग्रन्थ, जैसे श्रौत सूत्र, और (४) धर्मसूत्र। इसके अतिरिक्त कुछ चरणों ने नये विषयों में भी रुचि ली। उनमें भिक्षु सूत्र और नट सूत्र जैसे विषयों का सूत्रकार ने स्वयं उल्लेख किया है। धर्मसूत्रों की अवस्था तक आते आते विद्याओं का बटवारा स्वतः होने लगा। एक ओर वैदिक और यज्ञीय विषय थे, एवं दूसरी ओर वैज्ञानिक और लौकिक विषय थे। दोनों में बिलगाव होने लगा। यह प्रवृत्ति उस ज्ञानप्रधान युग की स्वाभाविक मांग थी, जिसका पर्यवसान एक ओर यास्क और पाणिनि एवं दूसरी ओर बुद्ध और महावीर, अथवा बृहस्पति और मंखलि गोसाल जैसे स्वतन्त्र विचारकों के रूप में हुआ। इन सब के प्रयत्न से भारी साहित्य चरणों के बाहर निर्मित हुआ, किन्तु श्रद्धा और मेधा, दीक्षा और तप के जिन चोखे नियमों की परम्परा चरणों में पड़ गई थी, वह आगे भी भारतीय शिक्षा प्रणाली में बनी रही (देखिए २।४।१४, दीक्षा-तपसी, श्रद्धातपसी, मेधातपसी, अध्ययनतपसी, श्रद्धामेधे)।

चरणों में जो परिषदें थीं, उन्होंने स्वयं शिक्षा, व्याकरण, निरुक्त, छन्द आदि विषयों के अध्ययन का मार्ग प्रशस्त करने में नेतृत्व दिया, जैसा कि चरणों के उपलब्ध पार्षद साहित्य या प्रातिशाख्य ग्रन्थों से ज्ञात होता है।

यह स्मरणीय है कि अपनी अपनी शाखा या उनसे संबन्धित ब्राह्मण या सूत्रग्रन्थ रखते हुए एक ही वेद के कई चरण मिलकर समान प्रातिशाख्य ग्रन्थ का अध्ययन करते थे। प्रातिशाख्य शब्द का अर्थ ही था, वह ग्रन्थ जो एक वेद की कई या सब शाखाओं से संबंधित हो (शाखादिभ्यो यः, ५।३।१०३; शाखेव शाख्यः, वृक्षादीनामिव शाखेवास्य वेदकल्परुहोऽवयवाः शाखाः, शाख्यं शाख्यं प्रतीति प्रातिशाख्यम्, तदधि कृतं प्रातिशाख्यम्—दुर्गाचार्य)।

(९) चरणों का संघ आदर्श—चरणों का आन्तरिक संगठन संघों के आदर्श पर हुआ था। पाणिनि काल में संघ भारतीय राजनीति की जीती-जागती संस्थाएं थीं। उनके अनेक रूप और संविधान थे, जैसा कि हम आगे देखेंगे। ज्ञान और शिक्षा के क्षेत्र में वही आदर्श लोगों को प्रेरित कर रहा था, अतएव चरणों के प्रबन्ध एवं व्यवस्था संबन्धी नियम संघों की स्वायत्त प्रणाली पर ही बनाए जाते थे। पाणिनि ने इस प्रकार की संस्थाओं का उल्लेख करते हुए शाकल आचार्य की शाकल संहिता का अध्ययन करने वाले शाकल नामक गुरु शिष्यों के संघ का उल्लेख किया है। वह शाकल या शाकलक कहलाता था (शाकलाद् वा ४।३।१२८; शाकलेन प्रोक्तमधीयते शाकलाः, तेषां सङ्घः)। स्पष्ट है कि न केवल शाकल बल्कि दूसरे चरणों की भी सामाजिक और आर्थिक इकाई थी और उस व्यवहार पक्ष को ठीक रखने के लिये उन्हें अपनी मुद्रा या मुहरें भी रखनी पड़ती थीं, जिनपर उनके अंक और लक्षण उत्कीर्ण होते थे। इसी के लिये भाषा में शाकलोऽङ्कः, शाकलं लक्षणम् इस प्रकार के शब्दों का पाणिनि ने विधान किया है (संघाङ्कलक्षणेषु अञ्_ यञ्_ इञामण्, ४।३।१२७; शाकलाद् वा, ४।३।१२८)। उनके घोष या ग्रामादिक सन्निवेशों का नाम भी इसी प्रकार पड़ता था जैसे शाकलः-शाकलकः घोषः।

अध्याय ५, परिच्छेद २ विद्या

विद्या की प्रवृत्तियाँ—विद्या की प्रवृत्तियों के माध्यम और साधन इस प्रकार थे—(१) आचार्य, प्रवक्ता, श्रोत्रिय, उपाध्याय आदि गुरु, (२) नियमित ब्रह्मचर्य प्रणाली द्वारा अध्येता छात्र, (३) चरक संज्ञक विचरण करनेवाले विद्वान्, (४) चरण आदि शिक्षा संस्थाएँ, (५), परिषत् और विद्वानों की सभाएं, (६) विवाद, व्याख्यान, शास्त्रार्थ आदि विषयानुसन्धान के विविध रूप, (७) बहु प्रकार से ग्रन्थ लेखन, (८) वाङ्मय। इन सब उपायों और प्रयत्नों का मिलकर इतना भारी परिणाम हुआ कि सूत्र युग में शिक्षा और विद्या का देशव्यापी प्रचार हो गया और विद्या का मानदण्ड बहुत ऊंचा उठ गया।

भूयसी विद्या का आदर्श—समाज में शिक्षा का क्रम किस रूप में ढाला जाय यह बात प्रत्येक युग में स्वीकृत शिक्षा के आदर्श पर निर्भर करती है। आचार्य

और अन्तेवासी अर्थात् पढ़ानेवाले और पढ़नेवाले दोनों ही उस आदर्श से प्रेरित होते हैं। आकाश में स्थित विष्णुपद नक्षत्र के समान उस ऊँचे आदर्श की ओर सबकी आँखें लगी रहती हैं। इस प्रेरणात्मक शक्ति से ही विद्या का मानदण्ड ऊँचा उठता है। महाजनपद युग में शिल्प-कौशल और शास्त्रीय शिक्षा इन दोनों के विषय में यास्क ने अपने समय की भावनाओं को प्रकट करते हुए लिखा है -

जानपदीषु विद्यातः पुरुषो भवति, पारोवर्यवित्सु तु खलु वेदितृषु भूयोविद्यः प्रशस्यो भवति।

यहाँ दो प्रकार की शिक्षा पद्धति का उल्लेख है। एक पेशेवर लोगों की शिल्प शिक्षा का जिसे जानपदी कहा जाता था, और दूसरे चरणों के परम्परा प्राप्त साहित्य की शिक्षा का। जानपदी को पाणिनि ने वृत्ति के अर्थ में सिद्ध किया है (४।१।४२)। जनपदों में फैले हुए जो सैंकड़ो प्रकार के शिल्प थे, उनमें कुशलता प्राप्त करनेवाले पुरुष विशेष समझे जाते थे, अर्थात् पेशेवरों की बिरादरी में सम्मान पाते थे। कोई वास्तु-विद्या का श्रेष्ठ आचार्य होता, कोई धनुर्विद्या का, कोई नृत्य और संगीत का। इनके उल्लेख बहुधा जातकों में मिलते हैं। इसी प्रकार चरण नामक शिक्षा संस्था में जो बौद्धिक शिक्षा या ज्ञान साधना की जाती थी, उस क्षेत्र में भी जो व्यक्ति जितना ऊँचा उठता, वह उतना अधिक सम्मान पाता था। पीढ़ी दरपीढ़ी गुरु शिष्य परंपरा से जो ज्ञान पर और अवर अर्थात् पुराने और नए साहित्य के रूप में संगृहीत हो जाता था, उसे ही यास्क ने पारोवर्य कहा है। इस पारोवर्य ज्ञान का उपार्जन करने वाले चरणों के अध्येतृ-वेदितृ विद्वान होते थे। उनमें भी अध्येतृ वर्ग का अन्तर्भाव आगे चलकर वेदितृ विद्वानों में ही हो जाता था। ऐसे विद्वानों में जो भूयोविद्य होते थे, वही प्रशस्य या श्रेष्ठ संमान के अधिकारी समझे जाते थे (निरुक्त १।१।१६)। भूयोविद्य एक विशिष्ट शब्द है, इसका संकेत उन विद्वानों की ओर है, जो चरण साहित्य के अनेक अंगों में पारगामी होते थे। इस साहित्य का अपरिमित विस्तार स्वयं पाणिनि की अष्टाध्यायी से प्रमाणित होता है। छन्दः, ब्राह्मण, अनुब्राह्मण, कल्प, धर्म, व्याकरण, काव्य, नाट्य, आख्यान (४।३।११०-१११), गाथा, श्लोक (३।२।३०), क्रतु, उक्थ, व्याख्यान, अनुव्याख्यान, पारायण यज्ञ मीमांसा आदि अनेक विषयों का विकास चरण और उनके बाहर किया जा रहा था। भूयोविद्य का आदर्श उस बहुश्रुत विद्वान् में चरितार्थ होता था जो इस वाङ्मय की अधिक से अधिक विद्याओं में योग्यता प्राप्त करता था। पाणिनि ने कई प्रकार के विद्वानों का उल्लेख किया है, जो उस उस साहित्य में विशेषज्ञ होते थे। जैसे वेद के सरहस्य ज्ञान के लिये आचार्य, छन्दों के अध्ययन या कण्ठस्थ करने के लिये श्रोत्रिय, प्रोक्त साहित्य का प्रवचन करने या पढ़ाने के लिये प्रवक्ता, धार्मिक साहित्य के लिये आख्याता, वेदांगों के लिये अनूचान और साधारण लौकिक ग्रन्थों के पढ़ाने के लिये अध्यापक होते थे। एक एक विषय में प्रवीण विशेषज्ञ विद्वानों की बाढ़ सी आ गई थी। वस्तुतः प्रत्येक विद्या या प्रत्येक ग्रन्थ

अपने अपने विशेषज्ञ के रूप में समाज में प्रतिष्ठित होता था। इस प्रकार के तद् वेद विद्वानों को ही यास्क ने वेदितृ कहा है। एक एक विषय के अनेक वेदितृ विद्वानों में जो कोई बहुत सी विद्याओं या विषयों का विद्वान् होता था, वही भूयोविद्य इस सम्मानित पद का अधिकारी समझा जाता था। भूयोविद्य से भी उच्चतर कोटि में सर्वविद्य ब्रह्मा की उपाधि थी (ब्रह्मा सर्वविद्यः सर्वं वेदितुमर्हति, निरुक्त १।१।१३)। उसे वही पाणिनि (५।४।१०५) और जातकों में महाब्रह्मा कहा है (दे० पूर्व पृ० ९२।

पाणिनि ने अलग-अलग वेदितृ विद्वानों की लम्बी सूची दी है। उदाहरण के लिये, क्रतु या सोमयज्ञ के विशेषज्ञ उसी सोमयज्ञ के नाम से प्रसिद्ध होते थे, जैसे अग्निष्टोम और वाजपेय के ज्ञाता आग्निष्टोमिक और वाजपेयिक कहलाते थे (तदधीते तद्वेद—क्रतूक्थादि सूत्रान्तात् ठक् ४।२।५९–६०)। उक्थों का अध्ययन करने वाले औक्थिक, क्रमपाठ का अध्ययन करने वाले क्रमक और पदपाठ के विशेषज्ञ पदक कहलाते थे (४।२।६१)। यास्क ने लिखा है कि पार्षद ग्रंथ या प्रातिशाख्यों के ऊहापोह का मूल आधार पदपाठ था (पदप्रकृतीनि सर्वचरणानां पार्षदानि, निरुक्त १।१८)। अतएव पदपाठ का विशेष अध्ययन करने वालों की आवश्यकता थी। ब्राह्मण और अनुब्राह्मण ग्रन्थों के विशेषज्ञ भी थे (४।२।६२, अनुब्राह्मणादिनिः) वेदांग साहित्य के विशेषज्ञों में वैयाकरण (६।३।७), नैरुक्तिक, याज्ञिक (४।३।१२९) आदि थे। वस्तुतः शिक्षा के क्षेत्र में नई प्रवृत्ति विशेषज्ञों का निर्माण था, जिसका तात्पर्य यह हुआ कि बहुधा लोग एक-एक विषय में प्रवीणता प्राप्त करके सन्तुष्ट हो जाते थे। इसलिये भी भूयोविद्य व्यक्ति विशेष प्रशंसनीय समझा जाने लगा। इस प्रकार के बहुश्रुत विद्वान चरणों के प्राचीन आदर्श के मूर्त रूप थे। वह आदर्श अब शीघ्रता से बदल रहा था। सूत्र ४।२।६० पर पतंजलि ने तदधीते तद्वेद विद्वानों के जो उदाहरण दिए हैं, उनसे इस बात पर अधिक प्रकाश पड़ता है कि एक-एक विषय या ग्रन्थ के अध्ययन कर लेने मात्र की प्रथा कितनी आगे बढ़ चुकी थी। इस प्रकार की प्रवृत्ति का आरम्भ यास्क और पाणिनि के युग में ही हो गया था। पतंजलि ने अङ्ग विद्या के जानने वालों को आङ्ग विद्य, वायसविद्या या पक्षिशास्त्र के जानकार लोगों को वासयविद्यिक या वायोविद्यिक, गाय और घोड़ों के लक्षण ग्रन्थों का अध्ययन करने वालों को गौलक्षणिक, आश्वलक्षणिक, क्षत्रविद्या के विद्वानों को क्षात्रविद्य कहा है। और भी कई प्रकार का साहित्य पतंजलि के समय तक बन चुका था, यहाँ तक कि एक एक कथा ग्रन्थ या कहानी के विशेषज्ञ उस-उस नाम से पुकारे जाने लगे थे। उदाहरण के लिये यवक्रीत का आख्यान जाननेवाले यावक्रीतिक (वनपर्व अ० १३३–१३८ में वर्णित; भण्डारकर प्राच्य-संस्थान की पत्रिका में मेरा लेख २१।२८२); ययाति के उपाख्यान के विशेषज्ञ यायातिक (देखिए ६।२।१०३ के उदाहरण, महाभा० आदिपर्व); वासवदत्ता की कहानी जानने या कहनेवाले वासवदत्तिक नाम से लोक में प्रसिद्ध हो जाते थे। शौरि वसुदेव की पत्नी प्रियंगुसुंदरी की कथा के विशेषज्ञ 'प्रैयंगविक' थे। यहाँ

तक कि सुमनोत्तरा नाम की विशेष कहानी जिसका बौद्ध साहित्य में उल्लेख है, जानने और कहनेवाले सौमनोत्तरिक कहे जाते थे (मललशेखर, पालिनामों का कोश, १।३६१)। इन शब्दों की भाषा में क्यों आवश्यकता हुई, इसपर विचार करने से ज्ञात होता है कि पाणिनि से लेकर पतंजलि के युग तक सब प्रकार की विद्याओं की शिक्षा का इतना अधिक विस्तार हुआ था, और एक-एक विषय और ग्रन्थ में जनता की रुचि इतनी अधिक जाग्रत हो गई थी, कि समाज में ऐसे विद्वानों की आवश्यकता प्रायः पड़ती थी। यह ऐसे हुआ जैसे अब से सौ वर्ष पूर्व आल्हा गानेवाले अल्हैत या लोरिकायन गानेवालों की विशेष मांग देहातों में रहती थी। न केवल खेल-तमाशे बल्कि नाटक और कहानियों में भी लोगों की जो बढ़ी हुई रुचि थी, उसपर जातकों से प्रकाश पड़ता है। पाणिनि ने भी स्वयं आख्यानसाहित्य और उसके विशेषज्ञों का उल्लेख किया है (६।२।१०३)।

चरक—ऊपर कहा जा चुका है कि माणव, अन्तेवासी और चरक—तीन कोटि के विद्यार्थी होते थे। पाणिनि ने एक सूत्र में माणव और चरक इन दोनों का साथ उल्लेख किया (माणवचरकाभ्यां खञ् ५।१।११)। माणव के लिये हितकारी इस अर्थ में माणवीन और चरक के लिये हितकारी इस अर्थ में चारकीण शब्द प्रयुक्त होते थे। वैशम्पायन का भी नाम चरक पड़ गया था। संभवतः एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाकर ज्ञान का प्रचार करने के कारण उनकी यह संज्ञा हुई। अवश्य ही वैशम्पायन के बहुत से अन्तेवासी शिष्य थे, जिन्होंने भिन्न भिन्न स्थानों में फैलकर स्वयं अपनी शाखाओं का विकास किया और नए चरणों की स्थापना की (कलापि-वैशम्पायनान्तेवासिभ्यश्च ४।३।१०४)। उनके नौ प्रमुख शिष्य प्रत्यक्षकारी अर्थात् स्वयं शाखाओं का प्रवर्तन करनेवाले थे[1]। आचार्य कुल में ब्रह्मचर्य की अवधि समाप्त कर लेने पर भी जो उच्चतर ज्ञान की खोज में विचरते थे, ऐसे उत्तम विद्वानों के लिये चरक यह अन्वर्थ नाम उस समय था। जातकों में तक्षशिला विश्वविद्यालय के विद्यार्थियों के लिये 'चारिकं चरन्ता' कहा गया है, जो अध्ययन समाप्त करके स्वयं देशाचार का परिज्ञान करने के लिये यात्रा करते थे (सोनक जातक ५।२४७)। बृहदारण्यक उपनिषत् में भुज्यु लाह्यायनि ने याज्ञवल्क्य से कहा कि वह मद्रदेश में अपने साथियों के साथ चरक बनकर विचर रहा था (मद्रेषु चरकाः पर्यव्रजाम, बृह० उप० ३।३।१)। श्युआन् चुआङ् ने पाणिनि के विषय में भी लिखा है कि शब्द सामग्री की खोज में उन्होंने दीर्घयात्रा की और विद्वानों से मिलकर पूछ-ताछ की। यही उनका 'चरक' रूप था।

---

[1] वैशम्पायनान्तेवासिनो नव—

(१) आलम्बि, पलङ्ग, कमल, ऋचाभ, आरुणि, तण्डि, श्यामायन, कठ, कलापी। वैशम्पायन के शिष्य भी चरक कहलाते थे (चरक इति वैशम्पायनस्य आख्या, तत् संबन्धेन सर्वे तदन्तेवासिनश्चरका इत्युच्यन्ते—काशिका)।

ग्रन्थ निर्माण—अपने-अपने विषयों के विद्वान् नूतन ग्रन्थ रचना द्वारा अपनी विद्या को सफल बनाते थे। विभिन्न विषयों पर लिखे जाने वाले (अधिकृत्य कृते ग्रंथे ४।३।८७) अथवा विशेष विद्वानों द्वारा अपने प्रयत्न से निर्मित ग्रन्थों का पाणिनि ने उल्लेख किया है (कृते ग्रन्थे ४।३।११६)।

इतने प्रकार के रचयिताओं का नामोल्लेख किया गया है—(१) मन्त्रकार, (२) पदकार, (३) सूत्रकार, (४) गाथाकार, (५) श्लोककार (न शब्द श्लोक कलह गाथा वैरचाटु सूत्र मन्त्र पदेषु ३।२।२३)। इन शब्दों में उन विभिन्न साहित्य रूप और शैलियों के नाम हैं, जो उस समय तक प्रचलित हो चुकी थीं।

शब्द विद्या या व्याकरण शास्त्र की उस युग में बहुत उन्नति हो चुकी थी। वैयाकरण को शब्दकार (३।२।२३) या शाब्दिक कहा जाता था (४।४।३४, शब्दं करोति शाब्दिको वैयाकरणः) । पाणिनि ने रचना की दृष्टि से अपने समय के साहित्य को चार भागों में बाँटा है—दृष्ट, प्रोक्त, उपज्ञात और कृत। इनमें उपज्ञात साहित्य पाणिनि के युग की महती विशेषता थी। आपिशलि, यास्क, शाकटायन और पाणिनि जैसे दिग्गज विद्वान् अपने मौलिक चिन्तन और महान् प्रयत्न से नए नए शास्त्रों की उद्भावना कर रहे थे और उन विषयों को नियम-बद्ध करके शास्त्रों का रूप दे रहे थे। यही उस युग की सबसे विशिष्ट साहित्यिक सम्पत्ति थी। इस प्रकार के बुद्धि परक प्रयत्न को पाणिनि ने उपज्ञा कहा है। जो नया ज्ञान इस रूप में पहली बार नियमबद्ध किया जाता था, उसे आद्य आचिख्यासा कहते थे (उपज्ञोपक्रमं तदाद्याचिख्यासायाम् —२।४।२१; उपज्ञाते ४।३।११५; ६।२।१४) इन आचार्यों ने शास्त्र रचना में कितना प्रयत्न किया था, इसका कुछ आभास पतंजलि के इस वाक्य से मिलता है—महता यत्नेन सूत्रं प्रणयति स्म। पाणिनि ने अत्यन्त परिष्कार पूर्वक जिन सूत्रों की रचना की, उन्हें प्रतिष्णात कहा है, अर्थात् जो विषय ज्ञान-समुद्र में डूबकर ऊपर उतिराता था वह प्रतिष्णात कहा जाता था (८।३।९०, प्रतिष्णातं सूत्रम्)। ग्रन्थकर्ता ग्रन्थनिर्माण में जिस लगन से काम करते थे, इसका कुछ संकेत भासन, ज्ञान, यत्न, (१।३।४७), वृत्ति (= मूल मन्त्रों या सूत्रों पर वृत्ति लेखन), तायन (१।३।३८), सम्मानन (१।३।३६) आदि शब्दों में पाया जाता है।

एक प्रकार की साहित्यिक रचना को प्रकथन कहा गया है (१।३।३२)। यह एक प्रकार से आशु कविता थी, जैसे गाथाः प्रकुरुते (काशिका)। ज्ञात होता है कि गाथाकार से तत्काल ही छन्दोबद्ध कविता करने की आशा की जाती थी। पारिप्लव आख्यान में कहा गया है कि वीणागाथी (अथवा वीणागणगिन्) अपनी बनाई हुई गाथाओं को वीणा पर गाता था (स्वयं संभृता गाथा गायति, शतपथ ब्रा० १३।४। ३।५)। गै धातु से जिस गाथक शब्द की व्युत्पत्ति सूत्र में की गई है, उसका संबंध मूल में गाथाकार से ही ज्ञात होता है।

ग्रन्थों का नामकरण– ग्रन्थों के नामकरण के दो हेतु आचार्य ने कहे हैं, एक तो लेखक के नाम से (कृते ग्रन्थे, ४।३।११६), जैसे वररुचि के बनाए हुए श्लोक वाररुचाः श्लोकाः। दूसरे जिस विषय का प्रतिपादन ग्रन्थ में होता था उसके नाम से भी ग्रन्थ का नाम रखा जाता था (अधिकृत्य कृते ग्रन्थे, ४।३।८७), जैसे सौभद्र (सुभद्रा के आख्यान का ग्रन्थ); यायात (ययाति के आख्यान का ग्रन्थ); गौरी मित्र (कोई अज्ञात कथा ग्रन्थ)। विषय पर आश्रित ग्रन्थों के कुछ नामों का उल्लेख स्वयं पाणिनि ने किया है जैसे शिशुक्रन्दीय (बच्चे की रोने की घटना पर लिखा हुआ नाटक या काव्य, सम्भवतः कृष्णजन्म की कथा इसका विषय था); यमसभीय (यमराज की सभा पर आश्रित ग्रन्थ); इन्द्र जननीय (इन्द्र जन्म की कथा पर आश्रित नाटक या काव्य (४।३।८८)।

व्याख्यान– व्याख्यान ग्रन्थों का निर्माण भी होने लगा था। उनका नाम मूल व्याख्यातव्य विषय के नाम से रखा जाता था (तस्य व्याख्यान इति च व्याख्यातव्य नाम्नः, ४।३।६६), जैसे सुपां व्याख्यानः सौपः ग्रन्थः (सुबन्त शब्दों की व्याख्या करने वाला सौप ग्रन्थ); ऐसे ही तैङ (तिङन्त शब्दों का व्याख्यान ग्रन्थ); कार्त (कृदन्त शब्दों पर व्याख्यान ग्रन्थ); षात्वणत्विक (षत्व णत्व या मूर्धन्य प्रकरण का व्याख्यान ग्रन्थ); नातानतिक नत-अनत या अनुदात्त-उदात्त स्वरों का व्याख्यान ग्रन्थ ।

पाणिनि ने छोटे बड़े अनेक विषयों के व्याख्यान ग्रन्थों का उल्लेख किया है—(१) क्रतु (४।३।६८) (अ) अग्निष्टोमिक (आग्निष्टोम संज्ञक सोम यज्ञ का व्याख्यान ग्रन्थ), (आ) वाजपेयिक (वाजपेय नामक क्रतु का व्याख्यान ग्रन्थ), (इ) राजसूयिक (राजसूय क्रतु का व्याख्यान ग्रन्थ)।

(२) यज्ञ (४।३।६८), गृह्य अग्नि में होने वाले छोटे यज्ञों या इष्टियों के व्याख्यान ग्रन्थ, जैसे पाक यज्ञिक, नावयज्ञिक।

(३) अध्याय (४।३।६९), वैदिक संहिताओं के मन्त्र समूहात्मक प्रकरण, जैसे (अ) वाशिष्ठिक अध्याय (वशिष्ठस्य व्याख्यानः, अर्थात् ऋग्वेद के सातवें मण्डल का जिसमें वशिष्ठ ऋषि के मन्त्र हैं व्याख्यान ग्रन्थ (आ) वैश्वामित्रिक (तीसरा मण्डल)। (४) छोटे फुटकर ग्रन्थ जैसे (१) पौरोडाशिक, (पुरोडाश के सम्बन्धी मन्त्रों का व्याख्यान ग्रन्थ), (२) पुरोडाशिक (पुरोडाश बनाने की विधि बताने वाला ग्रन्थ); (३) छन्दस्य या छान्दस (छन्द शास्त्र परक ग्रन्थ, ४।३।७१); (४) ऐष्टिक ४।३।७२ इष्टियों का व्याख्यान ग्रन्थ ; (५); पाशुक (पशु-बन्ध यज्ञ अथवा शतपथ के पशुबन्ध प्रकरण, काण्ड ३-५, का व्याख्यान ग्रन्थ); (६) चातुर्होतृक चतुर्होताओं द्वारा प्रयुक्त यज्ञ कर्म का व्याख्यान ग्रन्थ); (७) पञ्चहोतृक (पञ्चहोतृसंज्ञक यज्ञविधि का व्याख्यान ग्रन्थ जिसमें पाँच देवों का

आवाहन किया जाता है); (८) ब्राह्मणिक (ब्राह्मणग्रन्थ या उसके एक अंश या प्रकरण का व्याख्यान ग्रन्थ; (९) आर्चिक (ऋचाओं का व्याख्यान ग्रन्थ); (१०) प्राथमिक (सम्भवतः प्रधानोपसर्जन विषय का व्याख्यान ग्रन्थ); (११) आध्वरिक (अध्वर या सोम यज्ञ का व्याख्यान ग्रन्थ); (१२) पौरश्चरणिक (पुरश्चरण या यज्ञ के लिये पूर्व तैयारी का व्याख्यान ग्रन्थ जिसका शतपथ में उल्लेख है); (१३) नामिक (नाम या संज्ञा शब्दों का व्याख्यान ग्रन्थ); (१४) आख्यातिक (क्रिया रूपों का व्याख्यान ग्रन्थ); (१५) आर्गयन (ऋगयन व्याख्यान अर्थात् ऋग्वेद के पारायण का व्याख्यान ग्रन्थ ४।३।७३ काशिका, ६।२।१५१)।

ऊपर कहे हुए व्याख्यान सम्बन्धी इस विस्तृत साहित्य का उल्लेख तो सूत्रों में (४।३।६८-७२) है। और भी फुटकर कितने ही छोटे विषयों और उन पर लिखे जाने वाले व्याख्यान ग्रन्थों का उल्लेख ऋगयनादिगण में (४।३।७३) विशेष रूप से किया गया है जैसे पद व्याख्यान, छन्दोमान, छन्दोभाषा, छन्दोविचिति, न्याय पुनरुक्त, व्याकरण, निगम, वास्तुविद्या, अङ्ग विद्या, क्षत्रविद्या, उत्पात, उत्पाद, संवत्सर, मुहूर्त, निमित्त, उपनिषत्, शिक्षा आदि। ये सब उस युग में फुटकर अध्ययन के विषय थे जो लोगों के दृष्टिपथ में आ रहे थे या जिन्हें नई मान्यता मिल रही थी। दीघनिकाय के ब्रह्मजाल सुत्त में इस तरह की विद्याओं की सूची है, जिसमें अङ्गविज्जा, वत्थुविज्जा खत्तविज्जा के नाम भी हैं।

सूत्र ग्रन्थों के नाम करण के विषय में पाणिनि ने लिखा है कि अध्यायों की संख्या के अनुसार उनका नाम पड़ता था (संख्यायाः संज्ञा सूत्रा ध्ययनेषु ५।१।५८)। पाणिनि का अपना शास्त्र इसीलिये अष्टक कहलाया (अष्टकं पाणिनीयम्)। व्याघ्रपद्य का सूत्र ग्रन्थ, जिसमें १० अध्याय थे, दशक और काशकृत्स्न का ग्रन्थ जिसमें तीन अध्याय थे, त्रिक नाम से प्रसिद्ध हुआ (दशकं वैयाघ्रपदीयम्, त्रिकं काशकृत्स्नम्)। संभवतः ये दोनों व्याकरण के ग्रन्थ थे। इनका अध्ययन करनेवाले छात्रों का नाम उन्हीं के अनुसार अष्टकाः, त्रिकाः, दशकाः होता था (तदधीते तद्वेद, सूत्राच्च कोपधात् ४।२।६५)।

नामकरण का यही नियम ३० और ४० अध्यायोंवाले दो ब्राह्मण ग्रन्थों में भी लागू होता था (त्रिंशच्चत्वारिंशतो ब्राह्मणे संज्ञायां डण्, ५।१।६२)। तीस अध्याय वाला त्रैंश ब्राह्मण कौषीतकी और चालीस अध्यायवाला चात्वारिंश ब्राह्मण ऐतरेय था (कीथ, ऋग्वेदब्राह्मण भूमिका)। शतपथ के विषय में हमें विदित है कि अध्यायों की संख्या का उसके विकास में महत्त्वपूर्ण स्थान था। इष्टि पशुबन्ध और अग्नि चयन अर्थात् हविर्यज्ञ और सोमयज्ञ का व्याख्यान करनेवाले पहले ९ काण्डों में ६० अध्याय होने से वह षष्टिपथ कहलाता था। पीछे १० वें से १४ वे काण्ड तक के ४० अध्याय और जोड़कर उसका शतपथ नाम हुआ।

तन्त्रयुक्ति - किसी भी रचना के लिये यह आवश्यक है कि सबसे पहले उसकी रूपरेखा निश्चित कर ली जाय, इसे तन्त्रयुक्ति कहते थे। कौटिल्य में ३२ तन्त्रयुक्तियों के नाम हैं। चरक सुश्रुत में भी यह प्रकरण है। चरक में तीन नाम अधिक हैं। प्राचीन तमिल व्याकरण तोलकप्पियम् में भी,जिसका आधार ऐन्द्र व्याकरण था, ३२ तन्त्रयुक्तियाँ कही गई हैं, जिनमें से २२ वही हैं, जो अर्थशास्त्र में है। मीमांसकों ने ग्रन्थरचना की युक्तियों के विषय में सूक्ष्म विचार किया था। उनकी दृष्टि में संगति ग्रन्थ का सबसे बड़ा गुण है, जिसमें कि सारे ग्रन्थ की संगति के साथ साथ प्रत्येक अध्याय, पाद, सूत्र, वाक्य और शब्द की भी परस्पर संगति मिलनी चाहिए। वे मङ्गल को भी मानते हैं। पाणिनि ने भी इन तन्त्रयुक्तियों को स्वीकार किया है। उनमें से पहली तन्त्रयुक्ति अधिकार है। अर्थात् जिस विषय का ग्रन्थ हो उसी मर्यादा के भीतर उसके प्रत्येक भाग का संगत निरूपण होना चाहिए। 'अधिकृत्य कृते ग्रन्थे' (४।३।८७) में आचार्य का उसी ओर संकेत है। अधिकार के नियम को मानकर ही ग्रन्थ में विषय का निरूपण होना चाहिए। पाणिनि का अपना ग्रन्थ नियम और व्यवस्था का आदर्श है। उसमें सैकड़ों अधिकार और प्रकरण परस्पर संगत होते हुए सुव्यवस्थित हैं। उनका त्रिपादी प्रकरण तो रचना कौशल का चमत्कार ही है। विश्लेषण की कितनी सूक्ष्म शक्ति, विषय का कितना अपरिमित विस्तार, कितनी अधिक दृष्टियों से भाषा की छानबीन—ये सब पाणिनीय शास्त्र के महान् और सुविहित होने का प्रमाण देते हैं। उच्चारण के अनेक नियम, शब्दों के अर्थ और वृत्तियाँ, विभिन्न प्रत्यय, नाम और आख्यात के अनेक रूपों की साधनिका, स्वर, गणपाठ, प्रत्याहार, अधिकार, स्वरित, अनुनासिक कितनी ही युक्तियों से शब्दों के अनन्त भण्डार पर पारणिनि ने अधिकार प्राप्त किया और उसे अपने व्याकरण में सूत्र बद्ध किया।

तन्त्र युक्ति के और भी सिद्धान्तों का पाणिनि सूत्रों में यत्र तत्र उल्लेख है, जैसे— (१) हेत्वर्थ (१।२।५३); (२) उपदेश (१।३।२), (३) अपदेश=दूसरे के मत का निराकरण कर अपने मत का उपन्यास करना, जैसे १।२।५१–५२ सूत्र; (४) एक स्थान में पठित नियम का अन्यत्र पठित नियम से परस्पर अन्वय या अर्थ संबन्ध, जिसके अष्टाध्यायी में सर्वत्र उदाहरण हैं; (५) संशय या विप्रतिषेध= तुल्यबल विरोधी दो नियमों में बलाबल की चिन्ता; (१४।२); (६) वाक्याध्याहार (६।१।१३९); (७) अनुमत, अन्य आचार्य के मत का स्वीकृति पूर्ण उपन्यास, जैसे अन्य आचार्यों की संमति का अष्टाध्यायी में उल्लेख है; (८) अतिशयवर्णन, जैसे इन्द्रियमिन्द्रलिङ्गमिन्द्रदृष्टमिन्द्रसृष्टमिन्द्रजुष्टमिन्द्रदत्तमितिवा (६।२।९३), (९) निर्वचन=शब्द के व्युत्पन्न अर्थ में उसका प्रयोग, जैसे सर्वनाम अव्यय आदि महासंज्ञाओं में; (१०) स्वसंज्ञा, अपने पारिभाषिक शब्दों का निर्माण, जैसे टि, घु, भ; (११) पूर्वपक्ष; (१२) उत्तरपक्ष, जैसे १।२।५१–५६ के सूत्रकाण्ड में; (१३)

सादृश्य का आरोप, जैसे कालोपसर्जने च तुल्यम् में (१।२।५७); (१४) विकल्प, जैसे वा, अन्यतरस्याम्, उभयथा, एकेषां, बहुलं, विभाषा द्वारा अष्टाध्यायी में (इन विभिन्न शब्दों के प्रयोग की समीचीनता पर देखिए भाष्य २।१।५८); (१५) मङ्गल, ग्रन्थ के आरंभ में किसी देवता की नमस्क्रिया या स्तुति अथवा आशीर्वादात्मक किसी शब्द का प्रयोग मङ्गल था। कार्य की निर्विघ्न समाप्ति के लिये दैवी सहायता या देव प्रसाद की प्राप्ति-यही उसका उद्देश्य था। पाणिनि ने जिनकी गणना इस देश के सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ निर्माताओं में है, मंगल की परिपाटी का अष्टाध्यायी में पालन किया और पहले सूत्र का आरंभ मंगलात्मक वृद्धि शब्द से किया, यद्यपि ऐसा करने के लिये उन्हें शब्दों के क्रम में कुछ परिवर्तन करना पड़ा। उन्होंने 'आदैज् वृद्धिः' न कहकर 'वृद्धिरादैच' यह क्रम मङ्गलात्मक आरंभ करने के लिये ही रखा। भाष्यकार ने पाणिनि को मांगलिक आचार्य कहा है, जिससे उनके मांगलिक शास्त्र के पढ़ने और पढ़ाने वाले सब प्रकार से वृद्धियुक्त और दीर्घजीवी हों[1]। भूवादयो धातवः (१।३।१) सूत्र में वकार का समर्थन भी मङ्गलात्मक मानकर ही किया गया है। उनका कहना है कि न केवल आरंभ में, बल्कि मध्य और अन्त में भी मंगल करने वाले शास्त्र विस्तार को प्राप्त होते हैं (मङ्गलादीनि मङ्गलमध्यानि मङ्गलान्तीनि हि शास्त्राणि प्रथन्ते १।३।१)। शिवशमरिष्टस्य करे (४।४।१४३) सूत्र में शिव शब्द का प्रयोग मध्यमङ्गल का प्रतीक है। कुछ ही सूत्रों के बाद आचार्य ने 'तस्मै हितम्' इस प्रकार का मङ्गलात्मक वाक्य रखा है (५।१।५)। अपने चौथे और पांचवें इन दो महाअध्यायों का तद्धित-नामकरण भी उन्होंने मङ्गलात्मक शब्द से ही किया है।

अष्टाध्यायी के अन्त्य सूत्र से पहले सूत्र में उदयशब्द शास्त्र को मङ्गलान्तक बनाता है (उदात्त परस्येति वक्तव्य उदयग्रहणं मङ्गलार्थम्, काशिका ८।४।६७)। पर के अर्थ में उदय शब्द का प्रयोग ऋक् प्रातिशाख्य में आता है, वहीं से आचार्य ने इसे लिया है (ऋक् प्रा० २।३२, ऋकार उदये)। पतञ्जलि और कात्यायन ने अपने शास्त्र के अन्त में भगवतः पाणिनेः सिद्धम् इस प्रकार का उदात्त मङ्गलात्मक वाक्य रखा है। भाष्यकार वार्तिककार को भी सूत्रकार के समान माङ्गलिक आचार्य मानते हैं, क्योंकि उन्होंने अपने वार्तिक के आरंभ में सिद्ध शब्द का प्रयोग किया (सिद्धे शब्दार्थ संबन्धे)।

चरणों के अन्तर्गत परिषदों में स्वाध्याय के आरंभ में ओम् शब्द का उच्चारण करने की प्रथा थी। पाणिनि ने लिखा है कि इस प्रकार के उच्चारण में प्लुत स्वर होना चाहिए—ओमभ्यादाने (८।२।८७)।

१—(माङ्गलिक आचार्यो महतः शास्त्रौघस्य मङ्गलार्थं वृद्धि शब्द मादितः प्रयुङ्क्ते, मङ्गलादीनिहि शास्त्राणि प्रथन्ते वीरपुरुषकाणि च भवन्त्यायुष्मत् पुरुषकाणि चाध्येतारश्च वृद्धियुक्ता यथा स्युरिति, १।१।१, वा० ७)।

लिपि—पाणिनि के समय में लिपि का ज्ञान या प्रचार इस देश में था या नहीं, इसे पश्चिमी लेखकों ने विवाद का विषय बना दिया है। हमारी दृष्टि में अष्टाध्यायी में स्वयं ऐसे दृढ़ प्रमाण हैं, जिससे इस प्रकार की शंका का उत्थान ही अनावश्यक था। पश्चिमी विद्वानों में भी गोल्डस्टूकर का मत है कि पाणिनि काल में वैदिक साहित्य लिखित ग्रन्थों के रूप में आ चुका था, यद्यपि उसे कंठस्थ करनेवाले श्रोत्रिय विद्वान् सहस्रों की संख्या में विद्यमान थे, जैसे कि कुछ तो आज भी हैं। उस समय की शिक्षा पद्धति मौखिक पारायण पर आश्रित थी। लिखित ग्रन्थों का अधिक चलन न था, पर यह कहना अतथ्य है कि लिपि का ज्ञान ही लोगों को न था। पाणिनि ने ग्रन्थ, लिपिकर, यवनानी लिपि और गौओं के कानों पर संख्यावाची चिह्न अंकित करने की प्रथा का उल्लेख किया है। ये सब लिपि ज्ञान के अस्तित्व के निश्चित प्रमाण हैं।

लिपिकर (३।२।२१)—इसी का दूसरा उच्चारण लिबिकर भी उसी सूत्र में दिया है। मौर्ययुग में लिपिशब्द लेखन के लिये प्रयुक्त होता था। तृतीय शती ईस्वी पूर्व में अशोक ने अपने स्तंभ लेख और शिलालेखों को धम्मलिपि या ध्रम दिपि कहा है। लघु शिलालेख संख्या २ में लेख खोदनेवाले को लिपिकर कहा गया है। कौटिल्य में भी लिपि शब्द आया है (अर्थ० १।५)। वहाँ सांकेतिक लिपि को संज्ञा लिपि कहा है (अर्थ० ३।१२)। ईरानी सम्राट् दारा प्रथम के बहिस्तून (संस्कृत भगस्थान) अभिलेख में उत्कीर्ण लेखन को दिपि कहा है। अतएव यह निःसन्देह है कि पाणिनि के समय में लिपि का अर्थ लेखन-क्रिया और लेखन चिह्न थे।

लक्षण अंकित करना—पाणिनि ने पशुओं के कान पर स्वामित्व के ज्ञापक कुछ चिह्न अंकित करने की प्रथा का उल्लेख किया है। कई चिह्नों में अष्ट और पञ्च भी हैं, जो ८ और ५ की संख्या के लिये प्रयुक्त चिह्न थे। अनपढ़ ग्वाले भी इन चिह्नों को देखकर पहचान लेते थे। इससे उनका व्यापक प्रचार सिद्ध होता है (गोल्डस्टूकर, पाणिनि पृ० ४४)।

यवनानी—पाणिनि ने सूत्र में यवनानी शब्द का उल्लेख किया है (४।१।४९)। उस पर कात्यायन ने लिखा है कि यवनानी शब्द का अर्थ यवनों की लिपि ऐसा समझा जाता था—यवनाल् लिप्याम्। यहाँ कात्यायन ने केवल उस शब्द का विवरण दिया है।

यह मानना उचित नहीं कि पाणिनि को जो अर्थ नहीं ज्ञात था, कात्यायन वार्तिक द्वारा उसे बता रहे हैं, क्योंकि इसी सूत्र के हिमानी, अरण्यानी, यवानी इन शब्दों पर भी कात्यायन के व्याख्यापरक वार्तिक ही हैं। यवनानी लिपि का उल्लेख प्राचीन साहित्य में अन्यत्र सुविदित है। समवायाङ्ग सूत्र में लिपियों की सूची में जवणाणिया लिपि की भी गिनती है (पण्णवणा सूत्र में भी यह सूची है)। वेबर ने

स्वीकार किया है कि यवनानी शब्द का अर्थ यूनानी लिपि से ही था। कीथ ने लिखा है कि यवनानी लिपि से तात्पर्य संभवतः आईओनिया देश के यूनानियों की लिपि से ही था (संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० ४२५)।

गोल्डस्टूकर और स्यूनर ने यवनानी लिपि का अभिप्राय प्राचीन ईरान देश की कीलकाक्षर लिपि माना था, किन्तु यह मत समीचीन नहीं है, क्योंकि इस बात का कोई प्रमाण नहीं कि यवन शब्द से ईरानियों का कभी ग्रहण होता था। दारा प्रथम (ई० पू० ५८१-४८५) ने अपने प्राचीन ईरानी अभिलेखों में योनदेश और वहाँ के निवासी योनों का उल्लेख किया है। ये दोनों नाम ईरान या ईरानियों के लिये अप्रयुक्त थे। अशोक ने भी अपने लेखों में यवन या यूनानियों के लिये ही योन शब्द का प्रयोग किया है, ईरानियों के लिये नहीं। यह भी प्रमाणाभाव से नहीं माना जा सकता कि प्राचीन ईरानी साम्राज्य की जो राजकीय अर्माइक लिपि थी, उसके लिये पाणिनि का यवनानी शब्द है। इस बात के निश्चित प्रमाण हैं कि चौथी शती ईस्वी पूर्व में जब सिकन्दर भारतवर्ष में आया, उससे लगभग डेढ़ दो सौ वर्ष पहले ही भारतवासी यूनानियों के सम्पर्क में आ चुके थे। यूनानी इतिहास लेखक हेरोदोत ने लिखा है कि भारतीय सैनिकों की एक टुकड़ी खषयार्ष के ईरानी कटकदल के साथ यूनान के युद्ध में सम्मिलित हुई थी, और सिकन्दर से पहले ही यूनान देश के लोगों ने बाह्लीक में अपने उपनिवेश बना लिये थे। अतएव इसमें आश्चर्य नहीं कि पाणिनि को यवनानी शब्द का परिचय गन्धार और तक्षशिला के प्रदेश में हुआ हो। आचार्य नें जिस बारीकी से शब्दों की छान-बीन की थी, उसमें यवनानी जैसे महत्व-पूर्ण शब्द का परिगृहीत हो जाना स्वाभाविक था।

अध्याय ५, परिच्छेद ३—साहित्य

साहित्य के विविध प्रकार—साहित्यिक रचना के लिये जिस प्रकार के बौद्धिक प्रयत्न की आवश्यकता होती है, उसका संकेत करते हुए सूत्रकार ने अपने समकालीन साहित्य का वर्गीकरण किया था। उन्होंने समस्त साहित्य को दृष्ट, प्रोक्त, उपज्ञात, कृत और व्याख्यानों इन रूपों में बाँटा है—

(१) दृष्ट (४।२।७)—ऋषियों ने जिस साहित्य का प्रत्यक्ष किया था, उसे इस वर्ग में रखा जा सकता है। पाणिनि ने विशेषरूप से सामवेद के गान सूक्तों का इस प्रसंग में नामोल्लेख किया है, जैसे कालेय साम (४।२।८) और वामदेव साम (४।२।९)। ऋग्वेद संहिता का भी आचार्य को परिचय अवश्य था। उसके सूक्त (५।२।५९), अध्याय और अनुवाकों (५।२।६०) का उन्होंने उल्लेख किया है।

(२) प्रोक्त (४।३।१०१)—वह साहित्य जिसके निर्माण में वैदिक चरणों के संस्थापक ऋषियों ने भाग लिया। इसके अन्तर्गत छन्द ग्रन्थ अर्थात् वेदों की

पृथक्-पृथक् शाखाएँ थीं (४।२।६६)। उदाहरण के लिये तैत्तिरीय चरण की शाखा (४।३।१०२), कठों की शाखा (४।३।१०७), कालापों की शाखा (४।३।१०८), एवं और भी प्राचीन ब्राह्मण ग्रन्थ जिनका चरणों में विकास हुआ (पुराण प्रोक्तेषु ब्राह्मण कल्पेषु ४।३।१०५)। प्रोक्त ग्रन्थ का संबन्ध चरणों के अन्तर्गत उनके पढ़ने-पढ़ाने वालों से था। यह सम्बन्ध मूल छन्द या शाखा ग्रन्थ से ही आरम्भ हुआ था। ब्राह्मण ग्रन्थों के विकास के साथ उनमें भी तद्विषयता का नियम लागू हुआ (छन्दो ब्राह्मणानि च तद्विषयाणि, ४।२।६५)। उदाहरण के लिये तैत्तिरीय चरण के अन्तर्गत मूल तैत्तिरीय शाखा और तैत्तिरीय ब्राह्मण का नाम अपने चरण के नाम से पड़ा। कालक्रम से आरण्यक और उपनिषद् भी बने। साहित्य रचना की दृष्टि से आरण्यक और उपनिषद् ब्राह्मण साहित्य के ही अन्तरंग भाग थे। इसलिये उनके नामकरण की पृथक् समस्या का अनुभव नहीं हुआ। वे भी तद्विषयता नियम के ही अन्तर्गत आ गए।

तीसरे प्रकार के प्रोक्त ग्रन्थ कल्प या श्रौत सूत्र थे, जिनकी गणना वेदांगों में की गई। कात्यायन और पतंजलि ने स्पष्ट लिखा है कि चरणग्रन्थों में जो तद्विषयता का नियम लागू था, वह काश्यप और कौशिक द्वारा प्रोक्त कल्पग्रन्थों में ही मान्य हुआ, जैसा कि पाणिनि ने स्वयं उनकी ऋषि पदवी से सूचित किया है (काश्यप कैशिकाभ्या मृषिभ्यां णिनिः ४।३।१०३ काश्यपेन प्रोक्तं कल्पमधीयते काश्यपिनः)। ऋषि काश्यप और कौशिक द्वारा स्थापित चरण काश्यपिनः, और कौशिकिनः कहलाते थे, एवं ये चरण कल्पसूत्रों तक सीमित थे, अर्थात् इन ऋषियों ने किसी शाखा या ब्राह्मण का प्रवचन न करके कल्प सूत्र का ही प्रवचन किया था (काश्यप कौशिक ग्रहणं च कल्पे नियमार्थम्, ४।२।६६ वा० ६)। प्रोक्त साहित्य के अन्तर्गत पाणिनि ने दो प्रकार के सूत्र ग्रन्थों का विशेष उल्लेख किया है, अर्थात् पाराशर्य और कर्मन्द के भिक्षु सूत्र और शिलालि और कृशाश्व के नटसूत्र (४।३।११०-१११)। यह बात कुछ आश्चर्य-जनक है कि तद्विषयता का जो नियम केवल छन्द और ब्राह्मणग्रन्थों में लागू था, वही भिक्षुसूत्र और नटसूत्र जैसे लौकिक विषयों का निरूपण करने वाले ग्रन्थों में भी लागू हुआ। पतंजलि ने लिखा है—पाराशरिणो। भिक्षवः, शैलालिनो नटाः। यहाँ सब टीकाकार सहमत हैं कि पाराशरिणः और शैलालिनः ये दो चरणों के नाम थे, अर्थात् गुरु शिष्य पारम्पर्य के द्योतक थे, जिनका संगठन ठीक वैदिक चरण संस्थाओं के आदर्श पर हुआ था। इनमें भी अन्य चरणों की भाँति अध्येतृ-वेदितृ-परक प्रत्यय और अर्थ का बोध होता था (पाराशर्येण प्रोक्त मधीयते पाराशरिणः)। पाराशर्य और शैलालक चरणों का मूल में संबन्ध ऋग्वेद के साथ था, अर्थात् उनमें ऋग्वेद की शाखा एवं ब्राह्मण ग्रन्थ का अध्ययन होता था। ज्ञात होता है कि कुछ काल बाद जब नए नए विषयों की उद्भावना हुई, तब पाराशर्य चरण के आचार्यों

ने भिक्षु सूत्र अर्थात् वेदान्तसूत्र के अध्ययन की नींव डाली, और शिलालिचरण के आचार्यों ने नटसूत्रों का निर्माण किया। ये दोनों ही विषय महत्त्वपूर्ण और लौकिक थे। यदि इनका मूल संबन्ध वैदिक चरणों से न होता, तो पाणिन्यादि कृत शास्त्रों का जैसे नामकरण हुआ, वैसे ही इनका भी नाम पड़ता। इन नए विषयों को उन दोनों चरणों के आचार्यों ने इतने उत्साह से ग्रहण किया कि उनसे संबंधित वैदिक ग्रन्थों का नाम लुप्त हो गया। उनकी कीर्ति केवल इन नए विषयों के कारण ही लोक में प्रथित हुई; अथवा यह भी संभव है कि इनके वैदिक ग्रन्थों में ठीक वही मौलिकता न रही हो और किसी अन्य वैदिक चरण की शाखा को ही आचार्य शिलाली पढ़ते-पढ़ाते रहे हों। किन्तु जिस विषय में आचार्य शिलाली ने स्वतन्त्र अन्वेषण किया और अपनी प्रतिभा से नए विषय का प्रवचन किया, वह नट सूत्र या नाट्य का विषय था। यह भी समझा जा सकता है कि ऐसे प्रतिभाशाली आचार्य के समीप में ज्ञान सीखने वाले जिज्ञासु शिष्य वैदिक ग्रन्थ पढ़ने के लिये न आए होंगे, बल्कि आचार्य द्वारा उपज्ञात नाट्य शास्त्र या नट सूत्रों के अध्ययन के लिये ही उपस्थित हुए होंगे। यह भी तथ्य है कि आचार्य शिलाली ने अपने ज्ञान का जो वितरण किया, वह 'तदस्य ब्रह्मचर्यम्' वाली उसी आचार्य-अन्तेवासी पद्धति से जो कि चरणों के लिये सर्वमान्य थी. अर्थात् उनसे नट सूत्र के अध्ययन करने वाले व्यक्ति अपना उपनयन कराते और आचार्य के पास ब्रह्मचारी होकर रहते थे। यह वैदिक चरणों की उदारता थी कि उन्होंने समयानुसार नए विषयों के स्वागत के लिये अपना द्वार उन्मुक्त किया, और अपनी चिर-उपार्जित प्रतिष्ठा से उन्हें सम्मानित किया। भिक्षु और नट सूत्रों को भी वही ऊँचा दर्जा प्राप्त हुआ, जो छन्द या शाखा ग्रंथों का था (भिक्षु नटसूत्रयोः छन्दस्त्वम्–काशिका)। भाष्य में ठीक ही लिखा है कि ज्ञान के इस नए क्षेत्र में भी तद्विषयता का नियम लागू किया गया (अत्रापि तद्विषयता चेत्यनुवर्तिष्यते, ४।२।६६)। पाणिनि ने स्वयं इस बात का संकेत किया है कि जैसे छन्दोग और बह्वृच नामक वैदिक चरणों के धर्म और आम्नाय ग्रन्थ थे, वही प्रतिष्ठा नाट्य शास्त्र को भी उनके समय मिल चुकी थी। सूत्र ४।३।१२९ में उन्होंने छन्दोग, औक्थिक, याज्ञिक और बह्वृच के साथ नट शब्द का भी पाठ किया है। वहाँ शंका यह उत्पन्न हुई कि छन्दोग आदि शब्दों से धर्म ग्रन्थ और आम्नाय ग्रन्थों का द्योतन करने के लिये प्रत्यय किया गया, तो नट शब्द से किस अर्थ में सूत्रकार ने प्रत्यय का विधान किया ? इसका उत्तर है —चरणाद्धर्माम्नाययोस्तत् साहचर्यात् नटशब्दाद् धर्माम्नाययोरेव भवति (काशिका), अर्थात् जैसे चरणवाची शब्दों से प्रत्यय है, उन्हीं अर्थों में नटशब्द से भी। नटों का धर्म और नटों का आम्नाय दोनों नाट्य कहलाए।

पाराशर्य और शिलाली के अतिरिक्त पाणिनि ने कर्मन्द और कृशाश्व नामक दो अन्य आचार्यों का भी उल्लेख किया है। कर्मन्द ने भिक्षुसूत्र और कृशाश्व ने नटसूत्रों

की रचना की थी, एवं उनके पढ़ने पढ़ानेवाले गुरु-शिष्यों की परम्परा चरण रूप में संगठित हुई थी। जैसा काशिका में कहा है—इन दोनों चरणों में भी तद्विषयता का नियम मान्य हुआ (अत्रापि तद्विषयतार्थं छन्दो ग्रहण मनुवर्त्यम्-कर्मन्देनेप्रोक्त मधीयते कर्मन्दिनो भिक्षवः, कृशाश्वेन प्रोक्तमधीयते कृशाश्विनो नटाः)। कर्मन्द और कृशाश्व के विषय में यह ज्ञात नहीं कि उनका संबन्ध किस वेद के साथ था। आचार्य शिलाली के नट सूत्रों के विषय में अनुमान होता है कि उन्हीं की मूल सूत्र-सामग्री का सन्निवेश प्रस्तुत भरत नाट्यशास्त्र में कर लिया गया और नाट्यशास्त्र का वर्तमान स्वरूप आचार्य भरत द्वारा उसी प्रकार प्रतिसंस्कृत हुआ, जैसे अग्निवेश का आयुर्वेद तन्त्र चरक द्वारा।

(३) उपज्ञात (४।३।११५)—इस कोटि में उस साहित्य का परिगणन था जिसका किसी विशिष्ट आचार्य ने पहली बार आविर्भाव किया हो। इस प्रकार के प्रयत्न को आद्य आचिख्यासा कहते थे (२।४।२१)। आपिशलि, शाकटायन, पाणिनि, और काशकृत्स्न जैसे महान् आचार्यों की कृतियाँ इस श्रेणी में आती थीं। प्रोक्त साहित्य के ही अन्तर्गत उपज्ञात संज्ञक विशेष साहित्य था। छन्द या शाखा ग्रन्थ केवल प्रोक्त थे, उपज्ञात नहीं, क्योंकि प्रवचन कर्ता ऋषियों ने कुछ नई मौलिक सूझ से उन वैदिक ग्रन्थों का आविर्भाव नहीं किया था। जो मूल संहिताएँ थीं, उन्हीं में फेरफार करके उन्होंने शिष्यों को उनका अध्यापन कराया था। इसीलिये एक ही वेद की कई शाखाएँ परस्पर बहुत मिलती हैं, किन्तु पाणिनि का ग्रन्थ प्रोक्त भी था और उपज्ञात भी। पाणिनिना प्रोक्तम्, पाणिनिना उपज्ञातम्, दोनों ही प्रकार से पाणिनि प्रोक्त नए व्याकरण शास्त्र के लिये पाणिनीय यह नाम संगत हुआ। संक्रान्तिकाल में कुछ ऐसी स्थिति स्वाभाविक भी थी कि नूतन ग्रन्थों में कुछ नियम प्रोक्त शाखा ग्रन्थों और कुछ उपज्ञात ग्रन्थों के एक साथ लागू हों। उदाहरण के लिये, पाणिनि के नए शास्त्र में प्रोक्त ग्रन्थवाली बात तो यह थी कि उसकी भी गुरु शिष्य परंपरा उसी प्रकार प्रवर्तित हुई, जैसे छन्दोग्रन्थों की थी। दूसरी ओर उपज्ञात लक्षण यह था कि यहाँ पाणिनि का स्वतन्त्र कर्तृत्व माना गया। तद्विषयता का नियम पाणिनि के व्याकरण के लिये लागू नहीं हुआ, अन्यथा पाणिनि के नाम से उसका नाम नहीं हो सकता था। नए नए विषय और उनका प्रतिपादन करने वाले ग्रन्थ चरणों के बाहर अस्तित्व में आ रहे थे, जिनकी रचना में उनके लेखकों ने महान् प्रयत्न किया था। उनके कर्तृत्व का भी लोगों को तथ्यात्मक परिचय था। अतएव यह संभव नहीं था कि उनका नामकरण उनके प्रवक्ता या उपज्ञाता अर्थात् मौलिक रचयिताओं के नाम से न हो। यास्क, शाकटायन, औद्व्रजि और पाणिनि इसी श्रेणी के उपज्ञाता आचार्य थे (पाणिनिना उपज्ञातं पाणिनीयं व्याकरणम्, उपज्ञोपक्रमं तदाद्याचिख्यासायाम्, २।४।२१; पाणिने रुपज्ञानेन प्रथमतः प्रणीतम् पाणिनीयम्—काशिका)।

इस विषय में एक बात और स्मरण रखने योग्य है। पाणिनि प्रोक्त शास्त्र पाणिनीय हुआ। फिर उस पाणिनीय शास्त्र के पढ़ने पढ़ाने वाले (अध्येतृ-वेदितृ) भी पाणिनीय कहलाए। यहाँ भी वही पहली सी स्थिति समझनी चाहिए। पाणिनि शब्द से प्रोक्त प्रत्यय (पाणिनि + ईय) लगाने के बाद तदधीते तद्वेद अधिकारान्तर्गत यथा विहित अध्येतृ वेदितृ प्रत्यय लगाया गया—पाणिनि + ईय (प्रोक्त प्रत्यय) + ईय (अध्येतृ-वेदितृ प्रत्यय)। इस स्थिति में प्रोक्ताल् लुक् से दूसरे ईय प्रत्यय का लुक हो जाता है और पाणिनीय यही शब्द पाणिनि के ग्रन्थ और उसके पढ़ने-पढ़ाने वालों का भी बोध कराता है। इस प्रकार यद्यपि ग्रन्थ और गुरु शिष्य पारम्पर्य के नाम में कोई भेद न था, किन्तु शिक्षण संस्था की दृष्टि से पाणिनीय सदृश ग्रन्थों में और चरण साहित्य के ग्रन्थों में बहुत अन्तर था। शाखा पर आश्रित चरणों का जो नियमित संगठन था वह नए शास्त्रों को प्राप्त न था। फिर पाणिनीय शास्त्र के पढ़ने वाले सब पाणिनीय विद्वान् किसी एक ही वैदिक चरण से संबन्धित हों—यह भी आवश्यक न था। बल्कि पतंजलि ने तो स्पष्ट लिखा है कि उनका संबन्ध सभी चरणों से समान था (सर्ववेदपारिषदं हीदं शास्त्रम्)।

नवनिर्मित सूत्र ग्रन्थों के अध्येता छात्रों का नाम ग्रन्थों की अध्याय-संख्या से भी पड़ता था, जैसे अष्टकाः, दशकाः, त्रिकाः, अर्थात् पाणिनीय, वैयाघ्रपदीय और काशकृत्स्न शास्त्रों के पढ़ने वाले छात्र (सूत्राच्च कोपधात्—४।२।६५; पाणिनीयमष्टकं सूत्रं तदधीते अष्टकाः पाणिनीयाः, दशकाः वैयाघ्रपदीयाः, त्रिकाः काशकृत्स्नाः)। आठ अध्याय होने के कारण पाणिनि का ग्रन्थ अष्टक कहलाया (अष्टौ अध्यायाः परिमाणमस्य सूत्रस्य अष्टकम्, संख्यायाः संज्ञासंघसूत्राध्ययनेषु, ५।१।५२), और फिर उस अष्टक के पढ़ने वाले छात्र अष्टकाः कहलाए। यहां भी पाणिनीयम्-पाणिनीयाः जैसी दो कोटियां थीं—अष्टकम् अष्टकाः। पहले ग्रन्थ का नाम, फिर पढ़ने वालों का नाम। ग्रन्थ की रचना में विशेष प्रयत्न और परिष्कार इस युग में किया गया, जिसके कारण ग्रन्थों का स्वरूप इतना साफ सुथरा और सुविभक्त होता था। उसी पृष्ठभूमि में संख्या शब्दों को ग्रन्थों के नामकरण में इतना महत्त्व प्राप्त हुआ। अध्याय, पाद, सूत्र के साँचे में ग्रन्थ को ढालने अथवा कुशल तक्षक की भांति अपनी सामग्री को गढछिल कर उस रूप में ले आने में ग्रन्थकर्ता जो महान प्रयत्न करते थे, उसका गौरव संख्या शब्दों को प्राप्त हुआ। तभी भाषा में इस प्रकार के नामों की आकांक्षा हुई। यह कौन सा सूत्र ग्रन्थ है ? इस प्रकार के प्रश्न के उत्तर में कहा जाता था—यह अष्टक है अर्थात् आठ अध्यायों में इसके रचयिता आचार्य ने इसकी सामग्री का बन्धान बांधा है। ऐसे ही आप लोग कौन हैं ? इस प्रश्न के उत्तर में विद्यार्थी कहते थे—हम अष्टक हैं, अर्थात् आठ अध्यायों वाला जो सूत्र ग्रंथ है, हम उसका अध्ययन करने वाले हैं। ग्रन्थ के आन्तरिक शिल्प या वास्तु विधान को ऐसा महत्त्व किसी अन्य युग में प्राप्त नहीं हुआ। ब्राह्मण युग

के अन्त में ही अध्यायों के संबन्ध की संख्याओं के महत्त्व की यह व्यंजना शुरू हो गई थी। तभी तो ६० अध्यायों वाले ग्रन्थ के लिये षष्टिपथ और १०० अध्यायों वाले ग्रन्थ के लिये शतपथ, ३० अध्यायों वाले कौषीतकी के लिये त्रैंश, और ४० अध्यायों वाले ऐतरेय के लिये चात्वारिंश जैसे नाम पड़े।

(४) कृत (४।३।८७; ४।३।११६)—इस श्रेणी के साहित्य में साधारण ग्रन्थों का समावेश किया गया, जिनका नामकरण या तो उनके विषय से (अधिकृत्य कृते ग्रन्थे ४।३।८७) या लेखक के नाम से होता था (कृते ग्रन्थे ४।३।११६)। अनुष्टुप् श्लोक और उसके साथ श्लोककार (३।२।२३) कवि के उदय का फल यह हुआ कि शीघ्र ही काव्य और नाटक रूपी साहित्य का जन्म होने लगा। यह सब साहित्य कृत कोटि का था। उदाहरण के लिये सौभद्र (सुभद्रा के उपाख्यान पर आश्रित ग्रन्थ); यायात (ययाति के उपाख्यान पर आश्रित); वाररुचाः श्लोकाः (वर रुचि के बनाए श्लोक)—ये सब काशिका में उद्धृत कृत साहित्य के उदाहरण हैं। स्वयं पाणिनि ने शिशुक्रन्दीय, इन्द्रजननीय, यमसभीय इन तीन कृत ग्रन्थों का उल्लेख किया है।

कृत और उपज्ञात में भेद यह था कि कृत वह ग्रन्थ था जिसे किसी लेखक ने विरचित किया, किन्तु उपज्ञात ग्रन्थविशेष न होकर उस शास्त्रीय विषय के लिये प्रयुक्त होता था, जिसकी प्रथम वार उद्भावना किसी मेधावी आचार्य ने की हो, जैसे पाणिनि का व्याकरण शास्त्र। हम पाणिनि की अष्टाध्यायी को पाणिनीय व्याकरण तो कह सकते हैं, पाणिनीय ग्रन्थ नहीं कह सकते। उपज्ञात ग्रन्थ व्यक्ति विशेष से प्रोक्त और उपदिष्ट होता था, किन्तु उसका नाम उस विषय के नाम से पड़ता था, जिसका उपदेश या प्रवचन उसमें किया गया हो। शास्त्रीय नाम के पहले उपज्ञाता आचार्य के नाम से बना हुआ विशेषण प्रयुक्त किया जाता था, जैसे पाणिनीय व्याकरण।

(५) व्याख्यान (तस्य व्याख्यान इति च व्याख्या तव्यनामनः ४।३।६६)—धार्मिक और लौकिक विषयों के फुटकर ग्रन्थों पर विरचित व्याख्यान ग्रन्थ इस श्रेणी के साहित्य में आते थे। ये कुछ मौलिक रचनाएं न थीं, बल्कि व्यावहारिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये इनकी रचना उस समय बड़े वेग से हो रही थी, जैसे वैदिक अध्यायों और मन्त्रों के अर्थ समझाने के लिये, या उनके विभिन्न पाठों की युक्ति बताने के लिये, या यज्ञीय कर्मकाण्ड की व्याख्या के लिये, या वेदांग संबन्धी विषयों के व्याख्यान के लिये, अथवा दर्शन, विज्ञान, ज्योतिष, अंगविद्या, क्षत्रविद्या, आदि फुटकर विद्याओं को स्पष्टता से समझाने के लिये। इस साहित्य का उद्देश्य उन उदाहरणों से स्पष्ट होता है, जो स्वयं पाणिनि ने इस प्रकरण में दिए हैं, जैसे, सोमक्रतुओं के व्याख्यान ग्रन्थ, नामिक और आख्यातिक जैसे व्याकरण संबन्धी व्याख्यान ग्रन्थ, अथवा पुरोडाश बनाने की विधि बताने वाले ग्रन्थ या पुरोडाश

संबन्धी मन्त्रों की व्याख्या करने वाले ग्रन्थ। एक प्रकार से यह आजकल की पद्धतियों के ढंग की पुस्तकें रही होंगी। व्याख्यान-साहित्य के निर्माण में बहुत से छोटे छोटे लेखक भी अपनी अपनी विद्या और बुद्धि के अनुसार भाग ले रहे थे, जैसा कि उत्पात, निमित्त आदि अति सामान्य विषयों पर लिखे गए ग्रन्थों से सूचित होता है। निमित्तों का व्याख्यान ग्रन्थ नैमित्त (४।३।७३) और उन्हें बताने वाला व्यक्ति नैमित्तिक कहा जाता था (४।२।७)। उस समय नक्षत्रों के फलाफल का विचार करना, हाथों की रेखा देखना, या ज्योतिष की सहायता से भविष्य कथन करना इन बातों में भी लोगों को काफी रुचि हो गई थी, जैसा जातक कहानियों से विदित होता है। पाणिनि ने इस तरह की पूछताछ को विप्रश्न कहा है। राधीक्ष्योर्यस्य विप्रश्नः (१।४।३९) सूत्र में तत् संबन्धी भाषा प्रयोगों का उल्लेख किया गया है, जैसे देवदत्ताय राध्यति, देवदत्ताय ईक्षते, नैमित्तिकः पृष्टः सन् देवदत्तस्य दैवं पर्यालोचयति (काशिका)।

पाणिनि को विदित साहित्य

वैदिक साहित्य—वैदिक साहित्य के विषय में पाणिनि का परिचय कितना था, यह बात कुछ तो सूत्रों में आए हुए नामों से जानी जाती है, और कुछ उनकी सामग्री के स्रोतों से जहाँ से उन्होंने अपने व्याकरण के लिये शब्दों का चुनाव किया। पाणिनि ने अपनी सामग्री का संकलन इन संहिताओं से किया था—ऋग्वेद, मैत्रायणी संहिता, काठक संहिता, तैत्तिरीय संहिता, अथर्ववेद और सामवेद (थीमे, पाणिनि और वेद)। इसी में ऋग्वेद के शाकल्य पदपाठ का नाम भी जोड़ लेना चाहिए। जहाँ से १।१।१६-१८ सूत्रों की सामग्री ली गई है (वही पृ० ६३)। यह भी उल्लेखनीय है कि पाणिनि के कुछ वैदिक प्रयोग इस समय उपलब्ध वैदिक साहित्य में नहीं प्राप्त होते। संभवतः वे कृष्ण यजुर्वेद की किसी शाखा से लिए गए थे, जो पाणिनि के समय में विदित थी, पर अब लुप्त हो गई है (वही पृ० ६४)। अथर्ववेद की पैप्पलादशाखा से सूत्रकार ने सामग्री ली थी (वही, पृ० ६६)। भारतीय टीकाकार भी प्रायः वैदिक प्रयोगों के लिये 'प्रयोगो मृग्यः' कह कर छुट्टी ले लेते हैं। वस्तुतः पाणिनि की संपूर्ण वैदिक सामग्री की छानबीन स्वतन्त्र खोज का विषय है। उसमें यह भी अध्ययन करना होगा कि कितनी सामग्री संहिताओं में ऐसी है, जिसका आचार्य ने संकलन नहीं किया। तब तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर वैदिक व्याकरण का विशिष्ट रूप खड़ा किया जा सकेगा और यह भी जाना जा सकेगा कि पाणिनि को उसमें कितना श्रेय है।

पाणिनि ने आथर्वणिक (अथर्ववेद के छात्र, ६।४।१७४) का उल्लेख किया है, और वसन्तादि गण में अथर्वन् और आथर्वण का पाठ किया है जिस पर पतंजलि ने लिखा है कि आथर्वणिक विद्यार्थी वे थे जो अपने आम्नाय या शाखा, एवं धर्म या धर्मसूत्र का अध्ययन करते थे (तत्रापि सम्बन्धमात्रं कर्तव्यम् आथर्वणिकानामिद-

मिति। न चेदानीमन्यदाथर्वणिकानां स्वं भवितुमर्हति अन्यदतो धर्मादाम्नायाद्वा, भाष्य ४।३।१३१)।

यद्यपि आचार्य ने शुक्ल यजुर्वेद से सामग्री का संकलन नहीं किया, किन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं था कि वाजसनेयिसंहिता और शतपथ सूत्रकार के बाद की रचना है। शौनकादिगण पाठ में पाणिनि ने वाजसनेय और वाजसनेयी का उल्लेख किया है।

मंत्र, छंद आदि शब्द—छन्दः, मन्त्र, ऋच् , यजुष, ब्राह्मण, और निगम—इनका उल्लेख शब्द प्रयोगों के संबन्ध में कितने ही सूत्रों में आता है। इन शब्दों से पाणिनि का क्या अभिप्राय था, यह स्पष्ट होने की आवश्यकता है। छन्द तो भाषा का उलटा है। भाषा का प्रयोग आचार्य ने उस समय की बोलचाल में आनेवाली संस्कृत अर्थात् शिष्ट भाषा के लिये किया है। जहाँ किसी प्रयोग का साधुत्व छन्द में कहा गया, वहां पाणिनि का आशय संहिता साहित्य और ब्राह्मण साहित्य इन दोनों से होता था। जब किसी सूत्र में केवल मन्त्र शब्द कहा गया तो, यह समझना चाहिए कि ब्राह्मण साहित्य को छोड़कर ऋचा भाग या यजुष् भाग में उस शब्द का साधुत्व होता है। ऋच् का तात्पर्य ऋग्वेदसदृश मन्त्रों से है और उसका उलटा यजुष् गद्यात्मक मन्त्र भाग से। ब्राह्मण से तात्पर्य गद्यात्मक ब्राह्मण साहित्य से है। सूत्र ३।१।३५ में अमन्त्र शब्द का संकेत भी ब्राह्मण साहित्य से ही है। निगम शब्द आचार्य ने जहाँ प्रयुक्त किया है, वहाँ उनका तात्पर्य वैदिक साहित्य में आए हुए उन पारिभाषिक वाक्यों से है, जहाँ अर्थ या व्युत्पत्ति का कोई कथन पाया जाता है।

वैदिक शाखा—जैसा ऊपर बताया गया है चरणों का विकास मूलतः वैदिक शाखाओं के आधार पर हुआ। इन्हें छन्द और आम्नाय भी कहते थे (चरणाद् धर्माम्नाययोः, ४।३।१२० वा ११, भाष्य, कठानामाम्नायः धर्मो वा काठकम्, कालापकम् मौदकम् पैप्पलादकम्)। छन्द और ब्राह्मण ये चरणों के प्रधान अध्ययन के विषय थे।

ऋग्वेद—ऋग्वेद के निम्नलिखित चरणों का पाणिनि ने उल्लेख किया है।

(१) शाकल—शाकल्य आचार्य ने ऋग्वेद का पदपाठ बनाया था, जिसका पाणिनि में उल्लेख है। (१।१।१६)। शाकल प्रोक्त शाखा का अध्ययन करनेवाले विद्वानों का भी सूत्र में उल्लेख है (शाकलाद्वा ४।३।१२८) इसे शाकल चरण कहते थे, शाकलेन प्रोक्तमधीयते शाकलाः। ऋक्संहिता का वर्तमान संस्करण शाकल शाखा का है। वस्तुतः शाकलों के अन्तर्गत एक शैशिरीय चरण था, उसीका यह शाखा ग्रन्थ है। ऋक् प्रातिशाख्य के आरंभिक श्लोकों में शैशिरीय शाखा के साथ उसका संबन्ध कहा गया है। गहादिगण (४।२।१३८) में पाणिनि ने शैसिरीयों का उल्लेख किया है। अनुश्रुति के अनुसार शाकल और शुनकों का घनिष्ठ संबन्ध

था। शौनक ऋग्वेद के कई फुटकर ग्रन्थों के रचयिता हैं। इन दोनों का घनिष्ठ संबन्ध शाकल-शुनकाः इस द्वन्द्व प्रयोग से विदित होता है, जो कार्तकौजपादिगण में पठित है।

शाकल चरण के भी पाँच अवान्तर चरण हुए, जिनकी स्थापना शाकल्य के पाँच विद्वान् शिष्यों ने की। इनके नाम ये हैं—(१) मुद्गल, (२) गालव, (३) वात्स्य, (४) शालीय, और (५) शैशिरीय। पाणिनि ने जिस क्रमपाठ का उल्लेख किया है (क्रमादिभ्यो वुन् , ४।२।१६१) वह संभवतः ऋग्वेद का क्रमपाठ ही था, जिसकी रचना बाभ्रव्य पाञ्चाल ने की थी। सूत्र ४।१।१०६ में कौशिक गोत्रीय एक बाभ्रव्य का उल्लेख है। कार्तकौजपादिगण में शौनक और बाभ्रव्य चरणों को एक साथ शुनक-बाभ्रवाः कहा गया है, जिससे सूचित होता है कि ये दोनों किसी एक ही मूल शाखा से निकले हुए दो चरण थे। मत्स्य पुराण में कहा है (२१।३०) कि बाभ्रव्य दक्षिण पंचाल के राजा ब्रह्मदत्त के महामन्त्री थे, उन्होंने क्रमपाठ की रचना की।

(२) बाष्कल—चरण व्यूह के अनुसार यह ऋग्वेद का महत्त्वपूर्ण चरण था। पाणिनि ने बाष्कलों का उल्लेख साक्षात् रूप से नहीं किया, किन्तु इस चरण के प्रमुख शिष्य पराशर का उल्लेख किया है, जिसने पाराशर्य शाखा का आरंभ किया। पाराशर्य के भिक्षु सूत्रों का आविर्भाव या विकास इसी पाराशर चरण के अन्तर्गत हुआ। इस चरण के तपस्वी जो इन सूत्रों का अध्ययन करते थे पाराशरिणः भिक्षवः कहलाते थे (४।३।११०)। पाराशर्य लोगों की स्वतन्त्र कोई शाखा या छन्द ग्रन्थ न था, उसके लिये वे बाष्कल शाखा पर निर्भर थे। उनका साहित्यिक कार्य भिक्षु सूत्रों की रचना में ही स्फुट हुआ। पतंजलि ने इस चरण के एक कल्प ग्रन्थ का भी उल्लेख किया है, जिसके पढ़ने वाले पाराशरकल्पिक कहलाते थे (४।२।७)।

(३) शिलालिन्—पाणिनि ने शिलाली आचार्य को नट सूत्रों का प्रवचनकर्ता कहा है—शैलालिनः नटाः (४।३।११०)। इनका एक वैदिक चरण था, जिसमें मुख्यतः नाट्यशास्त्र का अध्ययन किया जाता था। मूलतः शैलालक ऋग्वेद का चरण था जिन्होंने एक ब्राह्मण ग्रन्थ का भी विकास किया था। आपस्तम्ब और श्रौत सूत्र में शैलालिक ब्राह्मण का उल्लेख है। (कीथ, आपस्तम्ब और बह्वृच ब्राह्मण, जे आर ए एस, १९१५, पृ० ४९८)। कात्यायन ने इस चरण के छात्रों को शैलालाः कहा है (६।४।१४४, वा०)। इससे ज्ञात होता है कि नट सूत्रों को अध्ययन करने वाले अन्तेवासी शैलालिनः और वैदिक ग्रन्थों का अध्ययन करने वाले शैलालाः कहे जाते थे। इस चरण में नट सूत्र जैसे लौकिक विषय का विकास करके वैदिक अध्ययन के क्षेत्र में एक नए मार्ग का प्रवर्तन किया गया।

(४) बह्वृच।—पाणिनि ने बह्वृच चरण के आम्नाय और धर्म अर्थात् शाखा और धर्म सूत्र को बाह्वृच्य कहा है। बह्वृच ऋग्वेद का अत्यन्त प्रसिद्ध चरण था (अनृचो माणवे, बह्वृचश्चरणाख्यायाम्, ५।४।१५४)। ऋग्वेद के संबन्ध में इसी चरण को सर्वोपरि प्रधानता प्राप्त हुई थी, जैसा कि पतंजलि के एकविंशतिधा बाह्वृच्यम् इस उल्लेख से विदित होता है। बह्वृचों के २१ भेद या शाखाएँ थीं। शतपथ ब्राह्मण (१०।५।१।१०) में बह्वृचों का उल्लेख है और आपस्तम्ब श्रौत सूत्रों में भी बारह बार उनके मत का उपन्यास किया गया है। प्रस्तुत ऐतरेय और कौषीतकी ब्राह्मणों में उनमें से एक भी अवतरण नहीं मिलता। अवश्य ही आपस्तम्ब के सामने बह्वृचों का कोई ऐसा ब्राह्मण ग्रन्थ था, जो अब अप्राप्त है (कीथ, ऋग्वेद ब्राह्मण, पृ० ४९६)। इस चरण की संहिता और ब्राह्मण दोनों सुरक्षित नहीं रहे। कुमारिल के अनुसार बह्वृचों का वशिष्ठ गृह्यसूत्र था (तन्त्रवार्त्तिक १।३।११)। कीथ का विचार था कि बह्वृच चरण का ही नाम पैङ्ग्य था, किन्तु कौषीतकी ब्राह्मण में उन्हें पृथक् चरण माना है। पैङ्ग्य प्राचीन चरण था, ऐसा संकेत पुराणप्रोक्तेषु ब्राह्मण कल्पेषु (४।३।१०५) सूत्र के पैङ्गी कल्पः उदाहरण से प्राप्त होता है।

(५) शौनक—शौनक चरण के छन्द ग्रन्थ का अध्ययन करनेवाले शौनकिनः कहलाते थे (४।३।१०६)। इस चरण का शाकलों के साथ घनिष्ठ संबन्ध था। ऋग्वेद के संबन्ध में शौनकों ने बहुत कुछ साहित्यिक कार्य किया। ऋग्वेद प्रातिशाख्य भी मुख्यतः इसी चरण का है।

पाणिनि ने पैल (२।४।५९) का भी उल्लेख किया है। पैल को ऋग्वेदी और पाराशर्य व्यास की परम्परा में माना जाता है। पैल चरण की दो अवान्तर शाखाएँ थीं। एक बाष्कलि की और दूसरी माण्डूकेय की। कार्तकौजपादिगण में सावर्णिमाण्डुकेयाः का साथ उल्लेख है।

यजुर्वेद—कृष्णयजुर्वेद के चरणों का कई सूत्रों में उल्लेख है। तित्तिरि, वरतन्तु, खण्डिक, उख (४।३।१०२), एवं कठ और कलापी (४।३।१०७-१०८) कृष्ण यजुर्वेद के ही चरण संस्थापक आचार्य थे। इन सब के गुरु वैशम्पायन थे। ये विद्वान् वैशम्पायन के अन्तेवासी प्रसिद्ध थे। (४।३।१०४)। ये स्वयं प्रत्यक्षकारी हुए, अर्थात् प्रत्येक ने स्वयं एक एक शाखा का प्रवचन किया और चरण की संस्थापना की। कृष्ण यजुर्वेद के जो अनेक चरण कहे जाते हैं वे सब छन्द या ब्राह्मण चरण न थे, संभवतः केवल कुछ सूत्र चरण थे। इस वेद के निम्नलिखित चरणों का उल्लेख है—

(१) तैत्तिरीय (४।३।१०२)—तैत्तिरीय चरण के संस्थापक आचार्य तित्तिरि थे। तैत्तिरीय ब्राह्मण के अन्तिम भाग की संज्ञा काठक भी है, जिससे

ज्ञात होता है कि तैत्तिरीयों और कठों का निकट का संबन्ध था (पं० भगवद्दत्त–वैदिक वाङ्मय का इतिहास)

(२) औखीय (४।३।१०२)–चरणव्यूह २।१) के अनुसार तैत्तिरीय चरण के दो उपविभाग हुए औखीय और खाण्डिकीय। आत्रेय भी औखीय चरण का ही एक छोटा विभाग था। आत्रेयों का उल्लेख २।४।६५ में प्रत्युदाहरण के रूप में और ४।१।११७ में गोत्र नाम के रूप में आया है।

(३) खाण्डिकीय (४।३।१०२)—यह तैत्तिरीयों के अन्तर्गत एक चरण था। इसी से आपस्तम्ब हिरण्यकेशीय और भारद्वाज चरणों का विकास हुआ (चारणव्यूह)।

(४) वारतन्तवीय (४।३।१०२)। पाणिनि के समय में इस चरण का पृथक् अस्तित्व था, पर अभी तक उसका कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हुआ। पाणिनि के शिष्य कौत्स थे (उपसेदिवान् कौत्सः पाणिनिम्, ३।२।१०८) जो वरतन्तु के शिष्य होने से वारतन्तवीय चरण के साथ संबन्धित थे।

(५) वैशम्पायन और चरक—पाणिनि के अनुसार चरक चरण के विद्वान् चरक नाम से प्रसिद्ध थे। काशिका के अनुसार वैशम्पायन की संज्ञा चरक थी। जैसा ऊपर कहा जा चुका है कि चरक का मूल अर्थ ज्ञानोपार्जन के लिये विचरण करने वाले विद्वान् था। वैशम्पायन वैदिक आचार्यों में प्रमुख थे। शबर स्वामी ने लिखा है कि कृष्ण यजुर्वेद की समस्त शाखाओं के अध्यापन का श्रेय वैशम्पायन को था (स्मर्यते च वैशम्पायनः सर्वशाखाध्यायी, मीमांसाभाष्य, १।१।३०)। वैशम्पायन के अन्तेवासी शिष्यों द्वारा स्थापित चरण दूर दूर तक कई दिशाओं में फैले हुए थे। पतंजलि के अनुसार तीन मध्यदेश में, तीन उत्तर में और तीन प्राच्य देश में निवास करते थे।[१] आलम्बि, पलङ्ग और कमल द्वारा स्थापित आलम्बिनः, पालङ्गिनः और कामलिनः चरकों के ये तीन चरण प्राच्य देश में थे। ऋचाभ, आरुणि और ताण्ड्य, इन तीन आचार्यों द्वारा स्थापित आर्चाभिनः, आरुणिनः, ताण्डिनः—ये तीन चरण मध्यदेश में थे। श्यामायन, कठ और कलापिन् आचार्यों के चरण श्यामायनिनः, कठाः, कालापाः उदीच्यदेश में थे (काशिका ४।३।१०४)[२]। शतपथ, ब्राह्मण में कृष्णयजुर्वेद की चरक शाखा के अनुयायी चरकाध्वर्यु कहे गए हैं।

---

(१) वार्त्तिक—चरण संबन्धेन निवास-लक्षणोऽण् (४।२।१३८ वा० २)। भाष्य—चरण संबन्धेन निवासलक्षणोऽण् वक्तव्यः। त्रयः प्राच्याः। त्रय उदीच्याः। त्रयो मध्यमाः। सर्वे निवासलक्षणाः।

(२) आलम्बिश्चरकः प्राचां पलङ्गकमलावुभौ।
ऋचाभारुणिताण्ड्याश्च मध्यमीयास्त्रयोऽपरे॥
श्यामायन उदीच्येषु उक्तः कठकलापिनोः।
(काशिका में उद्धृत श्लोक)

(६–७) आलम्बिनः, पालङ्गिनः, चरकों के दो प्राच्य चरण।

(८) कामलिनः । चरकों का तीसरा प्राच्य चरण। ब्रह्माण्ड पुराण में इसके संस्थापक का नाम आचार्य कामलायनि दिया है (१३३।६)।

(९) कठ (४।३।१०७)—पाणिनि ने कठों का स्वतन्त्र उल्लेख किया है। यह चरकों का अति प्रसिद्ध उदीच्य चरण था, जिसके अनुयायी गांव गांव में फैल गए थे (ग्रामे ग्रामे च काठकं कालापकं च प्रोच्यते, भाष्य ४।३।१०१)। कठों की शाखा के विषय में कहा जाता था कि वह अत्यन्त विशाल और सुविरचित ग्रन्थ था (कठं महत् सुविहितम्, भाष्य ४।२।६६ वा० २)।

कार्त्तकौजपादिगण में कठकालापाः, कठकौथुमाः नामों के जोड़े आते हैं, जिससे ज्ञात होता है कि इन चरणों का आपस में घनिष्ठ सम्बन्ध था। कठचरण की संहिता इस समय उपलब्ध है। पाणिनि ने उससे कुछ सामग्री अपने व्याकरण में ली थी (देवसुम्नयोर्यजुषि काठके, ७।४।३८)। चरणव्यूह में कठचरण के दो छोटे चरण प्राच्यकठ और कपिष्ठल कठ का उल्लेख है। सौभाग्य से कपिष्ठलों की संहिता भी अभी तक सुरक्षित है। पाणिनि ने कपिष्ठल नामक गोत्र का उल्लेख किया है (कपिष्ठलोगोत्रे ८।३।९१)। यह संभवतः कठचरण के अन्तर्गत एक उपविभाग की संज्ञा थी। कितने ही ऐसे चरण थे, जिनके संस्थापक ऋषियों के नाम से गोत्र भी प्रसिद्ध हुए। गोत्रं च चरणानि च, परिभाषा से ज्ञात होता है कि गोत्र और चरण दोनों जातियों के रूप में संगठित हो रहे थे। मेगस्थने ने पंजाब में कम्बिस्थोलोइ लोगों का उल्लेख किया है, जिनके देश में से इरावती नदी बहती थी। ज्ञात होता है कि कपिष्ठलों का प्रदेश इरावती के आसपास के भूभाग में कठों के समीप ही था। वहीं कठों ने अपने प्रदेश में से जाते हुए सिकन्दर का मार्ग रोका था। पंजाब में कपिस्थल (अर्वाचीन कैथल) नामक नगर से कपिष्ठलों का कोई सम्बन्ध न था।

(१०) कालाप (४।३।१०८)—यह चरकों का उदीच्य चरण था वैशम्पायन के अन्तेवासियों में कलापी नामक आचार्य स्वयं बहुत उच्च श्रेणी के थे। न केवल उन्होंने नए चरण की स्थापना की, किन्तु उनके चार शिष्य भी ऐसे उत्कृष्ट विद्वान् हुए जो एक-एक चरण के संस्थापक कहलाए। उनके नाम हरिद्रु, छगली, तुम्बुरु और उलप थे।

(११) श्यामायनि—यह उदीच्य देश के आचार्य थे। जिनका चरण श्यामायनिनः कहलाया। मैत्रायणीयों के छह विभागों में इनकी भी गणना थी। श्यामायन गोत्र का उल्लेख अश्वादिगण में है (४।१।११०)।

(१२, १३, १४) काशिका के अनुसार चरकों के तीन चरण मध्यदेश में थे, जो मध्यम या मध्यमीय कहलाते थे। ऋचाभ, आरुणि और ताण्ड्य आचार्यों द्वारा स्थापित आर्चाभिनः, आरुणिनः, ताण्डिनः ये उनके नाम थे। आरुणि का चरण

वही ज्ञात होता है जिसके आचार्य उद्दालक आरुणि थे। पतंजलि के अनुसार यह भरत जनपद में था (२४६६)।

(१५, १६, १७, १८) हरिद्रु, तुम्बुरु, उलप और छगलिन्, ये चार कलापी के शिष्य थे, जिन्होंने इन चरणों की स्थापना की—हारिद्रविणः, तौम्बुरविणः, औलपिनः, छागलेयिनः। छगलिन् के चरण का विशेष नामोल्लेख सूत्र में है (छगलिनो ढिनुक, ४।३।१०९; छगलिना प्रोक्तमधीयते छागलेयिनः), किन्तु इनके विषय में बहुत कम जानकारी है। केवल यास्क ने एक बार हारिद्रविक नामक ग्रन्थ में से कुछ उद्धरण दिया है, जो इस चरण का ब्राह्मण ज्ञात होता है। मानवगृह्य-परिशिष्ट में इन चारों का नाम आया है।

(१९) खाडायन—शौनकादिगण में खाडायन चरण का उल्लेख है। कात्यायन और पतंजलि दोनों उस गण में उसका पाठ प्रामाणिक मानते हैं। पतंजलि के अनुसार वैशम्पायन का अन्तेवासी कठ और कठ का अन्तेवासी खाडायन था। प्रश्न होता है कि पाणिनि ने वैशम्पायन के अतिरिक्त उन्हीं के शिष्य कलापी के अन्तेवासियों का पृथक् उल्लेख क्यों किया। अन्तेवासी के अन्तेवासी इस नियम से उनकी गणना भी वैशम्पायन के ही अन्तेवासियों में की जा सकती थी। कात्यायन ने उत्तर दिया है कि शिष्य प्रशिष्य का कोई महत्त्व न होकर मुख्य बात यह थी कि जो स्वयं वैदिक छन्द या ब्राह्मण ग्रन्थों के प्रवचन करने वाले थे या प्रत्यक्षकारी ऋषि थे, उनका यहाँ ग्रहण अभीष्ट है (कलापि खाडायन ग्रहणं ज्ञापकं वैशम्पायनान्तेवासिषु प्रत्यक्षकारिग्रहणस्य, ४।३।१०४, वा०)। कात्यायन ने यह भी लिखा है कि केवल छन्द ग्रन्थों का ही चरण के नाम से ग्रहण होता था, साधारण श्लोक या काव्यादिक का नहीं, जैसे तित्तिरि आचार्य या उनके चरण में विरचित श्लोकों की तैत्तिरीय संज्ञा नहीं होती थी (छन्दोग्रहणं च, इतरथा ह्यतिप्रसङ्गः, वा० ३, ४।३।१०४, तित्तिरिणा प्रोक्ताः श्लोकाः इत्यत्र न भवति)।

शुक्लयजुर्वेद—शौनकादिगण (४।३।१०६) में वाजसनेय का भी पाठ है जिनके चरण का नाम वाजसनेयिनः था। उसकी शाखा वाजसनेयी कहलाती थी।

सामवेद—सामवेद की संहिता के दो भाग थे—आर्चिक और गेय। आर्चिक का उल्लेख सू० ४।३।७२ और गेय का ३।४।३८ में है (गेयो माणवकः साम्नाम्, गेयानि माणवकेन सामानि, ३।४।६८ काशिका)। सामवेद के छान्दोग्य चरण का उल्लेख पाणिनि ने किया है। (४।३।१२९)। यही कालान्तर में सामवेद का मुख्य चरण हो गया। कार्तकौजपादिगण (६।२।३७) में जिस कार्तचरण का उल्लेख है, उसके आचार्य कृत पौरव राजकुमार थे और कोसल देश के राजा हिरण्यनाभ के शिष्य थे, जो सामवेद के प्रसिद्ध विद्वान् माने जाते थे (विष्णु पुराण ४।१९।५०—५२)। कहा जाता है कि कृत आचार्य ने अपने अन्तेवासियों द्वारा प्राच्य देश में सामवेद की २४ संहिताओं का प्रचार किया

(यश्चतुर्विंशतिं प्राच्य सामगानां संहिताश्चकार)। यजुर्वेद के लिये जो महान् कार्य वैशम्पायन ने किया था, वैसा ही पुरुषार्थ सामवेद के लिये आचार्य कृत का था। कार्तकौजपादि गण में कितने ही वैदिक चरणों के नामों का उल्लेख है और दो-दो नामों के एक साथ गठन से यह सूचित किया गया है कि उन-उन चरणों का एक दूसरे के साथ परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध था। कठकालापम्, कठकौथुमम्[1] ये चरणों में एक दूसरे के अनुवाद अर्थात् एक साथ उदय और प्रतिष्ठा के उदाहरण कहे गए हैं (२।४।३)। और भी मौदपैप्पलादाः (दोनों अथर्वचरण १।३।४९) कौथुम — लौगाक्षाः (दोनों सामवेद के चरण); बाभ्रवशालंकायनाः। शालंकायन वाहीक देश में सामवेद का चरण था (वेबर, भारतीय साहित्य का इतिहास, पृ० ७७, २१९)।[2] बाभ्रव पंचाल देश का ऋग्वेदीय चरण था। भाष्य में एक उदाहरण आता है - किं ते बाभ्रव शालंकायनानाम् अन्तरेण गतेन (२।३।४)। इसकी व्यंजना यह ज्ञात होती है कि बाभ्रव प्राच्य चरण था और शालंकायन उदीच्य। इन दोनों के बीच में भरत जनपद में आरुणि का कृष्णयजुर्वेदीय चरण था। उसके किसी अनुयायी को सम्बोधन करके यह कहा गया था कि बाभ्रव और शालंकायन अर्थात् प्राच्य और उदीच्य के बीच में आने वाले तुम कौन होते हो? शालंकायन चरण की एक संज्ञा त्रिकाः भी थी। संभवतः उनके तीन उपभेद थे (भाष्य ५।१।५७-५८, त्रिकाः शालंकायनाः)।

सामवेद के अन्य चरणों में पाणिनि ने शौचिवृक्षि और सात्यमुग्रि चरणों का नाम लिया है (४।१।८१)। उनकी अन्तेवासिनी शौचिवृक्षी—शौचिवृक्ष्या, सात्यमुग्री—सात्यमुग्र्या कहलाती थीं। मशक के श्रौत सूत्र में शौचिवृक्षि का प्रमाण दिया गया है। सात्यमुग्रि चरण सामवेद के राणायनीय चरण का उपविभाग था। अर्ध एकार और अर्ध ओकार के उच्चारण को सात्यमुग्रि और राणायनीय चरणों की परिषत् ने अपने प्रातिशाख्यों में स्वीकार किया था[3]।

१—अनध्याय सम्बन्धी एक नियम का उल्लेख करते हुए खादिरगृह्य सूत्र में कहा गया है—कार्ष्वं तु कठकौथुमाः, ३।२।३१ अर्थात् कठ कौथुम चरण में उस दिन अनध्याय मनाया जाता है, जब इतना अधिक मेह बरसे कि गड्ढे भर जायँ।

२—नडादिगण (४।१।९९) में भी 'शलंकु शलंकं च' एक अन्तर्गण सूत्र है। शालंकि के छात्र शालंकाः कहलाते थे (शालंके र्यूनश्छात्राः शालंकाः, ४।१।९०, भाष्य)। पाणिनि को भी शालंकि कहा गया है जिससे सामवेद के साथ उनका सम्बन्ध सूचित होता है।

३—ननु च भोः, छन्दोगानां सात्यमुग्रिराणायनीयाः अर्धमेकारमर्धमोकारं चाधीयते···पार्षदकृतिरेषा तत्र भवताम्, नैव हि लोके नान्यस्मिन् वेदे अर्ध एकारोऽर्ध ओकारो वास्ति, प्रत्याहार सूत्र ३-४, वा० ४ पर भाष्य; आपिशलि शिक्षा में भी इसे उद्धृत किया गया है।

काण्ठेविद्धि आचार्य का नाम शौचिवृक्षि और सात्यमुग्रि के बाद सूत्र में पढ़ा गया है। सामवेद के वंश ब्राह्मण में यह नाम आया है जिससे सूचित होता है कि वे सामवेद के आचार्य थे।

अथर्ववेद—अथर्वा ऋषि द्वारा प्रोक्त अथर्वन् ग्रन्थ के अध्येतृ-वेदितृ विद्वान् आथर्वणिक कहलाते थे (६।१।१७४, अथर्वन्निति वसन्तादिषु पठ्यते, अथर्वणा प्रोक्तो ग्रन्थोऽपि उपचारात् अथर्वन्नित्युच्यते, तमधीते यः स आथर्वणिकः)। वसन्तादिगण में अथर्वन् और आथर्वण का पाठ भाष्य में प्रामाणिक माना है। (४।२।६३)। पाणिनि के अनुसार ये दोनों तदधीते तद्वेद के अन्तर्गत थे। पतंजलि ने आथर्वणिकों के आम्नाय और धर्म अर्थात् छन्द और धर्मसूत्र का उल्लेख किया है। मौद और पैप्पलाद अथर्ववेद के ही दो चरण थे। सूत्र ३।१।५१ में पाणिनि ने जिस 'ऐलयीत्' पद का उल्लेख किया है वह अभीतक केवल अथर्ववेद के ही एक मन्त्र में उपलब्ध हुआ है (६।१६।३)। अथर्व के एक उप-चरण जाजल का उल्लेख कात्यायन ने किया है (६।४।१४४, वा०), जिसकी स्थापना जाजलि नाम के आचार्य ने की थी। जाजलि ब्राह्मण का उल्लेख शान्तिपर्व में है।

अन्य चरण--पाणिनि ने कुछ अन्य चरणों का भी नामोल्लेख किया है, जो बहुत ही छोटे और छिटपुट चरण रहे होंगे। उदाहरण के लिये ६।२।४२ सूत्र में तैतिल का उल्लेख है। तैतिल आचार्य के ग्रन्थों का अध्ययन करने वाले तैतिल लोगों का नामोल्लेख कात्यायन ने भी ६।४।१४४ सूत्र पर किया है (काशिका—तैतिलि जाजलिनौ आचार्यौ, तत् कृतो ग्रन्थ उपचारात् तौतिलि जाजिल शब्दाभ्यामभिधीयते, तं ग्रन्थमधीयते तैतिलाः जाजलाः)। पतंजलि ने क्रौडाः, काङ्कताः चरणों का नाम दिया है (४।२।६६ भाष्य)। इनमें से क्रौडाः क्रौड्यादिगण में पठित क्रौडि आचार्य के शिष्य ज्ञात होते हैं (४।१।८०)। काङ्कत चरण के काङ्कत ब्राह्मण का उल्लेख आपस्तम्ब धर्मसूत्र में आया है (१४।२०।४)। कर्मन्द और कृशाश्व (४।३।१११) एवं काश्यप और कौशिक (४।३।१०३) चरणों का उल्लेख पाणिनि ने स्वयं किया है। कौशिक सूत्र का संबन्ध अथर्व वेद से था। शेष तीन सूत्र ग्रन्थ किस वेद से संबन्धित थे, ज्ञात नहीं।

ब्राह्मण साहित्य—एक दृष्टि से ब्राह्मणों का पद छन्द या शाखा ग्रन्थों के समकक्ष था, अर्थात् दोनों में ही तद्विषयता का नियम लागू होता था और लोक में दोनों का अस्तित्व अध्येतृ-वेदितृ-समुदाय या चरण के रूप में पाया जाता था। संभवतः कई वैदिक चरण ऐसे थे, जिन्होंने स्वतन्त्र शाखा ग्रन्थों का विकास न करके अपने अध्ययन के लिये विशिष्ट ब्राह्मण ग्रन्थों का ही विकास किया था। ऊपर जिन नामों का उल्लेख किया गया है, उनमें से कई का प्रमाण केवल ब्राह्मण ग्रन्थों में पाया जाता है।

त्रैंश, चात्वरिंश—पाणिनि ने तीस अध्यायों के ब्राह्मण ग्रन्थ को त्रैंश और चालीस अध्याय वाले ब्राह्मण ग्रन्थ को चात्वारिंश कहा है (त्रिंशत् चत्वारिंशतो- र्ब्राह्मणे संज्ञायां डण्—५।१।६२)। कौषीतकी ब्राह्मण में ३० और ऐतरेय में ४० अध्याय हैं, पाणिनि का तात्पर्य इन्हीं दोनों से था। इन दोनों की भाषा पाणिनि की भाषा से प्राचीन है। अतएव हम इसी परिणाम पर पहुँचते हैं कि वे पाणिनि से पूर्वकालीन थे (कीथ, ऋग्वेद ब्राह्मण पृ० ४२)।

पुराणप्रोक्त ब्राह्मण—पाणिनि ने पुराणप्रोक्त ब्राह्मण और पुराणप्रोक्त कल्पों का उल्लेख किया है (पुराणप्रोक्तेषु ब्राह्मणकल्पेषु, ४।३।१०५)। पुराणप्रोक्त ब्राह्मणों के उदाहरण में पतंजलि ने भाल्लविनः और शाट्यायनिनः ब्राह्मणों का उल्लेख किया है (४।२।१०४)। काशिका ने ऐतरेयिणः यह नाम और जोड़ा है। भाल्लविन् सामवेद का प्रसिद्ध चरण था। शाट्यायन का नाम जैमिनि ब्राह्मण की वंश सूची में आता है, जिनका जैमिनीय ब्राह्मण अभी तक प्रसिद्ध है। लुप्त ब्राह्मण ग्रन्थों में शाट्यायन ब्राह्मण के उद्धरण सबसे अधिक मिलते हैं (बटकृष्ण घोष, लुप्त ब्राह्मणों के उद्धरण, पृ० २०२)।

तलवकार जैमिनि के अन्तेवासी थे। उन्होंने अपने आचार्य के चरण में जिस ब्राह्मण की रचना की थी, वह तलवकार ब्राह्मण प्रसिद्ध हुआ, किन्तु तद्विषयता नियम के अनुसार उसे ही जैमिनीय ब्राह्मण कहा गया। पाणिनि ने शौनकादिगण में (४।३।१०६) तलवकार का भी उल्लेख किया है, जिससे ज्ञात होता है कि तलव- कार-प्रोक्त छन्दो ग्रंथ भी था।

हारिद्रविक और शैलाल—ब्राह्मण भी पाणिनि से प्राचीनकाल के ब्राह्मण थे, क्योंकि वैशम्पायन के शिष्य हरिद्रु का नाम सूत्र ४।३।१०४ में अन्तर्निहित है, और शिलालिन् का नामोल्लेख तो सू० ४।३।११० में स्पष्ट आया है। हारिद्रविक ब्राह्मण का प्रमाण यास्क ने निरुक्त में दिया है (नि० १०।५)।

पाणिनि ने माषशराविन् आचार्य के चरण का बाह्वादिगण में उल्लेख किया है। उनके गोत्रापत्य माषशरावयः कहलाते थे। द्राह्यायण और लाट्यायन श्रौतसूत्रों में प्राचीन प्रमाण के आधार पर कहा गया है कि माषशराविंयों का स्वतन्त्र वैदिक चरण था, जिसमें वे लोग ब्राह्मण ग्रंथ का अध्ययन करते थे (बटकृष्ण घोष, वही, पृ० ११२)। काशिका में माष और शराविन् का पदच्छेद अशुद्ध है, वस्तुतः यह एक ही नाम था, जैसा चान्द्र, वृत्ति, हेमचन्द्र और वर्धमान से ज्ञात होता है (गण- रत्न महोदधि, श्लोक २०६, माष शराविण ऋषेः)।

याज्ञवल्क ब्राह्मण—सूत्र ४।३।१०५ पर कात्यायन ने कहा है कि पुराण प्रोक्त ब्राह्मणों का विचार करते हुए याज्ञवल्क्य द्वारा प्रोक्त ब्राह्मण का ग्रहण किया

जायगा, क्यों कि वह तुल्यकाल था (पुराणप्रोक्तेषु याज्ञवल्क्यादिभ्यः प्रतिषेधः तुल्यकालत्वात्)। अतएव याज्ञवल्क्य द्वारा प्रोक्तब्राह्मण याज्ञवल्किनः नहीं कहे जाते, बल्कि यज्ञवल्कानि कहलाते हैं। इस अवतरण के निश्चित अर्थ के विषय में मतभेद है। काशिका का कहना है कि याज्ञवल्क्य नए लेखक थे (अचिरकाल)। कैयट का मत ठीक इसका उल्टा है, जो याज्ञवल्क्य को भी शाट्यायन आदि प्राचीन आचार्यों के समकालीन मानते थे। उनकी दृष्टि में कात्यायन ने अपना वार्त्तिक इस लिये बनाया कि शाट्यायनिनः की तरह याज्ञवल्किनः प्रयोग न बनने लगे, जैसा कि याज्ञवल्क्य की प्राचीनता के कारण बनना चाहिए था। इसका तात्पर्य यह हुआ कि याज्ञवल्क्य का प्रतिषेध न करके पाणिनि ने सूत्र में जो भूल की थी, उसे कात्यायन ने वार्त्तिक द्वारा ठीक कर दिया। पतंजलि ने अपना मत बिलकुल स्पष्टता से प्रकट नहीं किया, उन्होंने लिखा है—एतान्यपि तुल्यकालानि, अर्थात् ये भी तुल्यकाल हैं। यहाँ अपि शब्द तभी घटित होता है, जब याज्ञवल्क्य को शाट्यायन आदिक का तुल्यकाल अर्थात् प्राचीन ब्राह्मणकालीन माना जाय। गोल्डस्टूकर और एगलिंग ने भी इसी मत को स्वीकार किया है (पाणिनि, पृ० १३२; शतपथ ब्रा०, अनुवाद, भाग १, भूमिका)। यदि यह बात सत्य है कि याज्ञवल्क्य भी शाट्यायन आदि के समान ही प्राचीन आचार्य थे, तो प्रश्न होता है कि उनके ग्रन्थों में भी तद्विषयता का नियम लागू क्यों नहीं हुआ और याज्ञवल्क्य के नाम से भी चरण का नाम क्यों नहीं प्रवृत्त हुआ, जैसा कि समस्त प्राचीन छन्द और ब्राह्मण एवं कहीं कहीं कल्प सूत्रों के रचयिता ऋषियों के नाम से भी हुआ। सूत्र ४।२।६६ पर कात्यायन ने स्पष्ट लिखा है कि याज्ञवल्क्य आदि के नाम से अध्येतृ वेदितृ प्रत्यय लगाकर चरण का नाम नहीं बनाया जाता था (याज्ञवल्क्यादिभ्यः प्रतिषेधः)। यह प्रश्न संगत है कि यदि याज्ञवल्क्य का ब्राह्मण भी प्राचीन था तो लोक में उससे संबन्धित चरण की स्थापना क्यों नहीं हुई। इस निश्चित और स्पष्ट प्रश्न का उत्तर यही ज्ञात होता है कि याज्ञल्क्य तुल्यकाल (अचिरकाल), अर्थात् लगभग पाणिनीय युग के आस-पास में होनेवाले आचार्य थे, जिनके ब्राह्मण भाग को पुराण प्रोक्त नहीं माना जाता था, अतएव सूत्र में उसके प्रतिषेध की कोई आवश्यकता न थी। याज्ञवल्क्य द्वारा विरचित ब्राह्मण कौन से हैं? इसका उत्तर भी स्पष्ट समझ लेना चाहिए। प्रश्न यह है कि याज्ञवल्कानि ब्राह्मणानि से जिन ब्राह्मणों का बोध होता था, क्या वे इस समय शतपथ के ही अंग हैं? यदि हाँ तो इस नाम से शतपथ के किस अंश का बोध होता है? शतपथ के अन्तिम काण्डों में याज्ञवल्क्य का बहुत उल्लेख आया है और वही याज्ञवल्कीय काण्ड याज्ञवल्क्य-विरचित ब्राह्मण हैं (एगलिंग)। वेबर ने भी पीछे से इस मत को मान लिया था कि शतपथ का १४ वां काण्ड ही कात्यायन के वार्त्तिक के याज्ञवल्कानि ब्राह्मणानि हैं और वे शाट्यायन आदि पुराने ब्राह्मणों की तरह पुराणप्रोक्त नहीं माने जाते थे, बल्कि पाणिनि के तुल्यकाल समझे जाते थे (भारतीय साहित्य का इतिहास, पृ० १२९)। किन्तु

वेबर ने इसमें यह पख लगा दी थी कि याज्ञवल्क्य को पाणिनि का समकालीन मानना उचित नहीं। शतपथ का १४ वां काण्ड याज्ञवल्क्य की रचना होने के कारण याज्ञवल्क ब्राह्मण नहीं कहलाता, बल्कि इसलिये क्योंकि उसमें याज्ञवल्क्य का विशेष उल्लेख आया है, अर्थात् शतपथ का १४ वां काण्ड याज्ञवल्क्य की स्वयं रचना नहीं, वह किसी और का किया हुआ संग्रह है जो बाद का हो सकता है।

शतपथ का विकास—इस प्रसंग में शतपथ ब्राह्मण के संबन्ध में भी विचार करना आवश्यक है, क्योंकि व्याकरण साहित्य के कई उदाहरणों का उससे विशेष संबन्ध है। इस समय १०० अध्यायों वाला संपूर्ण शतपथ याज्ञवल्क्य की ही रचना माना जाता है, किन्तु शतपथ ब्राह्मण के कई काण्ड अलग अलग ब्राह्मण गन्थों के रूप में विद्यमान थे और बहुत पीछे चलकर एक महाग्रन्थ के रूप में वे संगृहीत हो गए। उदाहरण के लिये उसके पहले दो काण्ड दर्शपौर्णमासेष्टियों से संबन्ध रखते हैं। काण्ड ३-४-५ का संबन्ध पशुबन्ध और सोम यज्ञों से है। किसी समय वे इष्टि और पशुबन्धनामों से अलग पढ़े-पढ़ाए जाते थे, जैसा कि सेष्टि पशुबन्धमधीते (काशिका २।१।६) इस उदाहरण से सूचित होता है। इन काण्डों में याज्ञवल्क्य का नाम प्रमाण रूप में उपन्यस्त किया गया है। काण्ड ६-७-८-९ का संबन्ध अग्नि-चयन से है। उनमें शाण्डिल्य आचार्य का प्रमाण विशेष रूप से आता है। ये चार काण्ड 'अग्नि' कहलाते थे, और उनका अध्ययन अलग किया जाता था, जैसा कि साग्नि अधीते (काशिका २।१।६) और कष्टोऽग्निः (काशिका ७।२।२२), इन उदाहरणों से सूचित होता है। इन नौ काण्डों में सब मिलाकर ६० अध्याय हैं। किसी समय वे षष्टिपथ नाम से प्रसिद्ध थे, जैसा कि पतंजलि ने एक प्राचीनकारिका का उद्धरण देते हुए लिखा है—शतषष्टेः षिकन् पथः। उनके विद्यार्थी षष्टिपथिक कहे जाते थे।

इसके बाद का दशम काण्ड अग्नि रहस्य कहलाता है। अग्नि चयन वाले पहले के चार अध्यायों का जो विषय है, उसी के रहस्य तत्त्वों का इसमें निरूपण है। यहां भी शाण्डिल्य को ही प्रधान रूप से प्रमाण माना गया है। ११वां काण्ड संग्रह कहलाता है, क्योंकि उसमें पहले आए हुए कर्मकाण्ड का संग्रह मात्र है। काण्ड १२-१३-१४ परिशिष्ट कहलाते हैं और इनका विषय भी कुछ विशेष प्रतिपाद्य न होकर फुटकर जैसा है। इन्हीं में से अन्तिम १४वें काण्ड में वे दार्शनिक और अध्यात्म विषय हैं, जिनके केन्द्र में याज्ञवल्क्य का महान् व्यक्तित्व है[1]। उक्थादि-

---

(१) महाभारत में याज्ञवल्क्य को शतपथ के रहस्य (काण्ड १०), संग्रह (काण्ड ११) और परिशेष (काण्ड १२-१४) कर्ता कहा गया है (शान्ति० ३१८।१५ स्वाध्याय मण्डल संस्क०; पूना संस्करण में यह अंश प्रक्षिप्त सिद्ध हुआ है)।

गण में संग्रह नामक एक ग्रन्थ का उल्लेख है, जो सम्भवतः शतपथ का यही ११वां काण्ड रहा होगा। संग्रह का अध्ययन करने वाले छात्र सांग्रहिक कहे जाते थे। बहुत संभव है कि अग्नि रहस्य, संग्रह और परिशिष्ट नाम के भाग भी याज्ञवल्क ब्राह्मण माने जाते थे। १२वें काण्ड को मध्यम भी कहा गया है, जिससे सूचित होता है कि उससे पहले के दो और बाद के दो काण्ड मिलाकर पांच काण्डों की ग्रन्थ रूप में अलग इकाई थी। सौ अध्यायों वाले शतपथ का नाम प्रसिद्ध हो जाने के समय भी षष्टिपथ नाम चालू रहा। इन दोनों का अध्ययन करनेवाले विद्यार्थी षष्टिपथिक और शतपथिक इन अलग अलग नामों से विख्यात थे।

अन्तिम ४० अध्यायों (काण्ड १०–१४) का जो विषय है, वह इस प्रकार का है कि केवल उसी का अध्ययन करने के लिये किसी स्वतन्त्र चरण की स्थापना संभाव्य न थी, इसी लिये उनमें तद्विषयता का नियम लागू नहीं हुआ। फलतः शाट्यायन और भाल्लविन् के पुराण प्रोक्त ब्राह्मणों की तरह या याज्ञवल्क्य ब्राह्मण नामक इन नए अंशों को चरण जैसी प्रतिष्ठा प्राप्त न हो सकी। कात्यायन शुक्ल यजुर्वेद के माध्यन्दिन चरण और शतपथ ब्राह्मण के अनुयायी थे। उनकी दृष्टि में शतपथ के अन्तिम पाँच काण्ड या चालीस अध्याय पहले साठ अध्यायों की अपेक्षा किसी तरह कम प्रामाणिक या प्राचीन न थे। अतएव उन्होंने पाणिनि के सूत्र पर वह वार्त्तिक लगा दिया।

अनुब्राह्मण—अनुब्राह्मण नाम से भी कुछ ग्रन्थ प्रसिद्ध थे। उनके अध्ययन करनेवाले अनुब्राह्मणी कहलाते थे (अनुब्राह्मणादिनिः –४।२।६२)। काशिका ने ब्राह्मण के सदृश ग्रन्थ को अनुब्राह्मण कहा है (ब्राह्मण सदृशोऽयं ग्रन्थः)। तैत्तिरीय संहिता के भाष्य में (१।८।१) भट्ट भास्कर ने तैत्तिरीय ब्राह्मण के विशेष अंश को (१।६।११।१) अनुब्राह्मण कहा है (वेबर, इतिहास, पृ० ८२, पाद टिप्पणी)। शांखायन श्रौतसूत्र के अध्याय १४-१५ को कौषीतकी ब्राह्मण का ही अंश माना जाता था और सुयज्ञ ने कौषीतकी श्रौत सूत्र में उसका ग्रहण किया है। आनर्तीय ब्रह्मदत्त नामक टीकाकार ने उन्हें अनुब्राह्मण कहा है (शांखायन श्रौत १४।२।३; भगवद्दत्त वैदिक वाङ्मय १।११३)। आर्षेय ब्राह्मण में तो उस ग्रन्थ को स्वयं ही अनुब्राह्मण कहा है। आश्वलायन श्रौत, वैतान श्रौत सूत्रों में अनुब्राह्मण ग्रन्थों का उल्लेख है। वैदिक पारायण के अन्त में कहा जाता था—सब्राह्मणानि सानु ब्राह्मणानि प्राजापत्यानि बौधायन गृह्य० ३।१।२७)। वाधूल सूत्र से संबन्धित एक गौण ब्राह्मण ग्रन्थ का पता लगा है, जिसे अनुव्याख्यान कहा गया है, वह भी अनुब्राह्मण ही रहा होगा (भगवद्दत्त, वही २।३४; और भी, बौधायन गृह्यसूत्र ३।१।२१-२४)।

उपनिषद्—कुछ लोगों का ऐसा मत था कि पाणिनि को उपनिषदों का परिचय न था। किन्तु यह ठीक नहीं है। जहाँ तक आचार्य का संबन्ध है, उन्होंने

ऋगयनादिगण में (४।३।२३) उपनिषद् शब्द का पाठ किया है, और स्वयं सूत्रकार की दृष्टि से गणपाठ में आए हुए शब्द उतने ही प्रामाणिक थे, जितने सूत्रों के। भाषाशैली के आधार पर बृहदारण्यक उपनिषद् निश्चयेन पाणिनि से प्राचीन था। तथ्य यह है कि साहित्यिक विकास की दृष्टि से पाणिनि उस युग में थे जब छन्द ब्राह्मण अनुब्राह्मण, श्रौतसूत्र और धर्मसूत्रों का भी विकास हो चुका था। स्वभावतः उपनिषदों का युग तो उससे पहले ही बीत चुका था। सूत्र १।४।८९ में पाणिनि ने जीविकोपनिषदावौपम्ये सूत्र में उपनिषद् का उल्लेख किया है। वहाँ यह शब्द ग्रन्थ विशेष के लिये नहीं, बल्कि रहस्य या गुप्त बात के लिये आया है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में 'औपनिषदिकम् नामक अध्याय में इस शब्द का जो अर्थ है, वही अर्थ पाणिनि के सूत्र में भी लिया गया है। मूल में उपनिषत् शब्द का अर्थ रहस्य विद्या का प्रतिपादन करनेवाला ग्रन्थ विशेष था। कालान्तर में वही शब्द कुछ कुत्सित अर्थ में प्रयुक्त होने लगा, जैसा कि कौटिल्य में है. जहाँ गुप्तचरविभाग द्वारा प्रयुक्त छलकपट के लिये वह शब्द चल गया था। पाणिनि ने उपनिषदमिव कृत्वा=उपनिषत् कृत्य इस अर्थ में इस शब्द का उल्लेख किया है, जो कि उपनिषदों के युग से बहुत दूर और कौटिल्य युग के निकट का अर्थ है। कीथ का भी यही मत है (तैत्तिरीय-संहिता, हर्वर्ड ग्रन्थमाला, पृ० १६७)।

कल्पसूत्र—प्राचीन आचार्यों द्वारा प्रोक्त कल्पग्रन्थों का उल्लेख सूत्रकार ने किया है (४।३।१०५)। पैङ्गीकल्प और आरुणपराजी कल्प उसके उदाहरण हैं। ये दोनों इस समय नहीं मिलते। स्वयं सूत्रकार ने काश्यप और कौशिक ऋषियों के दो चरणों का उल्लेख किया है—काश्यपिनः कौशिकिनः, जिनमें कात्यायन के मत से कल्प सूत्रों का अध्ययन किया जाता था। इन चरणों के पास अपने छन्द या ब्राह्मण ग्रन्थ न थे (काश्यपकौशिक ग्रहणं च कल्पे नियमार्थम्)।

पतंजलि ने पराशर कल्प का भी उल्लेख किया है, जो ऋग्वेद के पाराशर चरण से संबन्धित था। पाणिनि में तो इस चरण के भिक्षु सूत्र का ही उल्लेख है।

कल्पग्रंथों का मुख्य विषय यज्ञीय कर्मकाण्ड था। यज्ञों के विविध अंगों पर आश्रित एवं यज्ञ विधियों की व्याख्या करने वाले बहुत से विशेष ग्रन्थों या पद्धतियों का निर्माण उस युग की आवश्यकता थी। पाणिनि ने इस प्रकार के विस्तृत साहित्य का सूत्रों में ही उल्लेख किया है, जिसे उन्होंने व्याख्यान-साहित्य के अन्तर्गत रखा है। वाजपेय और अग्निष्टोम जैसे क्रतु या सोम यज्ञों पर, अथवा पाकयज्ञ नवयज्ञ जैसे हविर्यज्ञों पर व्याख्यान ग्रंथों की रचना उस समय की जा रही थी (४।३।६८)। आग्निष्टोमिक, वाजपेयिक, राजसूयिक, पाकयज्ञिक, नावयज्ञिक इत्यादि उदाहरणों से उनके नामों की सूचना मिलती है। अलग-अलग देवताओं के लिये पुरोडाश बनाना

उस समय के कर्मकाण्ड का अंग था, उसके लिये भी छोटी पद्धतियों की आवश्यकता थी, जो पुरोडाशिक कहलाती थीं। पुरोडाश बनाने में जिन मंत्रों का ग्रहण होता था, उनकी सरल व्याख्या करने वाली छोटी पुस्तकें पौरोडाशिक कही जाती थीं। साधारण ज्ञान रखने वाले ऋत्विजों के लिये इस प्रकार के सहायक ग्रंथ आवश्यक थे। अध्वर या सोम यज्ञों पर व्याख्यान ग्रंथ आध्वरिक और उनके लिये तैयारी करने की विधि बताने वाले छोटे ग्रंथ पौरश्चरणिक कहलाते थे (४।३।७२)। पाणिनि ने प्रथम नामक ग्रंथ का उल्लेख किया है (४।३।७२)। उसका व्याख्यान ग्रंथ प्राथमिक कहलाता था। वसन्तादिगण में भी इस ग्रंथ का नाम है (४।२।६३)। उसके पढ़ने-पढ़ाने वाले प्राथमिक कहलाते थे। वहीं उसके साथ गुण नामक ग्रंथ का भी नाम है, जिसके अध्येतृ-वेदितृ गौणिक कहे जाते थे। वस्तुतः प्रथम और गुण इन दो ग्रंथों का विषय प्रधान और उपसर्जन के विषय में विचार करना था। गुरु और शिष्य, पिता और पुत्र इनमें कौन प्रधान, कौन गौण है, इस प्रकार का निर्णय देने वाले ग्रंथ उस समय अवश्य थे। उन्हीं के लिये प्रथम और गौण ये नाम आए हैं। ४।३।८८ सूत्र के उदाहरण में गौण मुख्य नामक जिस ग्रंथ का उल्लेख है, वह भी प्रधान और उपसर्जन विषय पर आश्रित था। इसी पृष्ठ भूमि में पाणिनि का कालोपसर्जने च तुल्यम् (१।२।५७) यह प्रतिषेध सूत्र रचा गया जिसमें कहा है कि प्रधान और उपसर्जन का निर्णय करना वैयाकरणों का काम नहीं, उसे लोक से ही जान लेना चाहिए।

व्याख्यान ग्रंथों में ऐष्टिक पाशुक का काशिका ने उल्लेख किया है, जो प्राचीन व्याख्यान ग्रंथ थे। जैसा ऊपर कहा गया है दर्श-पौर्णमासेष्टि की व्याख्या करने वाले शतपथ ब्राह्मण के पहले दो काण्डों का नाम ऐष्टिक था और उसी के तृतीय से पंचम काण्डों का पाशुक।

पारायण संबन्धी साहित्य—यज्ञों के समान ही वैदिक पारायण का व्याख्यान करनेवाले ग्रन्थों की भी आवश्यकता थी। वेद के क्रमपाठ और पदपाठ का अध्ययन करने वाले छात्र क्रमक और पदक कहे जाते थे। ऋगयन का तात्पर्य ऋग्वेद के पारायण से था, जिसकी विधि का व्याख्यान ग्रन्थ आर्गयन कहलाता था (४।३।७३)। उक्थादिगण में क्रमेतर शब्द का उल्लेख है, जिसमें क्रमपाठ के अतिरिक्त संहिता और पद जैसे पाठों का ग्रहण होता था। सूत्र ७।३।६६ में प्रवाच्य नामक विशेष पाठ वाले ग्रंथ का उल्लेख है (प्रवाच्यो नाम पाठविशेषोपलक्षितो ग्रन्थोऽस्ति, काशिका)। किन्तु उसका निश्चित अर्थ ज्ञात नहीं है। पारायण कराते समय गुरु-शिष्य जिस विधि से मन्त्रों का उच्चारण और अनुकरण करते हैं, उसे चर्चा कहा जाता था (३।३।१०५)। चर्चा में मंत्र के एक-एक पद का विगृहीत पाठ किया जाता था, जैसा भाष्य में लिखा है (न केवलानि चर्चापदानि व्याख्यानं वृद्धिः आत्

ऐजिति, पस्पशाह्निक)। चरणव्यूह के अनुसार छन्द या वेद कण्ठस्थ करने में चर्चा मुख्य साधन है। पहले मंत्र बोलनेवाला गुरु श्रावक कहलाता था। मंत्र सुनकर उसे दोहराने वाला शिष्य चर्चक कहलाता था। जो मन्त्र पढ़कर सुनाया जाता है, उसे श्रवणीय कहा जाता था। पारायण की समाप्ति को श्रवणीयपाद कहा गया है। पारायण के अन्त में जो ऋचा पढ़ी जाती थी उसे उत्थापनी ऋच् कहते थे। (कौशिक सूत्र)। उत्थापन करने के लिये जो होम आदि कर्म किया जाता था वह उत्थापनीय कहलाता (अनुप्रवचनादि गण, ५।१।१११)। चर्चा में पारंगत हुआ विद्वान् चर्चिक कहलाता था (उक्थादिगण, ४।२।६०)।

पदपाठ के सम्बन्ध का ग्रंथ पदव्याख्यान और पुनः उस पद व्याख्यान ग्रन्थ को व्याख्यातव्य मानकर उसका भी व्याख्यान पादव्याख्यान कहलाता था (ऋगयनादिगण, ४।३।६३)। पदपाठ के एक एक पद के अर्थों की व्याख्या इस प्रकार के विशिष्ट ग्रन्थों का विषय रहा होगा। ऐसे ही प्रतिपद का व्याख्यान करने वाले ग्रंथ अनुपद कहलाते थे, जिनका अध्ययन करनेवाले अनुपदिक कहे जाते थे (वेबर, संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० ८४)। शौनक ने यजुर्वेद के अनुपद ग्रंथ का उल्लेख किया है, जिस पर महीदास का कहना है कि इस प्रकार के ग्रंथ में प्रत्येक पद के लिये उसका पर्याय दिया जाता था (अनुपदे अनुपदं कर्तव्यम्)। सामवेद के सूत्र ग्रंथों में दस प्रपाठकों वाला अनुपद ग्रंथ भी है जिसमें पंचविंश और षड्विंश ब्राह्मणों की प्रतिपद व्याख्या है (वेबर, वही, पृ० ८०)।

उक्थ – उक्थ नामक ग्रंथ का अध्ययन करनेवाले छात्र को औक्थिक कहा गया है। सम्भवतः उक्थ सामवेद का पार्षद ग्रन्थ था। पतंजलि का कहना है – उक्थ किसे कहते हैं? साम उक्थ हैं। यदि ऐसा है तो सभी सामगान करने वाले औक्थिक कहे जाएंगे। नहीं, यदि उक्थों का निरूपण करने वाले ग्रन्थ को उक्थ मान लिया जाय तो यह दोष नहीं पड़ेगा (भाष्य, ४।२।६०)। भाष्य के आधार पर कैयट का कथन है कि सामवेद के एक लक्षणग्रन्थ का नाम उक्थ था। ऋग्वेद की उन ऋचाओं का चुनाव जिनका पाठ होता द्वारा किसी विशेष अवसर पर होता था, शस्त्र कहलाता है। ऐसे ही उद्गाता द्वारा गेय सामों के संग्रह को उक्थ कहते थे। उक्थों का निश्चय सामवेदीय चरणों की परिषदों का कर्तव्य था। उसके लिये जिस ग्रंथ का निर्माण हुआ वह उक्थ हुआ और उसे पढ़ने पढ़ाने वाले लोग औक्थिक कहे गए।

ज्योतिष–राधीक्ष्योर्यस्य विप्रश्नः (१।४।३९) सूत्र में ज्योतिष सम्बन्धी फलादेश की पूछताछ का उल्लेख है। पाणिनि के समय में ऐसा साहित्य अस्तित्व में आ चुका था। ऋगयनादिगण में उससे सम्बंधित कुछ विशेष शब्द हैं, जैसे उत्पात, संवत्सर, मुहूर्त, निमित्त। इनमें से प्रत्येक अध्ययन का विषय था और

उनके अध्येता औत्पातिक, सांवत्सरिक, मौहूर्तिक और नैमित्तिक कहे जाते थे। शरीर के लक्षणों से किसी व्यक्ति का भाग्यकथन और निमित्त या शकुनों से भविष्य-कथन, ये उस समय के सामान्य विश्वास थे, जिनका बौद्ध साहित्य में प्रायः उल्लेख आता है। पाणिनि ने इसी अर्थ में लक्षण शब्द का प्रयोग किया है (लक्षणे जायापत्योष्टक्, ३।२।५२; अमनुष्यकर्तृके च, ३।२।५३, पतिघ्नी पाणिरेखा; जायाघ्नस्तिलकालकः, काशिका)। ब्रह्मजाल सुत्त में निमित्त उप्पाद और अंगविज्जा के अध्ययन को भिक्षुओं के लिये वर्जित माना है (दीघनिकाय, ब्रह्मजाल सुत्त)। ऋगयनादि गण में उत्पात और उत्पाद दोनों का पाठ मिलता है, किन्तु ब्रह्मजाल सुत्त में उप्पाद (संस्कृत उत्पाद) ही पाठ है। बुद्धघोष ने बिजली, धूमकेतु आदि शकुनों को उप्पाद कहा है (जातकट्ठकथा, १।३७४)। किन्तु ५।१।३८ सूत्र में पाणिनि ने उत्पात शब्द का ही प्रयोग किया है जिसे काशिका में शुभ और अशुभ का सूचक महाभूत परिणाम कहा है। कौटिल्य ने मौहूर्त्तिक और नैमित्तिक लोगों का उल्लेख किया है। यवन राजदूत मेगस्थने ने लिखा है—विशेषज्ञ लोग वर्ष के आरम्भ में एकत्र होकर दुर्भिक्ष और सुभिक्ष, वृष्टि और सूखा एवं हवाओं के विषय में भविष्यकथन करते हैं (दिओदोर, २।४० । यही पाणिनि के सांवत्सरिक होने चाहिएँ (ऋगयनादिगण)।

दार्शनिक साहित्य—पाणिनि के समय से पूर्व ही दार्शनिक चिन्तन पराकाष्ठा को पहुँच गया था। किसी सिद्धान्त या मत को मति या दृष्टि (पाली, दिट्ठि) कहा जाता था। आस्तिक, नास्तिक और दैष्टिक (नियतिवादी) दर्शनों का सूत्र में उल्लेख है। दिष्टिवाद या नियतिवाद के मुख्य आचार्य मस्करी गोशाल थे। लोकायत दर्शन नास्तिक दर्शन था। उक्थादिगण में उसका पाठ प्रामाणिक माना जा सकता है। सूत्रों में न्याय शब्द तीन बार आया है (३।३।१२२; ३।३।३७; ४।४।९२)। किन्तु न्यायदर्शन से उसका तात्पर्य नहीं है। वह तो समयाचार या पूर्वकाल से प्राप्त नियम, धर्म या दस्तूर के अर्थ में आया है। पर न्यायशास्त्र का जो विषय है उसकी शब्दावली का कुछ आभास कई सूत्रों में है, जैसे निगृह्यानुयोगे सूत्र में (८।२।९४)। निग्रह और अनुयोग न्याय के पारिभाषिक शब्द थे[1] (न्यायदर्शन, ५।२।१; ५।२।२३)। किसी प्रतिपक्षी के मत का खण्डन करके पहले उसका मुँह बंद दिया जाय और फिर उसे चिढ़ाया जाय इस प्रकार का वाक्य इस सूत्र की पृष्ठ भूमि है, जैसे 'अनित्यः शब्द इत्यात्थ', शब्द अनित्य है, यही तुम कहने चले हो ? वादविवाद में

---

१ चरक में निग्रह स्थान और अनुयोग की व्याख्या की है—यत् तद्विद्यानां तद्विद्यैरेव सार्धं तंत्रे तंत्रैकदेशे वा प्रश्नः प्रश्नैकदेशो वा ज्ञान विज्ञान वचन प्रतिवचन परीक्षार्थ मादिश्यते। यथा नित्यः पुरुष इति प्रतिज्ञाते यत्परः को हेतुरित्याह सोऽनुयोगः (विमानस्थान, ८।५२; और भी निगृह्यानुयोग की व्याख्या, विमान० ८।६५)।

निगृह्य शब्द का प्रयोग महाभारत में भी आया है (आरण्यकपर्व १३२।१३, १७)। मीमांसा शब्द का भी गणपाठ में उल्लेख आया है। इस विषय का अध्ययन होने लगा था। उसके छात्र मीमांसक कहलाते थे (क्रमादिभ्यो वुन् , ४।२।६१, मीमांसामधीते वेद वा मीमांसकः, ३।१।६, मीमांसते)।

वास्तुविद्या—ऋगयनादिगण में वास्तुविद्या, क्षत्रविद्या और अंगविद्या का भी पाठ है। ब्रह्मजालसुत्त में भी ये वत्थुविज्जा, खत्त विज्जा, अंगविज्जा एक साथ पढ़ी हैं।

भिक्षुसूत्र—पाराशर्य और कर्मन्द के भिक्षुसूत्रों का ऊपर उल्लेख किया जा चुका है (४।३।११०; १११)। वेबर का मत है कि यहाँ पाणिनि बुद्ध काल से पूर्व के ब्राह्मणभिक्षुओं का उल्लेख कर रहे हैं।

कर्मन्द के ग्रन्थ के विषय में अधिक ज्ञात नहीं है, किन्तु पाराशर्यकृत भिक्षुसूत्र वर्तमान वेदान्त सूत्र ज्ञात होते हैं, जो कि उपनिषदों पर आश्रित हैं। कुछ विद्वानों का मत है कि भिक्षुसूत्रों में सांख्य सूत्रों का पूर्व रूप था। उसकी रचना भिक्षु पञ्चशिख ने की थी। महाभारत के अनुसार वह पाराशर्य गोत्रीय था[1] पञ्चशिख के इस सूत्रग्रन्थ का झुकाव वेदान्त की ओर अधिक था। कुछ भी हो मूल भिक्षुसूत्रों की रचना वैदिक चरण के अन्तर्गत हुई, व्यक्ति विशेष का उनके साथ संबन्ध आनुषङ्गिक था। मूलतः ऋग्वेद की बाष्कल शाखा के अन्तर्गत पाराशर्य-चरण की स्थिति थी। इसी चरण के कल्पसूत्र का अध्ययन करनेवाले पाराशर कल्पिक या पराशराः, और भिक्षुसूत्रों के अनुयायी पाराशरिणः कहलाते थे।

नटसूत्र—सूत्र ४।३।१२९ में जिस नाट्य का उल्लेख है, वह भी नटों से संबन्धित कोई ग्रन्थ था। काशिका में लिखा है उस नाट्य ग्रन्थ की आम्नाय या छन्दः जैसी प्रतिष्ठा थी (चरणाद् धर्माम्नाययोः, तत् साहचर्यात् नट शब्दादपि धर्माम्नाययोरेव भवति)। शिलाली और कृशाश्व आचार्यों के चरणों में नटसूत्रों का जो विकास हुआ था वह प्रतिष्ठा में किसी आम्नाय ग्रन्थ से कम न था (४।३।११०–१११) भरत के नाट्यशास्त्र में नटों को शैलालक कहा गया है। पाणिनि ने उन्हें शैलालिनः कहा है। भारतवर्ष की यह प्रथा है कि कोई भी महत्त्वपूर्ण शास्त्रीय ग्रन्थ सर्वथा लुप्त न होकर पीछे के ग्रन्थ में विलीन हो जाता था। इस साहित्यिक प्रथा को प्रति संस्कार कहते थे। संभावना यही है कि शिलालिन् के नटसूत्रों की सामग्री वर्तमान

---

(१) पारासर्यसगोत्रस्य वृद्धस्य सुमहात्मनः।
भिक्षोः पञ्चशिखस्याहं शिष्यः परमसंमतः॥
शान्तिपर्व, पूना (३०८।२४)।

नाट्यशास्त्र में परिगृहीत कर ली गई। उस विषय का अध्ययन ऋग्वेद के चरण के अन्तर्गत आरम्भ हुआ था। शिलालि-चरण के अन्तर्गत एक ब्राह्मण ग्रन्थ का भी विकास हुआ था, आपस्तम्ब श्रौतसूत्र में उसे शैलालि ब्राह्मण कहा गया है (६।४।७)। किसी समय जिस नाट्य विद्या का इतना संमानित पद था, कालान्तर में उसका सामाजिक ह्रास होने लगा। कहाँ पाणिनि के समय में या उनसे पूर्व नटसूत्रों को वैदिक चरण में स्थान मिला था और कहाँ पतंजलि उसे नियमपूर्वक अध्ययन के क्षेत्र से बहिर्भूत मानते हैं! न तो अध्यापन करानेवाले नटों को 'आख्याता' गुरु माना जाता था, और न उनके अध्यापन को उपयोग ही (आख्यातोपयोगे १।४।२९)[1]।

सूत्र ३।२।२१ में पाणिनि ने नान्दीकर का उल्लेख किया है। नाटक के आरंभ में नान्दी पाठ करनेवाले के लिये यह संज्ञा प्रयुक्त होती थी।

आख्यान और काव्य—पाणिनिकालीन सूत्र युग में श्लोक और गाथाओं का भली प्रकार प्रचार हो गया था। उनके रचयिता श्लोककार और गाथाकार कहलाते थे (३।२।२३)। आख्यानों का भी विशाल साहित्य अस्तित्व में आ चुका था (६।२।१०३)। आख्यानों के उदाहरण में पतंजलि और काशिका ने भार्गव राम और ययाति के प्राचीन आख्यानों वाले ग्रन्थों का उल्लेख किया है। इनमें से प्रत्येक दो भागों में बंटा हुआ था। उनकी संज्ञा पूर्वाधिराम और अपराधिराम, एवं पूर्वयायात और अपरयायात थी। महाभारत के ययाति उपाख्यान की पुष्पिका में ये दोनों नाम आए हैं (आदिपर्व, पूनासंस्क अध्याय ७०-८० पूर्व यायात; अध्याय ८१-८८ उत्तरयायात)।

काव्य साहित्य के अन्तर्गत पाणिनि ने शिशुक्रन्दीय, यमसभीय और इन्द्र जननीय का उल्लेख किया है (४।३।८८)। शिशुक्रन्दीय संभवतः कृष्णजन्म की कथा पर आश्रित था, जिसमें जन्म के समय शिशु कृष्ण के रोने से कथा का पट परिवर्तन होता है। दूसरे यमसभीय काव्य में यम की सभा से संबन्धित किसी

---

(१) भाष्य—उपयोग इति किमर्थम्? नटस्य शृणोति, ग्रन्थिकस्य शृणोति। उपयोग इत्युच्यमानेऽप्यत्र प्राप्नोति, एषोऽप्युपयोगः। आतश्च उपयोगे। यदारम्भकाः रङ्गं गच्छन्ति नटस्य श्रोष्यामो ग्रन्थिकस्य श्रोष्यामः। एवं तर्हि उपयोग इत्युच्यते। सर्वश्चोपयोगः तत्र प्रकर्षगति विज्ञास्यते, साधीयो य उपयोग इति? कश्च साधीयः यो ग्रन्थार्थयोः। अथोपयोगः को भवितुमर्हति यो नियमपूर्वकः तद्यथा उपयुक्ता माणवका इत्युच्यन्ते य एते नियमपूर्वक मधीतवन्तो भवन्ति। इसका भाव यह है कि नट लोग रंगभूमि में जाकर साक्षात् अभिनय द्वारा नाट्य का ज्ञान कराते थे। ग्रन्थ या अर्थ विज्ञान की परिपाटी से उनका पाठ नहीं चलता था और न वे नियमपूर्वक उपनयनादि कराकर अपने शास्त्र का अध्यापन कराते थे।

कथा का आधार था। संभव है नचिकेता के यम के पास जाने की कथा पर आश्रित हो। इन्द्रजननीय ग्रन्थ में इन्द्र के जन्म और वृत्रासुर के वध की वस्तुकथा होनी चाहिए, जो कि अत्यन्त प्राचीन उपाख्यान था।

महाभारत– पाणिनि ने भारत और महाभारत इन दोनों का उल्लेख किया है (६।२।३८)। आश्वलायन गृह्य सूत्र में भी भारत और महाभारत का इसी प्रकार एक साथ उल्लेख है[१]। भारत चतुर्विंशति साहस्री संहिता का नाम था। उसमें धर्मनीति दर्शन आदि के अनेक उपाख्यान जोड़कर जो उपबृंहण किया गया उससे शतसाहस्री संहिता महाभारत का स्वरूप बना। यह बृहत् संस्कार भार्गवों ने किया। इस नए संस्करण को इतनी सफलता प्राप्त हुई कि मूल ग्रन्थ जिसका नाम भारत था भूल में पड़ गया और आगे चलकर बिलकुल लुप्त हो गया। आश्वालयन गृह्य-सूत्र के समय तक मूल भारत काव्य महाभारत से अलग भी विद्यमान था। (सुकथनकर, भृगुवंश और भारत, नागरीप्रचारिणी पत्रिका श्रावण (१९९७)।

वृत्ति—पाणिनि ने दो अर्थों में वृत्ति शब्द का प्रयोग किया है। एक तो शिल्प या रोजगार के लिये ५।२।१०१; ४।१।४२ जिसमें लगा हुआ व्यक्ति वार्त्त या वृत्तिमान् इस प्रतिष्ठित संज्ञा का अधिकारी होता था। दूसरे ग्रन्थ की टीका को भी वृत्ति कहा जाता था, जैसे सूत्र १।३।३८ में (वृत्तिसर्गतायनेषुक्रमः)। ऋक्षु अस्य क्रमते बुद्धिः, ऋग्वेद की व्याख्या में इनकी बुद्धि बहुत चलती है (काशिका), इस उदाहरण में वेद मंत्रों के व्याख्यान को वृत्ति माना है। मत्रों के प्रत्येक पद का विग्रह और उनका अर्थ यही इन आरम्भिक वृत्तियों का स्वरूप था, जैसा शतपथ की मंत्रार्थ शैली से ज्ञात होता है। पतंजलि ने व्याकरण के सूत्रों के व्याख्यान के लिये भी उसी शैली का उल्लेख किया है (चर्चा, उदाहरण, प्रत्युदाहरण, पस्पशाह्निक)। पाणिनि के समय से ही सूत्रों पर इस प्रकार की वृत्ति की आवश्यकता थी और वह अवश्य बनी होगी।

अध्याय ५, परिच्छेद ४–व्याकरण विषयक सामग्री

व्याकरण—अष्टाध्यायी से व्याकरण के इतिहास के संबन्ध में भी कुछ प्रामाणिक सामग्री उपलब्ध होती है। प्राचीनकाल में व्याकरण शास्त्र का बहुत विस्तार था; अब केवल अष्टाध्यायी उसका एक मात्र प्रामाणिक ग्रन्थ बच गया है।

---

(१) अथ ऋषयः शतर्चिनो माध्यमाः गृत्समदो विश्वामित्रो वामदेवोऽत्रिर्भरद्वाजो वशिष्ठः प्रगाथाः पावमान्यः क्षुद्रसूक्ता महासूक्ता इति। प्राचीनावीती-सुमन्तु-जैमिनि-वैशम्पायन-पैल सूत्र-भाष्य भारत-महाभारत-धर्माचार्याः (आश्वलायन गृह्य, ३।४; प्रथम प्राच्य संमेलन लेख संग्रह, २।६०)।

व्याकरण को शब्द विद्या और वैयाकरण को शब्दकार (३।२।२३) या शाब्दिक (४।४।३४) भी कहते थे (शब्दं करोति शाब्दिकः)।

पूर्ववैयाकरण—शाकटायन और पतंजलि के बीच में शब्द विद्या या व्याकरण-शास्त्र का बहुत अधिक उत्कर्ष हुआ था। अनेक प्रमाणभूत आचार्यों ने अपने प्रातिभ ज्ञान से शब्द के विषय में गहन और विस्तृत ऊहापोह करते हुए ग्रन्थों की रचना की। प्रातिशाख्य निरुक्त और अष्टाध्यायी में लगभग ६५ आचार्यों के नाम आए हैं। (सूची के लिये देखिए पूर्व पृष्ठ १९)। यास्क के समय में निरुक्त के अध्ययन से भी अधिक व्याकरण का महत्त्व हो गया था, उन्होंने निरुक्त को व्याकरण का पूरक कहा है (व्याकरणस्य कात्स्न्र्यम्)। कालान्तर में व्याकरण की यह पदवी और अधिक उच्च हुई। एक प्रकार से वैयाकरण लोक पर छा गए और लोकजीवन के विविध अंगों का प्रत्यक्ष दर्शन प्राप्त करके उन्होंने अपने शास्त्र में शब्दों का संग्रह किया और व्याकरण की रचना की—

शब्दास्सुबहवः संकलिताः, तानादाय पाणिनिना स्मृतिरुपनिबद्धा (४।१।११४, काशिका)। पतंजलि ने व्याकरण को सब वेदांगों में मुख्य कहा है। उसकी इस स्थिति में आजतक कोई अन्तर नहीं आया है। विद्याओं के आपेक्षिक मूल्यांकन में व्याकरण को वेद का चक्षु कहा गया। यह सत्य ही है, क्योंकि प्रकृति और प्रत्यय के विश्लेषण द्वारा शब्द के मूल अर्थ तक पहुँचने की जैसी युक्ति व्याकरण से प्राप्त होती है, अन्य वेदांगों से नहीं।

पाणिनि से पूर्व जो अनेक आचार्य थे उनमें से निम्नलिखित पूर्वाचार्यों का अष्टाध्यायी में नामतः उल्लेख हुआ है। (१) शाकटायन (३।४।१११, ८।३।१८, ८।४।५०)—यास्क के अनुसार शाकटायन का मत था कि सब नाम या संज्ञाएँ धातुओं से बनती हैं। सूत्र १।४।८६-८७ पर काशिका में एक उदाहरण सुरक्षित रह गया है—अनुशाकटायनं वैयाकरणाः, अर्थात् सब वैयाकरण शाकटायन से घट कर हैं। यह उस पूर्व युग का उदाहरण है जब शाकटायन का यश सूर्य के समान तप रहा था और पाणिनि की उदयोन्मुखी ख्याति क्षितिज पर थी।

(२) शाकल्य (१।१।१६, ६।१।१२७, ८।३।१९, ८।४।५१)—शाकल्य ने ऋगवेद का पदपाठ स्थिर किया। पदपाठ में ,जो इति का प्रयोग है, उसे पाणिनि ने शाकल्य कृत अनार्ष इति कहा है (१।१।१६)। उसे ही ६।१।१२९ सूत्र में उपस्थित कहा गया है। सूत्र ३।२।२३ में पदकार का उल्लेख है, जो संभवतः शाकल्य ही हैं।

(३) आपिशलि (६।१।९१)—यह पाणिनि से पूर्व विशिष्ट वैयाकरण थे। पतंजलि ने आपिशल पाणिनीय-व्याडीय-गौतमीयाः इस प्रकार पौर्वापर्य क्रम से इन चारों के शिष्यों का उल्लेख किया है (६।२।३६)। काशिका में उल्लेख

है कि आपशलि के व्याकरण में गुरु और लघु संबन्धी नियमों का विशेष रूप से प्रतिपादन किया गया था (आपिशल्युपज्ञं गुरुलाघवम् ६।२।१४)। संभव है पाणिनि के ह्रस्व दीर्घ प्रकरण में आपिशलि की सामग्री का उपयोग किया गया हो।

(४) गार्ग्य (७।३।९९, ८।३।२०, ८।४।६७)—यास्क ने धातुओं से नाम की उत्पत्ति के विषय में गार्ग्य के मत का उल्लेख किया है। ऋक् और यजुः प्रातिशाख्य में भी गार्ग्य का नाम आया है।

(५) गालव (६।३।६१, ७।१।७४)—निरुक्त और ऐतरेय आरण्यक में (५।३) गालव का मत उद्धृत किया गया है। शैशिरिशाखा में गालव को शौनक का और शाकटायन को शौशिरि का शिष्य कहा है। गालव का चरण देवमित्र शाकल्य के चरण का अवान्तर विभाग था (भगवद्दत्त, वैदिक वाङ्मय १।८३)। शान्ति पर्व में उल्लेख है कि बाभ्रव्य पाञ्चाल नाम के आचार्य ने पहले क्रम-पाठ निश्चित किया था। फिर गालव ने एक शिक्षा की रचना की और उसी क्रम पाठ को सुव्यवस्थित किया।[1]

(६) भारद्वाज (७।२।६३)—जैसा ऊपर कहा गया है भारद्वाज ऐन्द्र व्याकरण की परम्परा में थे (पूर्व पृष्ठ १८)। भारद्वाजीय आचार्यों ने अपने पृथक् वार्त्तिक बनाए थे जिनका पतंजलि ने कई बार उद्धरण दिया है (भाष्य ३।१।३८; ३।१।८९)। ऋक् और तैत्तिरीय प्रातिशाख्यों में भारद्वाज का प्रमाण आया है।

(७) काश्यप (१।२।२५, ८।४।६६)—यजुः और तैत्तिरीय प्रतिशाख्य में काश्यप का उल्लेख है। शान्ति पर्व ३३०।२४ से ध्वनित होता है कि काश्यप का कोई निरुक्त ग्रन्थ था।

(८, ९, १०) सेनक (५।४।११२); स्फोटायन (६।१।१२३); चाक्रवर्मण (६।१।१३०)—इन आचार्यों के नाम अष्टाध्यायी के अतिरिक्त अन्यत्र नहीं मिलते।

पाणिनि ने अन्य आचार्यों के मत का आचार्याणाम् इस पद से सामान्यतः उपन्यास किया है (७।३।४८, ७।४।५२) एवं कई सूत्रों में पूर्व भारत के (प्राचां) और उत्तर-पश्चिमी (उदीचां) आचार्यों का मत उद्धृत किया है।

१—पाञ्चालेन क्रमः प्राप्त स्तस्माद् भूतात् सनातनात्।
बाभ्रव्य गोत्रः स बभौ प्रथमः क्रमपारगः॥
नारायणाद् वरं लब्ध्वा प्राप्य योग मनुत्तमम्।
क्रमं प्रणीय शिक्षां च प्रणयित्वा स गालवः॥
(शान्ति पर्व ३३०।३७-३८)

पूर्वाचार्य सूत्र—पूर्ववर्ती जिन व्याकरणों की सामग्री पाणिनि ने अपने शास्त्र में परिगृहीत कर ली, उनमें एक भी अब नहीं बचा; सब विस्मृति के गर्भ में विलीन हो गए। केवल दो-चार सूत्र ही छिटपुट मिले हैं। सूत्र ४।१।१४ पर अपने वार्तिक में कात्यायन ने पूर्व सूत्र का उल्लेख किया है। पतंजलि ने स्वीकार किया है कि अनुपसर्जनात् यह पाणिनि सूत्र किसी पूर्व व्याकरण से लिया गया था। अन्यत्र पतंजलि ने एक कारिका उद्धृत की है, जिसमें कहा है कि पूर्व सूत्र में वर्ण को अक्षर कहते थे (पूर्व सूत्रे वर्णस्य अक्षरमिति संज्ञा क्रियते)।

कैयट ने २।३।१७ सूत्र पर एक पाठान्तर दिया है, जो आपिशलि के व्याकरण में था (मन्य कर्मण्यनादर उपमाने विभाषा प्राणिष्विति आपशलिरधीते स्म)। कैयट ने यह प्रमाण किसी प्राचीन टीका से लिया होगा, क्योंकि उनके समय तक (११०० ई० के लगभग) आपिशलि के व्याकरण का अस्तित्व संभव नहीं जान पड़ता। फिर भी आपिशलि और पाणिनि दोनों में इस सूत्र (मन्यकर्मण्य नादरे विभाषा पाणिषु) का जो पाठ है उसकी तुलना करने से यह महत्वपूर्ण तथ्य प्रकट होता है कि पाणिनि ने किस प्रकार सर्वांश में स्वल्प परिवर्तन के साथ पूर्वाचार्यों की सामग्री को अपने व्याकरण में स्थान दिया था।

पतंजलि ने १।३।२२ सूत्र के वार्तिक पर लिखा है 'अस्तिं सकारमातिष्ठते'। न्यास में इसे आचार्य आपिशलि के सूत्र की विशेषता कहा है। उनके व्याकरण में अस् धातु का रूप केवल स् (सकार मात्र) था। पतंजलि ने ४।२।४५ सूत्र के श्लोक वार्तिक में आपिशलि विधि की व्याख्या करते हुए आपिशलि व्याकरण का एक सूत्र उद्धृत किया है—धेनुरनञि कमुत्पादयति। न्यासकार ने लिखा है कि धेनोरनञः, यह आपिशलि का सूत्र था। कात्यायन ने आपिशलि के व्याकरण का अध्ययन करने वाले विद्यार्थियों का नाम लिया है (पूर्व सूत्र निर्देशो वा आपिशलमधीत इति ४।१।१४ वा० ३)। पतंजलि ने आपिशलि के ग्रन्थों का अध्ययन करने वाले ब्राह्मणी छात्रा को आपिशला ब्राह्मणी कहा है। पाणिनीय सूत्र ७।३।९५ का आपिशलि व्याकरण में जो पाठ था, वह काशिका में उद्धृत है।

पाणिनीय पाठ—तुरुस्तुशम्यमः सार्वधातुके।

आपिशलिपाठ—तुरुस्तुशम्यमः सार्वधातुकासु छन्दसि।

काशिका का यह उल्लेख अत्यन्त महत्वपूर्ण है। पतंजलि ने भी इस पर ध्यान नहीं दिया था।

कैयट के अनुसार काशकृत्स्न के व्याकरण का एक सूत्र कात्यायन को विदित था (काशकृत्स्नस्य प्रत्ययोत्तरपदयोरिति सूत्रम्, २।१।५१ वा०)। भाष्य के अनुसार काशकृत्स्न के ग्रंथ में तीन अध्याय थे (त्रिकं काशकृत्स्नम् ५।१।५८ काशिका)।

कैयट ने लिखा है कि पाणिनि के कौड्यादि गण (४।१।८०) को कात्यायन ने किसी पहले व्याकरण के सूत्रानुसार रौढ्यादि लिखा है।

ये उदाहरण संख्या में बहुत ही कम है, फिर भी ऊपर लिखे हुए सूत्र २।३।१७ और ७।३।९५ के पाणिनि और आपिशलि के पाठों पर ध्यान देने से यह स्पष्ट होता है कि पूर्व की सामग्री को किस प्रकार ध्यान पूर्वक और सर्वांश में पाणिनि ने अपने शब्दशास्त्र में संगृहीत किया था।

पंच व्याकरण—सूत्र ४।२।६० पर वार्तिक के उदाहरण में काशिका ने पंच व्याकरणः प्रयोग दिया है, जो पाँच व्याकरणों का अध्ययन करनेवाले छात्रोंकी संज्ञा थी। ये पाँच व्याकरण कौन थे ? इस प्रश्न के उत्तर में कहा जा सकता है कि अष्ट शाब्दिकों की जो श्लोकबद्ध सूची[1] मिलती है, उसमें से चन्द्र, अमर और जैनेन्द्र के नाम निकाल दिए जायँ, तो जो शेष बचते हैं वे ही प्राचीनों के पंच व्याकरण थे, अर्थात् शाकटायन आपिशलि, भारद्वाज, पाणिनि और काशकृत्स्न के व्याकरण।

पूर्वाचार्य संज्ञाएँ—अष्टाध्यायी में पाणिनि ने टि, घु, भ आदि कितनी ही नई संज्ञाएँ बनाई हैं, किन्तु अनेक महासंज्ञाएँ उनके पहले से चली आती थीं, जिन्हें सूत्रकार ने अपने ग्रन्थ में स्वीकृत किया, जैसे समास, अव्यय, कर्मप्रवचनीय आदि। किन्तु यहाँ इस प्रकार की संज्ञाओं की चर्चा न करके हम उन संज्ञाओं का नामोल्लेख करना चाहते हैं, जो पाणिनि से पूर्वकाल के ऐन्द्र आदि व्याकरणों में प्रचलित थीं। जिस समय पाणिनीय शास्त्र का निर्माण हो गया, उस समय भी उन संज्ञाओं का प्रचलन बन्द नहीं हुआ। आश्चर्य तो यह है कि पाणिनीय शास्त्र की परम्परा में ही पूर्वाचार्य संज्ञाओं का उपयोग होता रहा। वहीं से उनका अच्छा संग्रह प्राप्त होता है—

(१) अद्यतनी = लुङ् (२।४।३ सूत्र पर वार्त्तिक; ३।२।१०२ वा० ६)।

(२) अभिनिष्टान (८।३।३६) = विसर्जनीय (श्री सूर्यकान्त, पंजाब ओरियन्टल रिसर्च जर्नल १।१३-१८)।

(३) आत्मनेभाषा = आत्मनेपद (भाष्य ६।३।७-८)।

(४) आर्धधातुका=आर्धधातुक (२।४।३५ भाष्य)।

(५) आङ् = टा (७।३।१२०)।

(६) (अ) उपग्रह = आत्मनेपद (३।२।१२७ वा० ५ पर कैयट)। न्यास ने परस्मैपद और आत्मनेपद दोनों का उपग्रह कहा है (लादेश व्यङ्ग्य क्रिया विशेषो

---

(१) इन्द्रश्चन्द्रः काशकृत्स्नापिशली शाकटायनः।
पाणिन्यमरजैनेन्द्रा जयन्त्यष्टादिशाब्दिकाः॥

मुख्य उपग्रहः, इह तद्व्यक्तिनिमित्तत्वात् परस्मैपदात्मनेपदयोः उपग्रह शब्दो वर्तते—३।१।८५ सूत्र पर न्यास)[1]।

(६) (आ) उपग्रह = षष्ठ्यन्त (काशिका = ६।२।१३४, तत्र उपग्रह इति षष्ठ्यन्तमेव पूर्वाचार्योपचारेण गृह्यते)। वाक्यपदीय के तृतीय काण्ड का १४ वां समुद्देश उपग्रह समुद्देश कहलाता है, जिसपर हेलाराज ने लिखा है—पूर्वाचार्य-प्रसिद्धयोपग्रह शब्द वाच्योऽयमर्थो व्यवह्रियतेऽत्रशास्त्रे ।

(७) उपचार=अयस् कुम्भ आदि शब्दों में विसर्ग के स्थान में सुट् या सकार (४।१।१ सूत्र पर वार्त्तिक—नागेश की व्याख्या के अनुसार, और भी काशिका ८।३।४८। ऋक् प्रातिशाख्य और अथर्वप्रातिशाख्य (३।१।७ विश्वबन्धु संस्क०) में भी इस परिभाषा का प्रयोग हुआ है)।

(८) उपस्थित=अनार्ष इति अर्थात् पदपाठ की इति। पाणिनि ने ६।१।१२९ सूत्र में इस शब्द का प्रयोग किया है। जहाँ पतंजलि ने उसका अर्थ 'आनर्ष इति' किया है (किमिद मुपस्थितं नाम, अनार्ष इति करणः)। ऋक् प्रातिशाख्य में यह शब्द आता है—उपस्थितं सेति करणम् (१०।१२)। ६।१।१३० सूत्र पर वार्त्तिक (ईश्च चाक्रवर्मणस्येत्यनुपस्थितार्थम्)।

(९) घु = उत्तरपद (भाष्य ७।३।३ श्लोकवार्त्तिक ३, किमिदं घोरिति, उत्तरपदस्येति, और भी भाष्य ६।४।१९; सूत्र ७।?।२१ के भाष्य में अघु को अनुत्तर-पद कहा गया है। कीलहर्न का सुझाव था कि घु का शुद्ध पाठ घ्रु होना चाहिए (इन्डियन एन्टिकरी १६।१०६)।

(१०) कल्म=अपरिसमाप्त कर्म (भाष्य १।४।५१, किमिदं कल्मेति, अपरि-समाप्तं कर्म कल्म)।

(११) चर्करीत=यङ्लुगन्त (६।१।६ और ७।४।९२ पर भाष्य) निरुक्त २।२८ में चर्करीत संज्ञा का उल्लेख है। अदादिगण के अन्त में धातुपाठ में भी वह है। कलापव्याकरण में यङ्लुगन्त के स्थान में चर्करीत ही है। कलाप की परम्परा में कितनी ही पूर्वपाणिनीय संज्ञाएँ सुरक्षित पाई जाती हैं।

(१२) चेक्रीयित = यङ् (भाष्य ४।१।७८ श्लोकवार्त्तिक, कैयट)।

(१३) डु=षट् संज्ञा (१।४।१ सूत्र पर वा० ४३; भाष्य—का पुनर्डु संज्ञा। षट्संज्ञा)।

---

(१) और भी देखिए के० ए० सुब्रह्मण्य ऐय्यर, वैयाकरणों में उपग्रह का अर्थ, जर्नल आफ ओरियन्ट लरिसर्च, मद्रास, भाग २३, १९५४, पृ० ७९-८८।

(१४) तरणि = संज्ञा छन्दस् (भाष्य ३।२।८ वा० २, किमिदं तरणीति ? संज्ञा-छन्दसोर्ग्रहणम्)। सूत्र ६।३।६३ (ङ्यापोः संज्ञा छन्दसोर्बहुलम्) में पाणिनि ने तरणि न कहकर संज्ञाछन्दसोः कहा है।

(१५) ध्रौव्यार्थ=अकर्मक (३।४।७६ में इसका प्रयोग है, किन्तु अर्थ की व्याख्या नहीं की गई। देखिए १।४।५० के श्लोकवार्त्तिक में ध्रुवयुक्ति जिसका अर्थ प्रदीप ने अकर्मक किया है)।

(१६) नाम=प्रातिपदिक (निरुक्त १।१। में इसका उल्लेख है। पाणिनि ने भी सूत्र ४।३।७२ में नाम और नामिक का उल्लेख किया है। जहाँ प्रातिपदिक से ही तात्पर्य है)।

(१७) न्याय्य=उत्सर्ग (भाष्य २।३।१, न्याय्योत्पत्तिर्न भवति, कैयट। ऋक्-प्रातिशाख्य में उवट ने न्याय्य का उत्सर्ग अर्थ किया है)।

(१८) परोक्षा = लिट् या परोक्षभूत (१।२।१८ सूत्र पर श्लोकवार्त्तिक पर कैयट)।

(१९) प्रक्रम = उरः कण्ठ शिरः (१।२।३० सूत्र के वार्त्तिक २ पर भाष्य—कः पुनः प्रक्रमः, उरः कण्ठः शिर इति)।

(२०) प्रतिकण्ठ = निपातन (ऋक् प्राति० १।५४)। पाणिनि ने ४।४।४० सूत्र में प्रतिकण्ठं गृह्णाति प्रातिकण्ठिकः का उल्लेख किया है, जिसका अर्थ निपातनसिद्ध प्रयोगों से ही है। संभवतः प्रातिकण्ठिक उस वैयाकरण को कहा गया है, जिसने पृषोदरादि के सदृश निपातन सिद्ध प्रयोगों का संग्रह या व्याख्यान किया था। पाणिनि ऐसे प्रयोगों के विषय में व्याकरण के प्रकृति-प्रत्यय की आवश्यकता नहीं समझते, बल्कि लोक में जैसा उच्चारण या व्याकरण में जैसा उपदेश किया जाता है, उसी रूप में उन्हें स्वीकार करते हैं—पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्, ६।३।१०९)।

(२१) प्रत्यङ्ग = अन्तरंग (भाष्य ६।३।१३८; कीलहार्न, इण्डियन एण्टिक्वेरी, १६।१०२)।

(२२) प्रसव = पुमान् (भाष्य १।२।६४ वा० ५३ पर श्लोकवार्तिक, संस्त्यान-प्रसवौ लिङ्गम्)।

(२३) प्रसारण = सम्प्रसारण (१।१।२ वा० १४)।

(२४) ल = लुक् (५।२।३७ भाष्य; २।२।१७ पर हरदत्त ने लिखा है—लुक एष पूर्वाचार्यसंज्ञा)।

(२५) लः = लकाराः। सूत्र ३।४।६९ में पाणिनि ने इस संज्ञा का प्रयोग किया है। १।४।५१ श्लोकवार्तिक में भी यह है। लट् लिट आदि लकारों के नाम पाणिनि ने प्राचीन संज्ञाओं के स्थान में स्वयं प्रचलित किए, जैसे—

भवन्ती = लट्
श्वस्तनी = लुट् (३।३।१५ पर वार्त्तिक)
भविष्यन्ती = लृट् (३।३।१५ पर वार्त्तिक)
नैगमी = लेट् (अथर्व प्राति० २।३।२)
प्रेषणी = लोट् (अथर्व प्राति० २।१।११ = २।३।२१)
ह्यस्तनी = लङ् (अथर्व प्राति० ३।२।५)

अद्यतनी = लुङ् (२।४।३ वा० २; ३।२।१०२ वा० ६; ६।४।११४ वा० ३; अथर्व० प्रा० २।२।६)

(२६) व्यक्ति = लिङ्ग। पाणिनि ने अपने सूत्र काण्ड के सूत्र १।२।५१ (लुपि युक्तवद् व्यक्तिवचने) में इस संज्ञा का प्रयोग किया है, किन्तु उसकी व्याख्या नहीं की। काशिका में लिखा है—व्यक्तिवचने इति च लिङ्ग संख्ययोः पूर्वाचार्य निर्देशः, तदीय मेवेद सूत्रम्।

(२७) विनाम = णत्व (शिव सूत्र ३-४ पर वार्त्तिक ११)।

(२८) वृद्ध = गोत्र (पतंजलि ने १।२।६८ सूत्र के भाष्य में लिखा है—यावद् ब्रूयात् गोत्रं यूनेति तावद् वृद्धो यूनेति। पूर्व सूत्रे गोत्रस्य वृद्धमिति संज्ञा क्रियते। काशिका ने १।२।६५ पर पूर्व व्याकरण के एक सूत्र का उल्लेख किया है—अपत्यमन्तर्हितं वृद्धम् और लिखा है—वृद्धशब्दः पूर्वाचार्य संज्ञा गोत्रस्य)।

(२९) संक्रम = कित् और ङित् प्रत्यय जिनका विषय गुण और वृद्धि का प्रतिषेध है (१।१।३ वा १० पर भाष्य नागेश व्याख्या)। काशिका १।१।६, संक्रमो नाम गुण वृद्धि प्रतिषेध विषयः, कीलहार्न इन्डियन् एन्टिक्वरी १६।१०२। यह शब्द अन्यत्र उपलब्ध नहीं है।

(३०) सन्ध्याक्षर—ए ऐ ओ औ (शिव सूत्र ३-४ पर वार्त्तिक)। सूत्र १।२।१ में समानाक्षर शब्द का भी प्रयोग है।

(३१) सस्थान = जिह्वामूलीय (२।४।५४ वा० ८ पर कैयट)।

(३२) ह्राद = अनुरणनघोष (सूत्र १।४।१०९, वा० ७ ह्रादो विरामः संहिता)।

व्याकरण शास्त्र का पाठ्य क्रम—पाणिनीय व्याकरण से इस बात पर भी प्रकाश पड़ता है कि आरंभ में व्याकरण शास्त्र के मुख्य प्रकरण क्या थे और पठन-पाठन की क्या प्रणाली थी। कात्यायन ने प्रश्न किया है व्याकरण किसे कहा जाय और उत्तर दिया है—'लक्ष्य लक्षणे व्याकरणम्' (पस्पशाह्निक), अर्थात् लक्ष्य और लक्षण इन दोनों को मिलाने से व्याकरण बनता है। लक्षण क्या और लक्ष्य क्या ?—शब्द लक्ष्य है और सूत्र लक्षण है (भाष्य)। व्याकरण पढ़ने के पुराने ढंग के बारे में पतंजलि ने लिखा है कि प्रत्येक शब्द को अलग अलग घोटते थे (प्रतिपदो

कानां शब्दानां शब्द पारायणं प्रोवाच)। पीछे जब यह सूझ हुई कि अनेक शब्दों के रूपों में सादृश्य है, और उनके निर्माण में कुछ नियमों का अनुशासन है तो उत्सर्ग और अपवादरूपी नियम बनाए गए और नियमों को लक्षण कहा गया। सूत्र शैली में होने के कारण लक्षणों को सूत्र कहा गया। तब से सूत्र ही व्याकरण कहलाने लगे। सूत्रों का सबसे मँजा हुआ रूप पाणिनीय अष्टक में प्राप्त होता है। ऐसे लोग जो एक-एक साधु शब्द या प्रातिपदिक को अलग-अलग कंठ करते थे, उन्हें स्वयं पाणिनि ने प्रातिकंठिक कहा है। जिस समय व्याकरण के सूत्र बन गए, उस समय भी कुछ अवधि तक लक्ष्य (लोक प्रयोग) द्वारा और लक्षण (सूत्र) द्वारा व्याकरण के ज्ञान कराने की प्रक्रिया अलग-अलग चलती रही होगी। कम से कम पतंजलि के समय तक इसकी परंपरा मानी जा सकती है। ४।२।६० सूत्र के श्लोक वार्त्तिक में लक्ष्य या प्रातिपदिक शब्दों का अध्ययन करनेवाले छात्रों को लाक्षिक और उनके सूत्रगत नियमों का अध्ययन करनेवाले छात्रों को लाक्षणिक कहा गया है (अनुसूर्लक्ष्यलक्षणे सर्वसादे द्विगोश्च लः)। पहली परम्परा लक्ष्य या प्रतिपादिकों द्वारा ही व्याकरण पढ़ने की थी। पीछे नियम या सूत्रों का निर्माण हुआ और उनका नाम व्याकरण हो गया (सूत्रे व्याकरणे—किमिह तत् अन्यत् सूत्राद् व्याकरणं यस्यादः सूत्रं स्यात्)। कालान्तर में प्रतिपदोक्त शब्दों द्वारा व्याकरण के अध्ययन की पद्धति लुप्त हो गई। सूत्रों का अध्ययन ही व्याकरण ज्ञान का एक मात्र साधन माना जाने लगा।

व्याकरण के कितने विषय या प्रकरण उस समय आचार्यों के सम्मुख थे, इसका कुछ परिचय सूत्रों में और उदाहरणों में आए हुए विशिष्ट प्रयोगों से प्राप्त होता है जो इस प्रकार हैं—

पाणिनि ने शब्दों को दो भागों में बाँटा है—नाम (संज्ञाएँ) और आख्यात (क्रियाएँ)। नामों का निरूपण करनेवाला प्रकरण नामिक और आख्यात का आख्यातिक कहलाता था (४।३।७२)। काशिका ने इन्हीं के व्याख्यान परक ग्रंथों को सौप और तैङ कहा है, साथ ही कार्त नामक ग्रन्थ का भी उल्लेख किया है (४।३।६६)। इस समय जिन्हें सुबन्त, तिङन्त और कृदन्त कहते हैं, उन्हीं के प्रतिपादक ये प्राचीन प्रकरण थे (सुपां व्याख्यानः सौपो ग्रन्थः, तैङः, कार्तः)। प्रक्रियाकौमुदी और सिद्धान्त कौमुदी में सुबन्त और तिङन्त का जो विभाग है, उसकी परम्परा इन शब्दों से सूचित होती है। पाणिनि ने और भी कुछ शब्दों का उल्लेख किया है, जैसे पौर्वपदिक, औत्तरपदिक, (४।४।३९), अर्थात् पूर्वपद और उत्तरपद, विषयों पर लिखे हुए ग्रन्थ या उनके लेखकों के लिये ये शब्द थे। अष्टाध्यायी में उत्तरपद (७।३।१०-१८) और पूर्वपद (७।३।१९।३१) के कार्यों का प्रकरण अलग है। प्रातिकण्ठिक अर्थात् प्रतिकण्ठ या प्रातिपदिक शब्दों का प्रतिपद

पाठ पाणिनीय गणों में है। संभव है इस प्रकार के संग्रह की पहले भी कोई परम्परा रही हो। शब्दों के अर्थविचार के प्रतिपादक ग्रन्थ को आर्थिक कहा जाता था। (४।४।४०)। उकथादिगण में (४ २।६०) गुणागुण शब्द का पाठ है। ज्ञात होता है कि गुण और अगुण का तात्पर्य गुण वृद्धि से है (अगुण=वृद्धि)। गुणवृद्धि का अध्ययन करनेवाले गौणागुणिक कहलाते थे। गुण और वृद्धि इन दोनों प्रकरणों को एक साथ अथवा अलग-अलग भी पढ़ते थे। यह काशिका के एक उदाहरण से ज्ञात होता है। सूत्र ७।२।२६ णेरध्ययने वृत्तम् पर लिखा है वृत्तो गुणो देवदत्तेन, अर्थात् देवदत्त ने 'गुण' का अध्ययन कर लिया है। पाणिनीय व्याकरणों में भी गुणवृद्धि का सुनिश्चित प्रकरण है (६।१।८७-८८ इत्यादि उसके विधायक और १।२।१-२६ निषेध सूत्र हैं)। पतंजलि ने समास को समस्त और उसके व्याख्यान ग्रन्थ को सामस्तिक (४।२।१०४ वा० १२) एवं उदात्त (अनत) और अनुदात्त (नत) स्वरों का व्याख्यान करने वाले ग्रन्थ को नातानतिक कहा है। काशिका में इसी प्रकरण का नाम सौवर है (स्वरमधिकृत्य कृतो ग्रन्थः ७।३ ४)।

संहिता या संन्धि के प्रकरण को सांहित कहते थे (काशिका ४।३।६७)। पाणिनि ने संहितायाम् (६।१।७२) सूत्र के अधिकार में स्वयं इस प्रकरण को अलग रखा है। षत्व और णत्व का प्रकरण भी व्याकरण में और उससे पहले प्रातिशाख्यों में महत्त्वपूर्ण था। मूर्धन्य विधान से संबन्धित इस प्रकरण का प्रतिपादक ग्रन्थ षात्वणत्विकं कहा जाता था (काशिका ४।३।६७)। पाणिनि ने स्वयं षत्व (८।३।५५-१२९) और णत्व (८।४।१-३९) के प्रकरण को अत्यन्त सुग्रथित रूप में अलग रखा है। सामवेद के ऋक्तन्त्र प्रातिशाख्य में भी मूर्धन्यादेश पर अलग प्रकरण है, किन्तु वह पाणिनि के जैसा प्रतिष्णात नहीं है।

कुछ उदाहरण ऐसे हैं जो उन प्रकरणों के अस्तित्व पर प्रकाश डालते हैं, जिनका साक्षाद्रूप से अष्टाध्यायी में विधान नहीं पाया जाता; जैसे शब्दार्थसंबन्धीयम्, (४।३।८८), शब्द और अर्थ का परस्पर क्या संबन्ध है इसका विचार करनेवाला प्रकरण। ज्ञात होता है व्याडि के संग्रह में शब्दार्थ संबन्ध का विस्तृत विचार था और उसी पृष्ठभूमि में कात्यायन का सिद्धे शब्दार्थ संबन्धे वार्तिक लिखा गया। इसी प्रकार गौणमुख्यम् था, (४।३।८८), अर्थात् प्रधान और उपसर्जन (मुख्य) का विचार करनेवाला प्रकरण। इस प्रकार के ग्रन्थ भी उस समय रहे होंगे, अथवा कुछ वैयाकरण इस विषय की ऊहापोह में रुचि लेते रहे होंगे। पर पाणिनि का दृष्टिकोण स्पष्ट था। वे इस पचड़े में नहीं पड़ते कि पिता और पुत्र, आचार्य और अन्तेवासी, राजा और मन्त्री में कौन मुख्य और कौन गौण है। वैयाकरण को इस विषय में लोक का प्रमाण मानना चाहिए (कालोपसर्जन च तुल्यम्, १।२।५७)। जैसा पहले कहा जा चुका है सूत्र ४।३।७२ में पाणिनि ने प्रथम के व्याख्यान ग्रन्थ

को प्राथमिक कहा है एवं ४।२।६३ वसन्तादि गण में प्रथम के साथ गुण का भी पाठ है। सम्भवतः ये दोनों शब्द प्रधान और उपसर्जन के लिये थे एवं इस विषय का प्रतिपादन करनेवाले ग्रन्थ प्राथमिक और गौणिक कहलाते थे। आपिशलि के व्याकरण में गुरुलाघव यह स्वतन्त्र विषय था जिसका प्रथम बार विस्तृत विवेचन आपिशलि ने ही किया था (आपिशल्युपज्ञं गुरुलाघवम्, ४।३।११५, ६।२।१८, काशिका)। आपिशलि का ग्रन्थ तो लुप्त हो गया है, पर अनुमान होता है कि उसकी सामग्री पाणिनि के ह्रस्व दीर्घ प्रकरण में सुरक्षित है (कीथ संस्कृत साहित्य का इतिहास पृष्ठ ५)। काशिका ने ४।३।८८ सूत्र पर वाक्यपदीयं का उल्लेख किया है, अर्थात् वाक्य और पद का प्रकरण या ग्रन्थ। यह कहना कठिन है कि यहाँ भर्तृहरिकृत विशिष्ट ग्रन्थ इष्ट था, अथवा उससे पहले भी इस विषय का प्रतिपादक कोई ग्रन्थ था।

पाणिनि और लोक—लोक में प्रचलित भाषा का प्रमाण मानने के विषय में पाणिनि ने अपना दृष्टिकोण सूत्र काण्ड में व्यक्त किया है (१।२।५१–५८) पाणिनि से पहले के वैयाकरण विवादास्पद विषयों पर अपनी संमति देते थे, जैसा कि कात्यायन और पतंजलि द्वारा उद्धृत कई प्रसंगों से विदित होता है (जैसे ३।२।१२३ सूत्र पर)। पाणिनि की यह शैली न थी। फिर भी इस विशेष प्रकरण में उन्होंने पूर्वपक्ष रखकर फिर सिद्धान्त पक्ष में अपना मत देने का क्रम अपनाया है। वे संज्ञा या लोक में प्रचलित सामाजिक व्यवहार और भाषा के रूपों का समर्थन करते हैं और व्याकरण के लिये उसे ही प्रमाण मानते हैं। उनकी दृष्टि में योग प्रमाण अर्थात् व्युत्पत्ति पर आश्रित शब्द के अर्थ से लोक प्रमाण या संज्ञा प्रमाण हमेशा श्रेष्ठ है (१।२।५३–५५)। क्या व्याकरण ऐसे प्रश्नों पर अपना निर्णय दे, जैसे अद्यतन, ह्यस्तन, श्वस्तन—अर्थात् आज का दिन, बीता हुआ दिन और आने वाला दिन कब से कब तक माने जायँ? कितना पहले बीता हुआ काल परोक्ष भूत लिया जाय? द्रोण की कितनी तोल है? योजन का कितना आयाम है? कौन प्रधान, कौन गौण है? ऐसे भी लोग थे जिन्हें इस बात का आग्रह था कि जब तक 'अद्य' का निर्णय न हो जाय, तब तक सूत्र चरितार्थ न होगा। ऐसे अतिवादियों के लिये पाणिनि ने डंके की चोट अपना मत प्रकट किया है—

तदशिष्यं संज्ञाप्रमाणत्वात् (१।२।५३)।

व्याकरण में इन सब सामाजिक व्यवहारों के निर्णय की आवश्यकता नहीं, क्योंकि वैयाकरण की दृष्टि में लोक की परिभाषाएँ या संज्ञाएँ अन्तिम रूप से प्रमाण मानी जाती हैं। उदाहरण के लिये आरम्भ में यह बात ठीक थी कि जिस भूप्रदेश में पंचाल क्षत्रिय आकर बसे वह पंचाल जन के नाम से पंचाल जनपद कहलाया। किन्तु इस घटना को घटित हुए बहुत समय बीत चुका था। कालान्तर में तो पंचाल

जनपद में और भी बहुत से लोग आ बसे थे। लोगों को पंचालाः शब्द से पंचाल जनपद का बोध स्वतः ही हो जाता था, उस बोध का हेतु यह नहीं था कि वहाँ पंचाल क्षत्रियों का निवास था। वैयाकरण को वस्तुस्थिति का सामना करना चाहिए। उसके लिये यह आवश्यक नहीं कि पंचालाः शब्द का निर्वचन 'पंचाल क्षत्रियों की निवास भूमि' इस व्युत्पत्ति के आधार पर करे। ऐसे ही भाषा में और भी सैकड़ों स्थान नाम थे, जिनके मूल भूत ऐतिहासिक कारणों का अब कुछ महत्व न रह गया था। इस दृष्टिकोण से प्रवृत्त हुआ वैयाकरण लोक में प्रचलित शब्द रूपों के आधार पर अपनी सामग्री का संकलन और शास्त्र की रचना करता है।

संज्ञा प्रमाण—संज्ञा प्रमाण या लोक के प्रति पाणिनि की जो प्रवृद्ध आस्था थी, उसका सुन्दर सुफल हुआ। उनका दृष्टिकोण ठीक वैसा ही बन गया जैसा महाभारत में लिखा है—

सर्वार्थानां व्याकरणाद् वैयाकरण उच्यते।
प्रत्यक्षदर्शी लोकानां सर्वदर्शी भवेन्नरः॥ (उद्योग ४३।३६)

जीवन के सर्वक्षेत्रों में जिन शब्दों का व्यवहार होता है, उनके अर्थों का विचार वैयाकरण को करना चाहिए। जो इस प्रकार लोक का प्रत्यक्ष दर्शन करता है, वही समग्र शब्दों का संकलन कर सकता है। पूर्व के वैयाकरण स्वर, मूर्धन्य, संप्रसारण, सन्धि, समास, नाम, आख्यात आदि के विषय में नियमों का विधान करते थे। पाणिनि ने वह सब तो किया ही, किन्तु उससे बहुत आगे बढ़कर कृदन्त और तद्धित के दो महाप्रकरण तैयार किए। शब्दों में नए नए प्रत्यय जोड़कर किस प्रकार भिन्न-भिन्न अर्थों का बोध कराया जाता है, इस विषय की बारीक छान-बीन (महती सूक्ष्मेक्षिका) सूत्रकार ने की। प्रत्यय की शक्ति से शब्द जिस नए अर्थ का बोध कराता है, उस शक्ति को वृत्ति कहते हैं (परार्थाभिधानं वृत्तिः)। इस प्रकार के अर्थों का क्षेत्र उतना ही विस्तृत है, जितना जीवन के विभिन्न व्यवहार। एक ही शब्द भिन्न भिन्न अर्थ में प्रयुक्त होता है। यास्क ने लिखा है कि वृत्तियों का ठीक-ठीक निश्चय करना कठिन है। उनके विषय में सन्देह बना रहता है कि ठीक अर्थ क्या है (विशयवत्यो हि वृत्तयो भवन्ति, निरुक्त २।१); जैसे दण्ड्य शब्द के विषय में यह कहना कठिन है कि दण्डेन संपद्यते अथवा दण्डमर्हति किस अर्थ में दण्ड शब्द से यत् प्रत्यय हुआ है। यास्क ने इस कठिनाई को ध्यान में रखते हुए कहा कि तद्धित और समास के शब्दों को खूब ध्यान पूर्वक तोड़कर अर्थों की कोटियों पर विचार करते हुए तब उनका निर्वचन करना चाहिए (अथ तद्धित समासेष्वेकपर्वसु चानेकपर्वसु च पूर्वं पूर्वमपरमपरं प्रविभज्य निर्ब्रूयात्)। पाणिनि ने इस विषय में बहुत ही सूक्ष्म विश्लेषण किया। लोक में जितने प्रकार की वृत्तियां थीं, उन सब की सूची बनाकर उनके भिन्न भिन्न अर्थों का और शब्दों में जुड़ने वाले प्रत्ययों का निश्चय

किया। उदाहरण के लिये, दाधिकम् यह शब्दरूप एक है, किन्तु उसके अर्थ अलग अलग हैं। अतएव अर्थ और प्रत्ययों की दृष्टि से दध्ना संसृष्टम् (४।४।२२), दध्ना उपसिक्तम् (४।४।२६), दध्ना संस्कृतम् (४।४।३), दधनि संस्कृतम् (४।२।१७); इन चार शब्दों को पृथक् मानकर अनेक पर्वों या प्रकरणों में उनका निर्वचन किया। ऐसे ही द्रव्यं हरति, द्रव्यं वहति, द्रव्यम् आवहति, इन पृथक् अर्थों में प्रयुक्त होनेवाले द्रव्यक शब्द का निर्वचन तब तक यथार्थ नहीं हो सकता था जब तक कि तीनों अर्थों पर ध्यान न दिया जाता, क्योंकि लोक में तीनों ही अर्थों में शब्द का प्रयोग हो रहा था। इस प्रकार जितने अथा में शब्दों का प्रयोग चालू था, उन सब का संग्रह, विश्लेषण, वर्गीकरण सूत्रकार ने किया। इसी को महाभारत के शब्दों में 'सर्वार्थानां व्याकरणम्' और निरुक्त में 'अनेक पर्वसु प्रविभज्य निर्वचन' कहा है। हेतु, संपादिन्, अर्ह, अलमर्थ (६।२।१५५), कृत, रक्त, विकार (६।३।३९), अंक संघ, लक्षण, धर्म, आदि कई सौ अर्थों का वर्गीकरण तद्धित के महाप्रकरण में प्राप्त होता है। गुरु, शिष्य, राजा, मन्त्री, वाणिज, गोपाल कृषक, भिक्षु, लेखक नाविक, सूद, लुब्धक, आदि आदि के जीवन के अनेक क्षेत्रों से आचार्य ने शब्दों का संकलन किया और व्याकरण की दृष्टि से उन्हें अपने सूक्ष्म ईक्षण का विषय बनाया। लोक से शब्द सामग्री का संग्रह पाणिनि शास्त्र की निजी विशेषता थी। इसी कारण पाणिनीयं महत् सुविहितम् यह श्रेयसी उक्ति इसके लिये चरितार्थ हुई। पाणिनि ने अष्टाध्यायी को जीवित भाषा का यथार्थ प्रतिबिम्ब या यथामुखी दर्पण बनाया और व्याकरण शास्त्र को चरण परिषदों के सीमित क्षेत्र से मुक्त करके लोक की विस्तृत परम्परा के साथ मिला दिया। कात्यायन और पतंजलि ने भी अपने महान् आचार्य की परम्परा को अक्षुण्ण रखते हुए बराबर लोक प्रमाण को महत्त्व दिया है (लोक विज्ञानात् सिद्धम्, १।१।२१, १।१।६५)।

संस्कृत भाषा—कई बार यह प्रश्न किया जाता है कि पाणिनि के समय में संस्कृत लोक की भाषा थी, या केवल साहित्य की भाषा। ग्रियर्सन ने अशोक के धर्मलेखों की बोलचाल की भाषा पर ध्यान धरते हुए तर्क किया था कि यदि पाणिनि ने अपना व्याकरण लोक भाषा के लिये लिखा होता तो उनके दोसौ वर्ष बाद ही अशोक के समय में भाषा का इतना अधिक परिवर्तन कैसे हो गया (इन्डियन एन्टिक्वरी २८।२२२)। इसके विपक्ष में गोल्डस्टूकर, कीथ और लीबिश का निश्चित मत है कि पाणिनीय संस्कृत अपने समय की शिष्ट समाज में प्रयुक्त बोलचाल की भाषा थी। कीथ ने लिखा है -'एक तो पाणिनि ने स्वयं ही कई बार उसे 'भाषा' कहा है (३।२।१०८; ८।२।९८) जिसका सीधा सादा अर्थ नित्य व्यवहार में आनेवाली बोलचाल की भाषा ही होता है। दूसरे यदि पाणिनि की भाषा को बोलचाल की भाषा न माना जाय तो उनके कितने ही सूत्र व्यर्थ हो जाते हैं, क्योंकि वे बोलचाल की भाषा को ध्यान में रखकर ही बनाए गए थे।' इस प्रकार के कुछ सूत्र और उनके विषय ये हैं—

३।२।११७ (प्रश्न), ३।२।१२० (पृष्ट प्रति वचन) प्रशंसा, कुत्सा, दूर से पुकारना, अभिवादन, प्रत्यभिवादन (८।२।८३–८४), हे देवदत्त हे देवदत्त जैसे प्रयोग (८।२।८५) भर्त्सन, (८।२।९५), मानसिक तर्क वितर्क (विचार्यमाणानाम् ८।२। ८७), आशीः, प्रैष, (८।२।१०४), आचार के उल्लंघन या आचारभेद पर किसीको लज्जित करना (क्षिया ८।२।१०४), आख्यान (८।२।१०५), आमन्त्रण (८।१।३३), त्वरा (परीप्सा, ८।१।४२), अनुज्ञैषणा या आज्ञालेना (८।१।४३) जैसे, ननु गच्छामि भोः, क्या मैं जाऊँ; डाट डपट, या फटकार के साथ कहना (अयथाभिप्रेता ख्यान ३।४।५९), हँसी मजाक में अपनी राय देना (प्रहासे च मन्योपपदे १।४।१०६, जैसे एहि मन्ये रथेन यास्यसि, आइए, मालूम होता है रथ पर चढ़कर चलियेगा) इत्यादि। ऐसे ही खादत-मोदता, अश्नीत-पिबता, पचत-भृज्जता, भिन्धि लवणा जैसे प्रयोग बोलचाल से ही लिए गए। बिआस नदी के दाहिने किनारे पर जो कुएँ थे उनके नामों के उच्चारण में बाएं किनारे के कुओं की अपेक्षा जो विशेषता थी, उसका भी सूत्रकार ने उल्लेख किया (२।२।७४) क्योंकि बाएँ किनारे पर खादर के कुएँ कच्चे होते थे, और दाहिने किनारे के बाँगर के कुएँ पक्के होते थे इस लिये उन शब्दों के उच्चारण में स्वर का भेद होता था पक्के कुँओं के नाम आदि उदात्त स्वर से (अञ् प्रत्यय के कारण, सूत्र ६।१।१९७ और कच्चे कुँओं के नाम अनुदात्त स्वर से (अण् प्रत्यय के कारण ३।१।३) उच्चरित होते थे। यह सामग्री बोलचाल की भाषा की ओर निश्चित संकेत करती है। भिन्न भिन्न जनपदों में नगर और गांवों के नामों की विशेषता पर भी सूत्रकार ने ध्यान दिया था।

पाणिनि की भाषा का क्षेत्र छन्द और ब्राह्मणों की भाषा से कहीं अधिक विस्तृत था। पतंजलि ने उसके विषय में सच्ची स्थिति का उल्लेख किया है— 'संस्कृत उन शिष्ट लोगों के प्रयोग में आनेवाली भाषा है, जो व्याकरण पढ़े बिना भी उसे शुद्ध रूप में बोलते हैं। पतंजलि ने इस बात से इनकार नहीं किया, कि उनके समय में साधारण लोगों की बोलचाल में कई तरह के अपभ्रंश रूप थे, जैसे एक गौ शब्द को कई जनपदों में गावी, गोणी, गोपोतलिका कहा जाता था (एकैकस्य शब्दस्य बहवोऽपभ्रंशाः)। पतंजलि जिस भाषा में लिखते थे, उसे ही बोलते भी थे। पर उनकी गाएं घेरनेवाला ग्वाला अपनी बोली बोलता था, यद्यपि पतंजलि की भाषा भी वह समझता था। कात्यायन ने लोक की भाषा को व्याकरण संमत भाषा कहा है, किन्तु इसके साथ ही एक वार्त्तिक में आणवयति आदि प्राकृत धातुओं के अस्तित्व का उल्लेख किया है (भूवादि पाठः प्रातिपदिकाणवयत्यादिनिवृत्त्यर्थः १।३।१ वा० १२)। 'प्रयोगे सर्वलोकस्य' वार्त्तिक की ध्वनि यह है कि पाणिनीय भाषा के शब्दों का शुद्ध प्रयोग लोक के विभिन्न स्तरों में व्याप्त था।

पाणिनि का मध्यम पथ—पाणिनि ने व्याकरण संबन्धी विभिन्न मतों के संबन्ध में सन्तुलित दृष्टिकोण अपनाया है। उदाहरण के लिये, उनके समय में

धातुओं से संज्ञा शब्दों की व्युत्पत्ति के संबन्ध में गहरा मतभेद था। नैरुक्त संप्रदाय और वैयाकरणों में शाकटायन का मत था कि संज्ञा शब्द धातुओं से बने हैं—तत्र नामानि आख्यातजानीति शाकटायनो नैरुक्तसमयश्च (१।४) इसके विपरीत गार्ग्य जो कि संभवतः नैरुक्त संप्रदाय के थे और दूसरे वैयाकरणों का मत था कि खींचतान करके प्रत्येक शब्द को धातु से सिद्ध करना ठीक नहीं। यास्क स्वयं नैरुक्त मत के थे। नाम धातुज हैं, यह उनका मत था; किन्तु शाकटायन के अनुयायी जिस प्रकार जबरदस्ती तोड़ मरोड़कर प्रत्येक संज्ञा शब्द को धातु प्रत्यय से व्युत्पन्न करदेते थे वह यास्क को पसन्द न था। उन्होंने लिखा है कि यद्यपि धातुओं से संज्ञा शब्दों के निर्वचन का सिद्धान्त ठीक है, पर जो बिना विचारे उसका प्रयोग करते हैं, वह उनका दोष है, शास्त्र का दोष नहीं (योऽनन्वितेऽर्थे सञ्चस्कार स तेन गर्ह्यः; सैषा पुरुषगर्हा न शास्त्रगर्हा, १।१।४)।

इस विषय में पाणिनि का मत दोनों के बीच में समन्वय का मत है। कात्यायन और पतंजलि ने लिखा है कि पाणिनि उणादि शब्दों को अव्युत्पन्न प्रातिपदिक मानते हैं (प्रातिपदिक विज्ञानाच्च पाणिनेः सिद्धम्, ७।१।२ वा० ५; भाष्य, उणादयोऽव्युत्पन्नानि प्रातिपदिकानि)। पाणिनि ने उणादि प्रत्ययों को उणादयो बहुलम् (३।३।१) सूत्र लिखकर चलती हुई मान्यता तो दे दी, पर ब्यौरेवार उनका विवेचन नहीं किया। धातु से प्रत्यय लगाकर जिन शब्दों को वे सिद्ध हुआ मानते थे, उन्हें कृदन्त प्रकरण में स्थान दिया और जिनमें इस प्रकार प्रकृति-प्रत्यय का विभाग नहीं किया जा सकता था उसके निर्वचन की पहेली उन्होंने उणादि वालों के लिये छोड़ दी। इस पृष्ठभूमि में यह मानना स्वाभाविक है कि वर्तमान में जो उणादि प्रकरण है, वह पाणिनि व्याकरण का अंग न था, उसका मेल शाकटायन व्याकरण से अधिक बैठता है। संभव है वह उन्हीं की कृति हो। केवल एक सूत्र में अपनी शैली के विपरीत आचार्य ने कुछ उणादि प्रत्ययों का परिगणन करते हुए इट् का विधान किया है। (तितुत्रतुथसिसुसरकसेषु च, ७।२।९)।

अर्थ प्रतीति—शब्द का अर्थ व्युत्पत्ति पर निर्भर है अथवा लोक के प्रयोग पर, इस विषय में भिन्न-भिन्न मत थे। उदाहरण के लिये, गौ को इसलिये गौ कहते हैं क्योंकि वह गमन करती है (कारणाद् द्रव्ये शब्द-निवेशः, १।२।६८।१)। किन्तु जितनी वस्तुएँ गति करती हैं, सबको गौ नहीं कहा जाता, अतएव व्युत्पत्ति ही अर्थ का कारण है—यह कहना कठिन है। लोक रूढि भी इसमें प्रमाण है, जैसा कि कात्यायन ने 'दर्शनं हेतुः' वार्त्तिक में कहा है। यास्क ने भी इन दोनों पक्षों का उपन्यास किया है। जो कोई मार्ग तै करे उसे ही अश्व कहना चाहिए, पर वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है (यः कश्चनाध्वानमश्नुवीत, अश्वः स वचनीयः)। लोक में जो शब्द जिस प्रसिद्ध अर्थ में लिया जाता है उसी में उसकी व्युत्पत्ति करनी चाहिए (यथापि प्रतीतार्थानि स्युः तथैनान्याचक्षीरन् १।१२)। पाणिनि ने दोनों ही पक्षों में

सत्य का अंश माना है, क्योंकि लोक में जो रूढ़ संज्ञाएँ हैं, उनको भी वे प्रमाण मानते हैं, और जिन शब्दों में धातु प्रत्यय के ज्ञान से अर्थ की प्रतीति होती है, उन्हें भी प्रमाण मानते हैं। योग प्रमाण और संज्ञा प्रमाण दोनों ही पक्ष आचार्य को अपने-अपने स्थान पर इष्ट थे। (२।१।५३–५५)।

जाति और व्यक्ति—गौ शब्द का अर्थ गौ व्यक्ति या एक गाय है अथवा गोत्वजाति—यह प्राचीन आचार्यों में विवाद का विषय था। जैसा कात्यायन ने लिखा है आचार्य वाजप्यायन का मत था कि शब्द जाति का बोध कराता है। उसके प्रतिकूल आचार्य व्याडि का मत था कि शब्द द्रव्य या एक वस्तु का ग्रहण कराता है (आकृत्यभिधानाद् विभक्तौ वाजप्यायनः, द्रव्याभिधानं व्याडिः १।२।६४, वा० ३५,४५)। पतंजलि ने दोनों का समन्वय करते हुए लिखा है कि पाणिनि को दोनों मत ग्राह्य थे। सूत्र १।२।५८ (जात्याख्यायामेकस्मिन् बहुवचनमन्यतरस्याम्) में उन्होंने जाति पक्ष माना है और सूत्र १।२।६४ (सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ) में द्रव्य पक्ष[1]।

अनुकरण -यास्क ने इस विषय में दो मत दिए हैं। आचार्य औपमन्यव का मत था कि अनुकरण नहीं होता, अर्थात् अव्यक्त ध्वनि के अनुकरण से भाषा में शब्द नहीं बनते। यास्क का अपना मत था कि काक आदि पक्षियों के नाम उनकी बोली के अनुकरण से ही भाषा में बनते हैं। पाणिनि ने अव्यक्त ध्वनि में अनुकरण का नियम स्वीकार किया है (अव्यक्तानुकरणाद् द्व्यज वरार्धा दनितौ डाच्, ५।४।५७)।

उपसर्ग—यास्क ने लिखा है कि शाकटायन उपसर्गों को अर्थ का द्योतक मानते थे और गार्ग्य वाचक (निरुक्त १।१।३) पाणिनि ने दोनों मतों को आंशिक रूप से लिया है। अधि और परि उपसर्ग को उन्होंने कुछ प्रयोगों में अनर्थक कहा है (अधिपरी अनर्थकौ १।४।९३)। जैसा पतंजलि ने लिखा है इसका यह तात्पर्य हुआ कि अन्य उपसर्ग अर्थ के वाचक होते हैं।

धातु का अर्थ, क्रिया या भाव—धातु का अर्थ क्रिया है या भाव, इस विषय पर भी वैयाकरणों में मतभेद था, क्योंकि इसका प्रभाव शब्द–नित्यत्व के सिद्धान्त पर पड़ता है। पतंजलि का कहना है कि पाणिनि ने भूवादयोधातवः (१।३।१ वा० ११) सूत्र में दोनों अर्थों को माना है। सूत्र २।३।१४ (क्रियार्थोपपदस्य च कर्मणि-स्थानिनः) में क्रिया वचन और सूत्र २।३।१५ (तुमर्थाच भाववचनात्) में भाव वचन पक्ष है।

---

(१) किंपुनराकृतिः पदार्थ आहोस्विद् द्रव्यम्? उभयमित्याह। कथं ज्ञायते। उभयथाह्याचार्येण सूत्राणि पठितानि। आकृतिं पदार्थमत्वा जात्याख्या मेकस्मिन् या बहु वचनन्यतस्यामित्युच्यते द्रव्यं पदार्थ मत्वा सरूपाणामित्येकशेष आरभ्यते (पस्पशा०)।

शब्द नित्यत्व—शब्द नित्यत्व का सिद्धान्त व्याकरण दर्शन की मूल भित्ति है। सूत्र ४।४।१ के वार्तिक में कात्यायन ने नैत्यशब्दिक और कार्यशब्दिक इन दो संप्रदायों का उल्लेख किया है। ऋक् प्रातिशाख्य में भी यह विचार आया है (१३। १४) जिससे इस विवाद की प्राचीनता सिद्ध होती है। यास्क ने औदुम्बरायण के मत का उल्लेख किया है—इन्द्रियनित्यं वचन मौदुम्बरायणः (निरुक्त १।१।२); आचार्य औदुम्बरायण का मत है कि शब्द का उच्चारण जितने देर मुख में रहता है, वही उसकी नित्यता है, उसके बाद वह विनष्ट हो जाता है। पतंजलि ने लिखा है कि पाणिनि और कात्यायन दोनों शब्द-नित्यता पक्ष के मानने वाले थे। फिर भी लोप और आगम आदि व्याकरण की प्रक्रिया में वे कोई बाधा नहीं देखते। पाणिनि ने अदर्शनं लोपः यह परिभाषा स्थिर की (१।१।६०)। तदनुसार पतंजलि ने लोप का अर्थ अन्तर्धान या अदृश्य हो जाना लिखा है। इसके विरुद्ध तैत्तिरीय प्रातिशाख्य में लोप को विनाश कहा गया है (१।५७, विनाशो लोपः), जो शब्द की अनित्यता पक्ष का सूचक है। पाणिनि ने जिसे आदेश कहा है, उसे ही पहले विकार कहा जाता था। (वर्णव्यत्ययापायोपजनविकारेष्वर्थदर्शनात्, शिवसूत्र ५, वा० १५; भाष्य, अपाय = लोप, उपजन = आगम, विकार = आदेश)।

ऊपर के उदाहरणों से यह विदित होता है कि दो विवादग्रस्त दिष्ठि या मतों में पाणिनि समन्वय और सन्तुलन का मध्य मार्ग पसन्द करते हैं। उनके इस दृष्टि-कोण की तुलना बुद्ध के मज्झिम पटिपदा वाले दृष्टिकोण से की जा सकती है। यही उस युग की विशेषता थी।

अध्याय ६

धर्म दर्शन

परिच्छेद १-देवता

अष्टाध्यायी में जिस धार्मिक अवस्था का चित्र है, उसका मुख्य आधार यज्ञ विधि और देव पूजा थी। यज्ञ, ऋत्विज्, दक्षिणा एवं देवता और उनकी भक्ति से संबंधित पर्याप्त सामग्री सूत्रों में आ गई है। साथ ही विविध दार्शनिक संप्रदाय और भिक्षुओं का भी उल्लेख आया है। इन सब पर क्रमशः यहां विचार किया जायगा।

देवता—निम्नलिखित वैदिक देवताओं का सूत्रों में नामोल्लेख है—

(१) अग्नि (४।१।३७), (२) इन्द्र, (३) वरुण, (४) भव, (५) शर्व, (६) रुद्र, (७) मृड (४।१।३९); (८) वृषाकपि (४।१।३७), (९) पूषा (१०) अर्यमा (६।४।१२), (११) त्वष्टा (६।४।११), (१२)सूर्य (३।१।११४), (१३) वायु (४।२।२७), (१४) महेन्द्र (१५) अपांनपात् (४।२।२७) (१५) सोम (४।२।३०) (१६) नासत्य (६।३।७५)। पाणिनि ने नासत्य की व्युत्पत्ति न + असत्यौ मानी है। इस विषय में प्राचीनकाल में दो मत थे। आचार्य और्णवाभ का मत था-सत्यौ एव नासत्याविर्त्यौर्णवाभः। दूसरा मत यह था कि नासा से उत्पन्न होने के कारण वे नासत्य कहलाए (नासिका प्रभवौ बभूवतु रिति वा, निरुक्त)। महाभारत में यही दूसरा मत है। नासत्य और दस्र नामक दो अश्विनी कुमार सूर्य की पत्नी संज्ञा की नासा से उत्पन्न हुए (अनुशासन पर्व, १५०।१७)। प्रजापति देवता को क कहा गया है (कस्येत् ४।२।२५) पतंजलि ने लिखा है कि क सर्वनाम नहीं, किन्तु देवता की संज्ञा है (संज्ञा चैषा तत्र भवतः)। अतएव चतुर्थी में कस्मै न होकर, काय रूप बनता है। वास्तोष्पति और गृहमेध देवताओं का भी उल्लेख है। वास्तोष्पति तो ऋग्वेदकालीन देवता था किन्तु गृहमेध गृह्यसूत्रों के समय से नया देवता माना जाने लगा। गृहमेध है देवता जिसका ऐसे पुरोडाश, हवि या कर्म को गृहमेधीय-गृहमेध्य कहते थे। गृह्य सूत्रों के युग में महेन्द्र और इन्द्र में भेद माना जाने लगा। गोभिल गृह्य सूत्र के अनुसार पूर्व दिशा का देवता इन्द्र और

उत्तर पूर्व या ईशान कोण का महेन्द्र कहलाता था (४।७।२६-३१)। अपाम्नप्तृ अग्नि का नाम था, जिसे देवता मान कर विशेष हवि अर्पित की जाती थी।

कुछ देवता द्वन्द्व (६।२।१४४; ६।३।२६) या जुड़वाँ देवताओं के भी नाम हैं, जैसे अग्नीषोम (४।२।७२), अग्नी वरुण (६।३।२७), द्यावा पृथिवी (४।२।३२; ६।३।२९-३०), शुनासीर (४।२।३१), सोमारुद्र, इन्द्रापूषा (६।२।१४२), शुक्रामन्थी (६।२।१४२, ग्रहों के जोड़े को भी देवता द्वन्द्व प्रकरण में रखा गया है)। सूत्र ६।३।२६ (देवता द्वन्द्वे च) में उन्हीं देवताओं के नामों का जोड़ा लिया गया है, जिनका वेद में साहचर्य प्रसिद्ध था और जिनकी लोक में भी एक साथ मान्यता थी। विशुद्ध लौकिक देवताओं का ग्रहण वहाँ नहीं किया गया, किन्तु वैदिक देवताओं के ही नमूने पर लोक में भी नए-नए देवताओं के जोड़े अस्तित्व में आ रहे थे, जिनकी एक साथ पूजा की जाती थी, जैसे ब्रह्मप्रजापती, शिववैश्रवणौ, संकर्षणवासुदेवौ। इस प्रकार जिनका साहचर्य लोक में प्रसिद्ध था, उन्हें 'अभिव्यक्त' कहा गया है। द्वन्द्व शब्द से उनका भी ग्रहण होता था (८।१।१५)। दधिपय आदि गण (२।४।१४) में पाणिनि ने ब्रह्मप्रजापती, शिववैश्रवणौ, स्कन्दविशाखौ इनके जुड़वाँ नामों का उल्लेख किया है, जो कि गृह्य सूत्रों के युग में नए लोक विज्ञात देवता माने जाने लगे थे। प्राचीन देवियों में इंद्राणी, वरुणानी (४।१।४९) अग्नायी, वृषाकपायी (४।१।३७), पृथिवी और उषस् (४।२।३१) का उल्लेख है। ज्ञात होता है कि उषा देवता के लिये भी सास्य देवता प्रकरण में पृथक् हवि के द्वारा पूजा की प्रथा उस समय तक बच रही थी।

उत्तर कालीन देवता—पार्वती या अम्बिका के चार रूपों का उल्लेख है—भवानी, शर्वाणी, रुद्राणी, मृडानी (४।१।४९)। विशेषतः सूत्र युग में इनकी मान्यता थी। शतपथ ब्रा० के अनुसार रुद्र, शर्व और भव अग्नि के रूप हैं, जिनमें से शर्व प्राच्य देश में और भव वाहीक देश में लोकप्रिय था (शर्व इति यथा प्राच्या आचक्षते; भव इति यथा बाहीकाः, शत० १।७।३।८)। संभव है कि शर्वाणी और भवानी नाम भी इसी प्रकार देश भेद से प्रचलित हों। ऐसे ही रुद्राणी और मृडानी भी स्थानीय नाम हो सकते हैं।

सूत्र ४।१।८५ में जिस आदित्य का उल्लेख है, वह वैदिक आदित्य देवता की अपेक्षा सूत्र युग के देवता ज्ञात होते हैं। वस्तुतः पाणिनि काल की एक धार्मिक विशेषता ध्यान देने योग्य है। वह यह है कि कालवाची शब्दों से अभिहित नए देवताओं की मान्यता और पूजा का आरम्भ हो गया था। कालेभ्यो भववत् (४।२।३४) सूत्र में सास्य देवता प्रकरण के अन्तर्गत अनेक कालवाची शब्दों को देवता माना गया है; जैसे वह स्थालीपाक हवि जिसका मास देवता हो मासिक कहलाती

थी (मासो देवताऽस्य मासिकम् हविः)। ऐसे ही अर्धमास देवता की हविः आर्धमासिक, संवत्सर की सांवत्सरिक, वसन्त ऋतु की वासन्तिक और प्रावृष् ऋतु की प्रावृषेण्य कही जाती थी। इस प्रकार मास, ऋतु, संवत्सर, सभी को देवताओं का नया पद प्राप्त हुआ और लोक में उनकी पूजा वेग से चली। ४।२।३१ सूत्र में स्वयं पाणिनि ने ऋतु को देवता कहा है (ऋतुः देवतास्य ऋतव्यं हविः, वाय्वृतु पित्रुषसोर्यत् (४।२।३१)। देवत्व प्रदान की यह नूतन पद्धति यहाँ तक बढ़ी कि जितने नक्षत्र थे वे भी देवता मान लिये गए। सूत्र ४।२।३५ में प्रौष्ठपद नक्षत्र को स्पष्ट देवता कहा गया है। प्रोष्ठपद देवता के उद्देश्य से समर्पित हवि प्रोष्ठपदिक कहलाती थी। नक्षत्रों के देवता मान लिए जाने का महत्वपूर्ण परिणाम मनुष्य नामों पर पड़ा, जिनका विवरण सूत्रकार ने विस्तार से दिया है (४।३।३४, ३६, ३७)। इन नक्षत्रों के जो अधिष्ठातृ देवता थे, उनकी कृपा से पुत्रजन्म या उनका कल्याण चाहने वाले माता-पिता अपनी सन्तान का नाम उन नक्षत्रों के नाम से रखते थे और उनके लिये समय-समय पर स्थालीपाक या हवि अर्पित करते थे। पुष्यदत्त स्वातिदत्त, तिष्यरक्षित, आदि नाम इसी प्रकार के हैं। सूत्र ८।३।१०० (नक्षत्राद्वा) में अन्तर्निहित नाम भी इसी कोटि में आते हैं, जैसे रोहिणिषेण, भरणिषेण, शतभिषक्सेण।

भक्ति—देवताओं के विषय में ऊपर लिखा हुआ दृष्टिकोण धर्म के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन का सूचक है। वह भक्ति प्रधान दृष्टिकोण था। वरुणदत्त, अर्यमदत्त जैसे नाम जो ५।३।८४ सूत्र में आए हैं, सूचित करते हैं कि वरुण और अर्यमा देवताओं को भक्ति से प्रसन्न करके माता पिता उनकी कृपा से पुत्र लाभ में विश्वास करते थे। पाणिनि ने इस प्रकार की लोक भावना की व्याख्या करते हुए लिखा है कि नामों के अन्त में दत्त उत्तरपद देवता के आशीर्वाद का सूचक समझा जाता था (कारका दृत श्रुतयोरेवाशिषि ६।२ १४८)। मनुष्य का नाम उस आशीर्वाद का जीता जागता प्रतीक होता था।

पाणिनि के युग में भक्ति धर्म का उदय भारतवर्ष के धार्मिक इतिहास की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण घटना कही जा सकती है। इसका परिणाम समाज और व्यक्ति के जीवन पर व्यापक हुआ। वैदिक यज्ञों में जो पुरातन काल की आस्था थी, उसके साथ साथ एक प्रतिद्वन्द्वी दृष्टिकोण भी मान्य हो गया। यह विशेष देवताओं की भक्ति या विश्वास था जिससे देवता को प्रसन्न करके उसका वरदान या प्रसाद प्राप्त किया जा सकता था। भक्ति धर्म की स्वीकृति का आवश्यक फल कई प्रकार से देखने में आया। एक तो लोक धर्म में जो सैकड़ों प्रकार के छोटे मोटे देवता थे, उन सब की पद प्रतिष्ठा बढ़ी और उनके लिये त्रैवर्णिक समाज में द्वार उन्मुक्त हो गया। फलतः यक्ष, नाग, भूत, पिशाच, मह, रुद्र, देवी, वृक्ष, नदी, गिरि आदि को देवता मानकर उन्हें पूजने की जो परम्परा लोक में चली आती थी, उसे सार्व-

जनिक रूप से मान्यता मिल गई। उच्च वर्णों के घरों में भी इन देवताओं का निर्बाध प्रवेश हो गया। वैदिक धर्म के देवता और उन्हें प्रसन्न करने की जो यज्ञ-पद्धति थी, नया भक्ति धर्म उसके साथ कंधे से कंधा मिलाकर सामने आया और सचमुच उसने समाज में सर्वत्र अपनी धाक जमा ली। होते होते वैदिक देवता और यज्ञ पिछड़ गए। पाणिनि से लगभग दो सौ वर्ष बाद अशोक ने इस स्थिति का स्पष्ट उल्लेख किया है—अमिसा देवा मिसा कटा (= अमिश्राः देवाः मिश्रा कृताः), अर्थात् जो देवता पहले अलग थे वे अब वैदिक देवताओं के साथ, बौद्ध धर्म के साथ और उच्च धर्म की पूजा पद्धति के साथ घुल मिलकर एक हो गए हैं।

भक्ति धर्म के उदय का दूसरा प्रभाव पूजा के ढंग पर हुआ। यज्ञ विधि का अपना अलग मार्ग था। उसमें फूल, फल, नैवेद्य, धूप, दीप, पत्र, पुष्प, वाद्य, नृत्य, गीत, बलि आदि की प्रथा न थी। किन्तु लोक में यज्ञादि देवों की जो पूजा थी उसका स्वरूप ठीक इन्हीं वस्तुओं से निर्मित होता था। जिसे गीता में पत्रं पुष्पं फलं तोयं वाली पूजा कहा है नए भक्ति धर्म का वह आवश्यक अंग बन गई। जो देवता की भक्ति करते वे इसी प्रकार की पूजा चढ़ाते थे।

भक्तिधर्म का तीसरा प्रभाव यह हुआ कि पुरुष विशेष देवता के रूप में पूजित हुए। एक ओर बौद्ध और जैनों ने बुद्ध और महावीर को भक्ति धर्म की पूजा विधि और मान्यता का लक्ष्य बनाया औरउनके लिये स्तूप आदि चिह्नों की कल्पना करके धर्म का बाह्यरूप खड़ा किया। उसने जनसाधारण के मन को अपनी ओर खींच लिया। दूसरी ओर हिन्दू समाज पर इसका गहरा प्रभाव हुआ। फलतः वासुदेव कृष्ण को देवता मानकर उनकी भक्ति का आदर्श नए रूप में समाज के सामने आया। बुद्ध और महावीर जैसे क्षत्रिय पुरुष विशेष थे, वैसे ही कृष्ण भी क्षत्रिय पुरुष विशेष थे। जो क्षत्रिय की संज्ञा थी, वह तत्रभवान् देवता की संज्ञा बन गई। ऐसे देवताओं को मनुष्य प्रकृतिक देव कहते थे, अर्थात् जिनकी मूल प्रकृति मनुष्य की थी, पर जो देवता मान लिए गए थे (वायुपुराण, ९७।१)।

पाणिनि ने इस प्रकार भक्ति करनेवाले लोगों का उल्लेख किया है। वासुदेव की भक्ति करनेवाले वासुदेवक कहलाते थे (वासुदेवार्जुनाभ्यां वुन्, ४।३।९८)। इस नए धर्म के देवताओं की एक विशेषता यह भी थी कि मूल देवता या मान्य महापुरुष का स्वरूप अपने साथ परिवार की पंचायत लेकर विकसित हो रहा था। जैसे बौद्ध धर्म में सप्तमानुषी बुद्धों की कल्पना थी, जैन धर्म में पंच मुख्य तीर्थंकरों की कल्पना थी, यक्षों में वीर या मुख्य यक्षों की उपासना थी, वैसे ही वासुदेव कृष्ण के साथ भी परिवार की कल्पना हुई। भागवतों ने इसके दो विकल्प रखे। एक तो कृष्ण के साथ उनके राजसी जीवन के अभिन्न सखा अर्जुन की पूजा थी। वासुदेव के भक्त जैसे वासुदेवक कहलाते थे, वैसे ही अर्जुन के भक्त अर्जुनक

कहलाते थे। वासुदेव और अर्जुन के इस धार्मिक साहचर्य का ही दूसरा रूप नर नारायण की सहयुक्त पूजा थी, जिसमें नारायण प्रधान और नर उनके सखा थे। इसी को नारायणीय धर्म कहा गया। महाभारत शान्तिपर्व में नारायणीय धर्म का विशेषरूप से वर्णन है। धार्मिक इतिहास की दृष्टि के उसका आरंभ इसी युग में हुआ होगा। वासुदेव और अर्जुन का ही नामान्तर नर-नारायण है। इस मान्यता से एक धार्मिक दृष्टिकोण पल्लवित हुआ और यह कहा गया कि वस्तुतः एक ही शक्ति नर और नारायण इन दो रूपों में अभिव्यक्त होती है (नारायणः नरश्चैव सत्त्वमेकं द्विधाकृतम्, उद्योगपर्व, ४८।२०)। वासुदेव कृष्ण की परिवार-कल्पना का दूसरा स्वरूप और भी अधिक लोकव्यापी एवं स्थायी हुआ। वह चतुर्व्यूह या पंचरात्र कल्पना थी। उसके अनुसार पहले तो वासुदेव और संकर्षण इन दोनों का जुडवाँ रूप लोक में प्रसिद्ध हुआ। इसे ही व्याकरण के उदाहरणों में वासुदेव-संकर्षणौ कहा गया है (८।१।१५, द्वन्द्वं संकर्षणवासुदेवौ, द्वावप्यभिव्यक्तौ साहचर्येणेत्यर्थः)। इस प्रकार के जुडवाँ देवताओं की कल्पना पहले से चली आती थी। वासुदेव और संकर्षण तो उसी प्रथा का नया दृष्टान्त था। देवता द्वन्द्वे च (६।३।२६) सूत्र से ज्ञात होता है कि ऐसे कुछ देवताओं के जोड़े या साहचर्य का विश्वास वैदिक देवताओं के विषय में भी था, जैसे इन्द्रासोमौ, इन्द्राबृहस्पती आदि। साथ ही कुछ देवता ऐसे थे, जिनका साहचर्य लोक में प्रसिद्ध था, जैसे ब्रह्म-प्रजापती शिव-वैश्रवणौ इत्यादि। दधि पय आदिगण (२।४।१४) में इन दोनों जोड़ों का एवं स्कन्द-विशाखौ का उल्लेख है। नरनारायण की भाँति संकर्षण और वासुदेव नए भक्तिधर्म का मुख्य सूत्र बन गया, इसी में आगे चलकर प्रद्युम्न और अनिरुद्ध के मिलने से चतुर्व्यूह का स्वरूप पूरा हुआ। साम्ब को साथ लेकर पंचवृष्णि वीरों की कल्पना पूर्ण हुई, जो पंचरात्र धर्म की सुनिष्पन्न मान्यता बनी। भारत के धार्मिक इतिहास में यह परिवर्तन बहुत महत्त्वपूर्ण था। इसकी गूँज पाणिनि के वासुदेवार्जुनाभ्यां वुन् (४।३।९८) सूत्र में सुनाई देती है। भागवत धर्म के इतिहास में पाणिनीय सूत्र की प्रमाण साक्षी अमूल्य है।

पाणिनि के युग में कृष्ण वासुदेव की भक्ति के विकास को प्राचीन और अर्वाचीन सभी विद्वानों ने स्वीकार किया है। पतंजलि ने संज्ञा चैषा तत्रभवतः लिखकर वासुदेव को विष्णु का स्वरूप माना। कैयट ने उसे परमात्म देवता-विशेष कहा है। पतंजलि के समय से पूर्व कृष्ण की जीवनलीलाओं का विकास हो चुका था, जैसा उन्होंने लिखा है—जघान कंसं किल वासुदेवः (३।२।१११ वा० २)। या विष्णु के विषय में लोक प्रचलित आख्यानों के संबन्ध में पतंजलि का कथन है—कंस वधमाचष्टे कंसं घातयति बलिबंधमाचष्ट बलिं बन्धयति (३।१।२६ वा० ६ आख्यानात्कृत स्तदाचष्ट इति)। पतंजलि ने यह भी लिखा है कि ये दोनों आख्यान उन घटनाओं के संबन्ध में थे, जो बहुत पहले घटित हो चुकी थीं। किन्तु अभिनेता

प्रत्यक्षरूप में उन लीलाओं को प्रदर्शित कर दिखाते थे[1]। कोई कंस के भक्त बनते और कोई वासुदेव के। भाष्य से तो यह भी ज्ञात होता है कि कंस बध के चित्र भी उस समय बनाए जाते थे और लोग कृष्ण का आख्यान भी गा कर सुनाते थे। भाष्य में कृष्ण के चतुर्व्यूह का भी स्पष्ट उल्लेख है—जनार्दनस्त्वात्मचतुर्थ एव (भा० ६।३।५)। संकर्षण और कृष्ण इन दोनों की संयुक्त सेना और उनके प्रासाद या मन्दिरों का भी उल्लेख आया है (संकर्षण द्वितीयस्य बलं कृष्णस्य वर्द्धताम् २।२।२४ वा० २२; प्रासादे धनपति राम केशवानाम्, २।२।३४)। राम-केशव, कृष्ण-संकर्षण, वासुदेव-संकर्षण, ये सब वासुदेव मूलक भक्ति प्रधान धर्म के सुविदित सूत्र हैं। अवश्य ही पाणिनि के युग में न केवल भागवत धर्म की नींव ही पड़ चुकी थी, बल्कि लोक में उसका समृद्ध रूप भी प्रकट हो रहा था। यद्यपि गणपाठ के शब्द सर्वदा प्रमाणभूत नहीं कहे जा सकते, किन्तु २।४।१३ गण में 'भागवती–भागवतम्' भाषा का एक रोचक प्रयोग आया है। यह एक गृहस्थ परिवार में भागवत धर्म की अनुयायिनी गृहपत्नी और भागवत गृहपति का संकेत करता है। अर्थशास्त्र में (ई० ४ थी शती) पाणिनि से सौ वर्ष बाद कृष्ण और कंस के उपाख्यान का और अप्रतिरथ विष्णु के प्रासाद या देवमन्दिर के निर्माण का उल्लेख है। नगरी चित्तौड़ के पास प्राचीन मध्यमिका में दूसरी शती ई० पू० की नारायणवाटिका के अवशेष पाए गए हैं, जिसके शिलालेख में संकर्षण वासुदेव को सर्वेश्वर अर्थात् अन्य सब देवों से ऊपर कहा गया है ये मौर्यशुंग युग के प्रमाण हैं, किन्तु इस बात की पर्याप्त सूचना देते हैं कि मौर्य काल से सौ-दो सौ वर्ष पूर्व ही भागवत धर्म का व्यापक आन्दोलन अस्तित्व में आ चुका था जिसने भारत के धार्मिक रंगमंच पर महत्त्वपूर्ण पट परिवर्तन किया।

पश्चिमी विद्वान् भी पाणिनि के इस उल्लेख को भागवत धर्म की प्राचीनता में प्रमाण मानते हैं। कीथ ने पतञ्जलि के 'संज्ञा चैषा तत्रभवतः' कथन को यथार्थ मानते हुए लिखा है कि निश्चय ही पाणिनि के समय में वासुदेव कृष्ण को विष्णु का अवतार माना जाने लगा था (जे० आर ए० एस, १९०८, पृ० ८४८) ग्रियर्सन

---

(१) इह तु कथं वर्तमानकालता कंसं घातयति, बलिं बन्धयतीति, चिरहते कंसे चिरबद्धे च बलौ। अत्रापि युक्ता। कथं। ये तावदेते शोभनिका नामैते प्रत्यक्षं कंसं घातयन्ति प्रत्यक्षं च बलिं बन्धयन्तीति। चित्रेषु कथम्। चित्रेष्वपि उद्‌गूर्णा निपतिताश्च प्रहारा दृश्यन्ते कंसकर्षण्यश्च। ग्रन्थिकेषु कथम् यत्र शब्दगडुमात्रं लक्ष्यते। तेऽपि तेषामुत्पत्ति प्रभृत्याविनाशाद् ऋद्धीर्व्याचक्षाणाः सतो बुद्धि विषयान् प्रकाशयन्ति। आतश्च सतो व्यामिश्रा हि दृश्यन्ते। केचित् कंसभक्ता भवन्ति, केचिद् वासुदेवभक्ताः। वर्णान्यत्वं खल्वपि पुष्यन्ति। केचिद् रक्तमुखा भवन्ति, केचित् कालमुखाः (भाष्य ३।१।२६ वा० १५)।

ने पाणिनीय उल्लेख के आधार पर भागवत धर्म की प्राचीनता को निर्विवाद कहा है (वही, १९०९, पृ० ११२२)। श्री रामकृष्ण गोपाल भण्डारकर भी इससे पूर्णतः सहमत हैं (वही; १९१०, पृ० १७०)। बलिबंध और कंसवध संबन्धी भाष्य के अवतरण के आधार पर वेबर ने भी कृष्ण वासुदेव की प्राचीनता और उनके विष्णु के अवतार होने की लोक मान्यता को स्वीकार किया था।

महाराज—यह शब्द प्राचीन भारतीय लोकधर्म का एक महत्त्वपूर्ण अध्याय दृष्टिपथ में ले आता है। पाणिनि ने महाराज को देवता कहा है (महाराज प्रोष्ठपदाट्ठञ् ४।२।३५, महाराजो देवता अस्य माहाराजिकं हविः)। एक दूसरे सूत्र में महाराज देवता की भक्ति का भी उल्लेख है। महाराजाट्ठञ् ४।३।९७, महाराजो भक्ति रस्य माहाराजिकः)। महाराज देवता के भक्त माहाराजिक कहलाते थे। पतंजलि ने महाराज देवता को अर्पित की जाने वाली बलि को महाराज बलि कहा है (यो हि महाराजाय बलिर्महाराजार्थः स भवति, २।१।३६, वा० २)। महाराज-देवता वैश्रवण या कुबेर की संज्ञा थी। अतिप्राचीन काल में राजा का एक अर्थ यक्ष था[1]। यक्षों के राजा होने के कारण कुबेर महाराज कहलाए। इन्हें ही कालिदास ने राजराज कहा है (मेघदूत ११३)। पाली साहित्य में कुबेर आदि चार देवताओं को चत्तारो महाराजानो कहा जाता है, जो चातुम्महाराजिक लोक में निवास करते हैं। यक्ष, गन्धर्व, कुंभाण्ड और नाग ये चार प्राचीन लोक देवता थे जिनकी व्यापक मान्यता थी। इन चारों के अधिपति क्रमशः कुबेर, धृतराष्ट्र, विरूढक और विरूपाक्ष ये चार देवता महाराज नाम से प्रसिद्ध हुए। जातक ६।२६५ में वैश्रवण कुबेर (पाली वेस्सवण) को महाराज कहा गया है। शक्र एवं तीन अन्य लोकपाल महाराजानो कहलाते थे (महासुतसोम जातक ६।२५९)। दीघनिकाय के आटानाटीयसुत्त में

१—महाभारत में राजा शब्द के यक्ष अर्थ का बहुत ही सटीक उदाहरण निम्नलिखित श्लोक में है—

आत्मना सप्तमं कामं हत्वा शत्रुमिवोत्तमम्।
प्राप्यावध्यं ब्रह्मपुरं राजेव स्यामहं सुखी॥
(शान्तिपर्व, मोक्षधर्म, पूना १७१।५२)

यह महाभारत के अतिक्लिष्ट श्लोकों में है। यहाँ ब्रह्म और राजा दोनों शब्दों का अर्थ यक्ष है। रामायण में भी ब्रह्म शब्द यक्ष अर्थ में आया है (ब्रह्मदत्तवरो ह्येष अवध्य कवचावृतः, लंका, ७१।३७)। श्लोक का अर्थ इस प्रकार है—जैसे यक्ष अपनी मृत्युरहित यक्षपुरी में पहुँच कर प्रसन्न होता है वैसे ही मैं काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, अहंकार और शरीर (= आत्मा) इन सातों को भारी शत्रु के समान वश में करके सुखी होऊँ।

चारों महाराज देवताओं को एक-एक देवगण की सूची में प्रमुखस्थान दिया गया है। उसी ग्रन्थ के केवट्टसुत्त में चत्तारो महाराज और चातुम्महाराजिक देवों में भेद किया है और पहले को दूसरे से श्रेष्ठ माना है। गृह्यसूत्रों में भी महाराज या वैश्रवण की पूजा का उल्लेख आता है। प्रायः प्रत्येक गृह्य होम या हवि के अन्त में वैश्रवण की स्तुति का मन्त्र निगद या उच्च घोष से पढ़ा जाता था जिसमें उसे राजाधिराज अर्थात् यक्षों का आधिपति कहा गया है[१]।

प्रतिकृति—मूर्तियों को जिनमें देव मूर्तियाँ भी सम्मिलित हैं प्रतिकृति कहा गया है (५।३।९६)। इसी अर्थ में 'अर्चा' इस विशिष्ट शब्द का भी प्रयोग हुआ है (५।२।१०१)। मूर्ति रखने वाला पुजारी 'अर्चावान्' या 'आर्च' कहलाता था। पतंजलि ने भी देव मूर्तियों के लिए अर्चा शब्द का प्रयोग किया है (मौर्यैः हिरण्यार्थिभिः अर्चाः प्रकल्पिताः, ५।३।९९)।

"जीविकार्थे चापण्ये" (५।३।९९) सूत्र देवमूर्तियों के वाचक शब्दों के नामों की सिद्धि के लिये हैं—जो मूर्ति जीविका के लिये हो और बिक्री के लिये न हो तो उसके वाचक शब्द से क प्रत्यय नहीं लगता। इस सम्बन्ध में निम्नलिखित कई विचार सम्भव है जिनसे सूत्र और भाष्य की पृष्ठभूमि का संकेत मिलता है—

१—कुछ मूर्तियाँ ऐसी थीं जो सार्वजनिक रूप से प्रासाद में अथवा खुले चत्वरों पर स्थापित होती थीं। उन पर एक व्यक्ति का स्वत्व न था। अतएव वे किसी की जीविका का साधन न थीं। और न बिक्री के लिए पण्य रूप में थीं। वे केवल पूजार्थ होती थीं। इस प्रकार की मूर्तियाँ पाणिनीय सूत्र के अन्तर्गत नहीं आतीं। उन्हें शिव कहते थे या शिवक यह अनुमान का विषय है। किन्तु सम्भावना यही है कि उनमें 'कन्' प्रत्यय नहीं लगता था। और उन्हें शिव, स्कन्द इत्यादि नामों से कहा जाता था।

२—दूसरे प्रकार की मूर्तियाँ देवलक या पुजारियों के अधिकार में होती थीं। या तो वे एक स्थान में पधराई रहतीं या देवलक उन्हें स्थान-स्थान पर ले जाकर

---

(१) राजाधिराजाय प्रसह्य साहिने नमो वयं वैश्रवणाय कुर्महे।
स मे कामान् कामकामाय मह्यं कामेश्वरो वै वैश्रवणो दधातु॥

(२) भाष्य में 'दीर्घनासिकी अर्चा' 'तुङ्ग नासिकी अर्चा' उदाहरण भी हैं। (४।१।५४)। देवमूर्ति के लिए अर्चा शब्द का प्रयोग मथुरा से प्राप्त मोरा कूप अभिलेख में एवं कालान्तर के शिल्पसाहित्य में भी मिलता है।

जीविका के लिए पूजा चढ़वाते थे। ऐसी चल और अचल मूर्तियाँ पूजार्थ और देवलकों के जीविकार्थ होती थीं किन्तु बिक्री के लिये न होने से अपण्य थीं। ये पाणिनीय सूत्र के अन्तर्गत आती हैं। अतएव इनमें कन् प्रत्यय का लोप करके इन्हें शिव-स्कन्द आदि नामों से अभिहित किया जाता था।

३—तीसरे प्रकार की मूर्तियाँ वे थीं जो दुकानों में बिक्री के लिये रक्खी जाती थीं। वे पूजार्थ नहीं थीं, यद्यपि अपने स्वामी दुकानदारों के लिये जीविका का साधन अवश्य थीं। ऐसी पण्य मूर्तियाँ पाणिनीय सूत्र का प्रत्युदाहरण हैं। उन्हें "शिवक" 'स्कन्दक' आदि कहा जाता था।

४—यहाँ पतञ्जलि ने एक नई समस्या खड़ी कर दी। उन मूर्तियों का नामकरण आप कैसे करेंगे जिन्हे मौर्य राजाओं ने रुपये के लोभ से बनवाया था, जो बिकती भी थीं, जो पूजा के लिये भी थीं और जीविका का साधन भी थीं।[१] मौर्यों ने सचमुच कुछ ऐसी मूर्तियाँ गढ़वाई थीं जिनसे वे पैसा बटोरना चाहते थे। कौटिल्य से इस बात का समर्थन होता है। वहाँ लिखा है—'देवताध्यक्ष को चाहिए कि देव मूर्तियों के जरिये सोना बटोरे और खजाना भरे (आजीवेत् हिरण्योपहारेण कोशं कुर्यात्)। देवताओं के चैत्यों में उत्सव और मेले करावे, और नाग मूर्तियाँ अपने फनों की संख्या घटा बढ़ा लेती हैं इस प्रकार की चमत्कार की बात फैलाकर भोली भाली जनता से पुजवा कर पैसा इकट्ठा करे।' इससे सूचित होता है कि इस प्रकार की मूर्तियाँ जीविका, पण्य और पूजा तीनों बातों के लिये थीं। प्रश्न यह उठाया गया कि इनमें पाणिनि का सूत्र लगे या नहीं और उनका नाम शिव रक्खा जाय या शिवक। पतञ्जलि ने यह समाधान दिया कि ऐसी मूर्तियों के लिये पाणिनीय सूत्र नहीं है। और यद्यपि वे पूजा और जीविका के लिये थीं, उन्हें शिव और स्कन्द कहना कठिन था।

५—अन्त में पतञ्जलि का कहना है कि मौर्य राजाओं की उन मूर्तियों की बात जो पण्य और जीविका दोनों के लिए थीं छोड़ दें, पर इस समय जो मूर्तियाँ पूजा में पधराई हुई हैं और जिनसे देवलकों की जीविका चलती है किन्तु जो पण्य

१—अपण्य इत्युच्यते तत्रेदं न सिध्यति 'शिवः' 'स्कंदः' 'विशाख' इति किं कारणम्। मौर्यैर्हिरण्यार्थिभिरर्चाः प्रकल्पिताः। भवेत्तासु न स्यात्, यास्त्वेताः सम्प्रति पूजार्थास्तासु भविष्यति—भाष्य (५।३।९९)।

नहीं हैं उनमें पाणिनि का सूत्र लगेगा और वे शिव, स्कन्द, कही जाएंगी शिवक नहीं।[1]

अर्थशास्त्र में भी मूर्तिपूजा के प्रमाण मिलते हैं। उस समय शिव और वैश्रवण आदि देव मूर्तियाँ मन्दिरों में स्थापित थीं। सूत्र २।४।१४ के गण पाठ से ज्ञात होता है कि शिव-वैश्रवण, स्कन्द-विशाख, ब्रह्म-प्रजापति सदृश नए देवता लोक पूजा में प्रविष्ट हो गए थे। पतञ्जलि ने कहा है कि वेद में इनका साथ निर्देश न था, लोक में ही इनके जुड़वाँ नामों की प्रथा पड़ी। (न चैते वेदे सहनिर्वाप निर्दिष्टाः, ६।३।२६ भाष्य)। लोक में यक्ष, नाग और ऐसे ही छोटे देवताओं की जो पूजा थी उन्हीं के दो प्रधान देवता शिव और वैश्रवण थे। कुबेर की संज्ञा वैश्रवण या महाराज भी थी जो उत्तर दिशा में यक्ष या यक्खों के राजा माने जाते थे। सूत्र ६।३।१३५ में पाणिनि ने धृतराजन् नाम का उल्लेख किया है जिसकी पहिचान पूर्व दिशा में गंधब्बों (गन्धर्वों) के अधिपति लोकपाल धतरट्ठ से संभव है। (संस्कृत-धृतराष्ट्र)।

असुर—सूत्रों में देवों के वैरी असुरों के भी कुछ नाम हैं, जैसे दैत्यों की माता दिति (४।१।५५), सर्पों की माता कद्रू (४।१।७२), असुर (४।४।१२३), राक्षस

१

अर्चाएं	जीविकार्थ या नहीं	पण्य या अपण्य	पूजार्थ या नहीं	नाम
१. सार्वजनिक प्रासादों में अर्चाएं	जीविकार्थ नहीं	अपण्य	पूजार्थ	पाणिनीय सूत्र में अनपेक्षित; अनुमानतः शिवः, स्कन्दः।
२. देवलकों की अर्चाएं	जीविकार्थ	अपण्य	पूजार्थ	शिवः, स्कन्दः।
३. पण्य अर्चाएं	जीविकार्थ	पण्य	पूजार्थ नहीं	शिवकः स्कन्दकः।
४. मौर्यों की अर्चाएं	हिरण्यार्थ	पण्य	पूजार्थ	उनका शिवः, स्कन्दः नाम नहीं (भवेत्तासु न स्यात्)।
५. पतञ्जलि के समय में पूजनार्थ अर्चाएं	जीविकार्थ	अपण्य	पूजार्थ	शिवः, स्कन्दः (यास्त्वेताः संप्रति पूजार्थास्तासु भविष्यति)।

और यातु (४।४।१२१)। आसुरी माया (४।४।१२३) शब्द प्राचीन था जिसका प्रयोग असुर विद्या के लिये होता था (आश्वलायन श्रौत, १०।७; शतपथ, १३।४, ३।११)। कुसित की स्त्री कुसितायी एक राक्षसी थी जिसका उल्लेख मैत्रायणी संहिता में आया है (मै० सं० ३।२।६)। राहु और चन्द्रमा की कथा का संकेत विधुन्तुद शब्द में है (३।२।३५)।

यक्ष—शेवल, सुपरि, विशाल, वरुण और अर्यमा इन पाँचों का उल्लेख एक सूत्र में है। ये पाँचों यक्षों के नाम थे (दे० पूर्व पृ० १९२)। लोक में यक्ष पूजा का बहुत अधिक प्रचार हुआ था। चरण परिषद् में विराजमान आचार्य की तुलना यक्ष के प्रिय दर्शन रूप से की गई है। (उपेत्याचार्यं परिषदं प्रेक्षेद् यक्षमिव, द्राह्यायण गृह्य ३।१।२५; गोभिल गृह्य ३।४।२८)। इन्द्र, वरुण, आदि वैदिक देवताओं को भी यक्ष रूप में मानकर उनकी पूजा होने लगी थी। दीघ निकाय में वरुण इन्द्र सोम प्रजापति को यक्खों में प्रधान कहा गया है (आटानाटीय सुत्त)। महामायूरी सूची में तो विष्णु, कार्तिकेय, शंकर, मकरध्वज, कामदेव, वज्रपाणि इन्द्र या शक्र इन सबको यक्ष माना गया है, पर वह पाणिनि के बहुत बाद की रचना है। महाभारत में यक्ष-युधिष्ठिर प्रश्नोत्तरी में यक्ष को महाकाय, ताल समुच्छ्रित, ज्वलनार्क प्रतीकाश, अदृश्य और पर्वतोपम कहा गया है। विशाल भी एक बड़े यक्ष का नाम था (सभापर्व १०।१६)। धार्मिक जगत् में फैले हुए यक्ष पूजा के ताने-बाने में से कुछ नामों का पाणिनीय सामग्री में आ जाना आश्चर्य प्रद नहीं है।

अध्याय ६, परिच्छेद २—यज्ञ

याज्ञिक— यज्ञों का अध्ययन करने वाले याज्ञिक लोगों के सम्प्रदाय का उल्लेख यास्क ने किया है पाणिनि में भी याज्ञिकों के आम्नाय और धर्म को याज्ञिक्य कहा गया है। पतञ्जलि ने भी याज्ञिक शास्त्र और याज्ञिकों के वाङ्मय का उल्लेख किया है। पाणिनि में जो धार्मिक चित्र है उसमें यज्ञ सम्बन्धी साहित्य और यज्ञ कर्म (१।२।३४ , ८।२।८८) की पर्याप्त सामग्री पाई जाती है। सुब्रह्मण्या (१।२।३७), न्यूङ्ख (१।२।३४) और याज्या मन्त्रों के (८।२।९०) उच्चारण के सम्बन्ध में आचार्य ने सूक्ष्म नियमों का उल्लेख किया है।

याज्ञिक साहित्य एक ओर यज्ञ के कर्मकाण्ड से सम्बन्धित विशाल ब्राह्मण और अनुब्राह्मण साहित्य था। दूसरी ओर क्रतु या सोम यज्ञ एवं दूसरे यज्ञ या इष्टियों के व्याख्यान ग्रन्थ भी बनाए गए थे (४।३।६८) जिनके ये उदाहरण मिलते हैं, अग्निष्टोमिक, वाजपेयिक, राजसूयिक, नावयज्ञिक, पाक यज्ञिक आदि। पुरोडाश सम्बन्धी कुछ पद्धतियों का सूत्र में उल्लेख है। पुरोडाश

किस प्रकार बनाया जाय इसकी विधि बताने वाला व्याख्यान ग्रन्थ पुरोडाशिक था[1]। पुरोडाश बनाने में जिन मंत्रों की आवश्यकता होती थी उनका व्याख्यान ग्रन्थ पौरोडाशिक कहा जाता था (४।३।७०)। ये मंत्र यजुर्वेद प्रथम अध्याय में हैं और शतपथ प्रथम काण्ड में उनकी व्याख्या है। यज्ञों में सम्मिलित होने वाले ऋत्विजों की तात्कालिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये ऐसी सारोद्धारिणी पद्धतियों की मांग रहती थी।

यजमान—जब तक यज्ञ की अवधि रहती तब तक के लिये मुख्य कर्ता की संज्ञा यजमान होती थी (३।२।१२९)। यज्ञ की समाप्ति पर वह अपने उस यजन के अधिकार से यज्वा (३।२।१०३) कहलाता था। विशिष्ट यज्ञों के आधार पर उसके लिये अग्निष्टोमयाजी आदि विशेषण प्रयुक्त होते थे (३।२।८५)। जो व्यक्ति बार-बार यज्ञ करता, और जिसका स्वभाव ही यजन शील बन जाता था उसके लिये भाषा में यायजूक शब्द था (३।२।१६६; इज्याशीलो यायजूकः)। यज्ञकाल में यजमान वाक् संयम का व्रत रखने के कारण वाचंयम (वाचि यमो व्रते, ३।२।४०) एवं स्थंडिल पर शयन करने के कारण स्थाण्डिल (४।२।१५, स्थंडिलाच्छयितरि व्रते) या स्थंडिलशायी (३।२।८०) कहलाता था। यजमान का अन्तेवासी या पुत्र जब यज्ञ कर्म करने के योग्य वय प्राप्त करता तो वह अलंकर्मीण कहा जाता था (५।४।१, अलंकर्मणो अलंकर्मीणः)। उस समय वह अपने पिता या गुरु के समीप बैठकर आहुति डालने में उसकी सहायता करता था (यदस्य पुत्रो वान्तेवासी वालंकर्मीणः स्यात्सदक्षिणत आसीनो जुहुयादिति, बौधायन श्रौतसूत्र, २२।२०)। अलंकर्म में कर्म शब्द का सामयिक अर्थ यज्ञ था (यजुर्वेद १।१; शतपथ १।१।२।१, यज्ञो वै कर्म)।

आस्पद—ब्राह्मणों में सामाजिक प्रतिष्ठा आस्पद कहलाती थी (आस्पदं प्रतिष्ठायाम्, ६।१।१४६)। यज्ञों के आधार पर आस्पदों की प्रसिद्धि होती थी, जैसे वाजपेयी अग्निहोत्री आदि। जो श्रौताग्नियों का आधान करके उनकी परिचर्या करता था उसे आहिताग्नि कहते थे (२।२।३७, वाऽऽहिताग्न्यादिषु)। आवसथ अग्नि के लिये निर्मित स्थान में निवास करने वाला व्यक्ति आवसथिक कहलाता

---

१. पुरोडाश तैयार करने की विधि के अंग इस प्रकार हैं—व्रीहीन् निर्वपति (यजुर्वेद अध्याय १, मंत्र ९), प्रोक्षति (मंत्र १३), अवहन्ति (मंत्र १४), परापुनाति (मंत्र १६), तंडुलान् पिनष्टि (मंत्र २०), प्रणीताभिः संयौति (मंत्र २१), और कपालेषु श्रपयति (मंत्र २२)। इन्हीं प्रक्रियाओं की व्याख्या पुरोडाशिक ग्रन्थ में की जाती थी, जैसी शतपथ के आरम्भ में है।

था (आवसथात् छल् , ४।४।७४; आवसथे वसति [आवसथिकः, आवसथिकी)। ब्राह्मणों का अवस्थी आस्पद इसी से बना है। यज्ञ भूमि में यजमान के लिये जो स्थान बनाया जाता था वह आवसथ कहलाता था क्योंकि आवसथ अग्नि की स्थापना वहीं की जाती थी। यज्ञ के दिनों में यजमान को वहीं रहना आवश्यक था। इसे ही अग्निशरण भी कहते थे।

यज्ञ-नाम (यज्ञाख्या, ५।१।९५)—यज्ञ शब्द की व्युत्पत्ति यज् धातु से की जाती थी (३।३।९०, यज् + नङ्)। पाणिनि ने इष्या शब्द का भी प्रयोग किया है (३।३।६८)। यजुर्वेद में यज्ञों का प्रतिपादन है। यज्ञ तीन प्रकार के थे—इष्टि, पशुबंध और सोम। इष्टिजैसे दर्श पौर्णमास में स्वाहा कह कर और बैठकर आहुति दी जाती है। पशुबन्ध और सोमयज्ञों में आहुति खड़े होकर और वौषट् बोलकर डाली जाती थी[1]। एक सूत्र में अध्वर्युवेद अर्थात् यजुर्वेद के क्रतुओं का उल्लेख है (अध्वर्युक्रतुरनपुंसकम् , २।४।४), जैसे अर्काश्वमेध, सायाह्नातिरात्र (काशिका)। क्रतुयज्ञेभ्यश्च (४।३।६८) सूत्र में क्रतु और यज्ञों में अन्तर बताया गया है। यज्ञ व्यापक शब्द था। उसके अन्तर्गत दर्श, पौर्णमास जैसी इष्टियाँ, पाक यज्ञ और नवयज्ञ जैसे साधारण होम, पंचौदन और सप्तौदन जैसे विशिष्ट स्थालीपाक, एवं अग्निष्टोम, राजसूय और वाजपेय जैसे क्रतु भी थे। किन्तु क्रतु शब्द केवल सोम यज्ञों के लिये ही प्रयुक्त होता था (क्रतु शब्दः सोमयज्ञेषु रूढः, काशिका, २।४।४)। क्रतुओं में सोम की आहुति दी जाती है। क्रतु दो प्रकार के होते हैं, एक अहीन कहलाते हैं जो एक दिन से ग्यारह दिन तक चलने वाले सोमयाग हैं, और दूसरे सत्र, जो बारह दिन से वर्ष, दो वर्ष, सौ वर्ष, या सहस्र वर्ष तक चलते हैं। सूत्र ४।२।४२ पर एक वार्तिक द्वारा क्रतु के अर्थ में अहीन शब्द सिद्ध किया गया है (अहः खः क्रतौ; और भी सूत्र ६।४।१४५, अह्नां समूहः क्रतुः अहीनः)। दिनों की अवधि के अनुसार अहीन यज्ञ एकाह, दशाह, आदि कहलाते थे (५।१।९५, काशिका) अग्निष्टोम, वाजपेय और राजसूय क्रतु हैं, पर सत्र नहीं। अग्निष्टोम और वाजपेय एक-एक दिन के यज्ञ हैं जिनके पहिले चार दिन की पूर्वाङ्ग विधि की जाती थी। राजसूय चार दिन का यज्ञ है। कभी कभी सोमयाग का नाम दिनों की संख्या और यजमान के नाम से पड़ जाता था, जैसे गर्ग त्रिरात्र (गर्ग कुलमें तीन दिन का सोमयाग); इसी प्रकार चरक त्रिरात्र, कुसुर बिन्दु सप्त रात्र (द्विगौ क्रतौ, ६।२।९७)।

---

१. उपविष्टहोमाः स्वाहाकारप्रदानाः जुहोतयः। तिष्ठ द्धोमाः वषट्कारप्रदानाः याज्यापुरोनुवाक्यावन्तो यजतयः।

विशेष यज्ञों में पाणिनि ने अग्निष्टोम (८।३।८२), ज्योतिष्टोम और आयुष्टोम (८।३।८३) का उल्लेख किया है। आयुष्टोम और ज्योतिष्टोम मिलकर अभिप्लव विधि होती है। अग्निष्टोम में तीन सवन और द्वादशस्तोत्र होते हैं। यह सब क्रतुओं की प्रकृति है। राजसूय (३।१।११४) उसी की विकृति है। तुरायण इष्टि करने वाला यजमान तौरायणिक कहलाता था (तुरायणं वर्तयति, ५।१।७२)। पौर्णमास इष्टि के आधार पर ही फेर-फार करके तुरायण किया जाता था। शांखायन ब्राह्मण में इसे स्वर्ग काम व्यक्ति का यज्ञ कहा है (स एव स्वर्गकामस्य यज्ञः, ४ ११; आरण्यकपर्व १३।२१)। कात्यायन श्रौत सूत्र के अनुसार (२४।७।१–८) तुरायण सत्र वैशाख शुक्ल या चैत्र शुक्ल पंचमी को आरम्भ करके एक वर्ष तक चलता था (संवत्सरं यजते)। इसे द्वादशाह की विकृति मानते थे। कुंडपाय्य और संचाय्य विशिष्ट सोमक्रतुओं की संज्ञा थी (क्रतौ कुंडपाय्यसंचाय्यौ, ३।१।१३०)। कुंडपाय्य भी द्वादशाह यज्ञ की विकृति थी। वह एक वर्ष का सत्र था जिसे कुंडपायी ऋषियों ने किया था (ऋग्वेद ८।१७। १३ में कुंडपायी का नामोल्लेख है)।

पाणिनि ने दीर्घ सत्र यज्ञों का भी उल्लेख किया है, जो सौ या सहस्र वर्ष के दीर्घकाल तक चलते थे (७।३।१)। ब्राह्मण ग्रन्थों में ऐसे यज्ञों का वर्णन है, जैसे विश्वसृज् जो कि सहस्र सम्वत्सर सत्र था। (पंचविंश ब्राह्मण)। पतंजलि ने लिखा है कि ऐसे दीर्घकालीन सत्र लोक में वस्तुतः कोई करता न था (लोके अप्रयुक्ताः), केवल याज्ञिक लोगों के सम्प्रदाय में वे विदित थे (दीर्घ सत्राणि वार्षशतिकानि वार्षसहस्रिकाणि च न चाद्यत्वे कश्चिदपि व्यवहरति केवलमृषि सम्प्रदायो धर्म इति कृत्वा याज्ञिकाः शास्त्रेणानुविदधते, भाष्य पस्पशाह्निक, वा० अप्रयुक्ते दीर्घ सत्रवत्)।

सोम—सोम का अभिषव सुत्या कहलाता था (३।३।९९)। अभिषव करने वाले को सोमसुत् कहते थे (३।२।९०)। जिस यजमान ने सोम का अभिषव किया होता वह यज्ञ हो जाने पर सुत्वा इस विरुद से प्रसिद्ध होता था (३ २।१०३). जैसे यज्ञ कर्ता के लिये यज्वा था। सोमपान करना कुछ आर्थिक सुविधा और आध्यात्मिक तैयारी पर निर्भर था। जिसमें सोमपान करने की इस प्रकार की योग्यता या अर्हता हो वह सोम्य कहलाता था (सोममर्हति यः, ४।४।१३७)। याज्ञिक लोग कहते थे कि जिसके कुल में दस पीढ़ी पहले तक आचार पर कोई आँच न आई हो वह सोमपान का अधिकारी होता है (एवं हि याज्ञिकाः पठन्ति दश पुरुषानूकं यस्य गृहे शूद्रा न विद्येरन् स सोमं पिबेदिति, भाष्य ४।१।६३)। मनु का दृष्टिकोण आर्थिक योग्यता से है—जिसके घर में तीन वर्ष या उससे अधिक के लिये पर्याप्त अन्न हो वह सोम पीने की योग्यता रखता है (यस्य त्रैवार्षिकं धान्यं निहितं भृत्यवृत्तये। अधिकं वापि विद्येत स सोमं पातु मर्हति (मनु ११।७; काशिका ७।३। १६)। सोमपान की इच्छा रखने वाले व्यक्ति को पर्याप्त सामग्री सँभार एकत्र

रखना चाहिए, अन्यथा उसका परिश्रम असफल रह जाता है (मनु ११।८)। सोम यज्ञ में यद्यपि ऋत्विक् सोमकूटने पीसने-छानने की क्रिया करता, पर यजमान को ही प्रधान कर्ता होने के नाते उसका फल प्राप्त होता था। वह यजमान सुन्वन् कहलाता था (सुञो यज्ञ संयोगे, ३।२।१३२)। बारह दिन या उससे अधिक के सोम सत्र में ऋत्विजों की संख्या सत्रह से पच्चीस तक होती थी (सप्त दशावराः पंचविंशतिपरमाः)। उनमें सभी यजमान होते थे, सभी ऋत्विज भी थे (सर्वे यजमानाः सर्वे ऋत्विजः), सब का आहिताग्नि होना आवश्यक था, सब को यज्ञ के पुण्य फल में समान भाग प्राप्त होता था, कोई न दक्षिणा देता था और न पाने की आशा करता था, एवं सभी मिलकर सोम का सवन करते थे। इसी स्थिति का सूचक यह वाक्य था—सर्वे सुन्वन्तः सर्वे यजमानाः सत्रिणः उच्यन्ते (काशिका, ३।२।१३२, सुञो यज्ञ संयोगे)।

अग्न्याख्या (३।२।९२)—जो अग्नि आहुति को देवों के समीप ले जाता है, उसकी संज्ञा हव्यवाहन (३।२।६६, हव्येऽनन्तः पादम्) और जो पितरों के पास ले जाता है उसकी संज्ञा कव्यवाहन थी (कव्यपुरीषपुरीष्येषु ञ्युट्, ३।२।६५)। हव्य वाहन अग्नि को स्वाहा, और कव्य वाहन को स्वधा कह कर आहुति दी जाती है (२।३।१६)। श्रौत यज्ञों के लिये उपयुक्त अग्नि चित्याग्नि कहलाती थी (३।१।१३२)। तीन श्रौताग्नियों में गार्हपत्य (गृहपतिना संयुक्ते ञ्यः, ४।४।९०, गृहपतिना संयुक्तः गार्हपत्योऽग्निः) और दक्षिणाग्नि का उल्लेख सूत्रों में है। दक्षिणाग्नि का विशिष्ट नाम आनाय्य था क्योंकि उसे गार्हपत्य अग्नि में से लाते थे और कर्म हो जाने के बाद फिर उसकी रक्षा या आधान नहीं किया जाता था (आनाय्योऽनित्ये, ३।१।१२७; भाष्य, आनाय्यो दक्षिणाग्नविति वक्तव्यम्)। आनाय्य शब्द कुछ विशेष प्रकार का है। श्रौत यज्ञ की अग्नि अरणी मंथन से उत्पन्न की जाती थी। उत्पन्न होने पर उसे आहिताग्नि यजमान गार्हपत्य नामक वेदी में गार्हपत्य अग्नि के रूप में सुरक्षित रखता था। दो वेदियाँ और थीं, आहवनीय और दक्षिणाग्नि। यजमान अपनी गार्हपत्य वेदि में से अग्नि ले जाकर उन दोनों वेदियों में डालता था; इसीलिये दोनों उस काल विशेष के लिये ही पृथक् प्रज्वलित होने के कारण अनित्य कहलाती थीं। जैसे ही आहुतियाँ समाप्त हो जातीं, वे दोनों पवित्र अग्नियाँ न रह जाती थीं, किन्तु गार्हपत्य सदा रक्षा के योग्य थी। ऐसी भी प्रथा थी कि गार्हपत्य अग्नि से में दक्षिणाग्नि के लिये अग्नि न लेकर भड़भूजे के भाड़ से (भ्राष्ट्र), वैश्यकुल में जो प्रज्वलित अग्नि हो उससे, या किसी ऐसी नई जगह से भी ले सकते थे जहाँ अभी श्रौताग्नि की विधिवत् स्थापना न हुई हो। ऐसी पृष्ठभूमि में आनाय्य संज्ञा केवल दक्षिणाग्नि के लिये प्रयुक्त होती थी (आनाय्यो दक्षिणाग्नेः रूढिरेषा, काशिका।

वेदियाँ—वेदि में अग्नि प्रज्वलित करने की तीन अवस्थाओं के लिये तीन

शब्द भाषा में थे—परिचाय्य, उपचाय्य, समूह्य (३।१।१३२)। आरम्भ में समिधाओं को विधिपूर्वक चुनकर और वेदि को सजाकर जो अग्नि जलाई जाती थी वह परिचाय्य अवस्था हुई (परिचाय्यं चिन्वीत ग्राम कामः, शतपथ ५।४।११।१)। यह उसकी अलंकरण की दशा थी। बीच में जब वह खूब दहक जाती तो उसे उपचाय्य कहते थे (=संवर्धन)। अन्त में उसे इधर-उधर बिखरी अवस्था में बटोर कर राख कचरा आदि का ढेर लगा देना, यह उसकी समूह्य अवस्था थी। इसी के लिये समूह्य पुरीष, यह सार्थक शब्द भाषा में प्रयुक्त होता था (शतपथ ६।७।२।८; कात्यायन श्रौ० १६।५।९–१०)।

दर्श-पौर्णमास की वेदि ३६ वितस्ति लम्बी और १८ वितस्ति चौड़ी कही गई है (२७ फुट × १३½ फुट) इससे दुगनी नाप की वेदि द्विस्तावा और तिगुनी नाप की त्रिस्तावा कहलाती थी (द्विस्तावा त्रिस्तावा वेदिः, ५।४।८४; यावती प्रकृतौ वेदिस्ततो द्विगुणा वा त्रिगुणा वा कस्याञ्चिद् विकृतौ—काशिका)।

वेदि की इस भूमि पर भिन्न-भिन्न वेदियाँ या हवनकुंड बनाए जाते थे। प्रत्येक की अपनी आकृति होती थी। उनका उल्लेख कर्मण्यग्न्याख्यायाम् सूत्र में (३।२।९२) किया गया है, जैसे श्येनचित्, कंकचित् (काशिका), द्रोणचित् (चतुरस्र), रथचक्रचित् (वृत्त), प्रउगचित् (त्रिकोणाकृति), उभयतः प्रउगचित् (दोहरे त्रिकोण की या डमरू की आकृति; कात्यायन श्रौत सूत्र १६।५।९)। यह सब विशिष्ट प्रकार का अग्नि चयन था जिसे अग्नि चित्या कहा जाता था (३।१।१३२)। वेदियों के निर्माण में जिन-जिन मंत्रों से इष्टकाचिति की जाती थी, उन मंत्रों से उन इष्टिकाओं का नाम पड़ जाता था (तद्वानासामुपधानो मन्त्र इतीष्टकासु लुक् च मतोः, ४।४।१२५)। मन्त्र में जो महत्त्वपूर्ण शब्द होता उसे प्रतीक मानकर इष्टका का नाम रखा जाता था, जैसे वर्चस्या, तेजस्या, रेतस्या, पयस्या ये इष्टकाओं के प्राचीन नाम थे। पाणिनि ने आश्विनी नामक इष्टका का उल्लेख विशेष सूत्र में किया है। (अश्विनामण्, ४।४।१२६)। जो इस प्रकार की अग्नियों का चयन करता था, उसे अग्निचित् कहते थे (३।२।९१, अग्नौ चेः)।

यज्ञार्थ उपकरण—इनमें से कुछ का प्रासंगिक उल्लेख सूत्रों में आ गया है। सोम क्रतुओं में जिस स्थान पर बैठकर छन्दोग या सामगान करनेवाले ऋत्विज् साम गान करते थे वह स्थान संस्ताव कहा गया है। अमर कोश में इसे स्तुति भूमि लिखा है। कूड़ा कचरा फेंकने का स्थान अवस्कर कहलाता था (४।३।२८, अवस्करे जातः अवस्करकः)। कुश या दर्भ की संज्ञा पवित्र थी (पुवः संज्ञायाम्, ३।२।१८५, यजु १।२।३, १२)। सोमयाग में सोम नामक ओषधि की आवश्यकता पड़ती थी। पतंजलि ने पूतीक या कुशा को सोम का प्रतिनिधि लिखा है; साथ ही कहा है कि

इससे यह न समझना चाहिए कि सोम गई बीती वस्तु हो गई है (नच तत्र सोमो भूत पूर्वो भवति, १।१।५६, भाष्य)।

यज्ञपात्र (१।३।६४)—सोम पीने के पात्र या सोम ग्रहों का जोड़ा रक्खा जाता था। द्वन्द्व शब्द का एक अर्थ 'यज्ञ पात्र प्रयोग' भी है (८।१।१५)। सूत्र में क्षुल्लक वैश्वदेव और महावैश्वदेव नामक ग्रहों का उल्लेख आया है। (क्षुल्लकश्च वैश्वदेवे, ६।२।३९; दे० क्षुल्लक के लिये कात्यायन श्रौ० ९।४।१, और महा० के लिये १०।६।२)। आहुति द्रव्य हवि था। उसी का एक विशेष रूप सांनाय्य कहलाता था (३।१।१२८)। यह दर्श नामक इष्टि में इन्द्र देवता के उद्देश्य से दी जानेवाली हवि थी। इष्टि से पहली सायंकाल का जो गाय का दूध दुहा जाता था (सायंदोह) उसका दही जमा लि ा जाता था। अगले दिन उस दही में प्रातः काल का दुहा हुआ दूध (प्रातर्दोह) मिलाकर सांनाय्य हवि बनती थी। (सम् + नी = सानना, मिलाना)।[1]

ऋत्विक्—यज्ञ के सब पुरोहित ऋत्विज् कहलाते थे (३।२ ५९)। ऋत्विक् कर्मों के कराने में दक्ष कर्म कर्ता आर्त्विजीन कहलाते थे (५।१।१७१ सूत्र पर वा० ऋत्विक् कर्मार्हति)। पतंजलि ने आर्त्विजीनं ब्राह्मण कुलम् लिखा है। स्पष्ट है कि वैदिक युग से ही ब्राह्मण लोग बड़े परिश्रम से ऋत्विक् कर्म में निपुणता उपार्जित करते आए थे। षड्विंश ब्राह्मण के अनुसार यज्ञों में प्रयुक्त वेदमंत्रों का शुद्ध उच्चारण करने वाले ब्राह्मण आर्त्विजीन कहलाते थे (एष आर्त्विजीनो य एतं वेद मनु ब्रूते, १।३।१६)। आर्त्विजीन वह माना जाता था जो यज्ञ मंत्रों का पद, स्वर और अक्षर के अनुसार शुद्ध स्फुट उच्चारण कर सके (यो वा इमां पदशः स्वरशो वाचं विदधाति स आर्त्विजनः, पस्पशाह्निक भाष्य)। यजमान के लिये विविध प्रकार के यज्ञ कर्म करने के कारण ऋत्विज् को याजक कहा जाता था। जिस जाति का यजमान हो उसके साथ याजक शब्द जोड़कर भाषा में शब्द बनते थे, जैसे ब्राह्मण याजक, क्षत्रिय याजक (याजकादिभिश्च, २।२।९)।

विशेषज्ञ—जो जिस यज्ञ या विधि में विशेष निपुणता प्राप्त करता था, उसे उसी के लिये आमंत्रित करते थे। जो सोम क्रतुओं का विशेष अध्ययन करते वे

१—दर्श इष्टि में तीन आहुतियां होती हैं पहली अग्नि के लिये आग्नेय पुरोडाश की, दूसरी इन्द्र के लिये ऐन्द्र दधि की और तीसरी इन्द्र के लिये ऐन्द्र पय या दूध की आहुति। दूसरी और तीसरी को साथ मिलाने से सांनाय्य हवि बनती थी। इसमें उद्दिष्ट देवता तो एक था, पर भिन्न आहुति द्रव्यों को एक में मिलाकर साथ ही हवि दी जाती थी। पहले जुहू में दही भर कर, उसके ऊपर दूध छोड़ने से सांनाय्य हवि बनती थी।

आग्निष्टोमिक, वाजपेयिक, राजसूयिक आदि कहलाते थे। स्वाभाविक था कि इतने बड़े यज्ञों का दायित्व लेने के इन विशेषज्ञों को ही आमंत्रित किया जाता। वे अपने पुत्र और शिष्य वर्ग के साथ इन यज्ञों में सम्मिलित होते थे (क्रतु-विशेषवाचिभ्यष्ठक् प्रत्ययो भवति तदधीते तद्वेद त्यस्मिन् विषये, काशिका)। जैसे यजमान पुत्र अपने पिता की सहायता करता था वैसे ही ऋत्विक पुत्र भी करते थे और वे अलंकर्मीण कहलाते थे (यदस्य पुत्रो वान्तेवासी वालंकर्मीणः स्यात्, बौ० श्रौ० २२।२०)। इसीलिये भाषा में ऋत्विक् पुत्र एवं होतुः पुत्र जैसे शब्दों की अलग आकांक्षा हुई (६।२।१३३)।

ऋत्विक् संख्या—ब्राह्मणों के अनुसार ऋत्विजों की संख्या सोलह थी। उनके चार वर्ग थे[1]। ऋग्वेद के ऋत्विजों में पाणिनि ने होता, प्रशास्ता (६।४।११) और ग्रावस्तुत् (३।२।१७७) का उल्लेख किया है। प्रशास्ता को मैत्रावरुण भी कहते थे। होता याज्या और अनुवाक्या मंत्रों का पाठ करता था। ग्रावस्तुत् ऋत्विज् सोम का अभिषव करते समय सिल बट्टों की स्तुति के मंत्र पढ़ता था।

सामवेद के ऋत्विजों में उद्गाता (५।१।१२९) और उसके सहायक प्रति-हर्ता का (गण पाठ में) उल्लेख है।

यज्ञ में अध्वर्यु का पद महत्त्वपूर्ण था। यजुर्वेद को अध्वर्युवेद कहा जाता था। जैसे जैसे यज्ञों के कर्मकांड की अभिवृद्धि हुई अध्वर्यु ऋत्विजों के भेद बढ़ने लगे। इसमें दो हेतु थे। एक तो देश भेद से अध्वर्युओं की ख्याति हुई जैसे प्राच्याध्वर्यु, अर्थात् प्राच्य देश का अध्वर्यु। दूसरा महत्त्वपूर्ण कारण वैदिक शाखाओं के भेद से कर्मकाण्ड में भेद पड़ जाना था। इसके प्रमाण ब्राह्मण और श्रौत सूत्रों में भरे पड़े हैं। उदिते जुहोति, अनुदिते जुहोति, सूरज निकलने पर हवन करे या निकलने से पहले - इस प्रकार के सैकड़ों ही मतभेद थे और प्रत्येक आम्नाय या शाखा अपनी इन विशेषताओं का बड़ा आग्रह रखती थी। इसी आधार पर कठाध्वर्यु, कलापाध्वर्यु जैसे शब्द अस्तित्व में आए और भाषा में प्रचलित हुए (अध्वर्यु कषाययो र्जातौ, ६।२।१०)। विशेषतः कृष्ण यजुर्वेद के आम्नायवाले कर्म काण्ड की बारीकियों के भक्त थे।

अथर्ववेद के ऋत्विजों में पाणिनि ने ब्रह्मा (५।१।१३६), अग्नीध् (८।२।९२) और पोता (६।४।११) का उल्लेख किया है। ऋग्वेद में ही ब्रह्मा का महत्त्व और

---

(१) १. ऋग्वेद—होता, मैत्रावरुण, अच्छावाक्, ग्रावस्तुत्।
२. यजुर्वेद—अध्वर्यु, प्रति प्रस्थाता, नेष्टा, उन्नेता।
३. सामवेद—उद्गाता, प्रस्तोता, प्रतिहर्ता, सुब्रह्मण्य।
४. अथर्व वेद—ब्रह्मा, ब्राह्मणाच्छंसी, आग्नीध्र, पोता।

ऋत्विजों की अपेक्षा विशेष माना जाने लगा था; उसे सुविप्र कहा गया है। ब्रह्मा चारों वेदों का और यज्ञ के सम्पूर्ण कर्मकाण्ड का अधिष्ठाता होता था, यही उसकी विशेषता थी। कालान्तर में जो महाब्रह्मा पद सबसे विशिष्ट विद्वान् के लिये प्रयुक्त किया जाने लगा उसकी पृष्ठभूमि यही थी (दे० पूर्व पृ० ९२,२९९)।

ऋत्विजों के पृथक् कर्म—यज्ञ में सोलह ऋत्विजों का काम एक दूसरे के साथ सहयोग पर आश्रित था। उनमें से हर एक के कर्म और भाव को प्रकट करने के लिये भाषा में अलग अलग शब्द थे। ये शब्द ऋत्विजों के नामों में प्रत्यय जोड़कर बनाए जाते थे। होत्राभ्यश्छः (५।१।१३५) सूत्र में इसका विधान किया गया है, (होत्रा शब्द ऋत्विग्विशेष वचनः, काशिका); जैसे अच्छावाकीय (अच्छावाकस्य भावः कर्म वा), मित्रावरुणीय, ब्राह्मणाच्छंसीय, आग्नीध्र प्रतिप्रस्थात्रीय, नेष्ट्रीय, पोत्रीय आदि। उद्गाता का कर्म औद्गात्र (५।१।१२९) और अध्वर्युका आध्वर्यव (४।३।१२३) कहलाता था। ब्रह्मा का कर्म या भाव ब्रह्मत्व कहा जाता था (ब्रह्मणस्त्वः, ५।१।१३६)।

मंत्र करण · यज्ञ में देवताओं के आवाहन के लिये निश्चित मंत्रों का पढ़ना मंत्रकरण कहलाता था उपान्मंत्रकरणे, १।३।२५)। उसके लिये भाषा में विशेष प्रयोग ही चल गए थे, जैसे आग्नेय्याऽऽग्नीध्रमुपतिष्ठते (आग्नेयी ऋचा के पाठ से आग्नीध्र ऋत्विजका उपस्थान करता है), ऐन्द्रया गार्हपत्यमुपतिष्ठते (ऐन्द्री ऋचाके पाठ से गार्हपत्य अग्नि का उपस्थान करता है। मंत्रों का स्फुट स्वर वर्ण के साथ उच्चारण समुच्चारण कहा जाता था (१।३।४८)। देवताओं का आवाहन निह्व या अभिह्व कहलाता था (३।३।७२)।

याज्यामंत्र—यज्ञ कर्म में याज्या ऋचाओं का पाठ विशेष महत्त्व रखता है। पाणिनि ने सूत्रों में उसका विस्तृत उल्लेख किया है (८।२।८८-९२)। सब याज्या मंत्र ऋग्वेद से लिए गए हैं। आश्वलायन श्रौत सूत्र और अन्य श्रौत सूत्रों के हौत्र कांड में उनका निर्देश है। जब-जब अध्वर्यु आहुतियाँ आरम्भ करता है, तभी उस कर्म के साथ होता याज्या और पुरोऽनुवाक्या मंत्रों का पाठ करता है। अध्वर्यु स्वयं मंत्र का पाठ नहीं करता मंत्र पढ़ना होता का कर्म है। अध्वर्यु होता को प्रेरित करता है; उस प्रेरणा को प्रैष कहते हैं। उस प्रैष को सुनते ही होता मंत्र पढ़ता है और अन्त में वौषट् का उच्चारण करता है। मंत्र सुनते ही अध्वर्यु 'स्वाहा' बोलकर अग्नि में आहुति छोड़ देता है।

यह कर्म इस प्रकार किया जाता है—

---

(१) होताध्वर्युरावया अग्निमिन्धो ग्रावग्राभ उत शंस्ता सुविप्रः।
तेन यज्ञेन स्वरंकृतेन स्विष्टेन वक्षणा आ पृणध्वम् ॥ ऋ० १।१६२।५

(१) पुरोनुवाक्या का प्रैष, अनुब्रूहि—अध्वर्यु की ओर से होता को मिलने वाला यह पहला प्रैष होता है। अध्वर्यु कहता है—अग्नयेऽनुब्रूहि अग्नि-देवता का आवाहन करने वाले बोल बोलो। सुनकर होता पुरोनुवाक्या ऋचा का उच्चारण करता है। सूत्र ८।२।९१ के अनुसार अग्नयेऽनुब्रूहि में अध्वर्यु द्वारा ब्रूहि का आद्यस्वर प्लुत किया जाता है—अग्नयेऽनुब्रू३हि।

(२) पुरोनुवाक्या—प्रैष सुनते ही होता पुरोनुवाक्या ऋचा का पाठ करता है। उसके अंत में प्रणव का उच्चारण प्लुतस्वर के साथ करना पड़ता है (प्रणवष्टेः, ८।२।८९), जैसे अपां रेतांसि जिन्वतो३म् (ऋचा के पाद या अर्धऋचा के अन्तिम स्वर को अलग निकालकर ओम् के ओ के साथ मिलाकर उसे प्लुत करना यही प्रणव है)। पुरोनुवाक्या और याज्या में अन्तर था, पहली से देवता को बुलावा दिया जाता है जिसे आवाहन करना कहते हैं। जब देवता आगए तब याज्या से उसे आहुति द्रव्य दिया जाता है (ह्वयति वा अनुवाक्यया, प्रयच्छति याज्यया, शतपथ १।७।२।१७)। जब होता पुरोनुवाक्या पढ़ चुकता है, तब याज्या का पाठ करता है (अथ यदनुवाक्यामनूच्य याज्यया यजति, शतपथ ११।४।१।१२)। पुरोनुवाक्या-याज्या मिलाकर पूरा कर्म होता है अर्थात् देवता का आवाहन और हवि प्रदान। शतपथ में कहा है कि कई जगह पुरोनुवाक्या बिना पढ़े ही याज्या पढ़ दी जाती थी (अथ यदपुनर्वाक्यका भवन्ति, शतपथ ११।४।१।१२)। शतपथ के अनुसार अनुवाक्या द्युलोक है याज्या पृथिवी है। दोनों का एक जोड़ा है, पर दोनों स्त्रियाँ हैं। उनका मिथुन या पुरुष भाव वषट्कार है (श० १।७।२।११; सोऽनुवाक्याम-नूच्य याज्यामनु द्रुत्य पश्चाद् वषट् करोति, श० १।७।२।१२)।

(३) आश्रवण—अध्वर्यु, अग्नीध् और होता के आसन ग्रहण कर लेने पर अध्वर्यु अग्नीध् (ऋग्वेदीय अग्निसिन्ध, १।१६२।५) से जो ब्रह्मा का सहायक ऋत्विज् होता है और असुरों से यज्ञ की रक्षा करता है, कहता था। अग्नीध् कचरे के स्थान या उत्कर के समीप स्फ्य[१] नामक तलवार लेकर बैठता था। उसे अध्वर्यु द्वारा जो आज्ञा दी जाती उसे अग्नित्प्रेषण या आश्रवण कहते थे। उसका यह रूप था—आ ३ श्रा ३ वय; कुछ शाखाओं में इसे ओ ३ श्रा ३ वय कहा गया है (अग्नीत्प्रेषणे परस्य च, ८।२।९२, अर्थात् अग्नीत् का प्रेषण करने वाले वाक्य में आदि पद भी प्लुत होता है और दूसरा भी)। इस प्रैष का अभिप्राय यह था—कृपा करके देवता तक यज्ञ की सूचना पहुँचा दें कि सब ठीक-ठाक है।

(४) प्रत्याश्रवण—अध्वर्यु का प्रेषण सुनकर अग्नीध् उसका उत्तर प्रत्या श्रवण वाक्य के उच्चारण से देता था—अस्तु श्रौ ३ षट्, जिसमें श्रौषट् का स्वर प्लुत

१—तलवार वाची फारसी सैफ शब्द स्फ्य से ही निकला है।

किया जाता था (८।२।९१; दे० आश्वलायन श्रौत १।३, अस्तु श्रौषडित्योकारं साव-यन्)। भाव यह हुआ —देवता सूचित हों; यहाँ सब ठीक-ठाक है।

(५) याज्या-प्रैष—इस प्रकार अग्नीध् से हरी झण्डी पाकर अध्वर्यु होता की ओर मुड़ कर आज्ञा देता है—यज (= यजन कर)। यही याज्या-प्रैष (याज्या पाठ की आज्ञा) कहलाता है। सुनते ही होता याज्या मंत्र पढ़ने लग पड़ता है। 'यज' वाक्य में प्लुत स्वर नहीं है, उसका उच्चारण एक श्रुति से बिना स्वरों के उतार-चढ़ाव के किया जाता था।

(६) आगूर्त वाक्य—इसे अभिगूर्त भी कहते थे[1] (ऋ १।१६२।६; हॉग कृत ऐतरेय ब्राह्मण का अनुवाद, भूमिका पृ० १८)। यह वाक्य इस प्रकार था—ये ३ यजामहे। भाव यह है—हम जो यहाँ एकत्र हैं इस यज्ञ में अपनी सहमति प्रदान करते हैं (ये यज्ञ कर्मणि, ८।२।८८)। 'ये ३ यजामहे' रूपी आगूर्त वाक्य उपस्थित मण्डली की ओर से याज्या मन्त्र के पहले जोड़ कर होता याज्या का पाठ करता था। प्रत्येक याज्या से पहले 'ये यजामहे' पढ़ा जाता है।

(७) इष्ट अथवा याज्या—जैसा ऊपर कहा है ऋग्वेद से चुने हुए मन्त्र जिनसे देवों का आवाहन किया जाता है याज्या कहलाते हैं। आहुति देने या हविः प्रक्षेप से पहले याज्या का पढ़ना आवश्यक है। याज्या के पूर्व में ये ३ यजामहे और अन्त में श्रौ ३ षट् जोड़ कर उसका ऐसा रूप बनता था—ॐ ये ३ यजामहे समिधः समिधोऽग्न आजस्य व्यन्तु ३ वौ ३ षट्। याज्यान्तः सूत्र (८।२।९०) से याज्या का अपना अन्तिम स्वर भी लुत होता था (याज्या नाम ऋचः काश्चिद्वाक्य समुदायरूपास्तत्र यावन्ति वाक्यानि सर्वेषां टेः लुप्तः प्राप्नोति। सर्वान्त्यस्यैवेष्यते तदर्थमन्त ग्रहणम्, काशिका; आश्व० श्रौ० १।५, याज्यान्तं च)।

(८) वषट्कार– प्रत्येक याज्या मंत्र के अन्त में होता वषट् जोड़कर प्लुत उच्चारण करता था। यही वषट्कार था (उच्चैस्तरां वा वषट्कारः, १।२।३५; ऐतरेय ब्राह्मण, ३।१।७, शनैस्तरामस्य ऋचमुक्त्वोच्चैस्तरां वषट् कुर्यात्, अर्थात् याज्या की ऋचा धीरे से और वषट् जोर से बोलना चाहिए जिससे आहुति देते समय देवता के प्रति उत्साह प्रकट हो। होता ने जैसे ही वौषट् कहा कि अध्वर्यु हवि

१—अभिगूर्त या अभिगूर्ति=सहमति, सहकारिता जनित अनुमति। उतो तेषामभि-गूर्तिर्न इन्वतु, ऋ १।१६२।६, 'उनकी अनुमति हमारे काम में सहायक हो।' 'ये यजामहे' रूपी अभिगूर्त या आगूर्त को प्रायः आगुर् भी कहा जाता है। याज्या से पहले इसका जोड़ना आवश्यक था।

अग्नि में डाल देता है। वषट् (१।२।३५; २।३।१६) का ही रूपान्तर वौषट् था जैसे आश्रावय का ओश्रावय।[1]

सप्तदश प्रजापति—इस प्रकार ऊपर के सात वाक्यों को यदि एक साथ जोड़ दें तो सत्रह अक्षर होते थे—

४—आश्रावयेति चतुरक्षरम्।
४—अस्तु श्रौषडिति चतुरक्षरम्।
२—यजेति द्व्य क्षरम्।
५—ये यजामह इति पंचाक्षरम्।
२—द्व्यक्षरो वषट् कारः।
१७ अक्षर

एष वै सप्तदश प्रजापतिः यज्ञमन्वायत्तः (तैत्तिरीय ब्रा० कांड २)। इन सत्रह अक्षरों के जोड़ में पुरोनुवाक्या के प्रैष के चार अक्षर नहीं गिने जाते क्योंकि जैसा शतपथ में कहा है पुरोनुवाक्या का पढ़ना अनिवार्य न था, वह छोड़ भी दी जाती थी। अतएव 'अनुब्रूहि' आरम्भिक प्रैष के इन चार अक्षरों की सत्रह में गिनती नहीं होती थी।[2]

वीतम् और अनुवषट्कार—सोम याग में याज्या और वषट्कार हो जाने के बाद एवं अध्वर्यु द्वारा हविर्द्रव्य अग्नि में डाल देने के बाद वीतं मन्त्र पढ़ा जाता था - सोमस्याग्ने वीही ३ वौ ३ षट् (१।२।३५; ८।२।९२ सूत्रों पर वौषट् के उदाहरण में), अर्थात् 'हे अग्ने, सोमको तुम पियो'। ऐतरेय का कहना है कि इस प्रकार सोमपान के लिये अतिरिक्त प्रेरणा पाकर देवता बहुत तृप्त हो जाते हैं (ऐ०

१—इस सूत्र में वषट् शब्द से वौषट् का ग्रहण होता है। ऐसा है, तो सूत्रकार ने वौषट् ही क्यों नहीं पढ़ दिया? शैली की विचित्रता के कारण। पाणिनि ने अपने सूत्रपाठ में भिन्न-भिन्न शैली अपनाई है (वषट् शब्देनात्र वौषट् शब्दो लक्ष्यते। वौषडित्यस्यै वेदं स्वर विधानार्थम्। यद्येवं वौषड् ग्रहणमेव कस्मान्नकृतम्। वैचित्र्यार्थम्। विचित्रा हि सूत्रस्य कृतिः पाणिनेः (काशिका)। वषट्कार सहित याज्या के उच्च स्वर में उच्चारण के लिये देखिये ऐतरेय ब्रा० ३।५।७।

२—इन सत्रह अक्षरों में होम कर्म का निचोड़ आ जाता था, अतएव होमात्मा प्रजापति को मानों इन सत्रह के उच्चारण से प्रणाम किया जाता था, जैसा इस श्लोक में संग्रह किया गया है—

चतुर्भिश्च चतुर्भिश्च द्वाभ्यां पंचभिरेव च।
हूयते च पुनर्द्वाभ्यां तस्मै होमात्मने नमः॥

शान्ति पर्व, भीष्म स्तवराज, ४७.२७ के बाद का श्लोक, जो पूना संस्करण में प्रक्षिप्त माना है।

३।१९५)। 'वौहि' इस वाक्य को 'वीतं' कहा जाता था और उसके बाद जो वषट् या वौषट् है उसे अनुवषट्कार कहते थे। देवता को एक बार याज्या के बाद वौषट् कहा जा चुका है। इसलिये दूसरी बार का वौषट् अनुवषट्कार हुआ। इष्टि में केवल वषट्कार तक होता है, सोमयज्ञ में वीतं और अनुवषट्कार तक। तीन श्रौतयाग होते हैं—इष्टि, पशुबंध और सोमयाग। दर्शपौर्णमास इष्टि में पुरोडाश, पशुबन्ध में पशु और सोमयाग में सोम की आहुति दी जाती है। इष्टि में स्वाहा, पशुबन्ध में वौषट् और सोमयाग में वीतं मन्त्र से आहुति प्रक्षेप होता है।

आवाहन—दर्श-पौर्णमासेष्टि में पाँच आहुतियाँ दी जाती हैं जिन्हें पंच प्रयाज[1] कहते थे। यह यज्ञ का पूर्वाङ्ग या पूर्व भाग था। इसके बाद की तीन गौण आहुति अनुयाज[2] कहलाती थीं (प्रयाजानुयाजौ यज्ञांगे, ७।३।६२)। पशुयाग में प्रयाज और अनुयाजों में से प्रत्येक की संख्या ग्यारह होती है। पंच प्रयाजों में अंत की स्वाहाकार आहुति है उसमें 'आवह' बोलकर देवता का आवाहन किया जाता है। उसके लिये पाणिनि ने प्लुत स्वर का विधान किया है (८।२।९१), जैसे अग्नि मा ३ वह।

एक श्रुति—ज्ञात होता है कि मंत्रों को उदात्त, अनुदात्त, स्वरित, इन तीन स्वरों के अनुसार ठीक ठीक पढ़ने का या त्रैस्वर्य पाठ का नियम लोक में कुछ शिथिल पड़ रहा था। वैदिक स्वरों के उच्चारण में यह ढिलाई यज्ञों में विशेष रूप से आ रही थी। यज्ञों में जो विना स्वर के मंत्र पढ़े जाने लगे थे उन्हें पाणिनि ने एक श्रुति कहा है (यज्ञ कर्मण्य जपन्यूङ्खसामसु, १।२।३४)। केवल जपमंत्र में[3], न्यूंख

१—शतपथ के अनुसार समिध् प्रयाज आदि पाँच प्रयाज ये हैं—(१) समिधो यजति, (२) तनूनपातं यजति, (३) बर्हिर्यजति, (४) इडो यजति, (५) स्वाहाकारं यजति (श० १।५।३।१-१३, जहाँ इनकी तुलना पंच ऋतुओं से की गई है) पंच आज्याहुतियों से सम्पन्न होने के कारण शान्ति पर्व में यज्ञ को 'दशार्ध हविराकृतिम्' कहा गया है (शान्ति० ४७।२७)।

२—अनुयाज तीन हैं—त्रयोऽनुयाजाश्चत्वारो पत्नी संयाजाः (शतपथ ११।४।१।११)। काशिका में भ्रमवश अनुयाज पाँच और पत्नी संयाज आठ लिखे है। दर्शपौर्णमास इष्टि में तीन अनुयाजों के बाद यजमान पत्नी चार पत्नी संयाज आहुति देती हैं। बौधायन श्रौत में (२४।२६) आठ पत्नी संयाजों का भी उल्लेख है। पशु बन्ध यज्ञ में प्रयाज और अनुयाजों की प्रत्येक को संख्या ग्यारह है।

(३) यजुर्वेद २।१० मयीदमिन्द्र इन्द्रियं मंत्र जप मंत्र था। यजमान इसका उच्चारण त्रैस्वर्य के साथ करता था (कात्यायन श्रौत, ३।४।१८)।

नामक ओकारों के उच्चारण में[1] और साम गान में स्वरों का यथावत्पालन आवश्यक समझा जाता था। कात्यायन श्रौत सूत्र में एकश्रुति को तान कहा गया है (१।८।१८, तान=उदात्तादि स्वर रहित एक श्रुतिरेव मंत्राणां स्वरो भवति)। उस समय की यह प्रवृत्ति थी कि मंत्रों के संहिता स्वर का उच्चारण शिथिल हो रहा था। उसकी जगह भाषिक स्वर या ब्राह्मणों का वैकल्पिक स्वर चलने लगा था (का० १।८।१७) और यज्ञों में वह भी नहीं रहा था (तानो वा नित्यत्वात्, कात्या० (१।८।१८)। कात्यायन श्रौतसूत्र का लेखक[2] और पाणिनि दोनों अपने युग की इस प्रवृत्ति का तथ्यात्मक वर्णन कर रहे हैं[2]। अन्त में तो स्वर का विचार बिल्कुल ही जाने को था। अवश्य ही उसकी मर्यादा कुछ समय पूर्व ही टूटनी शुरू हो गई होगी। जैमिनि ने इस प्रवृत्ति को रोकने की कोशिश की। उनका कहना है कि वैदिक मंत्रों को यज्ञ और स्वाध्याय दोनों में त्रैस्वर्य के साथ पढ़ना चाहिए (मीमांसा, १२।३।२०-२४; गर्गे, जैमिनि, शबर और व्याकरण, भांडारकर प्राच्यसंस्थान की पत्रिका, ३०।२५४-५)। पर जैमिनि का यह प्रयत्न लोक की नई प्रवृत्ति के सामने टिक न सका। तैत्तिरीय प्राति० में भी एकश्रुति का उल्लेख है (सर्वमेक मयम्, तै० १५।९)।

---

(१) सोमयाग के प्रातः सवन में होता द्वारा प्रातरनुवाक संज्ञक एक शस्त्र या पाठ पढ़ा जाता है जो न्यूंख कहलाता है। उसकी एक-एक ऋचा के जो दो अर्धर्च भाग होते हैं, उनमें प्रत्येक अर्धर्च के पहले अच् को छोड़कर दूसरे अच् के स्थान में प्लुत ओकार उदात्त स्वर विशिष्ट पढ़ना चाहिए। फिर पाँच बार अर्ध ओकार, फिर प्लुत ओकार और तब तीन अर्ध ओकार पढ़ना चाहिए। इन्हीं का नाम न्यूंख था जैसे—

आपो ३ ओ ओ ओ ओ ओ ओ ३ ओ ओ ओ ओ ओ ओ ३
ओ ओ ओ रेवतीः क्षयथा हि वस्वः क्रतुं च भद्रं बिभृथामृतं च।
रायो ३ ओ ओ ओ ओ ओ ओ ३ ओ ओ ओ ओ ओ ओ ३
ओ ओ ओ स्थः स्वपत्यस्य पत्नी। सरस्वती तद् गृणाते वयो धो ३ मा ३ पो ३।

(ऋग्वेद १०।३०।१२)

ऋग्वेद के इस मंत्र का पूर्वार्ध 'आपो' से और उत्तरार्ध 'रायः' से शुरू होता है। प्रत्येक के बाद १६ ओकार आलाप के लिये जोड़े गए हैं। इन सोलह में तीन प्लुत और शेष तेरह अर्ध ओकार हैं। हर एक पंक्ति का पहला ओकार आपो ३ और रायो ३ में मिल गया है। ये ही सोलह न्यूंख ओकार हैं। इनमें प्लुत स्वर का उच्चारण आवश्यक था। ऋग्वेद १०।९४।३ में 'न्यूंखयन्ते' प्रयोग है।

(२) इस विषय में पाणिनि और कात्यायन का सान्निध्य देखने योग्य है। एकश्रुति दूरात्संबुद्धौ यज्ञकर्मणि सुब्रह्मण्या-साम-जप-न्यूंख याजमानवर्जम् (कात्यायन श्रौत १।८।१६)।

सुब्रह्मण्या—सुब्रह्मण्या एक निगद था। जो यजुष् गद्य भाग जोर से बोले जाते थे उन्हें निगद कहते थे (यानि च यजूंषि उच्चै रुच्चार्यन्ते ते निगदाः, शाबर भाष्य २।१।४२)। राजाधिराजाय प्रसह्य साहिने नमो वयं वैश्रवणाय कुर्महे जैसे यह मंत्र जोर से बोला जाता है वैसे ही यज्ञ में सुब्रह्मण्या निगद का उच्चारण था पर उसके स्वरों के निश्चित नियम थे (१।२।३७—३८)। उसमें एक श्रुति अभी लागू न हो सकी थी (सुब्रह्मण्यायामेक श्रुति र्न भवतीति) क्योंकि वह विशिष्ट वाक्य की भांति इन्द्र के लिये ज्योतिष्टोम आदि सोमयज्ञों में जोर से बोला जाता था (मनु ९।१२६ पर कुल्लूक; कात्या० श्रौ० ९।१।१२; हॉग ऐतरेय ब्राह्मण अनुवाद पृ० २६०)[1]।

उपयज्—यजुर्वेद ६।२१ में ग्यारह छोटे मंत्र भाग हैं—समुद्रं गच्छ। स्वाहा इत्यादि—उन्हें उपयज् कहा जाता है (विजुपे छन्दसि ३।२।७३)

सामिधेनी—ऋग्वेद ३।२७।१-११ में ग्यारह ऋचाएं हैं जिनका अग्नि प्रज्वलित करने में उपयोग होता है। उनकी संज्ञा सामिधेनी थी जिसका सूत्र में उल्लेख है। (पाय्य सांनाय्य निकाय्य धाय्या मान हवि र्निवास सामिधेनीषु, ३।१।१२९)। इन ग्यारह में से पहली (ऋ० ३।२७।१) और ग्यारहवीं (ऋ० ३।२७।११) को तीन-तीन बार पढ़ने से कुल पन्द्रह सामिधेनी हो जाती हैं। इनमें से चौथी ऋचा समिध्यमानवती (समिध्यमानो अध्वरेऽग्निः पावक ईड्यः। शोचिष्केश स्तमीमहे, ३।२७।४) और ग्यारहवीं समिद्धवती (अग्निं यन्तुरमप्तुरमृतस्य योगे वनुषः। विप्रा वाजैः समिन्धते। ऋ० ३।२७।११) कहलाती है। समिध्यमानवती और समिद्धवती के बीच की सब ऋचाएँ धाय्या कहलाती हैं जिनके नाम का सूत्र में उल्लेख है। कभी कभी बाहर से और ऋचा लाकर इसमें जोड़ते हैं, जैसे कहा है कि दृढ स्थिति की कामना करने वाले यजमान के लिये इक्कीस सामिधेनी का पाठ करे (एकविंशतिमनुब्रूयात् प्रतिष्ठाकामस्य)। इक्कीस संख्या पूरी करने के लिये छह ऋचाएं बाहर से लाकर जोड़नी होती हैं। समिध्यमानवती और समिद्धवती ऋचाओं के बीच में ही उन्हें कहीं रखकर उनसे समिदाधान किया जाता है, इसी लिये इनका नाम धाय्या है।

---

(१) षड्विंश ब्राह्मण में सुब्रह्मण्या निगद का यह रूप दिया है—

सुब्रह्मण्यो ३ म् सुब्रह्मण्यो ३ म् सुब्रह्मण्यो ३ म्। इन्द्रागच्छ। अहल्यायै जार। कौशिक ब्रुवाण। गौतम ब्रुवाण इत्यहे सुत्यामागच्छ मघवन्। (इसके बाद निगद शेष या बचा हुआ भाग पढ़ा जाता है) देवा ब्रह्माण आगच्छतागच्छतागच्छतेति।

पाणिनि १।२।३८ (देव ब्रह्मणो रनुदात्तः) में इस अंश को अनुदात्त स्वर से पढ़ने का विधान है। 'ब्रह्माणः' का अर्थ ब्राह्मणाः, मनुष्यदेवाः किया गया है जो श्रुति पारायण और प्रवचन शक्ति से युक्त हों (शुश्रुवांसोऽनूचानाः, षड्विंश १।१।२८)।

पाणिनि के युग में यज्ञों की जीती-जागती परम्परा थी। इसी कारण भाषा में प्रयुक्त इन अनेक शब्दों की ओर आचार्य ने ध्यान दिया। पूतक्रतु उस व्यक्ति के लिये प्रयुक्त होता था जिसने सोम क्रतुओं के अनुष्ठान अर्थात् सोमपान से अपने शरीर और अन्तःकरण को पवित्र बनाया हो। सोमयज्ञ में सोमपान करना सामाजिक प्रतिष्ठा का कारण था। ऐसे पूतात्मा व्यक्ति की धर्म पत्नी जो उसके साथ यज्ञों में सम्मिलित होती पूतक्रतायी कहलाती थी (पूतक्रतोरैच, ४।१।३६)।

दक्षिणा—यज्ञ में कर्म करने वाले ऋत्विजों को दक्षिणा दी जाती थी। उसके विभाग के विषय में कुछ नियम धर्मशास्त्र ग्रन्थों में दिए हैं। जिस यज्ञ की दक्षिणा होती थी उसी के नाम से दक्षिणा का नाम पड़ता था (तस्य च दक्षिणा यज्ञाख्येभ्यः, ५।१।९१), जैसे राजसूय, वाजपेय, अग्निष्टोम यज्ञों की दक्षिणी राजसूयिकी, वाजपेयिकी, आग्निष्टोमिकी कहलाती थी। ज्ञात होता है प्रत्येक की न्यूनतम मात्रा लोक व्यवहार में निर्धारित थी। जो ब्राह्मण योग्यता के कारण दक्षिणा का पात्र होता था वह दक्षिण्य कहलाता था (दक्षिणामर्हति दक्षिण्यो ब्राह्मणः, ५।१।६९)।

स्रौव सम्बन्ध—ऋत्विज् और यजमान के बीच का सम्बन्ध गुरु शिष्य या पिता पुत्र जैसा ही घनिष्ठ माना जाता था। पतंजलि ने उसे स्रौव सम्बन्ध कहा है—लोके बहवोऽभि संबन्धा आर्था यौना मौखाः स्रौवाश्च (१।१।४९, वा० ४ भाष्य)। पतंजलि ने लाल पग्गड़ बाँधनेवाले ऋत्विजों का उल्लेख किया है (लोहितोष्णीषा ऋत्विजः प्रचरन्ति, १।१।२७)। लाटचायन श्रौत सूत्र एवं कात्यायन श्रौत सूत्र (२२।३।२५) से ज्ञात होता है कि वे व्रात्यों के ऋत्विज् थे। ये व्रात्य, जैसा हम आगे देखेंगे, वे ही थे जिन्हे सुर्खपोश काफिर कहा जाता है।

अध्याय ६, परिच्छेद ३–भिक्षु

भिक्षु - सूत्रों में भिक्षु (३।२।१६८), भिक्षाचर (३।२।१७) और भिक्षाक (३।२।१५५, सामान्य मँगता) का उल्लेख है। ब्राह्मण धर्म के भिक्षु और नास्तिक-धर्मों के भिक्षु दोनों का सूत्रकार को परिचय था। उदाहरण के लिये, एक ओर पाराशर्य और कर्मन्द के भिक्षु सूत्रों का उल्लेख है जिनके अध्ययन की परम्परा भिक्षुओं के प्राचीन आश्रमों में या सम्प्रदाय में थी, और दूसरी ओर मस्करी परिव्राजक का भी (६।१।१५४) उल्लेख है जो सम्भवतः मक्खलि गोसाल की ओर संकेत है। तापस (५।२।१०३); तपस्वी (५।२।१०२) तपकरने वाले भिक्षुओं के लिये प्रयुक्त होता था (तपस्यति, ३।१।१५)। शमी, दमी, योगी, विवेकी, त्यागी (३।२।१४२) ये सब धार्मिक साधना के सूचक शब्द थे। शरीर और मन के संयम करने वाले दान्त और शान्त कहलाते थे (७।२।२७)।

भिक्षुओं की वृत्तियां—अपनी भिक्षावृत्ति में जो सब का अन्न स्वीकार करले वह सर्वान्नीन भिक्षु कहलाता था (सर्वान्नानि भक्षयति, ५।२।९)। इससे सूचित होता है कि कुछ लोग भिक्षुक होकर भी जाति-पाँति का विचार बनाए रखते थे। कुछ भिक्षु उञ्छ वृत्ति से निर्वाह करते थे (उञ्छति, ४।४।३२)। उञ्छ वृत्ति भिक्षु कुछ कालके लिये अन्नका संग्रह रख लेते थे। मनु ने लिखा है कि वसन्त और शरद् में में जो दो फसलें होती हैं उनमें मुनि अपना अन्न संग्रह करके रख लेता है (६।११) पाणिनि ने शारद का अर्थ' 'नया' किया है (शारदोऽनार्तवे, ६।२।९; शारद शब्दोऽयं प्रत्यग्रवाची)। इस अर्थ की पृष्ठभूमि यही थी कि शरद् ऋतु में पुराने अन्न की जगह नया अन्न संग्रह रक्खा जाता था। भिक्षु को चाहिए कि वह आश्वयुज मास में अपने वस्त्र और अन्न दोनों को नया कर ले (मनु ६।१५)। ये ही शारद या नए कहलाते थे।

नैकटिक वह भिक्षु था जो वानप्रस्थ आश्रम को ग्रहण करलेता था किन्तु गाँव बस्ती के निकट ही निवास करता रहता था (निकटे वसति, ४।४७३)। इसकी ध्वनि यह है कि वह अरण्य वास नहीं करता था यों मुनि के लिये अरण्य वास करना आवश्यक था। उत्तराध्ययन सूत्र में अरण्यवास मुनि का बाहरी लक्षण कहा गया है[1]। महाभारत से भी उसका समर्थन होता है[2]।

कौक्कुटिक वह भिक्षु था जो सिर नीचा करके पृथिवी पर दृष्टि रखकर चलता था (संज्ञायां ललाट कुक्कुट्यौ पश्यति, ४।४।४६; देशस्याल्पतया हि भिक्षुर विक्षिप्त दृष्टिः पादविक्षेप देशे चक्षुः संयम्य गच्छति स उच्यते कौक्कुटिकः, कुक्कुटी-कुक्कुट के उड़ान की स्वल्प दूरी, उतनी दूर में जिसकी दृष्टि परिमित रहे), काशिका)।

कपटी भिक्षु—कपटी भिक्षु दाण्डाजिनिक कहलाता था (५।२।७६), जो दिखावे के लिये दण्ड और अजिन धारण करता हो।

एक प्रकार के कपटी भिक्षु आयःशूलिक कहे जाते थे (अयः शूल दण्डाजिनाभ्यां ठक् टञौ, ५।२।७६), अर्थात् जो 'अयःशूल' उपाय से अपना काम चलावे। पतंजलि ने इस पर लिखा है—यदि अयः शूल का शाब्दिक अर्थ लोहे का शूल लिया जाय तो आयः शूलिक शिव भागवत भिक्षुओं के लिये भी प्रयुक्त होने लगेगा जो लोहे का त्रिशूल रखते हैं। पर पाणिनि का यह अभिप्राय नहीं था। अतएव अयः शूल का संकेत उन उग्र उपायों से था जिनके द्वारा लोग जनता के मन पर प्रभाव डालने का प्रयत्न करते थे, जैसे शरीर के किसी भाग में अयः शूल छेदकर रक्त बहाना और उससे अपना प्रभाव जमाना। यह मृदु उपाय से उल्टा ढंग था।

---

(१) न वि मुंडिएण समणो ओंकारेण न बंभणो।
न मुणी रण्णवासेण कुसचीरेण च तापसो ॥ उत्तरा० २५।३१

(२) मौनाद्धि स मुनिर्भवति नारण्यवसनान्मुनिः। उद्योगपर्व ४३।३५

मस्करी—पाणिनि ने मस्करी शब्द परिव्राजक के लिये सिद्ध किया है (मस्कर मस्करिणौ वेणु परिव्राजकयोः, ६।१ १५४)। यहाँ मस्करी का अर्थ मक्खलि गोसाल से है जिन्होंने आजीवक सम्प्रदायक की स्थापना की थी। पतंजलि ने स्पष्ट यही अर्थ लिया है—मस्करी वह साधु नहीं है जो हाथ में मस्कर या बाँस की लाठी लेकर चलता हो। फिर क्या है ? मस्करी वह है जो यह उपदेश देता है कि कर्म मत करो, शान्ति का मार्ग ही श्रेयस्कर है (न वै मस्करोऽस्यास्तीति मस्करी परिव्राजकः। किं तर्हि। माकृत कर्माणि माकृत कर्माणि शान्तिर्वः श्रेयसीत्याहातो मस्करी परिव्राजकः, भाष्य ६।१।१५४)। यह निश्चित रूप से मक्खलि गोसाल के कर्मापवाद सिद्धान्त का उल्लेख है। वे कर्म या पुरुषार्थ की निन्दा करके नियति या भाग्य को ही सब कुछ मानते थे। किसी प्रकार के फल की प्राप्ति अपने या पराए कर्म या पराक्रम पर निर्भर नहीं करती, यह तो सब भाग्य का खेल है। पुरुषार्थ कुछ नहीं है, दैव ही प्रबल है। मक्खलि के दर्शन में यदृच्छा को कोई स्थान न था, वे तो मानते थे कि क्रूर दैव ने सब कुछ पहले से ही नियत कर दिया है। बौद्ध ग्रन्थों में कहा है कि बुद्ध मंखलि गोसाल को सब आचार्यों में सबसे अधिक खतरनाक समझते थे।

अन्य प्रमाण से भी इंगित होता है कि पाणिनि को मस्करी के आजीवक दर्शन का परिचय था। अस्ति नास्ति दिष्टं मतिः सूत्र में (४।४।६०) आस्तिक, नास्तिक, दैष्टिक तीन प्रकार के दार्शनिकों का उल्लेख है। आस्तिक वे थे जिन्हें बौद्ध ग्रन्थों में इस्सर करण वादी कहा गया है, जो यह मानते थे कि यह जगत् ईश्वर की रचना है (अयं लोको इस्सर निमित्तो)। पाली ग्रन्थों के नत्थिक दिट्ठि दार्शनिक पाणिनि के नास्तिक थे। इसमें केसकम्बली के नत्थिक दिट्ठि अनुयायी प्रधान थे (इतो परलोक गतं नाम नत्थि अयं लोको उच्छिज्जति, जातक ५।२३९)। यही लोकायत दृष्टिकोण था जिसे कठ उपनिषद् में कहा है—अयं लोको न परः इति मानी। पाणिनि के तीसरे दार्शनिक दैष्टिक या मक्खलि के नियतिवादी लोग थे जो पुरुषार्थ या कर्म का खंडन करके दैव की ही स्थापना करते थे।

जैन आगमों में मक्खलि गोसाल को गोसाल मंखलि पुत्त कहा है (उवासगदसाओ)। संस्कृत में उसे ही मस्करी गोशालिपुत्र कहा गया है (दिव्यावदान पृ० १४३)। मस्करी या मक्खलि या मंखलि का दर्शन सुविदित था। महाभारत में मंकि ऋषि की कहानी में नियतिवाद का ही प्रतिपादन है (शुद्धं हि दैवमेवेदं हठे नैवास्ति पौरुषम्, शान्तिपर्व १७७।११-४)। मंकि ऋषि का मूल दृष्टिकोण निर्वेद, या जैसा पतंजलि ने कहा है शान्ति परक था, अर्थात् अपने हाथ पैर से कुछ न करना। यह पाणिवाद का ठीक उल्टा था। मंखलि गोसाल के शुद्ध नाम के विषय में कई अनुश्रुतियां थीं। जैन प्राकृत रूप मंखलि था। भगवती सूत्र के अनुसार गोशाल मंख संज्ञक भिक्षु का पुत्र था (भगवती सूत्र, १५।१)। शान्तिपर्व का मंकि निश्र-

रूप से मंखलि का ही दूसरा रूप है। कहा जाता है कि मक्खलि का जन्म गोशाला या गोष्ठ में हुआ था, जिससे उनका यह नाम पड़ा। पाणिनि ने भी गोशाला में जन्म लेनेवाले को गोशाल कहा है (गोशालायां जातः गोशालः, ४।३।३५, स्थानान्तगोशालखरशालाच)।

श्रमण—अष्टाध्यायी में श्रमण और अविवाहित स्त्री श्रमणों का उल्लेख है जिन्हें कुमार श्रमणा (कुमारी श्रमणा) कहा जाता था (कुमार श्रमणादिभिः, २ १।७०)। कुमारश्च सूत्र (६।२।२६) में कुमार श्रमणा शब्द को आद्युदात्त कहा है। श्रमणादि गण में कुमार प्रव्रजिता और कुमारतापसी का पाठ भी है। श्रौत सूत्रों में श्रमण का प्रयोग भिक्षु मात्र के लिये है। बौधायन ने मुनि को श्रमण कहा है और लिखा है कि सरस्वती नदी में घुटने भर पानी में खड़ा होकर अग्नि के लिये पुरोडाश अर्पित करे (बौ० श्रौ० १६।३०, पृ० २७६)। पतंजलि ने श्रमण को ब्राह्मण का उल्टा माना है और दोनों में कभी न मिटनेवाला वैर बताया है (येषां च विरोधः शाश्वतिकः इत्यस्यावकाशः श्रमणब्राह्मणम्, भाष्य २।४।९)।

बौद्ध साहित्य की साक्षी भी इसी अर्थ के पक्ष में है। जातक में बोधिसत्त्व गौतम को समण कहा गया है (जातक ३।४०)। उदान में कहा है—उस समय श्रमण ब्राह्मणों के बहुत से सम्प्रदाय थे, सभी परिव्राजक जीवन व्यतीत करते थे और नाना भांति की दिट्ठि या दार्शनिक मत रखते थे, एवं मतभेद रखनेवाले संप्रदायों के अनुयायी थे (संबहुला नानातित्थिया समणब्राह्मणपरिब्बाजका नानादिट्ठिका नाना दिट्ठिनिस्सयनिस्सता, पाली संस्करण, पृ० ६६-६७)। अंगुत्तर निकाय में परिव्राजकों के दो भेद कहे हैं—ब्राह्मण परिव्राजक और अन्यतित्थिय परिव्राजक, अर्थात् ब्राह्मण धर्म से पृथक् तीर्थिक या आचार्यों के अनुयायी। अशोक ने भी श्रमणों को ब्राह्मणों से अलग माना है।

चीवर—भिक्षु का वेश चीवर था। चीवर पहनने के लिये भाषा में अलग धातु ही चल गई थी—संचीवरयते = वह चीवर धारण करता है, अर्थात् भिक्षु बन जाता है (३।१।२०)। बौद्ध साहित्य के अनुसार चीवर केवल भिक्षुओं के लिये आता था; जैसे तिचीवर (जा० ३।४७१), पंसुकूल चीवर (जा० ४।११४) भिक्षुवेष के लिये ही प्रयुक्त होते थे।

अर्हत्—प्रशंसा योग्य पुरुष के लिये अर्हत् शब्द सिद्ध किया गया है (अर्हः प्रशंसायाम्, ३।२।१३३, अर्हन्निह भवान्पूजाम्)। अर्हत् की अवस्था को आर्हन्त्य कहते थे (अर्हतो नुम् च, गणसूत्र ५।१।२४)।

यायावर—सूत्र ३।२।१७६ (यश्च यङः) में यायावर शब्द सिद्ध किया गया है। बौधायन धर्म सूत्र से ज्ञात होता है कि यायावर वे भिक्षु थे जो उत्तम जीविका से निर्वाह करते हुए शाला (३।१।३) या घरों में रहते थे (वृत्त्या वरया याति,

३।१।४)। जब यात्रा में होते तब भी यायावर लोग रुककर अग्नि होत्र करते थे (तत्रोदाहरन्ति यायावरा ह वै नामर्षय आसंस्तेऽध्वन्यश्राम्यंस्ते समस्त मजुहवुः, बौ० श्रौत २४।३१)। वे अपने को तपस्वी और ऋषि मानते थे (यायावरा नाम वयमृषयः संशित व्रताः, आदि पर्व ४१।१६)। सम्भवतः यही वैखानस भिक्षु थे जो पत्नी के साथ वानप्रस्थ आश्रम में रहते थे पर शकट पर सामान लाद कर विचरते रहते थे। सयुग्वा रैक्व इसका उदाहरण था।

अध्याय ६, परिच्छेद ४–धार्मिक विश्वास और आचार

धार्मिक जीवन में चान्द्रायण आदि व्रतों का समावेश हो चुका था। जिसने अपने जीवन में चान्द्रायण व्रत किया हो वह चान्द्रायणिक नाम से प्रसिद्ध होता था (चान्द्रायणं वर्तयति, ५।१।७२)। ऐसे ही जो मंत्र जप को अपना स्वभाव बना लेता (तच्छील) वह जंजपूक कहलाता था (३।२।१६६)। कभी कभी दिखावे के लिये विप्रदुष्ट भाव से भी ऐसा किया जाता था (भावगर्हायाम्, जंजप्यते, ३।१।२४)। जो व्यक्ति स्थंडिल पर शयन करने का व्रत ले वह स्थांडिल कहलाता था (४।२।१५ स्थंडिलाच्छयितरि व्रते)। पारायण करते समय, अथवा यज्ञ के समय वेदि के स्थंडिल पर ऐसा व्रत किया जाता था। उस अवसर पर मौन व्रत का भी आश्रय लेते थे, अथवा मंत्र या जप के समय अन्य शब्दों का उच्चारण न करते थे (वाचि यमो व्रते, ३।२।४०)। गृहस्थों के आचार में देवताओं को प्रसन्न करने के लिये नाना प्रकार की बलि देने की प्रथा आरम्भ हो गई थी। कुबेर को दी हुई बलि कुबेरबलि और चार महाराज देवताओं की बलि महाराजबलि कही जाती थी (२।१।३६ पर उदाहरण)। वैदिक स्थालीपाक रूप हवि और लौकिक बलि इन दोनों के सम्मिलन से गृहस्थ धर्म में देवताओं के उत्सव के लिये किसी दिन पूड़ी पकवान कड़ाही आदि करने का रिवाज चल पड़ा था। पीछे यह स्मार्त धर्म का प्रिय लोकाचार बन गया। बलि के लिये प्रयुक्त अन्न बालेय कहा जाता था (५।१।१३)।

श्राद्ध—कव्यवाहन अग्नि में (३।२।६५) पितरों के लिये अन्न की आहुति दी जाती थी। पितरों को देवता कहा गया है। 'सास्य देवता' मान कर उन्हें जो हवि दी जाती उसे पित्र्य हवि कहते थे (४।२।३१)। आश्विन कृष्ण पितृपक्ष या शरद् ऋतु में महालय श्राद्ध को शारदिक श्राद्ध कहते थे (श्राद्धे शरदः, ४।३।१२; श्राद्ध इति कर्म गृह्यते न श्रद्धावान् पुरुषः)। श्राद्ध में भोजन करने वाला ब्राह्मण श्राद्धी कहलाता था(श्राद्धमनेन भुक्तमिनिठनौ, ५।२।८५)। कात्यायन ने कहा है कि जिस दिन श्राद्धभोजन किया हो उसी दिन के लिये यह विशेषण था (समान काल ग्रहणम्)। आज खाया हो तो कल उसी व्यक्ति को श्राद्धी नहीं कहा जाता था (अद्य भुंक्ते श्राद्धे श्वः श्राद्धिक इति मा भूत्, भाष्य)। इस शब्द की भाषा में आकांक्षा इस लिये हुई कि श्राद्ध भोजी ब्राह्मण को उसी दिन अपराह्न या रात्रि में कुछ जप आदि

के द्वारा आत्म संस्कार विहित था। गुरुकुल का जो ब्रह्मचारी आह्निक होता वह उस दिन अनध्याय रखकर जप करने के कारण उसी दिन के लिये इस विशेष शब्द से अभिहित होता था।

धार्मिक कृत्यों में मुण्डन की प्रथा थी (मद्रात्परिवापणे, ५।४।६७)। मुंडन कराने वाला मद्रंकर या मद्रंकार कहलाता था (३।२।४४)।

लोक विश्वास—ज्योतिष के फलाफल द्वारा भविष्य कथन में लोगों का विश्वास था, जैसे देवदत्ताय ईक्षते, अर्थात् ज्योतिषी देवदत्त की कुण्डली का फल विचार रहा है (राधीक्ष्योर्यस्य विप्रश्नः, १।४।३९)। ऐसे ही शरीर के चिह्नों से फल विचार भी माना जाता था (लक्षणे जायापत्योष्टक्, ३।२।५२–५३)। यह अंग विद्या का विषय था जिसका छान्दोग्य उप०, ऋगयनादि गण (४।३।७३), और ब्रह्मजाल सुत्त में उल्लेख है। वशीकरण मन्त्र को पाणिनि ने 'बन्धन ऋषि' अर्थात् मन को बाँधने वाला वेद मन्त्र कहा है, वही हृद्य कहलाता था (बन्धने चर्षौ, ४।४।९६; पर हृदयं येन बद्ध्यते वशीक्रियते स वशीकरण मन्त्रो हृद्य इत्युच्यते)।

यह भी मान्यता थी कि कुछ विशिष्ट दिन पवित्र होते हैं। उन्हें पुण्याह (५।४।९०) या पुण्यरात्र कहते थे (५।४।८७)। सुकर्म से पुण्य फल मिलता है इस प्रकार का विश्वास और तदनुसार क्रिया की भी प्रथा थी (सप्तम्याः पुण्यम्, ६।२।१५२), जैसे वेद-पुण्यम्, अध्ययन पुण्यम्। अच्छे-बुरे कर्मों के करने वालों के लिये भाषा में विशेष शब्द चल गए थे, जैसे पुण्यकृत्, सुकर्मकृत्, पापकृत् (सुकर्म पाप मन्त्र पुण्येषु कृञः, ३।२।८९)। नीति मय आचार का उल्लंघन क्षिया कहलाता था (८।१।६०, क्षिया = धर्मव्यतिक्रम, आचार भेद) उसे प्रकट करने के लिये भाषा में इस प्रकार का प्रयोग होता था (८।२।७४) स्वयं ह रथेन याति३ उपाध्यायं पदातिं गमयति (ह, आप रथ पर बैठता है, गुरु को पैदल दौड़ाता है), स्वयं ह्योदनं भुंक्ते ३ उपाध्यायं सक्तून् पाययति (ह, आप भात खाता है, गुरु को सत्तू खिलाता है)।

भ्रौण हत्य (६।४।१७४) ब्रह्म हत्य (३।२।८७) जैसे महापातकों का उल्लेख भी है (दे० मनु ११।५४)।

नैतिक गुण—उपनिषद् युग में तपः श्रद्धा जैसे महान् गुणों के अनुसार संयम प्रधान जीवन व्यतीत करने का आदर्श सुपूजित हो चुका था, जैसे तपः श्रद्धे ये उपवसन्त्यरण्ये। वेद मन्त्र में भी इस प्रकार के भाव हैं—व्रतेन दीक्षा माप्नोति दीक्षयाप्नोति दक्षिणाम्। दक्षिणा श्रद्धामाप्नोति श्रद्धया सत्यमाप्यते (अथर्व); अथवा सत्यं बृहदृत मुग्रं दीक्षा तपो ब्रह्म यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति (अथर्व १२।१।१)। पाणिनि ने भी इस प्रकार के उदात्त शब्दों का उल्लेख किया है, जैसे दीक्षातपसी, श्रद्धातपसी, मेधातपसी, अध्ययनतपसी, श्रद्धामेधे (दधिपय आदि गण, २।४।१४)। प्रज्ञा, श्रद्धा, तप, त्याग, विवेक, धर्म, शम, दम—ये जीवन के प्रकृष्ट गुण थे उन्हें

धारण करने वाले व्यक्तियों के लिये विशिष्ट शब्द भाषा में चल गए थे, जैसे प्राज्ञ-प्रज्ञावान्, श्राद्ध-श्रद्धावान्, तपस्वी, त्यागी, विवेकी, योगी (३।२।१४२), शमी, दमी (शान्त दान्त ७।२।२७), धर्मी आदि (७।२।२७; ३।२।१४२; ४।२।१०१; ५।४।३८) इस जीवन और परलोक के लिये पुण्यकर्मों का विधान करने वालों के लिये दो विशिष्ट शब्द इष्टी पूर्ती प्रयुक्त होने लगे थे (इष्टादिभ्यश्च, ५।२।८८)। ऐसे कार्यों में धन लगाना 'उपयोग' कहलाता था, जैसे सहस्रं प्रकुरुते, सहस्रं विनयते (१।३।३२ उपयोगः धर्मादि प्रयोजनो विनियोगः; १।३।३६ व्ययः=धर्मादिषु विनयोगः)।

धर्म—धर्म शब्द के अष्टाध्यायी में दो अर्थ हैं, (१) परम्पराप्राप्त आचार, समयाचार या रिवाज, जो धर्म सूत्रों में हैं, जैसे ४।४।४७ सूत्र में (तस्य धर्म्यम्, धर्म्य=आचारयुक्त, काशिका)। जो धर्म या आचार के अनुकूल होता था उसे धर्म्य कहते थे (धर्मादनपेतम् ४।४।९२)। ६।२।६५ सूत्र में धर्म्य शब्द का यही अर्थ है (धर्म्यमित्याचार नियतं देयमुच्यते, काशिका)। शुल्कशाला पर जो चुंगी लगती थी उसे भी धर्म्य कहा गया है (शुल्कशालाया धर्म्यं शौल्कशालिकम्, ४।४।४७) क्योंकि इस प्रकार के बंधान पीढी दर पीढी के रिवाज से लोक में चले आते थे।

धर्म शब्द का दूसरा प्रयोग नीति धर्म के लिये हैं जो उसका प्रसिद्ध अर्थ है, जैसे धर्मं चरति धार्मिकः (धर्मं चरति, ४।४।४१)।

अध्याय ६, परिच्छेद ५—दर्शन

ज्ञान का नया आदर्श—लगभग दसवीं शती ई०पूर्व से पाचवीं शती ईस्वीपूर्व तक का महाजनपद युग भारतवर्ष में अभूतपूर्व ज्ञानमन्थन का काल था। इसी समय कितने ही शास्त्रों की नई उद्भावना हुई जिसे पाणिनि ने उपज्ञात साहित्य कहा है। यही आद्य आचिख्यासा अर्थात् प्रतिभाशाली मस्तिष्कों से ज्ञान का स्वतंत्र उद्भव था। इसी समय व्याकरण, निरुक्त आदि शास्त्रों का जन्म हुआ। शाकटायन, यास्क, औदव्रजि, आपिशलि, औदुम्बरायण, वार्ष्यायणि, शाकल्य, वैशम्पायन जैसे आचार्यों ने विद्या के क्षेत्र में महत्वपूर्ण मौलिक कार्य किया। श्लोकों के निर्माण का भी बहुत कार्य हुआ। महाभारत का विपुल अंश इसी युग का है। काव्य, विज्ञान, नाट्य आदि के अतिरिक्त जो सबसे महत्वपूर्ण कार्य इस समय हुआ वह दर्शन के क्षेत्र में था। विभिन्न तत्त्वज्ञानियों ने जगत्, जीव, ईश्वर के विषय में, मनुष्य के जीवन, उसके कर्तव्य, नीतिधर्म, एवं सामाजिक समस्याओं, एवं दुःख सुख की महती समस्या के विषय में मौलिक चिन्तन किया। यह सब उथल पुथल बहुत ही कल्याणप्रद हुई। भारतीय ज्ञानाकाश में मानों ज्ञान के एक नए अधिदेवता का जन्म हो गया।

ज्ञ देवता—पतंजलि ने ज्ञा देवता का उल्लेख किया है—ज्ञा देवतास्य स्थाली पाकस्य सः स्थालीपाकः (६।४।१६३)। ज्ञ देवता का उल्लेख उपनिषदों से आरम्भ होता है—ज्ञः कालकालो गुणी सर्वविद्यः (श्वेता० उप० ६।२)। पाणिनि ने जानातीति ज्ञः इस अर्थ में ज्ञः को स्वतंत्र शब्द माना है। यह ज्ञ उस काल की परिभाषा में क्षेत्रज्ञ पुरुष की संज्ञा थी—'पिछले प्रकरण में जिसे क्षेत्रज्ञ या आत्मा कहा है, वही यह देखने वाला, ज्ञाता या उपभोग करने वाला है; और इसे ही सांख्य शास्त्र में 'पुरुष' या 'ज्ञ' (ज्ञाता) कहते हैं (लोकमान्य तिलक, गीता रहस्य, पृ० १६२) इस क्षेत्रज्ञ पुरुष या 'ज्ञ' पुरुष की खोज ही उपनिषद् युग का सर्वोपरि आदर्श था। पाणिनि के युग में भी उसकी प्रतिध्वनि विद्यमान थी और उस महान् आन्दोलन का जो सुफल था उसकी निधि जनता के पास थी। ज्ञ देवता को 'काल काल' क्यों कहा गया ? इसका कारण यह था कि ज्ञान साधन के क्षेत्र में उस समय अनेक मत वाद थे जिनकी सूची श्वेत० उप० में हैं, जैसे कालवाद, स्वभाववाद, नियतिवाद, यदृच्छावाद, भूतवाद, योनिवाद, आत्मवाद। इनमें से नियतिवाद का पाणिनि ने उल्लेख किया है। इन वादों का दार्शनिक संग्रह महाभारत के शान्तिपर्व में पाया जाता है जो उसी युग के तत्त्व विचार का एक सारभूत संग्रह बच गया है। इन वादों में पहला कालवाद है। कुछ लोग काल को सर्वशक्तिशाली देव मानकर उसे ही सृष्टि का पर्याप्त कारण मानते थे। किन्तु क्षेत्रज्ञवादी लोगों का कहना था कि क्षेत्रज्ञ पुरुष काल आदि अन्यकारणों का भी कारण है। जिन व्यक्तियों ने तत्त्व दर्शन के इस आन्दोलन में विशेष भाग लिया वे भी ज्ञ नाम से प्रसिद्ध हुए। यूनान देश में लगभग समकालीन तत्त्व ज्ञान के क्षेत्र में जो अग्रणी थे वे सोफिस्ट कहलाते थे। वैसे ही इस देश में 'ज्ञ' थे। पतंजलि ने 'ज्ञ' नामक ब्राह्मणों का उल्लेख किया है जो 'ज्ञ' देवता या तत्त्व ज्ञान के आन्दोलन के प्रतिनिधि थे। आगे चलकर उनके परिवार में उपनिषद् युग की ये परम्पराएँ प्रतिपालित हुई हों, ऐसा मानना स्वाभाविक है। पतंजलि ने उनका उल्लेख किया है—ज्ञानां ब्राह्मणानामपत्यमिति (४।१।१, वा० ३)। ये ही परिवार उस समय तक 'ज्ञ' देवता के लिये स्थाली पाक बनाकर उसकी पूजा करते थे। इस औपचारिक पूजा में ज्ञान के अधिदेवता का वह मौलिक स्वरूप जो उपनिषद् और शान्ति पर्व के युग में था कितना सुरक्षित था, नहीं कहा जा सकता।

मति या दिट्ठि—उस युग में दार्शनिक या तत्त्व चिन्तकों के विचार के लिये बौद्ध और जैन साहित्य में दिट्ठि शब्द मिलता है। इसके मूल में वही दृश् धातु है जिससे दर्शन शब्द बना है। पाणिनि ने दिट्ठि के लिये मति शब्द का प्रयोग किया है (४।४।६०)। मत या ज्ञान के साधन को मत्य कहते थे (मतस्य करणं, ४।४।९७)।

पाणिनि ने अपने युग की दिट्ठियों का वर्गीकरण किया है जो जितना ही संक्षिप्त है उतना ही मूलभूत और तात्त्विक है। उस युग के बौद्धिक मन्थन ने अनेक

संख्यक मत या दिट्ठियों को जन्म दिया था। दीघनिकायके ब्रह्मजाल सुत्त में, जैन आगमों में एवं महाभारत के शान्ति पर्व में इनका विस्तृत वर्णन आता है। पाणिनि ने इन्हें (१) आस्तिक, (२) नास्तिक, और (३) दैष्टिक कहा है (अस्ति नास्ति दिष्टं मतिः, ४।४।६०)। दिट्ठि या मतियों की सूची श्वेताश्वतर उपनिषद् (१।२) में भी है—कालवाद, स्वभाववाद, नियतिवाद, यदृच्छावाद, भूतवाद, योनिवाद, पुरुषवाद (और भी चरक, सूत्रस्थान, अ० २५; सुश्रुत, शारीर स्थान १।११)। इस सूची में काल का पहला उल्लेख है। पाणिनि युग से पहले काल को सृष्टि का कारण मान कर व्याख्या करने वाले दार्शनिक सम्प्रदाय का पर्याप्त विस्तार हो चुका था। अथर्ववेद के काल सूक्त में उसके सिद्धान्त हैं। महा परियाय जातक में कालवाद का निरूपण है (जा० २, पृ० २६०-६१)। शान्ति पर्व में उसका और विशद रूप है (२२०।२९-११०)। पाणिनि के अनुसार भी कालवाची शब्दों को नई प्रतिष्ठा प्राप्त हुई, वे देवता मान लिए गए जिनकी पूजा होने लगी (४।२।३४)। नक्षत्र और ऋतु भी देवता माने जाने लगे। कालवादी दार्शनिकों को ही अहोरात्र-विद् कहते थे।

इसके बाद स्वभाव को सृष्टि का कारण मानने वाले थे। इसके समकक्ष पूरण कस्सप का प्रकिरियावाद का सिद्धान्त था। इसे ही शाश्वतवाद भी कहते थे। सब कुछ अपने स्वभाव से सदा से ऐसे ही हो रहा है, कोई न करने वाला है, न कारण है, ईश्वर की कहीं आवश्यकता या अवसर नहीं है (दे० शान्ति पर्व २१५।१५-१६)। यदृच्छावाद के मानने वाले अहेतुवादी दार्शनिक थे (शान्ति पर्व १६८।२१-२२, जहाँ इसे पर्यायवाद भी कहा है)। बिना किसी हेतु के आकस्मिक संयोग से यह जगत् बन गया है। भूतवाद के प्रतिनिधि लोकायत दर्शन के अनुयायी थे जो पृथिवी, जल, तेज वायु इन चार भूतों से सृष्टि की उत्पत्ति मानते थे। अजितकेस कम्बली का उच्छेदवाद भी चार भूतों के मत का अनुयायी था (चातु महाभूतिको ऽयं पुरुषः)। शान्ति पर्व १७२।१३-१८ में भूतवाद के दृष्टिकोण का उल्लेख है। नियतिवाद के प्रवर्तक आचार्य मक्खलिगोसाल थे (शान्तिपर्व अ० १७१)। योनि-वाद उस दिट्ठि की संज्ञा थी जिसमें जन्म को ही सब कुछ माना जाता था। ब्राह्मण कुल में या क्षत्रिय कुल में जन्म लेने से ही मानव के जीवन की पर्याप्त व्याख्या हो जाती है यही इनका मत था। बल से ही व्यक्ति और समाज का नियमन और संचालन होता है, यही इनका दृष्टिकोण था (योनिवाद के लिये दे० शान्तिपर्व अ० १७३; खत्तविज्जावाद, जा० ५।२४०)। अन्त में पुरुष या देव की शक्ति को सृष्टि का कारण मानने वाले थे जिन्हें जातकों में इस्सरकारणवादी कहा गया है (जा० ५।२३८)। श्वेताश्वर उपनिषद् में पुरुषवाद के अतिरिक्त अन्य दार्शनिकों को परि-मुह्यमान अर्थात् भ्रान्त दिट्ठि वाले कहा गया है। ये ही सब मिलकर पाणिनि के 'नास्ति मति' रखने वाले नास्तिक आचार्य थे। पुरुष या ईश्वर को कारण मानने

वाले लोग जिनके दर्शन और सम्प्रदाय दोनों अत्यन्त पल्लवित और विस्तृत थे 'आस्तिक' मति वाले आचार्य हुए। पुरुष सूक्त में इसी मत का विवेचन है। वेदाहमेतं पुरुषं महान्त मादित्य वर्णं तमसः परस्तात्। तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यते अयनाय॥ इस कथन की जो शक्ति है उससे इस दर्शन के आत्म विश्वास और उच्च स्थान का पता चलता है। ईश और अनीश संज्ञक दो सुपर्ण जो एक ही अश्वत्थ वृक्ष की शाखा पर बैठे हुए हैं, अथवा क्षर और अक्षर नामक दो पुरुष, अथवा क्षेत्रज्ञ संज्ञक पुरुष जो क्षेत्र का अधिष्ठाता है—ये सब ऊहापोह पुरुषवाद या आस्तिक मति के ही विविध पक्ष थे। एक मूल विचार धारा कई रूपों में फुटाव ले रही थी। मूलभूत सांख्य के अज और अजा की कल्पना से आरम्भ करके इस दर्शन का पर्यवसान वेदान्त दर्शन में हुआ। पाणिनि ने जिन्हें पाराशर्य के भिक्षु सूत्र कहा है उनमें पुरुषवाद या आस्तिक मति का प्रतिपादन था। पुरुष या अध्यात्मवाद ने और छोटे-छोटे वाद या मतियों को अपने में समेट लिया। प्राणवाद, ज्योतिवाद, व्योमवाद आदि कितनी ही मतियों का समावेश या समन्वय वेदान्त के पुरुषवाद में हो गया। पुरुष ही इन सब विविध कारणों का एक मात्र अधिष्ठाता है। प्रकृति और सृष्टि के विषय में जो और बहुत से मत उत्पन्न हुए थे वे आस्तिक धारा में मिल गए और भारतीय दर्शन का प्रमुख संस्थान आस्तिकवाद के ही आदर्श में अन्तर्भूत हो गया।

नास्तिक मति के अन्तर्गत एक सम्प्रदाय बहुत तगड़ा था जिसे सब से अलग नाम से पुकारा जाता था। वह मक्खलिगोसाल का नियतिवाद था। पाणिनि ने उसका अलग उल्लेख किया है, वही दिष्ट मति वाले या दैष्टिक थे। वे कर्म और मानुषी पराक्रम (किरिया और विरिय) का खण्डन या उपहास करते थे। पतंजलि ने निश्चित शब्दों में उनके मत का उपन्यास किया है—

माकृत कर्माणि माकृत कर्माणि, शान्तिर्वः श्रेयसीत्याहातो मस्करी परिव्राजकः (६।१।१५४)।

अर्थात् मस्करी परिव्राजक का वह नाम इस लिये था क्योंकि वह कहता था—कर्म मत करो, बिल्कुल कर्म मत करो, शान्ति से ही मोक्ष मिलेगा। बौद्ध और जैन साहित्य में मक्खलि के जीवन और मत का विस्तृत उल्लेख है। ये लोग आजीवक कहलाते थे। बुद्ध मक्खलि के मत को सबसे भयंकर मानते थे। महाभारत शान्तिपर्व में इन आचार्यों की पृथक्-पृथक् दिष्टियों का बहुत ही विस्तार से वर्णन है। वहाँ कहा गया है कि नियतिवादी मत के पाँच सिद्धान्त थे—सर्वसाम्य, अनायास, सत्य वाक्य, निर्वेद (कर्म के प्रति नितान्त उपेक्षा), अविवित्सा (आत्मा आदि के विषय में बौद्धिक प्रयत्न का भी परित्याग)। पतंजलि ने जो बारबार 'मा कर्म कार्षीः' कहा है उसका लक्ष्य शारीरिक और बौद्धिक दोनों प्रकार के कर्मों का निराकरण है

(अनायास=हाथ पैर न हिलाना)। महाभारत में मक्खलि या मंखलि को मंकि के रूप में चित्रित किया है। कहानी है कि मंकि ऋषि पहले पुरुषार्थवादी थे, किन्तु भाग्य उनका साथ न देता था। उन्होंने अन्तिम बार पुरुषार्थ करके सफल होने का दृढ़ संकल्प किया। सब कुछ बेच कर एक जोड़ी बैल खरीदे और उन्हें नाँध कर खेत को चले। मार्ग में एक ऊँट बैठा हुआ था। वह बछड़ों को देख कर भड़क गया और एकाएक उठ कर भागा। दोनों बछड़े उसकी गर्दन में लटक गए। मंकि ऋषि विलाप करते हुए उसके पीछे भागे। तब उन्होंने अपना अनुभव वाक्य कहा—मणीवोष्ट्रस्य लम्बेते प्रियौ वत्सतरौ मम। शुद्धं हि दैवमेवेदं हठे नैवास्ति पौरुषम् (शान्ति० १७१।१२)। ये ही लोग दैष्टिक या भाग्यवादी थे। महाभारत में धृतराष्ट्र और ययाति को नियतिवादी या दैष्टिक मतानुयायी कहा है।

लोकायत—ये लोग भूतवाद और उच्छेदवाद के मानने वाले थे। इनके दर्शन का लोक में सबसे अधिक प्रचार होने से संभवतः ये लोकायत कहे गए। सूत्र में इनका नाम नहीं है, किन्तु उक्थादि गण (४।२।६०) में दूसरे स्थान पर है। इस मत के आचार्य और शिष्य लोकायतिक कहलाते थे (तदधीते तद्वेद)। पाणिनि के समय में लोकायतिक थे पूरी संभावना है। कौटिल्य ने लोकायतों का उल्लेख किया है। दीघनिकाय में भी उनका नाम है। लोकायत मत का एक पंडित ब्राह्मण बुद्ध से प्रश्न करता है (संयुत्त निकाय)। अन्यत्र जातक में कहा है—ने सेवे लोकायतिकम् (जा० ६।२८६)। काम सूत्र में एक लोकोक्ति है—वरं सांशयिकान्निष्कादसांशयिकः कार्षापण इति लोकायतिकाः (काम० १।२।३०), खुटके के निष्क से (सोने का सिक्का) बेखुटके का कार्षापण (चाँदी का सिक्का) अच्छा है। इससे लोकायतिकों की प्रत्यक्ष जीवन में आस्था का आभास मिलता है। पतंजलि ने लिखा है—वर्णिका भागुरी लोकायतस्य (७।३।४५), अर्थात् भागुरि का मत लोकायतों की वानगी है। व्याकरण में कुछ प्राचीन उदाहरण हैं जिनसे सूचित होता है कि लोकायत शास्त्र के उद्भट पण्डितों की संज्ञा चार्वी थी।[१] पीछे उसी से चार्वाक शब्द बना जो आचार्य का नाम न होकर उनका बिरुद था। दुर्योधन का मित्र एक

१—सूत्र १।३।४७ में भासन (= दीप्ति) का उदाहरण—वदते चार्वी लोकायते (भासमानो दीप्यमान स्तत्र पदार्थान् व्यक्ती करोति, काशिका)।

सूत्र १।३।४७ में ज्ञान (= सम्यगवबोध) का उदाहरण—वदते चार्वी लोकायते (जानाति वदितुमित्यर्थः, काशिका)।

सूत्र १।३।३६ में संमानन (= पूजन) का उदाहरण—नयते चार्वी लोकायते (चार्वो बुद्धिः तत्सम्बन्धादाचार्योपि चार्वी स लोकायते शास्त्रे पदार्थान् नयते, उपपत्तिभिः स्थिरीकृत्य शिष्येभ्यः प्रापयति, ते युक्तिभिः स्थाप्यमानाः संमानिताः पूजिता भवन्ति, काशिका)।

लोकायतिक था। दशरथ का एक मंत्री जाबालि लोकायत मतानुयायी था। लोकायत संप्रदाय अति प्राचीन था और संभावना यही है कि पाणिनि के नास्तिक सम्प्रदायों में उसकी भी गणना थी।

अन्य शब्द—योग की शब्दावली में यम, नियम, संयम (३।३।६३) और योगी (३।२।१४२) एवं न्याय में निग्रह, अनुयोग (५।२१) का उल्लेख किया गया है। सूत्र ६।२।१८२ में परिमंडल शब्द उसी अर्थ में है जिसमें वैशेषिक सूत्र ७।१।२० में (=परमाणु)।

आत्मप्रीति, आत्ममान, आत्मनीन (आत्मने हितम, ५।१।९) प्रयोगों में आत्मा शब्द का प्रयोग अपने के अर्थ में हुआ है। यह उपनिषद् युग का नया शब्द था। स्वशब्द भी आत्मा-आत्मीय के अर्थ में प्रयुक्त होता था। जीवनाशं नश्यति सूत्र में (३।४।४३) जीव जीवन या प्राण के लिये प्रयुक्त हुआ है। ऋग्वैदिक शब्द अक्षेत्रविद् (ऋ० १०।३२।७, अक्षेत्रवित् क्षेत्रविदं ह्यप्राट्) अक्षेत्रज्ञ के रूप में प्रयुक्त होता था जिससे नवीन शब्द अक्षेत्रज्ञ्यं पाणिनि ने दिया है (७।३।३०)।

प्राणभृत् या प्राणिन् पशु और मनुष्य जगत् के लिये आया है, ओषधि-वनस्पति उससे बहिर्भूत हैं (४।३।१३५)। इनके लिये चित्तवत् (१।३।८८) और अचित्त (४।२।४७) शब्द भी थे।

शुद्ध दार्शनिक के धरातल पर विचार करते हुए कात्यायन ने लिखा है कि सर्वचेतनावत्व के सिद्धान्त से सबको चेतन मानकर चेतन और जड़ का भेद करना अनुचित है (३।१।७)। स्वभावतः व्याकरण के कुछ प्रयोगों पर भी इस मत का प्रभाव पड़ता था। पतंजलि ने प्राचीन प्रयोगों की पृष्ठभूमि में लिखा कि आत्मा शब्द के दो अर्थ हैं, शरीरात्मा और अन्तरात्मा। शरीरात्मा या शरीर कर्म में प्रवृत्त होता है, पर दुःख सुख का अनुभव अन्तरात्मा या अन्तःकरण को होता है। ऐसे ही अन्तःकरण के कारण शरीर को दुःख सुख का अनुभव करना पड़ता है। पाणिनि का स्वान्त शब्द अन्तरात्मा के लिये ही था (७।२।१८) जो कि स्व या आत्मा का अन्तः ज्ञान साधन है और जिसे मन भी कहा जाता था। स्थूल शरीर द्वारा दुःख सुख का अनुभव (कर्तुः शरीर सुखम् ३।३।११६), और मन द्वारा उसकी वेदना का अनुभव (सुख वेदना, ३।१।१८), ये दोनों पक्ष सूत्रकार ने माने हैं, जैसा उनका मध्यमार्ग था। इनके पीछे जो दार्शनिक दिष्टियां हैं उनका अनुसंधान आवश्यक है। न्यायसूत्रों में दुःख को प्रतिकूल वेदनीय और सुख को अनुकूल वेदनीय कहा गया है। पाणिनि ने इसे स्वीकार करते हुए दुःख को प्रातिलोम्य (५।४।६४) और सुख को आनुलोम्य (५।४।६३) पूर्वक अनुभव कहा है। स्वतंत्रः कर्ता (१।४।५४) परिभाषा व्याकरण शास्त्र के लिये मान्य तो थी ही, दार्शनिक पृष्ठभूमि की भी सूचक है।

महेन्द्र—इन्द्र के लिये मरुत्वत् (४।२।३२), मघवन् (४।४।१२८), वृत्रहन् (३।२।८७) इन प्राचीन वैदिक नामों के अतिरिक्त महेन्द्र नाम भी सूत्र में (४।२।२९) आया है। यह शब्द ऋग्वेद में नहीं था, यजुर्वेद के तीन निगदों में प्रयुक्त है। (७।३९–४०; २६।१०)। महेन्द्र या महान् इन्द्र की कल्पना का आधार कुछ इस प्रकार था। शतपथ ब्राह्मण में शरीरस्थ पंच प्राणों को समिद्ध और संचालित करने वाले इन्द्र नामक मध्य प्राण की कल्पना की गई है (शतपथ ६।१।१।२)। यह मध्य प्राण ही इन्द्रियों को प्रेरित करने वाली शक्ति है। ब्राह्मण और उपनिषदों में इन्द्र और इन्द्रियों के सम्बन्ध की विविध कल्पनाएँ पाई जाती हैं। इसी से पंच इन्द्रियों को इन्द्र की पांच शक्तियां माना गया और उन पांच प्राणों को पंचेन्द्र के रूप में कल्पित किया गया। महाभारत में पांच इन्द्रों का उल्लेख आया है—पाण्डोः पुत्राः पंच पंचेन्द्र कल्पाः, अर्थात् पाण्डु के पांच पुत्र पांच इन्द्रों के समान हैं (उद्योगपर्व ३३।१०३)। पंचप्राणों के अधिपति मुख्य प्राणों को जैसे मध्य प्राण कहा गया, वैसे ही पांच इन्द्रों में प्रधान शक्ति को महेन्द्र यह नाम दिया गया। ब्राह्मण ग्रन्थों की अध्यात्म ऊहापोह में इस प्रकार की विचार सरणि जन्म ले रही थी।

इन्द्र और इन्द्रिय—पाणिनि ने इन्द्रिय शब्द की व्युत्पत्ति इन्द्र से की है। इन्द्रियं इतना सूत्र लिखकर भी यह अभीष्ट पूरा हो सकता था, किन्तु आचार्य ने शब्दों की अत्यन्त उदारता से कारणवश यह विपुल सूत्र बनाया—

इन्द्रियम् इन्द्रलिंगम् इन्द्रदृष्टम् इन्द्रसृष्टम् इन्द्रजुष्टम् इन्द्रदत्तम् इति वा। (५।२।९३)

इसमें पाणिनि ने इन्द्रिय शब्द को इन्द्र से सम्बन्धित मानते हुए उसकी पांच व्युत्पत्तियां दी हैं और उसके बाद जो शेष रह गईं उनके लिये 'इतिवा' लिखकर गुंजायश कर दी है। इस सूत्र की वास्तविक पृष्ठभूमि यास्क के निरुक्त अथवा ब्राह्मण-आरण्यक-उपनिषद् साहित्य में प्राप्त होती है। यास्क ने इन्द्र की पन्द्रह व्युत्पत्तियां संगृहीत की हैं जिनका आधार इन्द्र और इन्द्रियों के पारस्परिक सम्बन्ध की विविध दार्शनिक कल्पना या मान्यताएं थीं (निरुक्त १०।८)। पाणिनीय शब्दों के मूल में वे ही मान्यताएं हैं—

(१) इन्द्र-लिंगम्—इन्द्रियां इन्द्र के बाह्य लिंग या प्रतीक हैं। काशिका ने यथार्थ लिखा है कि इस सूत्र में इन्द्र आत्मा है। मैत्रायणी उपनिषद् (६।८) में यह अर्थ आया है। जब तक इन्द्रियां स्वकार्य में प्रवृत्त रहती हैं इन्द्र का शरीर में निवास सूचित होता है (इन्द्र आत्मा स चक्षुरादिकरणेनानुमीयते। नाकर्तृकं करणमस्ति—काशिका)। 'आरम्भ में असत् नामक ऋषि थे। वे प्राण (प्राणाः) थे। अमूर्त प्राण ने शरीर में प्रवेश किया वही इन्द्र है। वह स्वशक्ति से इन्द्रियों को संचालित करता है जो उसकी अध्यात्म सत्ता के चिह्न हैं' (शतपथ ६।१।१।२)। यही 'इन्द्रलिंगम्' की पृष्ठभूमि है।

(२) इन्द्र-दृष्टम्—इन्द्रियां इन्द्र से दृष्ट हुईं, अर्थात् इन्द्र ने उनका अनुभव किया। यास्क के अनुसार यह आचार्य औपमन्यव का मत था--इदं दर्शनाद् इति औपमन्यवः। ऐतरेय आरण्यक में भी यही मत है--इदम् अदर्शं तस्माद् इन्द्रो नाम (३।१४)। इस शरीर में आते ही इन्द्र ने इन इन्द्रियों को देख लिया, अर्थात् उनकी सत्ता का अनुभव कर लिया, इसी से वह इन्द्र कहलाया। इदन्द्र को ही इन्द्र कहा गया। यही परोक्ष शैली है (तमिदन्द्रं सन्तमिन्द्र इत्याचक्षते परोक्षेण, परोक्ष प्रिया वै देवाः प्रत्यक्षद्विषः)। आचार्य औपमन्यव प्रसिद्ध वैयाकरण थे जिनके मत का यास्क ने अन्यत्र भी उपन्यास किया है (२।१८)। पाणिनि ने यह व्युत्पत्ति वहीं से ग्रहण की, ऐसी संभावना है।

(३) इन्द्र-सृष्टम्—इन्द्रियों की सृष्टि इन्द्र ने की। यास्क ने इसे आचार्य आग्रायण का मत कहा है--इदं करणादिति आग्रायणः (नि० १०।८)। ऐतरेय उप० में इसी मत का उल्लेख है--ता एता देवताः सृष्टाः (ऐ० २।१)। काशिका ने लिखा है--आत्मना सृष्टं तत्कृतेन शुभाशुभेन कर्मणोत्पन्नमिति कृत्वा।

(४) इन्द्रजुष्टम्—इन्द्र से जुष्ट अर्थात् प्रिय भाव से सह युक्त होने के कारण इन्द्रियों का यह नाम पड़ा। जब इन्द्र इन्द्रियों के साथ रहता है, बहिर्मुख होता है तब वह सबसे अधिक प्रसन्न रहता है (आत्मना जुष्टं सेवितं तद् द्वारेण विज्ञानोत्पादनात्, काशिका)। इन्द्र के प्रिय पान सोम का संचय इन्द्रिय रूपी पात्रों में होता है। वहीं से वह इन्द्र को प्राप्त होता है। ऐतरेय ब्राह्मण में (२।२६) इन्द्रियों को सोम-ग्रह कहा गया है (ग्रह=पात्र)। यास्क भी लिखता है कि इन्द्र की सबसे अधिक प्रसन्नता सोम पान से होती है (इन्दौ रमते; इन्दु=सोम)। इन्द्र और इन्द्रियों का जो अत्यन्त रमणीय या सुखद सम्बन्ध है उसी का सूचक 'इन्द्र जुष्टं' पद है।

(५) इन्द्र-दत्तम्- इन्द्र ने इन्द्रियों को अपने विषय का भोग प्रदान किया है, इसी सम्बन्ध से वे इन्द्रियाँ कहलाती हैं (आत्मना विषयेभ्यो दत्तं यथायथं ग्रहणाय, काशिका)। ऐतरेय उपनिषद् में यह कथा है—सब देव इस पुरुष में प्रविष्ट हुए। तब उस इन्द्र या आत्मा ने उनसे कहा, 'अपने-अपने स्थान में प्रतिष्ठित होओ।' यथा नियत स्थानों में बैठे हुए वे देव आज भी अपना-अपना कार्य कर रहे हैं। यही प्राचीन आख्यान पाणिनीय 'इन्द्रदत्त' व्युत्पत्ति का मूल है।

(६) इति वा—सूत्र का यह टुकड़ा उन व्युत्पत्तियों के लिये भी जो यहाँ उद्धृत नहीं की गईं सूत्रकार की मान्यता प्रदान करता है। इन्द्र की कुल सत्रह व्युत्पत्तियाँ प्राचीन वैदिक साहित्य और निरुक्त में आई हैं।[1] काशिका में कहा है कि 'इति' शब्द व्युत्पत्ति के प्रकारों का सूचक है, अतएव अन्य व्युत्पत्तियाँ भी

१—दे० श्री फतेहसिंह कृत, वैदिक व्युत्पत्तियाँ (कोटा, १९५२), पृ० ९४।

सम्भव हैं (इति करणः प्रकारार्थः। सति संभवे व्युत्पत्तिरन्यथापि कर्त्तव्या, रूढे-रनियमादिति। वा शब्दः प्रत्येकमभिसंबध्यमानो विकल्पानां स्वातन्त्र्यं दर्शयति—काशिका)। इस सूत्र में आचार्य ने उदारशैली अपना कर शब्द-लाघव की अपेक्षा शब्द बाहुल्य से काम लिया है।

परलोक—परलोक और पारलौकिक जीवन की सिद्धि इसी जीवन में तप आदि के द्वारा प्राप्त की जा सकती है, इस प्रकार के विश्वास और प्रयत्न की भावना थी (सिध्यतेरपारलौकिके, ६।१।४९); जैसे तपः तापसं सेधयति, अर्थात् तप तपस्वी को सिद्ध बनाता है। तपस्वी ज्ञान विशेष की प्राप्ति से जन्मान्तर के विषय में सिद्धि प्राप्त करता है (तापसः सिध्यति। ज्ञानविशेषमासादयदि। तं तपः प्रयुक्ते। स च ज्ञानविशेष उत्पन्नः परलोके जन्मान्तरे फलमभ्युदयलक्षणमुपसंहरन् परलोकप्रयोजनो भवति—काशिका)। लिप्स्यमान सिद्धौ च सूत्र (३।३।७) की पृष्ठ भूमि में भी इस प्रकार परलोक या स्वर्ग आदि की सिद्धि को सम्भव माना गया है। उसकी प्राप्ति के लिये इस लोक में जो दान-दक्षिणा आदि दी जाती थी वह 'लिप्स्यमान' कहलाती थी। उससे स्वर्ग आदि की प्राप्ति का प्रलोभन यजमान को दिया जाता था, जैसे यो भक्तं ददाति स स्वर्गं गच्छति, जो भोजन देगा वह स्वर्ग जायगा। वेद में स्वर्ग के लिये नाक शब्द का भी प्रयोग है। शतपथ में नाक की व्युत्पत्ति इस प्रकार है—न + अक, अर्थात् नहीं है दुःख जहाँ वह नाक है (श० ८।४।१।२४)। यास्क और पाणिनि (६।३।७५) दोनों में नाक शब्द की इस व्युत्पत्ति को स्वीकार किया गया है।

पाणिनि ने निःश्रेयस शब्द का उल्लेख किया है (५।४।७७)। उपनिषद् युग का मोक्ष के परम आनन्द के लिये नया शब्द था। अष्टाध्यायी में निर्वाण शब्द का भी उल्लेख है (निर्वाणोऽवाते, ८।२।५०)। काशिका में इसके तीन उदाहरण हैं—निर्वाणोऽग्निः, निर्वाणोदीपः, निर्वाणो भिक्षुः। इन तीनों में ध्वनि है कि निर्वाण नितान्त अभाव की दशा का नाम था। दीप या अग्नि के समान भिक्षु का अस्तित्व भी बिलकुल 'बुझ' जाता है, वही निर्वाण प्राप्ति की अवस्था है। इस शब्द के इस अर्थ में बौद्ध धर्म की मान्यता अन्तर्निहित है।

अध्याय ७

राजतंत्र और शासन

परिच्छेद १—एकराज प्रणाली

राजा—पाणिनि के युग में राज्य और संघ दो प्रकार के शासन तंत्र थे। राजा जिस तंत्र में अधिपति हो उसे राज्य कहा गया है (६.२।१३०)। ऐतरेय ब्राह्मण में जिन शासन पद्धतियों का उल्लेख है, जैसे भौज्य, साम्राज्य, स्वाराज्य, वैराज्य आदि (८।१५), उनमें राज्य का भी परिगणन है। एक जनपद की भूमि पृथिवी और वहाँ का राजा पार्थिव कहलाता था इसके विपरीत उससे विस्तृत भूप्रदेश या समस्त देश के लिये सर्वभूमि शब्द था, जहाँ का अधिपति सार्वभौम कहलाता था (तस्येश्वरः सर्वभूमि पृथिवीभ्यामणञौ, ५।१।४१-४२)। दीघनिकाय के महागोविन्द सुत्त में सर्वभूमि को ही महापृथिवी कहा गया है। उसमें महापृथिवी का सीमाविस्तार पूर्व में कलिंग से पश्चिम में सौवीर तक माना है। इससे निश्चित ज्ञात होता है कि महापृथिवी या सर्वभूमि संज्ञा उस युग में समस्त देश के लिये प्रचलित थी। अपने जनपद के राज्य से आगे बढ़कर जो राजा अनेक जनपदों तक अपने राज्य का विस्तार करता वह साम्राज्य पदवी का अधिकारी होता था, और जो सर्वभूमि के अधिकतमक्षेत्र का आधिपत्य प्राप्त करता वह सार्वभौम कहलाता था। आदिपर्व में भरत को सार्वभौम कहा गया है (आदि ६९।४५-४७)। आपस्तम्ब श्रौतसूत्र के अनुसार सार्वभौम राजा सर्व पृथिवी विजय के अनन्तर अश्वमेध करने का अधिकारी होता था (आपस्तम्ब २०।१।१)। ऐतरेय ब्राह्मण की सूची में भी सार्वभौम शब्द आता है।

राजा के लिये ईश्वर, भूपति, अधिपति शब्द आए हैं। सूत्र १।४।९७ और २।३।९ में (यस्यचेश्वरवचनं तत्र सप्तमी) में उन प्रयोगों को नियमित किया गया है जिनसे जनपद के राजा का नाम सूचित किया जाता था।

भाष्य में एक उदाहरण है—अधिब्रह्मदत्ते पञ्चालाः, अर्थात् पंचाल जनपद ब्रह्मदत्त राजा के अधिकार में है; या इसे ही यों भी कह सकते थे—अधि पञ्चालेषु ब्रह्मदत्तः अर्थात् पंचाल जनपद में ब्रह्मदत्त राजा है। ईश्वर शब्द के संबन्ध में यह ध्यान देने योग्य है कि प्राचीन साहित्य में प्रायः वह राजा या पृथिवीपति के लिये प्रयुक्त हुआ है, भगवन् के लिये नहीं। निघण्टु में राष्ट्री, अर्य, नियुत्वान्, इन, और ईश्वर पर्याय हैं। सूत्र २।४।२३ (सभा राजामनुष्यपूर्वा) में भाष्य में

राजा को इन और ईश्वर का पर्याय कहा है। पाणिनि ने अर्य को स्वामी का पर्याय माना है (अर्यः स्वामि वैश्ययोः, ३।१।१०३)। जिस पुरुष में ऐश्वर्य रहे वह स्वामी कहलाता था (स्वामिन्नैश्वर्ये, ५।२।१२६) ईश्वर या राजा की अधिकार शक्ति या वर्चस्व को ऐश्वर्य कहते थे। पतंजलि ने कहा है कि 'स्वामी' शब्द में ऐश्वर्य का अर्थ प्रत्यय के कारण नहीं आता, वरन् उस शब्द का प्रातिस्विक अर्थ है (नायं प्रत्ययार्थः)। ज्ञात होता है कि ऐश्वश्वर्य सम्पन्न स्वामी आरम्भ में राजा के लिये ही प्रयुक्त होता था।

राजा को भूपति भी कहा जाता था (६.२।१९)। इस शब्द में भी 'ऐश्वर्य' उसके पतित्व या आधिपत्य की विशेषता थी (पत्यावैश्वर्ये, ६।२।१८)। अतएव भूपति का अर्थ साधारणतः भूमि का स्वामी ऐसा नहीं था, अन्यथा वह किसान आदि के लिये भी प्रयुक्त हो जाता। किन्तु पृथिवी के स्वामित्व की ईश्वरता या ऐश्वर्य जिसमें हो वही भूपति कहलाता था। यह स्थिति राजा की ही थी। स्वामी और ईश्वर के साथ पठित अधिपति शब्द (२।३।३९) का कुछ विशेष पारिभाषिक अर्थ भी था। ऐतरेय ब्राह्मण की सूची में आधिपत्य एक प्रकार की शासन प्रणाली की संज्ञा है। पड़ोसी जनपदों पर उस प्रकार का अधिकार जिसमें वे अधिपति को कर देना स्वीकार करें आधिपत्य कहलाता था (जायसवाल, हिन्दू राजतंत्र; और भी आदिपर्व, १०३।१, १०५।११-१५, २१)। साम्राज् शब्द (८।३.२५, मो राजि समः क्वौ) विशिष्ट राजपदवी का सूचक था। महाभारत में सम्राज् को कृत्स्न भाक् कहा गया है, अर्थात् वह शासन प्रणाली जो औरों के स्वत्व या अधिकारों को छीन कर आत्मसात् कर लेती है एवं साम्राज्य में विलीन होने पर पुनः उसका स्वतंत्र अस्तित्व नहीं रह जाता (सम्राज् शब्दो हि कृत्स्नभाक्, सभापर्व १४।२)।

महाराज शब्द का दो बार उल्लेख है। शब्द रूप एक होते हुए भी महाराज वहाँ देवता के लिये प्रयुक्त है (महाराज प्रोष्ठपदाट्ठञ्, ४।२।३५, महाराजो देवतास्य माहाराजिकम्; महाराजाट्ठञ्, ४।३।९७, महाराजो भक्तिरस्य माहाराजिकः)। वैसे महाराज प्राचीन राजनीति का पारिभाषिक शब्द भी था और एक गणराज्य का नाम भी था।

मंत्रि-परिषद्—पाणिनि ने तीन प्रकार की परिषदों का उल्लेख किया है—(१) सामाजिक परिषद् (४।४.५५), (२) चरणों के अन्तर्गत विद्यासम्बन्धी परिषद् (४।३।१२३), और राजनैतिक मंत्रिपरिषद् (५.२।११२)। परिषद् का सदस्य पारिषद या पारिषद्य कहलाता था (परिषदोण्यः, ४।४।१०१)। पारिषद विशेषण उसीके लिये प्रयुक्त होता था जिसका परिषद् में बैठने का न्याय्य अधिकार था (तत्र साधुः)। सामाजिक परिषद् गोष्ठी या समाज की भांति मनोरंजन की संस्था थी जिसमें सम्मिलित होने वाले सदस्य पारिषद्य कहलाते थे। उसके लिये अलग सूत्र का विधान है (परिषदोण्यः, ४।४।४४, परिषदं समवैति)।

राजनीति से सम्बन्धित परिषद् वस्तुतः मन्त्रि परिषद् संस्था थी। जो राजा परिषद् के साथ सहयुक्त होकर शासन करते थे उनके लिये 'परिषद्वलो राजा' यह विशिष्ट और साभिप्राय शब्द भाषा में प्रयुक्त होता था (रजः कृष्यासुति परिषदो वलच, ५।२।११२)। बौद्ध साहित्य, अर्थशास्त्र और अशोक के अभिलेखों में इस परिषद् का उल्लेख आता है। महासीलव जातक में राजा के अमात्यों की परिषद् को सुविनीत कहा गया है (एवं सुविनीता कि'स्स परिसा, जा० १।२६४)। सुविनीता शब्द भी राजनीतिक परिभाषा से सम्बन्ध रखता है। जिसे कौटिल्य ने विनयाधिकार और पाणिनि ने वैनयिक कहा है। उसी 'विनय' से युक्त मन्त्रि परिषद् 'विनीत' कहलाती थी। सब मंत्री अपने कार्य संपादन में राजनीतिक अनुशासन से युक्त होते थे। अशोक ने लिखा है कि अत्यावश्यक कार्यों पर विचार करने के लिये परिषद् का अधिवेशन तुरन्त बुलाना चाहिए (अचायिक=आत्ययिक)। अर्थशास्त्र में मंत्रि परिषद् के संगठन के विषय में पूरा विवरण दिया गया है जिससे ज्ञात होता है कि राजतंत्र में उस समय परिषद् का निश्चित स्थान और अधिकार माना जाता था (अर्थशास्त्र १।११)। मंत्रि-परिषत् के साथ कार्य करने वाला राजा, इस अर्थ के द्योतन करानेवाला परिषद्वलो राजा यह सटीक शब्द भाषा में चला गया था।

राजकृत्वा—वैदिक युगमें जिन रत्नी नामक अधिकारियों को राजकृतः (राजा के बनाने वाले कहा जाता था (अथर्व ३।५।६-७), उनके लिये पाणिनि ने 'राजकृत्वा' शब्द का प्रयोग किया है (राजनि युधिकृञः ३।२।९५; राजानम् कृतवान् इति राजकृत्वा)। बौद्ध साहित्य में भी यह शब्द मिलता है। दीघनिकाय में मंत्रियों को राजकर्ता कहा गया है (राजकत्तारो, महागोविन्द सुत्तन्त) रामायण में भी मंत्रियों को राजकर्तारः कहा है (समेत्य राजकर्तारो भरतं वाक्यमब्रुवन् अयोध्या० ७९।१; राजकर्तारः = मंत्रिणः, टीका; जायसवाल, हिन्दू राजतंत्र,२।११६)।

मुख्य मंत्री या आर्यब्राह्मण—सूत्र ६।२।५८ में (आर्यो ब्राह्मणकुमारयोः) में आर्यकुमार शब्द युवराज के लिये और आर्यब्राह्मण मुख्य मंत्री के लिये प्रयुक्त हुए हैं। अगले सूत्र में (राजा च, ६।२।५९) पाणिनि ने राजब्राह्मण शब्द का उल्लेख किया है। कर्म धारय समास में राज ब्राह्मण का अर्थ ब्राह्मण जाति का राजा ऐसा लिया जाता था। उसी का प्रत्युदाहरण तत्पुरुष समास में राजब्राह्मण शब्द राजा के ब्राह्मण अर्थात् मुख्य मंत्री का वाचक था। राजा का ब्राह्मण वही था जिसका संकेत पाणिनि ने ब्राह्मणमिश्रो राजा सूत्र में किया है।

ब्राह्मणमिश्रो राजा—राज संस्था के इतिहास की दृष्टि से पाणिनि का निम्नलिखित सूत्र महत्त्वपूर्ण है—

मिश्रं चानुपसर्गमसंधौ (६।२।१५४)।

'तृतीयान्त समास में मिश्र शब्द अन्तोदात्त होता है, यदि उसके पहले उपसर्ग न हो और उसका अर्थ संधि न हो।'

यहाँ संधि शब्द सूत्र की कुंजी है। हर्ष है कि कौटिल्य में इसका जो ठीक परिभाषात्मक अर्थ था उसकी परम्परा काशिका में सुरक्षित मिलती है—

असंधाविति किम्। ब्राह्मणमिश्रो राजा। ब्राह्मणैः सह संहित एकार्थ्यमापन्नः। संधिरिति हि पणबन्धेनैकार्थ्यमुच्यते (काशिका)। यहाँ संधि का तात्पर्य है परस्पर समझौता। शर्तनामे के द्वारा दोनों का आपस में इस प्रतिज्ञा से बँध जाना कि यदि तुम यह करोगे, तो मैं यह करूँगा, इसका नाम पण बंध या संधि है। कौटिल्य में 'पणबन्धः संधिः' यही परिभाषा दी है (अर्थ० ७।१)। संधि राजतन्त्र का शब्द था। उस पृष्ठ भूमि में ब्राह्मणमिश्रो राजा प्रत्युदाहरण साभिप्राय हो जाता है। जो राजा ब्राह्मण के साथ संधि या पणबन्ध करता था उसके लिये भाषा में इस सार्थक शब्द का नया प्रयोग चालू हुआ था। तीन प्रश्न हैं—किस ब्राह्मण के साथ और किस प्रकार की संधि राजा करता था और यह किस युग की प्रथा थी? इन तीनों का उत्तर भारतीय राजतन्त्र के इतिहास की दृष्टि से इस प्रकार है—

जिसे पाणिनि ने आर्यो ब्राह्मणकुमारयोः सूत्र में (६।२।५८) आर्य ब्राह्मण कहा है वही यह ब्राह्मण था जिसके साथ राजा का पणबन्ध होता था। आर्य ब्राह्मण मन्त्रि परिषद् या पाली शब्दों में 'अमच्च परिसा' में सर्व प्रधान मुख्यामात्य होता था। आर्य उसकी पदवी या संबोधन था। 'आर्य चाणक्य उसी पद का सूचक है। प्रत्येक परिषद्वल राजा का 'परिषद्वल' विशेषण तभी तक सार्थक था जब तक वह परिषद् के मुख्य मन्त्री या आर्य ब्राह्मण के साथ अपनी संधि का पालन करता था। यह राजतन्त्र में मन्त्रि परिषद् की बड़ी विजय थी। इससे यह भी ज्ञात होता है कि मन्त्रि परिषद् कहने सुनने के लिये या राजा की निरंकुश इच्छा का खिलवाड़ न थी। वह राजा पर सच्चा अंकुश रखती थी और उसको भी अनुचित काम करने से हटक देती थी। अशोक और रुद्रदामा की परिषद् इसके ऐतिहासिक उदाहरण बचे हैं। प्रियदर्शी अशोक ने राजकोष में से बौद्ध संघ को मात्रा से अधिक धन देना चाहा, तो परिषद् ने रोक दिया। महाक्षत्रप रुद्रदामा ने सुदर्शन तटाक के खण्ड स्फुटित संस्कार (मरम्मत) के लिये अत्यधिक धन का व्यय करना चाहा। यह व्यय यद्यपि प्रजा हित में था, किन्तु परिषद् ने इसे सीमित राजकीय द्रव्य पर बोझा समझा और रोक दिया। तब रुद्रदामा ने अपने निजी कोष में से द्रव्य का विनियोग किया। परिषद् का इस प्रकार की वास्तविक शक्ति का कारण यही पणबन्ध या संधि थी। यदि राजा उसे न माने तो परिषद् उसे पदच्युत कर सकती थी जैसा शुक्र ने अपने युग की तथ्यात्मक विचार धारा के आधार पर लिखा है।

राजा और ब्राह्मण के बीच की संधि के वास्तविक स्वरूप का यही संकेत है। राजा राज्याभिषेक के समय पहले कठोर शपथ लेता था और तब राज्यासन पर

बैठता था। ऐतरेय ब्राह्मण के ऐन्द्र महाभिषेक में वह शपथ दी हुई है—राजा कहता था, 'जिस रात्रि को मेरा जन्म हुआ है, और जिस रात्रि को मेरी मृत्यु होगी, उन दोनों के बीच में जो मेरी संतति, धन, आयुष्य और यश है वह सब नष्ट हो जाय यदि मैं प्रजाओं से द्रोह करूँ।' यह अभिषेक शपथ संविधान की कुंजी थी। इसी के कारण राजा की परिभाषा चरितार्थ होती थी—'राजा प्रकृतिरञ्जनात्', 'राजा प्रजा रंजन लब्ध वर्णः'। शान्तिपर्व में ही राजा का यह लक्षण आया है (२९। १३९)। 'प्रजा से द्रोह न करूँ' का निर्देशात्मक पक्ष यह था कि प्रजा का रंजन करूँ। व्यवहार में प्रजा रंजन की कसौटी या मर्यादा क्या थी? यह उसी प्रकार थी जैसी आज है, अर्थात् मन्त्रि परिषद् के साथ राजा का ऐकार्थ्य भाव या राजा के पण बन्ध की सचाई। इसका स्वरूप वही था जो मनु ने लिखा है, अर्थात् राजा षाड्गुण्य के विषय में अपने मुख्य मन्त्री से अवश्य परामर्श करे (मनु ७।५८)। जब तक राजा मन्त्रिपरिषद् के परामर्श से शासन करता वह प्रजा रंजन की कसौटी पर खरा उतरता, अर्थात् वह प्रजाओं से द्रोह न करने की अपनी अभिषेक-शपथ का पालने वाला समझा जाता था।

प्रश्न है कि मुख्य मन्त्री के लिये ब्राह्मण शब्द का प्रयोग क्यों किया गया। यह उस युग की परम्परा थी कि त्यागी विद्वान् राजशास्त्रवेत्ता ही मुख्य मन्त्री होते थे और उनकी पदवी ब्राह्मण थी। कौटिल्य ने स्पष्ट लिखा है कि जिस क्षत्र को 'ब्राह्मण' का समर्थन प्राप्त है, जिसे अपनी परिषद् के अन्य मंत्रियों के परामर्श का लाभ प्राप्त है, जो शास्त्र का पालन करता है, वह अजित प्रदेशों को भी अपने विजित में ले आता है (अर्थ० १।१८)। जो पहले से ही उसके विजित में है उनकी दृढ़ स्थिति का तो कहना ही क्या? मुख्य मन्त्री जाति से ब्राह्मण हो, जैसा वह प्रायः होता था, या न हो, इसका राजनीति की दृष्टि से अधिक महत्व न था, क्योंकि यहाँ जाति गत स्वत्व का प्रसंग नहीं था, यहाँ तो राजशक्ति को प्रजा हित में मर्यादित और संचालित करने वाले 'आर्य' व्यक्ति को ढूंढ़ निकालने और उसके महनीय पद की सुरक्षा का प्रश्न था। कौटिल्य या मनु के समय में आर्य ब्राह्मण के पद का विकास वैदिक युग से चला आया था। वहाँ स्पष्ट ही यह आदर्श व्यवहार में मान्य था—ब्रह्मणा क्षत्रेण च श्रीः परिगृहीता भवति; अथवा, यत्र ब्रह्म च क्षत्रं च सम्यञ्चौ चरतः सह। मनु ने भी इस सिद्धान्त को अविकल ग्रहण किया था (९।३२२)।

अब तीसरे प्रश्न पर विचार करना चाहिए। भारतीय इतिहास के किस युग में 'परिषद्वलो राजा' और 'ब्राह्मणमिश्रो राजा' ये दो सूत्र व्यवहार में सत्य थे? जो प्रमाण सामग्री उपलब्ध है उसके साक्ष्य से ज्ञात होता है कि महाजनपद युग से मौर्य युग तक राजा के साथ उसके प्रधान मंत्री का भी उतना ही महत्त्व था। साहित्य में कई महामंत्रियों के नाम बच गए हैं, जैसे मगधराज अजात शत्रु के महामंत्री वर्षकार, कोसलराज विडूडभ के महामंत्री दीर्घ चारायण, वत्सराज उदयन

के महामंत्री यौगन्धरायण, मगधाधिपति चन्द्रगुप्त मौर्य के महामंत्री आर्य चाणक्य, अशोक के राधगुप्त, अवन्तिराज पालक के महामंत्री आचार्य पिशुन (अर्थ शास्त्र, टीका), चंड प्रद्योत के भरत रोहक, अवन्तिराज अंशुमान् के आचार्य घोटमुख (भगवद्दत्त, भारतवर्ष का इतिहास, पृ० २५८), कोशलराज परन्तप के कणिक भारद्वाज (अर्थशास्त्र टीका,) पंचालराज ब्रह्मदत्त के आचार्य बाभ्रव्य (मत्स्य पुराण २।३०) जो ऋग्वेदीय क्रमपाठ के कर्ता बहुत बड़े वैदिक विद्वान् भी थे। जैसा श्री जायसवाल ने लिखा है राजा के नाम के साथ उसके महामंत्री के नाम का उल्लेख महाजनपद युग और बुद्ध के युग की विशिष्ट प्रथा थी जिसकी पृष्ठभूमि ऊपर लिखी है। ये सब महामंत्री अपने शासकों की नीति के सर्वांश में निर्देश कर्ता थे।

अषडक्षीण मंत्र (५।४।७)– अष्टाध्यायी में अषडक्षीण विशिष्ट शब्द है। इसका अर्थ है वह वस्तु जिसे छह आँखों ने न देखा हो (अ + षड् + अक्ष + ईन)। काशिका ने इसके अर्थ की वास्तविक परम्परा का उल्लेख किया है—अषडक्षीणो मंत्रः। यो द्वाभ्यामेव क्रियते न बहुभिः ; अर्थात् अषडक्षीण उस मंत्र या राजा के परामर्श को कहते हैं जो दो के साथ किया जाय, बहुतों के साथ नहीं। इसका तात्पर्य था वह अतिगुप्त मंत्र जो केवल राजा और प्रधान मंत्री या आर्य ब्राह्मण के बीच हुआ हो, जिसमें और मंत्री सम्मिलित न किए गए हों (द्वाभ्यामेव क्रियते, न बहुभिः)। ऐसा मंत्र साधारण न होता था। अति महत्त्वपूर्ण राजरहस्य का द्योतक होने के कारण मंत्रि परिषद् की शब्दावली में उसके लिये पृथक् शब्द की आकांक्षा स्वाभाविक थी। उसी को दूसरे शब्दों में कहा गया— षट्कर्णो भिद्यते मंत्रः। छह आँखों या छह कानों के बीच में गया हुआ मंत्र फूट जाता है, गुप्त नहीं रहता। सौभाग्य से कौटिल्य ने इस संस्था पर ऐतिहाहिक प्रकाश डाला है। उनके अनुसार राजा कितने मंत्रियों के साथ परामर्श करे, अर्थात् मंत्रिपरिषद् में मंत्रियों की संख्या क्या हो, इस प्रश्न पर प्राचीन आचार्यों के कई मत थे। पिशुन, पाराशर, विशालाक्ष और भारद्वाज के मतों का उल्लेख करके कौटिल्य ने अपना मत दिया है कि मंत्रियों की संख्या तीन या चार होनी चाहिए (अर्थ० १।१५)। इस विषय में कणिक भारद्वाज का मत सबसे उग्र था—गुह्यमेको मंत्रयेतेति भारद्वाजः (अर्थ० १।१५)। राजा को उचित है कि गुह्य मंत्र के सम्बन्ध में अकेला ही विचार करे, अर्थात् एक स्वयं और एक मुख्य मंत्री ये ही मंत्र करें। इसी प्रकार का मंत्र 'अषडक्षीण' कहलाता था जो केवल राजा और मुख्य मंत्री की 'चार आँखों तक सीमित रहता था। भारद्वाज कारण देते हैं कि अधिक मंत्रियों के बीच में गया हुआ गुह्य मंत्र फिर गुह्य नहीं रह सकता, वह फूट जाता है—मंत्रिपरम्परा मंत्रं भिनत्ति (अर्थ० १।१५)।

अषडक्षीण मंत्र राज्य के आत्ययिक अर्थात् अत्यावश्यक कार्यों से सम्बन्धित

होते थे। कौटिल्य ने और अशोक ने शिलालेख ६ में आत्ययिक कार्यों के विषय में मंत्रणा करने का उल्लेख किया है - आत्ययिके कार्ये मंत्रिणो मंत्रिपरिषदं चाहूय ब्रूयात् (अर्थ० १।१५)। यहाँ परामर्श की दो कोटियाँ हैं— मंत्रिणः, मंत्रिपरिषदं। आवश्यक कार्य के विषय में पहले मंत्रियों से परामर्श करे और सम्भव हो तो सारी मंत्री परिषद् के साथ भी। यहाँ जो 'मंत्रिणः' पद है उससे तात्पर्य मुख्यमंत्री, दो मंत्री, तीन या चार चुने हुए मंत्रियों से हैं, जैसा कि कणिक भारद्वाज, विशालाक्ष, या कौटिल्य का मत था। पाणिनि ने विनयादि गण (५।४।३४) में 'आत्ययिक' कार्य का भी उल्लेख किया है।

सूत्र ४।३।११८ (कुलालादि गण) के अनुसार परिषत् का कार्य या निश्चय पारिषत्क कहा जाता था।

राजसभा—मंत्रिपरिषद् के अतिरिक्त बड़ी सभा राजसभा कहलाती थी (२।४।२३, सभा राजामनुष्यपूर्वा)। अनुश्रुति के अनुसार बिन्दुसार की राजसभा में पाँच सौ सदस्य थे। राजसभा के उदाहरणों में भाष्य में चन्द्रगुप्तसभा, पुष्यमित्र-सभा के नाम हैं।

अशाला च सूत्र (४।२।२४) और सभा राजामनुष्यपूर्वा (४।२।२३) सूत्र साथ मिलाकर विचार करें तो ज्ञात होता है कि राजसभा के दो अर्थ थे, एक सभा-सदों का समूह और दूसरे वह भवन जहाँ सभा होती थी। वैदिग युग में भी सभा शब्द के ये दोनों अर्थ थे (वैदिक इंडैक्स, २।४२६)। वैदिक कालीन सभा खम्भों के आधार पर टिकी होती थी, जैसा सभास्थाणु शब्द से सूचित होता है। चन्द्रगुप्त सभा का पुरातत्त्वगत प्रमाण मिल गया है। प्राचीन पाटलिपुत्र के उत्खनन में लगभग अस्सी पाषाणस्तम्भों पर उत्तम्भित विशाल सभा के अवशेष मिले हैं। ये स्तम्भ वैदूर्य के समान मृष्ट या चमकीले हैं। यही मौर्य युग की शिल्पकला थी। चन्द्रगुप्त की जो विद्वत्सभा थी उसका विवरण यूनानी लेखकों ने दिया है (दे० पूर्व पृ० २४)। मौर्ययुग से प्राचीन काल में काष्ठशिल्प का प्रचार था जैसा ४।२।-२३ सूत्र पर सुरक्षित काष्ठसभा उदाहरण से सूचित होता है। भास में राजप्रसादों के निर्माण में काष्ठशिल्प की प्रथा का स्पष्ट उल्लेख है—कन्यापुरप्रासादः एष तु काष्ठ-कर्मबहुलतया समासन्नजालत्वाच्च (अविमारक, भासनाटकचक्र, पृ० १४२)।

सभ्य—जैसे परिषद् की सदस्यता की साधुता (योग्यता या अधिकार) रखनेवाले के लिये पारिषद्य (४।४।१०१, परिषदि साधुः) शब्द था, वैसे ही सभा की सदस्यता के लिये जिनकी साधुता थी वे सभ्य कहे जाते थे (सभाया यः ४।४।-१०५, सभायां साधुः)। इसके लिये प्राचीन वैदिक शब्द सभेय था (ढश्छन्दसि, ४।४।१०६)। वैदिक सभा में ब्राह्मण और मघवन्त ही सदस्य हो सकते थे, ऐसा कुछ विद्वानों का कहना है (वैदिक इंडेक्स, २।४२६)।

पुरोहित—कौटिल्य के अनुसार मुख्य मंत्री के बाद पुरोहित के पद का महत्त्व होता था, और उसके बाद सेनापति का, और तब युवराज का (अर्थ० ५।३)। वेद और दण्डनीति दोनों का पाण्डित्य पुरोहित के लिए आवश्यक था। पाणिनि ने पुरोहितादिगण में पुरोहित का उल्लेख करते हुए उसके कर्म और भाव और पद को पौरोहित्य कहा है (पत्यन्त पुरोहितादिभ्यो यक्, ५।१।१२८, पुरोहितस्य भावः कर्म च)। पत्यन्त शब्दों के अन्तर्गत सेनापति के कर्म और भाव को सैनापत्य कहा गया है। इसी प्रकार राजा का कर्म और पद राज्य कहा जाता था।

महिषी (४।४।४८)—भारतीय राजतंत्र में पट्टमहादेवी या महिषी की वैधानिक स्थिति था। राजा के साथ उसका भी सिंहासन पर महाभिषेक किया जाता था। पाणिनि ने महिषी का उल्लेख करते हुए उसे मिलने वाले धर्मतः प्राप्य या धर्म्य देय का उल्लेख किया है जो माहिष कहलाता था (अण् महिष्यादिभ्यः,४।४।४८,महिष्या धर्म्यं माहिषम्)। इसी गण में महिषी के बाद प्रजावती (राजा की अन्य रानियों) का उल्लेख है। उन्हें मिलनेवाला आचार युक्त (धर्म्य) देय प्राजावत था। माहिष और प्राजावत धर्म्य देय वह पूजावेतन था जो समयाचार या क्रम प्राप्त बन्धेज के अनुसार पट्ट महादेवी और दूसरी रानियों को पाने का अधिकार था। कौटिल्य ने इसकी मात्रा दी है। तदनुसार राजमहिषी को ४८,००० पण और कुमार माता (दूसरी रानी) को १२,००० पण वार्षिक भत्ता मिलता था (अर्थ०, ५।६)। जातकों में प्रायः अग्गमहेसि का उल्लेख आता है (जा० ५।२२; ६।३१) और उसे पजापती (१।३९८; सं० प्रजावती) से पृथक माना है)। महिषी के अतिरिक्त और सब रानियाँ प्रजावती कहलाती थीं। बुद्ध माता के अतिरिक्त शुद्धोदन की दूसरी रानी प्रजावती गौतमी थी। पाणिनि ने असूर्यम्पश्या स्त्रियों का उल्लेख किया है जिसे टीकाकार 'राजदाराः' मानते हैं (३।२।३६)। ये राजाओं के अन्तःपुर या अवरोध में रहने वाली स्त्रियाँ थी जिन्हें अशोक के लेखों में 'ओरोधन' कहा है।

युवराज—राजा के पुत्रों को राजपुत्र (४।२।३९) और राजकुमार (६।२।५९) कहा गया है। राजकुमार शब्द के दो अर्थ थे, (१) बालक राजा (राजा चासौ कुमारश्च), (२) राजा का कुमार पुत्र (राज्ञः कुमारः; राजा च सूत्र का प्रत्युदाहरण)। सब राजपुत्रों में महिषी का पुत्र युवराज होता था जिसे आर्यकुमार कहा जाता था (आर्यश्चासौ कुमारश्च, ६।२।५८, आर्यो ब्राह्मणकुमारयोः)। आर्यब्राह्मण और आर्यकुमार, दोनों में आर्य शब्द राज शास्त्र का पारिभाषिक था जो विशिष्ट पद या अधिकार का सूचक था।[1] जातकों में आर्य कुमार को उपराजा कहा गया

१—समुद्रगुप्त की प्रयाग स्तम्भ प्रशस्ति में उसे 'आर्य' कह कर पिता ने युवराज चुना था (आर्यो हीत्युपगुह्य)। किन्तु अब श्री बहादुर चन्द्रजी छाबड़ा ने 'एह्यो हीत्युपगुह्य' शुद्ध पाठ माना है।

है। एक जातक में राजा के दो पुत्रों में से ज्येष्ठ उपराजा और कनिष्ठ सेनापति नियुक्त किया गया है। पिता की मृत्यु के बाद उपराजा राजा और सेनापति उपराजा बन गया (जा० ६।३०)।

राजकुमार—सूत्र ६।२।५९ में उपदिष्ट इस शब्द का अर्थ वह राजा था जिसे परिस्थितिवश कुमार अवस्था में ही राज्य पर प्राप्त हो गया हो। इस सम्बन्ध में यह ज्ञातव्य है कि यद्यपि कुमार अवस्था में वह राज्य का उत्तराधिकारी बन जाता था, किन्तु उसका अभिषेक वयः प्राप्त होने पर ही किया जाता था। अशोक के सम्बन्ध में ऐसा ही हुआ था।

राजकुल के प्रतीहारी परिचारक—राजकुल से सम्बन्धित बहुत से अधिकारी होते थे, जैसे राजा के निजी अंगरक्षक, दौवारिक या प्रतीहार, धार्मिक कार्यों के अध्यक्ष, एवं शरीर की परिचर्या करने वाले अनेक प्रकार के सेवक। अष्टाध्यायी में इन सबका नामतः उल्लेख है।

अंगरक्षक—राजा के शरीर की रक्षा करने वाले अंगरक्षक अधिकारी, जिन्हें कौटिल्य ने आत्मरक्षितक कहा है (अर्थ० २।३१), पाणिनि में राजप्रत्येनस् कहे गए हैं (षष्ठी प्रत्येनसि, ६।२।६०)। बृहदारण्यक उप० में उग्र, सूतग्रामणी और प्रत्येनस् का उल्लेख है (४।३।४३-४४) जहाँ उसका अर्थ दण्डरक्षक किया गया है। राजा की शरीररक्षा का कार्य बहुत दायित्वपूर्ण था और कौटिल्य ने उसके लिये विशेष विधान का आदेश दिया है। पाणिनि से ज्ञात होता है कि राजकुमारों को यह दायित्व या सम्मानित पद सौंपा जाता था। आदिः प्रत्येनसि सूत्र में (६।२।२७) कुमारप्रत्येनाः शब्द का अर्थ है वह राजकुमार जो राजा का प्रत्येनस् या अंगरक्षक नियुक्त किया गया हो।

दौवारिक—राजकुल में द्वार का सर्वोच्च अधिकारी दौवारिक कहलाता था (द्वारादीनां च, ७।३।४; द्वारे नियुक्तः)। राजकुल की ड्यौढ़ी से सम्बन्धित सब प्रकार का दायित्व इस अधिकारी के ऊपर होता था। बाण ने हर्षचरित में अनेक प्रकार के राजकुल के सेवकों का उल्लेख किया है, जैसे बाह्य प्रतीहार, आभ्यन्तर प्रतीहार, महा प्रतीहार, उन सब के ऊपर दौवारिक संज्ञक महा प्रतीहार का पद हर्ष के समय तक था। सम्भवतः उसके बाद भी यह परम्परा रही। दौवारिक का पद वैदिक युग से ही आरम्भ हो गया था। कौटिल्य ने दौवारिक का वार्षिक वेतन २४,००० पण दिया है (अर्थात् महिषी का आधा और प्रजावती रानियों से दुगना) जिससे इस पद का महत्व सूचित होता है (दौवारिक... सन्निधातारः चतुर्विंशति साहस्राः, अर्थ० ५।३)।

स्वागतिक अधिकारी राजा की दिनचर्या नियत रहती थी। कौटिल्य ने उसका उल्लेख किया है। तदनुसार कुछ विशेष अधिकारी नियुक्त रहते थे जो उन

विशेष मुहूर्तों में राजा के स्वागत और कुशल प्रश्न आदि द्वारा उसकी दिनचर्या को नियमित बनाने में सहायक होते थे। राजसभा में राजा के पधारने पर जो स्वागत करे वह स्वागतिक कहलाता था (स्वागतादीनां च, ७।३।७)। राजा के प्रातःकाल नित्य कर्म से निवृत्त होने पर जो उसके लिये स्वस्तिवाचन पाठ करता था वह सौवस्तिक कहलाता था (स्वस्तीत्याह, द्वारादिगण, ७।३।४)। कात्यायन ने इनका और उल्लेख किया है—(१) सौखशायनिक, जो प्रातःकाल राजा के निद्रा त्याग करने पर उसके रात में सुख पूर्वक शयन करने के विषय में प्रश्न करता था, अर्थात् उस विषय के कुछ श्लोक पाठ करता था (सुखशयनं पृच्छति)। लोह कुम्भी जातक में कथा है कि कोसल के राजा के यहाँ प्रातःकाल सुखशयन पूछने के लिये ब्राह्मण आया करते थे (अरुणागमनवेलया ब्राह्मणा आगन्त्वा राजानं सुखसयितं पुच्छिसु, जा० ३।४३)। (२) सौखरात्रिक—वह व्यक्ति जो सुख पूर्वक रात्रि व्यतीत होने के सम्बन्ध में कुशल प्रश्न पूछता था। (३) सौस्नातिक—जो राजा के स्नानादि से निवृत्त होने पर कुशल प्रश्न से उसका स्वागत करता था (सुस्नातं पृच्छति)। कालिदास ने राजा की दिनचर्या से सम्बन्धित सौस्नातिक का उल्लेख किया है (रघुवंश ६।६१)।

सौखशय्यिक—जो व्यक्ति राजा के लिये सुखशय्या तैयार करके अपनी जीविका चलाता था उसे सौखशय्यिक कहते थे (वेतनादि गण, ४।४।१२, सुखशय्यया जीवति)। अंगुत्तर निकाय में (३।३४) बुद्ध ने चार प्रकार की शय्याओं में चौथी तथागत शय्या उस शय्या को कहा है जो रागद्वेष रहित होने के कारण तथागत की सुख निद्रा थी। उसे ही बुद्ध ने सच्ची सुखशय्या माना था। इससे यह सूचित होता है कि राजा एवं आढ्य पुरुषों के लिये जो विशिष्ट शय्या पुष्पादि से तैयार की जाती थी वही मूल में सुख शय्या थी। उसके लिये विशेष कर्मचारी नियुक्त किए जाते थे जो सौखशय्यिक कहलाते थे। स्थानांग सूत्र में भी चार सुखशय्या कही हैं।

परिचारक—राजा की उपभोग-परिभोग विधि से सम्बन्ध रखने वाले परिचारकों के कुछ नाम सूत्र और गण पाठ में आए हैं, जैसे परिषेचक, स्नापक, उत्सादक, उद्वर्तक, (याजकादि गण, २।२।९; ६।२।१५१); प्रलेपिका, विलेपिका अनुलेपिका (महिष्यादि गण, ४।४।४८)। प्रलेपिका आदि को जो आचार नियत वेतन मिलता था। वह क्रमशः प्रालेपिक, वैलेपिक, आनुलेपिक कहलाता था। अगुरु कुंकुम चन्दन आदि से विलेपन लगाने वाली विलेपिका स्त्री को जो धर्म्य द्रव्य दिया जाता था उसे भाष्य में वैलेपिक कहा है (६।३।३७)। उत्सादक और उद्वर्तक, परिषेचक और स्नापक, इन परिचारकों के कर्तव्यों में कुछ भेद रहा होगा। ऐसे ही अनुलेपिका के काम भी कुछ भिन्न रहे होंगे। प्राचीन साहित्य से इन पर प्रकाश डालने की आवश्यकता है। उपासक दशांग सूत्र में राजा की उपभोग-परिभोग विधि का यह

क्रम कहा गया है—(१) अभ्यंग, तैल के साथ; (२) उद्वर्तन (उबटण), गन्ध मिले हुए आटे (गंधट्ट) के साथ; (३) मज्जन; (४) वस्त्र विधि, क्षौम युगल धारण करना; (५) विलेपन विधि, अगरु कुंकुम चन्दन आदि से; (६) पुष्प विधि; (७) आभरण विधि; (८) धूपन विधि; (९) भोजन विधि। कल्प सूत्र में भी राजा की प्रसाधन विधि का सविस्तर वर्णन है।

पाणिनि ने जिसे उत्सादक कहा है वह तैलाभ्यंग मर्दन करने वाला परिचारक ज्ञात होता है। उद्वर्तक का अर्थ स्पष्ट है, जो उबटना मलता है। आटे में सुगन्धित द्रव्य और तेल मिला कर या सरसों हल्दी को साथ पीस कर उबटन बनाया जाता है। उसके मलने वाले उद्वर्तक कहलाते थे। परिषेचक और स्नापक का अन्तर स्पष्ट नहीं है ज्ञात होता है कि जो उबटन आदि धो डालने के लिये पहले पानी डालते थे वे परिषेचक और जो बाद में सुगन्धित जल के घड़ों से स्नान कराते थे वे स्नापक कहलाते थे। स्नातानुलिप्त (पूर्वं स्नातः पश्चादनुलिप्तः) पद से सूचित होता है कि अनुलेपन सदा स्नान के बाद किया जाता था। चन्दन आदि शरीर में लगाने वाली परिचारिका अनुलेपिका थी। उसी में और अधिक सूक्ष्मता से अगुरु कुंकुम कपूर चन्दन आदि द्वारा निर्मित यक्षकर्दम, एवं अन्य सुगन्धियों को शरीर में लगाने वाली स्त्री-परिचारिका विलेपिका कहलाती थी जिसका उपासक दशांग की सूची में विशेष उल्लेख है। प्रलेपिका का कार्य स्पष्ट नहीं है। सम्भव है प्रलेप स्नान से पहले लगाए जाते हों।

राजयुध्वा—कल्पसूत्र में लिखा है कि राजा व्यायामशाला में जाकर मल्ल युद्ध का अभ्यास करता था। पाणिनि ने जिस राजयुध्वा का उल्लेख किया है (राजनि युधि कृञः, ३।२।९५) वह उस मल्ल के लिये प्रयुक्त होने वाली पदवी थी जो राजा को लपट कराता था (राजानं योधितवान् इति राजयुध्वा)। कौटिल्य ने भी राजा के व्यायाम को उसकी दिनचर्या का अंग माना है।

अध्याय ७, परिच्छेद २—शासन

राज्य—एकराज शासन में सर्वोपरि व्यक्ति राजा था। उसकी सहायता के लिये मन्त्रियों की परिषद् होती थी। सभा नाम की बड़ी समिति भी थी। परिषद् में मन्त्रियों की संख्या का निर्देश अष्टाध्यायी में नहीं है, किन्तु जैसा कौटिल्य ने लिखा है उनकी संख्या प्रशासन की आवश्यकता के अनुसार नियत की जाती थी। फिर भी पाणिनि ने आर्यब्राह्मण या मुख्य मन्त्री, पुरोहित, आर्यकुमार या युवराज[1] और सेनापति का सूत्रों में उल्लेख किया है। ये महत्वपूर्ण अधिकारी थे अतएव भाषा में इनसे सम्बन्धित विशेष शब्द प्रचलित थे।

१—अशोक के ब्रह्मगिरि के लघुशिला लेख में इसे आर्यपुत्र कहा गया है।

शासन तन्त्र के अधिकारी--सूत्रों में कई प्रकार के शासनिक अधिकारियों उल्लेख आया है। शासन के संचालन के लिये अधिकारी तन्त्र का संगठन हो चुका था। सरकारी सेवक साधारणतः युक्त (६।२।८१) या आयुक्त कहे जाते थे, जो कि राजकीय कार्य का निर्वाह करते थे (२।३।४०)। कौटिल्य ने राजा के आयुक्त पुरुषों का उल्लेख किया है (अर्थ० १।१५, जातक ५।१४ युत्तक पुरिसा रञ्ञो)। अशोक के कलिंग शिलालेख संख्या २ में आयुक्तों का उल्लेख है (देसा आयुतिके)।

जब राजसेवक विशेष काम पर नियुक्त किए जाते, तो वे नियुक्त कहलाते थे और उस दायित्व के अनुसार उनका नाम पड़ता था (तत्र नियुक्तः ४।४।७९)। काशिका में इनके कुछ प्राचीन उदाहरण इस प्रकार हैं--शुल्क शाला में नियुक्त अधिकारी शौल्कशालिक, खानों में नियुक्त आकरिक, बाजार के प्रबन्ध में नियुक्त आपणिक गुल्म या सेना की टुकड़ी का प्रबन्धक गौल्मिक और राजद्वार के प्रबन्ध में नियुक्त दौवारिक कहलाता था। नियुक्त अधिकारियों के कुछ नाम अगारान्ताट्टन् (४।४।७०) सूत्र में भी अन्तर्निहित है, जैसे कोष्ठागारिक, जिसका पद अध्यक्ष कोटि का था। देवागारिक देवताध्यक्ष का ही दूसरा नाम था।

राजा के निजी परिचारक या पारिपार्श्विक भी नियुक्तकोटि के अधिकारियों में गिने जाते थे। अणि नियुक्ते (६।२।७५) सूत्र पर उल्लिखित उदाहरणों से ये नाम ज्ञात होते हैं—छत्रधार, तूणीधार (तर्कश उठाने वाला), भृङ्गारधार (जल की झारी, आचमन, मुखमार्जन आदि का प्रबन्ध करने वाला)।

अध्यक्ष—शासन के सबसे महत्वपूर्ण और प्रभावशाली अधिकारी अध्यक्ष कहलाते थे। उनका उल्लेख विभाषाध्यक्षे (६।२।६७) सूत्र में पाणिनि ने किया है। कौटिल्य के अनुसार अध्यक्ष एक-एक विभाग के उच्चतम प्रशासनिक अधिकारी होते थे। अर्थशास्त्र में पच्चीस अध्यक्षों के नाम आए हैं। उनमें अश्वाध्यक्ष और गवाध्यक्ष भी हैं, जिनका उल्लेख काशिका ने ६।२।६७ के उदाहरणों में किया है।

युक्त—कौटिल्य के अनुसार युक्त उन सरकारी सेवकों की सामान्य संज्ञा थी, जो प्रत्येक अध्यक्ष के नीचे उस-उस विभाग में कार्य करते थे। प्रत्येक अधिकरण या विभाग में युक्त, उपयुक्त और तत्पुरुष—तीन प्रकार के अधिकारी होते थे (सर्वाधिकरणेषु युक्तोपयुक्ततत्पुरुषाणाम्—अर्थ० २।५)। पाणिनि ने भी युक्त संज्ञक अधिकारियों का उल्लेख किया है (६।२।८१)। प्रत्येक विभाग के अधिपति अध्यक्ष और उनके निर्देश से कार्य का निर्वाह करने वाले युक्त, ये ही दो प्रकार के अधिकारी शासन की सच्ची रीढ थे। अष्टाध्यायी में दोनों के उल्लेख से सूचित होता है कि जिस सुविहित शासन संस्था का कौटिल्य ने उल्लेख किया है, वह उनसे एक दो शती पूर्व ही अस्तित्व में आ चुकी थी। संभवतः नन्दवंशीय सम्राटों ने शासन की उस पद्धति का संगठन किया था।

पाणिनि ने अश्वशाला के युक्त अधिकारियों को युक्तारोही कहा है (६।२।८१)। उन्हें ही अर्थशास्त्र में युक्तारोहक कहा गया है (अर्थ० ५।३)। उन्हें प्रतिवर्ष ५०० से १००० कार्षापण तक पूजा-वेतन दिया जाता था। युक्तारोहक अधिकारियों का कर्तव्य अविनीत हाथी और घोड़ों को शिक्षा देकर उन्हें आरोहण के योग्य बनाना था (अविधेय हस्त्यश्वारोहण समर्थः, गणपति शास्त्री)। सामञ्ञफल सुत्त में हत्थारोह और अस्सारोह को उस समय के कार्यदक्ष पुरुषों में माना है।

पाणिनि ने पाल संज्ञक छोटे अधिकारियों का भी उल्लेख किया है (पाले, ६।२।७८)। कौटिल्य में नदीपाल, द्रव्यपाल, वनपाल, नागवनपाल, अन्तपाल, दुर्गपाल के नाम आए हैं। महाभारत में सभापाल (आदिपर्व २२२।१६), गोपाल, तन्तिपाल का उल्लेख है। अष्टाध्यायी में गोपाल, तन्तिपाल और यवपाल के नाम हैं (गोतन्तियवं पाले, ६।२।७८)। विराटपर्व (११।८) में तन्तिपाल को बड़ा अधिकारी माना गया है, जिसकी आज्ञा में और भी पाल काम करते थे। पाणिनि के यवपाल से मिलते हुए खेत्तपाल या खेतगोपक अधिकारियों का जातकों में उल्लेख है (जातक ३।५४)। सीहचम्म जातक में जौ और धान के खेतों की रखवाली करने वालों को खेत्तारक्खक कहा गया है।

युक्तसंज्ञक अधिकारियों में काशिका ने गोसंख्य और अश्वसंख्य का उल्लेख किया है, जो राजकीय घोष या पशुशाला एवं मन्दुरा में पशुओं की संख्या, आयु और उनके लक्षण-चिह्न आदि की सूची बनाने का कार्य करते थे। इस प्रकार की पशु गणना का उदाहरण महाभारत के घोषयात्रा पर्व में आया है, जहाँ दुर्योधन के घोष में पोषित गाय, बछड़े, बछिया, और ग्याभिन ओसर, इन सब की आयु, रंग और लक्षणों को ठीक प्रकार से निश्चित करने का उल्लेख है। इस गणना को स्मारण कहा गया है, जो कि इस कार्य के लिये पारिभाषिक शब्द था (वनपर्व अ० २३९-२४०)।

कारकर और क्षेत्रकर—पाणिनि ने ३।२।२१ सूत्र में कारकर और क्षेत्रकर का उल्लेख किया है, जो विशेष अधिकारियों की संज्ञाएँ थीं। खेतों की नाप जोख करके बन्दोबस्त करने वाले अधिकारी क्षेत्रकर कहे जाते थे, जिन्हें पाली साहित्य में रज्जुगाहक कहा गया है। कुरुधम्मजातक में एक अमात्य का उल्लेख है जो जनपद में जाकर खेतों को नापता और उनकी गिनती करता था। उसकी रस्सी में दो खूटियाँ बँधी रहती थीं। रज्जुग्राहक अपने सिरे की खूँटी गाड़ देता था और खेत का स्वामी दूसरा सिरा पकड़े हुए खेत में जाता और खूँटी को यथास्थान गाड़ कर नाप कराता था (जातक ३।२७६)।

कारकर संज्ञक अधिकारी विशेष प्रकार के राजकीय करों के वसूल करनेवाले थे। सूत्र ६।३।१० में कुछ विशेष करों का उल्लेख है जो देश के पूर्वी भाग में प्रचलित

थे और विशेष अवसरों पर प्रजा जिन्हें देने के लिये बाध्य की जाती थी। इनकी व्याख्या आगे की जायगी। पाली साहित्य में भी इस नाम के अधिकारियों का उल्लेख है। सामञ्ञफलसुत्त में एक गरीब किसान राजा के अधिकारी को गाँव में आया हुआ देख कर समझता है कि या तो वह कारकारक था, जो विशेष प्रकार की लाग (कार) वसूल करने के लिये आया था, या वह रासिवड्ढक था जो खलिहान में रास नाप कर राजा का भाग ले जाने के लिये आया था (इध ते अस्स पुरिसो कस्सको गहपतिको कारकारको रासिवड्ढको, दीघनिकाय, सामञ्ञफलसुत्त, २।१८)। कुरुधम्मजातक में रासिवड्ढक या रास नापने वाले सरकारी नौकर को द्रोणमापक कहा गया है। राजा को उपज का छठा भाग राजग्राह्य अंश के रूप में दिया जाता था, उसे आज तक भाग ही कहते हैं। उस भाग संज्ञक अन्न को नापने वाला वर्तन भागद्रोण कहलाता था। पाणिनि ने किसी विशेष नाप के लिये षष्ठक शब्द का उल्लेख किया है (मानपश्वङ्गयोः कन्लुकौ च, ५।३।५१, षष्ठको भागः मानं चेत् तद् भवति)। यह शब्द राजग्राह्य षष्ठ भाग के लिये ही रूढ ज्ञात होता है। इसे केवल षाष्ठ और षष्ठ भी कहा जाता था। जैसे यदि यह कहा जाय कि हमें षष्ठ चाहिए, तो उसका अभिप्राय उपज के छठे भाग से था।

दूत— राजशासन में दूत का महत्वपूर्ण स्थान था। जिस देश या जनपद में दूत नियुक्त होता था उसी के नाम से उसकी संज्ञा प्रसिद्ध होती थी। जैसे कोसल जनपद का जो दूत मथुरा में नियुक्त किया जाता था वह माथुर कहलाता था (तद् गच्छति पथि दूतयोः, ४।३।८५)। प्रतिष्कष भी दूत की संज्ञा थी (६।१।१५२; वार्तापुरुषः सहायः पुरोयायी प्रतिष्कष इत्यभिधीयते, काशिका)। समाचार लेकर जाने वाले धावन जङ्घाकर कहलाते थे (३।२।२१) जिन्हें कौटिल्य ने जङ्घारिक कहा है (अर्थ०, २।१)। एक योजन, दो योजन, पाँच योजन, दस योजन इत्यादि भिन्न-भिन्न दूरियों तक समाचार ले जाने वाले धावन उन-उन नामों से प्रसिद्ध होते थे। पाणिनि ने एक योजन दौड़ने वाले धावन को यौजनिक कहा है (योजनं गच्छति, ५।१।७४)। कात्यायन ने सौ योजन तक जाने वाले धावन के लिये यौजनशतिक इस विशेष शब्द का उल्लेख किया है। धावन संस्था का मौर्य शासन में महत्वपूर्ण स्थान था। कौटिल्य ने एक योजन से सौ योजन की दूरी तक सन्देश ले जाने वाले धावनों का उल्लेख किया है। उन्हें दस योजन की दूरी तक प्रतियोजन पर एक पण वेतन दिया जाता था। उसके बाद प्रति दस योजन की दूरी के लिये वेतन उत्तरोत्तर दुगुना होता जाता था[1] (अर्थ० ५।३)। शासन में धावन संस्था का संगठन और देशों में भी था। पाणिनि के समकालीन प्राचीन ईरान के हखामनि साम्राज्य में रव्शायार्श आदि सम्राटों ने इसी प्रकार की दीर्घाध्वग और कार्यक्षम धावन संस्था का संगठन किया था।

१—दशपणिको योजने दूतः मध्यमः। दशोत्तरे द्विगुण वेतन आयोजनशतादिति।

दूत लोग लिखित शासन ले जाते थे या मौखिक संदेश कहते थे। कौटिल्य ने पहले को शासनहर और दूसरे को परिमितार्थ दूत कहा है (अर्थशास्त्र १।१२)। इनमें परिमितार्थ शासनहर से उच्चकोटि का था। परिमितार्थ दूत जो मौखिक संदेश या मुख वचन ले जाता था उस संदेश को वाचिक कहते थे (वाचो व्याहृतार्थायाम्, ५।४।३५; पूर्वं अन्येन उक्तार्थत्वात् संदेशवाग् व्याहृतार्था इत्युच्यते—काशिका)। उस मौखिक संदेश को सुन कर जो कर्म किया जाता उसके लिये कार्मण यह पारिभाषिक संज्ञा थी (तद्युक्तात् कर्मणोऽण् ५।४।३६; वाचिकं श्रुत्वा तथैव यत्कर्म क्रियते तत्कार्मणमित्युच्यते—काशिका)।

पाणिनि ने कत्तृ‍कर इस विशेष संज्ञा का उल्लेख किया है १.२ २१)। यह शब्द अस्पष्टार्थ और साहित्य में अप्रयुक्त है। पाली में राजा के दूत या उसकी ओर से कार्य करने वाले के लिये कर्त्ता शब्द का प्रयोग हुआ है (स्टीड, पालीकोश; जातक, ६।२५९ आदि)। कौटिल्य ने सबसे ऊँची कोटि के दूत को निसृष्टार्थ कहा है (अमात्यसम्पदोपतो निसृष्टार्थः)। उसे ही अवसृष्टार्थ भी कहते थे, जिससे हिन्दी बसीठ शब्द बना है। उसे राजा की ओर से कर्त्तुमकर्तुमन्यथाकर्त्तुं सब प्रकार के अधिकार प्राप्त होते थे। कृष्ण पाण्डवों की ओर से दुर्योधन की सभा में अवसृष्टार्थ दूत बना कर भेजे गये थे। ज्ञात होता है कि कर्त्ता इसी प्रकार के राज प्रणिधि की संज्ञा थी, और उसे नियुक्त करने वाला राजा या मुख्यामात्य कत्तृ‍कर कहलाता था।

आक्रन्द—आक्रन्द के यहाँ जानेवाले धावन या दूत को पाणिनि ने आक्रन्दिक कहा है (आक्रन्दं धावति ४।४।३८)। काशिका ने इसका ठीक अर्थ नहीं समझा। रोने या विलाप की जगह को उसमें आक्रन्द कहा गया है। वस्तुतः आक्रन्द राजनीति का पारिभाषिक शब्द था। कौटिल्य के अनुसार अपने राज्य के पृष्ठ भाग में बसने वाला मित्र राजा आक्रन्द कहलाता था (अर्थशास्त्र ६।२, पश्चात् पार्ष्णिग्राह आक्रन्दः; शान्तिपर्व ६९।१९, ३२)। मनु० ७।२०७ पर कुल्लूक ने आक्रन्द का स्पष्ट अर्थ दिया है। उसके अनुसार पीठ पीछे का शत्रु राजा पार्ष्णिग्राह और मित्र राजा आक्रन्द कहलाता था। आक्रन्द की सहायता से पार्ष्णिग्राह के बल का उच्छेद या निराकरण किया जाता था। इस प्रकार अपने आक्रन्द राजा के पास जो दूत भेजा जाय वह आक्रन्दिक कहलाता था।

जो राजा अपने मण्डल में इतना शक्तिशाली होता था कि शत्रु के विरुद्ध चढ़ाई कर सके वह अभ्यमित्रीय या अभ्यमित्रीण कहलाता था (अभ्यमित्रमलंगामी ५।२।१७)।

सौराज्य—शासन का आदर्श सौराज्य अर्थात् शान्तिपूर्ण सुव्यवस्थित राज्य था। सौराज्य अवस्था प्राप्त करने का साधन जनपद में राजा की प्राप्ति थी। राजा के

अभाव में जनपद की स्थिति अराजक राष्ट्र की हो जाती थी। उस स्थिति में प्रजाएँ मात्स्यन्याय से बरतती थीं और बलवान् अबलों का भक्षण करते थे। अतएव राजनीति विशारदों का विचार था कि मात्स्यन्याय से बचने के लिये राजा का होना आवश्यक है। जातकों में और अर्थशास्त्र में कहा गया है कि मात्स्यन्याय की दुरवस्था से बचने के लिये प्रजाओं ने राजा का वरण किया। इस पृष्ठ भूमि में देखने से राजन्वान् शब्द के विशिष्ट अर्थ का परिचय होता है। इसे ही पाणिनि ने 'राजन्वान् सौराज्ये' इस परिभाषा द्वारा अभिव्यक्त किया है (८।२।१४)। राजन्वान् और अराजक जनपदों का भेद शान्तिपर्व अध्याय ६८ और अयोध्याकाण्ड अध्याय ६७ में आया है।

वैनयिक—विनयादिभ्यष्ठक् (५।३४) सूत्र अति महत्त्वपूर्ण है। विनयादि गण में पठित कई शब्द शासन की जीवित परम्परा से लिए गए थे। 'विनयः एव वैनयिकः' अर्थात् विनय शब्द से स्वार्थ में क प्रत्यय जोड़ कर वैनयिक सिद्ध होता है। इसका तात्पर्य यह है कि विनय और वैनयिक दोनों शब्दों के अर्थ में अन्तर न था। हाँ वैनयिक शब्द अधिक गौरवपूर्ण और व्यञ्जक था। इसी प्रकार सामयिक औपयिक, सामयाचारिक आदि शब्द थे। राजा, राजकुमार, राजपुरुष, प्रजा आदि के लिये अनुशासन की शिक्षा को कौटिल्य ने विनयाधिकार कहा है। वस्तुतः विनय ही राज्य का मूल है। विनय या वैनयिक के अभाव में धर्ममूलक राज्य की कल्पना असम्भव समझी जाती थी और राज्य को अराजक जनपद की स्थिति ग्रस लेती थी। शान्ति पर्व का ६८ वां अध्याय वैनयिक के आदर्श की व्याख्या करता है। यूनान के पुर राज्यों में तीन आदर्शों के समन्वय की कल्पना की गई थी—उन्नति की पूर्णतम अवस्था को प्राप्त हुआ राज्य, उच्चतम नीतिधर्म, उत्कृष्टतम नागरिक। ये तीनों एक दूसरे से अभिन्न और एक दूसरे के मूल समझे जाते थे। ठीक इसी प्रकार भारतीय जनपदों के युग में धर्म, धार्मिक राजा या राष्ट्र और धार्मिक प्रजा या लोक, इन तीनों के सह अस्तित्व या पारस्परिक अविनाभाव की कल्पना थी। इसे ही वैनयिक आदर्श माना जाता था। कोसल देश के विनयज्ञ राजा वसुमना ने अपने राज्य में वैनयिक आदर्श की स्थापना की (सर्वं वैनयिकं कृत्वा विनयज्ञः, शान्तिपर्व ६८।४)

यह सर्वभूतहितनिरत राज्य की विधि थी जिससे प्रजाएँ अत्यन्त सुख प्राप्त कर सकती थीं। इसके लिये तीन बातें आवश्यक थीं। एक धर्म, दूसरे धर्म परायणप्रजाएं और तीसरे धर्म मूलक राज्य।[१]

१—सर्वं वैनयिकं कृत्वा विनयज्ञो बृहस्पतेः। दक्षिणा नन्तरो भूत्वा प्रणम्य विधिपूर्वकम्॥
विधिं पप्रच्छ राज्यस्य सर्वभूत हिते रतः। प्रजानां हित मन्विच्छन् धर्ममूलं विशांपते॥

विनयाविगण में कुछ और भी महत्त्वपूर्ण शब्द हैं, जिनका संबन्ध राजशासन से था—

(१) सामयिक—समय को ही सामयिक कहते थे (समय एव सामयिकः) । जनपद या राष्ट्र में दो प्रकार के नियम या कानून मान्य होते थे । एक राजा द्वारा प्रचारित कानून (राजकृत धर्म) और दूसरे जो लोकसंस्थाओं के भिन्न भिन्न क्षेत्रों में रिवाज चले आते थे । श्रेणि (शिल्पियों की संस्था), निगम (वणिक् जनों की संस्था), पाषण्ड (धार्मिक संपदायों का सामूहिक संगठन) और गण (राजनीतिक संघ या संगठन), ये चार प्रकार की संस्थाएं याज्ञवल्क्यस्मृति (२।१९२) में कही गई हैं, जिनका सार्वजनिक अस्तित्व था और जिनके अपने नियम या आचार प्राप्त धर्म या रिवाज थे । उन नियमों को पारिभाषिक शब्दावली में सामयिक कहते थे (याज्ञवल्क्य स्मृति २।१८६)[२] । सामयिक प्राचीन शब्द था, उसे ही कालान्तर में स्मृतियों में संवित् कहा गया । याज्ञवल्क्य के संवित् व्यतिक्रम प्रकरण में संवित् नियमों या सामयिक का वर्णन है । श्रेणि निगम पाषण्ड गण इन संस्थाओं को याज्ञवल्क्य ने समूह कहा है, (२।१८८–१९१; अं० कारपोरेट आर्गेनिजेशन) । इनसे संबन्धित सब प्रकार के मामलों को समूह कार्य कहा गया है । इस प्रकार राष्ट्र में दो प्रकार के संवित् या समय होते थे, एक समूहकृत दूसरे राजकृत । प्राचीन धर्मशास्त्रों ने दोनों को ही कानून की प्रामाणिकता प्रदान की थी । वर्तमान न्यायालयों का निर्णय भी ऐसा ही है ।

(२) सामयाचारिक—आपस्तम्ब धर्मसूत्र में सामयाचारिक धर्मों का उल्लेख आया है (अथातः सामयाचारिकान् धर्मान् व्याख्यास्यामः, जायसवाल हिन्दूराजतन्त्र २।१०६) । सामयाचारिक धर्म से तात्पर्य सामाजिक रीति रिवाजों से था, जो कि धर्मशास्त्रों के क्षेत्र में भी मान्य समझे जाते थे । पाणिनि ने स्वयं जिन धर्म्य देयों का उल्लेख किया है, वे भी सामयाचारिक धर्म या रीति रिवाज के अनुसार ही मान्य समझे जाते थे । सप्तमी हरिणौ धर्म्येऽहरणे (६।२।६५), तस्य-धर्म्यम् (४।४।४७) सूत्रों में इसी प्रकार के परम्परा प्राप्त या अनुवृत्त आचार को

केन भूतानि वर्धन्ते क्षयं गच्छन्ति केन च । कमर्चन्तो महाप्राज्ञ सुखमत्यन्तमाप्नुयुः ॥
इति पृष्टो महाराजा कौसल्येनामितौजसा । राजसत्कार मव्यग्रः शशंसास्मै बृहस्पतिः ॥
राजमूलो महाराज धर्मो लोकस्य लक्ष्यते । प्रजा राजभयादेव न खादन्ति परस्परम् ॥
राजाह्यवाखिलं लोकं समुदीर्णं समुत्सुकम् । प्रसादयति धर्मेण प्रसाद्य च विराजते ॥

(२) निज धर्माविरोधेन यस्तु सामयिको भवेत् ।
सोऽपिय त्नेन संरक्ष्यो धर्मो राजकृतश्चयः ॥
सामयिकः = समयात् निष्पन्नः युगधर्मः (मिताक्षरा)

धर्म कहा गया है। इन्हें ही समयाचार या सामयाचारिक धर्म कहते थे। अर्थशास्त्र में समयाचारिक विशेष प्रकरण का नाम है (अर्थ ५।५)। इस प्रकरण में समयाचारिक के अन्तर्गत समाहृत सन्निधाता आदि राज्य अधिकारियों द्वारा जो आय विविध करों से की जाती थी, उसका विशेष रूप से उल्लेख है। इस आय के स्रोत क्या थे, इसका कुछ संकेत पाणिनीय सूत्रों के उदाहरणों से मिलता है, जैसे तस्य धर्म्यम् सूत्र के उदाहरणों में शुल्कशाला, आकर, आपण आदि से होने वाली आय को समयाचार धर्म के अन्तर्गत माना है। लोक में जो बहुत तरह के लागभाग थे, उनका समर्थन किसी राजाज्ञा से नहीं, बल्कि रिवाज के कारण होता था किसी माल पर कितनी चुंगी लगे यह भी पुराने बन्धेज की बात थी। हाट बाजार लगाने के लिये दुकानों पर कितनी वसूली की जाय इत्यादि शौल्कशालिक और आपणिक के रूप में उगाही की जाती थी। उन सब के मूल में आचार या रिवाज को ही प्रधानता दी जाती थी। इसी प्रकार समाज में भिन्न भिन्न स्तरों पर कार्य करने वाले लोगों को कितना पारिश्रमिक दिया जाय, अथवा महिषी प्रजावती पुरोहित आदि राज्य के विशिष्ट अधिकारी या संमानित व्यक्तियों को कितना पूजा-वेतन दिया जाय, अथवा प्रलेपिका, विलेपिका, अनुलेपिका, मणिपाली आदि परिचारिकाओं को उनकी सेवा के बदले में कितना नेग दिया जाय, सबका निर्णय लोकाचार या समयाचार या रिवाज के अनुसार होता था। इन सबको पाणिनि ने धर्म्य अर्थात् आचारयुक्त देय कहा है ४।४।४७-४८), यहां तक कि गरमाई हुई घोड़ी पर नर घोड़ा डालने के एवज में मालिक को क्या मुआवज़ा दिया जाय, इस जैसी छोटी बात को भी धर्म्य या समयाचारिक या आचारयुक्त देय माना गया है। इससे सूचित होता है कि लाग, भाग, ताग, पाग, पुच्छी, उगाही, महसूल, बराड़ आदि आदि अनेक प्रकार के छोटे बड़े घर दुआरी हाट चौंतरा जमा माल आदि से संबन्धित करों का निश्चय सामयाचारिक के अन्तर्गत किया जाता था।

(३) औपयिक - साम, दान, भेद, दण्ड इन चार उपायों से संबन्ध रखने वाली राजनीति और उसकी प्राप्ति के अनेक साधनों को औपयिक कहा जाता था। उनका विस्तार अर्थशास्त्र के शासनाधिकार प्रकरण में किया गया है (अर्थ० २।१०।)

(४) व्यावहारिक—इसके अन्तर्गत धर्म या कानून का वह समस्त अंश आता है, जिसे कौटिल्य ने व्यवहार स्थापना कहा है। इसके अंग ये थे - विवाह, दायविभाग, वास्तुविक्रय, समय, ऋणादान, औपनिधिक (न्यास या निक्षेप) दास कर्मकर कल्प, संभूय समुत्थान (साझे का व्यापार), साहस (उग्र अपराध) वाक्पारुष्य, दण्डपारुष्य आदि। ये ही कालान्तर में धर्मशास्त्रों के व्यवहाराध्याय का विषय बन गए।

(५) आत्ययिक—शासन के सम्बन्ध में अत्यावश्यक कार्य आत्ययिक कहलाते थे। कौटिल्य ने लिखा है कि आत्ययिक कार्य के विषय में कुछ प्रधान मंत्रियों के साथ या समग्र मंत्रिपरिषद् का अधिवेशन बुलाकर तत्काल परामर्श करना चाहिए (अर्थ० १।१५)। अशोक ने कहा है—महामात्रों को जो आत्ययिक कार्य सौंपा गया हो, उसके सम्बन्ध में यदि (मंत्रियों की) परिषद् में कुछ मतभेद उपस्थित हो जाय या परिषद् उसे अस्वीकार कर दे, तो मुझे तुरन्त सर्वत्र सब काल में सूचना देनी चाहिए। ऐसी मेरी आज्ञा है (य च किं चि मुखतो आञपयामि स्व दापकं वा स्रावापकं वा य व पुन महामात्रेषु आचायिकं आरोपितं भवति ताय अथाय विवादो निझती व संतो परिसायं आनंतरं पटिवेदेतव्यं मे सर्वत्र सर्वं काले एवं मया आञपितं, गिरनार शिलालेख)।

(६) सामुत्कर्षिक - राज्य के समुत्कर्ष या उदयसम्बन्धी आयोजन जिनमें जनपदसम्पत्, अमात्यसम्पत्, कोशसम्पत्, मित्रसम्पत् की प्राप्ति एवं मंत्रशक्ति, प्रभुशक्ति और उत्साह शक्ति की सिद्धि सम्मिलित थीं। कौटिल्य के अनुसार इनसे युक्त होकर ही राजा श्रेष्ठता प्राप्त करता है (ताभिरभ्युच्छ्रितो ज्यायान् भवति, ६।२)

(७) साम्प्रदानिक—राजकीय दान से सम्बन्धित कार्यों के लिये यह शब्द प्रयुक्त होता था।

(८) सामाचारिक—जैन धर्म में साधुओं के आचार सम्बन्धी नियम सामाचारिक कहे जाते हैं। सम्भवतः राजसभा उत्सव आदि के कार्यों के सम्पादन की उचित विधि के लिये यह शब्द प्रयुक्त होता था।

(९) सामूहिक—श्रेणि, पूग, निगम, पाषण्ड, गण आदि को याज्ञवल्क्य स्मृति में 'समूह' कहा गया है। इनसे सम्बन्धित कार्य सामूहिक कहे जाते थे (समूहकार्य आयातान्, याज्ञ० २।१८६, समूहकार्य प्रहितो यल्लभेत् तदर्पयेत्,२।१९०)।

विनयादिगण की यह शब्दावली इंगित करती है कि गणपाठ के शब्दों का संकलन तत्कालीन भाषा की जीवित परम्परा से किया गया था।

शासन सम्बन्धी फुटकर बातें—वेतनादिभ्यो जीवति सूत्र (४।४।१२) में वेतनभोगी सेवकों को वैतनिक कहा गया है। कौटिल्य ने भृत्यभरणीय प्रकरण में राजकर्मचारियों के वेतनों की लम्बी सूची दी है। (अर्थ० ५।३)। पतंजलि ने भी भृत्यभरणीय का उल्लेख किया है। वेतन देने का आधार मासिक था। उसे भृतकमास कहते थे (भाष्य)। कर्मनिष्ठ अधिकारियों को अर्थशास्त्र में कर्मण्य कहा गया है (एतावता कर्मण्या भवन्ति, ५।३)। पाणिनि ने भी कर्मण्य शब्द का उल्लेख किया है (कर्मवेषाद्यत् ५।१।१००)। उपदा या उत्कोच लेने देने का भी उल्लेख है (५।१।४७)। उदाहरण के लिये, जिस कार्य में पाँच रुपये की रिश्वत दी जाय वह पंचक कहलाता था। काशिका ने शत और सहस्र की उपदा

के लिये प्रयुक्त शब्दों का भी उल्लेख किया है (शत्य-शतिक, सहस्र — काशिका)। अवस्तार (३।३।१२०) का तात्पर्य हिसाव किताब की गड़बड़ी से था। अर्थ शास्त्र में भी सरकारी दफ्तरों में होनेवाले गबन (कोशक्षय) के सिलसिले में इसका उल्लेख है (अर्थ० २।८)।

कौटिल्य ने औपनिषदिक शब्द का प्रयोग उन निन्द्य उपायों के लिये किया है जिनका प्रयोग गुप्तचर विभाग में अधर्मिष्ठ व्यक्तियों के लिये किया जाता था। पाणिनि के अनुसार ऐसा व्यक्ति जो इस प्रकार के जघन्य कृत्यों द्वारा जीविका चलाता था औपनिषदिक कहा जाता था (उपनिषदा जीवति, गणपाठ ४।४।१२)। इस प्रकार की हरकतों के लिये भाषा में 'उपनिषत्कृत्य' यह विशेष प्रयोग चल गया था (जीविकोपनिषदावौपम्ये, १।४।७९)। इस सम्बन्ध में विष्य शब्द की ओर ध्यान जाता है (विषेण वध्यः, ४।४।९१)। गुप्तचर विभाग में रसद लोग इस प्रकार के प्रयोग करते थे (अर्थ० १।१२, ५।३)।

आयस्थान—राष्ट्र या जनपद में आय के स्रोतों को पाणिनि ने आय स्थान कहा है। ठगायस्थानेभ्यः सूत्र (४।३।७५) का उद्देश्य आयवाची शब्दों को नियमित करना है। जो आय जिस स्रोत से प्राप्त होती वह उसी नाम से पुकारी जाती थी। आज भी राजकीय आय व्यय के लेखे में आयवाची शब्दों की योजना इसी नियम के अनुसार की जाती है। पतंजलि ने प्राचीन उदाहरणों का संकलन करते हुए शुल्कशाला या चुंगी से प्राप्त होनेवाली आयको शौल्कशालिक (शुल्क-शालाया आगतः), आपण या तहबजारी से प्राप्त आय को आपणिक एवं गुल्म से प्राप्त आय को गौल्मिक कहा है (४।२।१०४ भाष्य)। खानों से प्राप्त आय आकरिक कही जाती थी (काशिका)। पाणिनि ने स्वयं भी शुल्क-शाला में ली जानेवाली चुंगी का उल्लेख किया है (५।१।४७ , तदस्मिन् वृद्ध्याय लाभ शुल्कोपदा दीयते)। चुंगी की जितनी रकम हो उसी के अनुसार माल का नाम पड़ता था, जैसे पंचकः, दशकः, शतिकः, साहस्रः, वह माल जिसपर ५,१०, १०० या १००० कार्षापण चुंगी दी गई हो (पंच अस्मिन् शुल्कः दीयते)।

शौण्डिक—पाणिनि ने शौण्डिक नामक आय का उल्लेख किया है (शुंडिका-दिभ्योऽण् , ४।३।७६)। मद्य विभाग से प्राप्त आय का यह नाम था। कौटिल्य के अनुसार मद्य तैयार करने का अधिकार मौर्य शासन ने अपने लिये सुरक्षित कर रक्खा था जिसकी व्यवस्था सुराध्यक्ष करता था (सुराध्यक्षः सुराकिण्व व्यवहारान् दुर्गे जनपदे स्कन्धावारे वा तज्जातसुराकिण्व व्यवहारिभिः कारयेत्, अर्थ० २।२५)। मद्य खींचने का भवका शुंडिका कहलाता था क्योंकि उसमें हाथी के सूँड जैसी लंबी नली लगी रहती थी। उसके कई नमूने तक्षशिला से प्राप्त हुए हैं।

फुटकर आय साधन—शुंडिकादि गण में कुछ छोटे-मोटे फुटकर आय स्थानों

का उल्लेख है, जैसे स्थण्डिल (हाट पैंठ के लिये बनाए हुए चबूतरे जिनसे वसूल होने वाली तहबजारी की आमदनी राजकीय कोष में जाती थी), उदपान (कुओं की सिंचाई आदि की आय), उपल (पत्थर की खान), तीर्थ (नदी की उतराई जिसे अर्थ शास्त्र में तरदेय कहा है), भूमि (भूमि से प्राप्त लगान), तृण (घास आदि के जंगलों की आय), पर्ण (पलाश आदि वृक्षों के पत्तों से आय जो पत्तल बनाने के काम में आते थे)। कौटिल्य ने भी जड़ी-बूटी, सुगन्धित, फूल, फल, हरी साग-सब्जी, लकड़ी, बाँस, पत्थर, मिट्टी के बर्तन आदि से होने वाली आय का उल्लेख किया है (अर्थ शास्त्र, कोशाभिसंहरण प्रकरण, ५।२)। कुप्याध्यक्ष (२।१७) प्रकरण में तो वनलता, घास, कन्दमूल फल, पशुओं के चमड़े, हड्डी, सींग आदि के ठेकों से प्राप्त आय का भी उल्लेख है। आज कल भी शासन की ओर से मूँज, बबई भाबर आदि घासों के जंगल, एवं जंगली पत्ते, फूल, फलों के ठेके नीलाम किए जाते हैं।

गौल्मिक—भाष्य में गुल्म से प्राप्त होने वाली गौल्मिक आय का विशेष उल्लेख है (४।२।१०४)। गुल्म वृक्षों के जंगल और सैनिक टुकड़ी को कहते थे। शब्द रूप की दृष्टि से दोनों प्रकार की आय गौल्मिक कही जायगी। कौटिल्य ने शुल्क, वर्तनी, आतिवाहिक, गुल्म, तर आदि करों का उल्लेख किया है (अर्थ० २।१६, २।३५)। श्री गणपति शास्त्री ने गुल्म देय की व्याख्या एक स्थान पर वनस्थानिक देय और दूसरे स्थान पर रक्षिसंघ देय की है। जंगली थाने और रक्षापुरुष इन दोनों का संकेत एक ही है, अर्थात् रक्षा के लिये चौकी[1] या थाने जो राज्य की ओर से विशेषतः निर्जन स्थान या जंगलों में स्थापित किए जाते थे जिससे सार्थवाह या शकटवाणिक् एवं यात्री निर्विघ्न यात्रा कर सकें। इस रक्षाप्रबन्ध के लिये जो कर लिया जाता था उसकी आय गौल्मिक कहलाती थी। मनु से इस व्यवस्था के विषय में विशेष जानकारी प्राप्त होती है। जैसे छोटे बड़े गाँव होते उन्हीं के अनुसार दो तीन या पाँच गावों के बीच में एक गुल्म या थाना स्थापित किया जाता था। वे सब सौ गावों के बीच में स्थापित बड़े रक्षास्थान या थाने के साथ जुड़े रहते थे[2]। प्रत्येक गुल्म के सैनिक अपने कार्य में सुशिक्षित (आप्त) और

(१) प्राचीनकाल में इस प्रकार की रक्षा चौकियों को स्थानक या गुल्म कहते थे, उसीसे निकला हुआ 'थाना' शब्द मध्यकालीन हिन्दी में भी प्रयुक्त हुआ है (पद्मावत ५३२।६)। १२२५ को लिखी हुई वस्तुपाल तेजःपाल प्रशस्ति में इन्हें 'रक्षाचतुष्किका' अर्थात् रक्षा के लिये स्थापित चौकियाँ कहा गया है।

(२) द्वयो स्त्रयाणां पञ्चानां मध्ये गुल्ममधिष्ठितम्।
तथा ग्रामशतानां च कुर्याद् राष्ट्रस्य संग्रहम्॥ मनु० ७।११४।
गुल्मांश्च स्थापयेदाप्तान् कृत संज्ञान् समन्ततः।
स्थाने युद्धे च कुशलान भीरुनविकारिणः॥ मनु० ७।१९०

विशेष प्रकार का वेष आदि धारण किए हुए रहते थे जिससे उनकी पहचान हो सके (कृतसंज्ञ)। इन रक्षा पुरुषों को सैनिक न कहकर वर्तमान पुलिस के अनुरूप मानना अधिक उचित होगा, यद्यपि दोनों के संगठन में भेद की रेखा नाममात्र ही थी। गुल्म स्थावर और जंगम भेद से दो प्रकार के होते थे, अर्थात् एक जो अपने थाने पर ही नियत रहते थे और दूसरे जो हल्के भर में गश्त लगा कर तस्करों का प्रतिषेध करते थे। मनु के अनुसार गुल्म की तैनाती इन इन स्थानों पर की जाती थी, जैसे चौराहा (चतुष्पथ), खेल तमाशों के स्थान और आयोजन (समाज प्रेक्षण), न्यायालय (सभा), हाट, बाजार, मंडी, चकला, भट्टी (अपूपशाला वेश मद्यान्न विक्रय), मन्दिर, वाटिका, उद्योग धन्धों के स्थान, निर्जन बस्ती, वन आदि (मनु० ९।२६४, २६६; शान्ति पर्व ६९।६।७)। गुल्म देय का उल्लेख दिव्यावदान में कई स्थानों पर आया है जिससे ज्ञात होता है कि गुप्त काल तक गुल्म देय या गुल्म कर व्यापारियों से वसूल किया जाता था। राजा कनकवर्ण ने एक बार अपनी उदारता वश सोचा कि मैं ऐसा प्रबन्ध करूँ जिससे सब व्यापारियों को अपने माल पर न चुंगी देनी पड़े न गुल्म कर।[1] शूरपारक बन्दरगाह के सामुद्रिक व्यापारी पूर्ण ने समुद्र यात्रा पर चलने से पूर्व घोषणा करा दी कि जो व्यापारी मेरे संग व्यापार यात्रा के लिये उठेगा उसे चुंगी, गुल्म कर, और जहाज का भाड़ा न देना पड़ेगा (अशुल्केन अगुल्मेन अतरपण्येन, दिव्यावदान पृ० ३४)।

कुछ विशेष कर—भारत के पूर्वी भाग में कुछ विशेष कर लगाए जाते थे जिनके नामों का रूप सूत्र ६।३।१० में नियमित किया गया है। इन्हें कर के स्थान में कार कहा जाता था (कारनाम्नि च प्राचां हलादौ; प्राचां देशे यत्कारनाम तत्र-काशिका)। कार वसूल करने वाले अधिकारी कारकर कहलाते थे, जिनका पाणिनि ने भी उल्लेख किया है (३।२।२१)। दीघनिकाय के सामञ्ञफलसुत्त में कारकर अधिकारी का वर्णन आया है। किसी राजपुरुष को गाँव में आया हुआ देख कर गाँव का निर्धन किसान सोचता है कि या तो यह कार वसूल करने वाला कारकारक अधिकारी होगा या खलिहान की राश नापने वाला रासवड्डक राज पुरुष (सामञ्ञफलसुत्त २।३८)।

काशिका में इस प्रकार के करों के ४ प्राचीन उदाहरण हैं—

(१) सूपेशाणः—एक शाण सिक्के की प्रत्येक चूल्हे या घर से वसूली।

(२) मुकुटेकार्षापणम्—एक चाँदी के कार्षापण सिक्के की प्रत्येक मुकुट या वयस्क पुरुष से वसूली। इसे मध्यकालीन उड़ीसा के शिलालेखों में मुण्डमोल अर्थात् प्रत्येक मुण्ड या व्यक्ति पीछे लगनेवाला कर कहा गया है। इस समय इस तरह के कर को पाग कहते हैं, अर्थात् प्रत्येक पगड़बन्द पर लागू होने वाला

१—यन्वहं सर्वं वणिजोऽशुल्कान् अगुल्मान् मुंचेयम् (दिव्यावदान पृष्ठ २९१)।

कर। इसी से मिलता-जुलता कर ताग कहलाता है जो कि न केवल वयस्क व्यक्तियों से बल्कि समस्त तगड़बन्द व्यक्तियों से जिसमें बच्चे भी शामिल होते हैं, वसूल किया जाता है।

(३) दृषदिमाषकः–वह कर, जिसमें चाँदी का एक माषक सिक्का प्रत्येक चक्की के पीछे वसूल किया जाय। एक संयुक्त परिवार में जितनी चक्कियाँ हो, प्रत्येक, को यह कर देना पड़ता था।

(४) हलेद्विपदिका, हलेत्रिपदिका— अर्थात् वह कर जिसमें २ या ३ पाद नामक सिक्के हल पीछे वसूल किए जाँय। इस प्रकार के कर लाग थे जो समय समय पर प्रजा को देने पड़ते थे। उदाहरण के लिये जातकों में उल्लेख आता है कि राजकुमार के जन्म के समय प्रजाओं ने एक एक कार्षापण सिक्का राजमहल में लाकर दिया, जिसे खीरमूल काहापण कहा गया है।

पाणिनि ने हिसाब के लिये गणन और हिसाब भरपाई करने को विगणन कहा है (१।३।३६)। कौटिल्य ने लेखा या हिसाब किताब के अध्यक्ष को गाणनिक और उसके मातहत काम करनेवालों को कार्मिक कहा है। अष्टाध्यायी में काश्यादिगण (४।२।११६) में कारणिक अधिकारी और व्रीह्यादिगण (५।२।११६) में कार्मिक का उल्लेख है, जो वेही दोनों अधिकारी ज्ञात होते हैं। हिसाब की काटकपट के लिये अवस्तार शब्द था (३।३।१२०)। काशिका में ३।२।१२६ सूत्र पर एक साभिप्राय प्राचीन उदाहरण है--'तिष्ठन्तोनुशासति गणकाः, अर्थात् गणक लोग अपने कार्यालय में बैठे हुए और सब विभागों के लोगों पर हुकूमत चलाते हैं।

अध्याय ७, परिच्छेद ३—धर्म और न्याय

अष्टाध्यायी में धर्म शब्द के दो अर्थ हैं। एक पुण्य का काम, जैसे धर्मं चरति धार्मिकः (४।४।४१)। दूसरे समयाचार या रीति-रिवाज, जैसे धर्मादनपेतं धर्म्यम् (४।४।९२)। लोकाचार या रिवाज के अनुसार नियत देय भी धर्म्य कहलाते थे (४।४।४७; ६।२।६५) उदाहरण के लिये शुल्कशाला में माल पर लगने वाली चुंगी धर्मदेय कहलाती थी। धर्म शब्द का यह दूसरा अर्थ धर्म सूत्रों की पृष्ठभूमि में विद्यमान था। आपस्तम्ब का पहला सूत्र इस प्रकार है—अथातः समयाचारिकान धर्मान् व्याख्यास्यामः (आप० धर्म० १।१।१)।

वैदिक चरणों के अन्तर्गत धर्म का अध्ययन एक विषय के रूप में स्वीकृत हो गया था, जैसा चरणेभ्यो धर्मवत् (४।२।४६) सूत्र से ज्ञात होता है। कात्यायन ने स्पष्ट कहा है कि वैदिक चरणों से सम्बन्धित निजी आम्नाय ग्रन्थ और धर्मग्रन्थ थे

(चरणाद् धर्माम्नाययोः ४।३।१२० वा० ११)। धर्मसूत्रों के युग के ठीक बाद ही पाणिनि व्याकरण का निर्माण हुआ होगा। दोनों में कालकृत सान्निध्य था।

न्याय शब्द का अर्थ पाणिनि ने अभ्रेष (३।३।३७) लिखा है अर्थात् जो परम्परा प्राप्त आचार या विधि है, उसका अस्खलन या अनिराकरण यही न्याय था। न्याय के अनुकूल कर्म या आचार न्याय्य कहलाता था (४ ४।९२ न्यायदनपेतं न्याय्यम्) भ्रेष और अभ्रेष शब्द का प्रयोग गोपथ ब्राह्मण में इन्हीं अर्थों में आया है (अभ्रेषं नियन्ति, गोपथ पूर्व ३।३, भ्रेषं न्येति, वही ३।२; और भी याज्ञवल्क्य २।६६, अर्थशास्त्र)।

न्यायालय—व्यवहार अर्थात् धर्मस्थ और कण्टकशोधन सम्बन्धी (दिवानी फौजदारी) कानून के लिये पाणिनि ने व्यावहारिक शब्द का उल्लेख किया है (विनयादिगण ५।४।३४, व्यवहार एव व्यावहारिकः)। अश्वपत्यादिगण में पठित धर्मपति शब्द संभवतः धर्माध्यक्ष के लिये प्रचलित था (४।१।८४)। वादी प्रतिवादी जिसे विवाद का मध्यस्थ बनाते, वह स्थेय कहलाता था (१।३।२३, विवादपद-निर्णेता लोके स्थेय इति प्रसिद्धः—काशिका)। वादी या अभियोक्ता के लिये परिवादी (३।२।१४२) या परिवादक (३।२।१४६) शब्द प्रचलित थे। गवाह साक्षी कहलाते थे, किन्तु उनके प्रमाण्य का आधार घटना का साक्षाद्दर्शन था (साक्षाद्द्रष्टरि संज्ञायाम्, ५।२।९१)। कालान्तर में सुने हुए वृत्तान्त के आधार पर गवाही देने वाले भी साक्षी कहे जाने लगे (समक्षदर्शनात् साक्षी, श्रवणाद्वा, विष्णुधर्मसूत्र ८।१३) जो व्यक्ति जिस विषय में साक्ष्यज्ञान रखता था, वह उसी नाम से अभिहित होता था, जैसे गौ के सम्बन्ध में उत्पन्न विवाद के प्रसंग में उस विषय की जानकारी रखने वाला व्यक्ति गोसाक्षी कहलाता था और उसकी गवाही वहीं तक उपयोगी या मान्य समझी जाती थी (२।३।३९, स्वामीश्वराधिपतिदायादसाक्षिप्रतिभूप्रसूतैश्च)।

शपथ—साक्षी होने वाले व्यक्तियों को नियमानुसार शपथ दिलाई जाती थी। प्राचीन प्रथा के अनुसार ब्राह्मणवर्ण के साक्षी को गवाही देने से पूर्व यह शपथ लेनी पड़ती थी कि मैं जो कुछ कहूँगा, सच कहूँगा। ऐसे ही इतर जाति के लोगों के लिये भी शपथ लेने के नियम थे। मनु ने उन प्राचीन नियमों का उल्लेख किया है (सत्येन शापयेद् विप्रम्—मनु ८।११३)। पाणिनि ने भी इस प्रथा का उल्लेख करते हुए उन प्रयोगों की सिद्धि की है, जो इस सम्बन्ध में प्रचलित थे। सत्यादशपथे (५।४।६६) सूत्र से दो प्रकार के शब्द रूप सिद्ध होते हैं—(१) सत्या-करोति अर्थात् सौदा पक्का करने के लिये साई देता है; (२) सत्यं करोति अर्थात् गवाह को शपथ दिलाता है कि मैं सच कहूँगा।

जमानत देने वाला व्यक्ति प्रतिभू कहलाता था, जैसे गोप्रतिभू, अर्थात् गाय या बैल के सम्बन्ध में जो जामिन बना हो (२।३।३९, भुवः संज्ञान्तरयोः ३।२।१७९, धनिकाधमर्णयोरन्तरे यस्तिष्ठति स प्रतिभूरुच्यते, काशिका)।

व्यवहार—व्यवहार के अन्तर्गत कई प्रकरणों का समावेश किया जाता था। उनमें दाय के सम्बन्ध में कुछ सूचना पाणिनि ने सूत्र में दी है। दाय ग्रहण करने वाला दायाद कहलाता था और जो वस्तु या भाग उसे मिलता था, उसे दायाद्य कहते थे (दायाद्यं दायादे ६।२।५)। साक्षी और प्रतिभू के समान ही जो जिस वस्तु का दायाद होता था, उसी के अनुसार उसकी संज्ञा होती थी, जैसे गोदायाद। दाय या उत्तराधिकार में कई व्यक्ति हिस्सा बाँटने वाले हों, तो प्रत्येक का भाग अंश और पाने वाला अंशक कहलाता था (अंशं हारी ५।२।६९; मनु ९।१५०–१५३)। हारिन् शब्द में णिनिप्रत्यय (आवश्यके णिनिः) का संकेत यह है कि जो अंशक व्यक्ति होता था, उसे अपना अंश पाने का कानूनी अधिकार था। दायाद और अंश दोनों पारिभाषिक शब्द धर्मसूत्रों में प्रचलित थे (वशिष्ठ धर्मसूत्र १७।२५; १७। ४८–४९,५१,५२)।

अपराध—उग्र फौजदारी अपराधों के लिये साहसिक्य शब्द था (१।३।३२)। कई प्रकार के अपराधों का उल्लेख आता है, जैसे स्तेय (५।१।१२५) डकैती (लुण्टाक = डाकू ३।२।१५५), राहज़नी (परिपन्थं च तिष्ठति ४।४।३६)। पाणिनि ने चोर के अर्थ में ऐकागारिक शब्द का उल्लेख किया है (ऐकागारिकट् चौरे ५।१।११३)। मज्झिम निकाय में ५ प्रकार के चोर कहे गए हैं—सन्धिछेदक, गामघात चोर, पन्थघात चोर, पेसनक चोर, अटवीचरो (संयुत्त निकाय २।१८२) इनमें से पन्थघात चोर ही पाणिनीय पारिपन्थिक थे। पाली साहित्य में ऐकागारिक शब्द का प्रयोग भिन्न अर्थ में है। गोतम ने अपने को एकागारिक, द्व्यागारिक सप्तागारिक अर्थात् एक घर, दो घर या सात घर से भिक्षा मांगकर लानेवाला भिक्षु कहा है (महासीहनाद सुत्तन्त)।

सूत्रों में ऐसे कितने ही प्रयोगों का उल्लेख है, जो कुत्सा निन्दा गाली गलौज आदि के लिये प्रयुक्त होते थे।

दण्ड—किसी अपराध के लिये न्यायालय द्वारा जो रुपये पैसे का जुर्माना किया जाता था, उसे दण्ड कहा गया है (दण्डव्यवसर्गयोश्च, ५।४।२), जैसे 'द्विपदिकां दण्डितः' 'द्विशतिकां दण्डितः' अर्थात् चांदी के दो पाद सिक्के या दो सौ रुपए का जुर्माना। किन्तु दण्डशब्द का इससे भी विस्तृत अर्थ था, जिसके अन्तर्गत शारीरदण्ड की गणना भी होती थी, जैसे दण्डमर्हति दण्ड्यः ५।१।६६)। यास्क ने इस अर्थ में दंड्य शब्द का प्रयोग किया है[1] और मूसल की मार के योग्य अपराधी को मुसल्य कहा है।

कुमारघात, शीर्षघात (३।२।५१) भ्रौणहत्य (६।४।१७४) ब्रह्महत्या (ब्रह्महा ३ २८७) आदि महापातकों का भी उल्लेख है।

---

१. दण्ड्यः पुरुषो दण्डमर्हतीतिवा, दण्डेन सम्पद्यत इतिवा (निरुक्त २।२)। यास्क ने यह उदाहरण यह दिखाने के लिये दिया है कि लोक में वृत्तियों या अर्थों का

अध्याय ७, परिच्छेद ४—सेना

सेनानी—सूत्र २।४।२ में सेना के विविध अंगों का उल्लेख है (द्वन्द्वश्च प्राणि-तूर्य सेनाङ्गानाम्)। ये सेनाङ्ग कहलाते थे और प्राचीनकाल से चार ही चले आते थे, जैसे हस्त्यारोह, अश्वारोह, रथी और पदाति (हस्त्यारोहा रथिनः सादिनश्च पदातयश्च, उद्योगपर्व ३०।२५)। दो सेनाङ्गों की पारस्परिक घनिष्ठता सूचित करने के लिये उनके नामों के जोड़े एकवचनान्त प्रयुक्त होते थे, जैसे रथिकाश्वारोहम् रथिकपादातम्। पैदल सेना पदाति कहलाती थी। साल्व जनपद के पैदल सैनिकों का विशेषरूप से उल्लेख किया गया है (अपदात्तौ साल्वात् ४।२।१३५ सूत्र का प्रत्युदाहरण)। अश्वारोह सादि कहलाते थे (६।२।४०; सादिपदातियूनाम्—भीष्मपर्व ६०।२०)। सांडनी सवारों का विशेष रूप से उल्लेख किया गया है, जिन्हें उष्ट्रसादि कहते थे। ऊँट और खच्चरों की मिली-जुली टुकड़ी उष्ट्रवामि कहलाती थी (उष्टः सादिवाम्योः ६।२।४०)।

सेना के साथ अनेक प्रकार के अन्य अधिकारी भी रहते थे, जो उसकी बहिरंग व्यवस्था के लिये आवश्यक थे। उद्गात्रादिगण में पत्तिगणक और रथगणक नामक अधिकारियों का उल्लेख है, जो सेना के पैदल या रथ विभाग से संबन्धित हिसाबकिताब का काम करते थे (५।१।१२९)। पृतनाषाट् में पृतना प्राचीन वैदिक शब्द था (८।३।१०९)।

सैनिक—सेना में भर्ती होनेवाले सिपाही सैनिक या सैन्य कहलाते थे। (सेनाया वा ४।४।४५; सेनां समवैति सैन्यः सैनिकः)। घुड़सवार सेना का अध्यक्ष अश्वपति (४।१।८४) और सेनाध्यक्ष सेनापति कहलाता था। प्रयाण करती हुई सेना के साथ जानेवाला व्यक्ति सेनाचर कहलाता था (३।२।१७)।

युद्ध करनेवालों का नामकरण उनके हथियारों के नाम से किया जाता था। आज भी यही पद्धति है। प्रहरणम् (४।४।५७) सूत्र में इसी नियम का उल्लेख है, जैसे आसिक (तलवार से लड़नेवाला)। प्रासक (प्रास या भाले से लड़नेवाला ; धानुष्क (धनुषबाण से लड़नेवाला)। परश्वध या फरसे से लड़ने वाले पारश्वधिक (४।४।५८) और शक्ति युद्ध के सैनिक शाक्तीक कहे जाते थे (४।४।५९)। लठैत या लाठी से युद्ध करनेवाले लोगों के लिये याष्टीक शब्द था (शक्ति यष्ट्योरीकक्)। महाभारत के अनुसार सरस्वती प्रदेश के आभीर लोग यष्टियुद्ध में दक्ष थे। पर्त-

---

ठीक ठीक निर्धारण करना मुश्किल है। जैसे दण्ड्य शब्द में यही नहीं जान पड़ता कि जो दण्ड के योग्य है उसे दन्ड्य कहा जाय, अथवा जो दण्ड से सुशोभित है उसे दण्ड्य कहा जाय। इसी प्रकार के उलझे हुए अर्थों को विस्पष्ट करके पृथक् पृथक् वृत्तियों में प्रत्ययों का विधान पाणिनि का निजी प्रयत्न था।

अलि ने लिखा है कि हथियार चलानेवालों का बोध प्रत्यय के बिना भी हथियार के नाम से ही हो सकता है, जैसे—कुन्तान् प्रवेशय, यष्टीः प्रवेशय (४।१।४८) भल्लैत और लठैत सैनिकों को बुलाइये।

यह उल्लेखनीय है कि शाक्तीकी याष्टीकी नामक स्त्री सैनिकों का उल्लेख पतंजलि ने किया है। इन शब्दों का निर्माण कात्यायन के एक विशेषवार्तिक से संभव होता है। पाणिनि ने केवल पुलिंग प्रयोग शाक्तीक और याष्टीक का विधान किया है। इस संबन्ध में इस बात पर ध्यान जाता है कि स्त्री सैनिकों का विशेष उल्लेख अर्थशास्त्र में आया है, जिन्हें राजभवन में रक्षार्थ नियुक्त किया जाता था (स्त्री गणैर्धन्विभिः—अर्थ० १।२०)। यह संभव है कि स्त्री सैनिकों की प्रथा का आरंभ मौर्ययुग से ही हुआ हो। कवचधारी सैनिकों की विशेष टुकड़ी कावचिक कहलाती थी (कवचिनां समूहः, ४।२।४१)। समुचित आयु में जो व्यक्ति सैनिक सेवा के योग्य हो जाता, उसे कवचहर इस विशेष शब्द से अभिहित किया जाता था। कवच के लिये वर्म शब्द भी था और कवच धारण करने के लिये संवर्मयति यह विशेष प्रयोग व्यवहार में आने लगा था।

परिस्कन्द—प्राच्य भरत या कुरुपंचाल देश में परिस्कन्द और अन्यत्र परिष्कन्द उच्चारण था (परिष्कन्दः प्राच्यभरतेषु, ८।३।७५)। अथर्ववेद के व्रात्यसूक्त में इस शब्द का कई बार प्रयोग है, जहाँ उसका अर्थ रथ के दोनों ओर रहने वाले दो पदाति सैनिको से है। महाभारत में इन्हें चक्र रक्षक कहा गया है (रथानां चक्र रक्षाश्च, भीष्म पर्व १८।१६)। चौथी शती ईस्वी पूर्व की भारतीय सेना में इस प्रकार के परिस्कन्द सैनिकों का उल्लेख यूनानी इतिहासकारों ने किया है। उनके अनुसार युद्ध में संप्रयुक्त रथ में चार घोड़े जुतते थे और उसके साथ छह सैनिक रहते थे, २ सारथी, २ ढाल लिए हुए ढलैत और २ धनुर्धारी जो रथ के दोनों ओर बाण छोड़ते हुए युद्ध करते थे (मैक्रिण्डल, सिकन्दर का आक्रमण, पृ० २६०)। इन ६ में से २ ढलैतों को चक्ररक्ष या परिस्कन्द समझना चाहिए।

शस्त्रास्त्र—आयुधों के लिये प्रहरण शब्द का प्रयोग किया गया है (४।४।५७)। सूत्रों में उनके नाम इस प्रकार हैं—धनुष् (३।२।३१); शक्ति (४।४।५९), परश्वध (४।४।५८), कासू (लम्बा बर्छा), कासूतरी (छोटा बर्छा ५।३।९०; ह्रस्वाकासूः कासूतरी, कासूरिति शक्तिरायुधविशेष उच्यते), हेति (एक विशेष प्रकार का फेंकने वाला अस्त्र) और असि या तलवार जिसे कौक्षेयक भी कहते थे (४।२।९६)।

हखामनि साम्राज्य के राजा खशयार्श ने जब यूनान पर चढ़ाई की, तो उसकी सेना में गान्धारि देश के सैनिक भी थे। यूनानी इतिहास लेखक हेरोदोत ने लिखा है कि वे छोटे बर्छों से युद्ध करने में दक्ष थे। पाणिनि स्वयं गन्धार के थे और उन्होंने जिस कासूतरी नामक प्रहरण का उल्लेख किया है, वह यही ज्ञात होता है। पाणिनि ने धनुष्वाची कार्मुक शब्द की व्युत्पत्ति कर्मन् शब्द से की है (कर्मण

उकञ् ५।१।१०३)। सायण ने शतपथ ६।६।२।११ की टीका में उसका सम्बन्ध क्रमुक शब्द से माना है। कौटिल्य के अनुसार कार्मुक ताड़ के पेड़ की लकड़ी से बनाया जाता था (अर्थ० २।१०)। पाणिनि ने भी ताल के धनुष का उल्लेख किया है (तालादिभ्योऽण् ४।३।१५२, अन्तर्गणसूत्र तालाद् धनुषि)। उसे तालधनु कहते थे। महाभारत में तालमय धनुष का उल्लेख आता है। पाणिनि ने बड़े धनुष को महेष्वास कहा है (६।२।३८) कौटिल्य ने धनुष का परिमाण ५ हाथ या ७॥ फुट माना है (अर्थ० १०।५)। ज्ञात होता है कि महेष्वास नामक लम्बे धनुष की यही ऊँचाई थी। राजा पुरु ने सिकन्दर के विरुद्ध जो युद्ध वितस्ता पर लड़ा था, उसमें उनके पदाति सैनिक इसी प्रकार के धनुष से लड़े थे। धनुष का एक सिरा पैर से साधे रहते थे और एक हाथ से धनुष की मूठ पकड़ कर दूसरे हाथ से लम्बे और भारी बाण चलाए जाते थे। यूनानियों ने लिखा है कि कैसा भी वर्म या कवच उनकी मार को न सह पाता था।

बाणों में लोहे के पत्र या आँकुड़े लगे रहते थे, जिनसे बहुत ही पीड़ा होती थी (सपत्र निष्पत्रादतिव्यथने)। मालवों के दुर्ग में युद्ध करते हुए सिकन्दर की करिहाँव में ऐसा ही एक सपत्र बाण उसके कवच को छेदता हुआ घुस गया था, जिसके कारण उसे मरणान्त पीड़ा हुई थी। बाण के पत्र की लम्बाई ५ अंगुल और चौड़ाई ४ अंगुल थी (मैक्रिण्डल, वही पृ० २०७)।

युद्ध क्रिया—आयुध या शस्त्र द्वारा जीविका निर्वाह करने वाले व्यक्तियों के लिये आयुधीय यह विशेष शब्द भाषा में प्रयुक्त होता था (आयुधेन जीवति ४।४। १४)। पाणिनि ने इस प्रकार के आयुधीय लोगों के संघों का विशेष रूप से उल्लेख किया है, जो आयुधजीवी कहलाते थे। कौटिल्य ने इन्हें ही शस्त्रोपजीवी कहा है। वाहीक प्रदेश एवं उत्तर पश्चिमी प्रदेश में इस प्रकार के अनेक छोटे-बड़े आयुधजीवी संघ थे। मालव, क्षुद्रक इन दोनों का आयुधजीवी संघ अपनी सम्मिलित सेना रखता था। मशकावती के आश्वकायन वीरतापूर्वक सिकन्दर से लड़े थे। वरणा नामक उनका अजेय दुर्ग पहाड़ी पर बना था।

पाणिनि ने प्रहरण क्रीड़ाओं का विशेष रूप से उल्लेख किया है (४।२।५७)। इन क्रीड़ाओं में धनुष या तलवार चलाने में दक्ष नवयुवक अपना कौशल दिखाते थे। पाणिनि ने लिखा है कि युद्धों का नामकरण दो प्रकार से किया जाता था, एक तो उन योद्धाओं के नाम से जो उसमें भाग लेते थे, जैसे स्यान्दनाश्व (वह युद्ध जिसमें रथी और घुड़सवारों ने भाग लिया हो), आहिमाल (वह युद्ध जिसमें अहिमाल नामक योद्धा लड़े हों), भारत (वह युद्ध जिसमें भरतवंशीय क्षत्रियों ने भाग लिया हो); और दूसरे उस प्रयोजन के नाम से, जिसके लिये युद्ध किया गया हो, जैसे सौभद्र (सुभद्रा के कारण हुआ युद्ध), गौरिमित्र (जो युद्ध गौरिमित्रा के कारण हुआ हो; संग्रामे प्रयोजनं योद्धृभ्यः ४।२।५६)।

सेना के साथ चढ़ाई करने के लिये अभिषेणयति (३।१।५६ ; ८।३।६५); सेनाद्वारा शत्रु को घेरने के लिये परिषेणयति एवं सेना के पीछे हटने के लिये प्रद्राव (३।३।२७) शब्द प्रचलित थे।

अनुशतिक—सूत्र २।३।२० में पाणिनि ने अनुशतिक का उल्लेख किया है। शुक्रनीति के अनुसार सेना में शतानीक नामक अधिकारी का सहायक अनुशतिक कहलाता था। पत्तिपाल की अध्यक्षता में ५, गौल्मिक के नीचे ३, और शतानीक के नीचे १०० सिपाही रहते थे (शुक्र० २।१४०)। शतानीक का साथी होने के कारण अनुशतिक संज्ञा चरितार्थ होती थी, किन्तु शतानीक का कार्य युद्ध करना था और अनुशतिक का युद्ध की सामग्री जुटाना एवं सैनिकों की भर्ती करना[1]।

अध्याय ७, परिच्छेद ५—जनपद

पाणिनि ने अपने युग की तीन महती संस्थाओं की ओर सविशेष ध्यान दिया था—शिक्षा के क्षेत्र में चरण, सामाजिक जीवन के क्षेत्र में गोत्र, और राजनैतिक जीवन के क्षेत्र में जनपद। ये तीन बहुत ही महत्व-पूर्ण और जीती जागती संस्थाएँ थीं। इन तीनों से सम्बन्धित सामग्री संस्कृत, बौद्ध एवं जैन साहित्य में इतनी विस्तृत हैं कि ये तीनों पृथक् अनुसंधान के विषय हो सकते हैं। जनपद के सम्बन्ध में पाणिनीय सामग्री निम्नलिखित सूत्रों में पाई जाती है—

(१) जनपदे लुप्, (४।२।८१)।
(२) जनपदिनां जनपदवत्सर्वं जनपदेन समानशब्दानां बहुवचने, (४।३।१००)।
(३) जनपदसमानशब्दात्क्षत्रियादञ् (४।१।१६८)।
(४) सुसर्वार्धाज्जनपदस्य (७।३।१२)।
(५) ग्रामजनपदैकदेशादञ्ठञौ (४।३।७)।
(६) दिक्शब्दा ग्रामजनपदाख्यान चानराटेषु (६।२।१०३)।
(७) जनपदतदवध्योश्च (४।२।१२४)।
(८) ज्योतिर्जनपद रात्रिनाभिनामगोत्ररूपस्थानवर्णवयोवचनबन्धुषु (६।३।८५)।
(९) जानपदी वृत्तिः (४।१।४२)।
(१०) ब्रह्मणो जानपदाख्यायाम्, (५।४।१०४)।

इसके अतिरिक्त कई गणों में जनपदों के नामों की सूची पाई जाती हैं, जैसे सिन्ध्वादि (४।३।९३) कच्छादि ४।२।१३३), भर्गादि (४।१।१६८)। इस सामग्री पर विचार करने से जनपद संस्था के विषय में मूल्यवान् जानकारी प्राप्त होती है।

---

(१) तथाविधोऽनुशतिकः शतानीकस्य साधकः।
जानाति युद्ध संभारं कार्ययोग्यं च सैनिकम्॥ (शुक्र० २।१४४)

जनपदों का महत्त्व—वैदिक संहिताओं में जनपद शब्द का उल्लेख नहीं है। ब्राह्मण ग्रन्थों में भी बहुत कम इस शब्द का प्रयोग हुआ है। शतपथ में केवल एकबार बहुत सामान्य सा उल्लेख है (अथ यत् किंच जनपदे कृताभं, सर्वं वः तत् सुचम्, १३।४।२।१७)। ऐतरेय के अन्तिम अध्याय में उत्तरकुरु और उत्तरमद्र को जनपद कहा गया (एतस्यामु दीच्यां दिशि ये के च परेण हिमवन्तं जनपदा उत्तरकुरव उत्तरमद्रा इति वैराज्याय एव तेऽभिषिच्यन्ते, ऐ० ८।१४)। जैमिनीय, तैत्तिरीय, गोपथ और सामविधान ब्राह्मणों में केवल एक-एक बार जनपद शब्द आया है। इससे ज्ञात होता है कि ब्राह्मण युग के अन्त में जनपद संस्था का आरम्भ हुआ और पाणिनि के समय तक यह संस्था अपने पूर्ण विकास पर पहुँच गई।

लगभग एक सहस्र इस्वी पूर्व से पाँच सौ ईस्वी पूर्व तक के युग को भारगीय इतिहास में जनपद या महाजनपद युग कहा जा सकता है। समस्त देश में एक सिरे से दूसरे सिरे तक जनपदों का ताँता फैल गया था। एक प्रकार से जनपद राजनैतिक, सांस्कृतिक और आर्थिक जीवन की इकाई बन गए थे। जिस प्रदेश में जनपदीय जीवन संगठित रूप में ऊपर उभर आया, वहीं शान्ति, सुव्यवस्था और नीति धर्म की स्थापना हो गई, और वह प्रदेश अराजक स्थिति के ऊपर उठ गया। जिस समय यह आन्दोलन अपने पूर्णवेग पर था, उस समय जनपदीय आदर्श स्थानीय जनता के जीवन में प्रभावशाली प्रेरक शक्ति के रूप में प्रविष्ट हो गए। स्थानीय जीवन के विविध प्रकारों ने जनपदों के रूप में सन्तुलित स्थिति प्राप्त कर ली। जैसा हम पहले कह चुके हैं जनपद के भौगोलिक विस्तार को पृथिवी कहा जाता था और उस पृथिवी के साथ स्थानीय जनता प्रगाढ़ मातृत्व के स्नेह से बँध गई थी। 'माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः' यह उसी उदात्त भावना की अभिव्यक्ति थी।

प्रत्येक जनपद की भूमि वहाँ के निवासियों की सच्ची धात्री थी। जन, भाषा, धर्म, अर्थ व्यवस्था और संस्कृति, इन सब की दृष्टि से जनपद हर एक प्रदेश में स्थानीय जीवन की दृढ़ इकाइयाँ थीं। समस्त देश में जनपदों की लम्बी शृंखला फैली हुई थी। उनका कालकृत स्थायित्व भी कम न था। अनेकों जनपदों के अवशेष अपने-अपने क्षेत्र में आज भी पहचाने जा सकते हैं, यद्यपि उनके राजनैतिक वैभव को समाप्त हुए सहस्रों वर्ष बीत गए हैं।

जनपदसूची—भारतवर्ष का जो भौगोलिक सीमाविस्तार था, उसके अन्तर्गत मध्य एशिया के कम्बोज जनपद से लेकर सुदूर दक्षिण तक, और पश्चिम में सिन्धु सौवीर कच्छ से लेकर पूर्व में अंग, बंग कलिंग और सूरमस तक फैले हुए जनपदों के लगभग १७५ नामों की सूचियाँ संकलित की गई थीं जो कि पुराणों के भुवन-

कोशों में सुरक्षित हैं।[1] वस्तुतः देश का शायद ही कोई ऐसा प्रदेश या भाग होगा, जिसका नामकरण जनपद के रूप में न हुआ हो। पुराणकारों ने अपनी सूचियाँ देश के भौगोलिक विभागों को ध्यान में रखते हुए एकत्र की थीं। भुवनकोषों में सात विभागों के जनपदों का उल्लेख है—(१) मध्य, (२) प्राच्य, (३) उदीच्य, (४) दक्षिणापथ, (५) अपरान्त, (६) विन्ध्यपृष्ठ और (७) पर्वत। पाणिनि ने प्राच्य और उदीच्य इन दो भागों का स्पष्ट उल्लेख किया है। मध्य देश के भी काशि, कोसल, प्रत्यग्रथ, अजाद आदि कई जनपदों के नाम सूत्रों में आए हैं। विन्ध्यपृष्ठ निवासी जनपदों में अवन्ति उल्लेखनीय है। दक्षिणापथ के जनपदों में केवल अश्मक का उल्लेख है, जिसकी राजधानी प्रतिष्ठान गोदावरी के तट पर थी। पर्वताश्रयी जनपद अपना विशेष स्थान रखते थे। भारतीय मानचित्र पर दृष्टि डालने से उनके दो गुच्छे स्पष्ट दिखाई पड़ते हैं, एक कुल्लूकाँगड़ा से लेकर देहरादून एवं गढ़वाल कुमायूँ तक फैला हुआ लम्बा पहाड़ी इलाका जिसमें त्रिगर्त, गब्दिका, युगन्धर, कालकूट भरद्वाज आदि जनपद थे, जिनकी पहचान पहले दी जा चुकी है (अ० २)। पहाड़ी जनपदों का दूसरा लम्बा-चौड़ा प्रदेश भारत के उत्तर-पश्चिमी भाग में सिन्धु नद से लेकर बाह्लीक कपिश कम्बोज तक फैला हुआ था। इसके अन्तर्गत अभिसार, उरशा, दार्व, दरद्, चित्रक, गन्धार, कपिश, बाह्लीक मुंजायन, कम्बोज, लम्पाक, हारहूर आदि कितने ही छोटे-बड़े जनपदों के नाम पुराणों की सूचियों में सुरक्षित हैं, जिनमें से बहुतों का उल्लेख पाणिनि ने भी किया है। राजनैतिक व्यवस्था की दृष्टि से अधिकांश पहाड़ी प्रदेश आयुजीवी संघों के रूप में संगठित थे (आयुधजीविभ्यश्छः पर्वते, ४।३।९१)। इनका पृथक् विवेचन संघों के प्रकरण में किया जायगा।

जनपद और यूनान के पुरराज्य—यूनान देश के इतिहास में वहाँ के पुरराज्य जग-प्रसिद्ध हैं। यूनान छोटा सा देश है, जिसमें सैकड़ों पहाड़ी इलाके एक दूसरे से बँटे हुए हैं। प्रत्येक में एक एक जन या कबीले के जीवन का स्वतन्त्र विकास हुआ। उस कबीले का सांस्कृतिक और राजनैतिक जीवन एक पुर या नगर में केन्द्रित होता था, जो वहाँ की राजधानी थी। इस प्रकार के राज्य यूनान देश में पुरराज्य (सिटी स्टेट) कहलाए। उनके विकास और उन्नति का समय भी लगभग वही था, जो भारतवर्ष में जनपद राज्यों का था। पुरराज्यों में कुछ छोटे और कुछ अधिक शक्तिशाली होते थे, जैसे एथन्स और स्पार्टा, जो यदा कदा दूसरे पुरराज्यों पर अपना राजनैतिक प्रभुत्व जमा लेते थे। वैसे ही अपने देश में भी मगध कोसल मद्र गन्धार

१—वायु अ० ४५; मत्स्य अ० ११४; ब्रह्माण्ड अ० ४९; वामन अ० १३; मार्कण्डेय अ० ५७, गरुड अ० ५५; और भी देखिए, श्री दिनेशचन्द्र सरकार, पुराणगत जनपद सूचियों का मूल पाठ, इंडियन हिस्टारिकल क्वार्टरली, वर्ष २१ (१९४५), पृ० २९७–३१४।

आदि जनपद राज्य महाजनपदों के रूप में विकसित हो गए। बहुत से जनपदों के राजनैतिक प्रभुत्व पर चौका फेर कर ही मगध के साम्राज्य का उदय हुआ।

यूनान देश की संस्कृति का सर्वोत्तम विकास पुरराज्यों में हुआ था। भारतीय जनपदराज्यों का प्रयोग यूनान देश से कहीं अधिक विस्तृत और महान् था। एक तो वह अपेक्षाकृत बहुत बड़े भूभाग में हुआ और दूसरे उसका स्थायित्व और राजनैतिक प्रभाव दूर तक व्याप्त रहा। सांस्कृतिक दृष्टि से भी जनपद युग में भारतीय संस्कृति की जो मूल प्रतिष्ठा हुई, उसका जो स्वरूप उस युग में सम्पन्न हुआ, उसी के आधार पर कालान्तर में जनपद संस्कृतियों के मिलने से राष्ट्रीय संस्कृति का स्वरूप विकसित हुआ। भारतीय जनपदों का अध्ययन करते हुए उनका यथार्थ स्वरूप और महत्व अभी तक पूरी तरह पहचान में नहीं आया है। इस प्रकरण में जनपदों की विशेषता का अध्ययन करते हुए यथास्थान यूनानी पुरराज्यों से उनकी तुलना का प्रयत्न भी किया जायगा।

जनपदों की सीमाएँ—यूनान के पुरराज्य अधिकांश पहाड़ी प्रदेश और घाटियों में फैले थे। एक को दूसरे से पृथक् करने वाली निश्चित सीमाएँ थीं। भारत में भी प्रत्येक जनपद की नियत सीमाएँ थीं, जिन्हें पाणिनि ने 'तदवधि' कहा है (जनपदतदवध्योश्च, ४।२।१२४)। जैसा काशिका ने लिखा है, एक जनपद अपने चारों ओर के दूसरे जनपदों से घिरा रहता था, जो उसकी सीमा बनाते थे (तद्-वधिरपि जनपद एव गृह्यते न ग्रामः, काशिका)। कुछ जनपद विस्तार में इतने बड़े होते थे कि स्वभावतः वे कई हिस्सों में बँटे हुए थे, जिनके नाम लोक में अलग-अलग विख्यात हो जाते थे। इस प्रकार के भौगोलिक नामों में स्वरों का नियमन पाणिनि ने दिक्शब्दा ग्रामजनपदाख्यानचानराटेषु (६।२।१०३) सूत्र में किया है, जैसे पंचाल जनपद का पूर्वी भाग पूर्व पंचालाः और पश्चिमी अपरपंचालाः कहलाता था। दक्षिण पंचालाः दक्षिणी भाग का नाम था। इसी प्रकार पूर्वमद्र अपरमद्र, ये मद्र जनपद के दो बड़े भाग थे (दिशोऽमद्राणाम् ७।३।१३) उन दो भागों के निवासी क्रमशः पौर्वमद्र और आपरमद्र कहलाते थे, जैसे आज कल भाषा में पछहियाँ, पुरबिया विशेषण प्रयुक्त होते हैं। पूर्वमद्र रावी से चनाब तक और पश्चिमी मद्र चनाब से झेलम तक का प्रदेश था। जनपद की राजधानी शाकल या स्यालकोट पूर्व मद्र में ही थी। इसी प्रकार सिन्धु नदी गन्धार महाजनपद को दो भागों में बाँटती थी, एक पूर्वगान्धार जिसकी राजधानी तक्षशिला थी और दूसरा अपरगान्धार जिसकी राजधानी पुष्कलावती थी।

जनपदों के इस बटवारे के आधार पर भाषा में और भी कुछ शब्दों की आवश्यकता पड़ती थी; जैसे, समस्त पंचाल जनपद से सम्बन्धित कोई वस्तु सर्व-पांचालक और केवल आधे जनपद से सम्बन्धित अर्धपांचालक कही जाती थी (सुसर्वार्धाज्जनपदस्य, ७।३।१२)। अर्थों की बारीक छानबीन करते हुए पाणिनि का

ध्यान इनसे मिलते जुलते कुछ दूसरे शब्दों पर भी गया। जिस प्रकार सर्वजनपद और अर्धजनपद की भौगोलिक इकाई व्यवहार में मान्य थी और जिस प्रकार एक ही जनपद के अन्तर्गत पूर्व पश्चिम के भेद वास्तविक थे, वैसे ही एक जनपद का पूरब का आधा भाग पूर्वार्ध, पश्चिम का अपरार्ध, दक्षिण का दक्षिणार्ध, उत्तर का उत्तरार्ध इन नामों से व्यवहृत होता था। जिस प्रकार सर्वजनपद के जीवन की एक इकाई थी उसी प्रकार उसके प्रत्येक भाग का भी सांस्कृतिक व्यक्तित्व उभरा हुआ होता था। उसे पाणिनि ने जनपदैकदेश कहा है। उसमें होने वाले व्यवहारों आदि के लिये भाषा में पौर्वार्ध, पौर्वार्धिक; दक्षिणार्ध दाक्षिणार्धिक, इस प्रकार के शब्द प्रचलित थे (ग्रामजनपदैकदेशाद्ञ्ठञौ, ४।३।७, जनपदैकदेश वाचिनः प्रातिपदिकात् दिक्पूर्वपदात् अर्थात् अञ्ठञौ प्रत्ययौ शैषिकौ; इमे खलु अस्माकं जनपदस्य पौर्वार्धाः पौर्वार्धिकाः, दाक्षिणार्धाः दाक्षिणार्धिकाः—काशिका) जिस युग में जनपदीय जीवन बहुत ही विकसित हुआ होगा उसी समय स्थानीय विभागों के द्योतक इस प्रकार के शब्दों की आकांक्षा भाषा में सम्भव हुई होगी।

जनपद नामों के जोड़े—जनपद की सीमाओं पर विचार करते समय एक तथ्य की ओर विशेष रूप से ध्यान जाता है। भाषा का यह नियम था कि जिन दो जनपदों की सीमाएँ एक दूसरे से सटी होती थीं उनके नामों के जोड़े भाषा में प्रसिद्ध हो जाते थे। भौगोलिक सान्निध्य इसका कारण था। ऐसे कुछ नाम प्राचीन साहित्य में पाए जाते हैं। इन नामों से कभी कभी यह भी सम्भव होता है कि ज्ञात जनपद के आधार पर अज्ञात जनपद की भौगोलिक स्थिति की पहचान की जा सके। ऐसे कुछ नामों का उल्लेख स्वयं पाणिनि ने भी किया है जैसे अवन्त्यश्मकाः, कुन्तिसुराष्ट्राः, चिन्तिसुराष्ट्राः (कार्तकौजपादिगण ६।२।३७)। इन पांचों जनपदों के भौगोलिक सान्निध्य और पहचान के विषय में पहले लिखा जा चुका है (पृष्ठ ७५)। बृहदारण्यक उपनिषद् में कुरुपंचाल नाम एक साथ आते हैं (कुरुपञ्चालानां ब्राह्मणा अभिसमेताः बृ० उ० ३।१)। इन दोनों जनपदों के इतिहास में एक युग ऐसा भी आया जब राजतन्त्र की दृष्टि से दोनों एक दूसरे के साथ मिल गए और हस्तिनापुर दोनों की संयुक्त राजधानी बन गई। बौद्ध ग्रन्थों में सुधनकुमार की कहानी में इस प्रकार का उल्लेख आता है। पाणिनि ने कुरुजनपद का उल्लेख किया है किन्तु पंचाल जनपद का नाम सूत्रों में नहीं है। उत्सादिगण में अवश्य कुरुपंचाल का एक साथ पाठ है (उत्सादिगण ४।१।८६)। जैसा पहले कहा जा चुका है पाणिनि ने प्रत्यग्रथ जनपद का उल्लेख किया है जो पंचाल का ही दूसरा नाम था (४।१।१७१)। जनपद नामों की दो सूचियां प्राचीन साहित्य में उपलब्ध हैं। उनके अनुसार कुरुपंचाल, अंग-मगध, काशि-कोशल, शाल्व-मत्स्य, शवस-उशीनर, वज्जि-मल्ल, चेदि-वत्स, मत्स्य-शूरसेन ये नामों के जोड़े प्रसिद्ध थे[1]।

---

(१) कुरु-पञ्चालेषु, अंगमगधेषु, काशिकौशल्येषु, शाल्वमत्स्येषु, शवसौशीनरेषु, उदीच्येषु गोपथ ब्राह्मण पूर्वभाग २।१०।

महावस्तु[1] में अंग-मगध एवं शिवि-दशार्ण ये अतिरिक्त नाम हैं।[2] महाभारत में इन जनपद नामों के जोड़े पाए जाते हैं—सिन्धु-सौवीर; (गान्धाराः सिन्धुसौवीराः नखरप्रास योधिनः, शान्ति १०१।३; अखिलाम् सिन्धुसौवीरानवाप्नुहि मया सह, आरण्यक २५८।१८)।

मद्रगान्धार (४४।४७), वसातिसिन्धुसौवीर (कर्ण० ४४।४७), वसाति-मौलेय (वसातयः समौलेयाः, सभा० ५१।५२), दरद्-दार्व (सभा ५१।१३), शूरवैयमक (सभा ५१।५३; अफगानों के सूर और एमक नामक कबीले), नीप-अनूप (सभा० ५१।२४), माद्रेयजांगल (भीष्म० ९।३९, शाल्वाः माद्रेयजांगलाः)। जातक में मद्र और केकय को एक साथ कहा गया है (मद्दा सह केकयेहि, जातक ६।२८०)। इसी प्रकार दार्वअभिसार; कपिश-कम्बोज, गन्धार-केकय; विदेह-मगध आदि नाम भी मिलते हैं। इन सबके विषय में भौगोलिक दृष्टि से यह तथ्य सर्वांश में लागू है कि जिन जनपदों के नामों के जोड़े भाषा में प्रसिद्ध थे उनकी भौगोलिक सीमाएँ किसी न किसी अंश में एक दूसरे से मिली हुई थीं।

सजनपद—एक जनपद की सीमाओं के भीतर अवान्तर भेद और स्थानीय भक्ति होते हुए भी समग्र जनपद की दृष्टि से वहाँ के सब निवासी परस्पर सजनपद कहलाते थे (=समानः जनपदः, ६।३।८५)। जनपद के अतिरिक्त गोत्र और चरणसंज्ञक जिन संस्थाओं का उल्लेख किया गया है उनके लिये भी ठीक इसी प्रकार के दो शब्द सगोत्र (६।३।८५) और सब्रह्मचारी (६।३।८६) भाषा में प्रचलित थे। जनपद युग में व्यक्ति के तीन नाम प्रसिद्ध होते थे—जनपद के आधार पर, गोत्र के आधार पर और चरण के आधार पर। अतएव इन तीनों प्रकार के शब्दों का पाणिनि ने विस्तृत विवेचन किया था।

ग्रामसमुदाय और नगर—जनपद की परिभाषा करते हुए काशिका में कहा है- ग्रामसमुदायो जनपदः (४।२।८१)। बाद के व्याकरणों में जनपद को राष्ट्र का पर्यायवाची माना है। वस्तुतः जनपद में ग्रामसमुदाय और नगर दोनों की स्थिति थी। नगर जनपद की राजधानी होती थी। उसके चारों ओर के गाँवों में दूर दूर तक जनपदीय जीवन का ताना बाना फैला हुआ रहता था। यूनानी पुर राज्यों का ढांचा भी कुछ ऐसा ही था। किन्तु पुर राज्य का क्षेत्र-फल भारतीय जनपद की अपेक्षा बहुत छोटा होता था। अतएव उसमें नगर या राजधानी का सर्वोपहारी महत्त्व था जिसके कारण वे पुरराज्य नाम से प्रसिद्ध हुए। स्वतन्त्र नागरिक प्रायः पुर में ही निवास करते थे और शेष भू-भाग में दास या कृषकों की बस्ती होती

---

(१) महावस्तु १।३४

(२) कासिकोसलेसु वज्जिमल्लेसु, चेतिवंसेसु, कुरुपंचालेसु, मच्छसूरसेनेसु, तेन खो पन समयेन भगवा परितो परितो जनपदेसु परिचारके (दीघनिकाय, १८ जनवसभसुत्त)

थी। भारतीय जनपदों में ग्रामसमुदाय का महत्त्व नगर के समान ही था और जनपद स्वामी क्षत्रिय ग्रामों में भी निवास करते थे। इस कारण भारतवर्ष में पुर राज्य की अपेक्षा जनपद यह साभिप्राय शब्द स्थिति का यथार्थ सूचक था। किन्तु अपने यहाँ भी प्रत्येक जनपद में दुर्ग की स्थापना आवश्यक थी। दुर्ग का ठीक वही अर्थ था जो यूनानी पुरराज्यों में उनकी सुगुप्त राजधानी का समझा जाता था (एक्रोपोलिस = दुर्गाकार पुर या सन्निवेश)। जिस पारखेयी भूमि, नगर-द्वार, प्राकार, देवपथ, राजप्रासाद आदि का उल्लेख पहले हो चुका है (अध्या० ३ परि० ९) उनका सम्बन्ध जनपद की राजधानी के निर्माण से ही था। राजधानी के बिना जनपद की कल्पना संभव न थी। पुर या नगर जनपदीय जीवन के स्वाभाविक उत्कर्ष स्थान थे जहाँ से सांस्कृतिक और राजनैतिक जीवन के सूत्र चारों ओर फैलते थे। पाली साहित्य में षोडश महाजनपदों और उनकी राजधानियों का उल्लेख है। उनमें से नौ जनपदों का उल्लेख पाणिनि के सूत्रों में और बारह राजधानियों के नाम सूत्र और गणपाठ में हैं। मनु ने राष्ट्र और पुर दोनों का समान महत्त्व माना है।

जनपदों का विकास, जन, जनपद, जनपदिन्—वैदिक साहित्य में केवल जनों का उल्लेख है, जनपदों का नहीं। वह विकास की आरम्भिक अवस्था थी। उस समय जन अविभक्त इकाई के रूप में संचरणशील अवस्था में थे। जन के अन्तर्गत स्वतन्त्र कुलों की संख्या में अभिवृद्धि होती गई और जन का जीवन भूमि के साथ संबन्धित होने लगा। अपनी घुमन्तू वृत्ति छोड़कर जन किसी एक स्थान में टिकाऊ रूप से बसने लगे। वहीं से जनपद के विकास का आरंभ हुआ। जिस प्रदेश में जन का सन्निवेश हुआ, वह प्रदेश जनपद कहलाया। यह स्वाभाविक था कि मूल जन के अतिरिक्त भी और लोग उस प्रदेश में आकर बसने लगे। पारस्परिक संमिलन के आधार पर जनपदीय जीवन का विकास एवं भाषा, धर्म, आर्थिक जीवन के क्षेत्रों में व्यापक सम्पर्क और आदान प्रदान हुआ। परन्तु राजनैतिक सत्ता मूल जन के प्रतिनिधि लोगों के हाथों में केन्द्रित रही। वे अपने अपने कुलों की संख्या का निर्धारण बड़ी सावधानी से रखते थे। उदाहरण के लिये लिच्छिविजन में ७७०७ कुल थे एवं चेत जनपद में ६०००० क्षत्रिय कुल थे (जातक ६।५११)। पाणिनि ने राजनैतिक प्रभुत्व सम्पन्न मूल जन के इन प्रतिनिधियों के लिये 'जनपदिन्' इस नए शब्द का प्रयोग किया है। राजशक्ति एकराज और संघ दोनों प्रकार के जनपदों में मुख्यतः क्षत्रियों के ही हाथों में थी। काशिका ने जनपदिन् का अर्थ 'जनपदों के स्वामी क्षत्रिय' किया है (जनपद-स्वामिनः क्षत्रियाः)। जनपद और उनके स्वामी जनपदिन् क्षत्रियों का अभिन्न सम्बन्ध था। मूल में जनपदों का नामकरण उसमें बसने वाले जनपदिन् क्षत्रियों के अनुसार ही हुआ था, जैसे पंचाल क्षत्रियों के सन्निवेश का जो स्थान था वह भी पंचाल कहलाया। जिस

प्रकार 'पंचालाः' क्षत्रियवाची यह नाम बहुवचन में प्रयुक्त होता था, उसी प्रकार उनका निवास स्थान जनपद भी बहुवचनान्त पंचालाः रूप से लोक में प्रसिद्ध हुआ। पंचालानां निवासः जनपदः पंचालाः, यह जनपदवाची पंचाल शब्द की संस्कृत व्याख्या हुई। पाणिनि के युग में स्थिति यह थी कि पंचाल जनपद का नाम लोक में स्वतः प्रसिद्ध था, पंचाल क्षत्रियों का निवास स्थान होने के कारण पंचाल जनपद को पंचाल समझने की प्रथा न थी। 'पंचालाः' शब्द की अर्थावगति स्वतन्त्र रूप से होने लगी थी, जनपद के स्वामी क्षत्रियों के कारण नहीं। इसके दो हेतु थे। एक तो मूल पंचाल जन के अतिरिक्त उस जनपद में और भी अनेक जातियाँ और लोग निवास करने लगे थे जो उस जनपद को 'पंचालाः' कह कर पुकारते थे। उनकी दृष्टि में जनपद का स्वतन्त्र अस्तित्व और नाम था, जनपद स्वामी क्षत्रियों के आधार पर नहीं। दूसरे कुछ ऐसे भी जनपद हो सकते थे, जहाँ राजसत्ता जनपद के स्वामियों के हाथ से निकल कर दूसरों के हाथ में चली गई हो। किन्तु इस परिवर्तन से जनपद के नाम में कोई परिवर्तन नहीं होता था। ऐसी स्थिति में 'पंचालाः जनपदः' इस नाम को स्वतन्त्र रूप से भाषा में प्रयुक्त मानना अधिक स्वाभाविक था। पाणिनि का यही दृष्टिकोण था, जिसे उन्होंने लुब् योगाप्रख्यानात् (१।२।५४) एवं योगप्रमाणे च तदभावेऽदर्शनं स्यात् (१।२।५५) इन सूत्रों में व्यक्त किया है। उनका कहना है कि 'पंचालाः जनपदः' इस शब्द को जैसा लोक में प्रयुक्त होता है, वैसा ही लोक व्यवहार के प्रमाण से (जिसे उन्होंने संज्ञाप्रमाण कहा है) स्वीकार कर लेना चाहिए। पंचाल क्षत्रियों के माध्यम से पंचाल जनपद नाम की व्युत्पत्ति न लोक में होती है और न वैयाकरण को वैसा करने की आवश्यकता है। पर अपना यह अभिमत रखते हुए आचार्य के सामने पुरानी लीक भी चली आ रही थी। उसके अनुसार व्युत्पत्ति का क्रम इस प्रकार था—

(१) पञ्चालस्वामिनः क्षत्रियाः = पञ्चालाः।

(२) तेषां निवासः जनपदः = पञ्चालाः।

पहले अर्थ से दूसरे अर्थतक पहुँचने के लिये 'तस्य निवासः' इस अर्थ में एक प्रत्यय की आवश्यकता अनिवार्य थी, क्योंकि प्रत्यय के बिना अर्थान्तर की प्रतीति शब्द शास्त्र में किसी प्रकार संभव नहीं। इसका समाधान वैयाकरण लोग इस प्रकार करते थे कि क्षत्रियवाची पंचालाः शब्द से निवास अर्थ में जो प्रत्यय होता है, उसका लोप करने पर जनपदवाची पञ्चालाः शब्द सिद्ध हो जाता है। उसमें प्रत्यय न रहने पर भी प्रत्यय का अर्थ बना रहता है। इसके लिये पाणिनि ने जनपदे लुप् (४।२।८१) इस विशेष सूत्र का विधान किया है। वस्तुतः पाणिनि के संज्ञाप्रमाण वाले तर्क को ध्यान में रखते हुए 'जनपदे लुप्' सूत्र की कोई आवश्यकता न थी, जैसा उन्होंने स्वयं १।२।५४ सूत्र में कहा है।

जनपद दो प्रकार के थे—एकराज और गणाधीन । अधिकांश जनपदों में राज्यसत्ता पाणिनि के समय तक क्षत्रियों के हाथ में थी । इस संबन्ध में जनपदशब्दात् क्षत्रियादञ् (४।१।१६८) सूत्र महत्त्वपूर्ण है । इसका तात्पर्य यह है कि यदि जनपद का नाम और वहाँ के क्षत्रियों का नाम एक ही हो, तो उस क्षत्रियवाचक शब्द से अपत्य अर्थ में अञ् प्रत्यय होता है। जैसे पंचाल जनपद के निवासी क्षत्रिय का पुत्र पाञ्चाल कहलाता था। इस सूत्र पर कात्यायन ने लिखा है कि यह नियम केवल एकराज जनपदों में लागू था, संघों में नहीं (क्षत्रियादेकराजात् संघप्रतिषेधार्थम्) । दूसरे उस जनपद के राजा नाम भी उसी प्रकार सिद्ध होता था, जिस प्रकार अपत्य का नाम, अर्थात् पंचाल जनपद का राजा भी पांचाल कहलाता था (क्षत्रिय समान शब्दाज् जनपदात् तस्य राजन्यपत्यवत् ४।१।१६८ वा०१)। इस प्रकार पंचाल और पांचाल इन शब्दों के दो दो अर्थ हुए—

पंचालाः = (१) पंचाल क्षत्रिय, (२) पंचाल जनपद ।

पांचालः = (१) पंचाल क्षत्रियों का अपत्य, (२) पंचाल जनपद का राजा।

जैसा कहा जा चुका है जनपदों में और जातियों के लोग भी निवास करते थे, किन्तु राजसत्ता क्षत्रियों के हाथ में थी, जो उस जनपद के संस्थापक थे। यह तथ्य इतना सुविदित था कि कात्यायन ने जनपदसमानशब्दात् क्षत्रियादञ् (४।१।१६८) सूत्र में क्षत्रिय शब्द के पाठ की आवश्यकता में सन्देह किया है। उनकी युक्ति है कि जनपद के नाम से जो अपत्यवाची शब्द बनता है, उससे लोक में केवल क्षत्रिय का बोध होता है, औरों का नहीं। पांचालः से पंचाल क्षत्रिय के पुत्र का ही ग्रहण किया जाता है, पंचाल देशवासी ब्राह्मण का पुत्र पांचालि और विदेह जनपद के ब्राह्मण का पुत्र वैदेहि कहलाता है । पतंजलि ने स्पष्ट कहा है कि क्षौद्रक्य मालव्य ये शब्द भी केवल क्षुद्रक, मालव क्षत्रियों के अपत्य अर्थ में ही प्रयुक्त होते थे (अत्रापि क्षौद्रक्यः मालव्य इति, नैतत् तेषां दासे वा भवति कर्मकरे वा किन्तर्हि तेषामेव कस्मिंश्चित्–भाष्य ४।१।१६८) ।

पुरराज्य से साम्य—ऊपर जनपद के विकास की चार अवस्थाएँ कही गई हैं (१) जन, (२) कुल, (३) जनपदिनः, (४) जनपद। यूनान के पुर राज्यों के विकास की भी लगभग ये ही चार अवस्थाएँ थीं। उनकी पहली अवस्था जन या कबीले की थी, और दूसरी कुलों की थी। तीसरी अवस्था वह थी जिसमें छोटे कबीलों ने अपना विस्तार करके एक शस्त्रधारी जाति के रूप में अपना सामूहिक संगठन कर लिया और किसी प्रदेश में राजधानी बनाकर अपना राज्य स्थापित कर लिया। चौथी अन्तिम अवस्था पुरराज्य की अवस्था थी। भारतीय विकास परम्परा के साथ तुलना करने से यह स्थिति इस प्रकार समझी जा सकती है—

(१) जन	कबीले की प्रारंभिक दशा	Genos
(२) कुल	कबीले के भीतर कुटुम्बों के विस्तार की अवस्था	Phrataries
(३) जनपदिनः	जाति	Phulae
(४) जनपद	राष्ट्र या पुरराज्य	Polis

अभिजन—

पाणिनि ने अभिजन इस विशेष शब्द का उल्लेख किया है (अभिजनश्च ४।३।९०)। निवास और अभिजन इन दोनों में भेद माना जाता था। पूर्वजों का स्थान अभिजन कहलाता था और कालान्तर में जहाँ व्यक्ति या कबीला रहने लगा हो, वह निवास कहलाता था (निवासाभिजनयोः को विशेषः ? निवासो नाम यत्र संप्रत्युष्यते, अभिजनो नाम यत्र पूर्वैरुषितम्, भाष्य)। अभिजन शब्द पर विचार करने से उसकी पृष्ठभूमि ज्ञात होती है। वैदिक युग में जन की ही प्रधानता थी, जनपद का विकास उस समय तक नहीं हुआ था, जैसे भरत जन किसी एक पूर्वज से अपनी उत्पत्ति माननेवाला एक छोटा समुदाय था। उसमें पृथक्कुलों के गोत्र या वंश विकसित होने लगे। कुटुम्बों की अभिवृद्धि से जन की घुमन्तू स्थिति में बाधा पड़ी और वह किसी एक स्थान में बद्धमूल हो गया। वह प्रदेश आरंभ में अभिजन कहलाया होगा, जहाँ जन व्याप्त होकर स्थिति भाव को प्राप्त हुआ। यह जन सन्निवेश की आरंभिक अवस्था थी। इसीसे और आगे बढ़कर कालान्तर में जनपद का विकास हुआ।

समान पूर्वज—जन अपने आपको किसी एक पूर्वज से उत्पन्न हुआ मानता था। यूनानी पुरराज्य और भारतीय जनपद दोनों के स्वामी इस कल्पना को समान रूप से मानते थे। संभव है आरंभ में यह वास्तविक सचाई रही हो, जैसे पाणिनि ने जिन सावित्रीपुत्रकों का उल्लेख किया है (दामन्यादिगण ५।३।११६), उनके विषय में महाभारत से ज्ञात होता है कि वे सब सावित्री और सत्यवान् की सन्तान थे। उन्हें पुत्रशतम् कहा गया है (सावित्र्यास्तद्वै पुत्रशतं जज्ञे-आरण्यक २८।३।१२) इसमें पुत्र शब्द अपत्यवाची है और शतं अनिश्चित संख्या का सूचक है। किन्तु इतना स्पष्ट है कि जब यही शतसंख्या बढ़कर सहस्रों में पहुँचती थी और पुत्रशत में से प्रत्येक के कुल या कुटुम्बों का विस्तार होने लगता था, तो सौ दो सौ वर्षों में जन का विस्तार काफी बढ़ जाता था जैसा कि स्वयं सावित्री पुत्रकों के विषय में महाभारत में कहा गया—ते चापि सर्वे राजानः क्षत्रियाः पुत्रपौत्रिणः (कर्ण ४।४७) फिर भी समग्र जाति के इस विश्वास में कोई अन्तर नहीं पड़ता था कि उनका निकास एक ही पूर्वज से हुआ है। वस्तुतः प्रत्येक जाति आवश्यकतानुसार अपने लिये एक ऐसे पूर्वज की कल्पना भी कर लेती थी। उदाहरण के लिये, महाभारत में अंग, वंग, कलिंग, सुह्म और पुण्ड्र इन पाँच जनपदों के आदि संस्थापकों को बलि की

रानी सुदेष्णा के पाँच पुत्र कहा गया है, जिनका जन्म दीर्घतमा ऋषि द्वारा हुआ था। प्रत्येक ने अपने नाम से एक-एक जनपद की स्थापना की (आदिपर्व ९८।३२)। इसी प्रकार पंचाल जनपद के मुद्गल, सृञ्जय, बृहदिषु, प्रवीर और काम्पिल्य इन पाँच जनों के मूलपुरुष राजा हर्यश्व के पाँच पुत्र कहे गए हैं, जिनके नाम भी वे ही थे (विष्णु ४।१९।१५)। इसी प्रकार वाहीक देश के महत्त्वपूर्ण जनपद मद्र और शाल्व के आदि पुरुषों को व्युषिताश्व के पुत्र कहा गया है (आदि ११२।३३)।

भक्ति—अपने जनपद और जनपदिन् अर्थात् जनपद स्वामी क्षत्रियों के प्रति भक्ति यह जनपदीय जीवन की विशेषता थी। पाणिनि ने स्फुटरूप से इसका उल्लेख किया है—जनपदिनां जनपदवत् सर्वं जनपदेन समानशब्दानां बहुवचने (४।३।१००) अर्थात् जहाँ जनपद और जनपदिन् इन दोनों नामों का बहुवचन में एकसा रूप हो वहाँ भक्ति अर्थ में जो प्रत्यय जनपद से होते हैं, वे ही जनपदिन् क्षत्रियों के नामों में भी जोड़े जाते हैं। यद्यपि आचार्य ने सूत्र की शब्द रचना में उदारता से काम लिया है, पर इसका मूल अर्थ इतना ही है कि जनपद और जनपदिन् इन दोनों की भक्ति एक ही शब्द से प्रकट की जाती थी। जैसे आङ्गकः इस शब्द का अर्थ हुआ वह नागरिक या व्यक्ति जो अंग जनपद का भक्त हो, अथवा जो अंग क्षत्रियों का भक्त हो (अङ्गः जनपदो भक्तिरस्य आंगकः तद्वत् अङ्गाः क्षत्रियाः भक्तिरस्य आङ्गकः) इस सूत्र में भक्ति से तात्पर्य राजनैतिक निष्ठा से है। जनपद का प्रत्येक नागरिक उस जनपद एवं वहाँ के क्षत्रियों के प्रति जबतक भक्ति रखता था तभी तक वह वहाँ का नागरिक था। जनपद और जनपदिन् इन दोनों के प्रति भक्ति के मूल में दो प्रकार की विचारधारा काम करती थी। राष्ट्र के प्रति निष्ठा जनपद की भक्ति हुई। इसका उल्लेख 'माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः' इस वाक्य में आया है। जनपद स्वामी क्षत्रियों के प्रति भक्ति का तात्पर्य उस शासन के प्रति निष्ठा से था जो उस समय वहाँ सत्तारूढ़ होता था। जनपदिन् या जनपद स्वामी क्षत्रिय विशेषतः गणराज्यों में मूर्धाभिषिक्त क्षत्रिय होते थे, जो स्वयं राजा कहलाते थे और सब मिलकर जनपद के शासन में योग देते थे। उनके प्रति भक्ति का तात्पर्य उस राजनैतिक निष्ठा से था जो विभिन्न वर्ग या दलों की सदस्यता के रूप में अभिव्यक्त होती थी। प्रत्येक सदस्य के लिये आवश्यक था कि वह अपने गण में किसी वर्ग से संबन्धित हो। उदाहरण के लिये अक्रूरवर्ग्यः, वासुदेववर्ग्यः, अर्थात् अक्रूर या वासुदेव के वर्ग (पक्ष या दल) का व्यक्ति जो उस वर्ग के प्रति भक्ति रखता था। इस राजनैतिक निष्ठा का शासन के लिये महत्त्व था।

यूनान के पुरराज्यों में प्रत्येक नागरिक अपने पुर के प्रति उसके शासक एवं उसके राजनियमों के प्रति आत्यन्तिक निष्ठा को अपने जीवन का सर्वोत्तम गुण मानता था। इस भाव की सर्वोत्कृष्ट अभिव्यक्ति महात्मा सुकरात के इस कथन में पाई जाती है—'जिस प्रकार अपने माता पिता और स्वामी के प्रति, वैसे ही अपने

देश और उसके विधान के प्रति भी, नागरिक को उचित है कि वह अपकार का उत्तर प्रत्यपकार से और घात का प्रतिघात से न दे। देश माता से भी अधिक है उसके लिए सब कुछ सह लेना चाहिए (ग्लोत्स, दि ग्रीक सिटी एण्ड इट्स इन्स्टीट्यूशन्स, पृ० १४०)। प्रत्येक जनपद की भूमि पृथिवी कहलाती थी और वह पृथिवी प्रत्येक नागरिक के लिए उसकी माता थी। नागरिक अपने आपको उसका पुत्र समझता था (माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः, अथर्व० १२।१।१२)। पृथिवी पुत्र की यह भावना जनपदीय जन के जीवन में सबसे बड़ी प्रेरणा थी।

धर्म—जनपदों के जीवन में एक नई प्रेरक शक्ति धर्म के रूप में प्रकट हुई। यह धर्म रीति रिवाजवाला प्राचीन सामयाचरिक धर्म न था, बल्कि धर्म का तात्पर्य उन धारणात्मक नियमों से था जो प्रजा और राष्ट्र को धारण करते हैं। महाभारत में इस शब्द की नई व्याख्या हमें प्राप्त होती है—

नमो धर्माय महते धर्मो धारयति प्रजाः (उद्योग १३७।९)।

ऊपर कहा जा चुका है कि पाणिनि ने कुछ सूत्रों में धर्म के पुराने अर्थ को ग्रहण किया था, किन्तु धर्म शब्द का यह नया अर्थ भी उनके दृष्टि पथ में आ गया था। इसी के लिये धर्मं चरति धार्मिकः (४।४।४१) इस नये शब्द और अर्थ का विकास हुआ। यहाँ चरति का अर्थ है आसेवा अर्थात् जीवन में धारणात्मक धर्म की सर्वात्मना स्वीकृति और तदनुसार आचरण। सामाजिक और सृष्टि व्यापी अखण्ड नियम की संज्ञा धर्म थी। उससे अनपेत या अविरहित भाव को धर्म कहा जाता था। जनपद का ध्येय इस प्रकार के धर्म की पूर्णतम अभिव्यक्ति और उन्नति करना था। इस आदर्श की सर्वोत्तम स्वीकृति केकय देश के राजा अश्वपति के उस उद्गार में पाई जाती है जो उसने महाशाल महाश्रोत्रिय जानपद जन की उपस्थिति में प्रकट किया था —

जनपद में कोई चोर नहीं मेरे, मद्यप और कदर्य नहीं है हेरे।
आहिताग्नि विद्वान सभी सुविचारी, आचारहीन नर नहीं कहाँ नारी ॥[1]

यूनान के पुरराज्य नीति धर्म के आदर्श को दिव्य गुण और ईश्वरीय सत्ता का सर्वोत्कृष्ट रूप मानते थे। पुरराज्यों में और जनपदों में जीवन के उच्चतम परिष्कार की भावना का स्रोत नीति अर्थात् धर्म था।

जनपदों में उत्कृष्ट बुद्धिवाद के नए आदर्श की उपासना की जा रही थी, जिसे इस काल के साहित्य में प्रज्ञा कहा गया है। जनपदों के नागरिक और शासक दोनों के लिये प्राज्ञ आदर्श का उल्लेख महाभारत में कितने ही स्थानों पर आता है

---

१ न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपः।
नानाहिताग्निर्नाविद्वान् न स्वैरी स्वैरिणी कुतः॥ (छान्दोग्य ५।११।५)

(शान्ति ६७।२७)। जनपदों के लिये जिस विनय प्रधान जीवन या आचार की कल्पना की जा रही थी उसे अष्टाध्यायी में (५।४।३४) और शान्तिपर्व में (६४।४) वैनयिक कहा है। यह वैनयिक आदर्श व्यवहार में तभी चरितार्थ किया जा सकता था जब जनपद में सु-शासन की व्यवस्था हो। इसे ही पाणिनि ने सौराज्य की स्थिति कहा जिसके लिए जनपदों का राजन्वान् होना आवश्यक था। इससे विपरीत जनपद अराजक राष्ट्र बन जाता था (शान्ति० ६८।१-६१)।

जनपद्-संस्कृति—अथर्व वेद में कहा है कि पृथिवी बहुत से जनों को धारण करती है जो पृथक् धर्मों के माननेवाले और भिन्न भिन्न भाषाएँ बोलनेवाले हैं (जनं बिभ्रती बहुधा विवाचसं नानाधर्माणं पृथिवी यथौकसम्, अथर्व १२।१।४५)। जन की यह पृथक् स्थिति धीरे धीरे समाप्त हुई और एक जनपद में भाषा धर्म और आर्थिक जीवन की समानताएँ विशेष रूप से प्रकट हुईं। जनपदीय जीवन भेद की अपेक्षा साम्य की ओर अधिक प्रवृत्त हुआ। प्रत्येक जनपद इस बात में स्वतन्त्र था कि वह अपने यहाँ किस प्रकार की शासन-प्रणाली को प्रश्रय दे, अर्थात् वह एकाधीन या राजाधीन हो, गणाधीन हो, अथवा श्रेणी या पूग के रूप में संगठित हो। श्रेण्यादयः कृतादिभिः सूत्र (२।१।५९) में एककृताः, श्रेणिकृताः पूगकृताः इत्यादि शब्द जनपदों में प्रचलित बहुविध शासन पद्धति के वाचक थे। प्रत्येक जनपद अपने जीवन के क्षेत्र में सब प्रकार स्वतन्त्र होता था। प्रत्येक की अपनी प्रभुसत्ता रहती थी, जब तक कि उसके पड़ोसी राज्य उसके स्वातन्त्र्यमें बाधक न बन जाते थे। फिर भी जनपद को संस्कृति, भाषा और धर्म का प्रवाह निर्विघ्न अपने क्रम से प्रवृत्त होता रहता था। व्याकरण साहित्य में कम्बोज, सुराष्ट्र, प्राच्य, उदीच्य आदि जनपदों और देश विभागों की भाषा सम्बन्धी विशेषताओं का कहीं कहीं उल्लेख है। बुद्ध ने यह अनुमति दी थी कि प्रत्येक जनपद उनका उपदेश अपनी भाषा या बोली में प्रचारित करने के लिये स्वतंत्र था। उनका यह भी कहना था कि जिन चैत्य या देवताओं की पूजा किसी जनपद में पहले से चली आती थी उसमें विघ्न न होना चाहिए। प्रत्येक जनपद में अपने अपने प्रमुख यक्ष या नाग देवता के चैत्य या स्थान थे। उनकी पूजा समस्त जनपद का सामान्य धर्म था। बौद्ध, जैन, भागवत आदि व्यक्तिगत धर्म नाग यक्षादि धर्मों और विश्वासों के स्थान में पीछे से प्रचलित हुए। पाणिनि ने कुरु जनपद की सामाजिक और सांस्कृतिक विशेषताओं का कुरुगार्हपतम् इस शब्द में उल्लेख किया है। कात्यायन ने वृजि जनपद के सम्बन्ध में भी इसी प्रकार वृजिगार्हपतम् का उल्लेख किया है।

वैदिक युग के बाद जनपदों में ही भारतीय संस्कृति का नया विकास हुआ। जनपदीय जीवन में प्रज्ञा या बुद्धिप्रधान दृष्टिकोण का अभूतपूर्व उन्मेष हुआ। बुद्धि का यह स्फोट नाना भाँति के शिल्प और अनेक प्रकार की विद्याओं के रूप में प्रकट हुआ। प्रत्येक जनपद में स्थानीय शिल्पों की नींव इसी युग में पड़ी। ये शिल्प आर्थिक जीवन के विकास के नये साधन थे।

पाणिनि ने जीविका के इन साधनों को जानपदी वृत्ति कहा है (४।१।४२)। जनपदीय जीवन के लिये न केवल नए शिल्पों की आवश्यकता का अनुभव किया जा रहा था, बल्कि शिल्पों में निपुण होना सामाजिक प्रतिष्ठा का कारण समझा जाता था। पाणिनि से पूर्व यास्क ने इस स्थिति का निश्चित उल्लेख किया था—

यथा जानपदीषु विद्यातः पुरुषो वेदितृषु च भूयोविद्यः प्रशस्यो भवति (निरुक्त१।१)

अर्थात् एक तो जनपदीय शिल्पों में निपुणता प्राप्त करने से पुरुष प्रशंसनीय होता है, दूसरे वह व्यक्ति श्रेष्ठ समझा जाता है जो वेदितृ जनों के मध्य में कई शास्त्रों का ज्ञाता हो।

प्राचीन शिक्षा-क्रम चरणों में विकसित हुआ था। अब जनपदों के नये युग में दो प्रकार की नई शिक्षा का विकास हुआ, जिनका उल्लेख यास्क के इस वाक्य में है। एक तो जानपदी वृत्ति या शिल्पों में कुशलता प्रतिष्ठा का कारण था। दूसरे ज्ञान के क्षेत्र में जो किसी भी एक शास्त्र या विद्या के जानकार होते थे वे वेदिता कहलाते थे जिनका उल्लेख पाणिनि ने तदधीते तद्वेद सूत्र में किया है। इस प्रकार के वेदितृ व्यक्तियों में जो कई विद्याओं, शास्त्रों या ग्रन्थों के विशेषज्ञ होते थे वे भूयोविद्य रूप में श्लाघनीय समझे जाते थे। शिक्षा के प्रकरण में यह स्पष्ट किया जा चुका है कि वैदिक चरणों से बाहर भी विविध विद्याओं और साहित्य का अत्यधिक विस्तार पाणिनि-युग की विशेषता थी। इस प्रवृत्ति के पीछे एक विशेषता यह थी कि वैदिक साहित्य की परिधि के बाहर शिक्षा और ज्ञान का स्वतन्त्र विस्तार हो रहा था। जनपदों में अनेक दिग्गज आचार्य हुए जिन्होंने कितने ही नये शास्त्रों की उद्भावना की। सच पूछा जाय तो भारतीय साहित्य में विविध शास्त्र और दर्शनों की मूल प्रतिष्ठा का आरम्भ इसी युग में हुआ। इस समय राष्ट्र में ज्ञान का जो चौमुखी विस्फोट हुआ उसका प्रमाण उपनिषदों में, महाभारत में एवं प्राचीन बौद्ध और जैन-साहित्य में पाया जाता है। बौद्धिक विकास के क्षेत्र में यही स्थिति यूनान के पुर-राज्यों में हुई थी। वहाँ भी पुर-राज्यों का युग ज्ञान के चरम उत्कर्ष का युग था। पुराने ढंग की होमरीय शिक्षा का स्थान नये दार्शनिक चिन्तन और नये शिल्पों ने ले लिया था।

जनपद-गुप्ति—यूनानी पुरराज्यों के विषय में कहा गया है—'नागरिकों का कर्त्तव्य है कि जैसे अपने कानूनों के लिये वैसे ही अपने पुर की प्राचीर-रक्षा के लिये भी युद्ध करें' (ग्लौत्स, वही, १३९)। भारतीय जनपदों में एवं आयुधजीवी संघों में नागरिकों का यह कर्त्तव्य था कि वे जनपद की रक्षा के लिये युद्ध के लिये कटिबद्ध हों। सिकन्दर के आक्रमण के समय इसका सर्वोत्तम रूप देखने में आया। जनपद पर जब कोई आकस्मिक विपत्ति आती तो सभापाल अधिकारी साम्नाहिकी भेरी बजाकर सब लोगों को युद्ध के लिये तैयार होने की सूचना देते थे

और नागरिक लोग विमर्श के लिये सभा भवन में एकत्र हो जाते थे। महाभारत में 'कथं रक्ष्यो जनपदः' यह प्रश्न उठा कर जनपद-गुप्ति या उसकी रक्षा या सैनिक तैयारी का विशेष वर्णन किया गया है (शान्ति० ६९।१–७१)। वहां जनपद और पुर दोनों की रक्षा एक दूसरे से अभिन्न मानी गई है (तथा जनपदश्चैव पुरं च कुरुनन्दन। एतत्सप्तात्मकं राज्यं परिपाल्यं प्रयत्नतः॥ शान्ति ६९।६३)। इस सम्बन्ध में अनेक सैनिक संस्थाओं और साधनों का नामोल्लेख किया गया है, जैसे दुर्ग, गुल्म, पुर, शाखानगर, आराम, उद्यान, नगरोपवन, आपण, विहार, सभा, आवसथ चत्वर, राष्ट्र, बलमुख्य, सस्याभिहार, संक्रम, प्रकंठी, आकाशजननी, कडंगद्वारक, द्वार, शतघ्नी, भाण्डागार, आयुधागार, धान्यागार, अश्वागार, गजागार, बलाधिकरण आदि। जनपद गुप्ति के विषय में यहाँ तक कहा गया है कि दुर्ग की रक्षा का प्रबन्ध ऐसा होना चाहिए कि न केवल पुरुष बल्कि स्त्रियाँ भी युद्ध कर सकें।

शासन के विविध प्रकार—मुख्यतः राजाधीन और गणाधीन दो प्रकार के जनपद थे, किन्तु उन में भी विकास की कितनी ही कोटियाँ थीं। उस युग में जनपद मानों विविध प्रकार के शासन की प्रयोग शाला बने हुए थे। एकाधीन जनपद को राजाधीन भी कहते थे, अर्थात् वहाँ राजा और मन्त्रि परिषद् की शासन संस्था का विकास हो चुका था। दूसरे प्रकार के जनपद गण या संघ कहलाते थे। संघों में शासन के अनेक अवान्तर भेद थे। इनमें से पचासों का पाणिनि ने श्रेण्यादयः कृतादिभिः सूत्र में उल्लेख किया है। (२।१।५९) किन्तु अब उनके सूक्ष्म भेद-प्रभेदों को जानने का कोई साधन नहीं है। कुछ संघ विकास की आरम्भिक अवस्था में ही थे। वहाँ के निवासी प्रायः उत्सेधजीवी या लूट-मार करके जीविका निर्वाह करने वाले होते थे। वे अपनी सीमा के भीतर किसी प्रकार की संघीय प्रणाली कायम करके काम चलाते थे। राजशास्त्र की दृष्टि से उनके ये प्रयत्न उच्च कोटि के न थे किन्तु फिर भी लोक में उनका अस्तित्व अवश्य था। इस प्रकार के संघों को व्रात और पूग कहते थे। विशेषतः भारत के उत्तर-पश्चिम में ऐसे सैकड़ों संघों का जाल फैला हुआ था। इनका विशेष विवेचन अगले प्रकरण में किया जायगा।

कुछ महत्त्वपूर्ण सूत्रों में पाणिनि ने शासन सम्बन्धी विशेष प्रयोगों या विविध प्रकारों का इस प्रकार उल्लेख किया है—गण, संघ, अवयव (४।१।६१), त्रिगर्तषष्ठ (५।३।११६), राजन्य (६।२।३४), द्वन्द्व या व्युत्क्रमण (८।१।१५), जनपद, जनपदिन्, अभिषिक्त वंश्य क्षत्रिय, पूग, श्रेणि, ग्रामणी, व्रात, कुमारपूग (६।२।२८) आयुध-जीविन् (५।३।५१), पर्वतीय (४।२।१४३), परिषद्बल राजा (५।२।११२), संधिमिश्र राजा (६।२।१५४) इत्यादि। अनेक संघों में आयुध-जीवी सैनिकों का स्वतन्त्र अस्तित्व था जो युद्ध के लिये सैनिक टुकड़ी के रूप में प्राप्त किए जा सकते थे। कृष्ण ने अपने वृष्णि-संघ के विषय में कहा था कि इस प्रकार के अट्ठारह सहस्र व्रात उनके संघ में थे (अष्टादश सहस्राणि व्रातानां सन्ति नः कुले, सभा पर्व १३।५५)। इसी प्रकार के अनेक व्रात या आयुधजीवी लड़ाके यूनानी पुरराज्यों में

और थ्रेस के पहाड़ी इलाकों में थे। वे युद्ध और लाभ के लोभ से सिकन्दर की सेना में भर्ती होकर आ गए थे।

सभा और परिषद्—प्रत्येक जनपद में चाहे वह राजाधीन था या गणाधीन उसकी एक सभा और एक परिषद् होती थी। सभा राजाधीन जनपदों में राजा के नाम से प्रसिद्ध होती थी, जैसे चन्द्रगुप्त-सभा, पुष्यमित्र-सभा, जिनका उल्लेख पतंजलि ने किया है। जातक कथाओं में प्रायः राजसभा के ५०० सदस्यों का उल्लेख आता है। इस सभा में पौरजानपद प्रतिनिधि एवं अन्य प्रतिष्ठित व्यक्ति और विद्वान् सदस्य होते थे। राजाधीन जनपद में परिषद् से तात्पर्य मंत्रिपरिषद् से था। उसीके कारण 'परिषद्वलो राजा' यह साभिप्राय शब्द लोक में प्रचलित हुआ था। गणराज्यों में सभा के संगठन का आधार कहीं अधिक व्यापक था। संघ या गण में जो मूर्धाभिषिक्त क्षत्रिय या राजन्य होते थे वे सब सभा में बैठने के अधिकारी थे। इसका अच्छा उदाहरण वृष्ण्यन्धक गण की सभा का वह अधिवेशन है जो सुभद्राहरण के अवसर पर सभापाल द्वारा साम्राहिकी भेरी बजाकर बुलाया गया था। कहा है कि उस शब्द से क्षुब्ध होकर भोज, वृष्णि और अन्धक खाना पीना छोड़कर भागते हुए सभा में आए (आदिपर्व २१२।१२)।

भारतीय सभा की तुलना यूनानी पुरराज्यों की सभा के साथ करने से उसके संगठन पर मूल्यवान् प्रकाश पड़ता है। यूनान में सभा की सदस्यता प्राप्त करने के लिये नागरिक को अट्ठारह वर्ष की आयु प्राप्त करना आवश्यक था। तब उसका नाम जन की सूची में पञ्जीबद्ध कर लिया जाता था। किन्तु उसके बाद भी उसके लिए दो वर्ष की सैनिक शिक्षा अनिवार्य थी। अतएव बीस वर्ष की आयु प्राप्त होने के बाद ही नागरिक को अट्ठारह अधिवेशनों में व्यवहारतः सम्मिलित हो पाते थे। पाणिनि ने वयःप्राप्त क्षत्रियकुमार के लिये कवचहर शब्द का उल्लेख किया है (वयसि च, ३।२।१०, कवचहरः क्षत्रियकुमारः)। यह योग्यता अठारह वर्ष की आयु में प्राप्त होती थी। कवचहर की ध्वनि यही है कि वह युवा कुमार सैनिक शिक्षा प्राप्त करने लगता था। उसकी समाप्ति के बाद वह युवा सभेय अर्थात् सभा में भाग लेने योग्य होता था। सभेय वैदिक शब्द था (सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायताम्)। पाणिनि युग में उसके लिये सभ्य यह नया शब्द प्रयुक्त होने लगा था (सभायां साधुः सभ्यः, सभाया यः ४।४।१०५) सभ्य पदवी उसी के लिये प्रयुक्त होती थी जो सभा में सम्मिलित होने की साधुता या योग्यता प्राप्त कर चुका हो।

गण या संघ में प्रतिनिधित्व का आधार कुलों का संगठन था। प्रत्येक कुल एक इकाई माना जाता था। एक कुल का एक प्रतिनिधि शासन में भाग लेने का अधिकारी होता था जो राजा कहलाता था (गृहे गृहे हि राजानः, सभापर्व १४।२)। लिच्छवि गण में ७७०७ कुल और उनके उतने ही राजा (राजानो) थे। चेत जनपद में साठ सहस्र क्षत्रियों की गणना की जाती थी और उन सबकी उपाधि

राजा (राजानो) थी (जातक ६, ५११) यहाँ यह महत्त्वपूर्ण प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या इन सब को गण की सभा में भाग लेने का अधिकार था; यदि था तो इतने बहु संख्यक व्यक्ति गण सभा के अधिवेशन में किस प्रकार भाग लेते थे। किन्तु यूनानी पुरराज्यों के साथ तुलना करने से विदित होता है कि वहाँ भी ऐसी ही प्रथा थी। यूनानी पुरराज्यों में समस्त नागरिकों के लिये राजनीति में भाग लेना आवश्यक था, क्योंकि उनके यहाँ प्रतिनिधि चुनने की प्रथा न थी (ग्लॉत्स, वही पृ० १७५)। उदाहरण के लिये ४३१ ईसवी पूर्व में गणना के अनुसार एथेन्स के पुरराज्य में ४२००० नागरिक थे। यद्यपि सिद्धान्ततः सबको सभा में भाग लेने का अधिकार था, पर उपस्थित जनों की संख्या दो सहस्र से लेकर तीन सहस्र तक से अधिक न होती थी। कुछ प्रस्ताव ऐसे होते थे जिनके लिये "समग्रजन" की सम्मति विधान में आवश्यक थी। ऐसे प्रस्तावों के लिये भी ६००० की गण पूरक संख्या मान ली गई थी अर्थात् उतने सदस्यों की नियत उपस्थिति हो जाने पर वह प्रस्ताव समग्र गण की ओर से सम्मत मान लिया जाता था (ग्लॉत्स, वही, पृ० १५३)। भारतीय गणाधीन जनपदों में भी कुछ इसी प्रकार की व्यवस्था थी। समग्र जन की सभा में ६००० की उपस्थिति का उल्लेख आया है। अथर्ववेद में देवजन के लिये छः सहस्र संख्या का उल्लेख है (ब्रह्मचारिणं पितरो देवजनाः पृथग्देवा अनुसंयन्ति सर्वे······षट्सहस्राः, अथर्व ११।५।२)। यहाँ सर्व देवजन और पृथग् देवजन, जन की द्विविध स्थिति का उल्लेख है। वस्तुतः समस्त जन या गण की जो सभा थी उसीकी आदर्श कल्पना देवजन की सभा में चरितार्थ होती थी। मानवजन की सभा और देवजन की सभा ये दोनों नियम, संगठन और आदर्श की दृष्टि से अभिन्न थीं। वृष्णि संघ के जिस अधिवेशन का उल्लेख ऊपर किया गया है उसमें स्पष्ट लिखा है कि उनकी वह सभा सुधर्मा कहलाती थी जो कि देवताओं की सभा की संज्ञा प्रसिद्ध है (ते समासाद्य सहिताः सुधर्मामभितः सभाम्, आदिपर्व २१२।१०)। इस प्रकार अथर्व वेद में सर्वदेवजन के लिये जो षट्सहस्र संख्या कही गई है उसे गण सभा की संख्या निश्चय पूर्वक माना जा सकता है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि षट्सहस्र की उपस्थिति हो जाने पर समग्रगण की गणपूरक उपस्थिति समझ ली जाती थी। अथर्ववेद में जो पृथग्देवाः का उल्लेख है। उसकी व्याख्या बृहदारण्यक उपनिषत् के उस वर्णन से प्राप्त होती है जिसमें देवों की संख्या ३०००, या ३००, या ३३ कही गई है (बृहदारण्यक ३।९।१)। यह संख्या पृथक् देवजन की नियत उपस्थिति की ओर संकेत करती प्रतीत होती है। जैसे यूनानी पुरराज्यों में ऐसे ही यहाँ के गणराज्यों में जिस समय जन इच्छानुसार सभा में उपस्थित होता तो प्रायः इतनी संख्या हो जाती थी। जन के उस स्वरूप को सर्व जन के मुकाबले में पृथक् जन कहा जाता था। संगतिपरक अन्य व्याख्या के अभाव में इन दोनों संख्याओं को जन सभा की गणपूरक मानना ही युक्तियुक्त जान पड़ता है। इस पृष्ठ भूमि में छान्दोग्योपनिषत् की सर्वदेवजन विद्या का

अर्थ भी स्पष्ट समझा जा सकता है अर्थात् जनपद और गणों के शासन से सम्बन्ध रखनेवाली राजनीति विद्या।

एकराज जनपदों के नाम—पाणिनि ने निम्नलिखित जनपद नामों का सूत्रों में उल्लेख किया है, (१) कम्बोज, (२) गान्धारि, (३) मद्र, (४) साल्वेय, (५) साल्व, (६) कलकूट, (७) कुरु (८) प्रत्यग्रथ, (९) कोसल (१०) अजाद, (११) कुन्ति, (१२) अवन्ति, (१३) अश्मक, (१४) काशि, (१५) मगध, (१६) कलिंग, (१७) सूरमस (१८) सौवीर, (१९) अम्बष्ठ। पतंजलि ने कुछ ऐसे नाम दिए हैं, जिनका सूत्रों में अन्तर्भाव माना है, जैसे विदेह, पंचाल अंग, दार्व, नीप। इनके अतिरिक्त गणाधीन संघों के भी अनेक नाम सूत्रों और गणों में आते हैं। पाणिनीय तिथि क्रम के लिये इन नामों के महत्त्व पर अन्तिम अध्याय में विचार किया गया है।

अध्याय ७, परिच्छेद ६–संघ या गण

गणाधीन संघ—पाणिनि के युग में दो प्रकार की शासनपद्धति मुख्यतः प्रचलित थी, एकराज और संघ। कात्यायन ने इन दोनों पद्धतियों का स्पष्ट नामोल्लेख करते हुए सूचित किया है कि दोनों में मौलिक भेद था (क्षत्रियादेक-राजात् संघ प्रतिषेधार्थम्, ४।१।१६८ वा० १)। एकराज जनपद राजनैतिक परिभाषा के अनुसार एकाधीन और संघ शासनवाले जनपद गणाधीन कहलाते थे। यह स्पष्ट है कि पहले में ऐश्वर्य या प्रभुसत्ता एक व्यक्ति में केन्द्रित रहती थी और दूसरे में वह संपूर्ण गण में निहित होती थी। पाणिनि के युग में एकराज जनपदों का जितना प्रचार और महत्त्व था, उससे कहीं अधिक संघराज्यों का ज्ञात होता है। भारतीय राज्य पद्धति में जनजीवन के मन्थन से समुद्भूत ऐसा महत्त्वपूर्ण और व्यापक प्रयोग उससे पहले, और बाद में फिर कभी देखने में नहीं आया। संघ आन्दोलन ने देश के अतिविस्तृत भूभाग को छा लिया था। संघ आदर्श का आकर्षण इतना अधिक था कि न केवल राजनीति के क्षेत्र में बल्कि परिवारों के गोत्र संज्ञक संगठन में, जाति या सामाजिक पंचायतों के संगठन में, पूग श्रेणी और निगम नामक आर्थिक संस्थाओं के संगठन में, एवं चरण नामक शिक्षासंस्थाओं के संगठन में, सर्वत्र संघ आदर्श में ही जनता की अभिरुचि थी। इसी पृष्ठभूमि में *शाकलः संघः, शाकलः अंकः, शाकलं लक्षणम्* एवं *दाक्षः संघः, दाक्षः अंकः, दाक्षं लक्षणम्* इस प्रकार के उदाहरण ठीक प्रकार समझे जा सकते हैं। जैसे वर्तमान समय में किसी भी प्रकार की सभा या संगठन हो, उसका आदर्श संघ शासन से लिया जाता है, कुछ वैसी ही अवस्था उस युग में थी। ऐसी हवा चली थी कि जनता की शासन पद्धति, अधिकार निर्णय, स्वतन्त्र संगठन, एवं सैनिक

संस्थान आदि के विषय में संघीय आदर्शों का सौरभ वाहीक-त्रिगर्त से लेकर सिन्धु नद के पश्चिमोत्तर कम्बोज-बाल्हीक तक सर्वत्र व्याप्त हो गया था। मोटे तौर पर यह विदित होता है कि देश के प्राच्य भूभाग में राज्य प्रथा और उदीच्य भाग में संघों की प्रथा अधिक प्रचलित थी। अनुश्रुति है कि जरासंध के समय में मगध में ही साम्राज्य की प्रवृत्ति आरम्भ हुई जो कि शिशुनाग और नन्द राजाओं के युग में और भी आगे बढ़ी, यहाँ तक कि मौर्य शासन में एकराज जनपद और गणाधीन संघ इन दोनों को समाप्त करके देशव्यापी साम्राज्य कायम हो गया। कौटिल्य ने संघों के प्रति अपनी नीति का उल्लेख किया है कि संघशासन से राष्ट्र की दृढ़ता में बाधा पड़ती है, अतएव साम्राज्य में उनका अन्तर्भाव हो जाना चाहिए। मौर्य शासन का ढाँचा शिथिल पड़ने के बाद फिर एकबार संघों के फेफड़े नवीनश्वास-प्रश्वास से भर गए, जिनका प्रमाण भारतीय इतिहास में २०० ई० पू० से दूसरी शती ई० तक के अनेक जनपद राज्यों में पाया जाता है। किन्तु संघों की यह करवट चौथी शती ईस्वी में गुप्त साम्राज्य के उदय के साथ सदा के लिये समाप्त हो गई।

संघ—पाणिनि में संघ शब्द के कई अर्थ हैं। संघ का सामान्य अर्थ समूह था, जैसे 'ग्राम्य पशु संघ', इस प्रयोग में (१।२।७३)। संघ शब्द का दूसरा पर्याय निकाय था। पाणिनि ने निकाय के विषय में लिखा है कि यह उस प्रकार का संघ था जिसमें ऊँच और नीच (औत्तराधर्य) का भेद नहीं होता था (संघे चानौत्तराधर्ये ३।३।४२)। इस प्रकार का संघ धार्मिक संघ था, जिसके सब सदस्य परस्पर समानता के व्यवहार से बरतते थे। वस्तुतः धार्मिक संघों की प्रथा पाणिनि के पूर्वयुग में अति सुविदित और लोकव्यापी थी। अनेक धार्मिक आचार्य और प्रचारक अपने अपने संघ और गण की दृष्टि से संघिनः गणिनः कहलाते थे। जो जैसा प्रचार करता या जिसका जैसा व्यक्तित्व होता, उसी के अनुरूप उसके अधीन छोटे बड़े संघ बन जाते थे। अष्टाध्यायी में संघ शब्द का तीसरा अर्थ गणवाची है (संघोद्घौ गण प्रशंसयोः, ३।३।८६)। यह राजनैतिक संघ था, जो अधिकांश में गण नाम से प्रसिद्ध होता था। इस अर्थ में संघ और गण दोनों पर्याय वाची थे। पाणिनि ने यौधेयों को संघ कहा है (५।३।११७), किन्तु उनके अपने सिक्कों पर उन्हें गण कहा गया है। अवश्य ही ये सिक्के उन यौधेयों के हैं, जो पाणिनि से लगभग ४०० वर्ष बाद सक्रिय और सुसंगठित थे। उनकी गण पद्धति में कोई अन्तर न पड़ा था।

निकाय—पाणिनि ने जिस धार्मिक संघ को निकाय कहा है, उसका राजनैतिक संघ से पूरा मेल था, केवल एक बात में भेद था। वह यह कि राजनैतिक संघों में शासन-सत्ता कुछ ही परिगणित कुलों में केन्द्रित होती थी, जिनका अभिषेक मंगल किया जाता था, और जो इस कारण अभिषिक्त वंश्य क्षत्रिय या राजन्य

कहलाते थे। गण में दूसरी जाति के लोगों को शासन सत्ता का अधिकार न था। जाति परक यह भेद धार्मिक संघ में बिलकुल न था। वह समानता के आधार पर संगठित होता था।

संघ शासन, राजन्य—एकराज जनपद का अधिपति भी राजा कहलाता था, एवं संघ शासन के अन्तर्गत प्रभुसत्ता या ऐश्वर्य सम्पन्न जितने कुल थे, उन कुलों के प्रतिनिधि भी राजा कहलाते थे। लिच्छवियों के ७७०७ कुलों में हरेक का प्रतिनिधि 'राजा' पदवी धारण करता था—एकैक एव मन्यते अहं राजा अहं राजेति (ललित विस्तर)। इसी राजा पदवी के आधार पर कौटिल्य ने संघों को राज शब्दोपजीवी कहा है, अर्थात् जिनके सदस्य राजा का बिरुद धारण करते थे (अर्थ० ११।१)। प्रत्येक 'राजा' या कुल के प्रतिनिधि क्षत्रिय को गण के ऐश्वर्य या प्रभु सत्ता में समान अधिकार प्राप्त था। पीढी दर पीढी सतर्कता पूर्वक उस अधिकार की रक्षा की जाती थी। लिच्छवियों के वैशाली नगर में गण के अन्तर्गत राजाओं के जितने कुल थे, उनके अभिषेक का जल एक विशेष पुस्करिणी या कुण्ड से लिया जाता था, जिसे मंगल पुष्करिणी कहते थे (वैशाली नगरे गणराज कुलानां अभिसेक मङ्गल पोक्खरणी, जातक ४।१४८)। उस पुष्करिणी का जल राज्य के ऐश्वर्य का प्रतीक था। अतएव जिन कुलों में प्रभु सत्ता परिनिष्ठित थी, उन्हें ही मंगल पुष्करिणी से अभिषेक के लिये जल पाने का अधिकार प्राप्त होता था।

यह अभिषेक किस अवसर पर किया जाता था, इस प्रश्न का उत्तर इस प्रकार है। प्रत्येक कुल में उस कुल का वृद्ध या बड़ा बूढ़ा ही मूर्धाभिषिक्त होता था। यह मूर्धाभिषेक महत्त्वपूर्ण प्रथा थी। कुल वृद्ध पिता के अनन्तर उसके पुत्र का मूर्धाभिषेक बड़े समारोह पूर्वक किया जाता था। आज कल की भाषा में इस लोक प्रथा को पगड़ी बांधना कहते हैं। इस प्रकार कुल में जिसका अभिषेक हुआ हो, वह मूर्धाभिषिक्त व्यक्ति कुल वृद्ध य। भिषिक्त वंश्य कहलाता था।

गण के अन्तर्गत राजाओं के जितने कुल या परिवार होते थे, उनके क्षत्रिय अपत्यों के लिये राजन्य यह परिभाषिक संज्ञा थी। पाणिनि ने राजश्वशुराद्यत् (४।१।१३७) सूत्र में राजा के अपत्य अर्थ में राजन्य शब्द सिद्ध किया है। उस पर कात्यायन का वचन है कि राजन्य शब्द से केवल क्षत्रिय अपत्य का ही ग्रहण होता था। इस सूचना को पाणिनि के राजन्यबहुवचनद्वन्द्वे अन्धकवृष्णिषु (६।२।३४) इस सूत्र के साथ मिलाकर देखें तो राजन्य शब्द के अर्थ की पूरी व्यंजना स्पष्ट हो जाती है। इस सूत्र की व्याख्या में काशिका ने स्पष्ट लिखा है—राजन्य ग्रहणमिह अभिषिक्त वंश्यानां क्षत्रियाणां ग्रहणार्थम्, अर्थात् अन्धक वृष्णि संघ के अन्तर्गत जो अभिषिक्त वंश्य क्षत्रिय थे, उन्हीं का यहाँ राजन्य शब्द से ग्रहण किया गया है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि जनपदों के जो मूल संस्थापक क्षत्रिय थे, जिनके नाम से जनपदों का नामकरण

हुआ था (जनपद समानशब्द क्षत्रिय), जिनके वंशजों या परिवारों या कुलों में राजसत्ता का अधिकार पीढ़ी दरपीढ़ी सुरक्षित रहता था, वे ही अभिषिक्त वंश्य क्षत्रिय होते थे और उन्हीं के लिये राजन्य यह उपाधि प्रयुक्त होती थी। एक-राज जनपद में इस प्रकार का व्यक्ति केवल एक अर्थात् स्वयं राजा ही हो सकता था, किन्तु गणाधीन संघों में इस प्रकार के मूर्धाभिषिक्त क्षत्रियों के बहुसंख्यक परिगणित परिवार होते थे, जो गण-राज-कुल कहलाते थे। उन्हीं के समूह के लिये कुलसंख्या शब्द भी था।

कुल और पारमेष्ठ्य शासन—गण शासन की इकाई कुल या परिवार थी। ये कुल वे ही थे जो गणराजकुल इस प्रतिष्ठित संज्ञा के अधिकारी होते थे। महाभारत में उल्लेख है कि ये कुल एक दूसरे की तुलना में समानाधिकार रखते थे—जात्या च सदृशाः सर्वे कुलेन सदृशास्तथा (शान्तिपर्व १०८।३०), अर्थात् सब मूर्धाभिषिक्त क्षत्रिय जन्म और कुल इन दोनों बातों में एक दूसरे के सर्वथा समान होते थे, कोई किसी प्रकार की विशिष्टता का दावा न कर सकता था। कौटिल्य ने भी संघ का आधार कुलों को ही माना है। महाभारत सभापर्व में (१४।२-६) साम्राज्य शासन पद्धति और कुल के आधारपर संगठित गणशासन पद्धति के भेद और तारतम्य का मौलिक विवेचन किया गया है। वहाँ संघपद्धति के लिये पारमेष्ठ्य शब्द का प्रयोग हुआ है। पारमेष्ठ्य और श्रैष्ठ्य ये दोनों पारिभाषिक शब्द थे, जिनका प्रयोग ऐतरेय ब्राह्मण की उस सूची में आता है, जहाँ ऐन्द्र महाभिषेक के अन्तर्गत स्वाराज्य, भौज्य, वैराज्य, साम्राज्य, पारमेष्ठ्य आदि पद्धतियों का नामोल्लेख किया गया है। महाभारत के इस प्रकरण में पारमेष्ठ्य राज्य की निम्नलिखित विशेषताएँ कही गई हैं—

(१) पारमेष्ठ्य शासन में प्रत्येक गृह या कुल में राजा होते हैं और वे अपने अपने कुल का प्रिय या स्वार्थ सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं (गृहे गृहे हि राजानः स्वस्य स्वस्य प्रियंकराः)।

(२) साम्राज्य पद्धति सबको हड़पकर सारा अधिकार एक व्यक्ति में केन्द्रित कर देती (सम्राट् शब्दो हि कृत्स्नभाक्)। गणों की भावना इसके ठीक विपरीत होती है, वे शक्ति के एकत्र केन्द्रित होने के अभ्यस्त नहीं होते (न च साम्राज्यमाप्तास्ते)।

(३) पारमेष्ठ्य शासन में सब लोग दूसरे के अनुभाव या व्यक्तिगरिमा को स्वीकार करते हैं (परानुभावज्ञः) और मेलजोल से व्यवहार करते हैं (परेण समवेतः)। वे स्वयं अपनी प्रशंसा नहीं करते, जैसे साम्राज्यवादी किया करते हैं।

(४) गणराज्य में जनपद की विशाल भूमि दूर दूर तक अनेक प्रकार के रत्नों से और जीवन के कल्याणों से भरी पुरी रहती है। इसके विपरीत साम्राज्य

में सब कुछ सम्राट् के राजकुल या राजधानी में संचित होकर रह जाता है (विशाला बहुला भूमिर्बहुरत्न समाचिता। दूरंगत्वा विजानाति श्रेयो वृष्णि कुलोद्वह)।

(५) पारमेष्ठ्य शासन में शम या शान्ति शासन का आधार होती है। जो लोग यह कहते हैं कि शम केवल मोक्षमार्ग से प्राप्त होता है, उनका कहना यथार्थ नहीं। राज्यशासन में भी यदि पारमेष्ठ्य आदर्श स्वीकार किया जाय और साम्राज्य मनोवृत्ति को छोड़ दिया जाय तो शम की प्राप्ति संभव है (शममेव परं मन्ये न तु मोक्षाद् भवेत शमः)। साम्राज्य का मूल बल है, पारमेष्ठ्य का शम। तस्मादेतद् बलादेव साम्राज्यं कुरुतेऽद्य सः)।

यह निश्चित है कि आरम्भ अर्थात् सैनिक पराक्रम से पारमेष्ठ्य आदर्श की प्राप्ति नहीं हो सकती (आरंभे पारमेष्ठ्यं तु न प्राप्य मिति मे मतिः)।

(६) पारमेष्ठ्य शासन में कभी कोई श्रेष्ठ होता है, कभी कोई (कश्चित् कदाचिदेतेषां भवेच्छ्रेष्ठो जनार्दन), अर्थात् कुलों की शासन प्रणाली में चुनाव के द्वारा श्रेष्ठता या परमता कभी किसी के पास चली जाती है, कभी किसी के पास (सभापर्व १४।६)।

ऊपर का विवेचन मार्मिक है। मगध के जिस साम्राज्यवाद ने गणों को समाप्त किया, उसी को तोड़ने के लिए जरासंध वध के विषय में कृष्ण युधिष्ठिर के परामर्श की भूमिका रूप में पारमेष्ठ्य शासन के विषय में यह कहा गया है। कुलों के आधार पर संगठित पारमेष्ठ्य पद्धति ही गण या संघ पद्धति थी। कुलसंस्था पाणिनि के कितने ही उन सूत्रों को समझने की कुंजी है, जिनमें गोत्रापत्य और युवापत्य-वाची शब्दों के निर्माण के नियम बताए गए हैं। उस प्रकरण में पाणिनि ने ऋषिगोत्रों के अतिरिक्त लोक में प्रसिद्ध क्षत्रियवाची अथवा जातिवाची कुलों के गोत्रापत्यों का भी उल्लेख किया है। उदाहरण के लिये पहले सूत्र में ही (गोत्रे कुञ्जादिभ्यश्च्फञ् ४।१।९८) कुञ्ज और ब्रध्न नाम ऋषि गोत्रों की सूची में न होने के कारण लौकिक थे। वस्तुतः समाज एवं शासन दोनों का मूलाधार कुलसंस्था थी। कुल का प्रतिनिधि कुलवृद्ध कहलाता था (शान्ति० १०८।२७)। पाणिनि ने भी उसे वृद्ध कहा है (वृद्धो यूना तल्लक्षणश्चेदेव विशेषः, १।२।६५; वृद्धशब्दः पूर्वाचार्य-संज्ञा गोत्रस्य, काशिका; और भी काशिका ४।१।१६६, अपत्यमन्तर्हितं वृद्धमिति शास्त्रान्तरे परिभाषणात् गोत्रं वृद्धमित्युच्यते; कात्यायन ४।१।९० वा० ५; भाष्य १।२।६८)। कुलवृद्ध के लिये ही पाणिनि में गोत्र शब्द था। इसके अनुसार गोत्रकृत् अर्थात् परिवार के मूल संस्थापक और उसके अनन्तरापत्य अर्थात् पुत्र के अति-रिक्त पौत्र प्रभृति सब अपत्य गोत्र कहलाते थे। व्यवहार में बात ऐसी थी कि एक परिवार में उस समय जो कुलवृद्ध होता था, वही गोत्र था। गोत्रवाचक जिन प्रत्ययों का विधान किया गया है, उनके अनुसार उसका नाम पड़ता था। उसी को

पाणिनि ने वंश्य भी कहा है (जीवति तु वंश्ये युवा ४।१।१६३)। उसके अतिरिक्त अन्य व्यक्ति युवा कहलाते थे। उदाहरण के लिये गोत्रकृत् गर्ग, उसका पुत्र गार्गि; उसका पौत्र (गोत्रापत्य) गार्ग्य, एवं प्रपौत्र (युवापत्य) गार्ग्यायण कहलाता था। गार्ग्य के जीवन काल में गार्ग्यायण उस कुल का प्रतिनिधि नहीं हो सकता था। इस प्रथा की सामाजिक पृष्ठभूमि और महत्त्व के विषय में पहले लिखा जा चुका है (पृ० १०८–१०९)। राजनैतिक क्षेत्र में भी गोत्र और युव संज्ञक नामों का उतना ही महत्त्व था। गार्ग्य के बाद गार्ग्यायण गार्ग्य बन जाता था, इस क्रम से गण राजकुलों में ऐश्वर्य या प्रभुसत्ता की परम्परा पीढी दर पीढी चलती थी।

संघ शासन के अनेक प्रकार—अष्टाध्यायी की सामग्री से संघों के संविधान की तरल अवस्था का जैसा परिचय प्राप्त होता है, वैसा अन्यत्र नहीं। उस समय वाहीक एवं उत्तर पश्चिमी प्रदेश में नाना प्रकार के संघराज्य थे, जिनमें शासन की अनेक कोटियाँ थीं। कुछ तो बहुत ही उन्नत श्रेणी के संघ थे, जिनमें सभा, परिषत्, संघमुख्य, वर्ग, अंक, लक्षण आदि संघ शासन की प्रमुख विशेषताओं का विकास हो चुका था। कुछ संघ अभी विकास की आरंभिक अवस्था में थे। कुछ उत्सेध जीवी या लूटमार करके आत्मनिर्वाह करनेवाले कबीलों ने अपना एक मुखिया चुनकर किसी प्रकार संघशासन का शिथिल सा संगठन खड़ा कर लिया था। इनमें भी व्रात और पूग जैसी कई कोटियाँ थीं। इस प्रकार की आयुधजीवी जातियों का राजनैतिक संगठन श्रेणि भी कहलाता था। कितनी सरलता या स्वाभाविकता से नए संघों का संगठन हो जाता था, यह बात सावित्रीपुत्रों के उदाहरणों से ज्ञात होती है। सावित्री-सत्यवान् की जो संतति हुई, उसके सौ कुटुम्ब (पुत्रशत) जब हो गए, तो उन्होंने अपने आपको सावित्री पुत्रक नामक संघ के रूप में संगठित कर लिया। उनमें से प्रत्येक अपने आपको राजा की पदवी से विभूषित करता था, जैसी की गणराज कुलों की प्रथा थी (वनपर्व २९७।५८; कर्णपर्व ५।४९; पाणिनि का दामन्यादिगण ५।३।११६)।

श्रेणियों के एककृत संगठन—आयुधजीवी संघों के विषय में विस्तार से अगले प्रकरण में विचार किया जायगा। यहाँ कुछ उन शब्दों की ओर ध्यान दिलाया जाता है, जो श्रेणियों के संविधान की विभिन्न कोटियों के वाचक थे। उनका उल्लेख एकमात्र अष्टाध्यायी में सौभाग्य से बचा रह गया है। यह उल्लेखनीय है कि यूनान के पुरराज्यों में भी संविधान की ऐसी ही तरल अवस्था थी। राजनैतिक घटनाओं के दबाव से वे पुरराज्य जो पड़ोसी होते या जिनका परस्पर अन्य किसी प्रकार का संबन्ध होता था, आपस में मिल जाते थे और बड़ी संस्था का निर्माण कर लेते थे। परिणाम स्वरूप भिन्न भिन्न प्रकार के संमिलित संघ अस्तित्व में आ गए। सर्वत्र ही संमिलन का अनिवार्य आधार यह होता था कि दोनों राज्य मिलकर समान संविधान मान लेते थे। इस प्रकार के सम्मिलित

संविधान को सिमपालिटी (Sympolity) कहा गया है जिसका अर्थ ठीक वही है जो पाणिनि के 'एककृताः' (श्रेण्यादि गण, २।१।५९) का था।

यूनानी पुरराज्यों में 'एककृत' संविधानों के इतने प्रकार और कोटियाँ हैं कि उनकी ठीक परिभाषा या उनके लिये यथार्थ नाम का चुनाव कठिन समस्या बन जाती है। पाणिनि के युग में इस प्रकार के जो अनेक भेद उपभेद थे, उनका संग्रह आचार्य ने श्रेण्यादयः कृतादिभिः सूत्र में कर दिया है।

श्रेणि शब्द के दो अर्थ थे। एक तो शिल्पियों की औद्योगिक संस्थाएं या संगठन श्रेणि कहलाते थे। प्राचीन काल में अट्ठारह श्रेणियों की गणना की जाती थी। दूसरे संघों के राजनैतिक संगठन को भी श्रेणी कहते थे, जैसा कि कौटिल्य ने छह प्रकार की सेना के अन्तर्गत श्रेणिबल अर्थात् आयुधीय श्रेणियों की सेना—इस प्रयोग में उल्लेख किया है (९।२)। अर्थशास्त्र में काम्भोज, सुराष्ट्र आदि को शस्त्रोपजीवी क्षत्रिय श्रेणि कहा है (११।१)। महाभारत में भी श्रेणि शब्द का इस अर्थ में कई बार प्रयोग हुआ है। सूत्र गत श्रेणि शब्द के तुरन्त बाद एक और पूग इन दो पारिभाषिक शब्दों का गण में उल्लेख है। ये तीनों तीन प्रकार की शासन प्रणालियाँ थीं। श्रेणि संघ का और 'एक' राजतन्त्र का वाचक था। पूग विकास की आरंभिक दशा में रहनेवाली जंगली जातियों का वाचक था। इन तीनों के शासन के भेदोपभेद कृतादि गण के शब्दों द्वारा अभिव्यक्त किए गए हैं। श्रेणि से संबन्धित विधान की कोटियाँ और प्रकार ये थे—

(१) श्रेणि-कृताः—परिस्थिति की अनिवार्यतावश जो बिखरी हुई अवस्था छोड़ कर श्रेणि रूप में संगठित हो गए हों।

(२) श्रेणि-मिताः—वे जन या कबीले जिन्होंने परिमित रूप में श्रेणि का सैनिक संगठन स्वीकार कर लिया हो।

(३) श्रेणि-मताः—श्रेणियों का ऐसा संगठन, जिसे स्वेच्छा से अपनी अपनी श्रेणि व्यवस्था को कायम रखते हुए स्वीकार किया हो।

(४) श्रेणि-भूताः - ऐसे कबीले जो पूरी तरह से मिलकर एक श्रेणि के रूप में संगठित हो गए हों।

(५) श्रेणि-उक्ताः—ऐसे दो समुदाय जो कहने मात्र के लिये एक श्रेणि के रूप में संयुक्त हो गए हों अन्यथा जिनकी सत्ता सर्वथा पृथक् हो।

(६) श्रेणि-समाज्ञाताः—संभवतः दो श्रेणियों के बीच में इस प्रकार का समझौता जिसके द्वारा वे अपने कुछ विशिष्ट अधिकारी जैसे महत्तर आदि को दोनों के लिये समान रूप से स्वीकार कर लेते थे। यूनानी पुरराज्यों में भी कई नगर मिलकर महत्तर या मजिस्ट्रेट स्वीकार समान रूप से कर लेते थे।

(७) श्रेणि-समाम्नाताः—कई जनपदों को एक में मिलाकर ऐसी श्रेणि का निर्माण जिसमें किसी का एक भाग और किसी का अन्य भाग संयुक्तकिया गया हो।

(८) श्रेणि-समाख्याताः—दो श्रेणियों का अभिन्न रूप से एक में मिल जाना या परस्पर सम्बन्धित हो जाना।

(९) श्रेणि-संभाविताः—अपनी अपनी जन-संख्या को एक दूसरे के साथ सम्मिलन या परिवर्तन करके जो श्रेणियाँ एक में ग्रथित हो गई हों। पुरराज्यों में इसे समानौकस् स्थिति (Synoecism) कहते थे।

(१०) श्रेणि-अवधारिताः—वे श्रेणियाँ जो कुछ निर्धारित बातों में ही संयुक्त या सहग्रथित हुई हों।

(११) श्रेणि-निराकृताः—इस प्रकार की श्रेणियाँ जो पहले संयुक्त थीं, पर अब संगठित संघ से पृथक् हो गई हों।

(१२) श्रेणि-अवकल्पिताः—इस प्रकार की श्रेणियाँ जो अपनी आयुधीय शक्ति या सैनिक बल के आधार पर एक दूसरे के साथ संयुक्त होने की स्थिति में हों।

(१३) श्रेणि-उपकृताः—दो श्रेणियों का सम्मिलन, जिसमें एक छोटा जनपद बड़े जनपद के साथ संयुक्त हुआ हो और इस प्रबन्ध द्वारा वह किन्हीं अंशों में लाभान्वित हुआ हो।

(१४) श्रेणि-उपाकृताः—ऐसी दो श्रेणियाँ जो किसी पड़ोसी राजशक्ति के आतंक से परस्पर संयुक्त होने या शासनगत सान्निध्य के लिये बाध्य हुई हों।

इन शब्दों के जो अर्थ दिए गए हैं, वे संभावित हैं। किन्तु भाषा में शब्दों का अस्तित्व सूचित करता है कि उनके अर्थों के अनुरूप संस्थाओं का अस्तित्व लोक में था। संभव है भविष्य में प्राचीन साहित्यिक सामग्री के सूक्ष्म अध्ययन से इन पर अधिक प्रकाश डाला जा सके। इसी प्रकार पूगसंज्ञक संघों के शासन से संबन्धित निम्नलिखित शब्दावली श्रेण्यादिगण से प्राप्त होती है—

(१) पूग-कृत, (२) पूग-मित, (३) पूग-मत, (४) पूग-भूत, (५) पूग-उक्त, (६) पूग-समाज्ञात, (७) पूग-समाम्नात, (८) पूग-समाख्यात, (९) पूग-संभावित, (१०) पूग-अवधारित, (११) पूग-निराकृत, (१२) पूग-अवकल्पित (१३) पूग-उपकृत, (१४) पूग-उपाकृत।

एक-शासन से सम्बन्धित निम्नलिखित शब्दावली भी प्राप्त होती है—(१) एक-कृत, (२) एक-मित, (३) एक-मत, (४) एक-भूत, (५) एक-उक्त, (६) एक-समाज्ञात, (७) एक-समाम्नात, (८) एक-समाख्यात, (९) एक-संभावित, (१०) एक-अवधारित, (११) एक-निराकृत, (१२) एक-अवकल्पित, (१३) एक-उपकृत, (१४) एक-उपाकृत।

इन उदाहरणों से यह कल्पना होती है कि संघ राजनैतिक शासन की महती प्रयोगशालाएँ थीं। उनके स्वरूप, संविधान, शासन, सैनिक संगठन, परस्पर संबन्ध एवं नागरिक जीवन के कितने विभिन्न प्रकार थे, इसका केवल अनुमान किया जा

५६

सकता है। सभी संघ आदर्श से प्रेरित और अनुप्राणित थे और उस आदर्श की मर्यादा के भीतर अनेक प्रकार के शासन रूपों का विकास कर रहे थे। एक अभि-व्यंजक उदाहरण व्याकरण साहित्य से प्राप्त होता है। क्षुद्रक और मालव वाहीक देश के दो प्रसिद्ध गणराज्य थे। दोनों की स्वतन्त्र राजनैतिक सत्ता और पृथक् भौगोलिक स्थिति थी। दोनों ने स्वेच्छा से आत्महित के लिये समझौता किया था कि युद्ध के समय उनकी सेनाएँ समान नेतृत्व में लड़ेंगी। इस संयुक्त सेना की संज्ञा क्षौद्रकमालवी सेना थी (क्षुद्रकमालवात् सेना संज्ञायाम् गणसूत्र, खण्डिका दिभ्यश्च ४।२।४५)। सिकन्दर के आक्रमण के समय वह अवसर आया कि जब समान शत्रु से प्रतिरोध लेने के लिये दोनों संघों की सेना युद्ध-भूमि में साथ उतरती। किन्तु कहा जाता है कि सेनापति के चुनाव के सम्बन्ध में मतभेद हो जाने से वैसा न हो सका और मालवों से पृथक् क्षुद्रकों ने आक्रमणकारी का सामना किया (तुलना कीजिए, एकाकिभिः क्षुद्रकैः जितम्)।

अवयव—सूत्र ४।१।१७३ में पाणिनि ने एक प्रकार की राजनैतिक स्थिति का उल्लेख किया है, जिसे अवयव कहते थे। साल्व जनपद के छह अवयव थे—उदुम्बर तिलखल, मद्रकार युगन्धर, भूलिंग और शरदण्ड। पतंजलि के अनुसार अजमीढ, अजक्रन्द और बुध भी साल्वावयव थे (भाष्य ४।१।१७०)। इन स्थानों की पहचान पहले की जा चुकी है। (पृ० ७२-७३)। उससे ज्ञात होता है कि साल्व जनपद के अवयव उत्तरी राजस्थान से लेकर कांगड़ा के पठानकोट तक फैले हुए थे। बीच बीच में और जनपदों के आ जाने के कारण भौगोलिक दृष्टि से वे लगातार बसे हुए नहीं थे। किन्तु राजनैतिक दृष्टि से सब अपने को साल्व जनपद के शासन के अन्तर्गत अथवा किसी प्रकार संबन्धित मानते थे। उदुम्बर के साल्व क्षत्रिय तिलखल के साल्व क्षत्रिय, युगन्धर के साल्व क्षत्रिय, इस प्रकार की व्यवस्था की पृष्ठभूमि से यह ज्ञात होता है कि साल्व क्षत्रियों की सैनिक टुकड़ियों ने अपने मूल संस्थान से इन-इन प्रदेशों में फैल कर वहाँ-वहाँ उपनिवेश बसा लिए थे और स्थानीय जनता पर शासन करने लगे थे। प्राचीन यूनानी पुरराज्यों के एक प्रकार के संवि-धान से इस स्थिति की संभावना पर प्रकाश पड़ता है। वहाँ एथेन्स के पुरराज्य में ऐसी प्रथा थी कि वहाँ के आक्रान्ता सैनिक अन्य पुरराज्यों की भूमि पर सहस्रों की संख्या में जा बसते थे और उस-उस नाम से पुकारे जाते थे, जैसे इम्ब्रो या साइक्रो के अथीनीय लोग (ग्लॉत्स, वही पृ० २८२)।

भक्ति—ऊपर जनपदों की जिस भक्ति या नागरिकता सम्बन्ध का उल्लेख किया है (सूत्र ४।३।१००, जनपदिनां जनपदवत् सर्वं जानपदेन समान शब्दानां बहुवचने) वह संघों के लिये भी चरितार्थ होती थी। उदाहरण के लिये वृजि संघ के प्रति भक्ति जिसमें थी वह वृजिक कहलाता था। यह उल्लेखनीय है कि पाणिनि ने भक्ति शब्द का प्रयोग व्यापक अर्थ में किया है। देवता की भक्ति, जनपद की भक्ति,

संघ की भक्ति, नगर की भक्ति, गोत्र की भक्ति, क्षत्रिय विशेष की भक्ति, यहाँ तक कि मालपुआ, खीर आदि खाद्य पदार्थों के प्रति अभिरुचि को भी भक्ति के अन्तर्गत लिया गया है। काशिका ने लिखा है—भज्यते सेव्यते इति भक्तिः। यहाँ कर्मवाच्य में प्रत्यय है। जनपद आदि की भक्ति राजनैतिक सम्बन्ध पर आधारित हो सकती थी और अनिवार्यतः वही अर्थ यहाँ लेना आवश्यक है। नगर के प्रति नागरिकता का सम्बन्ध स्रौघ्नः (स्रुघ्नः भक्तिरस्य), माथुरः (मथुरा भक्ति रस्य) इन शब्दों से व्यक्त किया जाता था। सूत्र ६।२।१२ के उदाहरणों में काशिका ने प्राच्यसप्तसमः, गान्धारि सप्तसमः इन दो शब्दों का उल्लेख किया है, अर्थात् जो सात वर्ष के लिये प्राच्य अथवा सात वर्ष के लिये गान्धारि बन गया हो। भाव यह हुआ कि जिसने उक्त कालावधि के लिये उस जनपद में निवास की अर्हता या अधिकार नियमतः प्राप्त कर लिया हो। अर्थ शास्त्र से ज्ञात होता है कि राजधानी या जनपद में बाहर से आने वालों का लेखा-जोखा रखा जाता था और उन्हें मुद्रांकित प्रमाण पत्र दिए जाते थे।

राजनैतिक दल या वर्ग—संघ के अन्तर्गत पृथक्-पृथक् दलों के संगठन की प्रथा थी। ऐसे दलों को पाणिनि ने द्वन्द्व कहा है। सत्ता प्राप्ति के लिये उनकी स्पर्धा और प्रतिद्वन्द्विता को व्युत्क्रमण कहा गया है (द्वन्द्वं व्युत्क्रमणे, ८।१।१५)। द्वन्द्वं व्युत्क्रान्ताः' का तात्पर्य हुआ कि संघ के सदस्य दल के रूप में पृथक्-पृथक् अवस्थित हो गए हैं (व्युत्क्रमणं भेदः, पृथगवस्थानम्। द्विवर्गसम्बन्धेन पृथगवस्थिताः द्वन्द्वं व्युत्क्रान्ता इत्युच्यन्ते, काशिका)। पाणिनि ने तीन अन्य शब्दों का इसी अर्थ में और उल्लेख किया है। (१) वर्ग्य (४।३।५४), (२) गृह्य (३।१।११९), (३) पक्ष्य (३।१।११९), जैसे वासुदेववर्ग्याः, वासुदेवगृह्याः, वासुदेवपक्ष्याः; अर्थात् उस दल के सदस्य जिसके नेता वासुदेव थे। इसी प्रकार पतंजलि ने सूत्र ४।२।१०४ वा० ११ की व्याख्या में अक्रूर के दल का भी उल्लेख किया है, जिसके सदस्य अक्रूरवर्ग्याः कहलाते थे। आज कल की तरह उस समय भी संघों का यह स्वाभाविक नियम था कि दल का नाम नेता के नाम पर पड़ता था, जैसा कि वर्ग्यादयश्च (६।२।१३१) सूत्र से सूचित किया है। इसके अनुसार दल के सदस्य का वाचक उत्तरपद में और नेता का नाम पूर्वपद में प्रयुक्त होता था। वासुदेववर्ग्यः, वासुदेवपक्ष्यः उदाहरणों में वर्ग्य और पक्ष्य के वकार का स्वर उदात्त होता था। यह साभिप्राय है। संघ सभा के अधिवेशन में किसी ज्ञप्ति या प्रस्ताव के समय जो मतदान या शलाका-ग्रहण किया जाता था, उस समय दल के नेता का महत्व उतना न था, जितना दल के सदस्य का। उस परिस्थिति में ही वर्ग्य या पक्ष्य शब्द का आदि उदात्त उच्चारण संभव था। इसके विपरीत परम-वर्ग्यः इस शब्द में परम पूर्व पद का आदि स्वर उदात्त होता था।

परमवर्ग्य—दल के सदस्यों में जो परम या दल का नेता होता था, वह परम वर्ग्य कहलाता था। इसमें परम शब्द परिभाषिक है। सूत्र का यह प्रत्युदाहरण

उसी प्रकार प्राचीन और मूर्धाभिषिक्त था, जिस प्रकार कि वासुदेववर्ग्य आदि उदाहरण। पारमेष्ठ्य नामक शासन प्रणाली में भी 'परम' पारिभाषिक रूप में प्रयुक्त है। जैसा पहले कहा जा चुका है, पारमेष्ठ्य शासन कुलों के आधारपर चुनाव द्वारा संपन्न होनेवाली पद्धति थी, जिसमें कभी कोई श्रेष्ठ चुन लिया जाता था और कभी कोई (कश्चित् कदाचिदेतेषां भवेच् श्रेष्ठः, सभा १४।६)।

ऐतरेय ब्राह्मण में श्रैष्ठ्य, अतिष्ठा और परमता इन तीन शब्दों का उल्लेख आया है।[1] तीनों ही उस समय की पारिभाषिक शब्दावली से लिए गए थे। उनके अर्थों में अवश्य ही भेद होना चाहिए। उपलब्ध सामग्री से इस पर प्रकाश की कुछ किरणें प्राप्त होती हैं। परमवर्ग्य (परमश्चासौ वर्ग्यश्च) शब्द से सूचित होता है कि दल के सब सदस्यों में जो सदस्य अगुआ चुना जाता था, वह उनमें परम कहलाता था। इस प्रकार एक ही दल के अन्तर्गत उसका नेतृत्व परमता पद की प्राप्ति हुई। किन्तु संघ के अन्तर्गत जितने भी कुल थे, उन सब कुलों में जो सबका अधिपति चुन लिया जाता था, वह श्रेष्ठ कहलाता था, जैसा कि इस वाक्य से स्पष्ट है—
एवमेवाभि जानन्ति कुले जाता मनस्विनः। कश्चित् कदाचिदेतेषां भवेच् छ्रेष्ठो जनार्दन॥
यहाँ 'कुले जाताः' पद से गण के समस्त कुलों का ग्रहण है। सभी कुल मिलकर संघ के अतिपति का चुनाव करते थे। इस प्रकार एक वर्ग का नेता परम और गण का अधिपति श्रेष्ठ कहलाता था। अतिष्ठा का तात्पर्य दो पदों की समानता में एक की प्राथमिकता (प्रिसिडेन्स) से है। तुल्यबल की स्थिति में एक को अतिरिक्त या प्रथम मान देने की प्रथा थी, जैसे वासुदेव और अक्रूर दोनों अपने अपने दल के परमवर्ग्य या नेता होने के कारण समानबल या पदवाले थे। ऐसे अवसर पर जहाँ दोनों उपस्थित हों वहाँ एक की प्राथमिकता का निश्चय 'अतिष्ठा' नियम के अनुसार हो सकता था। क्षुद्रक और मालव इन दोनों की संमिलित क्षौद्रक-मालवी सेना के अपने अपने सेनापति या नेताओं के पद समान थे। पर युद्ध के समय दो नेता या सेनापति नहीं हो सकते थे, अतएव दोनों का समझौता था कि एक बार क्षुद्रकों का सेनापति होगा तो दूसरी बार मालवों का। यही अतिष्ठा की स्थिति ज्ञात होती है।

वग्ग और समग्ग—संघ के अन्तर्गत एक दल के लिये वर्ग और संपूर्ण संघ के लिये समग्र ये पारिभाषिक शब्द थे। एक वर्ग के बहुमत से किया हुआ कार्य या निश्चय वर्ग संघकर्म एवं सर्वसम्मति से किया हुआ कार्य समग्र संघकर्म कहलाता था। बुद्ध ने कहा था कि जहाँ तक संभव हो संघ में वर्गकर्म को प्रोत्साहन न देना

---

(१) स य इच्छेद् एवंवित् क्षत्रियोऽहं सर्वा जितीर्जयेयम्, अहं सर्वाँल्लोकान्, विन्देयम्, अहं सर्वेषां राज्ञां श्रैष्ठ्यम्, अतिष्ठां परमतां गच्छेयम्, साम्राज्यं भौज्यं स्वाराज्यं वैराज्यं पारमेष्ठ्यं, राज्यं माहाराज्यमाधिपत्यम्, अहं समन्तपर्यायी स्यां सार्वभौमः सार्वायुष आन्ताद् आपरार्धात् पृथिव्यै समुद्रपर्यन्तायाः एकराडिति (ऐ० ८।१५)।

चाहिए। यथासंभव सब निश्चय समग्र संघ की संमति से होने चाहिएं (सुत्ता संकम्म सामग्गी ••• नेव भिक्खवे वग्गेन संघ कम्मं कातव्यम्, महावग्ग)।

व्याश्रय—सदस्यों का अपने अपने दल या पक्ष में विभक्त हो नाना व्याश्रय कहलाता था (नानापक्ष समाश्रयो व्याश्रयः काशिका)। इसके लिये भाषा में विशेष शब्द प्रयोग काम में आने लगा था, जिसका उल्लेख षष्ठ्या व्याश्रये (५।४।४८) सूत्र में है; जैसे देवा अर्जुनतोऽभवन्, आदित्या कर्णतोऽभवन्।

छन्द—मत के लिये छन्दस् प्राचीन पारिभाषिक शब्द था। तेलपत्तजातक में राजा के चुनाव का वर्णन करते हुए लिखा है—अथ सब्बे अमच्चा च नागरा च एकच्छन्दा हुत्वा (जातक १।३९९), अर्थात् तक्षशिला के सब नगरनिवासिओं और अमात्यों ने सर्वसंमति से बोधिसत्त को अपना राजा चुना। संघ के वे निश्चय जो मतदान से किए जाते थे, छन्दस्य कहलाते थे (छन्दसो निर्मिते ४।४।९३, इच्छा पर्याय श्छन्दःशब्द इह गृह्यते, काशिका)।

गणपूरण—गण, संघ, पूग इनके अधिवेशनों में नियत उपस्थिति का नियम था। न्यूनातिन्यून जितने सदस्यों की उपस्थिति होने पर संघ का अधिवेशन नियमित समझा जाता था, वह नियत उपस्थिति कहलाती थी। ऐसा व्यक्ति जिसके उपस्थित होने जाने से नियत संख्या की पूर्ति होती हो, उसके लिये भाषा में विशेष शब्द था, जैसे पूगस्य पूरणः पूगतिथः, गणस्य पूरणः गणतिथः, संघस्य पूरणः संघतिथः (बहुपूगगणसंघस्य तिथुक् ५।२।५२ थे पूर्यतेऽनेनेति पूरणम्, येन संख्या संख्यानं पूर्यते सम्पद्यते, स तस्याः पूरणः, काशिका ५।२।४८)। महावग्ग (३।३।६) में जिसे गणपूरक कहा गया है, वही पाणिनि का गणपूरण या संघपूरण था। उदाहरण के लिये यदि किसी संघ या गण या पूग के अधिवेशन में न्यूनतम उपस्थिति १०० मानी गई थी, तो गणपूरण या संघपूरण सदस्य का कर्तव्य था कि अपने अतिरिक्त ९९ सदस्योंको उपस्थित कराकर स्वयं १०० की संख्या पूरी करनेवाला बने। इस प्रकार गणपूरण या गणतिथ उसी व्यक्ति की संज्ञा होती थी जिसे आजकल सचेतक (अं० ह्विप) कहते हैं।

अंक और लक्षण—जैसा ४।३।१२७ सूत्र में (संघाङ्कलक्षणेष्वञ् यञिञामण्) कहा गया है प्रत्येक संघका अंक और लक्षण होता था। लक्षण का तात्पर्य उस प्रतीक चिह्न से था जिसे संघ अपनी मुद्रा, सिक्के या ध्वजा आदिके लिये चुन लेता था। इस प्रकार के अनेक लक्षण भारतीय संघों एवं जनपदों के सिक्कों पर पाए गए हैं। पाणिनि ने स्वयं उन लक्षणोंका उल्लेख किया है, जो पशुओं की पहचान के लिये उनके कानों पर अंकित किए जाते थे। महाभारत में योद्धाओं की ध्वजा पर अंकित चिह्नों को लक्षण, लक्ष्म और रूप कहा है (द्रोणपर्व १०५।२, १०, २५।३०) दुर्योधन की गौओंके स्मारण में लक्षण और अंक पर्यायवाची हैं (वनपर्व २४०।५), पर पाणिनि ने लक्षण और अंक में भेद किया है। लक्षण शब्द आकृति या चिह्न के

(9831) [illegible]

लिये था जिसे कालान्तर में लाञ्छन भी कहने लगे। अंक वह नाम या वाक्य था, जो मुद्रा आदि पर लिखा जाता था जैसे यौधेय गण की मुद्राओं पर 'यौधेयगणस्य जयः' अंक था एवं कुक्कुट के साथ शक्तिधर कुमारकी मूर्ति या षण्मुखी षष्ठी की मूर्ति लक्षण था[१]। सूत्र ४।३।१२७ पर गार्गः संघः, गार्गः अङ्कः, गार्गं लक्षणम् इन उदाहरणों से सूचित होता है कि प्रचलित संघ आदर्श के अनुसार संगठन एवं उन्हीं के जैसे बाह्य चिह्नों को स्वीकार कर लेने की प्रथा का समाज के प्रत्येक क्षेत्र में व्यापक प्रचार हो गया था। गर्ग गोत्र एवं शाकल चरण जैसी संस्थाओं ने भी अपने आपको संघरूप में संगठित कर लिया था एवं उनके भी अंक और लक्षण होते थे। कालान्तर में यह प्रथा इतनी बढ़ी कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी मुद्रा के लिये अंक और लक्षण का चुनाव करने लगा। ऐसी निजी नामांकित मुद्राएं या मिट्टी की मुहरें कई सहस्र की संख्या में मिली हैं, जो अधिकांश में शुंगकाल से गुप्तकाल (ई० पू० २०० से ६०० ई० तक) की हैं।

जय—आद्युदात्त जयशब्द पारिभाषिक था (जयः करणम्, ६।१।२०२)। यह विजयार्थक दूसरे जय शब्द से भिन्न था, जिसमें अन्तोदात्त स्वर होता है। पहला जय शब्द 'मालवानां जयः,' 'यौधेयगणस्य जयः' आदि गणराज्यों के सिक्कों पर पाया जाता है। इसका संकेत था कि वह मुद्रा मालवगण की जय थी, अर्थात् उनके ऐश्वर्य की प्रतीक थी। जितने प्रदेश में मालव गण की प्रभुसत्ता थी, वहां तक वह मुद्रा उनकी जय का चिह्न थी। मालवों के क्षेत्र में केवल मालव ही सिक्कों के रूप में जय के परम अधिकारी थे।

संघपरिषत्—परिषद्वलो राजा शब्द से सिद्ध होता है कि एकराज जनपदों में राजा के साथ उसकी परिषत् शासन का संचालन करने के लिये होती थी। राजा और परिषद् के सम्मिलित अधिकार से शासन का संचालन किया जाता था। प्रश्न है कि संघ शासन में शासन की व्यवस्था किस प्रकार की थी। ऊपर संघसभा का उल्लेख हो चुका है, जिसमें समस्त कुलों के प्रतिनिधि संमिलित होकर विचार करते थे। वास्तविक शासन के लिये संघमुख्य के अतिरिक्त एक छोटी संस्था की आवश्यकता थी। उसे परिषत् कहते थे। जिस प्रकार राजा शब्दका व्यवहार एकराज जनपद और गण दोनों में होता था, उसी प्रकार परिषत् का भी। नच्च जातक में संघ के अन्तर्गत परिषत् (परिसा) का उल्लेख आता है जो शासन सूत्र का संचालन करने वाली छोटी समिति थी।

इस सम्बन्ध में पाणिनि के दो सूत्रों पर विचार करना आवश्यक है—

---

(१) वर्तमान भारतीय मुद्रा पर सिंहांकित ध्वज लक्षण और 'सत्यमेव जयते' अंक है।

(१) संख्यायाः संज्ञा संघसूत्राध्ययनेषु (५।१।५८)। पञ्चपरिमाणमस्य पञ्चकः; सप्तकः, अष्टकः संघः।

(२) पञ्चदशतौ वर्गे वा (५।१।६०)। पञ्च परिमाणमस्य पञ्चद्वर्गः, पञ्चको वर्गः; दशद्वर्गः दशको वर्गः।

इस प्रकार पञ्चक संघ और पञ्चकवर्ग ये दो शब्द सामने आते हैं, जिनके अर्थों में अवश्य ही भेद रहा होगा। पतंजलि ने ५।१।५८ सूत्र के उदाहरण में पञ्चकः दशकः विंशकः संघः अर्थात् ५,१० और २० सदस्यों वाले संघों का उल्लेख किया है (भा० ५।१।५८)। ज्ञात होता है कि ५,१० या २० सदस्यों वाले संघ का तात्पर्य संघके अन्तर्गत उसकी परिषत् के सदस्यों की संख्या से था। अन्तगड-दसाओ में द्वारावती नगरी में कृष्ण वासुदेव की अध्यक्षता में दाशार्ह संघ का वर्णन करते हुए समुद्र विजय प्रमुख दस सदस्यों का उल्लेख आता है (समुद्दविजय पामोक्खाणं दसण्हं दसाराणं, अन्तगडदसाओ, वैद्य संस्करण, पृ० ४)। प्रसिद्ध है कि अन्धक वृष्णि संघ के अन्तर्गत दाशार्ह क्षत्रियों की शाखा थी, जिसका नेता (प्रमुख) समुद्र विजय था और उसके दस मुख्य साथी थे। इसकी व्याख्या पाणिनि या पतंजलि के दशक संघ से होती है। उसी ग्रन्थ में बलदेव प्रमुख पंच महावीरों का उल्लेख है जो कि उसी संघ की वृष्णि शाखा के अन्तर्गत पाँच प्रमुख सदस्यों की परिषत् थी। पाणिनि के शब्दों में वह पञ्चकसंघ हुआ। बलदेव, कृष्ण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध और साम्ब इस पञ्चक संघ में थे।

पञ्चद्वर्ग, दशद्वर्ग—पञ्चदशतौ वर्गे वा (५।१।७) सूत्र में जिस पञ्चद्वर्ग या पञ्चकवर्ग का उल्लेख है, वह ऊपर के पञ्चक संघ से भिन्न संस्था होनी चाहिए। पाली साहित्य से इस पर कुछ प्रकाश पड़ता है। महावग्ग (९।४।१ चाम्पेयस्कन्धक) में पाँच प्रकार के भिक्षु संघ का उल्लेख है—चतुर्वर्ग भिक्षुसंघ, पञ्चवर्ग भिक्षुसंघ, दशवर्ग भिक्षुसंघ, विंशतिवर्ग भिक्षुसंघ। उसी ग्रन्थ में (५।१३।२) यह भी कहा है कि किसी नए भिक्षु को उपसम्पदा देने के लिये समस्त संघ की उपस्थिति में दीक्षा प्रथा का पालन किया जाता था। पर मध्यदेश से दूर अवन्ति दक्षिणापथ जैसे सीमान्त स्थित जनपदों में भिक्षुओं की संख्या कम होने से वहाँ दीक्षा देने वाले भिक्षुओं की आवश्यक संख्या मिलने में कठिनाई होती थी। कभी कभी ऐसा होता कि केवल दो या तीन भिक्षु ही उपसम्पदा दे देते थे। जब बुद्ध को यह बात विदित हुई तो उन्होंने नियम बनाया कि उपसम्पदा या दीक्षा के लिये दस भिक्षुओं से कम का वर्ग न होना चाहिए (न ऊन दशवग्गेन उपसम्पादतेव्वो १।३१।२)। दीक्षा के अतिरिक्त अन्य कार्यों में पाँच भिक्षुओं की न्यूनतम संख्या रक्खी गई (पंचवग्गगण)। द्विवग्ग या तिवग्ग गण का निषेध करके बुद्ध ने वग्गकम्मता अर्थात् ५ या १० भिक्षुओं के वर्ग से कार्य सम्पादन की अनुमति प्रदान की। साधारण नियमों के अनुसार नए भिक्षु की उपसम्पदा या दीक्षा

संघकर्म माना जाता था उसे प्रत्यन्त जनपदों के लिये वर्गकर्म कर दिया गया। और जो यह नियम था कि वर्ग द्वारा संघकर्म न होना चाहिए, उसे शिथिल कर दिया गया। इस पृष्ठभूमि में पंचक और दशकवर्ग या पञ्चद् वर्ग, दशद्वर्ग का अर्थ व्यवहार में ५ या १० सदस्यों की समिति था जो गण या संघ की ओर से कार्य-विशेष के सम्पादन के लिये नियुक्त की जाती थी। बुद्ध ने संघ के लिये जिस प्रथा की अनुमति दी, वह राजनैतिक संघ या गणों से ली गई होगी।

बहुतिथः—बहुपूगगण संघस्य तिथुक् (५।२।५२) सूत्र में संघतिथः, पूगतिथः, गणतिथः का अर्थ स्पष्ट है। उसी प्रसंग में बहुतिथ (बहूनां पूरणः) भी पारिभाषिक शब्द होना चाहिए। संघ या गण की सभा में जहाँ सर्वसम्मति से संघ कर्म या निश्चय करना सम्भव न होता, वहाँ बहुमत से (येभुय्यसि०) निश्चय किया जाता था। बहुमत के लिये दो-तिहाई, एक-तिहाई या आधे-आधे सदस्यों की संख्या गिनने की जो भी प्रथा किसी निश्चय विशेष के लिये लागू होती थी, उसमें जो व्यक्ति उस बहुसंख्या की पूर्ति करता था, उसे बहुतिथ कहा जाता था।

अध्याय ७, परिच्छेद ७—आयुधजीवी संघ

पाणिनि में कुछ संघों को आयुधजीवी कहा है[1] (५।३।११४-११७)। इस प्रकरण में लगभग चालीस संघों के नाम आए हैं। उनकी भौगोलिक पहचान आगे की जायगी। आयुध से जीविका निर्वाह करने वाला आयुधीय या आयुधिक कहलाता था (आयुधाच्छ च, ४।४।१४, आयुधेन जीवति)। कौटिल्य ने दो प्रकार के जनपदों का उल्लेख किया है—आयुधीयप्राय और श्रेणीप्राय (यदि वा पश्येत् आयुधीयप्रायः श्रेणीप्रायो मे जनपदः, अर्थ० ७।१)। किन्तु संघवृत्तप्रकरण में काम्भोज सुराष्ट्र नामक क्षत्रिय श्रेणियों को वार्ताशस्त्रोपजीवी एवं लिच्छवि वृजि मल्ल मद्र कुकुर और कुरुपंचाल को राज शब्दोपजीवी कहा है (११।१)। इससे सूचित होता है कि लिच्छवि आदि उन्नत संघ कुलों के आधार पर संगठित थे, जिनमें प्रत्येक कुल का प्रतिनिधि राजा कहलाता था। इसके विपरीत कम्बोज सुराष्ट्र आदि श्रेणियाँ शस्त्रोपजीवी या आयुधीय संघ थे। उनका राजनैतिक विकास अपेक्षाकृत आरम्भिक अवस्था में था। ये ही पाणिनीय परिभाषा में आयुधजीवी एवं पालि साहित्य के योधाजीव संघ थे। कुरुपंचाल का संघ संगठन काशिका ६।२।३४ में इंगित है।

१—आयुधजीवीसंघाञ्ञ्यड्वाहीकेष्वब्राह्मणराजन्यात् (५।३।११४)।
वृकाट्टेण्यण् (५।३।११५)।
दामन्यादित्रिगर्तषष्ठाच्छः (५।३।११६)।
पर्श्वादियौधेयादिभ्यामणञौ (५।३।११७)।

चार प्रकार के आयुधजीवी—सूत्रकार ने आयुधजीवी संघों का सूक्ष्मता से पर्यवलोकन किया था। उन्होंने अपनी सामग्री को चार भागों में बाँटा है—(१) वाहीक देश के आयुधजीवी संघ (५।३।११४); (२) पर्वत या पहाड़ी इलाकों के आयुधजीवी (४।३।९१); (३) पूग नामक आयुधजीवी संघ, जो ग्रामणी नामक नेताओं की अध्यक्षता में संगठित थे (५।३।११२); (४) व्रात, जो सर्वथा उत्सेधजीवी दशा में जीवन व्यतीत करते थे और जिनमें संघ प्रणाली नाम मात्र को ही थी (५।३।११३; ५।२।२१)। वाहीक अर्थात् व्यास से सिन्ध नदी तक के प्रदेश में फैले हुए यौधेय, क्षुद्रक, मालव आदि गणराज्य अपेक्षाकृत उच्चकोटि की संघ प्रणाली के अनुयायी थे।

पर्वतीय संघ—उत्तर पच्छिमी भारत के मानचित्र पर दृष्टि डालने से दो बड़े पहाड़ी प्रदेश दिखाई पड़ते हैं। एक त्रिगर्त से दार्वाभिसार तक का प्रदेश और दूसरे सिन्ध से काँपिशी-कम्बोज तक का विस्तृत भूभाग। ये पहाड़ी राज्य अधिकांश में आयुधजीवी संघ शासन के माननेवाले थे (आयुधजीविभ्यश्छः पर्वते ४।३।९१)। महाभारत में गान्धारराज शकुनि को पर्वतीय कहा गया है। काशिका में पर्वतीय आयुधजीवियों के निम्नलिखित उदाहरण हैं—हृद्गोलीयाः, जिनका मूलस्थान हृद्गोल था (संभवतः जलालाबाद के दक्षिण हड्डा, श्यूआन् च्वाङ् का हि-लो); अन्धकवर्तीयाः; रोहितगिरीयाः जो कि रोहितगिरि या रोह में फैले हुए थे। रोह अफगानिस्तान का मध्यकालीन नाम था। सभापर्व में लोहित प्रदेश के दस मण्डल राज्यों का उल्लेख है (सभा० २४।१६) जो कि अफगानिस्तान का उत्तरपूर्वी और मध्यभाग था, जहाँ इस समय कोहिस्तान का इलाका है। मार्कण्डेय एवं अन्य पुराणों में जिन जनपदों को पर्वताश्रयी कहा है, वे ही पाणिनि के पर्वतीय आयुधजीवी संघ थे। उनमें नीहार या नगरहार की भी गणना है, जो आधुनिक जलालाबाद का प्राचीन नाम था, जहाँ हृद्गोल या हड्डा का पहाड़ी प्रदेश है। हंसमार्ग (दरदिस्तान के उत्तर हुंजा) नामक जनपद की गिनती भी पर्वताश्रयी देशों में थी। अतएव ये कश्मीर और अफगानिस्तान के पहाड़ी प्रदेशों के निवासी थे जिन्हें पर्वतीय आयुधजीवी कहा गया है। उद्योग पर्व में प्रतीच्याः पार्वतीयाः अर्थात् पश्चिमी भारत के पर्वतीयों का उल्लेख है (उद्योग ३०।२४)। द्रोणपर्व में स्पष्टतः उन्हें 'संघा गिरिचारिणः' एवं 'गिरिगह्वरवासिनः' कहा गया है (द्रोण० ९३।४८)। भीष्मपर्व (९।६८) में गिरिगह्वर नामक जन या कबीले का उल्लेख है, जिसका शब्दार्थ है पहाड़ों की गुफा या गारों में रहनेवाले कबायली लोग। महाभारत में इसका स्पष्ट उल्लेख है कि सिन्धु नदी के किनारे पर बसी हुई महाबली जातियाँ ग्रामणी संज्ञक नेताओं की अध्यक्षता में संगठित थीं और ग्रामणीय कहलाती थीं (सिन्धुकूलाश्रिता ये च ग्रामणीया महाबलाः, सभापर्व ३२।९)।

इस प्रकार पाणिनि में उल्लिखित संघों के भौगोलिक विस्तार का त्रिविध परिचय प्राप्त होता है—(१) वाहीक के आयुधजीवी, जो सिन्धु के पूर्व में व्यास

सतलज तक फैले हुए थे। इन्हीं के समीप पर्वतीय आयुधजीवियों का एक विशेष गुच्छा त्रिगर्त या कुल्लूकांगड़ा में था, जिन्हें पाणिनि ने त्रिगर्तषष्ठ यह विशेष नाम दिया है (५।३।११६)।

(२) पूग नामक आयुधजीवी जो सिन्धु के दोनों किनारों के प्रदेश में ग्रामणी संविधान द्वारा संचालित थे। ये वही थे जिन्हें आजकल कबायली कहा जाता है।

(३) पर्वतीय आयुधजीवी, जिनमें अफगानिस्तान, हिन्दुकुश और दरदिस्तान की अनेक पहाड़ी जातियाँ थीं। इनमें से बहुत से व्रात स्थिति में जीवन व्यतीत करते थे। ये प्राचीन व्रात्य थे, जिनके विषय में आगे विचार किया गया है। इन तीनों में जो संघ मध्य देश के आर्य सन्निवेशों के पड़ोसी थे, वे सभ्यता और शासन की दृष्टि से अधिक उन्नत थे। जो प्रत्यन्त निवासी थे, वे उतनी ही पिछड़ी दशा में थे।

श्रेणि, पूग, और व्रात—वाहीक और पर्वतीय प्रदेशों में छोटे बड़े आयुधजीवी संघ इस प्रकार भरे हुए थे, जैसे कटहल में कोए। उनके राजनैतिक संविधान और शासन अनेक प्रकार के थे। सबसे अधिक विकसित प्रथा संघ या गण कहलाती थी। गणशासन में भी कितने ही भेद थे, जिनमें कुछ इतने विकसित थे कि समस्त जनपद की ओर से अपनी मुद्राएँ ढालने की स्थिति में थे। किन्तु संघों के अतिरिक्त जो आयुधजीवी थे, उनमें श्रेणी, पूग और व्रात, ये तीन विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। कौटिल्य का यह संकेत है कि लिच्छवि और वृजि जैसे उन्नत गणाधीन राज्यों की अपेक्षा शस्त्रोपजीवी श्रेणी राज्य अभी कुछ कम विकसित हो पाए थे। वे अपना निर्वाह वार्ता अर्थात् खेतीबाड़ी या गोपालन से करते थे। उनसे नीचे की कोटि में पूग और व्रात थे जो अपने निर्वाह के लिये लूट मार पर ही निर्भर थे (उत्सेधजीविनः)। महाभारत में दुर्योधन की ओर से युद्ध करने वालों में अनेक श्रेणियों का उल्लेख है, जिनके सदस्यों की संख्या बहु सहस्र तक होती थी (श्रेण्यो बहुसाहस्रा संशप्तक गणाश्रये कर्ण० ५।४०)।

श्रेण्यादयः कृतादिभिः (२।१।५६) सूत्र में पाणिनि ने उस प्रक्रिया की कुछ झाँकी दी है, जिसके अनुसार विभिन्न आयुधजीवी जातियाँ एक अवस्था को पीछे छोड़ कर उससे विकसित दूसरे रूप में अपने को संगठित कर लेती थीं; जैसे, अश्रेण्यः श्रेण्यः कृताः श्रेणिकृताः, इस प्रयोग की पृष्ठभूमि में ऐसे जन थे, जो पहले श्रेणि रूप में संगठित नहीं थे, किन्तु संघीय नवचेतना के प्रभाव में आकर श्रेणि संविधान को अपना लेते थे। श्रेणियों के संगठन पर कुछ प्रकाश वर्तमान अग्रवाल जाति की अनुश्रुतियों से पड़ता है। कहा जाता है कि अगरोहे में राजा अग्रसेन की सन्तति इनकी पूर्वज थी और वे क्षत्रिय से वैश्य बन गए। अगरोहे की खुदाई में प्राप्त सिक्कों में अग्रोदक नगर के अग्र जनपद का उल्लेख है। अग्र जनपद की

वार्ताशस्त्रोपजीवी श्रेणि या अग्र श्रेणि ही कालान्तर में अग्रसेन नामक मूल पुरुष मान ली गई। किंवदन्ती के अनुसार इनका संगठन कुलों पर आश्रित था जिनके हाथों में राजसत्ता केन्द्रित थी। ये अष्टादश कुल थे। उनके शत संख्यक पुत्र पौत्र थे जिनकी गणना एक लाख कही जाती है। श्रेणि में सम्मिलित होने वाले नए कुल को एक-एक रुपया देकर लक्षाधिपति कर देने की प्रथा थी। यह अनुश्रुति श्रेणि के अन्तर्गत कुलों की समान सामाजिक स्थिति को सूचित करती है। वार्ता (कृषि वाणिज्य पशुपाल्य) द्वारा जीविका निर्वाह इस श्रेणि की विशेषता थी जो अर्थ शास्त्र के वार्ताशस्त्रोपजीवी लक्षण से मिल जाती है। जैसे अग्र जाति के अष्टादश कुलों ने मिल कर अपनी श्रेणि संगठित कर ली, वैसे ही पंजाब की अन्य अनेक जातियों की स्थिति मूल रूप में श्रेणि की ही थी। उनके लिये ही श्रेणिकृताः श्रेणिभूताः शब्द वैसे राजनैतिक प्रयोग के सूचक थे।

पूग आयुधजीवी संघ की अपेक्षा कम एवं व्रात की अपेक्षा अधिक विकसित संघ पूग थे। नाना जातीया अनियतवृत्तायोऽर्थकामप्रधानाः संघाः पूगाः (काशिका), अर्थात् कई जाति या कबीलों के लोगों का संघ जिनकी जीविका या निर्वाह के साधन कई प्रकार के होते थे। अधिकांश में वे लूटमार की अवस्था से ऊपर उठ कर कुछ अर्थोपार्जन का सिलसिला अपना लेते थे। इस प्रकार के संघ व्रात और श्रेणि के बीच की अवस्था में थे। श्रेणी और पूग बाद में चल कर आर्थिक संगठन भी बन गए थे, किन्तु पाणिनि के काल में दोनों ही राजनैतिक संस्थाएँ थीं। बहुपूगगणसंघस्य तिथुक् (५।२।५२) सूत्र में पूग, संघ और गण तीनों राजनैतिक संस्थाएँ थीं, जहाँ पूग का गण पूरक पूगतिथ कहलाता था।

ग्रामणी—पूग संस्था की वास्तविक स्थिति को समझने के लिये प्रमाण सामग्री की तीन कड़ियाँ ध्यान देने योग्य हैं—एक तो महाभारत का यह उल्लेख कि ग्रामणी संविधान के अनुयायी कबीले सिन्धु नदी के किनारे पर आबाद थे दूसरे पाणिनि का यह उल्लेख कि कुछ ऐसे कबीले थे, जिनका नाम ग्रामणी के नाम से प्रसिद्ध होता था (स एषां ग्रामणीः ५।२।७८); और तीसरे अंगुत्तर निकाय का उल्लेख कि ग्रामणी दो प्रकार के थे, एक ग्राम ग्रामणी और दूसरे पूग ग्रामणी। पाणिनि ने स्वयं कहा है कि पूगों का घनिष्ठ संबन्ध ग्रामणी से था। पूगाञ्ञ्योऽग्रामणी पूर्वात् (५।३।११२) सूत्र में पूगों का नामकरण दो प्रकार से सूचित किया है, एक ग्रामणी के नाम से और दूसरा अन्य आधार पर। जैसे लाल झंडेवाला पूग लोहध्वज कहलाता था, पर देवदत्तकाः यज्ञ दत्तकाः उस पूग का नाम होता था जिसका ग्रामणी देवदत्त या यज्ञदत्त हो। इस शब्दरूप की सिद्धि 'स एषां ग्रामणीः' सूत्र से होती है (देवदत्तः ग्रामणीः एषां त इमे देवदत्तकाः। यज्ञदत्तकाः)। यह प्रथा सीमाप्रान्त के कबायली इलाकों में आजतक जीवित है। अनेक पठान कबीलों या खेलों के नाम अपने मूल पुरखा या संस्थापकों के नाम से होते हैं, जैसे

इसाखेल, यूसुफजई। यद्यपि अब ये सब मुसलमान हो गए हैं, किन्तु नामकरण की प्राचीन प्रथा वही है। इनका जातीय जिरगा पूर्वकालीन संघ शासन का बचा हुआ रूप है। देवदत्तकाः यज्ञदत्तकाः आदि ग्रामणी से बना हुआ नाम कुछ थोड़े समय के लिये नहीं, बल्कि पीढ़ी दर पीढ़ी चलता था।

प्रश्न हो सकता है कि स एषां ग्रामणीः सूत्र में ग्रामणी का अर्थ गाँव का मुखिया क्यों न लिया जाय। इसका एक उत्तर यह है कि गाँव के मुखिया के नाम से ग्रामवासियों के नामकरण की प्रथा लोक में कहीं नहीं है। दूसरा प्रमाण पाली साहित्य से प्राप्त होता है, जिसके अनुसार ग्रामणी दो प्रकार के होते थे, एक ग्राम-ग्रामणी, दूसरे पूग-ग्रामणी[1]। पाणिनि के सूत्र में ग्राम ग्रामणी नहीं, पूगग्रामणी से अभिप्राय है। स्वयं सूत्रकार ने पूगाञ्ञ्योऽग्रामणीपूर्वात् सूत्र में पूग के ग्रामणी का उल्लेख किया है।

नकुल की पश्चिम दिग्विजय के प्रसंग में सिन्धु नद के किनारे पर रहनेवाले ग्रामणियों का वर्णन आया है। पाणिनि और सभापर्व की सामग्री की एक-सूत्रता करने से पूग नामक ग्रामणी संघों की भौगोलिक स्थिति का परिचय हो जाता है। पाणिनि ने उनमें से कुछ संघों के नाम पर्श्वादिगण (५।३।११७) में गिनाए हैं। उदाहरण के लिये अशनि, जिनकी पहचान शिनवारी से की जा सकती है। उन्हींका दूसरा कबीला जो कार्षबुन कहलाता है, इसी गण में पठित कार्षापण नामक आयुधजीवी संघ ज्ञात होता है। राजन्यादिगण (४।२।५३) में पठित आप्रीत वर्तमानकाल के अफ्रीदी हैं। एवं अश्वादिगण में पठित पविन्द वर्तमानकाल के पविन्दे हैं, जो गोमल नदी की द्रोणी में बसे हुए हैं। आज भी ये सब आयुधजीवी जातियाँ हैं जो अपने जिरगे से शासित होती हैं।

कुमार पूग—पूगेष्वन्यतरस्याम् (६।२।२८) सूत्र में कुमारपूगों का उल्लेख है, जैसे कुमारचातकाः, कुमारलोहध्वजाः, कुमारबलाहकाः, कुमारजीमूताः (काशिका)। कौटिल्य में भी संघशासन के अन्तर्गत संघमुख्य और कुमारक इन दो विभागों का उल्लेख है (अर्थ० ११।१)। ये दोनों वे ही हैं जिन्हें पाणिनि ने ग्रामणी और कुमार कहा है; अथवा गोत्रशासन के अन्तर्गत जिन्हें वृद्ध और युवा कहा जाता था; अथवा व्रात्यों में (कात्यायन श्रौत सूत्र के अनुसार) इसीसे मिलते जुलते ज्येष्ठ और कनिष्ठ नामक संगठन थे।

---

(१) यस्स कस्सचि महानाम कुलपुत्तस्स पंच धम्मा संविजन्ति, यदि वा रञ्ञो खत्तियस्स मुद्धाभिसित्तस्स, यदि वा रट्ठिकस्स पेत्तनिकस्स, यदि वा सेनाग्र सेनापतिकस्स; यदि वा *गामगामणिकस्स, यदि वा पूगगामणिकस्स*, ये वा पन कुलेसु पच्चेकाधिपच्चं कारेन्ति (अंगुत्तरनिकाय, पालिटेक्स्ट सोसायटी संस्क० भाग ३, पृ० ७६, जायसवाल हिन्दूराजतन्त्र)।

व्रात—व्रात उन लड़ाकू जातियों की संज्ञा थी, जिनका आर्यों के साथ संघर्ष हुआ था और जो लूट-मार करके निर्वाह करती थीं। ऋग्वेद में आर्य योद्धाओं को 'व्रातसाहः' कहा गया है (ऋ० ६।७५।९)। पाणिनि ने व्रात नामक संघों के नाम-करण के विषय में नियम दिए हैं (व्रातच्फञोरस्त्रियाम् ५।३।११३)। काशिका में कपोतपाकाः और व्रीहिमताः उदाहरण हैं। महाभारत में दार्वाभिसार और दरद् जनपद के निवासियों को व्रात कहा गया है (द्रोण पर्व ९३।४४)। व्रातेन जीवति व्रातीनः यह विशेष शब्द सिद्ध किया गया है (५।२।२१)। वहाँ व्रात का अर्थ उत्सेध या लूटमार है। भाष्य में लिखा है—

'नाना जातीया अनियत वृत्तय उत्सेधजीविनः संघा व्राताः।

तेषां कर्म व्रातम्। व्रातेन कर्मणा जीवति व्रातीनः (भाष्य ५।२।२१)।

इस अर्थ में व्रातीनाः वही थे, जिन्हें श्रौतसूत्रों में व्रात्य कहा है। लाट्यायन श्रौत सूत्र में व्रात्यों के लिये व्रातीन शब्द प्रयुक्त भी हुआ है (८।५।१)। ये ब्राह्मणेतर अर्थात् वर्णाश्रम धर्म बाह्य आयुधजीवी जातियाँ थीं (वेबर)। पाणिनि के युग से लेकर आज तक ये उत्सेधजीवी रही हैं। 'व्रात्याः प्रसेधमानाः यन्ति' अर्थात् व्रात्य लोक का उत्पीडन या लूटमार करके रहते हैं (लाट्यायन ८।६।७; टीका—लोकं आसेधन्तः त्रासयन्तः प्रशयन्तः)। ताण्ड्य ब्राह्मण में सायण ने व्रात का अर्थ व्रात्यसमुदाय किया है (१७।१।५ की टीका)। वस्तुतः व्रात और व्रात्य एक ही थे।

व्रात्यचर्या, व्रातों का जीवन—कात्यायन (२२।४।१-२८), आश्वलायन, शांखायन, आपस्तम्ब, बौधायन, लाट्यायनादि श्रौतसूत्रों में व्रात्यों की रहन-सहन और वेश-भूषा आदि के सम्बन्ध में रोचक सूचनाएँ मिलती हैं। कहा गया है कि वे तख्ते का फट्टा जड़ा हुआ छोटा खड़खड़िया रथ रखते थे और उस पर बैठ कर ऊबड़-खाबड़ मार्ग में भी चाहे जहाँ जा सकते थे (फलकास्तीर्णो विपथः, कात्या० २२।४।१६; टीका उत्क्रम्य पन्थानं याति)। आजकल जनपदीय बोली में इसे फिरक कहते हैं। बिना डोरी और बिना बाण का धनुष इस्तेमाल करते थे जिसका तात्पर्य गुल्ले चलाने वाली गुलेल से था (धनुष्केणानिषुणा व्रात्याः प्रसेधमाना यन्ति स ज्याह्रोडः, लाट्या० ८।६।७)। वे टेढ़ी पगड़ी बाँधते (तिर्यङ् नद्ध उष्णीष) और भेड़ की खाल की पोस्तीन पहनते थे (अजिने आविके, कात्या० २१।१२३; १४९; लाट्या० ८।६।४; ३०)। कुछ व्रात काले कपड़े (वासः कृष्णशं कद्रु—कात्या० २२।४।१४) और कुछ लाल वेष पहनते थे (लोहित प्रवाणानि वसनानि, लाट्या० ८।६।२०)। पतंजलि ने लाल पगड़ी बाँध कर फिरने वाले कुछ ऋत्विजों का उल्लेख किया है (लोहितोष्णीषाः ऋत्विजः प्रचरन्ति, १।१।२७, २।१।६९, २।२।२४, ६।१।१)। वस्तुतः ये लोहित वस्त्र धारी

ऋत्विज व्रात्यों के ही थे (लोहितवाससो लोहितोष्णीषाः प्रचरन्त्यृत्विजः, कात्या० २२।३।१५)।[1]

सम्भवतः पूगों के ग्रामणी की भाँति व्रात्य ग्रामों के मुखिया या व्रातपति भी ग्रामणी ही कहलाते थे। संयुत्त निकाय में एक योधाजीव ग्रामणी का बुद्ध के साथ संवाद आया है (४।३०८, ९)। उस वर्णन से विदित होता है कि व्रात्यों में बहुत से वृद्ध आचार्य थे जो स्वयं भी आयुधजीवी थे और अपने अनुयायियों को यह शिक्षा देते थे कि युद्ध में लड़कर मरने वाले योद्धा सरञ्जित देवों के लोक में जाते हैं श्रौत सूत्र में भी ऐसे व्रात्याचार्यों का उल्लेख है जो नृत्य गीत वाद्य और शस्त्र धारण में स्वयं प्रवीण होते हुए अपनी विद्या व्रात्य समूह को सिखाते थे (कात्या० २२।४।३, टीका)।

व्रात्य स्तोम—इन व्रात्यों को आर्य बनाकर वर्णाश्रम धर्म की व्यवस्था के अन्तर्गत लाने के बराबर प्रयत्न किए जाते थे। उसकी युक्ति व्रात्यस्तोम यज्ञ का विधान था। व्रात्यस्तोम से यजन करने पर व्रात्यभाव छूट जाता था (व्रात्यस्तोमेनेष्ट्वा व्रात्यभावाद् विरमेयुः, कात्यायन २२।४।२९) और वे लोग शुद्ध हो जाते थे (मृजानाः यन्ति वही, २२।४।२६)। मनु ने व्रात्यों को आर्यविगर्हित कहा है (२।३९)। किन्तु व्रात्यस्तोम के बाद फिर वर्णाश्रमधर्मी आर्यों के साथ उनका सामाजिक व्यवहार खुल जाता था (व्यवहार्या भवन्ति, कात्यायन श्रौत, २२।४।३०)। पाणिनि ने श्रेण्यादिगण में ब्राह्मणकृताः, क्षत्रियकृताः इन दो प्रयोगों का उल्लेख किया है (अब्राह्मणाः ब्राह्मणाःकृताः ब्राह्मणकृताः; अक्षत्रियाः क्षत्रियाःकृताः क्षत्रियकृताः)। स्पष्ट है कि जो लोग पहले ब्राह्मण या क्षत्रिय नहीं थे उन्हें ब्राह्मण या क्षत्रिय बनाकर वर्णाश्रम मर्यादा में सम्मिलित करने की प्रथा का इन शब्दों से अस्तित्व सूचित होता है। इनमें भी ब्राह्मणकृताः, ब्राह्मणभूताः, ब्राह्मणमताः, ब्राह्मणःसमाम्नाताः, ब्राह्मणा समाख्याताः, एवं क्षत्रियकृताः, क्षत्रियभूताः आदि कितने ही तारतम्य और सूक्ष्म भेद हो सकते थे जो सब शब्द श्रेण्यादयः कृतादिभिः सूत्र में पठित हैं। लाट्यायन श्रौत सूत्र में स्पष्ट कहा है कि व्रात्यस्तोम यज्ञ करने के बाद व्रात्यों को त्रैविद्यवृत्ति से रहना चाहिए (व्रात्यस्तोमैरिष्ट्वा त्रैविद्यवृत्तिं समाविष्ठेयुः, लाट्यायन ८।६।२९), एवं आर्यों को चाहिए कि फिर उनके साथ खान पान और धर्म कार्यों में कोई भेद भाव न रक्खें (तेषां तत ऊर्ध्वं भुञ्जीत, अपि चैनान् कामं याजयेदिति, वही, ८।६।३०) पाणिनि से पूर्व श्रौतसूत्रों के समय में या जनपद युग में यह महान् प्रयोग सामाजिक और राजनैतिक क्षेत्रों में हुआ

१—अभी तक स्याहपोश और सुर्खपोश, दो प्रकार के काफिर उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रदेश में बसते हैं जो प्राचीन व्रात्यों के ही वंशज ज्ञात होते हैं। अभी बीसवीं शती के आरम्भ तक वे काफिर कहलाते थे और मुसलमान न हुए थे।

था। श्रेणिकृताः, पूगकृताः, ब्राह्मणकृताः, क्षत्रियकृताः आदि शब्दसमूह में उसी के संकेत हैं। उत्तर-पश्चिमी भारत और पूर्वी भारत दोनों में इस प्रकार के प्रयत्न हुए। प्राच्य देश में इस प्रकार के ब्राह्मणों को मागध देशीय ब्रह्मबन्धु और क्षत्रियों को वृषल क्षत्रिय कहा गया। कालान्तर में बाहर से आने वाले विदेशियों को भी वर्णाश्रम धर्मी समाज में परिगृहीत करने की यही मान्य पद्धति बन गई। किसी प्रकार के यजन या धर्मकार्य द्वारा आगन्तुकों को ब्राह्मण क्षत्रिय आदि के रूप में वर्णाश्रम संस्था का अंग बना लिया जाता था। वसिष्ठ के यज्ञ से अग्निकुल क्षत्रिय और राजस्थान में हूण ब्राह्मण, हूण क्षत्रिय इसके उदाहरण हैं।

ऐसा भी होता था कि व्रात्यस्थिति से ऊपर उठकर संघ अवस्था में आ जाने पर भी उस संघ के अन्तर्गत व्रातों के छोटे-मोटे जत्थे बचे रह जाते थे। जो समय पाकर शनैः शनैः पिघलते हुए पूर्णतया आर्य मर्यादा में विलीन होते रहते थे। अन्धक-वृष्णि संघ के विषय में कृष्ण ने कहा है—हमारे कुल संगठन में अभी तक अट्ठारह सहस्र व्रात हैं (अष्टादश सहस्राणि व्रातानां सन्ति नः कुले, सभापर्व १३।५५)। जनसंख्या के खड़ अंशों को किस प्रकार शनैः शनैः समाज के शरीर में विलीन होने के लिये छोड़ दिया जाता था, इसका यह अच्छा उदाहरण है।

चार प्रकार के व्रात्य स्तोम—व्रात्य स्तोम यज्ञ की विधि अत्यन्त सरल थी जिसमें कई तरह की छूट दी गई थी। व्रात्यों से जटिल कर्मकाण्ड के निर्वाह की आशा नहीं की जा सकती थी। कहा गया है कि व्रात्य-स्तोम के लिये श्रौत अग्नि नहीं चाहिए, उसे लौकिक अग्नि में ही कर सकते हैं (कात्यायन, १।१।१४)। भाड़ या चूल्हे में से अग्नि लाकर हवन किया जा सकता है। जिस जनपद में जो सामान सुलभ हो उसी से काम चलाया जा सकता है (यथा द्रव्ये जनपदे यजेत्, वही, २२।२।२२)। व्रात्यों के समूह में चार प्रकार की टोलियाँ होती थीं। उनके लिये श्रौतसूत्रों में चार प्रकार के व्रात्य स्तोमों का विधान किया गया है। व्याकरण शास्त्र की शब्दावली से भी उसका मेल बैठता है। (१) पहला व्रात्य स्तोम उस प्रकार के लोगों के लिये था जो व्रात्यों में आचार्य या पूजा-पाठ करानेवाले थे। कात्यायन ने उन्हें व्रात्यगण के धार्मिक कृत्यों का सम्पादन करानेवाला कहा है (व्रात्यगणस्य ये सम्पादयेयुः, वही २२।४।३)। संयुत्त निकाय के ऊपर कहे हुए उद्धरण में व्रात्यों के आचार्यों का उल्लेख है। लाट्यायन श्रौत से ज्ञात होता है कि ये ही लोग व्रात्यों के मागध या बन्दी सूत थे जो उनके यहाँ की लोक-गाथाओं को गाकर सुनाते और धार्मिक कृत्य भी कराते थे। एक प्रकार से ऐसे लोग जातीय अनुश्रुति के रक्षक थे और वे व्रात्यों में ब्राह्मण स्थानीय माने जाते थे। ज्ञात होता है कि पाणिनि के ब्राह्मणकृत या ब्राह्मणभूत व्रात्य ये ही लोग थे। हो सकता है कि ब्राह्मण बना लेने पर भी उनके साथ व्यवहार में कुछ उन्नीस-बीस का अन्तर बना रहता था, और उन्हें ब्रह्मबन्धु

कहा जाता था (तुलना कीजिए, जात्यन्ताच्छ बन्धुनि ५।४।६)। उद्योगपर्व में यज्ञ करानेवाले व्रात्य को हेठी निगाह से देखा गया है (स्रुव-प्रगहणो व्रात्यः, ३५।४१)।

२—दूसरा व्रात्य स्तोम उन लोगों के लिये था जिन्हें कात्यायन ने निन्दित और नृशंस कहा है (द्वितीयेन निन्दिता नृशंसाः, २२।४४)। उन्हें ही व्याकरण-साहित्य में उत्सेधजीवी कहा गया है। अवश्य ही व्रात्यों के कबीलों में यह अंश सबसे खूँख्वार और लड़ाकू था, लूटमार ही उनका पेशा था। उनका संस्कार, शुद्धि या मार्जन सबसे कठिन कार्य था।

३—तीसरा व्रात्यस्तोम कनिष्ठ युवकों के लिये था (तृतीयेन कनिष्ठाः, २२।४।५)। युवकों का यह अंश उत्सेध जीवी या लोकत्रास का कारण न होने से अपेक्षाकृत सरलता से संस्कार-सम्पन्न बनाया जा सकता था। कनिष्ठ व्रात्यों के समकक्ष पाणिनि के कुमारपूग थे (पूगेष्वन्यतरस्याम् ६।२।२८, पूगा गणास्तद्वाचिन्यु-त्तरपदे कुमारस्य वा आद्युदात्तः कर्मधारयेसमासे; कुमारचातकाः; कुमारलोहध्वजाः)। इससे यह भी अनुमान होता है कि पूग और व्रात दोनों प्रकार के संघों में साम्य था। जैसे पूगों में कुमारों का संगठन था वैसे ही व्रातों में भी। दोनों ही संघ या गण शासन की अविकसित दशा में थे।

४—चौथा व्रात्य स्तोम ज्येष्ठ (कात्यायन २२।४।६) या स्थविर (वही २२।४।७) लोगों के लिये था। व्रात्यसंघों की कुल संस्था में ये कुलवृद्ध, स्थविर या वंश्य थे जो व्रात्यों की सभा में गृहपति होकर भाग लेते थे। आजकल के शब्दों में जिरगों में सम्मिलित होनेवाले ये ही लोग थे। जिन्हें व्रात्यों के आचार्य कहा गया है उनके प्रतिनिधि कबायली लोगों के वर्तमान पीर हैं।

व्रात और पूगों का विस्तृत प्रदेश उदीच्य भारत में था जहाँ उनके नाना प्रकार के संघों की शृंखला फैली हुई थी। पाणिनि ने उनके नामों और गण-शासन का सूक्ष्म अध्ययन किया था। किन्तु देश के अन्य भागों में भी अनेक जातियाँ वर्णाश्रम धर्म की मर्यादा से बहिर्भूत थीं। उन्हें भी ऊपर की युक्तियों से व्यवहार्य बनाया जा रहा था। सुराष्ट्र के अन्धक वृष्णियों में व्रात थे। मागधदेशीय ब्रह्मबंधुओं का उल्लेख आता है। प्राच्य देश के लिच्छवि, मल्ल, शाक्य आदि संघ 'क्षत्रिब-कृत' राजन्यों के उदाहरण थे जो संघ शासन की कृपा से सुसंस्कृत जीवन के अनु-यायी बन गए।

—०—

अध्याय ७ परिच्छेद ८—संघों के नाम

इस प्रकरण में उन संघों की जिनके नाम सूत्रों और गणों में आए हैं, भौगोलिक पहचान का प्रयत्न किया गया है। संघ सम्बन्धी सूची निम्नलिखित प्रकार की है—

(१) वे आयुधजीवी संघ, जिनके नाम सूत्रों में आए हैं (५।३।११४११७)।

(२) वे आयुधजीवी संघ, जिनके नाम दामन्यादि (५।३।११६) पर्श्वादि (५।३।११७) और यौधेयादि (५।३।११७) गणों में हैं।

(३) वे संघ, जिनके नाम सूत्रों में हैं, किन्तु जिनके विषय में अष्टाध्यायी के अतिरिक्त अन्य स्रोतों से उनका संघ होना ज्ञात होता है।

(४) कुछ अन्य नाम जिनके विषय में यह निश्चित उल्लेख नहीं कि वे आयुधजीवी अथवा किस प्रकार के संघ थे।

वाहीक के आयुधजीवी संघ—पाणिनि ने प्रकरण के आरम्भ में वाहीक देश के आयुधजीवी संघों का उल्लेख किया है। वाहीक की भौगोलिक परिभाषा कर्ण पर्व के अनुसार सिन्धु और उसकी सहायक पाँच नदियों की बीच का प्रदेश थी (पंचानां सिन्धु षष्ठानां नदीनां येऽन्तराश्रिताः। वाहीका नाम ते देशाः, कर्ण ४४।७; देखिए पूर्व पृ० ५२)। यह प्रश्न होता है कि वाहीक में पंच नद प्रदेश या पंजाब का केवल मैदानी भाग लिया जाता था अथवा कुल्लू-कांगड़े का पहाड़ी प्रदेश भी। पुराणों के भुवन कोश में त्रिगर्त आदि जनपदों को पर्वताश्रयी विभाग में रखा है और उसे उदीच्य से पृथक् माना है, जिसमें कि पंजाब के मद्र आदि जनपद थे। इससे इंगित होता है कि वाहीक के भौगोलिक विस्तार में त्रिगर्त की गणना न थी। इस तथ्य का समर्थन पाणिनि के दामन्यादि त्रिगर्त षष्ठाच्छः (५।३।११६)। सूत्र से होता है, क्योंकि टीकाकार उस सूत्र में वाहीक की अनुवृत्ति नहीं मानते।

वाहीक के आयुधजीवी संघों में काशिका ने कौण्डीवृस, क्षुद्रक और मालव का नामोल्लेख किया है। क्षुद्रक, मालव प्रसिद्ध गणराज्य थे, जिनके विषय में यूनानी लेखकों से पर्याप्त जानकारी प्राप्त होती है। इनके अतिरिक्त पाँचवीं चौथी शती ई० पू० का पंचनद प्रदेश ठाँव-ठाँव पर गणराज्यों से भरा हुआ था।

पाणिनि ने वाहीक देश में ब्राह्मण संघों का भी उल्लेख किया है। काशिका से ज्ञात होता है कि गोपालव नामक संघराज्य ब्राह्मणों का था (गोपालवा ब्राह्मणाः)।

(१) राजन्य—सूत्र ५।३।११४ में पठित राजन्य शब्द के विषय में टीकाकारों का मत है कि वाहीक देश के राजन्य नामक संघ विशेष से यहाँ तात्पर्य है। (राजन्ये स्वरूप ग्रहणम्)। तथ्य यह था कि पंजाब में दो राजन्य थे। एक राजन्य नामक संघ जिनके सिक्के होश्यारपुर जिले में पाए गए हैं। दूसरे राजन्यों का

विषय या देश राजन्यक कहलाता था (राजन्यादिभ्यो वुञ्, ४।२।५३)। ये राजन्य काँगड़ा के पहाड़ी इलाकों में बसे हुए राणा थे, आज तक जिनकी यह उपाधि चली आई है। यद्यपि इनकी सामान्य उपाधि राजन्य थी, किन्तु हरेक संघ का अपना-अपना नाम था। शालंकायन नामक राजन्य जिसका उल्लेख भाष्य और काशिका में आता है, राणाओं के प्रदेश का ही कोई संघ विशेष था। शालंकायन संघ में तीन अवयव राज्यों का समावेश था, जैसा 'त्रिकाः शालंकायनाः' से ज्ञात होता है (भाष्य ५।१।५८, संख्याया: संज्ञासंघसूत्राध्ययनेषु) वस्तुतः शालंकायनों की प्रसिद्धि ही त्रिक नाम से हो गई थी। सम्भव है शालंकायन संघ का मूल उद्‌गम शालंकायन गोत्र से हुआ हो जिसका उल्लेख नडादिगण में है (शलंकु शलंकं च, ४।१।९९)। गोपालव ब्राह्मण और शालंकायन राजन्य इन दोनों संघों का आपस में कुछ संघर्ष या द्वन्द्व था (गौपालिशालंकायनाः कलहायन्ते, सूत्र २।४।६ का प्रत्युदाहरण)।

(२) वृक— वृक नामक आयुधजीवी संघ का प्रत्येक सदस्य वार्केण्य कहलाता था। वृक संघ के भौगोलिक स्थान का ठीक निश्चय नहीं। काशिका के अनुसार सूत्र में वाहीक की अनुवृत्ति नहीं आती, अतएव यह वाहीक से बाहर का कोई संघ होना चाहिए, यद्यपि पंजाब में शेखूपुरा तहसील में विर्क नामक जाटों की एक जाति अभी तक पाई जाती है। यदि वाहीक से बाहर ही कोई वृकसंघ था तो दारा के बहिस्तुम लेख में वर्का नामक शक जाति का उल्लेख आता है जिसका एक वचन में रूप वार्कण होता था। ये दोनों पाणिनि के वृकाः और वार्केण्य से मिलते हैं। उत्तर-पूर्वी ईरान में पार्थिया के उत्तर का हिर्कानिया प्रदेश वृकों का मूल स्थान था। इस समय वह गुर्गान कहलाता है (सं० वृक = फा० गुर्ग)। ईरान के अस्तराबाद जिले में इसी नाम की एक नदी घाटी है जहाँ वृक जाति के लोग रहते थे। सम्भवतः पंजाब के विर्क जाटों के पूर्वज शकों की वृक शाखा से सम्बन्धित थे।

(३) दामनि (५।३।११६)—दामनि नामक आयुधजीवी संघ का वाहीक के साथ सम्बन्ध न था। बलूचिस्तान के उत्तर-पश्चिम में चगाई प्रदेश में दामनी नामक बलिष्ठ लड़ाकू जाति आजतक निवास करती है।

(४) त्रिगर्तषष्ठ (५।३।११६)—पाणिनि ने त्रिगर्त के छह संघ राज्यों का उल्लेख किया है जो सब आयुधजीवी थे। महाभारत में त्रिगर्त के संसप्तकगणों का उल्लेख आता है। सम्भव है उसके अन्तर्गत सात छोटे संघों का एक बड़ा गणराज्य रहा हो। इस प्रदेश का पुराना नाम जालंधरायण भी था (राजन्यादिगण ४।२।५३, दे० पूर्व पृ० ६८-६९)। *त्रिगर्तषष्ठ महासंघ के छः राज्य ये थे—(१) कौण्डोपरथ, (२) दाण्डकि (३) क्रौष्टकि, (४) जालमानि, (५) ब्राह्मगुप्त, (६) जानकि।* ब्राह्मगुप्त की पहचान आधुनिक भमोर (ब्रह्मपुर) से की जा सकती है। जानकि

संघ की सेना त्रिगर्त के राजा सुशर्मा की सहायक बनकर भारतयुद्ध में दुर्योधन की ओर से लड़ी थी (आदिपर्व ६१।१७, उद्योग ४।१७)।

(५) यौधेय (५।३।११७)—यौधेय संघ के सम्बन्ध में पाणिनि कृत यह उल्लेख सबसे प्राचीन है। यौधेय भारतीय इतिहास में प्रसिद्ध हैं। विभिन्न युगों के उनके लेख और सिक्के मिले हैं। पाणिनि से समुद्रगुप्त के काल, अर्थात् लगभग आठ सौ वर्षों तक उनका अस्तित्व रहा। ई०पू० २००—२०० ई० के बीच में वे सतलज के पूर्व और यमुना के पश्चिम में फैले हुए थे। महाभारत के अनुसार बहुधान्यक प्रदेश में रोहीतक उनकी राजधानी थी। सुनेत या सुनेत्र जिसका संकलादिगण (४।२।७५) में पाठ है यौधेयों का दूसरा केन्द्र था जहाँ उनकी मुद्राएँ मिली हैं। रोहीतक के पहले संभवतः सुनेत ही उनकी राजधानी थी। पूर्व में होने के कारण सिकन्दर से यौधेयों का संघर्ष नहीं हो सका। प्राचीन यौधेयों के वंशज पंजाब में आधुनिक जोहिए राजपूत हैं।

(६) पर्शु (५।३।११७)—इस आयुधजीवी संघ का बहुवचनान्त नाम पर्शवः और एक सदस्य पार्शव कहलाता था। पर्शुओं का उल्लेख ऋग्वेद (८।६।४६) में भी आता है (शतमहं तिरिन्दिरे सहस्रं पर्शावाददे। तिरिन्दिर = तिरिदातः पर्शु= पारसीक, ऐसे सब विद्वानों ने माना है)। लुडविग और वेबर ने उनकी पहचान ईरानी पारसीकों से की है जो अपने देश में पार्स कहलाते थे। कीथ ने इस पहचान को स्वीकार करते हुए लिखा है कि प्राचीनकाल में ईरानी और भारतवासियों का घनिष्ठ सम्पर्क था (वैदिक इंडेक्स, १।५०५)।

दारा प्रथम (५२१–४८६ ईस्वी पूर्व) के बहिस्तून शिलालेख में गन्धार और पार्स दोनों का साथ उल्लेख है। गन्धार दारा के साम्राज्य का एक प्रान्त था किन्तु पाणिनि ने गान्धारि का उल्लेख स्वाधीन एकराज जनपद के रूप में किया है। (साल्वेय गान्धारिभ्यां च ४।१।१६९, गान्धारः क्षत्रियः, गान्धारो राजा)। ज्ञात होता है कि दारा और ख्षयार्श के बाद गन्धार जनपद ने अपने आपको ईरानी प्रभुत्व से मुक्त कर लिया था। दारा ने अपने को पार्स कहा है (शूषालेख), जो पाणिनीय पार्शव (पर्शु से स्वार्थ में अण् प्रत्यय) से मिलता है। बौधायन ने गान्धारि और स्पर्शु का साथ उल्लेख किया है (बौधायन श्रौत० १८।४४; वैदिक इंडेक्स २।२७९)।

गण-पाठ में आयुधजीवी संघ

दामन्यादि, पर्श्वादि, यौधेयादि गणों में निम्नलिखित तेंतीस आयुधजीवी संघों के नाम हैं—

(१) दामन्यादि—दामनि, औलपि, काकदन्ति, अच्युतन्ति, शत्रुन्तपि, सार्वसेनि, बैन्दवि, मौञ्जायन, तुलभ, सावित्रीपुत्र, बैजवापि, औदकि।

(२) पर्श्वादि—पर्शु, असुर, रक्षस्, बाह्लीक, वयस्, मरुत्, दशार्ह, पिशाच, अशनि, कार्षापण, सत्वत्, वसु।

(३) यौधेयादि (५।३।११७; ४।१।१७८)—यौधेय, शौभ्रेय, शौक्रेय, ज्याबाणेय, वार्त्तेय, धार्त्तेय, त्रिगर्त, भरत, उशीनर।

इस सूची में मौञ्जायन, पर्शु, बाह्लीक, दशार्ह, सत्वत् इन परिचित नामों के आधार पर निश्चित होता है कि बाह्लीक से बाहर के गणों का भी पाणिनि ने यहाँ परिगणन किया है।

१ दामन्यादि गण—इस गण के निम्नलिखित नामों पर कुछ प्रकाश पड़ता है।

मौञ्जायन—वंक्षु नदी के दक्षिण और हिन्दूकुश के उत्तर का एक प्रदेश इस समय मुंजान कहलाता है। यही प्राचीन मौञ्जायन था। यहाँ की भाषा मुंजानी है जो मौञ्जायनी से निकला हुआ शब्द है (शार्ङ्गरवादि गण ४।१।७३)। नडादि गण में पठित मुंज से गोत्रापत्य अर्थ में मौञ्जायन सिद्ध होता है (४।१।९९)। ऋग्वेद (१०।३४।१) में मौजवत सोम और यजुर्वेद (३।६१) में मूजवन्त प्रदेशका उल्लेख है। अथर्व वेद में तो स्पष्ट ही मूजवन्त को बह्लिक अर्थात् बाह्लीक का पड़ोसी देश कहा है (तक्मन् मूजवतो गच्छ बह्लिकान् परस्तरान्, अथर्व ५।२२।७; और भी, वही ५।२२।५, ५।२२।१४, ५।२।८)।

सावित्री-पुत्र—इस नाम का छोटा संघ सावित्री-सत्यवान् के पुत्रशतों से अपना उद्गम मानता था। महाभारत में उसका परिचय आया है। (आरण्यक पर्व २९७।५८; कर्ण पर्व ५।४९; देखिए पूर्व पृष्ठ ७२, ७३)। इसकी भौगोलिक स्थिति पंजाब में उशीनरों के पड़ोस में झंगमघियाना प्रदेश में रही होगी।

सार्वसेनि—इस आयुधजीवी संघ का उद्गम सर्वसेन नामक संघ से हुआ था जिसका उल्लेख शण्डिकादिगण (४।३।९२) में आया है। सर्वसेन जनपद का उल्लेख भीष्मपर्व (१०।५९) एवं काशिका में भी है—सूत्र ८।१।५ पर परि परित्रिगर्तेभ्यो वृष्टो देवः, परि परि सौवीरेभ्यः, परि परि सर्वसेनेभ्यः। सूत्र ६।२।३३ में यह इस प्रकार है-परि त्रिगर्तं वृष्टो देवः, परि सौवीरं, परि सार्वसेनि। पहले दो उदाहरण भाष्य में भी हैं (६।२।३३) जो प्राचीन मूर्धाभिषिक्त उदाहरण थे। त्रिगर्त सौवीर और सर्वसेन के परे-परे वृष्टि हुई, इन वाक्यों का तात्पर्य यह हुआ कि ये तीनों सूखे प्रदेश पर्जन्य वायु के क्षेत्र से बाहर थे। त्रिगर्त (कुल्लूकांगड़ा), सौवीर (सिन्ध बहावलपुर) के अतिरिक्त तीसरा सूखा प्रदेश बीकानेर का उत्तरी भूभाग है जिसकी पहचान सर्वसेन से की जा सकती है। सर्वसेन या सार्वसेनि नाम से प्रकट है कि यह ऐसे लोगों का संघ था जो सब सैनिक थे। पहले कहा जा चुका है कि साल्वों की एक शाखा का नाम मद्रकार था। प्रशिलुस्की के अनुसार कार शब्द सेना के अर्थ में प्राचीन ईरानी भाषा में प्रयुक्त था। भारतवर्ष में भी उस शब्द की परम्परा चली आई। प्राचीन साल्वों को मध्यकालीन कोशों में कारकुक्षीय कहा गया है (हेमचन्द्र, अभिधान चिन्तामणि ४।२३)। कारकुक्षीय का अर्थ है—जिसकी कुक्षि या गर्भ में कार

अर्थात् सैनिक भरे हों। साल्वों के लिये यह नाम यथार्थ था। उत्तरमद्र या बाह्लीक; ईरान और भारत के मद्र, उशीनर आदि कई देशों के सैनिकों की टुकड़ियाँ साल्व जनपद में बसी हुई थीं। यमुना तट का कारपचव प्रदेश भी साल्वों का टुकड़ा ज्ञात होता है (कात्यायन श्रौ २४।६।१०)

बैजवापि— इस संघ का उल्लेख रैवतकादि (४।३।१३१) एवं सुतंगमादिगण (४।२।८०) गणों में भी आया है। भाष्य (२।४।८१), चरक (१।१।१०) एवं शतपथ (१४।५।५।२०, बैजवापायन) में बैजवापियों का नाम है।

२ पर्शु-आदि (५।३।११७)— इस गण के संघों की पहचान यह है—

बाह्लीक— अथर्ववेद में इसका रूप बह्लिक है। आधुनिक बल्ख के साथ इसकी पहचान असंदिग्ध है। पाणिनि से कुछ पूर्व दारा प्रथम के राज्य में बाह्लीक उसका एक प्रान्त था। उसके बाद पाणिनि के समय में वह आयुधजीवी संघ के रूप में संगठित हो गया। ठीक यही बात गन्धार जनपद के साथ घटित हुई थी। बाह्लिक को भाष्य में बाह्लि भी कहा है। महाभारत में बाहीक के लिये कई बार बाह्लीक नाम आता है। मद्र व्युषिताश्व की संतान थे। ज्ञात होता है कि ईरानी प्रदेश बाह्लीक ही उत्तरमद्र था। जब मद्र लोग बाह्लीक देश से आकर शाकल में प्रतिष्ठित हुए तो बाहीक के लिये भी बाह्लीक नाम विकल्प से प्रयुक्त होने लगा। मद्रराज शल्य बाह्लीक पुंगव कहे गए हैं।

असुर—वैसे तो भारतीय साहित्य में असुर सामान्य जातिवाचक नाम है, पर इस गण में यह आयुधजीवी संघ का नाम है। जब पाणिनि को पर्शु संघ का परिचय था तो सम्भावना है कि असीरिया के निवासी असुरों का नाम भी उन्हें विदित था। बहिस्तून के शिला लेख में इन्हें अथुरा (प्राचीन ईरानी) और अश्शुर (शूषा की भाषा) कहा गया है।

(३) पिशाच—यद्यपि कच्चा मांस खाने वालों के लिये यह सामान्य शब्द था, पर ग्रियर्सन ने सिद्ध किया है कि उत्तर-पश्चिमी सीमान्त प्रदेश में दरदिस्तान, चितराल के लोगों का व्यापक जातीय नाम पिशाच था क्योंकि उनमें कच्चा मांस खाने का किसी समय बहुत रिवाज था। काफिरिस्तान के दक्षिण आधुनिक लमगान (प्राचीन लम्पाक) के पड़ोसी पशाई काफिरों की पहचान हर्नली ने पिशाचों से की थी जिसे ग्रियर्सन ने भी ध्वनि शास्त्र की दृष्टि से समीचीन माना था (पिशाच, जेआरएएस, १९५०, २८५–८८)। पार्जिटर ग्रियर्सन से सहमत थे। उनका कथन है कि पिशाच वास्तविक जाति की संज्ञा थी, उसी का विकृत रूप दैत्य-दानव वाची पिशाच शब्द में आ गया (जेआरएएस, १९१२, पृ० ७१२)। पैशाची प्राकृत की अनुश्रुति इतनी पुष्ट है कि उसके बोलने वालों के अस्तित्व में संदेह का कारण नहीं।

(४) रक्षस्—रक्षस् से स्वार्थ में अण् प्रत्यय जोड़ कर राक्षस शब्द बनता है। यह भी जाति वाचक नाम था। किन्तु यहाँ संघ विशेष के लिये है। उत्तरी बलूचिस्तान के चगाई प्रदेश में रक्षानी एक बड़ा कबीला है (इम्पीरियल गजेटियर १०।११७)। सम्भव है वे ही रक्षस् नामक आयुधजीवी हों।

(५) मरुत्—इनकी पहचान सम्भवतः बन्नू जिले की मरवत तहसील में इसी नाम के कबीले से है (इम्पीरियल गजेटियर ६।३९४)। मध्वादि गण (४।२।८६) में मरुत् से मरुत्वन्त स्थान नाम सिद्ध किया गया है।

(६) अशनि और (७) कार्षापण—इन दो नामों का एक साथ पाठ साभिप्राय है। इनके समकक्ष शिनवारी और कार्षबुन नामक दो पठान कबीले हैं जिनका परस्पर रक्त सम्बन्ध है (इम्पीरियल गजेटियर, उत्तर पश्चिमी सीमाप्रान्त, पृष्ठ ७९)। शिनवारियों में अभी तक गौ को पवित्र मानते हैं। उनके हर गाँव खेड़े में पवित्र पाषाण पाए जाते हैं जो प्राचीन मूर्ति-पूजा के अवशेष हैं (अफगानिस्तान गजेटियर, पृ० ४९)। इस्लाम धर्म-परिवर्तन के बाद भी उनकी स्त्रियाँ परदा नहीं करती और पुरुषों के साथ बेरोक टोक बाहर निकलती हैं।

(८) सात्वत, (९) दाशार्ह—ये दोनों अन्धकवृष्णि संघ के अन्तर्गत छोटे आयुधजीवी संघ थे।

(१०) वयस् और (११) वसु—पहचान अज्ञात है।

३ यौधेयादि गण—अष्टाध्यायी में दो बार इस गण का पाठ है (५।३।११७, ४।१।१७८)। न्यासकार को यह विचित्र प्रतीत हुआ (विचित्रा हि गणानां कृतिर्गणकारस्येति पुनः पठिताः)। दोनों सूचियों में जो नाम एक से हैं वे ही मूल पाठ में थे—

(१) यौधेय—दे० पूर्व पृष्ठ ४५९।

(२) शौभ्रेय—इनका पूर्व पुरुष कोई शुभ्र था जिसका उल्लेख शुभ्रादिभ्यश्च सूत्र में है (४।१।१२३)।

यूनानी इतिहास लेखकों ने रावी और चनाब के संगम के पास सबरकाइ (कर्तिअस) या सबग्राइ (ओरोसिअस) नामक अत्यन्त बलशाली संघ का उल्लेख किया है। शासन के सम्बन्ध में विशेष रूप से उसे गण-राज्य कहा है। उनकी सेना में साठ सहस्र-पदाति, छह सहस्र अश्वारोही, और पाँच सौ रथ थे जिसका संचालन बल और युद्ध विद्या में दक्ष क्रमशः तीन सेनापतियों द्वारा होता था (मैक्रिण्डिल, एलेक्जेण्डर, पृ० २५२)। इस संघ की पहचान पाणिनि के आयुधजीवी शौभ्रेयों से सम्भव है।

(३) शौक्रेय—इस संघ की ठीक पहचान अनिश्चित है। शकों में सकरौलाइ जाति का उल्लेख आता है एवं मथुरा के पुण्यशाला स्तम्भ में शकों की सरुक शाखा का नाम है। सम्भव है ये दोनों शौक्रेयों से सम्बन्धित हों।

(४) वार्तेय—करांची के पश्चिम पुराली नदी के पश्चिम में ओराइटइ नामक एक भारतीय संघ का उल्लेख आता है। कर्तियस के अनुसार यह जाति सदा से स्वाधीन थी। उसने दूत भेजकर सिकन्दर से संधि कर ली। यूनानी उच्चारण के ठीक अनुरूप यही वार्तेय संघ ज्ञात होता है।

(५) धार्तेय—पहचान अज्ञात।

(६) ज्यावाणेय—इस नाम की ध्वनि उस जाति से है जो प्रत्यञ्चा से बाण का काम लेती थी। व्रात्यों में बिना बाण के ज्याह्रोड नामक धनुष का रिवाज था (अनिषु धनुष्, लाट्यायन श्रौत, ८।७; ताण्ड्य १७।१।२४)।

यह पत्थर-मिट्टी के गुल्ले चलाने की गुलेल ज्ञात होती है। ज्यावाणेय व्रात्यों के अन्तर्गत कोई आयुधजीवी संघ था। महाभारत में पर्वतीयों को विशेष रूप से अश्म युद्ध में कुशल कहा है जो पत्थर के ढोके लुढका कर या ढेलवांस (क्षेपणीय) से शिला बरसाकर युद्ध करते थे (द्रोणपर्व १२१।३४;३५)। यह संघ भी पर्वताश्रयी आयुधजीवी संघों में से एक ज्ञात होता है।

(७) त्रिगर्त—त्रिगर्तषष्ठ में जो छह नाम हैं उनके अतिरिक्त स्वयं त्रिगर्त भी पृथक् आयुधजीवी संघ था।

(८) भरत—केवल इसी गण में भरतों को आयुधजीवी संघ कहा गया है। या तो यह कोई पुरानी अनुश्रुति थी, अथवा पाणिनि के समय में प्राचीन भरतजन की कोई टुकड़ी संघ रूप में संगठित हो गई थी। पाणिनि ने भरत जनपद को प्राच्य और उदीच्य की मध्यवर्ती सीमापर माना है। सूत्रों में भरत और कुरु दोनों का नाम आता है। कुरु जनपद की राजधानी हास्तिनपुर थी और वह एकराज जनपद के रूप में संगठित था (४।१।१७२)। कौटिल्य ने कुरु पंचाल दोनों को राजशब्दोपजीवी संघ कहा है। काशिका में भी कुरु-पंचालों को अंधकवृष्णि के समान मूर्धाभिषिक्त राजन्यों से शासित माना है जिससे कुरु-पंचालों के संघ का अनुमान होता है (६।२।३४)। इस त्रिविध साक्षी से ज्ञात होता है कि भरत नामक जनपद में आयुधजीवी संघ राज्य था। एवं कुरुओं के दो विभाग थे एक संघ दूसरे एकराज। यमुना और कुरुक्षेत्र के बीच में ये संघ फैले हुए थे।

(९) उशीनर—भौगोलिक दृष्टि से यह वाहीक का एक भाग था। पाणिनि के समय में यहाँ आयुधजीवी संघ शासन था।

ऊपर संघों के जो नाम दिए हैं उनके पीछे सूत्रकार का विशेष उद्देश्य था। प्रत्येक संघ के निवासी सदस्य के लिये भाषा में किस प्रकार का शब्दरूप प्रयुक्त होता था इसकी छानबीन व्याकरण की दृष्टि से आवश्यक थी। उदाहरण के लिए, कौण्डिवृस्य क्षौद्रक्य, मालव्य, वार्केण्य, दामनीय, औलपीय, कौण्डोपरथीय, मौञ्जायनीय, वैन्दवीय सावित्रीपुत्रीय, दाशार्ह, सात्वत, पार्शव, त्रैगर्त, भारत, औशीनर आदि शब्द रूप

उस-उस नाम के संघ में वहाँ के निवासियों के लिये लोक में प्रयुक्त होते थे। उनकी तथ्यात्मक जानकारी इस प्रकरण का उद्देश्य थी।

कुछ अन्य संघों के नाम

सूत्रों में कुछ और नाम भी हैं जिनके विषय में अन्य स्रोतों से ज्ञात होता है कि वे संघ राज्य थे--

वृजि (मद्रवृज्योः कन्, ४।२।१३१)—बौद्ध साहित्य में इन्हें वज्जि कहा है जो प्रसिद्ध संघ राज्य था। वह आठ अवान्तर जातियों का संयुक्त संगठन था, जिनमें लिच्छवि और विदेह सबसे महिमाशाली थे। गंगा के उत्तर मुजफ्फरपुर चम्पारन में वृजियों के गणराज्य की राजधानी वैशाली नगरी थी।

अन्धकवृष्णि (६।२।३४)--महाभारत और कौटिल्य दोनों के अनुसार अंधक-वृष्णि संघराज्य था। पाणिनि के अनुसार अन्धकवृष्णि संघ में राजन्यों द्वारा शासन की व्यवस्था थी (राजन्य बहुवचनद्वन्द्वेऽन्धकवृष्णिषु)। अन्धकवृष्णिसंघ में दूसरे संघों की भाँति कुलों का शासन था। प्रत्येक कुल का अधिपति राजा कहलाता था। उन्हीं के अपत्यों की संज्ञा राजन्य थी (राजश्वशुराद्यत्; ४।१ १३७; राजन्यो भवति क्षत्रियश्चेत्)। ये राजन्य अभिषिक्त वंश क्षत्रिय होते थे (राजन्यग्रहणं हि अभिषिक्तवंश्यानां क्षत्रियाणां ग्रहणार्थम्-काशिका)। अन्धकवृष्णिसंघ की विशेषताएँ ध्यान देने योग्य हैं। एक तो ये कई अवयवों को संयुक्त करके संगठित हुआ संघ था। इसका भौगोलिक विस्तार बहुत था। सुराष्ट्र के समुद्रतट के समीपवर्ती द्वीपों के निवासी भी जो द्वैप कहलाते थे इस संघ के अन्तर्गत थे, किन्तु संघ की प्रभुसत्ता उनके हाथ में न थी। काशिका ने लिखा है कि द्वैप्य और हैमायन जैसी अवान्तर शाखाओं को अन्धकवृष्णि संघ की सदस्यता प्राप्त थी, पर वे राजन्य न थे। इस संघ की अन्य विशेषता सुविकसित राजनैतिक दलों का संगठन था। पतंजलि ने अक्रूरवर्ग्य-अक्रूरवर्गीण, वासुदेववर्ग्य-वासुदेववर्गीण अर्थात् अक्रूर और वासुदेव के दलों के सदस्यों का उल्लेख किया है। अक्रूर, श्वाफल्क, शिनि अन्धकों के एवं कृष्ण, बलराम, नकुल आदि वृष्णियों के नेता थे। वस्तुतः इस सूत्र में शिनि वासुदेवाः, श्वाफल्कचैत्रक रोधकाः, इत्यादि प्रयोग नेताओं के नाम के अनुसार कई वर्गों के संयुक्त सदस्यों के वाचक हैं।

भर्ग (४।१।१७८)—भर्गात्त्रैगर्ते (४।१।१११) सूत्र के अनुसार त्रिगर्त देश में भर्ग एक गोत्र का नाम था। सूत्र ४।१।१७८ में भर्ग जनपद है। वहाँ एकराज्य था या गण शासन यह अष्टाध्यायी से स्पष्ट नहीं होता, किन्तु बौद्ध साहित्य में भग्ग एक संघ था जिसकी राजधानी शिंशुमारगिरि थी।

कुछ अन्य नाम

गण पाठ में कुछ और भी महत्व पूर्ण नाम हैं। यूनानी लेखकों से ज्ञात होता है कि वे संघ शासन के अनुयायी थे। सम्भवतः वे आयुधजीवी संघ थे—

(१) क्षुद्रक—५।३।११४ सूत्र के उदाहरणों में क्षुद्रकों को वाहीक देश का आयुधजीवी संघ माना है। क्षुद्रकमालवात् सेनासंज्ञायाम्, इस गण सूत्र के (४।२।४५) आधार पर ज्ञात होता है कि पाणिनि के समय में ये दोनों गण राज्य समृद्ध दशा में थे और दोनों की सम्मिलित सेना क्षौद्रकमालवी नाम से प्रसिद्ध थी। श्री रामकृष्ण गोपाल भण्डारकर ने सर्व प्रथम क्षुद्रकों की ठीक पहचान यूनानी लेखकों के औक्सिद्रकाइ से की थी। कर्तियस के सुद्रकाइ भी क्षुद्रक ही हैं (मेक्क्रिण्डल, एलक्जेण्डर, पृ० २३८)।

(२) मालव— यूनानियों के मल्लोइ संस्कृत साहित्य के मालव थे, यह पहचान अब सर्वमान्य है। यूनानी इतिहासकारों के अनुसार मालव रावी और चनाब के संगम के समीप सन्निविष्ट थे। क्षुद्रक उन्हीं के पड़ोस में रावी के पूरब के विस्तृत प्रदेश में आबाद थे। दोनों ने सिकन्दर का प्रतिरोध किया था। भाष्य में एकाकिभिः क्षुद्रकैर्जितम् उदाहरण आया है जिससे अनुमान होता है कि मालवों से वियुक्त होने पर भी क्षुद्रकों ने अकेले ही युद्ध किया था और उसमें वे विजयी हुए थे।

(३) वसाति (४।२।५३ राजन्यादि गण)—इसकी पहचान यूनानी ओस्सदिओइ (Ossadioi) से की गई है। चनाब और सतलज की संयुक्त धारा जहाँ सिन्धु से मिलती है उसके समीप कहीं वसातियों का राज्य था। महाभारत में वसातयः समौलेयाः (सभा ५१।१५) उल्लेख से मूला नदी के भौगोलिक क्षेत्र के पड़ोस में वर्तमान सीवी के आसपास वसातियों का निवास सूचित होता है।

(४) आप्रीत (राजन्यादि गण)—आप्रीतों की पहचान आधुनिक अफ्रीदियों से की गई है। अफ्रीदी स्वयं अपने नाम का उच्चारण अप्रीदी करते हैं (ग्रियर्सन, भाषा सर्वेक्षण, १०।५)। यह भी कहा गया है कि ऋग्वेदीय अपरीताः नाम ही संस्कृत में सुधार कर आप्रीताः कर लिया गया। अप्रीदियों का देश अप्रीदी तीरा कहलाता है, जिसकी पहचान भाष्य के त्रीरावतीक प्रदेश के साथ पहले की जा चुकी है (पूर्व पृ० ५१)। हीरोदोत ने इन्हें अपरिताइ लिखा है।

मधुमन्त—पाणिनि ने कच्छादि (४।२।१३३) और सिन्ध्वादि (४।३।९३) गणों में मधुमन्तों का उल्लेख किया है। मध्वादिभ्यश्च (४।२।८६) सूत्र में मधुमन्त देश का नाम है। महाभारत में उदीच्य देशों में मधुमन्तों की गणना है (भीष्म पर्व ९।५३)। मधुमन्त स्पष्ट ही मोहमन्द है। मोहमन्द कबीले के लोग इस समय काबुल नदी के उत्तर दीर-बाजौर इलाके में लगभग १२०० वर्गमील के क्षेत्र में आबाद हैं।

जैसा पहले कहा जा चुका है दीर संस्कृत द्विरावतीक से सम्बन्धित है जो कि कुनड़ और पंजकोरा नदियों के बीच का प्रदेश था। इसी प्रकार तीरा या त्रीरावतीक देश कुभा, वरा (पेशावर की बारा नदी) और सिन्धु इन तीन नदियों के प्रदेश में था।

(६) हास्तिनायन, (७) आश्वायन, (८) आश्वकायन—इनमें से पहले का उल्लेख सूत्र ६।४।१७४ में, दूसरे का ४।१।११० में और तीसरे का नडादि गण ४।१।९९ में है। इन तीनों की पहचान इस प्रकार है। कपिशा से आगे सिन्धु की ओर यात्रा करते हुए सिकन्दर ने इन तीनों जातियों से सम्पर्क किया था। यूनानी लेखकों ने लिखा है कि पुष्कलावती में अस्तकेनोआइ जाति का राज्य था। कुनड़ या चितराल नदी की घाटियों में अस्पेसिओआइ जाति का और स्वात एवं पञ्जकोरा नदियों के बीच में अस्सकेनोआइ लोगों का राज्य था। उनकी राजधानी मस्सग में थी और वे स्वात के पहाड़ी प्रदेश में आबाद थे। इन नामों की पहचान पाणिनीय नामों के साथ यह है—

(अ) अस्पेसिओआइ = सं० आश्वायन, अलीशंग या कुनड़ नदी की दून।

(इ) अस्सकेनोआइ = सं० आश्वकायन, राजधानी मशकावती, स्वात नदी की दून।

(उ) अस्तकेनोआइ = सं० हास्तिनायन, स्वात और काबुल नदी के संगम के समीप पुष्कलावती में जो इनकी राजधानी थी (दे० पूर्व, पृ० ८५)।

इनमें से आश्वायन और आश्वकायन सबसे वीर और लड़ाकू थे जो अपने अजेय पहाड़ी दुर्गों में सुरक्षा के साथ डटे रहते थे। आश्वकायनों की राजधानी मस्सग या मशकावती थी। भाष्य में वह एक नदी का नाम है (४।२।७१)। सुवास्तु या स्वात के निचले भाग में बाजौर से २४ मील पर मजग या मस्सनगर नामक शहर है जो प्राचीन मशकावती थी। बाहरी हमले के समय आस्श्वकायन अपने पहाड़ी दुर्ग में जो स्वात के उपरले भाग में था, चले जाते थे। यह स्वात के पूरब में सिन्धु की ओर था। यूनानियों ने उसका नाम एओरनस लिखा है और उसकी दुर्जय स्थिति की बहुत प्रशंसा की है। यही पाणिनि का वरणा नगर ज्ञात होता है (४।२।८२)। श्री आरेल स्टाइन ने एओरनस दुर्ग की पहचान ऊँणरा नामक स्थान से की है (देखिए पूर्व पृष्ठ ८४, ८५)।

आश्वायन और आश्वकायन इन दोनों का सम्बन्ध घोड़ों से विशेष था। यूनानी लेखकों के अनुसार अस्पेसिओआइ या आश्वायन खोएस नदी की घाटी में आबाद थे जिसकी पहचान अवस्ता की हस्प नदी (सं सु-अश्व) से की गई है (= आधुनिक चेरखेह, मोदी एसियाटिक पेपर्स, भाग० २, पृष्ठ २०७)। इनसे भिन्न हास्तिनायनों का हस्तिसेना से सम्बन्ध उनके नाम से सूचित है।

———

अध्याय ८

पाणिनि के समय पर विचार

अष्टाध्यायी की जिस भौगोलिक और सांस्कृतिक सामग्री पर इस ग्रन्थ में विचार किया गया है, उसके आधार पर पाणिनि के समय और आपेक्षिक तिथि क्रम पर भी प्रकाश पड़ता है। पाणिनि संस्कृत भाषा के ऐसे गाढ़े संक्रान्तिकाल में हुए जब एक ओर वैदिक भाषा और साहित्य का चरम विकास हो चुका था, और दूसरी ओर संस्कृत भाषा, जिसे काव्य भाषा भी कह सकते हैं, अपनी उस महती शक्ति को प्राप्त कर रही थी जो वाल्मीकि और व्यास के श्लोक छन्दों में निहित है। पाणिनि की भाषा लोक व्यवहार की साधु भाषा थी। वह जीवन के व्यापक क्षेत्र में भाव प्रकाशन की सक्षम माध्यम थी। कौटिलीय के अर्थ शास्त्र के कितने ही शब्द और संस्थाओं का उल्लेख अष्टाध्यायी में आता है। महाभारत, गृह्यसूत्र, श्रौतसूत्र, पाली साहित्य, अर्धमागधी आगम साहित्य, इन सब में पाणिनीय संस्थाओं के उल्लेख मिलते हैं। इनकी सहायता से उन शब्दों के अर्थ और सांस्कृतिक पृष्ठ भूमि को समझने में सहायता मिली तथा पाणिनि के कालक्रम भी प्रकाश प्राप्त होता है।

पूर्वमत—पाणिनि के काल का निर्णय संस्कृत साहित्य के इतिहास का महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। कितने ही विद्वानों ने इस प्रश्न पर विचार किया है। गोल्डस्टूकर के अनुसार पाणिनि सातवीं शती ईस्वी पूर्व में हुए। श्री रामकृष्ण गोपाल भंडारकर का भी यही मत था। उनका आधार था कि पाणिनि को दक्षिण भारत का परिचय न था। श्री पाठक ने पाणिनि को सातवीं शती ई० पू० के अन्तिम चरण में महावीर के जन्म से कुछ ही पूर्व रक्खा था (भंडारकर इंस्टीट्यूट की पत्रिका, ११।८३)। श्री देवदत्त रामकृष्ण भंडारकर ने पहले सातवीं शती (१९१८ कार्माइकेल० व्याख्यान, पृ० १४१), फिर पीछे छठी शती का मध्य भाग पाणिनि का काल माना (प्राचीन भारत मुद्रा शास्त्र, १९२१, पृ० ४६)। शारपेंतिए के मत में यह तिथि ५५० ई० पू० होनी चाहिए (जे आर ए एस, १९१३, पृ० ६७२-७४)। उनका अपना ही प्रतिसंस्कृत मत यह था कि यह तिथि ५०० ई० पू० के लगभग थी (वही १९२८, पृ० ३४५)। श्री रायचौधरी का विचार है कि ईरानियों द्वारा गंधार विजय का युग जब समाप्त हो गया तब पाणिनि का समय होना चाहिए जो छठी शती के बाद और चौथी शती से पूर्व का रहा था। 'उनका

समय पाँचवीशती में मानने से सब प्रमाणों की संगति बैठ जाती है' (वैष्णव धर्म का प्राचीन इतिहास, १९३६, पृ० ३०)। ग्रियर्सन का मत था कि अशोक के धर्म लेख और पाणिनि के बीच में सौ-डेढ़ सौ वर्षों का अन्तर होना चाहिए। इससे ४०० ई० पू० के लगभग पाणिनि का समय था। मैकडानल का प्रतिसंस्कृत मत यह था कि पाणिनि का समय ५०० ई० पू० के बाद होना संभव नहीं। बॉटलिंक ने इसे ३५० ई० पू० के लगभग माना है। वेबर ने पाणिनि का समय सिकन्दर के भारत में आने के बाद रखा। यह खेद की बात है कि वेबर जैसे व्याकरण मर्मज्ञ विद्वान् ने खण्डिकादिभ्यश्च (४।२।४५) सूत्र की कारिकाओं को ठीक न समझकर क्षुद्रक मालवों की संयुक्त सेना को सिकन्दर के बाद मान लिया और पाणिनि द्वारा उसके उल्लेख के आधार पर पाणिनि को भी सिकन्दर के बाद माना (भारतीय साहित्य का इतिहास, पृ० २२२)। वस्तुतः यह भ्रान्ति थी और इन कारिकाओं से वेबर का अभिधेय किसी प्रकार सिद्ध नहीं होता[1]। लीबिश ने निश्चित संमति न देते हुए इतना ही लिखा कि इस विषय पर निर्णायक प्रमाण अभी तक हमें प्राप्त नहीं है, किन्तु संभावना ऐसी है कि पाणिनि बुद्ध के बाद और ईस्वी सन से पूर्व हुए और वे पहली मर्यादा के अधिक सन्निकट थे।

भारतीय अनुश्रुति—इस विषय में किसी भी मत पर पहुँचने के लिये पाणिनीय सामग्री की साक्षी ही हमारा एक मात्र आधार होनी चाहिए। इन मतों से यह तो विदित हो जाता है कि मोटे तौर पर सातवीं शती से चौथी शती ई० पू० तक के युग में पाणिनि के समय की सर्वसम्मत अवधि होती है। इसमें भी पाँचवी शती ई० पू० के पक्ष में बहुमत है। इस सम्बन्ध में गोल्डस्टूकर जो व्याकरण शास्त्र और महाभाष्य के मार्मिक जानकार थे, प्रश्न की कुंजी के रूप में यह संमति देते हैं—'पाणिनि के काल के विषय में कल्पना करने की अपेक्षा इस बात की छानबीन से अधिक सफलता मिलेगी कि पाणिनि के ऐतिहासिक उल्लेखों का औरों के साथ आपेक्षिक संबन्ध क्या है।' इस युक्ति को स्वीकार करते हुए हम यह जानने का प्रयत्न करेंगे कि इस विषय में जो सामग्री उपलब्ध है, वह किस तिथि की ओर संमिलित संकेत करती है। जहाँ सब प्रमाणों की संगति और एक सूत्रता संभव हो, वही मत ग्राह्य होना चाहिए। हमारी संमति में इस विषय में जो भारतीय अनुश्रुति है, वह सत्य परम्परा पर आश्रित जान पड़ती है, अर्थात् पाणिनि किसी नन्दवंशी राजा के समकालीन थे। यह समय पाँचवी शती ई० पू० के मध्य भाग में था। अब हम प्रमाणसामग्री पर क्रमशः विचार करेंगे।

---

(१) वेबर के मत की समीक्षा में मेरा लेख, क्षुद्रक मालवों के विषय में पतंजलि, पूना ओरिएन्टलिस्ट, वर्ष १, संख्या ४, जनवरी १९३७, पृ० १–७।

साहित्यिक उल्लेखों की साक्षी—गोल्डस्टूकर द्वारा पाणिनि के सप्तम शती ई० पू० में रक्खे जाने का मुख्य आधार यह था कि पाणिनि केवल ऋग्वेद सामवेद और कृष्ण यजुर्वेद से परिचित थे; आरण्यक उपनिषत् प्रातिशाख्य वाजसनेयी संहिता, शतपथ ब्राह्मण, अथर्ववेद एवं दर्शनग्रन्थों का उन्हें परिचय न था। केवल यास्क पाणिनि से पूर्व में हो चुके थे। स्पष्ट ही यह मत उस विवेचन के बाद जो पाणिनीय साहित्य के विषय में हमने किया है, ग्राह्य नहीं माना जा सकता। पाणिनि को वैदिक साहित्य के कितने अंश का परिचय था, इस विषय में विस्तृत अध्ययन के आधार पर थीमे का निष्कर्ष है कि ऋग्वेद, मैत्रायणी संहिता, काठक संहिता, तैत्तिरीय संहिता, अथर्ववेद, सम्भवतः सामवेद, ऋग्वेद के पदपाठ और पैप्पलाद शाखा का भी पाणिनि को परिचय था, अर्थात् ये सब साहित्य उनसे पूर्वयुग में निर्मित हो चुका था (थीमे, पाणिनि और वेद, १९३५, पृ० ६३)। इस संबन्ध में एक मार्मिक उदाहरण दिया जा सकता है। गोल्डस्टूकरने यह माना था कि पाणिनि को उपनिषत् साहित्य का परिचय नहीं था, अतएव उनका समय उपनिषदों की रचना से पूर्व होना चाहिए। यह कथन सारहीन है, क्योंकि सूत्र १।४।७९ में पाणिनि ने उपनिषत्कृत्य इस वाक्यांश में उपनिषत् शब्द का प्रयोग ऐसे अर्थ में किया है, जिसके विकास के लिये उपनिषद् युग के बाद भी कई शती का समय अपेक्षित था (दे० पृ० ३२५-२६)। कीथ ने इसी सूत्र के आधार पर पाणिनि को उपनिषदों के परिचय की बात प्रमाणित मानी थी (तैत्तिरीय सं०, अंग्रेजी अनुवाद, भूमिका, पृष्ठ १६७)। तथ्य तो यह है कि पाणिनि कालीन साहित्य की परिधि वैदिक ग्रन्थों से कहीं आगे बढ़ चुकी थी। जैसा पूर्व में दिखाया गया है, वैदिक चरणों के अन्तर्गत कल्पसूत्र एवं धर्मसूत्रों का भी विकास हो चुका था और चरणों से बाहर वेदांगसाहित्य की पर्याप्त उन्नति हो रही थी। व्याकरण ग्रन्थों में नामिक और आख्यातिक नामक विशिष्ट ग्रन्थ एवं याज्ञिक साहित्य तथा उनके व्याख्यान, अनुव्याख्यान आदि का अत्यधिक विकास पाणिनि के समय तक हो गया था, जो कि वैदिक साहित्य के उत्तरकालीन विकास का सबसे अन्तिम चरण कहा जा सकता है। महाभारत के मूल और उपबृंहित स्वरूप दोनों का परिचय उन्हें था (उत्गीकर, भाण्डारकरस्मृति ग्रन्थ, पृ० ३४०)। इसके अतिरिक्त पाणिनि ने नटसूत्र एवं शिशुक्रन्दीय, यमसभीय, इन्द्रजनीय जैसे नितान्त लौकिक काव्य ग्रन्थों का भी अपने सूत्रों में उल्लेख किया है। जिसे हम शिष्ट प्रयुक्त संस्कृत भाषा का नूतनयुग समझते हैं, उसका एक खिला हुआ रूप पाणिनि के युग में विद्यमान था, जिसमें एक ओर अनुष्टुप् श्लोक काव्यरचना का स्पृहणीय माध्यम बन चुका था, दूसरी ओर सूत्र शैली का भी पूर्णतम विकास हो चुका था। उपलब्ध धर्मसूत्र एवं गृह्यसूत्रों से कहीं अधिक प्रतिष्णात सूत्र रचना पाणिनि की शैली थी। पाणिनि द्वारा साहित्यिक उल्लेखों की प्रमाणसामग्री के सामने गोल्डस्टूकर का मत नहीं टिक सकता।

पाणिनि और दक्षिण भारत—भाण्डारकर तथा कुछ अन्य विद्वानों ने भी यह मत व्यक्त किया था कि पाणिनि को दक्षिण भारत की परिचय न था। हमारा कथन है कि पाणिनि के काल विषयक विचार में इस तर्क पर विशेष आग्रह नहीं किया जा सकता। पहले तो यास्क ने ही जिन्हें गोल्डस्टूकर ने भी पाणिनि से पूर्वकालीन माना था, दक्षिणी भारत को सामाजिक प्रथाओं का सूक्ष्म परिचय दिया है। जैसा कीथ ने लिखा है यास्क ने वैदिक विजामातृ शब्द का दक्षिण भारत में प्रचलित ऐसे जामाता के अर्थ में प्रयोग किया है, जिसने अपने श्वसुर को पत्नी का निष्क्रयमूल्य चुकाया हो (विजामातेति शाश्वद् दाक्षिणाजाः क्रीतापतिमाचक्षते, निरुक्त ६।९; कीथ, संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० १५)। दूसरे कात्यायन के युग में संस्कृत भाषा दक्षिण भारत में ओतप्रोत हो चुकी थी। कात्यायन जैसे व्याकरण शास्त्र के पारंगत विद्वान् को पतंजलि ने दाक्षिणात्य कहा है (प्रियतद्धिताः दाक्षिणात्याः)। पाणिनि और कात्यायन में लगभग एकशती का अन्तर था। एगलिंग ने लिखा है, "मैं श्री बूहलर के इस मत से सहमत हूँ कि कात्यायन का अधिकतम संभव समय चौथी शती और पतंजलि का दूसरी शती ई० पू० में था (शतपथ ब्राह्मण का अनुवाद, भूमिका)। तीसरे पाणिनि ने समुद्रतट-वर्ती एवं मध्यसमुद्रवर्ती द्वीपों का उल्लेख करने के अतिरिक्त अयनांशों के मध्य के भूभाग को अन्तरयन देश लिखा है (८।४।२५)। यह दक्षिण की ओर ही संकेत है, जो कि कर्करेखा के दक्षिण का प्रदेश था। अवन्ति जनपद के दक्षिण अश्मक जनपद का उल्लेख तो साक्षात् सूत्र में किया गया है, जिसकी पहचान सर्वसम्मति से गोदावरी के तटपर स्थित प्रतिष्ठान या पोदन्यपुर राजधानीवाले भूभाग से की जाती है। पूर्व के जनपदों में कलिंग का भी उन्होंने सूत्र में उल्लेख किया है, जहाँ से दक्षिण भारत के यातायात का मार्ग खुलता था। अतएव दक्षिण के विषय में पाणिनि का भौगोलिक मौन इस प्रकार का नहीं है कि उससे कोई परिणाम निकाला जा सके।

पाणिनि और मस्करी—ऊपर बताया गया है कि पाणिनि ने मंखलि गोसाल नामक आचार्य को मस्करी परिव्राजक कहा है, जैसा कि पतंजलि के भाष्य से निश्चित है (पृ० ३७६, ३८३)। हर्नली के मतानुसार गोसाल का समय ५०० ई० पू० के लगभग था। (हेस्टिंग, धर्म और नीति का विश्वकोष, आजीवक १।२६९)। भगवती सूत्र के अनुसार गोसाल ने सावत्थी में मृत्यु से सोलह वर्ष पूर्व अपने मत की स्थापना की थी। शार्पेंतिए हर्नली से प्रायः सहमत हैं और समझते हैं कि मंखलि की मृत्यु ५०० ई० पू० के कुछ बाद हुई थी (जेआरएएस, १९१३, पृ०, ६७४)। इससे यह निश्चितप्राय है कि ५०० ई० पू० पाणिनि के काल की पूर्व मर्यादा थी।

पाणिनि और बुद्ध—मंखलि गोसाल बुद्ध का समकालीन था। अतएव पाणिनि से पूर्व बुद्ध का जन्म हो चुका था, इस तथ्य को मान लेने से पाणिनि के

कई शब्द अपनी सच्ची पृष्ठभूमि में समझे जा सकते हैं। निर्वाण, कुमारीश्रमणा, संचीवरयते (३।१।२०) और निकाय नामक धार्मिक संघ जिसमें औत्तराधर्य का अभाव था, इस प्रकार के हैं। ऐसा संघ विशेषरूप से बौद्ध धर्म के साथ संबन्धित था। पहले धार्मिक आचार्य अपना संघ या गण बनाते थे, जिसके वे स्वयं सत्था होते थे। किन्तु बौद्धसंघ बुद्ध के बाद जिस रूप में विकसित हुआ, वह उस समय के लोगों को कुछ विचित्र सा जान पड़ा। उसमें सत्था का परमाधिकार नहीं के बराबर था। संघ के सब सदस्य विनय के नियमों को सर्वोपरि प्रमाण मानते थे। सत्था के एकमात्र अनुशासन के स्थान में स्थविरों के प्रति सम्मान का भाव विकसित हुआ और समता के आधारपर समस्त भिक्षु समुदाय का ऐसा संघ बना जिसमें औत्तराधर्य अर्थात् किसी के ऊँचे और किसी के नीचे होने का भाव बिलकुल न रह गया था। राजनैतिक संघ या गण में यह बात न थी। वहाँ कुछ लोग मूर्धाभिषिक्त 'राजा' होते थे और कुछ सामान्यजन। इन संस्थाओं से संकेत प्राप्त होता है कि पाणिनि का काल बुद्ध के अनन्तर होना चाहिए।

श्रविष्ठा नक्षत्र—सूत्र ४।३।३४ में दस नक्षत्रों की सूची दी हुई है। उसमें पाणिनि ने श्रविष्ठा नक्षत्र को सबसे पूर्व में रखा है। यद्यपि शेष नामों में क्रम का अभाव है, फिर भी श्रविष्ठा से ही सूची का आरंभ सकारण ज्ञात होता है। बात यह है कि वेदांग ज्योतिष में नक्षत्रों की गणना श्रविष्ठा से होती थी। उससे भी पूर्व नक्षत्रगणना कृत्तिका से की जाती थी। उसके बाद महाभारत में यह गणना श्रवण से है (पूर्व पृ० १७७–१७८) गर्ग के मतानुसार कर्मकाण्ड में कृत्तिका से और ज्योतिष में श्रविष्ठा से नक्षत्र गणना होती थी। श्रविष्ठा का ही अन्य नाम धनिष्ठा था। वेदांग ज्योतिष के समय धनिष्ठा प्रथम नक्षत्र माना जाता था। धनिष्ठा को छोड़कर श्रवण नक्षत्र की गणना कब से आरंभ हुई, यह प्रश्न महत्त्वपूर्ण है। महाभारत में लिखा है—श्रवणादीनि ऋक्षाणि। फ्लीट ने इस वाक्यांश पर सूक्ष्म विचार करते हुए लिखा था कि अवश्य ही जिस समय यह लिखा गया वेदांग ज्योतिष की श्रविष्ठादि गणना के स्थान में श्रवणादि सूची मान्य हो चुकी थी (जे आर ए एस, १९१६, पृ० ५७०)। कीथ ने फ्लीट का मत स्वीकार करते हुए लिखा कि हॉप्किन्स ने भी १९०३ में अमरीका की प्राच्य परिषत् पत्रिका के अंक में यही मत व्यक्त किया था (जे आर ए एस, १९१७, पृ० १३३)। महाभारत में भी एक जगह अपने युग से पूर्व की धनिष्ठादि गणना एवं उससे भी पूर्व की रोहिण्यादि गणना का उल्लेख बचा रह गया है[1]।

इस संबन्ध में मुख्य प्रश्न यह है कि धनिष्ठादि गणना किस समय तक चालू रही और कब उसका स्थान श्रवणादि सूची ने लिया। यदि यह ज्ञात हो जाय तो

---

१ धनिष्ठादिस्तदा कालो ब्रह्मणा परिनिर्मितः।
रोहिण्याद्योऽभवत् पूर्वमेवं संख्या समाभवत्॥ (आरण्यक, २१६।१०)

वही पाणिनि के समय की अन्तिम अवधि माननी होगी। महाभारत में उल्लेख है कि धनिष्ठा के स्थान में श्रवण की गणना का श्रेय विश्वामित्र को था। कीथ ने लिखा है कि विश्वामित्र कोई ज्योतिष के संस्कर्ता आचार्य थे, जिन्होंने विगत धनिष्ठा के स्थान में जहाँ से क्रान्तिवृत्त आगे बढ़ चुका था, श्रवण को वास्तविक स्थिति के अनुसार प्रथम नक्षत्र स्वीकृत किया (जे, आर, ए, एस, १९१७, पृ० ३१)।

श्री योगेशचन्द्र रे ने इस प्रश्न की विवेचना करते हुए लिखा है कि १३७२ ई० पू० में श्रविष्ठा, सूर्य और चन्द्र संक्रान्ति के समय एक स्थान पर थे। ७० वर्ष में एक नक्षत्र एक अंश हट जाता है, अतएव लगभग १००० वर्ष (९३३ वर्ष) पूरे नक्षत्र के परिवर्तन में लगते हैं। इसलिये पाँचवीं शती ईस्वी पूर्व में श्रवण नक्षत्र उसी स्थान पर आ गया था, जहाँ पहले श्रविष्ठा था। १३७२ ई० पू० से गणना करते हुए ४०५ ई० पू० तक श्रविष्ठादि गणना का काल था। ४०१ ई० पू० के लगभग 'श्रवणादीनि ऋक्षाणि' यह उल्लेख किया गया होगा। अतएव श्रविष्ठादि सूची को मान्यता देनेवाले लेख या विद्वानों का समय ४०० ई० पू० के बाद नहीं होना चाहिए। श्रविष्ठादि नक्षत्र सूची और मस्करी परिव्राजक इन दो प्रमाणों के आधारपर अष्टाध्यायी के काल की अवधि ५०० ई० पू० से ४०० ई० पू० के बीच में सम्भाव्य हो जाती है।

नन्दराज की अनुश्रुति—बौद्ध एवं ब्राह्मण साहित्य में प्राचीन अनुश्रुति है कि पाणिनि किसी नन्दवंशीय राजा के समकालीन थे। तिब्बती लेखक तारानाथ ने पाणिनि और नन्दराज की समसमायिकता को स्वीकार किया है (तारानाथ, बौद्ध धर्म का इतिहास, १६०८। यह ग्रन्थ अति प्राचीन बौद्ध अनुश्रुति के आधार पर रचा गया था)। सोमदेव ने कथासरित्सागर (१०६३-१०८१) में और क्षेमेन्द्र ने बृहत्कथामंजरी (११ वीं शती) में लिखा है कि पाणिनि नन्द राजा की सभा में पाटलिपुत्र गए थे। बौद्ध ग्रन्थ मञ्जुश्रीमूलकल्प (लगभग ८वीं शती) से इस परम्परा का समर्थन होता है। उसके अनुसार, 'पुष्पपुर में नन्दराजा होगा और पाणिनि नामक ब्राह्मण उसका अन्तरंग मित्र होगा। मगध की राजधानी में अनेक तार्किक ब्राह्मण राजा की सभा में होंगे और राजा उन्हें दानमान से सम्मानित करेगा'।[1] य्यूआन् चुआङ् ने भी शलातुर में जो पाणिनि की जीवन सामग्री

---

१ तस्याप्यनन्तरो राजा नन्दनामा भविष्यति।
पुष्पाख्ये नगरे श्रीमां महासैन्यो महाबलः॥
भविष्यति तदा काले ब्राह्मणास्तार्किका भुवि॥
तेभिः परिवारितो राजा वै।
तस्याप्यन्यतमः सख्यः पाणिनिर्नाम माणवः (मञ्जुश्रीमूलकल्प, पटल ५३, पृ० ६११-१२; जायसवाल कृत उसका अध्ययन, पृ० १४)।

संकलित की थी, उसके अनुसार ग्रन्थ की रचना के बाद पाणिनि उसे लेकर देश के तत्कालीन सम्राट् की सभा में गए जिसने उनके ग्रन्थ को बहुसंमानित किया और उसके प्रचार एवं शिक्षण का आदेश दिया (सियुकि, पृ० ११५)। यद्यपि सम्राट् और उनकी राजधानी के नाम का उल्लेख नहीं है, तो भी उससे राजसभा में जाने की अनुश्रुति का आंशिक समर्थन होता है। राजशेखर (९०० ई०) ने भी पाणिनि का संबन्ध पाटलिपुत्र की शास्त्रकार परीक्षा से माना है। पाटलिपुत्र में इस प्रकार की विद्वत् सभा चौथी शती ई० पू० में यूनानी राजदूत मेगस्थने के समय में थी। उसने और भी अधिक प्राचीन संस्था के रूप में उसका उल्लेख किया है। इस प्रकार पाणिनि विषयक अनुश्रुति का व्यापक समर्थन भारतीय, चीनी, यूनानी, कई स्रोतों से होता है। यद्यपि पाणिनि गन्धार देश के थे, पर उनके समय उदीच्य और प्राच्य के अतिघनिष्ठ सबन्ध थे। उसकी परम्परा उपनिषत् युग से ही चली आ रही थी। विशेषतः ज्ञान के क्षेत्र में विद्वानों का सम्पर्क सामान्य बात थी, जैसा पञ्चाल के उद्दालक आरुणि की मद्रदेश यात्रा के वर्णन से जाना जाता है। पाणिनि ने भी इसी प्रकार के ज्ञान-सम्पर्क में भाग लिया था। उनके एक शती बाद चाणक्य भी वैसे ही तक्षशिला से पुष्पपुर आए थे (वादं पर्येसन्तो पुप्फपुरं गन्त्वा, सिंहली महावंस की अत्थपकासिनी टीका, दे० पूर्व पृष्ठ २४)।

इस संबन्ध में इस बात की छानबीन आवश्यक है कि पाणिनि के समकालीन उनके मित्र नन्दराज कौन थे। भारतीय इतिहास के इस युग की सामग्री पर्याप्त न होने से इस प्रश्न का समाधान तुरन्त स्पष्ट नहीं है। फिर भी दो तिथियाँ प्रायः मान्य हैं। एक तो ३२६ ई० पू० नन्द वंश के अन्तिम राजा का अन्तिम वर्ष था, जैसी कि सिकन्दर को पंजाब में सूचना मिली थी। इसके बाद चन्द्रगुप्त मौर्य ने नन्दवंश का मूलोच्छेद किया। इस तिथि से पूर्व गणना करते हुए नन्दवंश का राज्यकाल मानना होगा। पुराणों में इसे १०० वर्ष और जैन अनुश्रुतियों में १५० वर्ष माना है। तदनुसार नन्दों का राज्यकाल ३२५ ई० पू० से ४७५ ई० पू० के बीच में रखा जाना चाहिए। पुराणों के अनुसार शिशुनागवंशी उदय के बाद नन्दिवर्द्धन, उसके बाद महानन्दिन्, तब महापद्म और उसके पुत्र राजा हुए। इनकी तिथियाँ लगभग इस प्रकार हैं—

(१) नन्दिवर्द्धन—	लगभग	४७५	—	४४५ ई० पू०
(२) महानन्दिन्	”	४४५	—	४०३ ”
(३) महापद्म	”	४०३	—	३७५ ”
(४) महापद्म के पुत्र	”	३७५	—	३२५ ”

तारानाथ के अनुसार नन्दवंशी सम्राट् महापद्मनन्द के पिता नन्द पाणिनि के मित्र थे। महानन्दिन् का नाम महानन्द या केवल नन्द था। ये ही पाणिनि के समकालीन और उनके संरक्षक मगधवंश के सम्राट् थे, जिनका समय पाँचवीं

शती ई० पू० के मध्य भाग में था। पाणिनि के संबन्ध की जो अन्य साक्षी है, वह भी इस तिथिक्रम से संगत बैठ जाती हैं।

यह ज्ञातव्य है कि व्याकरण साहित्य में नन्दों के संबन्ध के कुछ उल्लेख बच गए हैं। नन्दोपक्रमाणि मानानि (काशिका २।४।२१) से विदित होता है कि किसी नन्दराजा ने नाप तोल के साधनों को निश्चित या प्रतिमानित किया था। महानन्द को अपने साम्राज्य की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये ऐसा करना पड़ा हो, यह संभव है। उपज्ञोपक्रमं तदाद्याचिख्यासायाम् सूत्र के लिये यह उदाहरण ठेठ पाणिनि के समय में ही चालू हुआ होगा और वह विद्वानों की दृष्टि में सटीक उदाहरण प्रतीत हुआ होगा।

सूत्र ६।२।१३३ के उदाहरण में नन्दपुत्र भी अति प्राचीन और महत्त्वपूर्ण उदाहरण होना चाहिए। यह नन्द और उसका पुत्र कौन थे? इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि नन्दिवर्द्धन प्रथम नन्दराज थे और उनके पुत्र महानन्दिन् या महानन्द नन्दपुत्र थे। कुछ विद्वान मानते हैं कि कलिंगराज खारवेल के लेख में ३०० वर्ष पूर्व किसी नन्द राजा द्वारा कलिंग में एक नहर खुदवाने का उल्लेख है। खारवेल का समय १६५ ई० पू० माना जाय तो नन्दराज का समय ४६५ ई० पू० हुआ। इस समय पाटलिपुत्र में मगध के सिंहासन पर नन्दिवर्द्धन का राज्य था। उन्हीं नन्दराज के पुत्र को व्याकरण के उदाहरण में नन्दपुत्र कहा गया।

राजनैतिक सामग्री—इस विषय में पाणिनि की राजनैतिक प्रमाण सामग्री पर भी विचार करना उचित है। उनके समय में मगध एकराज जनपद था, किन्तु मगध साम्राज्य की स्थापना न हुई थी। पाणिनि के अनुसार मगध, कोसल, अवन्ति, कलिंग, सूरमस, अश्मक, कुरु, प्रत्यग्रथ या पंचाल, ये एकराज जनपद स्वाधीन रूप में पनप रहे थे। अजातशत्रु ने मगध के सिंहासन पर बैठते ही काशि और कोसल को अपने राज्य में मिला लिया था, किन्तु वह अल्प कालिक स्थिति थी। नन्दिवर्द्धन या महानन्दिन् ने राज्य का विशेष विस्तार नहीं किया। अतएव पाणिनि ने स्वाधीन एकराज जनपदों की जिस स्थिति का उल्लेख किया है, वह महानन्द के समय में ही संभव थी। उसका उत्तराधिकारी महापद्म हुआ। पुराणों के अनुसार उसने क्षत्रिय राजाओं के मुख्य-मुख्य जनपदों को अपने साम्राज्य में मिला लिया। कोसल, पंचाल, काशि, हैहय, कलिंग, अश्मक, कुरु, मिथिला, शूरसेन और अवन्ति इन जनपदों की स्वतंत्रता का अपहरण करके और उन्हें अपने साम्राज्य में मिलाकर वह एकराट् बन गया। पुराणों ने इस परिवर्तन का जो मध्यदेश के इतिहास में संभवतः पहली ही बार हुआ था, विशेष रूप से उल्लेख किया है। इसके कारण महापद्म को परशुराम के समान सर्व-क्षत्रान्तक कहा गया है। इस प्रकार अष्टाध्यायी में जिस राजनैतिक स्थिति

का उल्लेख है, वह महापद्म के धक्के से पूर्व ४५०-४०० ई० पू० के बीच की होनी चाहिए।

यवनानी—यवन और उनकी लिपि यवनानी का उल्लेख पाणिनि के समय की छानबीन के लिये महत्त्वपूर्ण है। ईरानी सम्राट् दारा (५२१-४८६ ई० पू०) के लेखों में सर्वप्रथम यौन शब्द का उल्लेख हुआ है, जिसका तात्पर्य आयोनिया और वहाँ के निवासियों से था। दारा के साम्राज्य में गन्धार भी सम्मिलित था, जहाँ पाणिनि का निवास था। दारा के समय में ही यौन या उसके संस्कृतरूप यवन शब्द का प्रयोग भारतीय प्रदेश में हुआ होगा। यह कथन ठीक नहीं कि सिकन्दर के साथ आए हुए मेसिडोनिया के यूनानी पहली बार यवन नाम से प्रसिद्ध हुए। वस्तुतः सिकन्दर से बहुत पहले ही यूनान देश के लोग गन्धार में आकर बस गए थे। सिकन्दर ने स्वयं काबुल नदी की द्रोणी में नाइसा नामक स्थान में यूनानियों का एक संनिवेश देखा था, जो वहाँ पहले से बसा हुआ था। पतंजलि ने नैशजनपद का नामोल्लेख किया है (४।१।१७० भा०)। प्राचीन ईरानी यौन और यौना शब्द ही संस्कृत के उच्चारण में यवन और यवनाः रूप में प्रसिद्ध हुए (सुकुमारसेन, ओल्ड पर्शियन इन्सक्रिप्शन्स्, पृ० २२३)। यौना से मिलता हुआ उच्चारण योना प्राकृत में इस देश में भी चालू रहा, जैसा कि अशोक के अभिलेखों में पाया जाता है। अतएव यह असन्दिग्ध है कि पाणिनि के यवन शब्द की परम्परा सिकन्दर कालीन यवनों से नहीं, बल्कि आइयोनिया के उन यवनों से ली गई थी, जिनका परिचय ईरान के लोगों को छठी शती ई० पूर्व के अन्त में हो गया था। दारा प्रथम के समय से ईरान और गन्धार के जो संबन्ध जुड़ा, वह उसके उत्तराधिकारी खयार्श के राज्यकाल में भी बना रहा। गन्धार के भारतीयों की एक सैनिक टुकड़ी ने ईरानी सम्राट् की ओर से ४७९ ई० पू० के यूनान युद्ध में भाग लिया था। यों कितने ही अवसर ऐसे थे जिनके कारण गन्धार में यवन या यूनान देश का परिचय लोगों को मिला हो। जैसा कीथ ने लिखा है, 'यदि यह ध्यान रखें कि र्यूआन् चुआङ् के कथनानुसार पाणिनि गन्धार देश के निवासी थे, जैसा उनके व्याकरण से भी ज्ञात होता है, तो यह मानना अप्रासंगिक न होगा कि पाणिनि को यवनानी लिपि के नाम का परिचय यूनानियों की प्राचीन परम्परा से प्राप्त हुआ था, सिकन्दर के साथी यूनानियों से नहीं (ऐतरेय आरण्यक की भूमिका, पृ० २३)। लिपि शब्द भी जिसका पाणिनि ने सूत्र में उल्लेख किया है, बौद्ध साहित्य में नहीं मिलता। उसका मूल हखामनि लेखों का 'दिपि' शब्द होना चाहिए।

पाणिनि और पर्शु—पाणिनि ने पर्शु नामक आयुधजीवी संघ का उल्लेख किया है (५।३।११७)। प्राचीन-ईरानी 'पार्स' और बाबेरु भाषा का पर्-सु (बहिस्तून शिलालेख में) पाणिनीय पर्शु के अतिनिकट हैं। पर्शु संघ का प्रत्येक सदस्य पार्शव कहलाता था जो बाबेरु पर्-स-अ-अ के अति निकट है। पाँचवीं और

छठी शती ईस्वी पूर्व में ईरान और गन्धार का घनिष्ठ सम्बन्ध था। अतएव पाणिनि पर्शु-संघ से परिचित हों, तो आश्चर्य नहीं। गन्धार के अतिरिक्त भारत का सिंधु जनपद भी ईरानी हखामनि साम्राज्य में सम्मिलित था जिसे वहाँ के लेखों में हिन्दु कहा गया है। पाणिनीय वृक नामक आयुधजीवी संघ की पहचान ईरानी वर्क या हिर्कोनिया (=सं० वार्केण्य) से पहले की जा चुकी है। वर्क शकों का आयुधजीवी संघ था। पाणिनि ने कन्थान्त नामों का विस्तार से उल्लेख किया है। (पृष्ठ ८१–८३)। कन्था भी शक भाषा का शब्द था। दारा प्रथम (५२१–४८६) और उसके उत्तराधिकारी खयार्श (४८५-४६५ ई० पू०) के शासन काल में गन्धार ईरानी साम्राज्य का शासित प्रदेश था। किन्तु पाणिनि ने स्वतन्त्र जनपद के रूप में उसका उल्लेख किया है (साल्वेय गान्धारिभ्यां च, ४।१। १६९; गान्धारः क्षत्रियः, गान्धारो राजा)। यह स्थिति ४६५ ई० पू० के बाद सम्भव हुई होगी। महानन्दिन् (४४५-४०३) के साथ पाणिनि की समसामयिकता पर विचार करते हुए यह तिथि संगत हो जाती है। ४६० ई० पू० के लगभग गन्धार जनपद स्वाधीन हो गया होगा। पाणिनि ने लगभग ४४०-४३० ई० पू० के बीच अपने ग्रन्थ की रचना करने के बाद पाटलिपुत्र की यात्रा की होगी। उस समय उनकी आयु लगभग ५० वर्ष की मानी जाय तो उनका जन्म ४८० ई० पू० के लगभग ठहरता है। अष्टाध्यायी जैसे शास्त्र की रचना ४० वर्ष की आयु से ५० वर्ष की आयु में सिद्ध होनी सम्भव है। उसके लिये आवश्यक बुद्धि का परिपाक, गंभीर चिन्तन, दीर्घकालीन सामग्री संकलन, एवं स्वानुभव के आधार पर साधिकार विश्लेषण ये सब बातें आयुष्य के इसी भाग में प्रायः सम्भव होती हैं। उनके जीवनकाल की अवधि लगभग ७० वर्ष मानने से पाणिनि का समय ४८० ई पू० ४१० ई० पू० अनुमानित होता है।

क्षुद्रक-मालव—सूत्र ४।२।४५ के गणसूत्र में क्षौद्रक-मालवी सेना का उल्लेख है। यह सेना सिकन्दर से लड़ी थी। अतएव वेबर ने अनुमान किया कि पाणिनि का समय (और उनके पूर्ववर्ती आपिशलि का भी जिन्होंने क्षौद्रकमालवी रूप का विधान किया) सिकन्दर के बाद होना चाहिए। वेबर ने इस तर्क में इतना और जोड़ा कि प्रायः क्षुद्रक मालवों का आपस में मेल न था, पर विदेशी आक्रान्ता ने दोनों को मिलाकर क्षौद्रक-मालवी सेना का संयुक्त संगठन तैयार करा दिया।

वेवर के कथन में कई भ्रांतियाँ हैं। पतंजलि ने जिस आपिशलि विधि का उल्लेख किया हैं उसका क्षुद्रक मालवों से कुछ भी सम्बन्ध नहीं है, उसका सम्बन्ध 'आधेनवं' उदाहरण से है, जिसका उद्देश्य सामूहिक प्रकरण में तदन्त विधि का ज्ञापन कराना है।

दूसरे यह कथन भी ठीक नहीं है कि केवल सिकन्दर के प्रतिरोध के अवसर पर क्षुद्रक मालवों की सेना संयुक्त हो गई थी। यदि यह मिलन अल्पकालिक था

आकस्मिक होता तो भाषा में क्षौद्रक-मालवी सेना जैसे विशेष शब्द की आकांक्षा कदापि न होती। वस्तुतः क्षुद्रक मालव गणों का यह प्रबन्ध सिकन्दर वाली घटना से बहुत पहले से चला आता था[1] और पाणिनि के समय में भी लोक विदित था। तभी उसके लिये 'क्षुद्रकमालवात्सेनासंज्ञायाम्' इस अन्तर्गण सूत्र की आचार्य ने रचना की। न जाने वेबर ने क्यों यह कल्पना कर ली कि केवल सिकन्दर के युद्ध के लिये ही क्षुद्रक मालव एक हो गए थे। कर्तियस ने तो स्पष्ट कहा है कि क्षुद्रकों और मालवों की सेना का संगठन उनकी पहले से चली आई प्रथा थी और उसी के अनुसार क्षुद्रकों के एकवीर को समस्त सेना के सेनापति रूप में चुना गया (मेक्क्रिण्डल, सिकन्दर का आक्रमण, पृ० २३६)। संयुक्त सेना के विषय में समझौता हो जाने पर भी दुर्भाग्य से ठीक युद्ध के समय दोनों में मतभेद हो गया, और स्थिति जैसा वेबर ने लिखा है ठीक उसके विपरीत हो गई। इस विषय में दिओदोर की यह सूचना महत्त्वपूर्ण है कि क्षुद्रक और मालव सेनापति के चुनाव के विषय में एकमत न हो सके और फलतः एक साथ युद्ध करने से विरत हो गए (वही० पृ० २३६, पाद टिप्पणी)। कर्तियस से भी इसका समर्थन होता है—'युद्ध से पूर्व की रात को दोनों में मतभेद हो गया और उनकी सेनाएँ अपने अपने गुप्ति प्रदेश में हट गईं।' उसने यह भी लिखा है कि सेना का अधिकांश भाग क्षुद्रकों के दुर्ग में चला गया और वहीं से सिकन्दर के विरुद्ध उन्होंने अतिघोर संग्राम किया। अन्त में क्षुद्रकों की यूनानियों से सन्धि हुई जिन्होंने सौ क्षुद्रकों का बड़ी आव भगत से स्वागत किया। इस पृष्ठभूमि में भाष्य का यह उल्लेख कि क्षुद्रकों ने किसी की सहायता के बिना अकेले युद्ध किया संगत हो जाता है (एकाकिभिः क्षुद्रकैर्जितम्, असहायैरित्यर्थः)।

इससे यह निश्चित है कि पाणिनि और यूनानी लेखक दोनों के अनुसार संयुक्त क्षौद्रक-मालवी सेना का अस्तित्व सिकन्दर के पूर्व से चला आता था। वेबर के उसके विपरीत तर्क में, जिससे बहुतों को भ्रांति हुई, कोई तथ्य नहीं है।

पाणिनि और संघराज्य—पाणिनि ने अष्टाध्यायी में जिन संघ राज्यों की लम्बी सूची दी है वे चन्द्रगुप्त मौर्य के मगध-साम्राज्य के पूर्व की राजनैतिक स्थिति से संगत होते हैं। यह स्थिति पाँचवी शताब्दी में थी।

पाणिनि और कौटिल्य—पूर्व लिखित अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि कौटिल्य की भाषा का पाणिनि की शब्दावली से घनिष्ठ सम्बन्ध था। दोनों लेखक अनेक सदृश संस्थाओं से परिचित थे। थीमे ने ठीक लिखा है कि अर्थशास्त्र की भाषा यद्यपि बहुत अंशों में प्राचीन है, पर अष्टाध्यायी की भाषा के बाद की है।

---

१ संयुक्त क्षौद्रक मालवी सेना में ९०,००० पदाति, १०,००० अश्वारोही और ९०० रथ थे (कर्तियस)।

कभी कभी तो पाणिनि की शब्दावली की सर्वोत्तम व्याख्या कौटिलीय अर्थशास्त्र से ही प्राप्त होती है। उदाहरण के लिये, मैरेय, कापिशायन, देवपथ, आक्रन्द, युक्तारोही, उपनिषद्, विनय, वैनयिक, परिषद्, अपडक्षीण, व्युष्ट, माहिष, अध्यक्ष, युक्त, यौजनशतिक दूत, विषय, आर्यकृत, देवपथ, पारिखेयी भूमि, पुरुष प्रमाण, हस्तीप्रमाण इन शब्दों और संस्थाओं का अर्थशास्त्र और अष्टाध्यायी में विलक्षण सादृश्य है। इस कारण कौटिल्य और पाणिनि के युग में सौ डेढ़ सौ वर्षों से अधिक का अन्तर नहीं माना जा सकता। पाणिनीय सामग्री के प्रस्तुत अनुशीलन से अर्थशास्त्र के काल निर्णय संबंधी प्रश्न पर भी आनुषंगिक प्रकाश पड़ता है और इस मत को समर्थन प्राप्त होता है कि मौर्य साम्राज्य के महामन्त्री कौटिल्य ही अर्थशास्त्र के रचयिता थे।[1]

पाणिनीय मुद्राओं की साक्षी— प्राचीन मुद्राओं के विषय में अष्टाध्यायी की सामग्री अर्थशास्त्र की सामग्री से प्राचीनतर युग की है। उदाहरण के लिये पाणिनि में निष्क, सुवर्ण, शाण और शतमान नामक पुराने सिक्कों का उल्लेख है जो कौटिल्य को अविदित थे। इसके अतिरिक्त विंशतिक और त्रिंशत्क नामक दो अति महत्त्व पूर्ण सिक्कों का भी पाणिनि ने उल्लेख किया है जो उनके समय में चालू थे, पर कौटिल्य को जिनका पता न था। शतमान सिक्के का आरम्भ पाणिनि से भी कई सौ वर्ष पूर्व हो चुका था (लगभग अष्टम शती ई० पू० से पञ्चम शती ईस्वी पूर्व तक)।

विंशतिक नामक बीस माशे या चालीस रत्ती तोल के भारी सिक्के का उल्लेख अष्टाध्यायी की उल्लेखनीय विशेषता है। यह सिक्का बिम्बिसार के समय अर्थात् छठी शती ई० पू० में राजगृह में चालू था। मगध जनपद के अतिरिक्त और जनपदों में भी इस मुद्रा का चलन था। इसके अतिरिक्त पाणिनि में जिस कार्षापण का उल्लेख है वह भारी तोल के विंशतिक से भिन्न सिक्का होना चाहिए। कौटिल्य और मनु के अनुसार कार्षापण सोलह माशे या बत्तीस रत्ती तोल का सिक्का था। इस प्रकार अष्टाध्यायी में विंशतिक और कार्षापण दोनों का उल्लेख है, जब कि अर्थशास्त्र में केवल पण का (कार्षापण का ही दूसरा नाम)। भारतीय मुद्राओं के

---

१ प्रस्तुत निबन्ध के एक परीक्षक स्वर्गीय श्री बटकृष्ण घोष ने, जो कौटिल्य का समय ईसा के बाद तीसरी शती में मानते थे, अपनी संस्तुति में यह विचार प्रकट किया-"मेरा यह व्यक्तिगत अभिमत रहा है कि कौटिल्य में प्रदर्शित शासन संस्था मौर्य साम्राज्य की नहीं है, यद्यपि कौटिल्य की भाषा स्पष्टतः पुरानी है, किन्तु मुझे विवश होकर कहना पड़ता है कि इस निबन्ध में पाणिनि-कौटिल्य सादृश्य मूलक जिन तथ्यों की ओर संकेत किया गया है और आग्रह के साथ जिनकी व्याख्या की गई है वे इस योग्य हैं कि उन्हें कौटिलीय अर्थशास्त्र की मौर्य कालीन रचना होने के पक्ष में मान्य तर्क के रूप में स्वीकार किया जाय।"

इतिहास की दृष्टि से केवल पाँचवीं शती ई० पू० में ही यह सम्भव था कि विंशतिक और कार्षापण दोनों एक साथ चालू रहे हों। जैसा कहा जा चुका है नन्दों ने नाप तोल का सुधार किया था। ज्ञात होता है कि सिक्कों के क्षेत्र में भी उन्होंने महत्त्वपूर्ण परिवर्तन किए। नन्दों के सिक्कों की निम्नलिखित विशेषताएँ ध्यान में आती हैं—

१—बीस माशे के विंशतिक की जगह सोलह माशे के कार्षापण का प्रचलन।

२—पुराने सिक्कों पर बड़ी आकृति के रूप या चिह्न और छोटी आकृति के रूप मुद्रा के एक ओर ही आहत किए जाते थे जैसा कि प्राप्त नमूनों से ज्ञात होता है। नन्दों की नई मुद्राओं पर यह सुधार किया गया कि बड़े रूप चितदांव या सामने और छोटे पटदांव या पीछे आहत किए जाने लगे।

३—विंशतिक मुद्राओं पर चार रूप या बड़े चिह्न होते थे। कार्षापण पर पाँच रूप आहत किये जाने लगे।

४—रूप पंचक में सूर्य और षडर नामक चिह्न सब मुद्राओं पर आवश्यक कर दिए गए जैसा कि पहले का विंशतिक मुद्राओं पर न था।

५—प्रत्येक रूप की आकृति पहले से अधिक स्पष्ट और सरल कर दी गई किन्तु उनकी संख्या में बहुत वृद्धि हो गई। विंशतिक मुद्राओं पर चिह्नों की ऐसी बहुविधता न थी जैसी कार्षापण मुद्राओं पर।

मुद्राओं की साक्षी के आधार पर पाणिनि को बिम्बिसार और कौटिल्य के मध्य में अर्थात् छठी और चौथी शती के बीच में रखना होगा। अतएव पाँचवीं शती का मध्य भाग अष्टाध्यायी की मुद्रा सम्बन्धी प्रमाण सामग्री की व्याख्या के लिये सबसे अधिक समीचीन है।

मनुष्य नाम—मनुष्य नामों के संबन्ध में पाणिनीय सामग्री काल विषयक ऊपर की संभावना का समर्थन करती है। ब्राह्मण और उपनिषदों के युग में केवल गोत्रनामों का प्रचार था। मौर्ययुग में नक्षत्र नामों की खूब प्रथा थी और नामों को संक्षिप्त भी किया जाने लगा था। अष्टाध्यायी में बीच की वह स्थिति है जब गोत्रनामों और नक्षत्र नामों का एक साथ प्रचार था। गोत्रनाम प्राचीन वैदिक प्रथा के अनुकूल थे। नक्षत्र-नामों का आरम्भ गृह्यसूत्रों के युग से हुआ। गोत्रनाम को संक्षिप्त करना सम्भव न था। अतएव मनुष्य नामों को संक्षिप्त करने के लिये जो विशेष नियम पाणिनि ने दिए हैं वे नक्षत्र नामों अथवा इतर नामों में ही संभव थे। प्राचीन पाली साहित्य में गोत्रनाम और नक्षत्र-नाम दोनों का एक-सा प्रचार है। अतएव उसे पाणिनीय युग के अधिक निकट मानना होगा।

पाणिनि और जातक—कितने ही शब्दों की दृष्टि से पाणिनि की भाषा जातकों की शब्दावली से अपेक्षाकृत पूर्वकालिक थी। किन्तु कुछ शब्दों में दोनों में आश्चर्य जनक सादृश्य है। उदाहरण के लिये द्वैप, वैयाघ्र और पाण्डुकम्बल शब्द

पाणिनि और जातक दोनों में आए हैं (पूर्व पृष्ठ १५४;२२६)। ये शब्द पाली गाथाओं में हैं जो कि जातकों का प्राचीनतम अंश था। दोनों की भाषा का सान्निध्य पाणिनि को पाँचवीं शती में रखने से संगत हो जाता है।

पाणिनि और मध्यम पथ—जैसा पूर्व में कहा जा चुका है (पृष्ठ ३४८) दो विवादग्रस्त मतों के बीच में पाणिनि समन्वय और सन्तुलन का मध्यमार्ग स्वीकार करते हैं। व्याकरण में महासंज्ञा उचित हैं या कृत्रिम संज्ञा, शब्द का अर्थ जाति है या व्यक्ति, अनुकरणात्मक शब्दों का अस्तित्व है या नहीं, उपसर्ग वाचक हैं या द्योतक, धातु का अर्थ क्रिया है या भाव, शब्द व्युत्पन्न होते हैं या अव्युत्पन्न— इस प्रकार के तुल्यबल विरोधी दो पक्षों में पाणिनि किसी का निराकरण नहीं करते, बल्कि दोनों का समन्वय स्वीकार करते हैं। मध्यमार्ग या मज्झिम पटिपदा उस युग की सर्वोपरि विशेषता थी। शाकटायन ने शब्दों की व्युत्पन्नता के सम्बन्ध में अतिशय आग्रह करके जिस विचार धारा को अपनाया था पाणिनि के लिये वह प्रवृत्ति सम्भव न थी। समस्त अष्टाध्यायी में समन्वयात्मक और सन्तुलित दृष्टि-कोण की ही प्रधानता है। इस कारण यह शास्त्र इतनी अधिक शब्द सामग्री को समेटने और सूत्रबद्ध करने में सफल हुआ, एवं लोक की दृष्टि में बहु संमानित हुआ—

भगवतः पाणिनेराचार्यस्य सिद्धम्।

पाणिनिकालीन
भूगोल
मानचित्र १
बाह्लीक (बाह्लायनी)
मौंजायन
(मुंजान प्रदेश)
कापिशायन
आश्वायन
आप्रीत
(अप्रीदी)
औरावतीक
तक्षशिला
वरणा
उरशा
(हज़ारा)

पाणिनिकालीन
भूगोल

मानचित्र २

पाणिनिकालीन भूगोल

मानचित्र २

पाणिनिकालीन भूगोल

मानचित्र ४
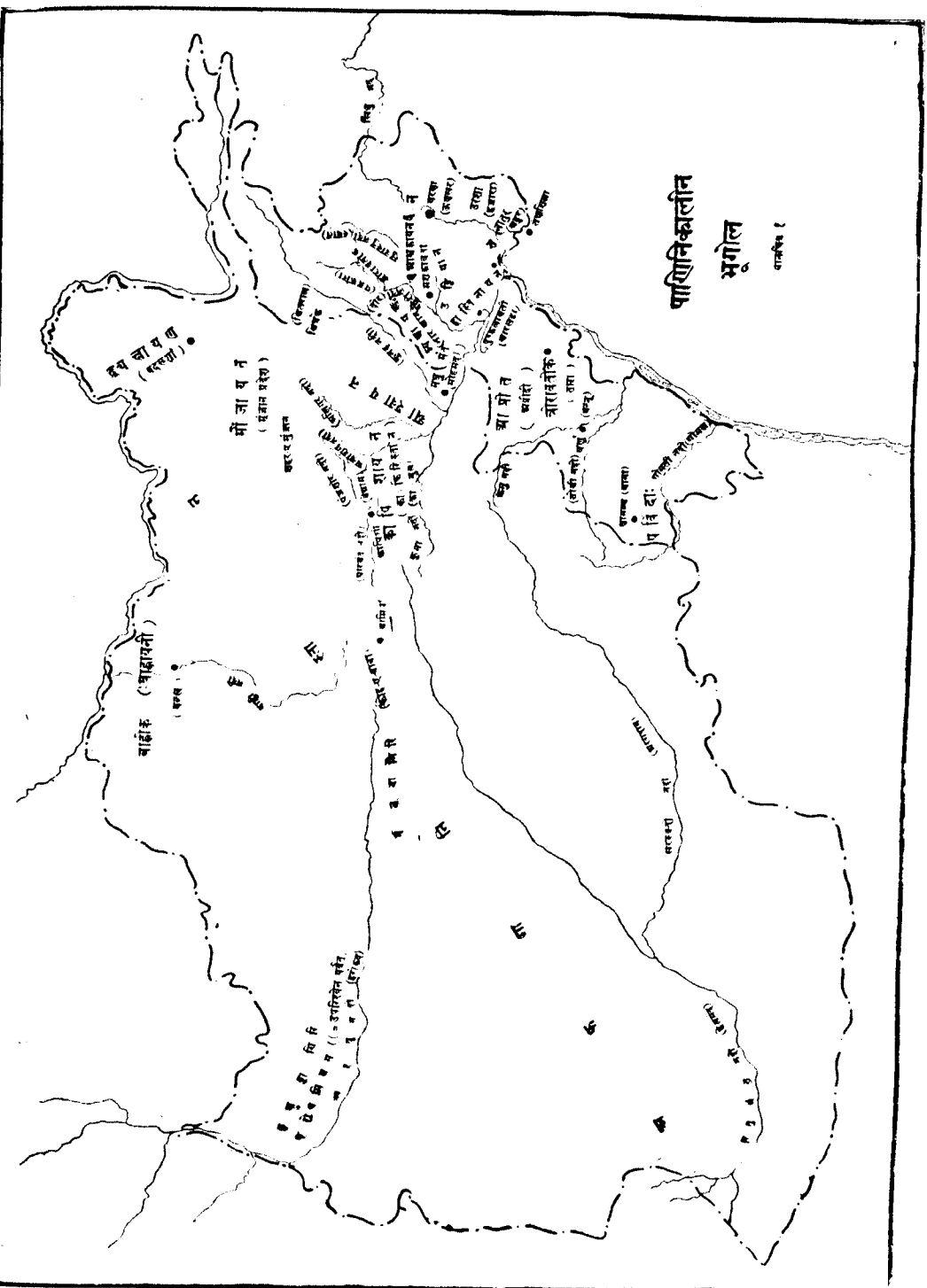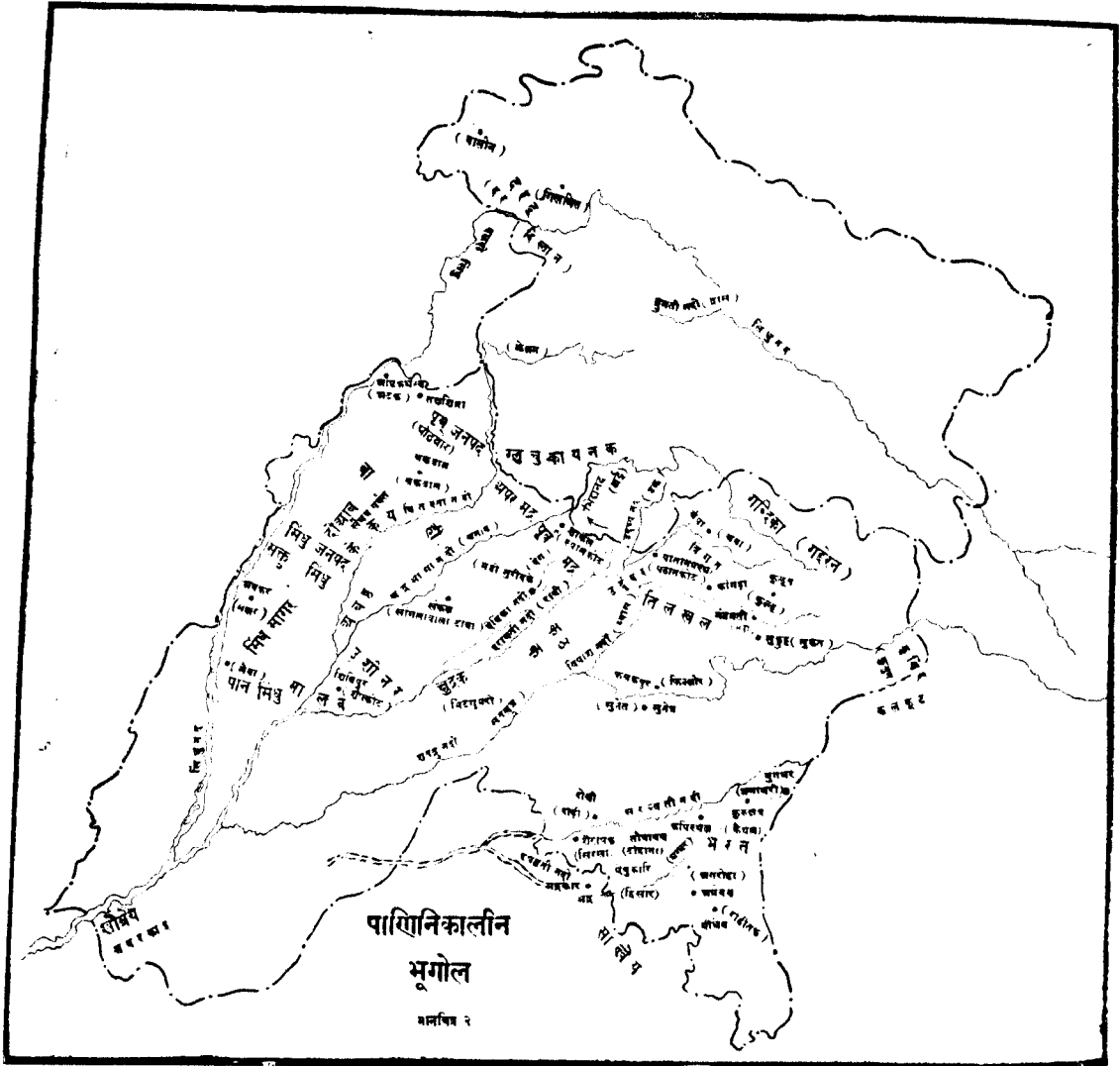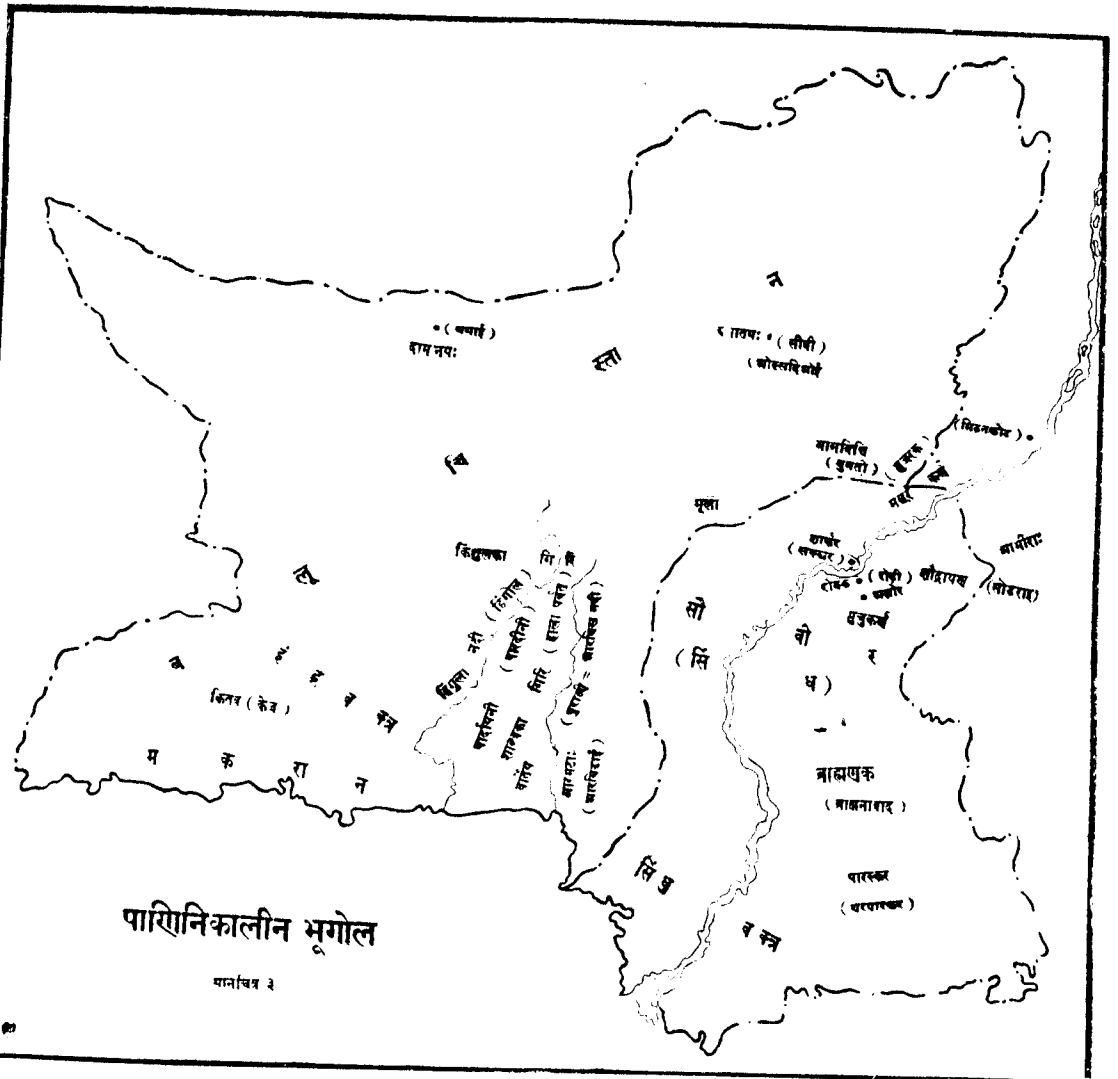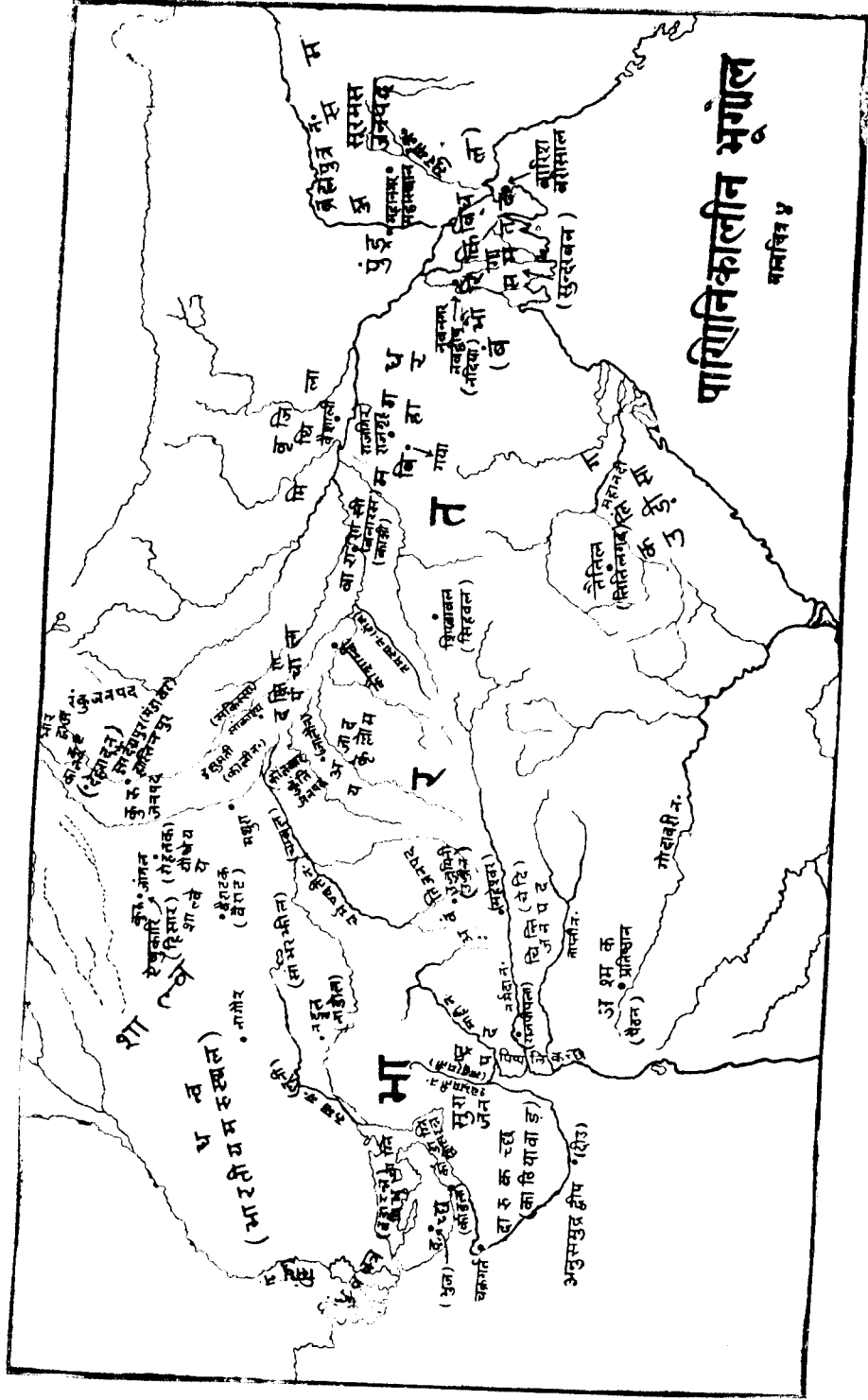
परिशिष्ट १

भौगोलिक गण

अष्टाध्यायी में जो स्थान नाम संबन्धी सामग्री है उसका विवेचन ऊपर हुआ है (पृ० ३७–८८; ४५७-४६६)। तत्संबन्धी गणों का संशोधित पाठ नीचे दिया जाता है जो निम्नलिखित सामग्री के तुलनात्मक अध्ययन से प्राप्त हुआ है—

(१) काशिका। बालशास्त्री संपादित काशीसंस्करण १९२८।

(२) चन्द्र व्याकरण, स्वविरचित वृत्ति सहित (लगभग ४५० ई०)। इसकी वृत्ति के गणपाठ का मूल आधार पाणिनीय गणपाठ ही था। श्री लीबिख द्वारा संपादित संस्करण।

(३) पूज्यपाद देवनन्दि कृत जैनेन्द्र व्याकरण (५५०–६०० ई०)। इस पर अभयनन्दिकृत महावृत्ति है, जिसमें गणपाठ है। कई मूल प्रतियों के आधारपर इस वृत्ति की एक पाण्डुलिपि भारतीय ज्ञानपीठ काशी द्वारा संपादित की गई थी जो ज्ञानपीठ के सौजन्य से मुझे प्राप्त हुई।

(४) आचार्य पाल्यकीर्तिकृत जैन शाकटायन व्याकरण। ये सम्राट् अमोघवर्ष (८१७–८७७) के समकालीन थे। लेखक की स्वविरचित अमोघ वृत्ति नामक बृहद् वृत्ति अभी अप्रकाशित है। उसीमें गणपाठ है। इसकी एक देवनागरी प्रतिलिपि मूल कन्नड़ लिपि की ताड़पत्रीय प्रति से श्री स्याद्वाद विद्यालय काशी ने तैयार कराई थी, जो वहाँ के आचार्य के सौजन्य से मुझे सुलभ हो सकी।

(५) भोजकृत सरस्वती कण्ठाभरण (१०१८–१०५३)। श्री टी० आर० चिन्तामणि द्वारा संपादित एवं मद्रास विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित।

(६) हेमचन्द्र कृत सिद्धहेम शब्दानुशासन (१०८८–११७२)। इस पर उन्हीं की स्वविरचित बृहद्वृत्ति है (लगभग ११३० ई०) जो प्रकाशित हो चुकी है।

(७) वर्द्धमानकृत गणरत्न महोदधि (११४० ई०)।

गणपाठ के विषय में स्थिति यह है कि मूल गणपाठ पाणिनि ने संकलित किया था। उसी को बाद के वैयाकरणों ने अपना आधार बनाया। कहीं कहीं कुछ नए शब्द जोड़े हैं, अथवा मूल शब्द में जहाँ सन्देह था, वहाँ पाठान्तर दिए गए हैं। यह प्रवृत्ति हेमचन्द्र और वर्धमान के गणपाठ में अधिक है। आवश्यकता है कि प्रत्येक व्याकरण के अन्तर्गत गणपाठ के संशोधित संस्करण का संपादन किया जाय। इन सातों व्याकरणों के

स्थाननाम संबन्धी प्रत्येक गण को बराबर कोष्ठकों में लिखकर शब्द रूपों पर विचार किया गया तो स्वतः ही मूल शब्द और जोड़े गए प्रक्षिप्त शब्दों का भेद स्पष्ट हो गया। उदाहरण के लिये काशिका में काकदन्ति, चन्द्र में काकंदकि, शाकटायन में काकंदि, काकदंतकि, हेमचन्द्र में काकंदि, भोज में काकंदकि, वर्धमान में काकंदि पाठ है जो मूल काकदन्ति के ही पाठान्तर हैं और जिनमें पीछे काकंदि का संकर हो गया। काशिका में काकदंति कोकतंती और आकिरन्ति शब्द रूप भी हैं जो अन्य किसी व्याकरण में न होने से काशिका में मूल काकदंति के ही निकृष्ट पाठान्तर हैं। हेमचन्द्र में काकंदि को मूल रूप मानकर काकंदिक ककुंदि ककुंदिक भी दिए हैं। ये चारों ही मूल काकदन्ति की विकृति हैं। काशिका का एक संशोधित संस्करण तैयार करके पाणिनीय गणपाठ के संशोधन की बहुत आवश्यकता है।

विभिन्नगणों में स्थाननामों की संख्या—

१—जनपद नाम	३५
२—विषयनाम	४३
३—संघनाम	३३
	१११

४—नगर ग्राम नाम

	काशिका के पाठ में	संशोधित पाठ में
(अ) (१) चातुरर्थिक प्रत्यय संबन्धी ६ गण	१८९	१०९
(२) चातुरर्थिक प्रत्यय संबन्धी १७ गण (सूत्र ४।२।८०)	४३०	२२८
(आ) शैषिक ६ गण	१९४	१२३
(इ) अभिजन २ गण	२३	२१
(ई) प्रस्थान्त नाम २ गण	१६	१६
(उ) कन्थान्त नाम १ गण	७	७
	८५९	५०४

अकेले सूत्र ४।२।८० के १७ गणों में बॉटलिंक कृत अष्टाध्यायी संस्करण(लाई-

पूर्जिंग १८८७[1]) एवं काशिका के अन्य मुद्रित संस्करणों में नामों की संख्या ४३० है जो इस संशोधित पाठ में २२८ ही रह गई है।

चातुरर्थिक, शैषिक, अभिजन, प्रस्थान्त एवं कंथान्त नामों की संख्या प्रस्तुत संस्करण में ५०४ है। काशिका में वह ८५९ तक पहुँचती है। यह भारी अन्तर है। किन्तु पाणिनिकृत मूलपाठ में ग्राम और नगर संबन्धी स्थान नामों की यही संख्या थी, ऐसा एक अन्य प्रमाण से विदित होता है।

यूनानी भूगोल लेखकों ने लिखा है कि वाहीक में झेलम से विपाशा तक लगभग ५०० नगर थे, जिनकी जनसंख्या ५ हजार से १० हजार तक थी। पाणिनि ने वाहीक और उदीच्य प्रदेश में नगरों को भी ग्राम कहा है। वहाँ पाँच से दस सहस्र की जन-संख्यावाले स्थान भी ग्राम कहलाते थे (दे० पूर्व पृ० ७७,८३)। जनपदयुग अत्यधिक समृद्धि का युग था। उस समय अकेले वाहीक में ग्राम और नगरों की इतनी अधिक संख्या का होना आश्चर्य-जनक नहीं है। पाणिनि के लगभग एक शती बाद मेगस्थने ने मौर्यकालीन नगरों की संख्या से प्रभावित होकर लिखा था—'उनकी संख्या इतनी अधिक है कि उसकी सही गिनती बताना संभव नहीं।'

वाहीक प्रदेश के ५०० ग्राम नगरों की संख्या का महत्त्व कुछ इस प्रकार समझा जा सकता है। नगर उसे कहते हैं जिसमें दस सहस्र या अधिक जनसंख्या हो। इस परिभाषा के अनुसार १९४१ के अविभक्त भारत में केवल ५७ नगर थे। सन् १९५१ में यह संख्या बढ़कर ७५ हो गई थी। फ्रांस में आजकल ४५० नगर है जिनकी जनसंख्या ९००० से अधिक है।

यह बात महत्त्वपूर्ण है कि यूनानी लेखकों ने सामान्य रूप से ५०० की जिस संख्या का उल्लेख किया है, पाणिनि से न केवल उसका समर्थन होता है, बल्कि अष्टाध्यायी में उन नामों की पूरी सूची मिल जाती है। सूत्रकार ने परिभ्रमण द्वारा लोक का साक्षात् परिचय प्राप्त करके सामग्री का संकलन किया था— उनकी कार्य पद्धति के संबंध में शलातुर में बारह सौ वर्षों तक प्रचलित यह अनुश्रुति नितान्त सत्य पर आश्रित थी। ग्राम-नगरों की भाँति जनपद और संघों की सूची भी तथ्यात्मक होनी चाहिए। वही बात गोत्र नामों के सम्बन्ध में कही जा सकती है। इस प्रकार की बहुविध सामग्री को अपूर्व सरल युक्ति से पाणिनि ने अपने व्याकरण का अंग बना लिया। जहाँ तक सम्भव हो इन नामों की पहचानका प्रयत्न करना चाहिए। जैसे भाषा के अन्य शब्दों की प्रतिशत कुछ संख्या

१—श्रीधर शास्त्री पाठक और सिद्धेश्वर शास्त्री चितराव संगृहीत पाणिनीय सूत्र पाठ एवं तत् परिशिष्ट ग्रन्थों के शब्दकोष (पूना १९३५) में गणपाठ का वही पाठ ले लिया गया है जो बॉटलिंक में था।

कालान्तर में भी बनी रहती है, वैसे ही स्थान नामों की परम्परा भी बिलकुल नहीं मिट जाती। संघ और गोत्र रूप में संगठित जातियों के नाम भी बचे रह जाते हैं। सम्भावना है कि निवास और अभिजन संबन्धी अनेक शब्द उत्तर पश्चिमी प्रदेश एवं बाहीक या पंजाब में अब भी जाति और उपजातियों के नामों की छानबीन करने से पहचाने जा सकेंगे। उदाहरण के लिये, अग्रवाल जाति के अन्तर्गत सहरालिए वैश्य प्रसिद्ध हैं, जो लुधियाना जिले के सहराला स्थान से अपना निकास मानते हैं। इस समय वे कहीं भी हों उनका मूल अभिजन या पुरखों का केन्द्र सहराले में था। तक्षशिलादि गण में सारालक उन्हीं के लिये है जो सरालक को अपना अभिजन मानते थे और आज जिन्हें सहरालिए कहते हैं। सौभाग्य से अधिकांश जातियों में अपने मूल निकास स्थान की अनुश्रुति की याद अभी तक बनी है। इसी प्रकार खत्रियों की बतरा नामक उपजाति बात्रक से (राजन्यादिगण, ४।२।५३), अरोड़ों की चोपे नामक उपजाति चौपयत से (भौरिक्यादिगण ४।२।५४), एवं अरोड़ों की बलूजे नामक उपजाति वालिज्यक से (वही, ४।२।५४) सम्बन्धित हैं।

देशवाची विषय—विषयो देशे सूत्र (४।२।५४) में विषय का ठीक अर्थ क्या था, इस प्रश्न के सम्बन्ध में कुछ विवेचन आवश्यक है। पाणिनि ने निवास (४।२।६९) और विषय, इन दो अर्थों में प्रत्ययों का अलग विधान किया है। अतएव दोनों में भेद होना चाहिए। निवास का अर्थ तो स्पष्ट ही निवास स्थान था। किन्तु विषय में स्व-स्वामिभाव संबंध या मिल्कियत का होना आवश्यक था। कैयट ने इसे स्पष्ट लिखा—अंगानां विषय इत्यत्र तु स्वस्वामिभावः प्रतीयते।

निवास और विषय दोनों दो प्रकार के हो सकते थे, एक जनपद, दूसरे जनपद से छोटी कोई भौगोलिक इकाई। इस इकाई को हम थोड़ी देर के लिये एक गाँव मान लेते हैं। यह स्थिति इस प्रकार हुई—

(१) शिबि क्षत्रियों का 'निवास' जनपद —शिबीनां निवासः जनपदः शिबयः[1]

(२) शिबि क्षत्रियों का 'निवास' उस जनपद से बाहर एक गाँव —शिबीनां निवासः शैबः।

---

(१) 'शिबीनां निवासः जनपदः' इस अर्थ में तस्य निवासः (४।२।६९) से प्राप्त प्रत्यय का जनपदे लुप् (४।२।८१) से लुप करके लुपि युक्तवद् व्यक्तिवचने (१।२।५१) से बहुवचन प्रयोग बनता था।

(३) शिवि क्षत्रियों का 'विषय' जनपद जिस पर उनका स्वस्वामि भाव से अधिकार हो। शिबीनां विषयः जनपदः, शिबयः।

(४) शिबि क्षत्रियों का 'विषय' एक गाँव, जिसमें वे चाहे रहते न हों, पर जो उनकी जागीर या मिल्कियत या जमींदारी (स्व-स्वामिभाव) हो।

—शिबीनां विषयः शैबः।

अंगानां निवासः जनपदः अंगाः, अंगानां विषयः आंगः भी उसी प्रकार समझना चाहिए।

वस्तुतः संख्या (१) की स्थिति यह थी कि शिबि क्षत्रिय जिस जनपद में निवास करते थे वे उसके स्वामी भी होते थे, अर्थात् उन्हीं के मूर्धाभिषिक्त कुल वहाँ का शासन चलाते थे।

जहां निवास में ही स्वस्वामि भाव सम्बन्धका अन्तर्भाव था वहां सं०(३) वाले अर्थ और शब्द प्रयोग की सं० (१) से पृथक् आवश्यकता भाषा में न पड़ती थी।

सं० (२) का तात्पर्य उस गाँव से हुआ जो शिबिजनपद से अलग हो, जहां शिबि क्षत्रियों की बस्ती हो, पर वे उस गाँव के मालिक न हों। ऐसा गाँव (या ग्रामसमुदाय) शैब कहलाता था, जैसा काशिकाने 'तस्यनिवासः' सूत्रके उदाहरण में लिखा है।

सं० (४) का अभिप्राय उस गाँव (या ग्रामसमुदाय) से था जो शिबि जनपद से बाहर हो, जहां उनकी बस्ती हो या न भी हो, पर जहां उनकी मिल्कियत हो। ऐसा इलाका उनकी जागीर ठिकाना या ज़मींदारी हो सकता था। वह 'शिबीनां विषयः' इस अर्थ में शैबः कहलाता था, जैसा विषयो देशे सूत्रपर काशिका ने लिखा है।

राजन्यादि गणमें जिन राजन्यादि क्षत्रियों के नाम हैं, वे अपने अपने जनपदों के निवासी और स्वामी थे, उनके नाम से उन जनपदों का नाम 'राजन्याः' आदि पड़ता था। किन्तु उनकी जो जमीदारियां या ठिकाने अपने जनपद से बाहर दूसरे गांवों में फैले हुए थे, और जिनकी आय उन्हें प्राप्त होती थी, वे 'राजन्यक' कहलाते थे। राजन्य, वसाति आदि फिर भी बड़े क्षत्रिय थे जिनके निजी जनपदों का स्वतंत्र अस्तित्व था और जिनके विषय या ठिकाने भी थे। किन्तु बैल्ववन आदि कम शक्तिशाली क्षत्रियों की स्थिति ह्रास पर थी। पाणिनिके समय उनके स्वतंत्र जनपद रहे होंगे, पर पाणिनिके उत्तर काल में वे केवल ठिकाने या जमीदारियों के रूप में ही बच रहे थे। अतएव उनसे बैल्ववनाः आदि जनपदवाची बहुवचनान्त प्रयोगों की भाषा में आवश्यकता न रह गई थी, केवल 'विषय' वाची 'बैल्ववनक, आम्बरीषपुत्रक, आत्मकामेयक, ये नाम भाषा में प्रचलित थे।

स्वयं पाणिनिने भौरिकि गण, और ऐषुकारि गण (४।२।५४) में जो नाम पढ़े हैं उनके प्रत्ययों से भी यह सूचित होता है कि वे उनकी जमीदारियां मात्र

थीं। विधल् और भक्तल् प्रत्ययों में विध या विधा और भक्तका अर्थ भोजन था। भौरिकिविध और ऐषुकारिभक्त का अर्थ हुआ वह भूमि जो इन लोगों के गुजारे का साधन थी। उस पर राज्यशासन इनका न होकर किसी अन्य संघ या एकराज जनपद के क्षत्रियों का होता था।

सामग्री की सूची

१—जनपद—कच्छादि (शैषिक)। भर्गादि। सिन्ध्वादि (अभिजन)
२—विषय—ऐषुकार्यादि। भौरिक्यादि। राजन्यादि।
३—संघ—दामन्यादि। पर्श्वादि। यौधेयादि।
४—देशवाची (ग्राम, नगर)—
(क) चातुरर्थिक—अरीहणादि। अश्मादि। उत्करादि। ऋश्यादि। कर्णादि। काशादि। कुमुदादि। कुमुदादि। कृशाश्वादि। तृणादि। नडादि। पक्षादि। प्रगदिन्नादि। प्रेक्षादि। बलादि। मध्वादि। वरणादि। वराहादि। सख्यादि। संकलादि। संकाशादि। सुतंगमादि। सुवास्त्वादि।
(ख) शैषिक—कत्र्यादि। काश्यादि। गहादि। धूमादि। नद्यादि। पलद्यादि।
(ग) अभिजन—शंडिकादि। तक्षशिलादि।
(घ) प्रस्थान्त—कर्क्यादि। मालादि।
(ङ) कन्थान्त—चिहणादि।
(च) गिरि, वन, नदी—किंशुलकादि। कोटरादि। अजिरादि। शरादि।

१—जनपद—नाम

(१) कच्छादि (४।२।१३३)
(शैषिक अण् प्रत्यय; काच्छः)

१ कच्छ, २ सिन्धु, ३ वर्णु, ४ गन्धार, ५ मधुमत् ६ कम्बोज, ७ कश्मीर, ८ साल्व, ९ कुरु, १० रंकु, ११ अनुषंड, १२ द्वीप, १३ अनूप, १४ अजवाह, १५ विजापक, १६ कुलूत।

(२) भर्गादि (४।१।१७८)

१ भर्ग, २ करूष, ३ केकय, ४ कश्मीर, ५ साल्व, ६ सुस्थाल, ७ उरस, ८ कौरव्य।

(३) सिन्ध्वादि (४ । ३ । ९३)

[सोऽस्याभिजनः, अणप्रत्ययः । सैन्धवः]

१ सिन्धु, २ वर्णु, ३ मधुमत्, ४ कम्बोज, ५ साल्व, ६ कश्मीर, ७ गन्धार, ८ किष्किन्धा, ९ उरस, १० दरद् ११ गन्दिका ।

२—विषय

(४) ऐषुकारिगण (४ । २ । ५४)

[विषयो देशे, ऐषुकारिभक्तः]

१ ऐषुकारि, २ सारस्यायन, ३ चान्द्रायण, ४ द्व्याक्षायण, ५ त्र्याक्षायण, ६ जौलायन, ७ खाडायन, ८ सौवीर, ९ दासमित्रायण, १० शौद्रायण, ११ दाक्षायण, १२ शयण्ड, १३ तार्क्ष्यायण, १४ शौभ्रायण, १४ वैश्वमाणव, १६ वैश्वधेनव, १७ वैश्वदेव, १८ तण्डदेव ।

(५) भौरिकि गण (४ । २ । ५४)

[विषयो देशे, भौरिकिविधः]

१ भौरिकि, २ भौलिकि, ३ चैटयत, ४ काणेय, ५ वाणिजक, ६ वालिज्यक, ७ सैकयत, ८ चैकयत, ९ चौपयत ।

(६) राजन्यादि (४ । २ । ५३)

विषयो देशे वुञ्, राजन्यकम्]

१ राजन्य, २ देवयातव, ३ शालङ्कायन, ४ जालन्धरायण, ५ आत्मकामेय, ६ अम्बरीषपुत्र, ७ वसाति, ८ बैल्ववन, ९ शैलूष, १० उदुम्बर, ११ आर्जुनायन, १२ संप्रिय, १३ दाक्षि, १४ ऊर्णनाभ, १५ आप्रीत, १६ तैतिल ।

३—संघ

(७) दामन्यादि (५।३।११६)

[आयुधजीविसंघात् स्वार्थे छः, दामनीयः]

१ दामनि, २ औलपि, ३ काकदन्ति, ४ अच्युतन्ति, ५ शत्रुन्तपि, ६ सार्वसेनि, ७ बैन्दवि, ८ मौञ्जायन, ९ तुलभ, १० सावित्रीपुत्र, ११ बैजवापि, १२ औदकि ।

(८) पर्श्वादि (५।३।११७)

[आयुधजीविसंघात् स्वार्थे अण, पार्शवः]

१ पर्शु, २ असुर, ३ रक्षस् ४ बाल्हीक, ५ वयस्, ६ मरुत्, ७ दशार्ह, ८ पिशाच, ९ अशनि, १० कार्षापण, ११ सत्वत्, १२ वसु ।

[९] यौधेयादि (४।१।१७८)

१ यौधेय, २ शौभ्रेय, ३ शौक्रेय, ४ ज्याबाणेय, ५ वार्तेय, ६ धार्तेय, ७ त्रिगर्त, ८ भरत, ९ उशीनर ।

४—स्थान-नाम

(क) चातुरर्थिक

(१०) अरीहणादि (४।२।८०।१)

[चातुरर्थिक वुञ्। आरीहणकम्]

१ अरीहण, २ द्रुघण, ३ खदिर, ४ भगल, ५ उलन्द, ६ साम्परायण, ७ कौष्ट्रायण, ८ भास्रायण, ९ मैत्रायण, १० त्रैगर्तायन, ११ रायस्पोष, १२ विपथ, १३ उद्दण्ड, १४ उदञ्चन, १५ खाडायन, १६ खण्डवीरण, १७ काशकृत्स्न, १८ जाम्बवत्, १९ शिंशापा, २० किरण, २१ रैवत, २२ बिल्व, २३ वैमतायन, २४ सौसायन, २५ शाण्डिल्यायन, २६ शिरीष, २७ बधिर, २८ विपाश, २९ सुयज्ञ, ३० जम्बू, ३१ सुशर्म।

(११) अश्मादि (४।२।८०।८)

[चातुरर्थिक रः। अश्मरः]

१ अश्मन्, २ यूथ, ३ ऊष, ४ मीन, ५ दर्भ, ६ वृन्द, ७ गुड ८ खण्ड, ९ नग, १० शिखा।

(१२) उत्करादि (४।२।९०)

[चातुरर्थिक छः। उत्करीयम्]

१ उत्कर, २ शफर, ३ पिप्पल, ४ अश्मन्, ५ अर्क, ६ पर्ण, ७ खलाजिन, ८ अग्नि, ९ तिक, १० कितव, ११ आतप।

(१३) ऋश्यादि (४।२।८०।३)

[चातुरर्थिक कः। ऋश्यकः]

१ ऋश्य, २ न्यग्रोध, ३ शर, ४ निलीन, ५ निवास, ६ विनद्ध (?), ७ परिगूढ, ८ उपगूढ, ९ उत्तराश्मन्, १० स्थूलबाहु, ११ खदिर, १२ शर्करा, १३ अनडुह, १४ परिवेश, १५ वेणु, १६ वीरण।

(१४) कर्णादि (४।२।८०।१३)

[चातुरर्थिक फिञ्। कार्णायनिः]

१ कर्ण, २ वसिष्ठ, ३ अर्कलूष, ४ द्रुपद, ५ आनडुह्य, ६ पाञ्चजन्य, ७ कुलिश, ८ कुम्भ, ९ जीवन्त, १० जित्वन्, ११ आण्डीवत्, १२ स्फिक्।

(१५) काशादि (४।२।८०।५)

[चातुरर्थिक इलः। काशिलः]

१ काश, २ वश, ३ अश्वत्थ, ४ पलाश, ५ पीयूष, ६ बिस, ७ तृण, ८ कर्दम, ९ कर्पूर, १० कण्टक, ११ गुहा, १२ नड, १३ वन, १४ बर्बूल।

(१६) कुमुदादि (४।२।८०।४)

[चातुरर्थिक ठच् । कुमुदिकम्]

१ कुमुद, २ शर्करा, ३ न्यग्रोध, ४ इक्कट, ५ गर्त, ६ बीज, ७ अश्वत्थ, ८ बल्वज, ९ परिवाप, १० शिरीष, ११ यवास, १२ कूप, १३ विकंकत।

(१७) कुमुदादि (४।२।८०।१७)

[चातुरर्थिक ठक् । कौमुदिकम्]

१ कुमुद, २ गोमठ, ३ रथकार, ४ दशग्राम, ५ अश्वत्थ, ६ शाल्मली, ७ मुनिस्थल, ८ कूट, ९ मुचुकर्ण।

(१८) कृशाश्वादि (४।२।८०।२)

[चातुरर्थिक छण् । काश्र्वाश्वीयः]

१ कृशाश्व, २ अरिष्ट, ३ वेश्मन्, ४ विशाल, ५ रोमक, ६ शबल, ७ कूट, ८ बर्बर, ९ सूकर, १० प्रतर, ११ सदृश, १२ पुरग, १३ सुख, १४ धूम, १५ अजिन, १६ विनत, १७ विकुधास, १८ अरुस् १९ अयस्, २० मौद्गल्य।

(१९) तृणादि (४।२।८०।६)

[चातुरर्थिक शः । तृणशः]

१ तृण, २ नड, ३ बुस, ४ पर्ण, ५ वर्ण, ६ वरण, ७ अर्जुन, ८ बिल।

(२०) नडादि (४।२।९१)

[चातुरर्थिकः छः कुक् च । नडकीयम्]

१ नड, २ प्लक्ष, ३ बिल्व, ४ वेणु, ५ वेत्र, ६ वेतस, ७ तृण, ८ इक्षु, ९ काष्ठ, १० कपोत, ११ क्रुञ्चा, १२ तक्षन्।

(२१) पक्षादि (४।२।८० ।१२)

[चातुरर्थिक फक् । पाक्षायणः]

१ पक्ष, २ तुष, ३ अण्डक, ४ कम्बलिक, ५ चित्र, ६ अतिश्वन्, ७ पन्थ, ८ कुम्भ, ९ सीरक, १० सरक, ११ सरस, १२ समल, १३ रोमन्, १४ लोमन्, १५ हंसक, १६ लोमक, १७ सकर्णक, १८ हस्तिन्, १९ बल, २० यमल।

(२२) प्रगदिन् आदि (४।२।८०।१५)

[चातुरर्थिकञ्यः । प्रागद्यम्]

१ प्रगदिन्, २ मगदिन्, ३ कलिव, ४ खडिव, ५ गडिव, ६ चूडार, ७ मार्जार, ८ कोविदार।

(२३) प्रेक्षादि (४।२।८०।७)

[चातुरर्थिक इनिः । प्रेक्षिन्]

१ प्रेक्षा, २ फलका, ३ बन्धुका, ४ ध्रुवका, ५ क्षिपका, ६ न्यग्रोध, ७ इक्कट, ८ कंकट, ९ कूप।

(२४) बलादि (४।२।८०।११)

[चातुरर्थिक यः । बल्यः]

१ बल, २ चुल, ३ मूल, ४ उल, ५ डुल, ६ नल, ७ वन, ८ कुल ।

(२५) मध्वादि (४।२।८६)

[चातुरर्थिक मतुप् । मधुमत्, मधुमान्]

१ मधु, २ बिस, ३ स्थाणु, ४ ऋषि (अरिष्ट), ५ इक्षु, ६ वेणु, ७ रम्य, ८ ऋक्ष, ९ कर्कन्धू, १० शमी, ११ करीर, १२ हिम, १३ किशरा, १४ शर्पणा, १५ मरुत्, १६ दार्वाघाट, १७ शर, १८ इष्टका, १९ तक्षशिला, २० शुक्ति, २१ आसन्दी, २२ आसुति, २३ शलाका, २४ आमिषी, २५ खडा (पीडा), २६ वेटा ।

(२६) वरणादि (४।२।८२)

[चातुरर्थिकप्रत्ययस्य लुप्, वरणा]

१ वरणा, २ गोदौ, ३ आलिङ्ग्यायन, ४ पर्णी, ५ शृङ्गी, ६ शाल्मलि, ७ आसन्दी, ८ मथुरा, ९ उज्जयिनी, १० गया, ११ तक्षशिला, १२ उरशा, १३ कटुकबदरी, १४ शिरीष ।

(२७) वराहादि (४।२।८० ।१६)

[चातुरर्थिक कक् । वाराहकम्]

१ वराह, २ पलाश, ३ शिरीष, ४ पिनद्ध, ५ स्थूल, ६ विदग्ध, ७ विभग्न ८ बाहु, ९ खदिर, १० शर्करा ।

(२८) सख्यादि (४।२।८०।९)

[चातुरर्थिक ढञ् । साखेयः]

१ सखि, २ सखिदत्त, ३ वायुदत्त, ४ गोहिल, ५ भल्ल, ६ चक्रवाल, ७ छगल, ८ अशोक, ९ करवीर, १० सीकर, ११ सरक, १२ सरस, १३ समल ।

(२९) संकलादि (४।२।७५)

[चातुरर्थिक अञ् । सांकलः]

१ संकल, २ पुष्कल, ३ उडुप, ४ उद्वप, ५ उत्पुट, ६ कुम्भ, ७ निधान, ८ सुदक्ष, ९ सुदत्त, १० सुभूत, ११ सुनेत्र, १२ सुपिंगल, १३, सिकता, १४ पूतीक, १५ पूलास, १६ कूलास, १७ पलाश, १८ निवेश, १९ गम्भीर, २० इतर, २१ शर्मन्, २२ अहन्, २३ लोमन्, २४ वेमन्, २५ वरुण, २६ बहुल, २७ सद्योज, २८ अभिषिक्त, २९ गोभृत्, ३० राजभृत्, ३१ भल्ल, ३२ माल ।

(३०) संकाशादि (४।२।८०।१०)

[चातुरर्थिकः ण्यः । सांकाश्यः]

१ संकाश, २ कम्पिल, ३ कश्मर, ४ शूरसेन, ५ सुपथिन् ६ सुपरि, ७ यूप, ८ अश्मन्, ९ कूट, १० पुलिन, ११ तीर्थ, १२ अगस्ति, १३ विरम्स, १४ विकर, १५ नासिका ।

(३१) सुतङ्गमादि (४।२।८०।१४)

[चातुरर्थिक वुञ् । सौतङ्गमिः]

१ सुतङ्गम, २ मुनिचित्त, ३ विप्रचित्त, ४ महापुत्र, ५ श्वेत, ६ गडिक, ७ शुक्र, ८ विग्र, ९ बीजवापिन्, १० श्वन्, ११ अर्जुन, १२ अजिर ।

(३२) सुवास्त्वादि (४।२।७७)

[चातुरर्थिक अण् । सुवास्तु + अण्—सौवास्तवः]

१ सुवास्तु, २ वर्णु, ३ भण्डु, ४ खण्डु, ५ सेचालिन्, ६ कर्पूरिन, ७ शिखण्डिन्, ८ गर्त, ९ कर्कश, १० शटीकर्ण, ११ कृष्णकर्ण, १२ कर्कन्धुमती, १३ गोह्य, १४ अहिसक्थ ।

४—स्थान-नाम

(ग) शैषिक

(३३) कत्र्यादि (४।२।९५)

[शैषिक ढकञ् । कत्रि + ढकञ्—कात्रेयकः]

१ कत्रि, २ उम्भि, ३ पुष्कर, ४ पुष्कल, ५ मोदन, ६ कुम्भि, ७ कुण्डिन, ८ नगर, ९ माहिष्मती, १० वर्मती, ११ कुड्या ।

(३४) काश्यादि (४।२।११६)

[शैषिक ञिठ् ठञ् । काशिकी, काशिका]

१ काशि, २ वैदि, ३ सांयाति, ४ संवाह, ५ अच्युत, ६ मोदमान, ७ शकुलाद, ८ हस्तिकर्षू, ९ कुनामन्, १० हिरण्य, ११ करण, १२ गोवासन, १३ भौरिकि, १४ भौलिङ्गि, १५ अरिन्दम, १६ सर्वमित्र, १७ देवदत्त, १८ साधुमित्र, १९ दासमित्र, २० दासग्राम, २१ शौवावतान, २२ युवराज, २३ उपराज, २४ सिन्धुमित्र, २५ देवराज ।

(३५) गहादि (४।२।१३८)

[यथासंभवं देशवाचिभ्यः शैषिकः छः । गहीयः]

१ गह, २ मध्य, ३ अङ्ग, ४ वङ्ग, ५ मगध, ६ कामप्रस्थ, ७ खाडायन, ८ काठेरणि, ९ शैशिरि, १० शौङ्गि, ११ आसुरि, १२ आहिंसि, १३ आमित्रि, १४ अवस्यन्द, १५ क्षेमवृद्धिन्, १६ व्याडि, १७ वैजि, १८ आग्निशर्मि ।

(३६) धूमादि (४।२।१२७)

[देशवाचिभ्यः शैषिकवुञ् । धौमकः]

१ धूम, २ खण्ड, ३ शशादन, ४ आर्जुनाव, ५ दाण्डायनस्थली, ६ माहकस्थली, घोषस्थली, ८ माषस्थली, ९ राजस्थली, १० राजगृह, ११ सत्रासाह, १२ भक्षाली, १३ मद्रकूल, १४ गर्तकूल, १५ आञ्जीकूल, १६ द्व्याहाव, १७ त्र्याहाव,

१८ संस्फीय, १९ बर्बर, २० वर्चगर्त, २१ विदेह, २२ आनर्त, २३ माठर, २४ पाथेय, २५ घोष, २६ शष्प, २७ मित्र, २८ पल्ली, २९ आराज्ञी, ३० धार्तराज्ञी, ३१ अवया, ३२ कूल, ३३ समुद्र, ३४, कुक्षि, ३५ अन्तरीप, ३६ द्वीप, ३७ अरुण, ३८ उज्जयिनी, ३९ दक्षिणापथ, ४० साकेत ।

(३७) नद्यादि (४।२।९७)

[शैषिक ढक् । नादेयः]

१ नदी, २ मही, ३ वाराणसी, ४ श्रावस्ती, ५ कौशाम्बी, ६ वनकौशाम्बी, ७ काशफरी, ८ खादिरी, ९ पूर्वनगरी, १० पावा, ११ मावा, १२ साल्वा, १३ दार्वा, १४ सेतकी ।

(३८) पलद्यादि (४।२।११०)

[शैषिक अण् । पालदः]

१ पलदी, २ परिषत्, ३ यकृल्लोमन्, ४ रोमक, ५ कालकूट, ६ पटच्चर, ७ वाहीक, ८ कमलभिदा, ९ बहुकीट, १० नैकती, ११ परिखा, १२शूरसेन, १३गोमती, १४ उदपान, १५ गोष्ठी ।

(ग) अभिजन

(३९) तक्षशिलादि (४ । ३ । ९३)

[सोऽस्याभिजन इति अञ् । ताक्षशिलः]

१ तक्षशिला, २ वत्सोद्धरण, ३ कौमेदुर, ४ काण्डवारण, ५ ग्रामणी, ६ सरालक, ७ कंस, ८ किन्नर, ९ संकुचित, १० सिंहकर्ण, ११ क्रोष्टुकर्ण, १२ बर्बर, १३ अवसान ।

(४०) शण्डिकादि (४ । ३ । ९२)

[सोऽस्याभिजनः ञ्यः । शाण्डिक्यः]

१ शण्डिक, २ सर्वकेश, ३ सर्वसेन, ४ शक, ५ शट, ६ वह, ७ शङ्ख, ८ बोध ।

(घ) प्रस्थान्त नाम

(४१) कर्क्यादि (६ । २ । ८७)

[कर्की प्रस्थः, मघीप्रस्थः]

१ कर्की, २ मघी, ३ मकरी, ४ कर्कन्धू, ५ शमी, ६ करीर, ७ कटुक, ८ कुवल, ९ बदर ।

(४२) मालादि (६ । २ । ८८)

[मालाप्रस्थः, शालाप्रस्थः]

१ माला, २ शाला, ३ शोणा, ४ द्राक्षा, ५ क्षौम, ६ काञ्ची, ७ एक, ८ काम ।

(ङ) कन्थान्त नाम

(४३) चिहणादि (६ । २ । १२५)

१ चिहण २ मडर, ३ वैतुल, ४ पटत्क, ५ वैडालिकर्णि, ६ कुक्कुट, ७ चिक्कण ।

(च) गिरि ।

(४४) किंशुलकादि (६ । ३ । ११७)

१ किंशुलक, २ शाल्वक, ३ अञ्जन, ४ भञ्जन, ५ लोहित ६ कुक्कुट ।

वन

(४५) कोटरादि (६ । ३ । ११७)

१ कोटर, २ मिश्रक, ३ पुरग, ४ सिध्रक, ५ सारिक ।

नदी इत्यादि

(४६) अजिरादि (६ । ३ । ११९)

१ अजिर, २ खदिर, ३ पुलिन, ४ हंसकारण्डव, ५ चक्रवाक ।

(४७) शरादि (६ । ३ । १२०)

[मतौ संज्ञायां दीर्घः । शरावती]

१ शर, २ वंश, ३ धूम, ४ अहि, ५ कपि, ६ मणि, ७ मुनि, ८ शुचि ।

शब्दानुक्रमणी

विषयानुक्रमणी